ज्ञानोदय

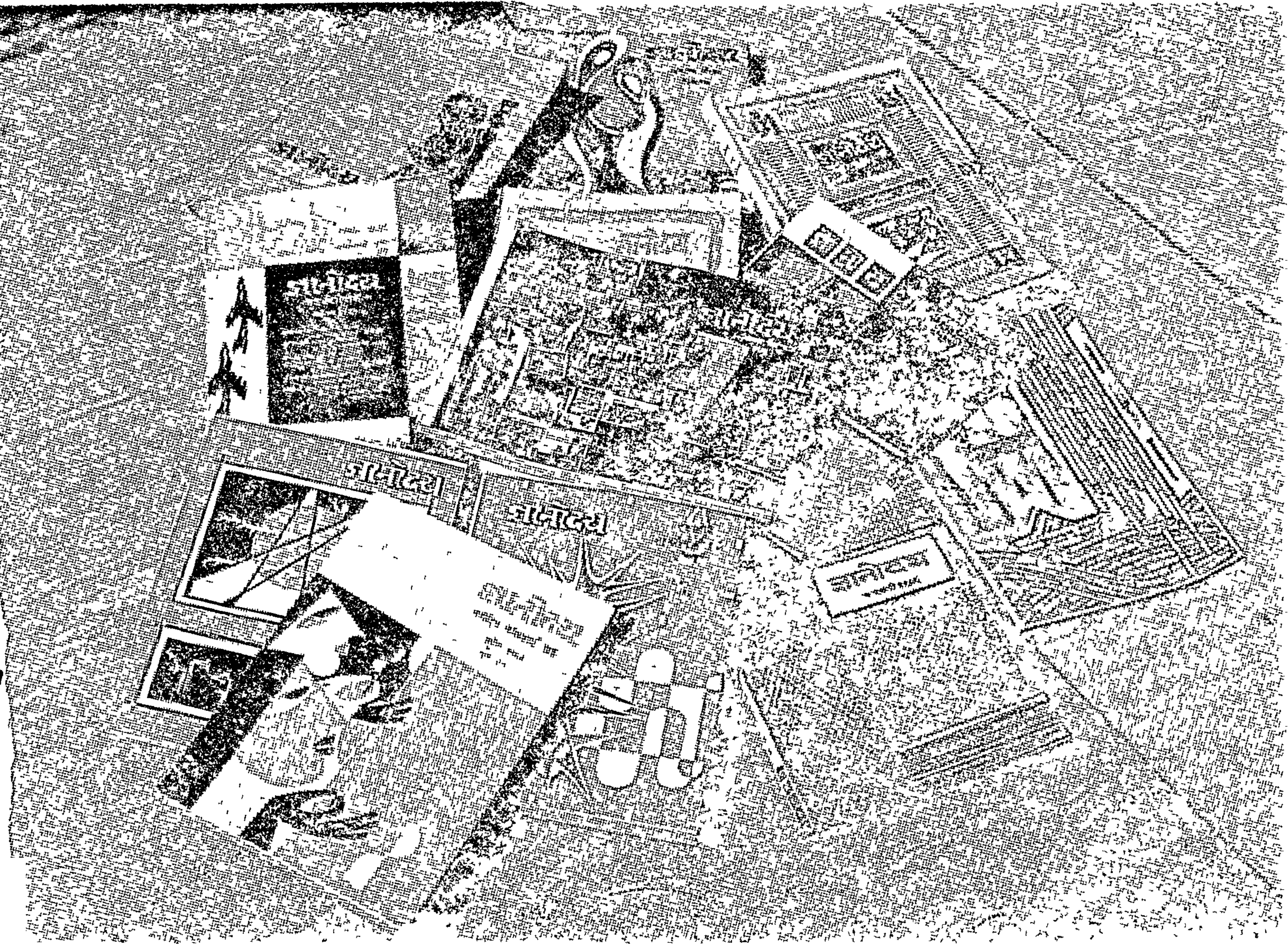
श्रेष्ठ संचयन अंक

आधुनिक भावबोध, कला संचेतना और नवीनता का प्रतिनिधि मासिक

□

दिसम्बर १९६९ :: जनवरी १९७०

सम्पादक : लक्ष्मीचन्द्र जैन



प्रधान कार्यालय

९, अलीपुर पार्क प्लेस, कलकत्ता–२७

प्रकाशन कार्यालय

दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी–५

□

मूल्य

वार्षिक १५.००, एक प्रति १.५०

यह अंक ५.००

□

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन



भारतीय ज्ञानपीठ

सांस्कृतिक जागरण
साहित्यिक विकास-उन्नयन, राष्ट्रीय ऐक्य
एवं राष्ट्र-प्रतिष्ठा की साधिका
तथा भारतीय भाषाओं की सर्वोत्कृष्ट
सर्जनात्मक साहित्यिक कृति पर
प्रतिवर्ष एक लाख रुपये
पुरस्कार योजना प्रवर्तिका
विशिष्ट संस्था

●

संस्थापक :

श्री शान्तिप्रसाद जैन

अध्यक्षा

श्रीमती रमा जैन

मन्त्री

श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन

●

प्रधान कार्यालय

९, अलीपुर पार्क प्लेस, कलकत्ता-२७

प्रकाशन कार्यालय

दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी-५

विक्रय कार्यालय

३६२०।२१, नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली-६।

ज्ञानोदय

वर्ष : २१ अंक ६-७ दिसम्बर १९६९, जनवरी १९७०

अनुक्रम

•

निबन्ध

[चिन्तन-अनुचिन्तन]

[साहित्य सम्प्रेषण]

[विज्ञान-मनोविज्ञान]

[कला]

हास्य व्यंग्य

कहानी

एकांकी

विविधा

[संस्मरण]

[पत्र-डायरी-रेखाचित्र-आत्मकथ्य]

[परिवेश]

[सम्पादकीय]

युगान्त के क्षितिज पर

●

यह श्रेष्ठ-संचयन अंक, कुछ विलम्ब से ही सही, अपने पाठकों और लेखक-बन्धुओं के हाथ में समर्पित करते हुए एक विशेष कृतार्थता का बोध होता है—ऐसी कृतार्थता जिस के निर्माण में हिन्दी की प्रतिष्ठित और उदीयमान प्रतिभाओं का सदा सक्रिय सहयोग रहा है। इस विशेषांक के प्रकाशन के मूल में दो उद्देश्य रहे हैं : एक तो यह कि लगभग बीस वर्षों की परिसमाप्ति पर, जब भारतीय जीवन एक नये दशक में, एक नये युग मे, प्रवेश कर रहा है, अपने पाठकों को कोई अप्रतिम भेंट समर्पित की जाये; और दूसरा यह कि साहित्यिक और बौद्धिक क्षेत्र में जिस विगत युग के निर्माण मे ज्ञानोदय का (अर्थात् ज्ञानोदय के लेखकों का) अवदान रहा है उसे प्रतिबिम्बित किया जाये। यह प्रतिबिम्बन और भी अधिक सफल होता यदि हम लगभग सौ पृष्ठों की चुनी हुई सामग्री और संकलित कर पाते। अनेक महत्त्वपूर्ण लेखक और मनोरम रचनाएँ इस लिए सम्मिलित नही हो पायीं कि पृष्ठ-संख्या सीमा से अधिक बढ़ चुकी थी और प्रकाशन में विलम्ब हो रहा था। उन रचनाकार बन्धुओं से क्षमा-प्रार्थी हैं जिन का कृतित्व सम्मिलित न कर पाने के कारण यह विशेषांक सम्पूर्ण सीमा तक अपना अर्जित महत्त्व प्राप्त न कर पाया।

हमें यह स्वीकार करने में संकोच नहीं कि जिस कृतार्थता को ज्ञानोदय ने विगत युग में अर्जित किया, उस ने युगान्त के इस नये क्षितिज पर पहुँचते-पहुँचते यह बोध करा दिया कि नये भाव बोध और नयी चेतना के संचार का काम अब जब अनेक प्रतिभाएँ, अनेक छोटे-बड़े माध्यमों के द्वारा अधिक प्रतिबद्धता के साथ कर रही हैं, तब ज्ञानोदय अपने लिए कोई नयी दिशा, नयी मंज़िल क्यों न खोजे ?

साहित्य पुरस्कार ने भारतीय ज्ञानपीठ को सक्रियता के अनेक नये आयाम दिये हैं। लग रहा है कि पुरस्कार ने जिस समसामयिक भारतीय साहित्य को भाषा और क्षेत्र की सीमाओं से निकाल कर समग्रता और महत्ता के निकष की ओर उन्मुख किया है, उस की गति-विधियों के आदान प्रदान का माध्यम और सम्भवतया नये सृजन के यत्किंचित् प्रतिबिम्ब का माध्यम 'ज्ञानोदय' तथा 'ज्ञानपीठ पत्रिका' को संयुक्त रूप से बनाया जाये। इस नयी यात्रा के आरम्भ के चरण क्या रूप लेते हैं इस सम्बन्ध में यथाशीघ्र हम अपने पाठकों और सह-योगियों को सूचित करेंगे।

सब की सद्भावनाओं का सम्बल ही हमारा समर्थ मार्गदर्शक होगा। प्रणाम स्वीकार करें।

—लक्ष्मीचन्द्र जैन
सम्पादक



चतुर्थ
पुरस्कार समर्पण महोत्सव

कविवर पंत का
अखिल भारतीय अभिनन्दन

प्रतिपल सुन्दर, सुखकर, सुमधुर

●

प्रत्येक वर्ष की भाँति, भारतीय ज्ञानपीठ का चौथा साहित्यिक पुरस्कार समर्पण महोत्सव राजधानी दिल्ली के रंग-बिरंगे जाड़े को भावना और उत्साह की ऊष्मा से सुहानी गरमाई की लुनाई देता हुआ १९ दिसम्बर १९६९ को सम्पन्न हुआ। उन दिनों दिल्ली के वातावरण में थी एक विशेष चहल-पहल, चुहल और चटकीलापन—दिल्ली से अहमदाबाद और अहमदाबाद से बम्बई तक तरंगित ! किन्तु राजनीति के ज्वार-भाटे की उत्ताल तरंगों से प्रक्षालित अपनी अडिग गरिमा में स्थित जगदम्बा सरस्वती का मन्दिर विज्ञान-भवन स्वर्ण-धूलि और रजत-शिखर की आभा से जाज्वल्यमान वर्तमान युग के महान् स्रष्टा-द्रष्टा कवि सुमित्रानन्दन पंत की कृति 'चिदम्बरा' को आशीषोज्ज्वल कर, सरस्वती-पुत्रों और पुजारियों का स्वागत कर रहा था।

विज्ञान-भवन के तोरण द्वार पर माँ-भारती का प्रतीक सतरंग-पंखी मोर, अतिथियों को वीणापाणि के वाङ्मय-कक्ष की ओर आमन्त्रित कर रहा था। विज्ञान-भवन की दीर्घा में सुसज्जित साहित्य-संसार की वाग्मी प्रतिभाओं का कृतित्व, भारतीय ज्ञानपीठ को कृतार्थता प्रदान कर रहा था। भवन की दीर्घा मे एक विराट् सरस्वती-वीणा के तोरण तले सामने ही ऊँची पीठिका पर मंगलमयी मुद्रा मे भगवान् बाहुबलि जी का विशाल चित्र शोभायमान था। चित्र के दाहिने पार्श्व मे भारतीय ज्ञानपीठ के चार सौ से अधिक सांस्कृतिक-साहित्यिक एवं राष्ट्रभारती वर्ग के प्रकाशन प्रदर्शित थे और इसी प्रकार बाँयें

पार्श्व में कवि पन्त की पुरस्कृत कृति के 'चिदम्बरा सचयन' शीर्षक से बगला, कन्नड, गुजराती, तेलुगु, मराठी, मलयालम और अँगरेजी में काव्यानुवाद। वही पास में पिछले तीन पुरस्कार समर्पण समारोहों का चित्र-दर्शन भी प्रस्तुत किया गया था जो वहा की सौम्य-प्रेरणाप्रद शोभा सज्जा का एक अतिरिक्त आकर्षण बन रहा था। साहित्य के अभिनन्दनार्थ भारतीय सस्कृति और कला की सहज रसोत्पादक भव्यता को सयोजित करना, भारतीय ज्ञानपीठ के समारोहों को अधिकाधिक लोकप्रिय बनाना रहा है। सम्भवतया इसी कारण समारोह की सन्ध्या वेला में विज्ञान-भवन का वृहत सभागार और ऊपर की प्रेक्षक दीर्घा दर्शकों से ओत प्रोत थी। जहाँ एक ओर ज्ञानपीठ के प्रकाशनों की प्रदर्शनी दर्शकों को दीर्घा में बरबस रोक रही थी वही दूसरी ओर तनिक भी देर हो जाने से सभागार में स्थान न मिलने की आशका इधर ठिठकने से वर्जना कर रही थी।

दर्शन-चिन्तन की गहनता, सारगर्भित कल्पना, वाणी का सौन्दर्य और प्राजलता जिस 'वाग्देवी' के वरदान है वही देवी भारतीय ज्ञानपीठ के साहित्य पुरस्कार की अधिष्ठात्री देवी है। काल की अखण्डता और साधना की अक्षय सम्पदा को अपने व्यक्तित्व में समाहित किये वाग्देवी की मूल प्रस्तर प्रतिमा आज भी लन्दन के कला सग्रहालय में सुरक्षित है। परम्परागत मान्यता है कि सन् १०३५ ई० में मनीषी राजा भोज के आदेशानुसार सरस्वती का वाड्मय रूप वाग्देवी में प्रतिमूर्तित हुआ था। मूल प्रतिमा की कास्य अनुकृति भारतीय ज्ञानपीठ के पुरस्कार की एक लाख रुपये की राशि व प्रशस्ति के साथ साहित्यिक पुरस्कार विजेता को भेंट की जाती है।

ज्ञानपीठ समारोह का प्रारम्भ वाग्देवी वन्दना के पुलककारी स्वरो से हुआ। शख-ध्वनि का अनुगमन करते ऋग्वेद की ऋचाएँ मुखरित हो उठी और फिर राजा भोज रचित श्लोक—

"ध्वनिर्वर्णं पद वाक्यमित्यास्पदचतुष्टयम्।
यस्या सूक्ष्मादिभेदेन वाग्देवी तामुपास्महे।"

ध्वनि, वर्ण, शब्द, वाक्य, और वाणी की महिमा का गान करते विश्व बन्धुत्व और जन गण मगल की वाछा को ध्वनित करते हुए श्लोक, ज्ञान और कला के द्वारा, मस्तिष्क और हृदय के उस समन्वय को प्रेरित कर रहा था जिस की आज के युग को सर्वाधिक अपेक्षा है। मन्त्रों और श्लोकों के स्वर-छन्द की लय और भावार्थ को कुमारी चम्पक और शीना जैन के सौम्य एव मजुल पूजा-नृत्य ने अतिरिक्त मुखरता दे वातावरण को पावन स्निग्धता दी।

ज्ञानपीठ की अध्यक्षा श्रीमती रमा जैन की सक्रिय साहित्यिक रुचि और सच्ची लगन को कर्म रूप में परिणत करने की क्षमता उन शब्दों में स्पष्ट परिलक्षित थी जिन के द्वारा उन्होने कवि पन्त का, पुरस्कार निर्णायक मण्डल का एव समारोह में उपस्थित श्रोता मण्डली का अभिनन्दन किया। श्रीमती रमा जैन ने कहा "यह हम सब के लिए विशेष प्रसन्नता और

सम्मान की बात है कि आज हमारे बीच भारतीय गणराज्य के शिखरस्थ नायक राष्ट्रपति श्री गिरि ने पधारने की कृपा की है। यों तो यह समारोह भारतीय साहित्य-जगत् के लिए प्रमुख और प्रीतिकर वार्षिकोत्सव के रूप में स्मरणीय माना जाता है किन्तु आज आप की उपस्थिति के कारण यह विशेष रूप से गौरव-मण्डित हुआ है।

"मान्य पंतजी, आप के अभिनन्दन का यह समागम हम सब के लिए धन्यता का क्षण है। हम, आप के साहित्य के पाठक और अध्येता, भलीभाँति जानते हैं कि आप की एकनिष्ठ दीर्घ साधना ने भारतीय काव्य के रूप-विधान को नये शिल्प की रमणीयता, भाषा को अभिव्यक्ति की प्रांजलता और भावतत्त्व को नयी चेतना का अवदान दिया है। आप का काव्य जीवनबोध का काव्य है: उस जीवन के बोध का जो समय के आघातों और द्वन्द्वों को झेलता, क्षण-क्षण खण्डित होने की प्रक्रिया से गुजरता, भविष्य के मानव को निर्माण करता चल रहा है। संक्रान्ति काल के संघर्षों को समझने, भविष्य की कल्पना को मूर्त रूप देने, और अपनी आस्था को अडिग रखने का सन्देश ही 'चिदम्बरा' का सन्देश है।"

श्रीमती रमा जैन ने आगे कहा: "यह परम्परा रही है कि ज्ञानपीठ ने प्रत्येक पुरस्कृत कृति का हिन्दी अनुवाद समारोह के अवसर पर प्रकाशित किया। इस बार पंतजी का काव्य-संकलन 'चिदम्बरा' हिन्दी कृति है। अतः ज्ञानपीठ ने पुरस्कृत कृति के अनुवाद-प्रकाशन की दिशा में एक नया प्रयत्न किया। 'चिदम्बरा' में से ५० कविताएँ चुन कर उन का अनुवाद विभिन्न भारतीय भाषाओं में तथा अँगरेज़ी में प्रस्तुत करने की योजना बनायी। इस अवसर के लिए हम अँगरेज़ी, कन्नड़, गुजराती, तेलुगु, बांग्ला, मराठी और मलयालम में ये अनुवाद प्रकाशित करने में सफल हुए हैं।

"हिन्दी ने अपनी सहोदरी भारतीय भाषाओं के साहित्य के प्रकाश और सौरभ के स्वागत के लिए सदा अपने द्वार खुले रखे हैं, और इस प्रकार अपने को अधिक संस्कृत और सम्पन्न किया है। प्रसन्नता है कि अब धीरे-धीरे अन्य भारतीय भाषाओं ने हिन्दी साहित्य के प्रकाश-प्रवेश के लिए अपने झरोखे खोले हैं। ज्ञानपीठ की ओर से आज एक आलोक-किरण समर्पित है। भारतीय भाषाएँ समुन्नत हों और हम अपने देश के राष्ट्रीय साहित्यकारों के कृतित्व से अधिक निकट का परिचय प्राप्त करें, ज्ञानपीठ की इस योजना ने ही वास्तव में राष्ट्रपति महोदय को आकृष्ट किया और उन्होंने 'चिदम्बरा' के इन अनुवादों का प्रकाशनोद्घाटन सम्पन्न करने की स्वीकृति दी और यहाँ पधारे। आप का हार्दिक स्वागत है।"

उत्तर प्रदेश के राज्यपाल, डॉ० बेज़वाड़ा गोपाल रेड्डी ने, जो भारतीय ज्ञानपीठ के पुरस्कार प्रवर परिषद् के अध्यक्ष हैं और अपनी विद्वत्ता, भाषा-विज्ञता एवं गुणज्ञता के लिए प्रसिद्ध हैं, तेलुगु-भाषी होते हुए भी अपना पूरा

वक्तव्य हिन्दी में दिया। कविवर सुमित्रानन्दन पंत की काव्यश्री का सूक्ष्म बोध, उनके वक्तव्य का मुख्य आकर्षण था। पंतजी के विकासशील साहित्य-सृजन को, उनकी काव्य-पंक्तियाँ उद्धृत करते हुए, डा० रेड्डी ने उन के कृतित्व का भूरि-भूरि अभिनन्दन किया। विस्तार से स्पष्ट करते हुए डॉ० रेड्डी ने कहा "पंतजी उन भारतीय कवियों में हैं जिन की कविता युग की अपेक्षाओं के अनुरूप अपना स्वरूप बदलती रही है। सुरम्य प्रकृति के सुकुमार कवि के रूप में काव्य के क्षेत्र में उन का अवतरण हुआ, किन्तु केवल प्रकृति के चित्रण मात्र से कवि को कभी परितुष्टि नही मिली। पंतजी ने प्रकृति के साथ बड़ी ही कुशलतापूर्वक मानवीय अनुभूतियों को भी पिरोया-सँजोया है। वह न दुःखवादी है और न ही निराशावादी। वह तो मानव जीवन की परिकल्पना सदैव आनन्द और उत्साह की पृष्ठभूमि में करना चाहते हैं। अपने काव्य के उत्तरोत्तर विकास के साथ कवि प्रकृति की अपेक्षा मानवीय भावनाओं को अधिकाधिक प्रधानता देने लगता है।"

उन्होंने बताया "ज्यों-ज्यों कवि मानव की गरिमा को प्रतिपादित करता जाता है, उस के प्रति आस्थावान् होता जाता है, उस की कविता अधिकाधिक संवेदनशील और मानव की अन्तर्वेदना के प्रति अधिक सहिष्णु तथा सौहार्दपूर्ण होती जाती है। समाज में व्याप्त कुत्सित भावनाओं तथा रूढ़ियों और कुसंस्कारों की वह मुक्त रूप से निन्दा करने लगता है तथा इतिहास की बर्बरता से पदाक्रान्त समाज को अपने कोमल काव्य-स्पन्दन से जगा कर वह उसे समुज्ज्वल भविष्य की ओर बढ़ने के लिए प्रेरित करता है। मानव-जीवन की पूर्णता का स्वप्न साकार करने के लिए वह व्यग्र है और इस के लिए साधन जुटाने में वह कभी कुछ अरविन्द से लेता है तो कभी विवेकानन्द से, कभी उस की दृष्टि गांधी जी पर जाती है तो कभी कार्ल मार्क्स पर। किन्तु राजनीति की मान्यताओं के बन्धन उसे स्वीकार नही। उस की तो कामना है कि 'खण्ड मनुजता को युग-युग की होना है नवनिर्मित।' यही पर कवि की दो समर्थ कल्पनाएँ हमारे सामने आती हैं एक विश्व संस्कृति' की, दूसरी 'मन स्वर्ग' की। इन्ही दोनों के आधार पर वह मानवीय एकता का संयोजन करता है। भौतिकवाद की विडम्बना तथा आत्मवाद के उत्कर्ष के लिए उन्मुग्न कवि क्रमशः युग कवि का रूप धारण करता जाता है। यही वह भौतिकवादियों को चुनौती देता है और दर्शन तथा विज्ञान में सामञ्जस्य स्थापित करने की कामना करता है।

अन्त में डॉ० गोपाल रेड्डी ने कहा 'ज्ञानपीठ पुरस्कार की बृहद् योजना श्री शान्तिप्रसाद जैन तथा श्रीमती रमा जैन की साहित्य के प्रति रुचि तथा साहित्य साधकों के प्रति निष्ठा की द्योतक है। उन का यह पुरस्कार केवल हिन्दी लेखकों तक ही सीमित न हो कर देश की समस्त भाषाओं का इस ने स्वागत किया है। इस से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन का दृष्टिकोण सीमित नही है। उदारता, साहित्य के प्रति गहन अभिरुचि तथा साहित्य-

कारों के प्रति सम्मान-भावना : इन सब विशिष्ट गुणों से विभूषित यह दम्पति अन्य धनी-मानी व्यक्तियों के लिए प्रेरक बन गये हैं ।"

केन्द्रशासित दिल्ली क्षेत्र के उपराज्यपाल डॉक्टर आदित्यनाथ झा ने अपने विद्वत्तापूर्ण भाषण में पंतजी के कवि-व्यक्तित्व की व्यापकता और गहनता पर प्रकाश डाल कर श्रोताओं को मन्त्रमुग्ध किया । उन्होंने कहा : "पंत का काव्य उन की जागरूक चेतना, युग की समस्याओं के समाधान सम्बन्धी स्पष्ट दृष्टिकोण का परिचायक हो कर भी किसी संकीर्ण मतवाद या साहित्यिक प्रवृत्ति मे सीमित नहीं है । विवेकानन्द और रामतीर्थ के प्रभाव से कवि का ज्ञान और विश्वास प्रौढ़ हुआ । दर्शनशास्त्र और उपनिषदों के अध्ययन ने उसे परिवर्तन की निरंकुशता तथा नश्वरता के अनिवार्य रूप की ओर सजग किया । नश्वरता की अनुभूति ने ही कवि को महान् चिरन्तन वास्तविकता का अंग बनने को आकुल किया ।"

डॉ० झा ने आगे कहा : "लोकमंगल को साध्य बना लेने के कारण कवि की 'पल्लव' के बाद की कृतियों मे प्रकृति के स्थान पर मानव को प्रधानता मिली है । इन कृतियों मे व्यापक युगबोध के साथ संस्कृति और राजनीति, अध्यात्म और वस्तुवाद का सामंजस्य मिलता है । सांस्कृतिक निर्माण की व्यापक और उदात्त परिकल्पना के कारण ही कवि जीवन सम्बन्धी खण्ड-सत्य, एकांगी दृष्टिकोण को अपनाने को तत्पर नही है । उस के अनुसार मध्ययुगीन नैतिकता जब विभिन्न जाति, वर्ग और धर्मों की विषमता को सहज समन्वित कर मानवता मे विकसित होगी तभी स्वर्ण पिंजर में बन्दी मानव आत्मा को स्वतन्त्रता मिल सकेगी । पंत ने जीवन के सहज स्वस्थ रूप को स्वीकृति देते हुए अतिवादों की वर्जना की है ।"

उपसंहार करते हुए उन्होंने बताया : "यही स्वस्थ सामंजस्यमयी प्रवृत्ति 'चिदम्बरा' के कृति कलाकार की महानता का उद्घोष करती है । उन में नवीन के प्रति आग्रह में प्राचीन के प्रति वितृष्णा और उपेक्षा नहीं मिलती । उन्होंने नवीन और प्राचीन, भावना और विज्ञान, अध्यात्म और भौतिकता, राजनीति और संस्कृति मे से सार संचयन कर अपनी ऊर्जापूर्ण वाणी से मानवता का अभिनन्दन किया । उन की रचनाओं में उन का समन्वयवादी, जीवन-सत्य की अखण्डता में आस्थावान् रूप ही प्रकट हुआ है ।"

इस के अनन्तर प्रवर परिषद् के सचिव एवं भारतीय ज्ञानपीठ के मन्त्री श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन ने 'प्रशस्तिपत्र' का वाचन किया । उस मे कहा गया था कि "चिदम्बरा कवि पन्त के काव्य-विकास के द्वितीय उत्थान की परिचायिका है जिस में १९३७ से १९५७ के बीच का सृजन संचयित है । नवीन चेतना का यह काव्य, युग के संघर्षो की पृष्ठभूमि में, नयी सास्कृतिक प्रेरणा, नये सौन्दर्य बोध की भावना, भौतिक प्रगति और आध्यात्मिक विकास की शक्तियों के समन्वयन से प्रसूत नैतिकता की

धारणा एवं उन्नत मनुष्यत्व की चेतना को रूपायित करता है। कवि के विषय में 'प्रशस्ति' में कहा गया था कि "प्रकृति की बहुमुखी भंगिमाओं के साथ तादात्म्य के अनुभावक श्री सुमित्रानन्दन पंत हिंदी काव्य में आधुनिक युग के प्रवर्तकों तथा अभिनव काव्य चेतना के प्रेरकों में अग्रगण्य हैं। उन की प्रतिभा ने काव्य को नया शिल्प विधान और भाषा को नया विन्यास प्रदान किया है। चालीस से अधिक कृतियों के सृजेता, जिन में तैंतीस काव्य कृतियाँ हैं, श्री सुमित्रानन्दन पंत अपने कृतित्व में भारतीय काव्य की सौन्दर्यश्री, प्रभूत कल्पना, भाव सम्पदा और स्थायी उपलब्धि का समर्थ प्रतिनिधित्व करते हैं।"

प्रशस्ति-अंकित ताम्रपट्ट स्वयं अपने में एक अनूठी कलाकृति था जिस में आधुनिक कला-कल्पना के साथ भारतीय संस्कृति के चिरमहिम भाव-प्रतीकों को भी मनोज्ञ रूप में प्रतिच्छवित किया गया था। शंखध्वनियों के बीच, श्री सुमित्रानन्दन पंत के केशर तिलक लगाते हुए, उन्हें प्रशस्ति-पट्ट तथा पुरस्कार-प्रतीक वाग्देवी की कांस्य मूर्ति डा० गोपाल रेड्डी ने भेंट की तथा राष्ट्रपति श्री गिरि द्वारा पुरस्कार-राशि का चेक समर्पित हुआ।

पुरस्कार समर्पण के उछाह, समारोह की शोभा छटा की पुलक से विह्वल, कोमलप्राण कवि का आनन विनम्र आनन्द से छविमान था। मनीषी, दार्शनिक, कवि के ओजस्वी स्वरों में उन्होंने अपने उद्गार प्रकट किये "इस साहित्य पर्व के अवसर पर मैं सर्वप्रथम भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार के संयोजकों को हार्दिक बधाई देता हूँ, केवल इस लिए नहीं कि उन्होंने मेरे कृतित्व को पुरस्कार के योग्य समझा बल्कि इस लिए भी कि उन्होंने भारतीय भाषाओं के उपेक्षित साहित्य-साधकों को जिन की भाषाओं को उन्हीं के देश में यथोचित स्थान एवं सम्मान नहीं मिल सका है और जो अपने को अपने ही देश में निर्वासित तथा विस्थापित सा अनुभव करते हैं, इस योजना से पुनर्वास दे कर सम्मानित तथा प्रतिष्ठित करने का श्लाघ्य प्रयत्न किया है।"

वे आगे बोले "हमारे राष्ट्रनायक यदि ऐसा अनुभव करते हैं कि हमारे देश के मनीषी उन के काम नहीं आये तो यह एक प्रकार से ठीक ही है, क्योंकि उन का सम्बन्ध न कभी देश की भाषाओं या उन के साहित्य से रहा है और न उन का बौद्धिक सम्पर्क अपने देश के बुद्धिजीवियों या मनीषियों के ही साथ रहा है। सत्य यह है कि अपने देश के मनीषियों से उन्होंने काम ही लेना पसन्द नहीं किया। वे भाषा तथा शिक्षा सम्बन्धी समस्याओं को सुलझाने की चिन्ता न कर, जो कि राष्ट्रीय एकता तथा लोकजागृति के लिए अनिवार्य आवश्यक उपादान है, भावनात्मक एकता का झूठा तथा खोखला नारा दे कर ही सन्तुष्ट हैं। वस्तुतः प्रयत्न होना चाहिए विवेकात्मक एकता, रैशनल इण्टिग्रेशन का, विवेक बुद्धि जिस कार्य के लिए स्वीकृति दे उसे दृढ़तापूर्वक स्वस्थ संकल्प के साथ कार्यान्वित करने का। तभी हमारे मध्ययुगीन पूर्वग्रहों से विदीर्ण देश में प्रगति तथा उन्नति सम्भव हो सकती है

और अपने समय में भावनात्मक एकता की सदिच्छा भी चरितार्थ हो सकती है।

"यदि व्यापक दृष्टि से देखें तो आज अपने ही देश में नहीं समस्त विश्व में ही ह्रास-विघटन तथा नवनिर्माण की शक्तियों में संघर्ष चल रहा है। आज वैज्ञानिक विकास एवं उपलब्धियों के फलस्वरूप समस्त विश्व के देश एक-दूसरे के अत्यन्त घनिष्ठ सम्पर्क मे आते जा रहे हैं और प्रत्येक देश के निवासी के मन में आज अपने देश की समस्याएँ ही नहीं विश्व की समस्याएँ भी अँगड़ाई ले रही है और अतीत के संकीर्ण नैतिक तटों, आचार-विचार के घेरों तथा देशों-राष्ट्रों की सीमाओं को लाँघ कर वर्तमान भौतिक युग के प्लावन से एक नवीन मानवीय धरती की रूपरेखाएँ उद्‌बुद्ध मनीषियों तथा युगचेताओं के मन मे निखरने लगी हैं जो संसार के साहित्य मे एक नयी सांस्कृतिक प्रेरणा, नये सौन्दर्यबोध की भावना, व्यापक नैतिकता की धारणा, तथा उन्नत मनुष्यत्व की चेतना को अभिव्यक्ति देने का प्रयत्न कर रही है।"

अपने दृष्टिकोण को अधिक स्पष्ट करते हुए पंतजी ने कहा : "आज के दिगभियान के युग मे धरती के मनुष्य को एक अधिक व्यापक, अधिक पूर्ण तथा अधिक महान् मनुष्यत्व की प्रेरणा चाहिए जिस का ध्येय केवल आध्यात्मिक सम्पद् या भौतिक वैभव संचय करना ही न हो बल्कि जो इन दोनों के सौष्ठव को आत्मसात् कर मनुष्य की आत्मिक-मानसिक-प्राणिक तथा दैहिक आवश्यकताओं के सम्पूर्ण सत्य को धरती की जीवन-गरिमा मे संयोजित कर सके, जो पिछले युगों की खर्व आध्यात्मिक-नैतिक मान्यताओं तथा निषेध-वर्जनाओं की देश-काल पीड़ित दृष्टि को बाँध-कर मनुष्य के ऐन्द्रिय जीवन का आध्यात्मीकरण तथा आध्यात्मिक जीवन का इन्द्रियीकरण कर सके। मानव जीवन का सत्य केवल मानव-केन्द्रिक ही नहीं धरा-केन्द्रिक भी है। धरती की चेतना से मानव चेतना का सर्वांग संयोजन ही इस युग के द्रष्टा-स्रष्टा, चिन्तक-विचारक, शिल्पी-कर्मी तथा विश्व-सभ्यता और संस्कृति के सम्मुख सम्प्रति अनिवार्य मूलगत प्रश्न तथा समस्या है, जिस का दायित्व कवि-कलाकार तथा शिल्पी पर आज सर्वोपरि है।"

पंतजी ने कहा : "आज के आध्यात्मिक पुनर्जागरण तथा वैज्ञानिक अवतरण के युग में समस्त ज्ञान-विज्ञान सम्बन्धी सम्पद् से सम्पन्न होते हुए भी मुझे मानव मे हार्दिकता का अभाव लगता है जिस के कारण उस के जीवन-निर्माण के प्रयत्न मानवीय न हो कर केवल निर्मम यान्त्रिकता के प्रतीक बनते जा रहे हैं। वास्तव मे विज्ञान और अध्यात्म के भौतिक और आत्मिक उपकरणों का मानवीय उपयोग केवल मानव हृदय के सत्य को ही प्रमुखता दे कर सम्भव हो सकता है। हमें विज्ञान और अध्यात्म दोनों ही धरातलों के दृष्टि-वैभव को नवीन मानव के निर्माण तथा विकास के लिए प्रयुक्त करना चाहिए कि वह भविष्य में इस देशों-राष्ट्रों की सीमाओं से उभरी हुई धरती पर एक नवीन सांस्कृतिक एकता का अनुभव अपने भीतर कर सकें—सांस्कृतिक एकता जो उस की ईश्वरीय अथवा आध्यात्मिक एकता

की भी प्रतिनिधि बन सके। कला में रूप और चेतना का सयोजन, दर्शन में गुण और राशि का सयोजन, रचनाक्रम में विज्ञान और अध्यात्म का सयोजन—ये तीनो आज के युग की व्यापक आवश्यकता के प्रमुख तत्त्व हैं। कविकर्म मेरे लिए सृजनात्मक तथा कलात्मक ही न रह कर नयी चेतना की दिशा में चिन्तनात्मक तथा निर्माणात्मक भी रहा है।"

समाहार करते हुए उन्होने कहा "नि सन्देह इस युग में कवि तथा सृजक के कन्धो पर अत्यन्त महान् दायित्व आ पडा है। धरती के जीवन का उस के भाई-बहनो आलोकपुज नक्षत्रो की श्रेणी में, उन के समकक्ष बिठाने का भार वैज्ञानिक से भी अधिक आज के सृजनप्राण द्रष्टा तथा स्रष्टा के ही ऊपर है। अपनी सीमाओ तथा अपने युग की सीमाओं के भीतर से मै केवल इस सत्य के प्रति जागरूक भर रह सका हूँ, उस दिशा में यत्किंचित् प्राणो की अजलि भी दे सका कि नही, मै नहीं जानता। मेरे कृतित्व के पुरस्करणीय होने का कारण मेरा कृतित्व सम्भवत उतना नही जितना आज के महान् युग के आविर्भाव का सौन्दर्य, चैतन्य आनन्द तथा सृजन की भावना है।"

भारत गणराज्य के नायक राष्ट्रपति श्री वराहगिरि वेंकटगिरि की उपस्थिति ने इस साहित्यिक समारोह को चौगुनी भव्यता दी। राष्ट्रपति ने पुरस्कृत कृति 'चिदम्बरा' के सात भाषाओ में हुए अनुवादो का ग्रथ-विमोचन करते हुए भारतीय ज्ञानपीठ की इस उपलब्धि पर हर्ष प्रकट किया कि उस ने 'चिदम्बरा' से चुनी ५० हिन्दी कविताओ का अनुवाद अँगरेजी, बाग्ला, मराठी, गुजराती, कन्नड, मलयालम और तेलुगु भाषाओ में प्रस्तुत करके इस अवसर को विशेष सार्थकता दी। राष्ट्रपतिजी ने कहा "एक समय था जब ललित कलाएँ राजाओ और साधन-सम्पन्नों के आश्रय में पल्लवित होती थी लेकिन आज जब कि उस राजाश्रय का लोप होता जा रहा है, साहित्य और कलाओ के विकास का दायित्व अब जनता पर और सरकारी और भारतीय ज्ञानपीठ जैसी गैरसरकारी सस्थाओ पर आ पडा है। भारतीय ज्ञानपीठ को मै हार्दिक बधाई देता हूँ कि उस ने ऐसे एक पुरस्कार का प्रचलन किया है जो भारत की एकता का प्रतीक बन गया है। सभी भारतीय भाषाओं में से एक उत्कृष्ट पुस्तक का चयन करना कोई आसान काम नही है, परन्तु ज्ञानपीठ ने पिछले चार वर्षो से इस कार्य को बडी सफलता के साथ सम्पन्न किया है।

"वे प्राचीन मूल्य और पुराने सगठन, जिन से अब तक समाज अविच्छिन्न था, अब टूटते जा रहे है और उन का स्थान लेने के लिए न तो कोई ठोस कार्यक्रम नजर आ रहा है न कोई सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना पनप रही है जो समयानुकूल हो। परिणामस्वरूप सामाजिक विघटन के चिह्न दिखाई पड रहे है। किन्तु मेरा दृढ विश्वास है कि साहित्यकार ही राष्ट्रीय चेतना के आधार है। वर्तमान

[शेषाश पृष्ठ ७२१ पर]

कविताएँ

सुमित्रानन्दन पंत	
शान्ति चौधरी	
केदारनाथ अग्रवाल	
शकुन्त माथुर	
सर्वेश्वरदयाल सक्सेना	
कुँवर नारायण	
गिरिजाकुमार माथुर	
अशोक वाजपेयी	
शमशेर बहादुर सिंह	अज्ञेय
नागार्जुन	ललित कुमार
बच्चन	प्रभाकर त्रिपाठी
इन्दु जैन	सविता बनर्जी
रामधारी सिंह 'दिनकर'	धर्मवीर भारती
बालकृष्ण राव	गजानन माधव मुक्तिबोध
शिवमंगल सिंह 'सुमन'	पानू खोलिया
प्रयाग शुक्ल	अनामिका
कैलाश वाजपेयी	नारायणलाल परमार
स्नेहमयी चौधरी	बजरंग बिश्नोई
भवानीप्रसाद मिश्र	रामदरश मिश्र
वीरेन्द्र मिश्र	दिनकर सोनवलकर
ओम प्रभाकर	किरण जैन

देव श्रेणी

•

सुमित्रानन्दन पंत

नयी देव श्रेणी को
जन्म दिया जग मैं ने
नव मूल्यों में नये प्राण भर,
रश्मि-किरीटी-हिम-शिखरों-सी
उठतीं जो तिर जीवन सागर !

कर्दम में डूबे
युग के आकण्ठ मनुज को
नव विकास पथ पर स्थापित —
मिटा गया इतिहास तमस्
चैतन्य-लोक दिखला
दिग्भास्वर !

एक सूर्य अब अस्त हुआ
मानव आत्मा में—
बिखर रहा चैतसिक धूम
बन घन ताराम्बर
अरुणोदय होने को उर में
एक ज्योति झुक रही क्षितिज से
मानव-भू पर !

किस को छूने
हाथ बढ़ाता
बौना व्यक्ति
उठा भू से पग ?

चन्द्र खिलौना व्यर्थ
सदय नव सूर्य
स्वयं जब
उदय हो रहा उर के भीतर !
अन्तःसमता की क्षमता ही
ला पायेगी
बाह्य लोक-समता
बहु भेदभरी जन-भू पर,
नयी एकता में बँधने को
अब भू मानव
अतिक्रम कर युग-युग के अन्तर !

नयी देव श्रेणी को
जन्म दिया तप मैं ने
नव मूल्यों में उर स्पन्दन भर,
देव-मनुज-पशु
नया मनुज बन जीयेंगे जब
तब होगा चरितार्थ
धरा पर जीवन-ईश्वर !

मेरा मन

•

कीर्ति चौधरी

खँडहर के कमरे जो,
रहते हैं सदा बन्द,
उन-सा ही बन्द-बन्द,
सहमा-सा, दबता-सा,
मेरा मन।
कमरे जो जालों से,
झींगुर झनकारों से,
घिरे सदा रहते हैं,
उन सा ही,
घिरता-सा,
उलझा-सा,
मेरा मन।
वैसे तो कभी-कभी,
ऐसा भी होता है,
जैसे उन कमरों में,
साँस ज़रा पा कर के
एक अबाबील कहीं,
सूनापन तोड़ दे,
थोड़ी सी गर्द उठे,
थोड़ी सी खड़क मचे,
फिर उस के बाद,
वही खँडहर की सायँ-सायँ।

कभी-कभी मकड़ी के जाले भी बढ़ते हैं,
लेकिन वे भी तो बस,
मकड़ी के जाले ही,
घिरें, बढ़ें, घटें-मिटें,
कोई भी बात नहीं,
थोड़ी-सी खटक और जालों की नूतनता,
चाहे हो रोज़ रोज़,
लेकिन यह खँडहर तो,
खँडहर रह जाता है।
मेरा मन अपने को,
उस जैसा पाता है।

[अक्तूबर १९५६]

काली परछाईं और प्यार का गीत

•

सर्वेश्वरदयाल सक्सेना

एक काली परछाईं
जो आहिस्ता से रेंग कर
इस भूरी दीवार पर आ गयी है,
मुझ से कहती है कि उठो
मुझे प्यार का गीत दो।
लेकिन मेरा सर इस
बेडौल मेज की गोद से
उठ नहीं रहा है,
जैसे भीतर की सारी थकावट
ऐंठन, घुटन, रग-रग को फाड़ कर
फैल रही हो, बह रही हो।

प्यार का गीत ?
जी में आता है कह दूँ
"जाओ इस समय मेरे पास नही है"
"खो गया है"
"मैं भूल गया हूँ"
"अभी-अभी था, पर कहीं
कागजों मे दब गया है,"
"यही कहीं, यहीं कही,"
"फिर ढूँढ़ लूँगा, हाँ, हाँ"
"जरूर-जरूर"
"अच्छा तो होता ही है,"
"अच्छा था भी शायद,"

"याद नहीं, ठीक है,"
"जरूर अच्छा रहा होगा।"
और फिर चुपचाप
इसी तरह निश्चेष्ट पड़ा रहूँ,
इस परछाईं के हर तकाजे का
एक छोटा-सा चलता हुआ
इसी तरह का जवाब दे दूँ,
ताकि यह वापस चली जाये।

प्यार का गीत ?
हँसूँ, खूब जोर से हँसूँ
ताकि यह काँप उठे
यह भूरी दीवार हिले
और अरअरा कर गिर पड़े,
ताकि फिर इस के खड़े रहने के लिए
कोई जगह न हो
कोई सहारा न हो

प्यार का गीत ?
मैं इसे झकझोर कर
बाँहों में समेट लूँ,
और फिर इसे इतना कसूँ
इतना कसूँ
कि यह मुझ में अन्तर्ध्यान हो जाये
मिट जाये।

प्यार का गीत ?
मैं इसे चूर चूर कर दूँ,
और किसी ठण्डी हवा
के झोंके पर इसे छोड़ दूँ,
ताकि यह बह जाये
इस का अस्तित्व न रहे।

और मैं फिर चुपचाप
शान्तिपूर्वक
हर दर्द को ऐंठते हुए देखूँ,
हर जगह को
लहराता हुआ अनुभव करूँ,
अपने को असहाय
निराश्रित, टूटा हुआ,
अस्तित्वहीन पाऊँ,
घृणा, उपेक्षा, विश्वासघात
की आँधी में रहूँ,
क्योंकि प्यार का गीत
ऐसे ही क्षणों में लिखा जाता है
लिखना पड़ता है
इस से पूछो
कि यह कुछ क्षण पहले कहाँ थी
जब मैं यह गीत लिख रहा था ?
तब काश कि यह आ गयी होती
फिर मैं ने यह गीत न लिखा होता।

[अप्रैल १९५९]

तुम्हें पाने की अदम्य आकांक्षा

कुँवर नारायण

तुम्हें पाने की अदम्य आकांक्षा
देह की बन्दी है।
तुम्हें देह तक लाने की इच्छा तो
शव-सी गन्दी है।

तुम्हारे रूप की समृद्धि के प्रहरी
अकिंचन शब्द, केवल दास हैं :
एक परायी सम्पत्ति की तिजोरी के
सिर्फ़ आसपास हैं।

अ-व्यथित प्यार के सन्तोष तक उठ सकें,
चाहों में शक्ति कहाँ ?
तुम को, हर चेहरे के सुख-दुख को देख सकें,
ऐसी अनुरक्ति कहाँ ?

ये सितारे तुम्हारी दूरी को दुहराते हैं,
मन को आकाश-सा सूना कर जाते हैं।

तुम्हारा मौन जैसे नदी के उस ओर का अँधियार,
कहने के लिए उस पार—सहने के लिए इस पार।

एक सृष्टि है जिस की उदासी से
चीज चीज बचती है,
जिस के सम्पर्क से सपनों-सी छुईमुई
दुनिया सकुचती है।

इन चिथड़ा खण्डहरों की विपन्न शामों में
कोई चिल्लाता है,
जिस का स्वर सदियों की
दूरी से आता है।
लगता है यह सब भूल जाना है :
एक कहानी—
जो सुलाने का बहाना है।

तुम और तुम्हारा प्यार, एक तमाशा
जो मेरे बाद न होगा।
और ज़िन्दगी, एक टूटा हुआ ख्वाब
जो मुझे याद न होगा।

[सितम्बर १९५९]

कल्पान्त

•

गिरिजाकुमार माथुर

(पृष्ठभूमि में असुरों की तरह वर्गाकार खिड़कियों की चमकती आँखें खोले स्काई स्क्रैपर दिखाई पड़ते हैं। आकाश में रॉकेट-जेट का भारी छाया चील की तरह मँडरा रही है। रॉकेट-जेट की भारी 'ड्रोन' के साथ मशीनों की चीत्कार और मच मे ऊपर क्विक मार्च की अनवरत ध्वनि उठती है। दूसरी निकटस्थ दूरी पर अनवरत लाखों स्विच दबाने की आवाज़ें जैसे भीमकाय टेलीमीटर, रोटरी या कैलकुलेटिंग मशीनें एक साथ चल रही हों। तीसरी दूरी पर स्वयचालित आटोमैटिक डिक्टाफोन घोषणा करते हैं। मच पर यक्षाकार मशीनों तथा फ्यूचरिस्टिक यन्त्र पुर्जों का जाल दिखाई देता है जिस के बीच कितने ही छोटे-बड़े मशीन मानव, रोबेट तथा परसेप्ट्रोन खड़े हैं। छाया में सैनाएँ तथा रॉकेट चलते नजर आते हैं।)

डिक्टाफोन सावधान

दृष्टि जमाओ

दृष्टि जमाओ

रेडियो सैनिक

सावधान

(दूर तक अनगिनत डिक्टाफोनों की प्रतिध्वनि सुनाई देती है)

"सावधान"

"सावधान"

(अन्तराल, जिस में ड्रोन, मार्च, टेलेटाइप, परसेप्ट्रोन रोबोटों की यन्त्र मापाएँ तथा स्विच बोर्डों की आवाज)

डिक्टाफोन

सावधान

अणु तोपें

ऑन

राडर पट

ऑन,

उपग्रह एन्टेना

ऑन,

परमाणु धूप के रॉकेट

ऑन

(किंचित् विराम, फिर भी स्पष्ट)

डिक्टाफोन

(आज्ञा के स्वर में)

तीस अंश

मान पन्द्रह

अक्षांश एक सौ आठ

वायु लम्ब नौ सौ

पश्चिम पश्चिमोत्तर

विस्तार पवन घन वर्ग

"कोट"

अस्सी दशमलव सिफ़र
सिफ़र पर सिफ़र
एक सात छै सिफ़र
"रिपीट"
अस्सी दशमलव सिफ़र
दो सिफ़र
एक सात छै सिफ़र
उधर हवाई अड्डों पर
दो हजार
बेतार यान
लैण्ड
"ओवर····"

(फिर स्पष्ट अन्तराल जिस में बेतार यान, लैण्ड की प्रतिध्वनि दिगन्त तक दिखते रोबोटों से होती है ।)

(क्षण अन्तराल)

डिक्टाफ़ोन :

समय कैमरा के फ़ोटोन नयन
ऑन
चित्रांकन का प्लेट रिकॉर्डिंग
ऑन
केन्द्र भवन के लुप्त रेडियो द्वार
एक, दो, तीन, चार
क्लोज
सावधान
आज गुप्त सभा बैठी है
स्वर्ण दैत्य की
सुनें सभी
संचार मशीनें दुनिया भर की
सुनें

(महाकार गांग बजता है । दृश्य अब घूम जाता है और मंच पर एक विशाल कॉन्फ़्रेन्स रूम दिखाई पड़ता है । अश्व-नाल जैसी एक बड़े आकार की टेबल पर सामरिक सन्धि में बँधे संघीय देशों की नामांकित प्लेटें लगी हैं जिन के पीछे लम्बे मुँह के माइक दिखाई देते हैं । कुरसियों पर देशों के प्रतिनिधि बैठे हैं जिन की शक्लें, चंदोवेदार बत्तियाँ तथा आसपास की चीज़ें मेज़ की चमकदार विनियर पॉलिश पर प्रतिबिम्बित हो रही हैं। मेज़ के पीछे एक उठी हुई सज्जित पीठिका है जिस के पृष्ठ-पट पर पृथ्वी का गोलक अंकित है और स्वर्ण-श्रृंखला से बँधा है। चन्द्राकार पीठिका पर कुछ आगे सामरिक देशों के केतन गड़े हैं। स्वर्ण दैत्य के प्रवेश के साथ ही सारे प्रतिनिधि खड़े हो कर उस का अभिवादन करते हैं। फिर····)

कूट मन्त्री :

सावधान
परिषद् के सब लोग
सन्धि बँधे देशों के प्रतिनिधि
क्या अब सभी उपस्थित हैं

डिक्टाफ़ोन :

उपस्थित श्रीमन् !

(दूर अनगिनती डिक्टाफ़ोनों की प्रतिध्वनि गूँजती है)

"सावधान"
"सावधान"

अणुपति :

उपस्थित श्रीमन् !

कूटमन्त्री
अणुपति
वित्तपति
यन्त्र दैत्य
मनवनिक
परा विद्युता
नीरो के हिटलर के प्रेत
अन्तर्देशी राजनीति के प्रतिनिधि
सैन्य, अर्थ, विज्ञान, रिसर्च,
सम्प्रदायों के जाल समेत

कूट मन्त्री

विश्वविजेता
महाबली
सोने-चाँदी रत्नों के स्वामी
अणु-परमाणु शक्ति के मालिक
अन्तर्यामी
धरती सागर आसमान
बिजली पानी हवा उजेला
बादल वश में करने वाले
पृथ्वी के कण-कण में
रेडियो एक्टिव धूल डालने वाले
स्वर्ण दैत्य
आदेश नया करते हैं सब को
सावधान

स्वर्ण दैत्य

जय सोने की
स्वर्ण शक्ति की
युद्ध रक्त की
जय हो मेरी
निर्बेले ह

(यन्त्र प्रतिध्वनि होती है)

"सावधान"

कूट मन्त्री

हे स्वर्ण दैत्य
हे मेराविलिस
अरबों-खरबों पदमों के स्वामी
तुम ने कहा कि हो उजियाला
उजियाला हो गया
तुम ने कहा कि धूप उगे
परमाणु धूप उग गयी
तुम ने कहा कि हवा चले
जाइट मशीनें चलीं
तुम ने कहा कि बादल आयें
कृत्रिम बादल आये
बिजली चमकी
जितना मनचाहा जल बरसा
मिट्टी निचोड़ कर रस निकला
धरती ने सब सोना उगला
दुनिया बस गयी जमीन तले
पीली हो गयी धरा सारी
तुम जो चाहो सो कर सकते
नदियों के नीचे रह सकते
नदियों की धार पलट सकते
सागर को भाप बना सकते
बस्ती को उजाड़ कर सकते
उजड़ मरुथल में
कैक्टस नये उगा सकते
तुम मिटा वनस्पतियाँ सारी
फगस के रग-रग जंगल उपजा सकते
तुम बीटा गामा एक्स किरण से

गला मानवी माँस
फिर टेस्ट-ट्यूब में
नया रसायन माँस बना कर
जान डालने की कोशिश भी कर सकते
तुम नॉर्थ पोल का बर्फ़ गला कर
बिजली-बम पैदा करते
धरती आकाश जलाने को
तुम पंख लगा कर उड़ सकते
है उड़न-तश्तरियों से तुम को बहुत प्यार
तुम बैठ घूमते रिम पर जिन के
करते हो नभ में विहार
फिर चन्द्रलोक मे ग्रीष्मवास करने जाते
पिकनिक करते
टूरिस्टों का ट्रैफ़िक खोला
सस्ते दामों मे धरती तुम ने वेची है
चन्द्रमा, शुक्र, मंगल तक की
दर्शकगण के मनोरंजन को
थियेटर, मूवी, होटल कितने
ट्रैविल इन्श्योरेंस, वैंक, यात्रा के व्यूरो
है चन्द्रलोक मे चला दिये
हे स्वर्ण दैत्य
तुम ने मंगल तारे तक को
है कर्ज़ दिया
दया कर के
इस जीव जन्तु कीड़ों की पिछड़ी दुनिया को
विकसित करने
दी कितनी मदद कृपा कर के
कितना अपार-उपकार किया
लगवाये नये कारखाने
कीड़ों को सभ्य बनाने को
फिर इस धरती की कौन कहे—

स्वर्ण दैत्य :

हम प्रसन्न है
वेल कूट मन्त्री शाबास
तुम्हे बना देंगे जल्दी हम
तेल किंग, लोहा सम्राट्
तब तक तुम फिलहाल
एक च्युइंगगम खाओ

कूट मन्त्री :

धन्य धन्य मरहवा मरहवा
तेल किंग, लोहा सम्राट् बनाने का
क्यों कष्ट कर रहे
आप स्वयं है आसमान सम्राट्
समुद्रों के राजा
पवन ग्राण्ड मार्शल
सुप्रीम फ़ील्ड सेनापति तारों के
है प्रेसीडेंट सितारों के
डिक्टेटर लोक-लोक के है

(यन्त्र-ध्वनि होती है)

सावधान
अटेन्शन
प्रेजेंट एट आर्म्स
अणुपति

अणुपति :

स्वर्ण दैत्य है हेल तुम्हे
तुम स्वर्ण किंग, तुम तेल किंग
हे लोह राज, हे कोल किंग
हे अन्नराज
हे कपड़ा और कपास राज
हे चमड़ा और मशीन राज

तुम धरती, सागर, हवा और बादल तक के
हे फौजराज
हे हेल तुम्हें
बोलो क्या नयी आज्ञा है
हैं नये-नये शस्त्रास्त्र सजे
जो समर शृंखला बँधे देश हैं शक्तिवान्
उन की सामूहिक सेना है तैयार खडी
भूमध्यरेख-सी पृथ्वी पर
है पंक्ति सामरिक अड्डों की
जिस में है बँधी धरा सारी
रॉकेट जैटों के यानतलो पर खडे हुए तैयार
नये हथियार
धरती का कोना-कोना अब
आतंकित शंकित है
अपने अपूर्व बल से
वैज्ञानिक ताकत से
बोलो क्या नयी आज्ञा है ।

स्वर्ण दैत्य

फाइन, तुम सेनापति फाइन
हम प्रसन्न हैं
शीघ्र तुम्हें
सुप्रीम कमांडर सामूहिक सेनाओं का
नियुक्त करेंगे
पृथ्वी की रेडियम खानों में
बडे शेयर भी देंगे
इस के पहले तुम्हें नया गम्भीर काम दें
पहनो ये सर्वोच्च फौज का तमगा
प्लास्टिक यूरेनियम का
(यन्त्रध्वनि होती है)

डिक्टाफोन

सावधान

स्वर्ण दैत्य

आओ लोहे की दुनिया के संचालक
ओ यन्त्र दैत्य
तुम ने और परा-विद्युता ने
जो किये अनोखे अन्वेषण
सामूहिक हत्या के खोजे
भूतो न भविष्यति जो साधन
उन की रिपोर्ट अब पेश करो.

"यन्त्र दैत्य

(सायरन की उतरती चढती डरावनी आवाज के साथ मशीन की खिलखिलाहट)

जिगो जिगो
खलल खलल खल
धरड खडर खग
ज्रूम ब्रूम, शू फू त्सी श-फू त्सी
चिर टिर घट्ट
चिर ढिर घट्ट
हूँ हूँ हाँ
गफ्फा हा, गफ्फा हा
भो गो
भों गो
नाम लाम
स्वर्ण प्रणाम, स्वर्ण प्रणाम

[अक्तूबर १९५९]

प्यार करते हुए सूर्य-स्मरण

अशोक वाजपेयी

जब मेरे होठों पर
तुम्हारे होठों की परछाइयाँ झुक आती है
और मेरी उँगलियाँ
तुम्हारी उँगलियों की धूप में तपने लगती है
तब सिर्फ़ आँखें है
जो प्रतीक्षा करती है मेरे लौटने की
उन दिनों मे, जब मैं नहीं जानता था
कि दो हथेलियों के बीच एक कुसुम होता है

—सूर्यकुसुम

जब अँधेरे दरवाज़े पर खड़े हो कर
तुम एक गीत अपने कन्धों से
मेरी ओर उड़ा देती हो
और मै एक पेड़ की तरह खड़ा रहता हूँ
तब सिर्फ़ आँखें हैं
जो प्रतीक्षा करती है मेरे लौटने की
उन दिनों मे, जब मै नहीं जानता था
कि दो चेहरो के बीच एक नदी होती है

—सूर्यनदी

जब तुम मेरी बाँहों मे
साँझ-रंग सी डूब जाती हो
और मैं जलविम्बों-सा उभर आता हूँ
तब सिर्फ़ आँखें है
जो प्रतीक्षा करती हैं मेरे लौटने की
उन दिनों में, जब मैं नहीं जानता था
कि दो देहों के बीच एक आकाश होता है

—सूर्य-आकाश

[जून १९६०]

कत्थई गुलाब दबाये हुए हैं

शमशेरबहादुर सिंह

कत्थई गुलाब
दबाये हुए हैं
नर्म नर्म
केसरिया साँवलापन मानो
शाम की
अगूरी रेशम की झलक
कोमल
कोहरिल
बिजलियाँ सी
लहराये हुए हैं।

आकाशीय
गगा की
झिलमिली ओढे
तुम्हारे
तन का छन्द
गतस्पर्श
अति अति नवीन आशाओ भरा
तुम्हारा
बन्द बन्द।

२

"ये लहरें घेर लेती है •
उभर कर अर्द्ध द्वितीया
टूट जाता है "
—यह किस का पद है, किस कवि मन का,
किस सरि-तट पर सुना ?

३

हमारी
ओ शालीन सस्कृत छन्दों में—कि
इतालवी सानेटो में—
पूजित
छाया
शकुन्तले !
बिएत्रिचे !

प्रेम की ओ
असम्भव
सरलते
सदैव सदैव।

[सितम्बर १९६०]

और उन को, पीठ पर तेरी चढ़े
लघुकाय दादुर ।

झलक जाता है
दृगों के सामने
वह स्वर्ण-पुण्य प्रभात
जिस में भेद कर्दम,
छेद जल-तृण जाल-माला,
नीर तल को चीर
तू ने सिर उठाया था,
खिला तू, जगमगाया था ।
और तेरे मर्म से जो गन्ध निकली थी
निमन्त्रण वह बनी थी
पास-दूर निवासिनी भ्रमरावली को;
उस दिवस जयगान गुंजित जो हुआ था ।
आज भी उस की प्रतिध्वनि से
दिशाएँ थरथरातीं,
और सुधियाँ सिहर जातीं ।

मैं प्रकृति के जड़ नियम की आड़ ले
सन्तोष अपने को नहीं दे पा रहा हूँ—
जन्म,
वर्द्धन,
जर्जरण,
फिर मरण निश्चित ।
प्रकृति के जड़ बन्धनों से मुक्त भी
कुछ है कि जो
झुकता नहीं,
खण्डित न होता,
औ' धराशायी न बनता ।

उतर रहा है,
बजबजाता;
जलज, अब तू सड़ रहा है;
और यह दुर्गन्ध तेरी
सही जाती नहीं मुझ से ।
सत्य है यह,
कमल सड़ता जब
सेवार, कुचील काई, कीच से भी
अधिक बदबूदार होता ।
बिलबिलाते कीट तेरी लोथ को
अब खा रहे हैं ।
वृन्त जिस पर तू चढ़ा
अब भी खड़ा है ।
सत्य की भी रीढ़ क्या झुकती कभी है ?
अहिंसा भी यष्टि पर चलती कभी क्या ?
त्याग की भी पीठ बोझों टूटती है ?
और बलि को भी निगलता काल का मुख ?
मोतियों का भक्ष्य तो भूखे मरालों के लिए है,
सरसिजों के कोष का सन्तोष-धन है सुरभि
केवल ।

मोतियों को तू सँजोने को झुका था,
तभी आसन से डिगा था,
लड़खड़ाया,
वृन्त से विच्छिन्न,
पुण्यक्षीण,
पानी में गिरा था ।
और अब तू सड़ रहा है,
और यह कटु, करुण, अप्रिय सत्य
मुझ को आज कहना पड़ रहा है !

[अप्रैल १९६१]

अस्थिहीन शब्दों का त्यक्त केंचुल

•

इन्दु जैन

गीत की असह्य साधारणता
और
उभरा हुआ दर्द।
उस दर्द की परिणति
यही है
बस यही।
चम्पा की जड का मधुहीन रस—
फुनगी तक पहुँच नही पाया।
अस्थिहीन शब्दो के इन त्यक्त केंचुल में
मुझे मत भरो।
एक व्याकृति तुम ने दी
एक व्याकृति तुम हो—
सब मेरी आस्था
सब मान्यताओ की।

कभी-कभी लगता है—
'लो, बस अब उतर गया—
असावधानी की खूँटी पर टँग गया
भ्रम का लबादा।'

लेकिन फिर
वही,
वही भूल।
तुम तो वही हो—आवरण से अभिन्न।
व्यथा के शीत से सिहर कहाँ पाओगे ?

एक दिन वेला के फूलो की दृष्टि खुली
आसमान ताँबे-सा तपा हुआ
झूठे सलमे के तारे और
चाँद
टूट कर टपक रहे।

[सितम्बर १९६१]

इतिहास का न्याय

•

रामधारी सिंह 'दिनकर'

दूर भविष्यत् के पट पर जो वाक्य लिखे हैं,
पढ़ लेना, भवितव्य अगर आगे जीवित रहने दे
गान्धी, बुद्ध, अशोक नाम हैं
बड़े दिव्य स्वप्नों के,
भारत स्वयं मनुष्य जाति की
बहुत बड़ी कविता है।
कह लेना यह कथा,
अगर अपनी विषाक्त डाढ़ों से
काल छोड़ दे तुझे और भवितव्य
अगर कहने दे।

दर्शन की लहरें मत अधिक उछाल,
विचारों के विवर्त में पड़ा आदमी
बहुत विवश होता है।
मगरमच्छ नोचते देह का मांस और वह
छन्दों में सोचता, ऋचाओं-श्लोकों में रोता है।

दूर क्षितिज के सपने में मत भूल,
देख उस महासत्य को,
जिस की आग प्रचण्ड, दाह दारुण, प्रत्यक्ष,
निकट है।
गान्धी, बुद्ध, अशोक विचारों से अब
नहीं बचेंगे।
उठा खड्ग, यह और किसी पर नहीं,
स्वयं गान्धी, गंगा, गौतम पर ही संकट है।

पशुता के दुर्मद झकोर में हाथ उठा कर
क्या करना आह्वान शील का, सहिष्णुता का,
स्नेह का ?
आत्मा की तलवार सर्वथा वहाँ व्यर्थ है,
जहाँ अखाड़ा खुला हुआ हो देह का।

द्विधा व्यर्थ, आगे का क्या इतिहास कहेगा।
द्विधा व्यर्थ, युग के चिन्तन का कहाँ ध्यान है।
दर्शन करता सदा मूक अनुसरण क्रिया का।
और जिसे हम कहते हैं इतिहास,
बड़ा ही बुद्धिमान है।

उच्च मनुजता को ठुकराने से तो वह डरता है।
किन्तु, उच्च गुण के कारण जो रण में
हार गये हैं,
उन पराजितों की क़िस्मत पर रोता है
इतिहास,
पर, अपाहिजों का कलंक
वह क्षमा नहीं करता है।

[जनवरी १९६३]

मेरी ओर देखो तो

बालकृष्ण राव

तुम से न मिला होता—
या उस दिन
फूल-सा न खिला होता
सारा यह दृश्य जग
उस क्षण के वृन्त पर,

तो क्या न होता जो हुआ ?
न पाता मैं दृष्टिदान
देख कर तुम्हें—तुम्हें देखने को ?
कैसे यह मानूं मैं ?

कैसे यह मान लूं
कि मिलना हमारा वहाँ, उस क्षण
मात्र एक आकस्मिक घटना थी,
जिस का न घटना भी सम्भव था ?

कहते हैं
कि जो कुछ भी होता है, होता है
विधि के विधान में।
कहते हैं कि विधि के विधान से ही
पत्ते हिलते हैं, धूल उड़ती है,
बादल गरजते हैं, पानी बरसता है,
प्राणी जन्म लेते हैं, मरते हैं—
एक पूर्व-निश्चित व्यवस्था के अनुसार
जो कुछ भी होता है, होता है।
कहते हैं कि ग्रह-नक्षत्रों के
सीधी या वक्र चाल चलने में,
मिलने, बिछुड़ने में,
आकर्षित होने में, मुँह मोड़ लेने में,
मिलता है संकेत विधि के विधान का।

प्राण, जरा सोचो तो—
लाखों मील दूर का वह ग्रहचार,
और हम दोनों—नटी और सूत्रधार!

सोचो तो, मिले थे हम दोनों जब,
अन्तरिक्ष में असंख्य आन्दोलन हुए होंगे!
देखी होगी पृथ्वी के पीछे छिपी शशिरेखा
सूर्य ने,
खेल गयी होगी तप्त अधरों पर मुसकान!
(याद है तुम्हारा वह मन्दस्मित।)

मेरे हृत्कम्पन में गति का नियामन है
कितने ग्रहों का!
जाने कितने नक्षत्रों का
तेरी इन आँखों में है ज्योति स्रोत!

एक बार देखो फिर मेरी ओर,
सोचो तो
कितने नक्षत्र-ग्रह, कितने प्राणवान् तत्त्व
आतुर हैं पूर्णकाम होने को
—देखते तुम्हारी ओर एकटक।
सूर्य का यह व्याकुल आरोहण देखो तो—
पृथ्वी की ओट रही छिपी होगी चन्द्रकला,
कर दो प्राण, कृतकार्य सूर्य को,
चन्द्रिका को होने दो सौभाग्यफला!
मेरी ओर एक बार देखो तो देखो तो!

[सितम्बर १९६३]

अभी-अभी सोया है मसीहा मुहब्बत का

•

शिवमंगल सिंह 'सुमन'

सो गये
थके-माँदे
पान्थ मानवता के
शान्तिदूत, क्रान्तिजयी
सिरहाने आहिस्ता बोलो
अभी-अभी सोया है
मसीहा मुहब्बत का ।

धरती थरथराओ मत
आसमान सब्र करो,
ठीक है, हज़ारों साल बाद
यहाँ आया था,
अब कब आयेगा
इस का ठिकाना नहीं
फिर भी जगाओ मत
पूरा का पूरा
इस बार का मनुष्य-जीवन
जग कर बिताया है,
पुतली की लाली
उदयाचल सहेज ले,
विथकित अंगों को
मलयानिल झेल ले !

सुनते है राम जब
थकते थे वियाबानो मे
सीता चरण चापती थी
पलकों की अलकों से
धूल पोंछ देती थी
श्रमहार
मुग्ध प्यार।
बाद में लक्ष्मण
पलोटते रहे शेष अवधि
राम रावण युद्ध की
थकान विसराने को।

तुम तो थके के थके
सोये चिर-निद्रा में
मौका तक दिया नही
टूटन थपथपाने का।
आजीवन दौडा किये
द्वार-द्वार, डगर-डगर
घायल मानवता के
मरहम लगाते फिरे
साया किये रहे सदा
आतप निदाघ में।
माता पिता बन्धु सखा
सभी एक साथ तुम।
जब तक तुम जिये
तुम्हें चैन नही लेने दिया
अपना भी बोझा लाद
निश्चिन्त हो गये।
मूढता हमारी
किन्तु तुम ने तो भूल से भी
कभी नही कहा कि

'चैन ले लेने दो
एक क्षण भी पसीना पोछ लेने दो
मुझ को भी पल-भर
सुस्ताने दो छाँव में।'

तुम तो सिर्फ चलते रहे
जलते हुए अहर्निशि
अपनी ही ज्वाला में।
देते ही रहे सदा
वारिद-सा मुक्तदान
कर्जदार सब को बना कर
चले गये।
आज जब होश हुआ
लुटी-खडी निखिल धरा
मानवता ठिठकी सी
विसूर रही बार-बार
कैसे करें प्रत्युपकार
अगणित अहसानो का।
मन की मन में ही रही
अब क्या हो सकता है,
पीढियों की पीढियाँ
सिर्फ करती रहें प्रायश्चित्त
सदियों, सहस्राब्दियों।

[सितम्बर १९६४]

दो कविताएँ

प्रयाग शुक्ल

: १ :

धूप के चौखटों पर जड़ जाते हैं
बार-बार, भूले हुए दृश्य :
लहरों पर मचलती हुई नावों के पाल,
फरफराते हुए, एक बँधी हुई
व्याकुलता, कगारों के पेड़; सूनी
पगडण्डियों में पाँवों के नीचे
कुछ पत्ते चरमराते हुए !
फूलों की महक से भीगी हुई धूल
एक चिटकती हुई ऊष्मा,
इस ओर, उस ओर, भटकती हुई
भूल कर खुद को !

आह ! कुछ भी पकड़ में नहीं आता,
न तितलियाँ, न धूप, न गन्ध,
न दु.ख और सुख—
सिर्फ़ भटकाते हुए !

पढ़े हुए पन्ने, शब्द खोजते हुए जगहें,
अपने लिए; क्या मालूम हम रहें या न रहें !
कहें या न कहें,
किस से, और क्या !
बहते हुए, समय की लहरों पर,
बेचैन और तृप्त !

बीते हुए दिनों की स्मृतियाँ बिखरती हुईं,
किसी एक गन्ध में सँवरती हुई !
आगे और क्या है, आह ! क्या है—
पारदर्शी भटकाव, पारदर्शी रहस्य !

: २ :

जन्म लेती हुई अनेकों सुबहों में
फूलों की गन्ध, और हवा धीरे-धीरे
खोलती हुई परतें—
रात की नींद मे जागते हुए सपने,
या कोई भूला हुआ स्पर्श—
जिस ने छू दी है वस्तुएँ, और खिल उठा है
दृश्य, एक फूल-सा !
साफ़ आसमान और धूप, और देह में
एक राग और लय, होने न होने के दुःख से परे !
तमाम मजबूरियाँ और दूरियाँ सिमटती-सी,
अपने अन्तराल मे, मैं हूँ, मैं हूँ, मैं हूँ—
आह ! कितना सुख, सवेरे-सवेरे !

[अक्तूबर १९६४]

ओ मेरे अग्रजो !

कैलाश वाजपेयी

अपने ही होठो मे अपना ही रक्त चूसते हुए
मैं ने एक उम्र राख कर दी है
भर ली है विस्मृति मे छलनी अस्मिता
किसी देवदारु की छाँह तले बैठ कर
उस का ही तना छीलते हुए
कभी नही सोचा
मेरे वातायन को चूमता
आकाश सभी देशों का एक दिन विमुख भी हो
सकता है
एक दिन खण्ड-खण्ड हो कर —
सूर्य भी मिट्टी के घर में सो सकता है ।
और अब
द्वारहीन भित्तियाँ लँगडाते यन्त्र चक्र
अनबने सेतु प्रतीक्षारत बच्चे निर्वाक् है ।
मुख मे इस ठहरे 'नास्तित्व' की स्याह
छटपटाहट सही नही जाती,
उदय होने दो मुझे
अब जन्म लेने दो
मैं हताश देश का अस्त सस्कार हूँ !
(पहले भी था फिर उभरा हूँ आज मै)
एक लकडहारे की लाश लिये घूमी है
यम की तलाश में
मेरी बिम्बहीन वेदना
जनमन के लिए आह
निष्कासित तक कर डाली है मै ने अँगना
ओ मेरे देश के अनाश्वस्त अग्रजो,
धो डालो यह विकृत दृष्टि और सोचो
वह साम्राशक्ति वह
सपाट न्यायनिष्ठता क्या पागलपन भर थी या
और कुछ ?
यह नही कि मोह है अतीत का
या पश्चात्ताप है
सिर्फ यह कि 'नास्तित्व' पाप है
उदय होने दो मुझे
अब जन्म लेने दो
मैं विपण्ण देश का ध्वस्त सम्कार हूँ !
यों मुझ को ज्ञान है
यह सुविधा भ्रष्ट देश —
लकडी की तरह पडे साँपो
हरियाली ओटे चोरो
परजीवी लचकदार बेलो मे भरा हुआ वन है
धूप जहाँ पानी की तरह सूख जाती है
सत्य की तलाश में भटकने शहजादे की देह
सगमरमर की प्रतिमा बन जाती है ।
किन्तु क्योंकि
पौरुष परास्त नही होता
धैर्य आत्मघात नही करता
ओ मेरे अग्रजो
मुझ को फिर मेरा स्थान दो !
नही—मुझे ढँको नही फटे भोजपत्रो मे
कह कर इतिहास नही टालो यो
बन्द मत करो किसी चमत्कारगृह में
मै फिर प्रारम्भ से निरर्थक हो जाऊँगा ।

[जनवरी १९६५]

....बरफ़ परत-दर-परत

स्नेहमयी चौधरी

सुबह किसी ने कह दिया—
आज वसन्त है
सारा दिन बसन्ती रंग
हवा में, पत्तों में
जीवन में,
खोजती ही रही;
कहीं भी नही दिखा।

सरसों की एक डाल,
बौरों की एक गाछ
किसी ने भी नही दी मुझे।

अविदित, अनाहूत दर्द एक
संगीत की कड़ी-सा
मथता रहा अन्तर को।

पीली सूखी कँटीली
पत्तियाँ नीम की
पराये-से तन पर
मँडराती रहीं :
खड़—खड़—खड़।

दूर कहीं
किसी पहाड़ी गुफा पर
गिर-गिर कर बरफ़
परत-दर-परत जमती रही।

[जनवरी १९६५]

अकेला तो सूरज भी नहीं है

भवानीप्रसाद मिश्र

बहती है एक शाम
अतर्कित किसी प्रेम साहस की तरह
और दिन
गिन रहा है जैसे कड़ियाँ
किसी छत की
पड़ा हुआ पहाड़ की चोटी पर।
अँधेरा घिर रहा है
शाम के साँवले चेहरे का
सतरंगी बुर्क़ा
गिर रहा है।

तुम क्या सोचते हो ?
सुबह से शाम तक
क्या ऐसे ही बैठे रहोगे
रत्ती-भर दुःख का नशा किये !
अँधेरे में
कल्पनाओं को
भटकाओगे ?
उठोगे नहीं ?

अनमने मन से ही सही
नीचे नहीं उतरोगे ?
इस पहाड़ी से—
क्या कभी नहीं
ज्यादा धड़कोगे
अपनी इस मरी हुई नाड़ी से ?

रात की गोद में सिर रखो
आँखें मत गड़ाओ उस में,
साँसो को सम करो
नम मत करो आँखें !
सब जैसा करते हैं वैसा करो,
इस कदर अकेले मत मरो !

किस ने कहा तुम से
कि तुम सब से अलग हो !
सब जैसे देते हैं अपना सब कुछ
आसपास को
वैसे दोगे तुम
सिर्फ इस हरी घास को—
जिस पर तुम
मन से बैठे भी नहीं हो ?

सोचते हो कोई
तुम्हें इस हरी घास पर
अकेला बैठा हुआ
देखे !
सारी दुनिया से
तुम-को
कुछ अलग
देखे ?

प्रमेय और उपपत्ति !

अदेय यह अपना दुःख
किसे दोगे ?
प्रभात को ?
मगर वह तो बहुत व्यस्त है !
रात भर पीसोगे
पारे में उठाओगे ।
किसे दोगे अदेय,
बेशक अपना—
रक्तहीन, प्राणहीन
यह छूँछा, सपना !

अवचेतन से उठा होता
तो भी किसी मसरफ का होता
बुद्धि, चेतन-बुद्धि को सूझता
तो भी किसी हद तक
अँधेरे से जूझता !
लेकिन
यह जो अँधेरे में
उदासी से पैदा है
अकर्मण्यता पर
जो शैदा है
क्या देगा—
तुम्हारा वह सपना
वास्तव से चूर-चूर
लोगों को ?

उठो इस एकान्त में ।
दामन छुड़ाओ
इस महज रात से ।
चलो उतर कर नीचे की सड़क पर
जहाँ जीवन सिमट कर बह रहा है
साहस की दिशा में !

जहाँ अतर्कित प्रेम
कठोरताओं पर तरल है;
सब के बीच में
जीवन सरल है—
उठो इस एकान्त से
दामन छुड़ाओ इस महज़ शान्त से
जो न शक्ति देता है न श्रद्धा !
सिर्फ़ उदास बनाता है !

तटस्थ होने लायक़ कमजोर
तुम अभी नही हुए !
लहरें गिनने के दिन भी
आ सकते हैं
मगर हाथ जब तक
पतवार उठा सकते हैं
कण्ठ-स्वर जब तक
'हैया हो' गा सकते है
तब तक, अनन्त ऐसी तटस्थता
शर्मनाक है !
तटस्थता की
तुम्हारे मन पर
कैसी बुरी धाक है !
उठो, सिमट कर बहते हुए जीवन में उतरो !
घाट से हाट तक
हाट से घाट तक
आओ-जाओ
तूफ़ान के बीच में गाओ !
मत बैठो ऐसे चुपचाप तट पर !

नहीं; इस से भी कोई फ़र्क़ नही पड़ता
कि तुम तटस्थ हो या कूटस्थ हो !
दूर हो अलबत्ता
जीवन के रेले से
सतरंगी मेले से
दु:ख जिस का बहुत छोटा अंश है
उदासी का जिस में
अवकाश नहीं है !
जहाँ
अपने-अपने-के ख़याल को
घटना पड़ता है
जहाँ
मिलजुल कर खटना पड़ता है ।

अपने को घटाओ
दूसरों के लिए अपने को
खटाओ
कूटस्थ रहने से
कुछ नहीं बनेगा
न तटस्थ रहने से;
समष्टि को जीने से सहने से
जीता है आदमी !
अकेला तो सूरज भी नही है
उस से ज़्यादा अकेलापन
तुम चाहोगे ?
मृत्यु तक तटस्थता निबाहोगे ?

सिमट कर बहते हुए जीवन मे उतरो !
घाट से हाट तक
हाट से घाट तक आओ-जाओ
तूफ़ान के बीच में गाओ
मत बैठो ऐसे चुपचाप तट पर ।
तटस्थ हो या कूटस्थ हो ।
इस से फ़र्क़ नही पड़ता ।

[अक्तूबर १९६५]

उपचेतन

•

वीरेन्द्र मिश्र

अन्ध घाटियाँ

पर्वत पर
आलोक चेतना
नीचे हैं
ठंडी समाधियाँ
अंध घाटियाँ

उपचेतन की
पर्त-पर्त पर
अन्दर घिर-घुमड़े
विवर्त पर
मँडराती हैं
नयी व्याधियाँ

देती हुई
धूप को गाली
धरा गर्भ में
झुकती डाली
शव-सी हैं निश्चेष्ट,
वादियाँ

जल में लीन
तिमिर प्रान्तों को
मूर्च्छित गूँगे
एकान्तों को
खींच रही
माझिन प्रभातियाँ

[अप्रैल १९६६]

अधूरापन

ओम प्रभाकर

धूप के फूल
अचानक ही
छूट जाते हैं हाथों से
और हम रह जाते हैं मौन !
सभी धुँधले पड़ जाते हैं
पेड़-छत-चेहरे-मीनारें
हमारे औ' दृश्यों के बीच
खिंची होती हैं दीवारें ।
खिची होती हैं दीवारें
अडिग-इस्पाती दीवारें···
मेरी लिखी
हर गन्ध-पत्ती मिट गयी
उफ़ ! हवा कितनी तेज है ?···
अचानक ही
कैसी हो गयी ये हवाएँ !
कि इन्हें मुट्ठियों में भर सकते हो तुम
लपेट कर जेबों में रख सकते हो तुम
कागजों की तरह ।
धूप में इतनी नरम झिलमिली कहाँ से
—कैसे आ गयी
कि तुम्हारी हँसी मेरी आँखों पर छा गयी । ··
चलो, अब बीन लें किरनें
लिखें परछाइयाँ ।
जहाँ तुम हो वहाँ—कोमलता
जहाँ मैं हूँ वहाँ—असफलता
जहाँ हम दोनों वहाँ पर—मौन
लिख कर
बीन लें बातें
रचें तनहाइयाँ····।
लाख कोशिशों पर भी
भूल नहीं पाता वह शाम !
सूने छज्जे हम-तुम
ऐसी बातें करते
जिन के अक्षर गुमसुम ।
और तुम्हारे अधरों
मेरा भर-भर आता नाम !
औंधा पड़ा है दिन
हम से अलग हो कर ।
बातों के स्वर और चीजों के कोने
दब कर, मुड़ कर है मृतप्राय
एक स्लेटी धुन है, एक कत्थई गाना
जिस का अभिप्राय-अनभिप्राय ।
किरनें करवट ले कर मौन
मौन ले रहा अन्तिम साँस···
हवाएँ हुईं धार दाऽर
मितवा, ये कैसे दिन आये
रे मीता, ये कैसे दिन आये ?
देह आपनी लगे बिरानी
बजती रहे चतुर्दिक् कोई
भूली-बिसरी प्रेम-कहानी ।
गूँजे बारम्बाऽऽर ।
मितवा, ये कैसे दिन आये
रे मीता····
धूप-छाँह-सी शीत···

[मई १९६६]

दो कविताएँ

अज्ञेय

महानगर : कुहरा

झँझरे मटमैले प्रकाश के कन्थे
जहाँ-तहाँ कुहरे मे लटक रहे है ।
रंग-बिरंगी हर थिगली
संसार एक ।
सीली सड़कों पर कराहती ठिलती जाती
ये अंगार-नैन गाड़ियाँ
बनाती जाती हैं आवर्त्त-विवर्त्त;
अनवरत बाँध रहीं
उन अधर-टँके सब संसारों को
एक कुण्डली में, जिस पर
होगा आसन
किस निराधार नारायण का ?
ये कितने निराधार नर
क्षण-भर हर चादर की ओट उझक
तिर-घिर आते हैं
एक पिघलती सुलगन के घेरे मे :
ऊभ-चूभ कर
पुनः डूबने को—
चादर की ओट
या कि गाड़ियों की
अंगारकगारी तमोनदी मे ।
ओ नर ! ओ नारायण !
उभयबन्ध ओ निराधार !

मन बहुत सोचता है

मन बहुत सोचता है कि उदास न हो
पर उदासी के बिना रहा कैसे जाय ?
शहर के दूर के तनाव-दबाव कोई सह भी ले,
पर यह अपने ही रचे एकान्त का दबाव
सहा कैसे जाय !
नील आकाश, तैरते-से मेघ के टुकड़े,
खुली घासों में दौड़ती मेघ-छायाएँ ।
पहाड़ी नदी : पारदर्श पानी,
धूपधुले तल के रंगारंग पत्थर,
सब देख बहुत गहरे कहीं जो उठे,
वह कहूँ भी तो सुनने को कोई पास न हो—
इसी पर जो जी में उठे वह कहा कैसे जाय !

मन बहुत सोचता है कि उदास न हो, न हो,
पर उदासी के बिना रहा कैसे जाय !

[नवम्बर १९६६]

दिल्ली एक नगर था

•

अजित कुमार

दिल्ली एक नगर था
    कुछ का नरक
        किन्हीं का स्वर्ग
खोजने आये थे हम इस में अपनी दुनिया

धक्-धक् तोंय-तोंय धक्
धुनिया बजा रहा था अपना इकतारा।
खन खन खन
        बनिया
गिने जा रहा था क्या हुई कमाई
        पिछली शाम
खड़ी थी एक क़तार
    दर्ज करने को
रोजगार के दफ़्तर की किताब मे
        अपना नाम।
धुआँ था।

    तीन प्रेमिकाओं से मिलने
उन के जरिये ख़ुद को छलने जाना था
        लेकिन
    वस को तो पूरी शाम
        न आना था :

वह आयी नहीं ।
और हम करते रहे प्रतीक्षा
चौथी किसी प्रेमिका की
वह आयी ।
सनाटा था ।

बोली—ओ रे ओ पाँचवें सवार
मुझे भी साथ लिये चल
साथ लिये चल
लिये चल
चल
दिल्ली ।
मैं
जो अब केवल फीकी हँसी
और वह भी
बस कभी-कभी
हँसता हूँ,
मुसकाया—किस का साथ ।
कौन है तेरा ।
इस उजड़ी सराय में रुक जा ।
मैं तो चला ।
कोहरा भी था ।

विस्तृत राजपथा पर
बिखरा था सगीत जाज का
और
मुग्ध आश्वासन-ओके ।
सी यू लेटर ।
उधर तम तोड रहा था
खजरा भूखा कुत्ता ।

दम से उदासीन, अपने से ऊबे हुए
कलाकारों की एक जमात
खड़ी थी करने अपना घात
बड़े से चौराहे के बीचोबीच
सुस्त
मटमैली हलकी-सी
रोशनी ।

वहाँ पातालपुरी में
राम-राम
जय राम
सियापति राम
नाम की धुन में रमा हुआ
था
गिन्सबर्ग नाम का एक भजनिया ।
कहाँ है मेरी दुनिया ।

[नवम्बर १९६६]

...मुरदों का जुलूस

पद्मधर त्रिपाठी

....और नीचे—और नीचे—और नीचे
उतर कर देख रहा है
चुपचाप खड़ा हुआ—
सन्त्रस्त जर्जर कालजयी :
    महानगर जल-शयन कर रहा है—
    संस्कृति और हूलाहूप के लिहाफ़ों पर
    आराम से........!

    और—एक जुलूस :
    (लाखों मुरदों की भीड़
    जिस मे एक मैं भी हूँ !)
    अपने अस्तित्व को कुचलता और
    बोझ से काँपता
    समूची चेतना के साथ
    चेतनाहीन-संज्ञाहीन
    ईश्वर की तरह
    आगे बढ़ रहा है।

    ख़ून से लथपथ
    बे-गिनती घायल जानवर,

इतिहास के पन्नों पर चोंच मारती चिड़ियाँ,
काले अजगरों को उगलती चिमनियाँ,
दायित्वों से बँधे—कसमसाते
सूखे-हरे पेड़, घास-काई-सिवार,
तमाम सम्भाव्यताओं के नीचे
वन्ध्या यात्राओं को विदा देते मकान,
पुराने नपुंसक अफ़सर का तबादला
और—स्तनों से नाखूनों के निशान मिटाती
नये अफ़सर की युवा बीवी,
आदमी और आदमी के बीच
तने जालों में उलझी
पश्चात्ताप करती हुई शताब्दी—
—सब देख रहा है
चुपचाप !

वेश्या के दरवाज़ों पर पड़े
बुत कठमुल्ले शाइर !
पूजा की घण्टियाँ,
अभिमन्त्रित प्रार्थनाओं में गूँजते शोर,
राशन की दूकान पर
बिना कोई शब्द कहे
हस्ताक्षर करती नंगी औरतें—
—माँ
—पत्नी
—प्रेमिका
—बहन
—बेटी !!!
—और वह सभी कुछ
एक लम्बी प्रतीक्षा के बाद जो—
किसी भी पत्थर या जवान औरत को
खुश करने के लिए काफ़ी होता है !
एक के बाद एक

वह देख रहा है सहमा हुआ
अपने-आप के प्रति बद्ध—
अपनी ही निरन्तरता से समय को
महसूस करती हर छोटी-बड़ी चीज़ !

सुबह से शाम तक
यहाँ से वहाँ तक की दूरियाँ तय करता
और तमाम सड़कों पर घूमता
आगे बढ़ रहा है
मुरदों का जुलूस !

दिन-दिन भर
गालों पर तमाचे मारती है हवा,
दिन-दिन भर
माथे पर कीलें ठोंकती है
तिलिस्मी अँधेरे से आती
लाल किरनें,
दिन दिन भर
सामूहिक मृत्यु की दिशाएँ थाहती हैं
तिरस्कृत भविष्यवाणियाँ,
और—
—बार-बार बालों में उलझने
और इस्पात के खम्भों पर सिर पटकने की
लाचार कोशिशें करते हैं
सड़े पानी में
जीवित रहने वाले नर-मादा सम्पाती !

जुलूस में शामिल होने के लिए बेचैन—
क़ब्रों, श्मशानों और चीलघरों से
उठ-उठ कर आती हैं
नये-नये मुरदों की टोलियाँ !

चार छोटी कविताएँ

•

सविता बनर्जी

: १ :

संशय की बात नहीं
    विश्वास भी जमता नहीं,
    परतें
जमती गयीं,
    खुली नहीं।
चुप भी रहूँ कैसे,
    तर्क की बात नहीं।
अन्तर की बात,
    मुँह तक आती नहीं।
कोंचती है—जिज्ञासा
        (पर)
    'प्रश्न' भी बनता नहीं।
संशय की बात नहीं
    विश्वास भी जमता नहीं।

: २ :

शाम की उदासी में
    चिबुक टिकाये
        हथेली में,
देख रहा था कोई
    समुद्र की लहरों में
        'सर्वहारा प्यार'

: ३ :

मेरी सुन्दर-सी
    डायरी मे
  तीन सौ पैंसठ दुःख।

: ४ :

क्यों किसी की 'याद' को
    याद आने दें यूँ ही—
        खाली समय में ?
अच्छा हो कि
    इस शान्त गम्भीर
        झील में,
(अपनी-सी) एक बेकली पैदा करें।
        कंकड़ फेंक-फेंक कर
            उस की धड़कनें गिनें।
    या
  उस में बनती हुई
        किसी की तसवीर को,
    फिर-फिर बिगाड़ूँ
  यूँ ही—
    खाली समय में।

[फ़रवरी १९६७]

दो कविताएँ

धर्मवीर भारती

परिणति

वे इतने तमाम व्यक्तित्वहीन लोग
चारों ओर की असाधारणता से आतंकित

ताकि वे असाधारणता पर हमला बोल सकें
अतः तलाश करने निकल पड़े
अपने-अपने लिए
असाधारणता का एक कवच, मुखौटा

वे हर मोड़ पर
अपने चेहरे कभी हाथ में ले कर
कभी कनपटियों मे खोंस कर
इन्तजार करते रहे कि
राह चलते लोग उन्हें देखें और आक्रान्त हों
कामकाज का था वक़्त
और लोग थे जरा जल्दी में

शाम तक खड़े-खड़े थक गये ये जाँबाज
चेहरों मे होता है बोझ
और गरमी के लम्बे बेअन्त दिन
आधी रात नगरपालिका की गाड़ी उन्हे
सहेज कर ले गयी

किसी थके हुए क्लर्क ने
आदेश ग़लत समझ कर
खानापूरी के लिए उन्हे भट्टी पर चढ़ा दिया

ओर लो आँच लगते ही
हर चेहरे का कच्चा रंग उतर गया
(आह ! वे जो रंग के माहिर थे और हवा
में रंग बाँधते थे)

मगर अब उन का बदरंग असाधारण चेहरा
हर गली-कूचे में चर्चा का बायज़ बन गया
राह चलते लोग रुक-रुक कर देखते थे
अचरज से
अजीब चेहरों की यह क़तार
सिलसिलेवार !

आ खि र का र
चर्चा उन्हें मिल गयी

उन्होंने चैन की साँस ले कर सीना फुलाया
और फिर अपने को ढीला छोड दिया
(थक चुके थे वे बेचारे इस चेहरेबाजी के
मेले और साधारण असाधारण के झमेले से)

शाम हुई और
उन्होंने चेहरे बाँसों पर टाँग दिये
झंडों की तरह
और क़तार बाँध कर जोश-भरे नारे लगाते हुए
घर जा कर सो गये !

अन्दरूनी मौत के लिए

ज़रूरी नही कि कोई दर्दनाक वाकया घटे
कोई जवान मौत, कोई विस्फोटक दुर्घटना
चट्टान से किसी जहाज़ की टकराहट
ज़रूरी नही है

होने को
यह कभी भी हो सकता है यहाँ
किसी अँधेरे मोड पर गला घोट कर मारे
जाते हुए
किसी राहगीर की घिघियाती अमानुषिक चीख
भरी ट्रक के सामने आता हुआ बच्चा
ओ ऽ ऽ ऽ
ज़रूरी नही कि तुम बेचैन हो
या सोचो कि यानी कि
सोचो ही नही
यह सब महज़ गाडी के शीशे के पार का
एक काँपता हुआ बेमानी दृश्य

अकस्मात् पहिये के नीचे
कुचल जाय एक कबूतर और खून और पर
पहिये के साथ घूमते हुए लगातार
एक बार
या बार-बार और तुम सोचो
यानी कि कुछ सोचो ही नही
मुमकिन है।

ज़रूरी नहीं कि कोई दर्दनाक वाक़या घटे
बस यूँ ही किसी बम्बइया बरसात की दोपहर
तुम अनमने बैठे हो
खाली दिमाग़ खिडकी के पार समुद्र देखते हुए
और चौखट से झूलती
एक अकेली बूँद
खामोश चू पडने के पहले
भरसक थमे, रुके फिर गिरे
और शीशे पर एक लकीर बनाती चली जाय
और तुम अकस्मात् पाओ
कि समुन्दर दो फाँक हो गया है
और एक लकीर उभर आयी है तुम्हारे अन्दर
अकस्मात् चीख उठा है वही
अँधेरे मोड पर मारा जाता हुआ आदमी
ट्रक के सामने आता हुआ बच्चा
और तुम सब छोड कर कूद पडे हो
'डरो मत ! मैं हूँ ! मैं हूँ ! मैं हूँ !'
और बेख़ौफ तुम ने हाथ दे दिया है पहिये और
डरे हुए कबूतर के बीच

या
ज़रूरी नही यह भी
कि तुम्हें याद आये
सिवा एक रोज़-रोज़ रोजमर्रा की मद्धिम मौत
शीशे पर धीरे-धीरे फिसलती हुई चारो ओर
तुम्हारे लिए

ज़रूरी नही कि कोई दर्दनाक वाकया घटे
कोई विस्फोटक दुर्घटना।

[जनवरी १९६८]

रंगों में सुलगी हुई एक सुनहली शनाख़्त

गजानन माधव मुक्तिबोध

हर चीज
जब अपनी एक सपनीली छाँह डालती है,
तब न मालूम कहाँ से एक खयाल
खड़ा हो कर
गले में बाँह डालता है;
मुलायम मीठा एक उबाल
दिल उछलता है
छोटे से बड़ा हो कर

कि आख़िर बहैसियत एक आदमी के
न कि सवालात की हवालात
या कि समस्याओं की
सुनहली अकादमी के,
हाँ, बहैसियत सिर्फ़ आदमी के,
सीधे-सीधे
बिलकुल,
क़तई,

हम दिल के सुनहले तीर
बाहर क्यों नहीं फेंक पाते
तेज-तेज,
और बाहर की चीज़
उसी तेज़ी से वापस क्यों नहीं फेंकती
अपने पूरे लहरीले रग
कि जिन से दिल
ज़रा सा सुलगे और भभक जाय,
उस बाहर के भीतर की तसवीर
उभर आय
कि जिस की जलती हुई भाफ
अपने-आप
हमें दे जाय
रगों में सुलगी हुई एक सुनहली शनाख्त,
और हम
लिये लिये घिरा घिरा गहरा-सा वक्त
चल पड़ें
यों कि एक रास्ते से लम्बे ही लम्बे
बिछते और तनते और निकलते चले जायें,
एक जगल से घने-ही-घने वियावान
बनते और दृश्य बदलते चले जायें -
आसमान से खुले-ही खुले
चारों ओर फैलें
एक तेज़ निगाह से सीधे-ही सीधे
खूब पहचानें और समेट लें पी लें
ब्रह्माण्ड की काल-सूचक घड़ियों के
मिनिटों और घण्टों को
धड़कन में ले लें और जी लें।
लेकिन, यह नहीं होता है।
हवा सिर पर से लहराती हुई
गुज़र जाती है
धमनियों में घुस नहीं पाती।
पहचानें ज़रा-सी छूती हैं
उड़ जाती हैं
दिल में बस नहीं पातीं।

यही कारण है कि रेत के ढेर-सी दिखती है
तो किसी को यह दुनिया
पके हुए बेर-सी दिखती है
कि जिस को वह तोड़े और खा जाय,
तो किसी को वह लहँगे के घेर-सी
कि जिस में वह पैठे और समा जाय,
तो किसी को वह रीछ-सी, आलू-सी,
किसी को कद्दू सी, भालू-सी,
किसी को बौनी-ही बौनी
चपटी-ही-चपटी,
तो किसी को कुछ,
तो किसी को कुछ।
और, तब इस अदने
और नाचीज़ को यह लगने लगता है
कि चारों तरफ फ़ैली हुई शानदार मुगलिया
सल्तनत में
काली शेरवानी की मखमली खोल
जो पहने हुए है
खूबसूरती से,
(अपने-आप में जो चमकदार गहने हुए हैं)
उन के भीतर
हाँ, भीतर
एक मुस्तैद-
दीवार खड़ी हुई है
(छोटी से बड़ी हुई है)
नगी, सील खायी और खुरदुरी

उस पर अजीब कारीगरी—
नक्षी, मीनाकारी और तसवीरें,
और, न जाने क्या-क्या,
वाह वा !!
लेकिन, पलिस्तर उखड़ गये हैं,
और गड्ढे पड़ गये हैं,
और उन गड्ढों में फ़लसफ़े का रंग
झख मारता हुआ ढंग
उन्हीं में से एक में
मेहराबदार ताक़,
ताक़ में अँधेरा
अँधेरे में देव-देवताओं की मूर्तियाँ—
पुरानी फुर्तियाँ जो ज़रूरत पड़ने पर
फिर काम आ सकें,
दाम ला सकें।

हर आदमी इस सल्तनत में उचक कर
चढ़ जाना चाहता है,
धक्का देते हुए बढ़ जाना चाहता है,
हर एक को अपनी-अपनी
पड़ी हुई है :
चढ़ने की सीढ़ियाँ
सिर पर चढ़ी हुई है।
निसैनी—सोपानों का क्रम
ऊपर, हाथों में उठा हुआ
सिर पर पल रहा है
हर एक अपना-अपना स्वर्ग, सेतु
बुलडोज़र, क्रेन उठाये चल रहा है
और वही—हर एक—
लाल-लाल आँखों से घूरते हुए
दूसरे बुलडोज़र और लोहे के ज़ीने वाले को
मन-ही-मन कहता है—
—मारो स्साले को।
लिहाजा यह सूरत पैदा हुई
कि फूट, फूट, दुई, दुई
बाहर भी
दिल के भीतर भी।

नफ़रत और नफ़ासत
बीवी के साथ भी सियासत !
लेकिन, इन सब सफ़ेद
चमचमाते शानदारों की धाक है···
मेरा दिल चाक है।
चक्के है, चक्के हैं, चक्के है
सब लोग सब कहीं जा रहे हैं,
लेकिन, कोई कहीं नहीं जा रहा है।
रफ़्तारें तेज़ हैं,
लेकिन, देखो तो, ज़बर्दस्त
तेजी के भीतर एक
जमीन-जुड़ा
अटल चबूतरा······
लम्बा-सा घाट है
घाट तो पहले से वहीं का वहीं है,
सिर्फ़ लहरें दौड़ रही हैं,
गति आभास है
अपना क़यास है
फिर भी ये रफ़्तारें तेज़ है
(कल तक तो मेरे पास
चटाई थी सिर्फ़
आज टेबल है, मेज़ है)

भीड़-भड़क्का है
सँभलो, अपनी अटैची सँभाल कर रखो

जमाना उचक्का है।
इसी लिए दिमाग़ के भीतर एक दिमाग़ में
ज़हरीली आग है
अकेले में दाँत पीसता हुआ झाग है।

टिकिट-कलेक्टर है, ऊँचा सफेदपोश वक़्त।
वैल-शेव्ड चेहरा है काला और सख्त।
बिला-टिकिट कोई भी,
समस्या विकट है,
जिस के पास पैसा है, उस के पास टिकिट है।
बाहर''''एडवर्टिज़मेण्ट
आदमक़द तसवीरें
देखते खड़े रहो
सूनापन चाखते और चुपचाप
चीख़ते खड़े रहो
अपनी फ़िज़ूल-सी हस्ती को
चाटते खड़े रहो,
मनहूसी बाँटते खड़े रहो,
शायर बन जाओ
दुनिया से तन जाओ।
जी हाँ, इसी लिए,
न मेरी उन से बनती है
जो काली शेरवानी की खोल में
सिर्फ दीवाल हैं
न उन से, जो जबड़े की पोल मे
लार टपकाती हुई खाल है,
सिर्फ़ एक मनहूस
बदमिजाज बवाल है।
चूँकि मेरी उन सब से ठनती है
इसी लिए कभी-कभी मेरी
मुझसे ही नही बनती है।

लेकिन, दिल में एक याद
चिलचिलाती-चिलकती रहती है
उन लोगों की
जिन के चेहरों पर
वीरान खण्डहरों की धूप और
घने पेड़ों के साये मँड़लाया करते है
जो मारे-मारे-से हमारे-से
ईट के सिरहाने अकेले लेटते है
धूल के बवण्डर-सा वक़्त समेटते हैं
जो बहुत गुरूर से
सिर्फ़ इन्सान होने की हैसियत रखते हैं
जैसे आसमान, या पेड़, या मैदान
अपनी-अपनी
एक ख़ास शान और शख़्सियत रखते हैं
वैसे ही और ठीक उसी ठोस
और पक्की बुनियाद पर
जो अपने लिए इज़्ज़त तलब करते हैं
बराबरी का हक, बराबरी का दावा
नही तो मुठभेड़ और धावा
अब आप चाहे सरकार हों
या साहूकार हों,
उन के साथ
मेरी पटरी बैठती है
उन के साथ
हाँ उन्हीं के साथ
मेरी यह बिजली-भरी ठठरी लेटती है
और रात कटती है।
शायद यह मेरी बहुत बड़ी भूल है
लेकिन, मेरी यह गरीब दुनिया
उन्ही के बदनसीब हाथों से चलती है।

[फ़रवरी १९६८]

पराजितों का उत्सव :
—एक आदिम सन्दर्भ

●

पानू खोलिया

नहीं जानता—
हमारे अन्दर होती है कोई आत्मा शुद्ध-बुद्ध
होता है ब्रह्म का स्वरूप कोई चेतन ?
कोई मोक्ष-पद ?
नहीं जानता।
जानता हूँ लेकिन—
हर आदमी के आदमी के अन्दर
के अन्दर, के अन्दर, के अन्दर, के अन्दर
—बावजूद तमाम करुणता, संवेदनशीलता,
प्रभावितता,
सच्ची सहानुभूति और विगलितता के
—और बावजूद खुली आँखों, कानों, नाक
और जीभ
और स्पर्शिततायुक्त एक त्वचा के—
एक और आदमी पैठा है, बैठा है 'जीवन्त।

समाधिस्थ आदमी वह, मुक्त हंस।
सारे प्रभावों से मुक्त। शुद्ध-बुद्ध-चित्....
निर्विकार—
वह है। अपने में सम्पूर्ण। निरपेक्ष।
सारे 'है-ओं' से निरपेक्ष। हम से भी।
इतने तमाम क्रूड-क्रूर सचों के अन्दर
धँसा हुआ
एक क्रूड-क्रूरतम सच।
बाक़ी दुनिया है माया....झूठ।
और वह अन्दर के अन्दर, के अन्दर, के अन्दर,
के अन्दर का आदमी—
कि जिस की आँखें नहीं, कान नहीं, नाक
नहीं,
जीभ भी नहीं ही—एक त्वचा है ज़रूर,
मगर गैंडे की।
(बिनु पग चलै, सुनै बिनु काना।
—शायद।
—शायद नहीं।)

वरना ...
यह कभी नहीं होता कि आप का दर्द
मेरा न होता,
और मेरी चोट आप की न होती।
नही ही होती है मेरी चोट
कभी आप की नहीं ही होती है, और—
आप का दर्द मेरा नहीं ही होता है।
बिलकुल...बिलकुल।
वरना कभी नही होता—
कि आप के गृहदाह के अंगारे
मेरी अँगीठी की आँच बन जाते।
बन ही जाते हैं—आप के गृहदाह के अंगारे
मेरी अँगीठी की आँच बन ही जाते हैं
—महकदार,
—दहकदार।

....ना! क़तई नहीं।
आदमी कभी जुदा-जुदा नहीं होते।
आदमी सब एक-जैसे होते हैं—एक ही
होते हैं,
पूर्ण-सम्पूर्णतः—अन्दर के अन्दर, के अन्दर,
के अन्दर तक,
बाहर से अन्दर तक।
आदमी सब आदमी होते हैं, अपितु देवता
होते हैं।
'सर्वे भवन्तु सुखिनः' पशु नही, आदमी ही
गाते है दिल से,
मनाते हैं दिल से।

मगर क्या कीजिएगा—कीजिएगा क्या इन
गीताओं से, बाइबिल-क़ुरानों से?
क्या कीजिएगा इन कबीरों से,
गान्धी-कैनेडियों से?
गुडविल-मिशनों से?
शिखर-सम्मेलनों से?

हर बार—
नयी से नयी युक्तियों से रच कर
नये से नये शस्त्रों से सज कर
आये सब यहाँ ये, एक के बाद एक—
तोड़ने-ध्वस्त करने। मगर...लेकिन....
हतभाग्य! हाय—इसी कुरुक्षेत्र में

अपने प्रयासो में
मारे गये, खेत हो के रह गये एक-एक कर
सारे अभिमन्यु वे।
पहुँच तो गये वे उस अन्दर के अन्दर, के
अन्दर,
के अन्दर, के अन्दर तक।
मगर' लेकिन
लौट नही पाये वे—
जिन्दा, सलामत।
बडा दुर्धर्ष है यह चक्रव्यूह।

आदमी हतभागा है।
गाता है, पढता है, सुनता है आदमी
गीता और बाइबिल-कुरान।
—ऊँचे से, निष्ठा से, आँख मूद
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेक शरण व्रज
शरण व्रज।
ही दैट फॉलोअथ मी शैल नॉट वॉक इन
डाकनेस वॉक इन डाकनेस।
ला इल्लाह लिल्लिल्लाह मुहम्मद रसूल
लिल्लाह ऊल लिल्लाह।
—करता रहा है आदमी प्रतिध्वनि
अनवरत, ध्वनिश हू-बहू—
रोज—एक एक बार, दो-दो बार,
पांच-पांच बार।
और ये तमाम पैगम्बर, मसीहे, योगीश्वर—
मरते रहे है एक एक बार, दो-दो बार,
पांच-पांच बार—

रोज-हर रोज।
रोज-हर रोज—

आदमी पराजित है
एक बार, दो बार, पाँच बार।

आदमी है ध्वस्त—
उस अन्दर के अन्दर, के अन्दर, के अन्दर,
के अन्दर के आदमी के हाथ।
उस आदमी के हाथ—
सुन नही पाता जो, समझ नही पाता,
करता नही जो महसूस 'देख नही पाता।
काला भुजग वह
समाधिस्थ, लीन।
और वहाँ अन्दर तक ठेठ
माँ पिता पन, पुत्र पुत्री पन—
आदमी पन, पति पत्नी पन—
किसी का भी नही है प्रवेश लेश।
ये तो है वस्त्र रगारग, सारे ओढे हुए
—और वह निर्वसन देश
—वह काला भुजग भी।
पहुँच नहीं सकते हम वहाँ इन वस्त्रो में,
तोड नही सकते समाधिस्थ का ध्यान।
वह एक बहुत बीहड कन्दरा के, कन्दरा के,
कन्दरा के
अन्दर की कन्दरा है बीहड तम।
(अनाहत का देश।
शून्य प्रदेश।
छह चक्रो के पार।
—शायद।
—शायद नही।)

और इस लिए—
सिर्फ इसी लिए—

कितना बेकार था, कितना अनावश्यक
कृष्ण का उपदेश वह ।
आसक्त योगी वह, आसक्त । और उस ने
देनी चाही थी शिक्षा—
अनासक्त योग की ।
जब कि जरूरत थी—दी जाये शिक्षा हमे
आसक्त योग की, आसक्त ।
अनासक्त योगी तो जन्मना हैं ही हम ।

और इस लिए—
(कोई चिन्ता की बात नहीं)
आश्वस्त हो जाना चाहिए हमें
कि चूँकि अन्दर के अन्दर, के अन्दर, के
अन्दर हमारे
वह मुक्त जीव, मुक्त हंस आदमी है
आँख-बिना, कान-बिना····बिनाओं-सम्पन्न वह
और, त्वचा उस की है गैंडे की—
इस लिए
बदल नहीं सकते हम, गल नहीं सकते
और ढल नहीं सकते दूसरों के ढाँचों मे ।
और—कुछ भी ऐसा (अहित) हम कर
नहीं सकते
जो—दूसरे के (हित के) लिए हमे
न्योछावर करवा दे ।

बे-असर अपराजेय हम ।
और इसी लिए—
(कोई भय की है बात नही)
हमें आश्वस्त हो जाना चाहिए :
हम मर नही सकते—कोई भी मौत और,
सिवा एक मौत के—
सिर्फ एक मौत के—
पाशविक मौत के,
देहावसान के ।

अस्तु ।
ओ हमारे अन्दर के अन्दर, के अन्दर, के
अन्दर
अवस्थित, समाधिस्थ कैवल्य जीव !
इस लिए, इसी लिए—
तेरे कृतज्ञ हम, मनाते हैं उत्सव ।
करते है तुझे नमस्कार
रोज—
एक-एक बार, दो-दो बार,
पाँच-पाँच बार····
बार-बार ।

[सितम्बर १९६८]

दो कविताएँ

•

अनामिका

एक

थकान-भरी यात्रा
शुरू हो जाती है हर दिन
चाहे करने के लिए
कुछ भी न बचा हो
फिर भी कही कोनो पर जमा हुआ है अतीत
व्यस्त बोध की तरह।
जब हर दिन मरता है शाम की गोद में
तब भी शान्ति का एक क्षण
आसमान से नही उतरता
तब भी दूसरी सुबह के लिए
पुनर्जन्म
नही बनता आकर्षण।
सुदूर आसमान में
वह काली गुफा आकर्षित करती है
रोशनी विहीन हो जाने को
थकान-भरे कामो के बीचो-बीच
कही चले जाने को
हमेशा-हमेशा के लिए
एक आकर्षक फूल खिलता है
पर वह भी टूट जाता है
सुबह, दोपहर, खाने, सोने
की पँखुडियो में।

दो

हर पिछला दिन
हर पिछली कविता
अगर कही भीतर नही जुडती
तो रद्दी की टोकरी में बना लेती है जगह।
पिछली तसवीरें
भरे हुए अलबम
टूटे हुए सम्बन्धो की तरह
खत्म होने के लिए कतार बाँधे खडे है
पर सचमुच
सब से टूट जाने
या सारी तरह बेकार हो जाने की
कितनी बडी पीडा है?
अमलतास ठूँठ खडे
पहचानी जगहो पर पत्तों के ढेरो-ढेर
यादो की तरह उड कर
किसी अजाने लोक में
पिछले दिनो से जब डूब जायेंगे
कैसे तब अपने
भविष्य को बिलमा कर
आने वाले दिनो को जी पायेंगे।

[सितम्बर १९६८]

हम भगीरथ हैं

नारायणलाल परमार

नदी नहीं रही अब
हमारी मुट्ठियों में
केवल बच रही है रेत
स्वतन्त्रता की
हम भगीरथ हैं
अपने चारों ओर
अवसरवाद का लेबल चिपकाये हुए
विसंगतियों से ग्रस्त
राष्ट्रीय शर्म के अभाव में
'युद्ध' पर महज 'गपशप' करते हैं
अपनी-अपनी ठेला गाड़ियों पर
नवीनता का अविकल बोझ लादे हुए
पारस्परिक प्रतिक्रियाओं से
गुज़र जाते है
हमारी आधुनिकता
मात्र घुन-लगा फ़ैशन है
सीपियों और शंखों के बदले
भर लिये है हम ने
अपनी जेबों में
कुण्ठाओं के अचल खोटे सिक्के
हमारी आत्मा
बुर्क़ा पहन कर रोज़
सौगन्ध पर सौगन्ध खाये जाती है
मेरठ, इलाहाबाद या कलकत्ता में
होते हैं दंगे
या फिर
हवाई सहगान करती है
कश्मीर में एकता-परिषद् की
लम्बी-चौड़ी सभाएँ
फिर भी हम से सहज ही
छीन लिये जाते हैं
कभी नेफा कभी लद्दाख
और कभी कच्छ
मुँहजली प्रतिष्ठा के नाम पर
एक साथ कितनी ही
विरोधाभासी मान्यताओं के कछार पर खड़े
हम आधुनिक भगीरथ
भौंकते ही रह जाते है
नदी नहीं रही अब
कही भी

[जनवरी १९६९]

अपने ख़िलाफ़

बजरंग बिश्नोई

पेड़ की एक शाख़ झुका कर छोड़ दी नतीजे पर पहुँच कर मुसकराते हुए
आते हुए घड़ी के काँटे के ग्यारह बज कर उनसठ मिनिट पर
फिर कहा मैं ने
एक लम्बी और कमजोर 'न' का मतलब संक्षिप्त-सी 'हाँ' से अलग नहीं है
अलग नहीं है उन के या अपने ख़िलाफ जाना
दो अलग-अलग दिशाओं में चल कर मिलती है एक ही मंज़िल
ग्लोब पर रेंगते चीटे को
पीटे जो रुई को बाँस की खपाँच से आँच से तप जाने से अलग होगा उस का अर्थ
फिर भी व्यर्थ और सार्थ में कोई विरोध नहीं होता है
चूँकि आगे वही अर्थ फिर व्यर्थ होता है
जैसे विरोध कहीं से भी और कैसे भी हो
सब से पहले अपने से शुरू हो कर अपने पर ही खत्म होता है
...ख़त्म होता है...एकाएक मैं चुप हो गया

यह चुप्पी एक बेचैनी-भरी ऊब थी
गरमियों की धूल की तरह उड़ रही थी
मेरे पसीने से भीगे चेहरे पर चिपचिपाती आँखों के आगे
और तुम ने घबराहट को थामते हुए नंगी किन्तु दुबली आवाज में पूछा
—शहर कब तक बर्दाश्त करेगा यह पेड़ इस्पात के मुक़ाबले
तुम्हारी आवाज़ से इस घबराहट में नमी आयी
करुणा और दयनीयता के बीच थमी हुई
जिस का असर इस बेचैनी-भरी ऊब में कोरामिन और क्लोरोफॉर्म के बीच का था
खींचता हुआ मैं अपने को घर से दूर एक अटूट इलास्टिक से बँध कर
बढ़ा, ठिठका और झटका खाने के बाद मैं ने जवाब दिया
—लोच चाहे वह पेड़ की शाख़ की हो या इस्पात की कमानी की
अलग नहीं होती है अपने मिजाज में
राज में डाल कर रोशनी के धागे

आगे बढ़ने से पहले एक बार फिर पेड़ की शाख को झुकाया और छोड़ दिया
मोड़ दिया सिलसिला अपना कद नाप कर लौटती निगाह के अनमनेपन से
हरी पत्तियों के नीचे एक दूरी को बेमानी करने की प्रतीक्षा में खड़ी सूर्य किरन से
कि खड़ी खड़ी अभी गिर पड़ेगी यह किरन भी
फिसल कर सिफर में
सफर से काँपेंगी मेरी पलकें कम-से-कम हजार बार
होश सँभालने के लिए जाते वक्त घट गयी दुर्घटना की धड़कन से
मन मे न निकलेगी यह बात कि तितली एक सुगन्धहीन जहरीले फूल से
उड़ कर भी फँस गयी फड़फड़ा कर अपना पंख चीरते हुए काँटे में
सन्नाटे में हम बढ़े और अँधेरा गिर गया
घिर गये धुएँ से
जो कुछ बचा वह चला दिमाग की तरफ
हरफ हरफ गिनता हुआ
छुआ फिर किसी ने सख्त हाथों से और दिल से दिमाग को जाने वाली
अनमनी-सी धमनी को काट कर जोड़ दिया पम्प से
मामूली से कम्प से चलने लगा मीटर अपने खाल   की गिनती करता हुआ
दुआ नही चाही करकती आँखो के सफर में
लेकिन न चाहे भी सैकड़ो सलाहें आयी हादसे से सदमा खाये हुए मेरे लिए
—किये जाओ सफर चाहे जितना लम्बा पर न जाओ उन के न अपने खिलाफ

साफ था कि रुक जाना नामुमकिन था मेरे लिए वैसा ही
जैसा बिना किसी के खिलाफ गये चलना
वरना क्यो मैं बराबर चलता रहा अपने ही खिलाफ़
आज खुद से यह सवाल पूछ लेने तक
—किया न क्यो कभी चाय से इनकार और न कपड़े बदलने से प्यार के वास्ते
रास्ते में इस के पहले क्यो न झुका कर देखा पेड की शाख को
राख को आकार लेते देख कर भी क्यो नही पूछा इसी तरह अपने-आप से
—जब यह पेड की शाख भी झुकती है और झुकती है इस्पात की कमानी भी
वैसे ही बिना टूटे
छूटे कैसे यह किसी के खिलाफ न जाना

[अप्रैल १९६९]

फिर वही लोग

रामदरश मिश्र

फिर वही लोग जा रहे हैं इस सड़क से
जो कल गये थे
आज उन की वर्दियाँ और झण्डे बदले हैं
आवाजें वही हैं
नारे नये है
कल भी वे जनता की सेवा को बेचैन थे
आज भी है

यह सड़क देख रही है कब से
कि उस पर से आदमी नही
केवल जुलूस गुज़रे है
चेहरे नहीं,
वर्दियाँ और झण्डे गुजरे है
उसे पाँवों के दबाव में
कोई फ़र्क़ नही महसूस हुआ है
वह हैरत से देखती रही है
कि जनता की सेवा के लिए
वर्दियाँ और झण्डे क्यों बदले जा रहे है

झण्डे···झण्डे ··झण्डे····झण्डे
और जुलूस
पूरा देश भर गया है
सभी गुज़रते हैं—
पगडण्डियों से
खेत के मेड़ों से
कच्ची सड़कों से
क़स्बे की गलियों से
और राजधानी में जा कर खो जाते हैं
या साझीदार बन कर चुप हो जाते हैं
किसी दूसरे झण्डे के षड्यन्त्र में
सूखे खेत
डूबे खेत
टूटी गलियाँ
उखड़ी पगडण्डियाँ
उदास सड़कें
उन के पैरों के छूटे दबाव झेलती हुई
उन के लौटने की बाट में बिछी होती है।

एक पूरा का पूरा देश बिछा है
किसी के इन्तजार में
भिखारी के कपड़े-सा
जिस पर अमेरिका और ब्रिटेन फेंकते रहते है
चुसी हुई गुठलियाँ
मक्खियाँ भिनभिनाया करती है
पर्वत एक तीव्र बारूदी गन्ध से
ऐंठा-ऐंठा लड़खड़ाता है
और गिर पड़ता है हरी-भरी फ़सलों के ऊपर
देश के एक कोने से दूसरे कोने तक
चादर-सी तनी हुई हवाएँ
जगह-जगह से फट गयी हैं
और दरारों से उभरे हुए हैं झण्डे—

लाल पीले नीले हरे
जो सीमा के पत्थरो से गडे हुए
बांट रहे हैं—
एक भाषा को दूसरी भाषा से
एक दर्द को दूसरे दर्द से
एक गीत को दूसरे गीत से
एक जल को दूसरे जल से

और एकाएक गाडियाँ सुलगने लगती है
सडको के प्रकाश टूटने लगते है
(अलग-अलग कमरो के बल्ब तेज हो उठने हैं)
चेहरे चेहरे न रह कर
साइनबोर्ड बन जाते हैं—
उत्तर के, दक्षिण के, पूरब के, पच्छिम के
नदियो में पोस्टर बहने लगते है
और लोग जल की जगह पीने लगते हैं—
पोस्टरों की प्यासी पक्तियाँ
अँधेरे में
भूतो-सी भक भक लूक बारती हुई दिशाएँ
डराती है एक दूसरे को

और एक गन्दा काला नेता
अपने मशक जैसे मोटे पेट में भरी
गन्दी गैस निकालता रहता है
अपने घिनौने बदबूदार जबडे से
आग धधकती है
तो वह एक खादी का मुखौटा पहन लेता है
और धूप के ऊँचे मच पर खडा हो कर
दोनो हाथ उठा-उठा कर
उपदेश देता है आग की लपटों को
सारे के सारे घण्ट हिलते हुए
इस होड मे लगे होते है

कि आग रुके तो उन्ही के आगे रुके
नही तो नही रुके

हाँ, आज फिर जुलूस जा रहा है
इस में वे ही लोग शामिल हैं
जो कल दूसरे जुलूस में थे

लगता है—
आज फिर कुछ होगा
फिर किसी कुरसी के हिलते हुए पाये को
मजबूत करने के लिए
धूप का एक टुकडा वहाँ दफनाया जायेगा
फिर एक तिजोरी
अजगर की तरह मुँह फाड कर
अँधेरे में लटकेगी
और देश में फैलता जायेगा—
एक ऊसर
एक अकाल
एक महामारी
एक बकारी
एक काली रात सोयेगी नगी
हमारी आवाजो के बिस्तरे पर
और सुबह को उठेगी
अखबार लपेटे हुए

सडक बुदबुदाती है
फिर जा रहे हैं वही लोग, जो कल गये थे
उन के दबाव को वह कब से सह रही है
उन की छाँहो से
कट-कट कर भी
वह कब से बह रही है
' टूटे त्योहारो के बन्दनवार

टाँगे खड़ा है एक पूरा सांस्कृतिक नगर
उस के माथे पर रोली है
कलाई में राखी के धागे
पीठ पर स्वस्तिक की सिन्दूरी छाप
छाती पर लिखी हुई रामलीला
और गले में फूटी काली हाँड़ी की माला
(नज़र न लगे)
हाँ खड़ा है एक सांस्कृतिक नगर
और भीतर की रंगीन गुफाओं मे
जॉज की धुन पर
लड़खड़ा रहा है
एक नंगा प्यासा जंगल
जिस के पौधे पैरिस और न्यूयॉर्क से मँगाये गये थे
इस जंगल मे खोये हुए हैं अनेक चेहरे
न्याय, विधान, शासन, व्यापार, धर्म···
ट्विस्ट की धुन पर
भरतनाट्यम् थिरकने लगता है
सतीत्व पेटीकोट-सा
सरकने लगता है नीचे
रेशमी साड़ी ऊपर उठ कर स्कर्ट बन जाती है
और एक टोपी गिर कर
चिकनी फ़र्श चाटती हुई सरकती है
फिर उठा कर पहन ली जाती है
झण्डे सांस्कृतिक आँचल फहराते हुए
देश की सलामी ले रहे हैं
और अपनी छाँह में
सुला रहे है नंगी धरती को
धरती
(इस देश की धरती
सोना उगले
उगले हीरे मोती)

धरती माने गो माता
धरती
धरती माने प्रिवीपर्स और बहीखाता
धरती
धरती माने अयूब, जॉनसन और चाउ एन लाई
धरती
धरती माने गुप्ता-पाटिल-देसाई
धरती
धरती माने शेख़-पादरी-पण्डा
धरती
धरती माने तीन तुमड़ी का झण्डा

धरती माँ
तुम लायक बेटों-द्वारा
कितने अर्थो मे बाँट दी गयी हो !
मातृत्व की चादर में
अर्थो के इतने पैबन्द !
शस्य श्यामलां सुजलां सुफलां
बन्देमातरम्
तुम्हारे धूसर खेत
तुम्हारे काले धुँवठे कारख़ाने
तुम्हारे ग़रीब मदरसे
गढ़ते रहते है—
स्वप्न····स्वप्न···स्वप्न····
जिन का अर्थ चूस कर
उन्हीं पर फेंक दिया जाता है शब्द···शब्द
चुसे हुए शब्दों का एक विराट् मलबा
हमारी धरती
नीचे सूखी पड़ी है एक विराट्-सी झील
उसे सोख कर नंगा आकाश
ऊपर औंधा पड़ा है

न आता है, न जाता है
अस्मत की रखवाली कर रहा है
तट के पक्षी शोर मचाते हैं
तो बादल गरज कर
पिस्तौल मार देते हैं उन की आवाज़ों को
आवाजें घायल हो कर
अपने-अपने में बुदबुदाती हैं
और न्यायाधीश के आसन पर बैठा
आकाश का बच्चा सूर्य
धूप की फ़ाइल खोले मुसकराता है

व्यक्ति
गाँव
नगर
प्रदेश
एक धरती बँट गयी है कितने टुकड़ों में
और हर टुकड़े को बारी-बारी खा रहा है
बड़े इतमिनान से
एक अकाल
एक बाढ़
एक मँहगाई
एक बेकारी
टुकड़े चिल्लाते हैं अलग-अलग
उन की आवाजें ऊपर उठ कर
आपस में मिल जाती हैं
तो आकाश फटने लगता है
वह इशारा करता है
सीमान्त की ओर—
सीमान्त पर सुलगता हुआ धुआँ
लपटों की चहल-पहल
बारूदी गन्ध की छटपटाहट
देखते हो—
ये सब तुम्हारी ओर आ रहे हैं
हाँ तुम्हारी स्वाधीनता की ओर
और ऊपर उठी हुई आवाजें
धीरे-धीरे सीमान्त की ओर सरकने लगती हैं
नीचे बिछे हुए टुकड़ों को
अलग-अलग फिर प्यार से खाने लगता है
एक अकाल
एक बाढ़
एक मँहगाई
एक बेकारी
आकाश मुसकराता है
और चाँद नीचे उतर कर
किसी झण्डे की छाँह में
तिजोरियाँ सँभालने लगता है
चाँदनी के कुहासे में
सब-कुछ ढक जाता है यहाँ से वहाँ तक...
संगमरमरी कमरों के तालाब
कुमुदों से खिल उठते हैं
दीवारों पर अंकित
वक्ष पर साँप लपेटे नंगी आकृतियाँ
बिजली की रेखाओं-सी उभरने लगती हैं
आकाश बेलियों में
प्लास्टिक के फूल जगमगा उठते हैं
इन्द्र और चन्द्रमा
दोनों अहल्या को छलने को
ब्राह्मण का वेश रचते हैं
अहल्या
मेरी धरती
इन्द्र और चन्द्रमा
झण्डा और तिजोरी

दोनो फिर तिजोरियाँ समेट कर
सुबह की बाँग देते हैं
एक झटके से कुहरे का पर्दा उठता है
और एक खण्डित काला पठार
यहाँ से वहाँ तक बिछा होता है
जीवित शव   शव   शव
जिन पर कुत्तों और गीदड़ों की तरह
झुकी होती हैं—
एक बेकारी
एक महामारी
एक मँहगाई
एक अकाल
और हर दरवाज़े पर
आ गिरता है एक अखबार
जिस में छपा होता है घायल सीमान्त
हर शव झपट कर
अपने नंगेपन पर उसे ओट लेता है
वन्देमातरम्
तेगे ख़िदमत में जाँ तक लुटा देंगे हम
ऐ वतन, ऐ वतन

ऊँची नीची पगडण्डियाँ, कच्ची सड़कें
(जो जुलूसों के खुरों से
और भी ऊबड़ खाबड़ हो गयी हैं)
ढोती हैं—
बीमार गाँव को कस्बे तक
लेकिन अपने में ही गिर-गिर पड़ती हैं
पक्की सड़कें ढोती हैं—
शहर को शहर तक
और चौराहा पर किसी जुलूस के कारण
घण्टों खड़ी रहती हैं

और काफ़ी देर बाद
अस्पताल में ला कर पटक देती हैं
अधमरे शहर को
जहाँ ऑपरेशन-टेबल पर
पहले से ही कोई झण्डा लेटा होता है
हर कमरा खिड़की से उदास झाँकता रहता है
बाहर निकलने के लिए
और हर बाहर
बैठा-बैठा कराहता है भीतर ठिलने के लिए
न कोई आता है
न जाता है
सारा अस्पताल सिमट आता है
एक टेबल के पास
और एक फैले खालीपन पर
थका-थका-सा समय ऊँघता रहता है
जो कभी-कभी हड़बड़ा कर जाग जाता है
मौत की एक चीख से

टूटे हुए पुल बह रहे हैं
और उन के ऊपर टँगी हैं नदियाँ
अपनी-अपनी जगह पर
शिशुओं को गाड़ कर
मुरदे बाहर आ गये हैं
धरती का सन्देश देने
दरवाज़े दरवाज़े न रह कर
कोई न कोई झण्डा बन गये हैं
और झण्डा बन कर ही निकलते हैं
पचायतों में
मेलों में
स्कूलों में
पर्वों में

एक-दूसरे को मौन घूरते रहते हैं
बीच की दूरियों में उगती रहती हैं
कचहरियाँ
अवैध बच्चों की तरह फेंके गये
उन के अपने नामों को
एक वसन्त घूरे पर से बटोरता है
और पीठ पर लादे-लादे व्यर्थ घूमता है—
'ले लो अपने-अपने बच्चों को'
कोयल गाती है किसी झण्डे का गीत
फूल खिलते हैं किसी झण्डे की प्रीति
खेत पकते हैं ले कर किसी झण्डे की आँच
घेर कर किसी झण्डे को हवा रही है नाच
जल बहता है किसी झण्डे के पीछे
धूप उठती-गिरती है नीचे और ऊपर,
ऊपर और नीचे

एक प्रेम होता है झण्डे की मीठी छाँह मे
एक मौत बेख़ौफ़ घूमती है
झण्डे से घिरी राह मे

दिन-दहाड़े उल्लू बोलते हैं, आदमी चुप है
खाइयों और गुफाओं में उजाला है
मैदानों में अँधेरा घुप है—
बड़े खेत छोटे खेतों को खा रहे हैं बीन-बीन
शरीर पर लुट रहे है देश
आत्मा बिक रही है पैसे की तीन
वसन्त खड़ा-खड़ा सोचता है—
शहर मे तो वह अजनबी हो ही गया था
यहाँ भी कोई नहीं पहचानता
एक बार फिर
अपने स्तब्ध पुष्पकेतन को देखता है
और चुपचाप उसे मरोड़ कर
डाल लेता है झोले में
कोई बस पकड़ कर
चल देता है राजधानी की ओर
किसी झण्डे से समझौता करने
वन्देमातरम्
के बोले माँ तुमि अवले
शाही महफिल मे
किराये के कवि
वीर रस की कविताएँ भूँक रहे हैं
महफ़िल का पास लिये हुए
शहर का सारा अन्धकार बैठा-बैठा झूमता है
और प्रकाश की छोटी-छोटी किरणें
गलियों के छोटे-छोटे कठघरों मे जागती हुई
चुपचाप लड़ती हैं देश के सन्नाटे से

फिर वही लोग जा रहे हैं इस सड़क से
जो कल गये थे
आज उन के झण्डे बदले हैं
आवाजें वही है
नारे नये हैं
यह सड़क देख रही है कब से····

[फरवरी १९६९]

दो कविताएँ

दिनकर सोनवलकर

सृजन-प्रक्रिया

टूटी हुई चूड़ियों के
कुछ रंगीन टुकड़े
एक छोटा-सा काँच
और देखने वाली आँख
तीनों मिल कर
जन्म देते हैं
कितने विविध
चित्रों,
रंगो
रूपों को।

ठीक इसी तरह
बिखरा है जीवन-विराट्
आसपास चारों तरफ़
कितने ही टुकड़ों मे
महानगरों से
गाँव तक
व्यस्त चौराहों से
पीपल की छाँव तक।

अभिव्यक्ति का माध्यम हो
यदि तुम्हारे पास
और एक सहज दृष्टि
तो प्रस्तुत कर सकते हो
अनगिन
विविध-रंगी तसवीरें !
(शायद सँवर जायें कुछ तकदीरें)

शब्द-मुद्राओं की नियति

शब्द की
शाश्वत टकसाल से
निकलती रहती हैं
शब्द-मुद्राएँ
कुछ खरी
अधिकांश खोटी।

विडम्बना ये है
कि घिसी-पिटी मुद्राएँ
खरे, सौ टंच सिक्कों को
बाज़ार से
बाहर फेंक देती हैं
कही दूर अँधेरे
कोने मे।
युग बीत जाते है
इसी तरह।

फिर 'अर्थ' के खोजी
इन्हीं दुर्लभ मुद्राओं को
खोज कर
रखते है सहेज कर
करते है स्थापित
मूल्यांकन के
सही प्रतिमान !

[जुलाई १९६९]

चार छोटी कविताएँ

किरण जैन

घुटन

जिन्दगी के टेलीफोन पर
गलत मिले नम्बरों की कड़ुवाहट
घुली भी नहीं थी अभी
कि बन्द दराजों की खिड़कियाँ खोल
सिर निकाल झाँकने लगी
गलत आदमी को मिले
गलत पता लिखे
पोस्टकार्डों की गड्डियाँ

जिज्ञासा

एक गौरैया
अपने नन्हें पंखों पर
तौल रही
नीला विस्तृत आकाश।

विरहानुभूति

जिन्दगी के रूमाल पर
काढ़ना चाहती हूँ जब
तुम्हारा नाम
इन्द्रधनुष के सात रंगों से
रंग जाता है क्यों हर बार
पलाश के दहकते लाल से।

महँगाई

मूँज की खाट पर
बेचैन करवट बदलता
बीमार नगर
बुखार के ताप में
कर रहा लगातार
अनर्गल प्रलाप।

[अगस्त १९६९]

■ ■ ■

निबन्ध

हजारीप्रसाद द्विवेदी
भगवतीचरण वर्मा
माखनलाल चतुर्वेदी
[illegible]
आचार्य रजनीश
क० ला० मिश्र 'प्रभाकर'

रामवृक्ष बेनीपुरी
श्रीरामनाथ 'सुमन'
[illegible]
[illegible]
[illegible]
देवराज
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
प्रभाकर माचवे
[illegible]
रामस्वरूप चतुर्वेदी
इलाचन्द्र जोशी
[illegible]
जगदीश गुप्त
नेमिचन्द्र जैन

धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्...

हजारीप्रसाद द्विवेदी

भारतीय धर्म-साधना का इतिहास बहुत जटिल है। साधारणतः इस धर्ममत का अध्ययन करने के लिए वैदिक, बौद्ध और जैन साहित्य का अध्ययन किया जाता है। अब तक हमारे पास जो भी पुराना साहित्य उपलब्ध है वह आर्य भाषाओं में लिखित साहित्य ही है, फिर चाहे वह संस्कृत में लिखा गया हो या पाली मे या प्राकृत में। परन्तु एक बार यदि हम भारतीय साहित्य को सावधानी से देखें और भारतीय जनसमूह को ठीक-ठीक पहचानने की कोशिश करें तो साफ़ मालूम होगा कि केवल आर्य भाषाओं मे लिखित साहित्य कितना भी महत्त्वपूर्ण क्यों न हो इस देश की जनता के विश्वासों और धर्म-साधनाओं की जानकारो के लिए वह पर्याप्त बिलकुल नहीं है। आर्यो की पूर्ववर्ती और परवर्ती अनेक आर्येतर जातियाँ इस देश में रहती है और उन में से अधिकाश धीरे-धीरे आर्य भाषा-भाषी होती गयी है। इन जातियों की अपनी पुरानी भाषाएँ क्या थी और उन भाषाओं में उन का लिखित या अलिखित साहित्य कैसा था, यह जानने का साधन हमारे पास बहुत कम बच रहा है। यह तो अब माना जाने लगा है कि आर्यो से भी पहले इस देश मे महान् द्रविड़ सभ्यता वर्तमान थी। उस सभ्यता के अनेक महत्त्वपूर्ण उपादान बाद मे भारतीय धर्मसाधना के अविच्छेद्य अंग बन गये है। पर इतना ही पर्याप्त नही है। द्रविड़ सभ्यता का सम्बन्ध सुदूर मिस्र और बैबिलोनिया तक

स्थापित किया जा सका है, और यद्यपि अब धीरे-धीरे पण्डितों का विश्वास होता जा रहा है कि द्रविड जाति (रेस) की कल्पना कल्पना-मात्र ही नहीं है, पर एक समृद्ध आर्यपूर्व द्रविड सभ्यता की धारणा और भी पुष्ट हुई है।

इधर निषाद या कोल-भाषाओं के अध्ययन से एक बिलकुल नयी बात की ओर पण्डित-मण्डली का ध्यान आकृष्ट हुआ है। ऐसा जान पड़ता है कि इन कोल-भाषा-भाषी लोगों की जो अब तक जंगली समझ कर उपेक्षा की गयी थी वह एकदम अनुचित और निराधार है। इन भाषाओं का सम्बन्ध ऑस्ट्रेलिया और एशिया में फैली हुई अनेक जनभाषाओं से स्थापित किया गया है और यह विश्वास दृढ़ हुआ है कि आज के हिन्दू-समाज में अनेक ऐसी जातियाँ हैं जिन का मूल निषाद (ऑस्ट्रो-एशियाटिक या ऑस्टिक) जातियों में खोजना पड़ेगा। हमारे अनेक नगरों के नाम इस भाषा से लिये गये हैं, खेती-बारी के औज़ार और अन्य उपयोगी शब्दों के नाम इन भाषाओं के आर्य रूप हैं और हिन्दू धर्म में श्रद्धा और सम्मान पाने वाले बहुत से विश्वास मूलतः निषाद जातियों के हैं। प्रो० सिल्वालेवी और उन के प्रजुलुस्की आदि शिष्यों ने जिन थोड़े से भाषाशास्त्रीय तत्त्वों का रहस्य उद्घाटन किया है उन के आधार पर अनुमान किया जा सकता है कि हमारे अनेक धर्म विश्वासों का मूल भी इन जातियों में खोजा जा सकता है।

पिछले कुछ वर्षों में सभी आर्येतर विश्वासों को द्रविड विश्वास कह देने की प्रवृत्ति बढ़ गयी है। इस प्रकार शिव और विष्णु की पूजा भी द्रविड विश्वास है, पुनर्जन्म और कर्मफल में विश्वास भी द्रविड सभ्यता की देन है और वैराग्य और कृच्छ्र तप पर ज़ोर देना भी द्रविड विश्वास है। पर अब इस प्रकार की बातों की अधिक छानबीन की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी है। सभी आर्यपूर्व और आर्येतर विश्वास द्रविड विश्वास ही नहीं हैं, और भी कोई बात हो सकती है। सभी आर्यपूर्व और आर्येतर विश्वासों का मूल खोजना कठिन है।

हमारे देश के इतिहास का एक बहुत बड़ा विरोधाभास यह है कि अपेक्षाकृत नये ग्रन्थ अपेक्षाकृत पुरानी बातों को भी बता सकते हैं। इस प्रकार कूर्मपुराण की रचना छान्दोग्य उपनिषद् के बाद में हुई है। परन्तु इसी लिए यह ज़रूरी नहीं कि कूर्मपुराण में कही हुई सभी बातें छान्दोग्य में कही हुई सभी बातों से नयी ही हों। हो सकता है कि इस पुराण में संगृहीत कुछ बातें छान्दोग्य से भी पहले की हों। जैन आगमों का संकलन बहुत बाद में हुआ है, पर इसी लिए यह नहीं कहा जा सकता कि इन आगमों में संकलन काल के पूर्व की बातें नहीं हैं। यही नहीं, यह भी हो सकता है कि एक अत्यन्त परवर्ती हिन्दी पुस्तक में किसी अत्यन्त पुरानी परम्परा का विकृत रूप उपलब्ध हो जाये। इस विरोधाभास का कारण क्या है, यह हमें अच्छी तरह जान लेना चाहिए।

जैसा कि बताया गया है कि इस देश में अनेक आर्यपूर्व जातियाँ थीं। उन की अपनी

भाषाएँ थीं और अपने विश्वास थे। आर्यों को इन जातियों से पर्याप्त संघर्ष करना पड़ा था। पुराणों में असुरों, दैत्यों और राक्षसों के साथ हुए इन प्रचण्ड संघर्षों की कथा मिल जाती है। यह इतनी पुरानी बात है कि इन संघर्षशील जातियों को देवयोनिजात मान लिया गया है। कुछ पण्डित ऐसा विश्वास करने लगे है कि विश्वव्यापी जलप्रलय के पूर्व की ही ये घटनाएँ होंगी। इस महाप्रलय का वर्णन सभी देशों के साहित्य मे पाया जाता है, भारतीय साहित्य मे तो है ही। कहा जाता है कि इस महाप्रलय में बहुत-कुछ नष्ट हो गया और बची हुई मानव जाति को नये सिरे से संसार-यात्रा शुरू करनी पड़ी। इस जलप्रलय के पूर्व की सभी जातियों को 'देवता' मान लिया गया है। उन में जो ज़्यादा तामसिक मानी गयीं उन्हें राक्षस, असुर आदि पुराने नामों से पुकारा गया; पर इन शब्दों से अर्थ दूसरा ही लिया गया। इन तामसिक शक्तियों को भी देवयोनिजात मानकर इन मे अनेक अद्भुत गुणों की कल्पना की गयी। मैं स्वयं इस मत को सन्देह की दृष्टि से ही देखता हूँ पर इस में सन्देह नही कि ये संघर्ष बहुत पुराने और प्रायः भूले हुए जमाने के परम्परालब्ध कथानक है।

ये जातियाँ धीरे-धीरे आर्य भाषा-भाषी होती गयी है। कुछ तो अन्त तक आर्य भाषा-भाषी नहीं बन सकीं और पहाड़ों, जंगलों और दूरवर्ती स्थानों मे आश्रय ले कर अपनी भाषा और धर्मविश्वासों को कथंचित् जिलाये रख सकीं। जो लोग आर्य भाषा-भाषी हुए उन्होंने अपने विश्वासों को आर्य भाषा के माध्यम से कहना शुरू किया। इन वेद-बाह्य धर्म-साधनाओं का संस्कृत में आना बहुत बड़े विचार-संघर्ष का कारण हुआ। सन् ईसवी की प्रथम सहस्राब्दी मे ही इस संघर्ष का आभास मिलने लगता है। सातवीं-आठवीं शताब्दी में तो किसी मत को वेद-बाह्य कह कर लोकचक्षु मे हीन करने की प्रवृत्ति अपने पूरे चढ़ाव पर मिलती है और उस की प्रतिक्रिया भी उतनी ही तीव्र होकर प्रकट हुई है।

इस प्रतिक्रिया को न तो हम श्रमण संस्कृति का प्रभाव कह सकते हैं और न इसे वेद-सम्मत मत कहने का ही कोई बहाना है। यह स्पष्ट रूप से वेद-विरोधी है। हम इसे वेद-बाह्य श्रमणेतर संस्कृति कहना चाहें तो कोई हानि नहीं है।

साधारणतः वेद-बाह्य भारतीय धर्म का प्रसंग उठने पर बौद्ध और जैन मतों की बात ही स्मरण की जाती है। परन्तु एक अन्य भावधारा भी इस देश में काफ़ी प्रबल थी जो वेद-बाह्य थी और श्रमण संस्कृति से भिन्न थी। इस वेद-बाह्य श्रमणेतर संस्कृति के विषय में अभी विशेष आलोचना नहीं हुई है, क्योंकि एक तो इस का साहित्य बहुत कम बच पाया है, दूसरे जो साहित्य बचा भी है उस पर परवर्ती काल का रंग चढ़ गया है।

विक्रम की सातवी-आठवी शताब्दी के बाद हिन्दू आचार्यों मे एक ही विशिष्ट प्रवृत्ति पायी जाती है। वे किसी मत को जब हेय और नगण्य सिद्ध करना चाहते हैं तो उसे वेद-बाह्य या श्रुति-विरोधी घोषित कर देते

हिन्दी भाषा और वाङ्मय के विकास मे

हिन्दी समिति का महत्त्वपूर्ण योग

श्रेष्ठ एवं उच्चस्तरीय ग्रन्थो का प्रकाशन

• पौधो का जीवन	श्री नारायण सिंह परिहार	५ ००
• व्यापारिक फल और तरकारियाँ	डॉ० गिरधारी लाल तथा डॉ० हरिश्चन्द्र श्रीवास्तव	२० ००
• विटामिन तथा हीनता जनित रोग	डॉ० सुरेन्द्र नाथ गुप्त	७ ००
• लाख और चपडा	प्रो० फूलदेव सहाय वर्मा	१० ००
• तेल और उन से बने पदार्थ	डॉ० एस० पी० पाठक	९ ५०
• त्रिकोणमिति	डॉ० राजेन्द्र स्वरूप गुप्त	६ ००
• भैषज्य संहिता	श्री अत्रिदेव विद्यालंकार	४ ५०
• प्रमुख देशो की शासन पद्धतियाँ	श्री गोरखनाथ चौबे	९ ००
• भाषा	डा० जे० के० बलबीर	७ ५०
• उर्दू भाषा और साहित्य	श्री रघुपति सहाय फिराक	७ ५०
• अँगरेजी साहित्य का इतिहास	श्री जगदीश बिहारी मिश्र	७ ००
• फ्रेंच साहित्य का इतिहास	श्री भूपेन्द्र नाथ सान्याल	७ ००
• रूसी साहित्य का इतिहास	डॉ० केसरी नारायण शुक्ल	७ ००
• तेलुगु साहित्य का इतिहास	श्री बालिशौरि रेड्डी	६ ००
• गुजराती साहित्य का इतिहास	श्री जयन्तकृष्ण हरेकृष्ण दवे	६ ५०
• बंगला साहित्य का इतिहास	डॉ० सत्येन्द्र	५ ५०
• मलयालम साहित्य का इतिहास	डॉ० के० भास्करन नायर	४ ००

यह समिति वैज्ञानिक, तकनीकी एव सामाजिक शास्त्रो से सम्बन्धित विषयो पर १७१ ग्रन्थ प्रकाशित कर चुकी है।

सुन्दर छपाई, आकर्षक गेटअप तथा कपडे की सुदृढ जिल्द
पूर्ण विवरण एव पुस्तक की खरीद के लिए लिखे

सचिव,
हिन्दी समिति, सूचना विभाग,
उत्तर प्रदेश शासन
लखनऊ।

हैं। सातवीं-आठवीं शताब्दी के बाद धीरे-धीरे इस वेद-बाह्य और श्रुति-विरोधी घोषित किये सम्प्रदायों मे अपने को वैदिक और श्रुति-सम्मत कहने की प्रवृत्ति प्रबल हो जाती है। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए सब से अचूक अस्त्र यह समझा गया है कि जो व्यक्ति वेद-बाह्य कहे उसी को वेद-बाह्य कह कर छोटा बना दिया जाये। शंकराचार्य ने पाशुपतों को वेद-बाह्य कहा था और बाद में शंकर को 'प्रच्छन्न बौद्ध' कहाने का अपजस भोगना पडा। परवर्ती साहित्य में एक मत का आचार्य दूसरे विरोधी मत को प्रायः ही वेद-बाह्य कह देता है।

परन्तु जहाँ कुछ मत अपने को वेद-सम्मत सिद्ध करने का प्रयत्न करते रहे वहीं कुछ ऐसे भी मत थे जो अपने को खुल्लमखुल्ला वेद-विरोधी मानते रहे। कापाल, लाकुल, वाम-मार्गी तथा अन्य अनेक शाक्त और शैव मत अपने को केवल वेद-विरोधी ही नहीं मानते रहे बल्कि वेद-मार्ग को निम्न कोटि का भी समझते रहे। इन के ग्रन्थों में प्रत्येक वेद-विहित मत को और नैतिक आदर्श को हीन बताया गया है और अत्यन्त धक्कामार भाषा में आक्रमण किया गया है। अवश्य अन्त तक ये मत अपना वेद-विरोधी स्वर क़ायम नही रख सके। शुरू-शुरू मे इन के धक्कामार और तिलमिला देने वाले वचनों की पारमार्थिक व्याख्या की गयी और बाद मे उन्हे विशुद्ध श्रुति-सम्मत मार्ग सिद्ध किया गया। उत्तर को अनेक जातियाँ और अनेक सम्प्रदाय इन आर्यपूर्व सभ्यताओ की स्मृति वहन करती आ रही हैं। इन सम्प्रदायों के अध्ययन से हमें अनेक भूली बातों की जानकारी प्राप्त होगी।

यह समझना ठीक नहीं कि वर्तमान युग में प्रचलित लोक जाति और लोक कथानक तथा विभिन्न जातियों और सम्प्रदायों के रीति-रस्म हमें केवल वर्तमान की ही बात बता सकते है। हो सकता है कि ये हमें घने अन्ध-कार को भेद सकने योग्य प्रकाश दें और हम अतीत के कुज्झटिकाच्छन्न काल में पैठ सकें। मनुष्य के उत्थान-पतन का इतिहास बड़ा मनोरंजक है। न जाने कितने मूलों से मनुष्य ने अपना धर्म-विश्वास संचय किया है। जातिगत और सम्प्रदायगत संकीर्णताओं से जर्जरित काल में यदि हम जान सकें कि मनुष्य कितना ग्रहणशील प्राणी है, वह किस निर्भ-यता के साथ संस्कृति के साथ चिपटे हुए सड़े छिलकों को फेंकता आया है और किस दुर्वार शक्ति से अन्य श्रेणियों के सत्य को ग्रहण करता आया है तो यह कम लाभ नहीं है। भारतीय धर्म-साधना का इतिहास इस दिशा में बहुत सहायक है।

हमारा वैदिक, बौद्ध और जैन साहित्य बहुत विशाल है। बहुत बडे देश और बहुत दीर्घ काल को व्याप्त कर के यह साहित्य लिखा गया है। देश और काल का प्रभाव इस पर सर्वत्र है। इस के निपुण अध्ययन से तत्कालीन अन्य मतों का भी कुछ आभास पाया जाता है। यह भी पता चलता है कि किस प्रकार ये मत अन्य मतों से प्रभावित हो कर नया रूप ग्रहण करते आये है। जो लोग धर्म-मत को अनादि और सनातन मानते है वे भूल

जाते हैं कि सभी धर्म विश्वास बदलते रहे हैं, कभी कभी उन के स्थान पर एकदम नवीन विश्वास ने प्रतिष्ठा पायी है, कभी-कभी उन में थोड़ा संस्कार हुआ है और उन्हें नया रूप प्राप्त हो गया है।

शास्त्र में कहा है 'धर्मस्य तत्त्व निहित गुहायाम'। यह कथन ऐतिहासिक अर्थ में सत्य है। केवल धर्मग्रन्थों के अध्ययन से हम नहीं समझ सकते कि हमारे विश्वासों का वर्तमान रूप किस प्रकार प्राप्त हुआ है, और भी पारिपार्श्विक परिस्थितियों का ज्ञान होना चाहिए। पुरातत्त्व, भाषाविज्ञान, नृतत्त्वविज्ञान और इतिहास की अविच्छिन्न धारा का ज्ञान भी आवश्यक है। नाना स्तरों में विभाजित हमारी सम्पूर्ण जनता ही हमारे अध्ययन का मुख्य साधन है। धर्म का तत्त्व और भी गहराई में है। वह सचमुच ही गुहा में निहित है। उस अन्धतिमिरावृत गुहा में जो भी प्रकाश पहुँचा सके वही धर्म-साधना के विद्यार्थी के लिए सम्माननीय है।

[जुलाई १९४९]

ईमानदार स्वप्न और बेईमान सत्य

भगवतीचरण वर्मा



जीवन के अनवरत संघर्षों से उलझा हुआ, हरेक क़दम पर निराशाओं और असफलताओं का सामना करता हुआ, मै कहता हूँ कि मुझे इतना अवकाश ही कहाँ जो सोचूँ और समझूँ ? अपने जीवन और अपने संघर्षो से ऊपर उठ कर सत्य को पा सकना मेरे वश मे नहीं है, मैं यह निस्संकोच स्वीकार करता हूँ। मेरा जो ज्ञान है वह अधूरा है।

मै तुम से पूछता हूँ कि दुनिया मे किसे सम्पूर्ण ज्ञान का दावा है ? अपनी सीमाओं और विवशताओं को तोड़ने की सामर्थ्य किस मे है ? कौन अपनी भावनाओं और आस्थाओं से ऊपर उठ सका है ? और इसी लिए जो व्यापक सत्य है वह मेरी पहुँच के बाहर है। मै इसे अपनी पराजय नही मानता; आखिर पराजय किस से ? जन्म से जो प्रवृत्तियाँ और परिस्थितियाँ मुझे मिली हैं उन्ही से तो मेरा समस्त जीवन अनुशासित और प्रभावित होगा। जब अपना जन्म और अपनी मृत्यु ही अपने हाथ में नही है, तब मै अपनी प्रवृत्ति और अपने कर्म को ही कैसे अपने हाथ में मान लूँ ?

पर मै स्थित हूँ। मेरे अस्तित्व में ही मेरी समस्त आस्था है, मेरा समस्त सत्य है। अगर तुम मेरी इस आस्था और मेरे इस सत्य को मेरा स्वप्न कहना चाहते हो तो मुझे इस से इनकार न होगा। मै तो यहाँ तक कहने को तैयार हूँ कि हमारा जीवन एक ही सपना है। बाल्यकाल की उमंगों को मै भूला नहीं हूँ। कौतूहल और उत्सुकता के ताने-बाने से बुने हुए सपनों की रंगीनियाँ ही तो हमारे विश्वास का रूप धारण कर के हमारी गति को प्रेरित करती रहती है।

मेरा स्वप्न ही मेरा सत्य है, और ठीक इसी तरह तुम्हारा स्वप्न तुम्हारा सत्य है। यह सपने टूटते रहते है, मै मानता हूँ, पर उन के स्थान पर नये सपने आ जाते है। जो टूट जाता है वह असत् है, जो स्थित है वही सत्य है। वे भावना और विश्वास जो स्वप्नो के मूल अवयव है, मै तो उन्हे शाश्वत मानता हूँ। स्वप्नों का सफलीभूत होना अथवा नष्ट होना परिस्थितियों पर निर्भर है जो मेरे हाथ में नही। और इस लिए स्वप्न के भावनात्मक पक्ष को उस के भौतिक पक्ष से अलग कर ही मैं सत्य की मीमांसा कर सकता हूँ। क्योंकि सत्य स्वयं भावनात्मक है, भौतिक नही।

कल्याण सत्य का अविलग अंग है क्योंकि स्थापना कल्याण मे है जो निर्माण का अंग है।


हनुमान वनस्पति से
कम खर्च में भोजन तैयार करिये






निर्माता—
रोहतास
इन्डस्ट्रीज
लिमिटेड
डालमियानगर
(बिहार)

अन्य लोगों में सुप्त और निष्क्रिय विकृतियाँ जागृत और सक्रिय हो कर देती हैं। और इस प्रकार इन विकृतियों के इन्द्रजाल में मानवता डूब जाती है।

प्रश्न मेरे सामने यह नही है कि नैतिकता क्या है ? मै मानव की स्वाभाविक प्रवृत्ति को ही नैतिकता मानता हूँ, सत्य मानता हूँ, मानव का जीवन मानता हूँ। इसी नैतिकता को अपना सपना बना कर मानव जीवन-पथ पर अग्रसर होता है। प्रश्न तो मेरे सामने यह है कि यह विकृति क्या है ?

विकृति क्षणिक आवेश है। वह चिर-स्थायी नहीं होती, जिस प्रकार कि गुण चिर-स्थायी होता है। विकृतियों में डूब जाने के बाद मानव का जीवन जीवन नहीं रह जाता। जिसे हम नरक कहते है, वही तब जीवन का रूप बन जाता है। हम दूसरों को दया-प्रेम-ममता और सत्य न दे सकें, पर हम दूसरों से इन गुणों की आशा तो करते है। पर एक बार विकृतियों को ग्रहण कर लेने के बाद हमे समाज-द्वारा इन विकृतियों की प्रतिक्रिया-भर प्राप्त हो सकती है। वह छल-कपट जो हम दूसरों को देते है, अन्ततोगत्वा हमे भी प्राप्त होगा। इस प्रकार विकृतियों का आदान-प्रदान बढता जाता है।

दूसरों की विकृतियों की प्रतिक्रिया में मै क्यों अपना गुण छोड़ दूँ ? वह चिरस्थायी सम्पत्ति जो मुझे गुण के रूप मे प्राप्त हुई है—विकृतियों के क्षणिक आवेश मे छोड़ने की प्रवृत्ति ही अनैतिकता है। विवेक जो गुण का सहचर है—हमे उस की शरण लेनी पड़ेगी। हमारा वही सपना सत्य है जिस में विवेक है, जिस में सन्तुलन है।

•

•

चेतन मानव जो सपना देखता है, सुन्दरता उस का प्रतीक है। सुन्दरता मानव का स्वाभाविक गुण है, सुन्दरता कल्याण का पर्यायी है, सुन्दरता मानव के सत्य का रूप है। मानव का समस्त विकास, उस की समस्त उपलब्धि, इन का आधार मानव का सपना है, उन सपनों को अपना लक्ष्य बना कर ही मानव आगे बढ़ता है। लक्ष्यहीन और निरुद्देश्य मनुष्य का जीवन भार हो जाता है, उस के जीवन में आनन्द का सर्वथा अभाव है। ब्रह्म को सत-चित् और आनन्द कहा गया है, यही गुण मानव को भी प्राप्त है।

आनन्द की उपलब्धि सपनों के साकार होने में है। सपनों का टूटना अथवा नष्ट होना घोर कष्टकारी है। वह सपना जो गुणों पर आधारित है, जिस मे विकृतियों को पहचान कर उन्हें दूर रखने की चेतना है, असुन्दर हो ही नहीं सकता। और वही सपना मानव का सत्य है। स्वप्न और सत्य पर्यायी है, मिथ्या दुःस्वप्न की विकृति है। यहाँ हमें यह भी ध्यान रखना पड़ेगा कि असत् और विकृति में भ्रमित कर देने वाली इन्द्रजाल की रंगीनी है—और वह रंगीनी कुछ क्षणों के लिए विवेक के अभाव मे सुन्दर दिख सकती है। जो वास्तविक और चिरस्थायी सुन्दरता है वह गुण का रूप है। विकृति क्षणिक नशा-भर है जिस से दूर रहने मे ही कल्याण है।

मैं स्वप्न को सत्य से पृथक् देख ही नही पाता । वह व्यापक सत्य जो इस समस्त सृष्टि के आधार में है, जिस में न जाने कितने सूर्य, कितने ग्रह-उपग्रह है, जो निस्सीम है, उसे मैं सीमित मान कर कैसे जान सकता हूँ । मैं तो केवल इसी सत्य को जान सकता हूँ जिसे मैं अपने स्वप्न में बांधने में समर्थ हूँ । और यह मेरा सपना मेरे अन्दर वाले जन्मजात गुणो से प्रेरित है । उस सपने में विकृतियो का कोई स्थान् नही क्योकि वे असत् है ।

[मई १९६८]



अध्यात्म शुद्ध पलायन-वृत्ति है!

इन्द्रसेन

•

"अध्यात्म शुद्ध पलायन-वृत्ति है"—यह आक्षेप आज कल बार-बार सुनने में आता है और इस में सन्देह भी नही कि आश्रमों, तीर्थों तथा अन्य धार्मिक स्थानों में आश्रय ढूँढ़ने वाले लोगों मे काफ़ी संख्या ऐसों की होती है जो जीवन-संग्राम मे घायल हो कर वृद्धावस्था में सन्तोष और शान्ति चाहते है अथवा यदि वे युवक है तो ऐसे हैं जो जीवन के संघर्ष मे पिछड़ गये हैं और अब संसार की तरफ़ से वैराग्यवान् हो कर नये क्षेत्र मे नया साहस अनुभव करना चाहते हैं। तीसरी श्रेणी स्त्रियों की होती है, जो सब से बड़ी होती है।

निश्चय ही यह मध्यकालीन वृत्ति का नमूना है। मध्यकाल में जब धर्म मनुष्य की प्रधान प्रेरणा थी और संसार को तुच्छ और त्याज्य समझा जाता था, यह अनिवार्य ही था कि लोग संसार को छोड़ कर वैरागी और त्यागी बन धार्मिक वृत्ति को ग्रहण करते।

वर्तमान युग का उदय ही, वास्तव मे, इस मध्यकालीन वृत्ति के विरोध मे हुआ है। आधुनिक भावना मध्यकालीन भावना के विपरीत संसार को तुच्छ और त्याज्य नही मानती, बल्कि संसार को ही जीवन का सच्चा क्षेत्र मानती है, और संसार के साधारण कर्म को ही जीवन की सच्ची व्यस्तता।

यह है सामान्य सांस्कृतिक पृष्ठभूमिका जिस में से आज "अध्यात्म शुद्ध पलायन-वृत्ति है" आक्षेप का जन्म हुआ।

परन्तु इस सांस्कृतिक पृष्ठभूमिका के साथ एक मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमिका और जुड़ी हुई है। आधुनिक मनोविज्ञान ने हमारी सामान्य मानसिकता को कई अत्यन्त प्रभावशाली विचार दिये है। उन में से एक है 'एस्केपिज़्म'—भगोड़ेपन की वृत्ति।

"अध्यात्म शुद्ध पलायन है" यह विचार मध्यकालीन सांस्कृतिक तथा आधुनिक मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमिका से बल प्राप्त करता है।

मध्यकालीन अध्यात्म से आधुनिक अध्यात्म भिन्न है। आधुनिक अध्यात्म ने गीता से विशेष प्रेरणा प्राप्त की है और आज हम संसार और कर्म को त्यागने की भावना अपेक्षाकृत बहुत कम देखते है। श्री अरविन्द का विचार और योगानुभव तो वास्तव में कर्म को बहुत विशेषता दे देता है। निश्चय ही जब उद्देश्य प्रकृति को स्थूल आधार तक रूपान्तरित करना है तो कर्म अनिवार्य हो जायगा। ज्ञान और भक्तिपूर्वक किया हुआ कर्म ही व्यक्ति की प्रकृति और उस के स्वभाव को बदल सकता है। फिर जब कि उद्देश्य इने-गिने व्यक्तियों को आनन्द प्राप्त करवाना ही न हो

बल्कि मानव चेतना मात्र को काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहकार से मुक्त कर उसे सत्य शिव सुन्दर भावना में स्थित करवाना हो तो निश्चय ही ससार त्याज्य नही हो सकता है। ससार को स्वीकार करना होगा तभी तो वह रूपान्तरित हो सकेगा। कुछ आश्चर्य नही जो श्री अरविन्द अपने अध्यात्म और योग को युद्ध के रूप में कल्पित करते है। श्री अरविन्द के अपने शब्द इस प्रकार है —

"साधक को अहभाव-मूलक मिथ्यात्व और अव्यवस्था की शक्तियों को केवल अपने अन्दर ही नही जीतना है, बल्कि जगत में भी विजय प्राप्त करनी है।"

मध्यकालीन अध्यात्म सामान्यतया ससार और आध्यात्मिक जीवन में विरोध मानता था। इसी लिए अध्यात्म में प्रवृत्त होने के लिए ससार छोडना अनिवार्य हो जाता था। परन्तु उस समय भी आध्यात्मिक वृत्ति सुख की शय्या नही मानी जाती थी। भक्त काम, क्रोध, मोह, लोभ आदि विषयों से अनथक लडने वाला और अन्त में उन पर बाजी ले जाने वाला होता था। प्रत्यक्ष हो वह अध्यात्म भी जो कि ससार को छोडना आवश्यक मानता था कायरों का विषय नही था। उस में पलायन वृत्ति वाले साधको की गति नही हो सकती थी।

यहा हम अपने विषय को सास्कृतिक प्रकरण में देख रहे है। हम मध्यकालीन अध्यात्मवाद के ससार तथा जीवन सम्बन्धी दृष्टिकोण से सहमत नही। परन्तु यह हम बलपूर्वक कहेंगे कि वह अध्यात्म पलायन वृत्ति न था। यद्यपि यह सत्य है कि वह जीवन-दृष्टि पलायन वृत्ति की पोषक अवश्य थी। यहाँ हम एक प्रश्न उठाना चाहते है कि अध्यात्म शुद्ध पलायन-वृत्ति है, तब प्रधानतया यही तो आशय होता है कि लोग पलायन-वृत्तिवश अध्यात्म में प्रवृत्त होते है। इस से यह परिणाम कैसे निकाला जा सकता है कि अध्यात्म अपने-आप में कुछ महत्त्व नही रखता। केवल इतना ही तो कहा जा सकता है कि लोग कम अथवा अधिक सख्या में इस विषय की ओर भगोडेपन के भाव से प्रेरित होते हैं। भगवान की ओर यदि कोई व्यक्ति ससार से घबरा कर ही प्रवृत्त होता है तो भी हम उसे बुरा कैसे कह सकते हैं। इस में सन्देह नही कि पलायन-वृत्ति से प्रेरित हुआ व्यक्ति शीघ्र ही वहाँ की कठिनाइयो से घबरा कर फिर वापस लौटना चाहेगा या कही और कोई थोथा आश्रय ढूँढेगा। परन्तु यदि वह वहाँ स्थिर रह गया और उसे भगवान् की खोज का निजी रस कुछ प्राप्त हो गया तो उस की पलायन-वृत्ति खुद पलायन कर जायेगी और व्यक्ति 'आर्त' की जगह 'भक्त' अथवा 'जिज्ञासु' का स्वरूप धारण कर अपने पथ पर अग्रसर होगा। गीता ने स्पष्ट ही स्वीकार किया है—

चतुर्विधा भजन्ते मा जना सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥

"हे अर्जुन! चार प्रकार के सुकर्मी एव सौभाग्यशाली जन मुझे भजते है—आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी।" इन में से निश्चय ही जिज्ञासु और ज्ञानी उत्तम है। उन की वृत्ति ही सफलता के लिए अधिक उप-

युक्त है। परन्तु इतिहास बहुत से दृष्टान्त ऐसे उपस्थित करता है जिन से साफ़ पता चलता है कि शुरू मे आर्त्त तथा लोभ, मोह आदि का भाव होते हुए भी व्यक्तियों ने अध्यात्म में सफलता प्राप्त की। और यह भी सत्य है कि उस सफलता तक पहुँचने से बहुत पहले ही वे अपने उन तुच्छ भावों को पार कर चुके थे।

'अध्यात्म शुद्ध पलायन है' यह आक्षेप मध्यकालीन संस्कृति की अपेक्षा कही अधिक बल मनोविज्ञान से प्राप्त करता है। और आधुनिक मनोविज्ञान से ही इस का समाधान भी ज्यादा आसानी से हो सकता है। हम ने ऊपर कहा था कि पलायन-वृत्ति (escapism) विशेष रूप से अवचेतन प्रक्रिया है, जिस के आधीन व्यक्ति आत्म-प्रवंचना में पड़ कर कर्म करता है। निश्चय ही यहाँ कोई कर्म-विशेष से सम्बन्ध नही है। अर्थात् हम यह नहीं कह सकते कि जब कोई व्यक्ति यह कर्म अथवा वह कर्म करता है तब वह उसे अनिवार्य रूप से पलायन-वृत्तिवश ही करता है। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण तो बहिर्मुखी कर्म से सम्बन्ध नहीं रखता। वह तो केवल इस मानसिक तथ्य का निरूपण करता है कि मन आन्तरिक संघर्ष और संकट की स्थिति मे अनेक प्रकार के अनुभवों से कतराता है तथा भीरुपन के भाव मे उन्हे अवचेतना से धकेल देता है। उन का सामना वह नही करना चाहता। इस लिए उन से भाग कर वह अन्य आश्रय ढूँढ़ने लगता है।

वास्तव में इस वर्णन के अनुसार कोई-सा भी कर्म पलायन-वृत्ति मे ग्रहण किया जा सकता है—वह लड़ाई लड़ना ही क्यो न हो। यहाँ मुझे अपना एक अनुभव याद आता है। मेरे एक परिचित व्यक्ति अभी तीन वर्ष हुए अप्रत्याशित निश्चय कर के लड़ाई में चले गये। उन के सम्बन्ध में जितना मालूम हो सका था उस सब के आधार पर यह कहना सम्भव हो जाता है कि वे घर की संकटमय स्थिति से बचने के लिए फ़ौज में भर्ती हो कर चले गये। उन्होंने युद्ध मे जाने का निश्चय किया, हम कहेगे कि बहादुरी का परिचय दिया। लेकिन सारी स्थिति काफ़ी स्पष्ट रूप से विपरीत संकेत देती है। यह दृष्टान्त वास्तव मे कोई बहुत असाधारण नहीं है। जहाँ बहुतेरे युवक लड़ाई मे साहसपूर्वक जीवन बिताने के शौक़ से भर्ती हुए वहाँ अनेकों अपनी वर्तमान स्थिति से छुटकारा पाने के लिए भी नाम लिखवा कर चले गये।

अब यदि फ़ौज में भर्ती होना ही नही बल्कि भर्ती हो कर शीघ्र फ्रंट पर पहुँच जाना भगोड़ापन हो सकता है तो अध्यात्म अनिवार्य रूप से पलायन-वृत्ति ही हो यह आवश्यक नही। निर्णय इस बात पर निर्भर करता है कि कोई व्यक्ति किसी काम को किस भावना तथा वृत्ति से करता है। शायद यह कहना सर्वथा सम्भव है कि स्थूल कर्म के रूप मे कोई भी काम भगोडेपन के रूप मे किया जा सकता है तथा शुद्ध और श्रद्धा मे भी किया जा सकता है। हम साधारणतया अपने काम मे लगे हुए काम के फल के लिए विशेष चिन्तित रहते है। हम अपनी चेतना के स्तर पर किन प्रेरणाओं से प्रेरित हो रहे होते है, यह हमे पता नही होता।

जब मनुष्य ज़रा अन्तर्मुख भाव में स्थित हो कर कर्म करते हुए अपनी प्रेरणाओं को जानने का यत्न करने लगता है तो वह अनेक आश्चर्य-जनक आविष्कार करता है। अपने विषय में ऐसी बातों को जानने लगता है जिन की वह पहले सम्भावना भी स्वीकार नहीं करता था। वह देखता है कि वह दस प्रकार के कामों में अपने-आप को व्यस्त इस लिए रखता है क्योंकि वह एकान्त में अपने-आप को सहन नहीं कर सकता। उस के उपकार के काम भी मानो अधिकांश में अपने-आप से भागने के प्रयास होते हैं। मानव का पिण्ड निश्चय ही ब्रह्माण्ड है। परन्तु यह उसे उत्तरोत्तर तभी पता चलता है जब कि वह दृष्टि को अन्दर मोड़ कर अपने-आप को देखना शुरू करता है।

आध्यात्मिक जीवन चेतना की क्षणिक वासनाओं को त्याग कर उन के स्थान पर एकीकृत चित्त-शक्ति को चरितार्थ करना चाहता है। सारे जीवन में पूर्ण एकाग्रता प्राप्त करना चाहता है, अहंकार की तुच्छ वृत्तियों को छोड़ कर संसार की आधारभूत सत्ता भगवान् से एकत्व स्थापित करना और एकत्व के पूर्ण सत्य-द्वारा सम्पूर्ण ज्ञान भक्ति-कर्ममय जीवन को दिव्य रूप में प्रचलित करना चाहता है। यदि आध्यात्मिक जीवन अंत में इस सब को ही लक्षित करता है तो निश्चय ही अध्यात्म परम पुरुषार्थ है। परन्तु हमें कर्म के यथार्थ रूप को जानना होगा और मानव-प्रकृति के सामान्य बहिर्मुखी पक्षपात को पहचानना होगा।

अध्यात्म पलायन-वृत्ति नहीं हो सकता। कोई इस वृत्ति से उधर प्रवृत्त हो सकता है, परन्तु यदि वह आत्मोपलब्धि के पथ पर स्थिरता से अग्रसर होता रहेगा, तो यह वृत्ति उसे अनिवार्य रूप से छोड़नी होगी, क्योंकि आत्मा बलहीन, भीरु, भगोड़े को प्राप्त नहीं होती।

[अप्रैल १९६०]

इतिहास
एक सामान्य व्यक्ति की दृष्टि में

माखनलाल चतुर्वेदी

•

इतिहास तो यथार्थ में वह दर्शन है, जो उपकरणों का कम, उदाहरणों का अधिक मुहताज है। इतिहास भविष्यवाणियों के न तो सच्ची हो पड़ने का लेखा-जोखा है, न उन के धूल में मिल जाने की कहानी है। कुछ लोग कहते है कि किस ने देखा है, सब गपोड़े हैं। गपोड़े माना, किन्तु क्या जगत् केवल वर्तमान पर चलता आया है ? वह भी क्या जाति जिस का कोई भूतकाल न हो, फिर उस का भविष्य क्यों होने चला ? लिखना न जानने के कारण शायद अपराधों और उन की प्रवृत्तियों का हिसाब लिखना-भर इतिहासज्ञों या कुछ तथाकथित इतिहासज्ञों के पल्ले पड़ा। उस में घटी घटनाएँ ग़लतियों, अपराधों और कठिनाइयों का हिसाब भर बन कर रह गयीं। किन्तु यह तो लिखने वालों की मर्ज़ी कहिए। फिर समस्त इतिहास यही तो नहीं है। चिन्तन और चेतन का जड़-चेतन, साँसों और विश्वासों के जिन कोमल तन्तुओं पर ठहरा हुआ है, उन का आधार इतिहास नही है तो कौन है ?

जो घटना आज घटी है वह आज राजनीति या सार्वजनिक सेवा कहलायी, कल वही इतिहास कहलाने लगेगी। यह सच है कि घटनाएँ जमीन पर खेलती-कूदती हैं, वे मानव भाग्य या दुर्भाग्य बनाती हैं किन्तु इतिहास मुहाफिजखानों के बस्तों में बँधा रहता है। बाँध कर भी वह छोड़ा नहीं जा सकता क्योंकि मेक्सिको के अध्यापक शुट्ज ने कहा था कि यदि मेक्सिको के लड़के अपने इतिहास का पढ़ना या उस से प्रेरणा लेना छोड़ देंगे तो मेक्सिको की सेना, किसी बड़े देश की नही, किसी छोटे से देश की सेना से भी हार जायेगी। इतिहास तो पुरानी पीढ़ियों का एक प्रकार का जीवन-चरित्र है। उसे देखते हुए हमारी पिण्डलियाँ क्यों काँपें ? केवल नारी का रूप और नर की चालाकियाँ ही तो सब-कुछ नहीं है। न उन लोगों तक भूमि या मानव की भाव-भूमि ही है, जहाँ तक उस के नातेदार, रिश्तेदार और उस के गुट या मजहब के लोगों का निवास है।

इतिहास को छन्दों मे लिखने वालों ने उसे इतिहास कम रहने दिया, अधिक अंशों में छन्द बना डाला। वह झूठी प्रेरणा भले दें किन्तु पृथ्वी का सत्य तो नही ही दे सकते। कहीं-कहीं इतिहास का वर्णन ऐसा किया गया है, मानो अपने चरित्रनायक से बढ़ कर

संसार में कोई दूसरा हुआ ही नहीं। ऐसा वर्णन मजहब हो सकता है, वह धार्मिक उत्तेजना को जन्म दे सकता है किन्तु उसे सत्य की साँसों पर जीने वाला इतिहास नहीं कह सकते।

हम ने भूतकाल में बड़ी-बड़ी भूलें की हैं, राजाओं और राजघरानों का वर्णन किया है और समाज के स्वभाव, स्वरूप और उस की क्षमता या अक्षमता का अनिकनर छोड़ दिया है। परिणामत वही रूप हम पर हावी रहा, जो ठोक पीट कर चालबाजी से या किसी भी तरह हम पर हुकूमत कर सका।

मेरे विचार से तो इतिहास का लिखने वाला हो नहीं, उस का अध्ययनशील भी, केवल सत्य का विश्लेषणकर्ता है। उस के निर्णय हमारे ग्रन्थों से नहीं, इतिहास में या जिन से ऐतिहासिक तत्व प्राप्त हो सकते हैं, ऐसे ग्रन्थों से बनते हैं। भले ही वे हमारे अनुकूल बनें, भले ही वे हमारे प्रतिकूल बनें, इसी लिए इतिहास ऐसी शराफ़त या शरारत बनने से इनकार कर देता है जिस में केवल एक सी बातें कही गयी हों। किसी को अपना साम्राज्य या अधिकार बनाये रखने के लिए भले ही इतिहास को तोड़ना-मरोड़ना पड़े, अपने साहित्य को चमकाने के लिए इतिहास का आधार ले कर साहित्य रचना पड़े, अपने लेखों या नाटकों में विश्वासों को कैद करने के लिए उस का आश्रय लेना पड़े, किन्तु, इतिहास के ऐसे प्रशंसक, बुरा न मानें यदि कहा जाये कि, वे इतिहास के पोषक नहीं हैं। वे इतिहास को नहीं दुहराते, अपने पाठक या दर्शक को चमत्कृत करने के लिए तथा अपनी कहन के प्रति सहानुभूति जागृत करने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। कोई-कोई गुणी ऐसे भी हैं जो इतिहास की घटनाओं को अपनी रुचि से इस लिए दुहराते हैं जिस से एक ओर इतिहास भी ज़िन्दा रहे दूसरी ओर समाज भी जीवित हो सके। फिर भी जैसा कि 'सीता' लिखते समय बंगाल के विख्यात नाट्यकार श्री द्विजेन्द्रलाल राय ने कहा है कि "'वह' इतिहास नहीं है। उस रचना का अध्ययन महज़ इतिहास की सृष्टि समय कर नहीं किया जा सकेगा।"

इतिहास न तो केवल घटनाओं का भरा हुआ रजिस्टर-सा है, न घटनाओं का बड़ा या छोटा दर्पण ही है कि वे इन मानों में ग्रन्थों में पड़ी दीख सकें। इतिहास तो खोज करने वाले चिन्तकों की वैज्ञानिक खोज का परिणाम है। सच में तो पक्षपात-रहितता केवल इतिहास-पथ के पथिकों की जागीर है, उस पथ पर कोई अन्य चल सकेगा या नहीं उसे तो चलना ही है।

कुछ कहते हैं, भूतकाल के सनकी लोगों की सनकों के तिथिवार ब्यौरे को इतिहास कहते हैं। यदि हमारे या किसी के पूर्वज सनकी ही थे तो इस में इतिहास के विद्यार्थी का क्या दोष?

माना, समझ के मानी किताबों के नहीं, उस के मानी अनुशासन के भी नहीं, उस के मानी वह दर्शन भी नहीं है जो कुछ वर्षों से हमारे पल्ले पड़ा हुआ है, उस के मानी स्वतन्त्रता भी नहीं है जिस ने हमें न रखने या

रुक सकने का स्वभाव दिया है। न वह न्याय की ऐसी तुला है कि जिस पर तुलते समय मानवता का रोम-रोम काँप उठे, न वह प्रजा-सत्ता की तरह ही है जो भिन्न-भिन्न आदर्शों को रखने वाले लोगों के एक या एक-सी पड़ी पेटियों के वोटों में गिनी जा सके। समझ तो समझ है, सूझ और स्फूर्ति उस की दो भुजाएँ है। संगठित शक्ति चाहे प्रतिभा की या चाहे सेना की हो, समझ तो नही कही जा सकती। समझ जर्मनी, चीन और रूस से उधार नही मिलेगी, सूझ शायद मिल भी जाये। इतिहास में कितनी ही घटनाएँ इस शान से बैठी है मानो उन्हे वहाँ बैठने का एकमात्र हक़ हो। वे यदि नयी नही हैं तो पुरानी भी नहीं पड़ती। इन घटनाओं को हमारी समझ की तटस्थता और औचित्य-पूर्णता अपेक्षित है।

क्या पागलपन है कि हम मान कर चलते है कि हर नर-नारी अच्छा या बुरा जन्म से पैदा होता है जब कि मानव या मानवी के अच्छे-बुरे होने का कारण हमारी शासन-व्यवस्था, सामाजिक क्षमता या विषमता है। हमारी समझ की ऐसी ही अवैज्ञानिक मान्यताएँ अकसर इतिहास मे विकृति उत्पन्न करती है।

लिबरल, लेबर या कंजरवेटिव अथवा काँग्रेस, समाजवादी या जनसंघी हम पीछे हैं, सब से प्रथम तो हम देश के इतिहास के सामने मस्तक झुकाने वाले है। अपने राज-नैतिक विश्वासों के गुलाम रह कर हम अपने देश या विश्व के इतिहास के साथ इन्साफ नहीं कर सकते। इतिहास धार्मिक विश्वासों की तरह जिद्दी, व्यापार की तरह निश्चित या अनिश्चित तथा भाग्य की तरह अस्पष्ट नहीं है। वह तो शीशियों में भरी हुई औषधि की तरह है जो स्पष्ट दीखती है, प्रत्यक्ष फल देती है किन्तु असर घट जाने पर या असर न रहने पर जिसे औषधि की तरह बदला नहीं जा सका।

इतिहासज्ञों को जब परस्पर एक-दूसरे के कथनों का महज कलाबाजी या महज उपन्यास अथवा कहानी का दोष लगाते हम पाते हैं तो पाठक की जिम्मेदारी बढ़ कर दूनी हो जाती है कि वह दोनों तरफ की बातों को ध्यान से सुने। हमें यह मानना चाहिए कि इतिहास में सत्य है किन्तु घटना या देश का सम्पूर्ण सत्य उस मे निवास नहीं कर सकता। घटनाएँ इतनी लम्बी-चौड़ी नहीं हो सकतीं कि उन मे सम्पूर्ण सत्य समा सके। यह देखना अत्यन्त आवश्यक है कि हम यह सावधानी रखें कि इतिहास के भरोसे हम कहीं साहित्य तो नही पढ़ रहे हैं। वह केवल घटनाओं का वर्णन तो नही है। हमारे हाथ कोई घटनाओं का रजिस्टर तो नहीं आ गया है। घटनाओं के साथ उनका विज्ञान होता है जो घटी घटनाओं के सत्यासत्य की जाँच करता चलता है। यह सत्य है कि जो घटनाओं का विज्ञान होगा वह मानव की रंगीन तबीयतों को न रुचेगा, न पचेगा। किन्तु केवल इसी लिए कोई घटनाओं की शोध करना क्यों छोड़ देगा? यदि घटनाओं का कुछ हिस्सा कला है अथवा दर्शन है तो घटनाओं के बीच

में भले ही अवतरित हो, इतिहास की दृष्टि में उस से घटनाओं का सत्य बनता बिगड़ता नहीं है। इतिहासज्ञ इतना सभ्य नहीं बनाया जा सकता और न उसे होना ही चाहिए कि वह मानव रुचि की भूख को देख देख कर घटनाओं का भोजन देने की मूर्खता करे।

इतिहास में लच्छेदार भाषा और चहकती हुई लेखन-पद्धति का उपयोग नहीं हो सकता। वहाँ तो सत्य स्वादी अनुमानों और क्रियाशील भू गामी सूत्रों का जागरण ही अधिक काम दे सकता है। जिन इतिहासों के शब्द मुहाफ़िज़-खानों के बस्तों के बाहर कभी न निकले हों उनका वहीं पड़े रह जाना अच्छा है। किन्तु बदलते हुए जमाने के मानव की रुचि के अनुकूल या प्रतिकूल होना अत्यन्त अश्लाघ्य है।

लोग पूछते हैं कि इतिहासज्ञ होना किसी मन का स्वभाव है, अथवा यह साहित्य का कोई प्रकार है? जी, यह फांसी के तख्ते पर चढ़ा ले जाने वाली एक उमंग-सी है जो अपने सिद्धान्तों के प्रतिकूल झुकने से इनकार करती है।

[नवम्बर १९६०]

अमृत-मन्थन : तीन बोध-कथाएँ

आचार्य रजनीश

●

● हम स्वयं को स्वीकारें

मैं एक दिन वन में था। वर्षा के दिन थे और वृक्षों से आनन्द फूटा पड़ता था। जो साथ थे उन से मैं ने कहा, "देखते हो, वृक्ष कितने आनन्दित हैं! क्यों? क्योंकि जो जो है, वह वही हो गया है। बीज हो कुछ और वृक्ष कुछ और होना चाहे तो फिर वन मे इतना आनन्द न रहे। वृक्षों को आदर्शों का कुछ पता नहीं इसी लिए उन की प्रकृति ने जो चाहा है, वे वही हो गये हैं। और धन्यता वहीं है जहाँ स्वरूप और स्वभाव के अनुकूल विकास है। मनुष्य पीड़ा मे है क्योंकि मनुष्य स्वयं के ही विरोध मे है। वह अपनी जड़ों से ही लड़ता है और जो है, सदा उस से अन्य होने के संघर्ष मे लगा रहता है। ऐसे वह स्वयं को तो खोता ही है, उस स्वर्ग को भी खो देता है जो कि सब का स्वरूपसिद्ध अधिकार है।"

मित्र, क्या यह उचित नहीं है कि तुम वही होना चाहो जो तुम हो सकते हो? क्या यह उचित नहीं है कि तुम स्वयं के अतिरिक्त और कुछ भी होने के सारे प्रयत्न छोड़ दो? उस वासना में ही सारे दु:खों का मूल स्रोत है। प्रत्येक व्यक्ति वही हो सकता है जो वह हो सकता है। क्योंकि बीज मे ही वृक्ष का पूरा होना छिपा होता है। अन्यथा होने की आकांक्षा विफलता ही ला सकती है। क्योंकि जो पहले से ही स्वय में छिपा नहीं है वह प्रकट कहाँ से होगा? जीवन तो उस की ही अभिव्यक्ति है जो जन्म मे ढँका और अप्रकट होता है। विकास मात्र अनावरण है। और जहाँ अप्रकट प्रकट नहीं हो पाता वहीं पीड़ा का आविर्भाव हो जाता है। जैसे कोई भी माँ अपने बच्चे को जीवन-भर गर्भ में ही लिये रहे तो असह्य और अवर्णनीय पीड़ा में पड़ जायेगी, वैसे ही वे लोग दु:ख में पड़ जाते हैं जो वह नहीं हो पाते जैसा कि होना उन की नियति थी। और मै तो प्रत्येक व्यक्ति को ऐसी ही दौड़ में देखता हूँ। सभी वह होना चाहते है जो वे नही है, नहो हो सकते हैं। अन्ततः परिणाम होता है कि व्यक्ति जो नहीं हो सकता वह तो नहीं ही हो पाता जो हो सकता था उस से वंचित अवश्य रह जाता है।

एक आदिवासियों का राजा पहली बार किसी बड़े शहर में गया था। वह अपना चित्र उतरवाना चाहता था। उसे एक स्टूडियो मे ले जाया गया। उस फ़ोटोग्राफ़र ने अपने द्वार पर एक तख्ती लगा रखी थी। उस पर

लिखा था : "मनपसन्द चित्र उतरवायें जैसे आप हैं : १० रुपये, जैसा आप सोचते हैं कि आप हैं : १५ रुपये, जैसा आप दूसरों को दीखना चाहते है : २० रुपये, और जैसे आप सोचते है कि आप होते : २५ रुपये। वह सीधा-सादा राजा इस से बहुत हैरान हुआ और पूछने लगा कि क्या पहले चित्र के अतिरिक्त दूसरे चित्रों को उतरवाने वाले व्यक्ति भी यहाँ आते हैं ? उसे बतलाया गया कि पहले चित्र को उतरवाने वाला व्यक्ति तो आज तक यहाँ नही आया है !

अब क्या मै आप से पूछ सकता हूँ कि आप उस फ़ोटोग्राफ़र से कौन-सा चित्र उतरवाना पसन्द करते ? आप का मन क्या कहता है ? क्या अन्तिम चित्र की कामना ही आप के मन में न होती ? किसी प्रकार की मजबूरी की बात और है, अन्यथा सच ही पहले चित्र को उतरवाना कौन पसन्द करेगा ? लेकिन उस सीधे-सादे राजा ने पहला चित्र ही उतरवाया था और कहा था : मैं तो किसी और का नहीं, अपना ही चित्र उतरवाने यहाँ आया हूँ।"

जीवन के द्वार पर भी ऐसी ही एक तख्ती सदा से लगी हुई है। मनुष्य बनाने के बहुत पहले ही ईश्वर ने उसे टाँग दिया था !

संसार मे जितना भी पाखण्ड है, वह स्वयं से अन्य होने की रुग्ण वासना से ही पैदा होता है। जब स्वयं से अन्य होने में विफलता हाथ आती है तो व्यक्ति फिर स्वयं से अन्य दीखने मे ही संलग्न हो जाता है। यही क्या पाखण्ड नहीं है ? और यदि वह इस में भी सफल न हो सका तो फिर विक्षिप्त हो जाता है। तब वह स्वयं को जो भी और जैसा भी मानना चाहता है, वैसा मानने को मुक्त होता है ! लेकिन पाखण्ड हो या पागलपन, दोनों की उत्पत्ति स्वयं को अस्वीकार करने से ही होती है। स्वस्थ व्यक्ति का पहला लक्षण स्वयं की स्वीकृति है। जीवन में वह अपना ही चित्र उतरवाने आता है; किसी और का नहीं। औरों के ढाँचों में स्वयं को ढालने के सब प्रयास अस्वस्थ चित्त की सूचनाएँ है। मनुष्य को सिखाये गये तथाकथित आदर्श और दूसरों के अनुकरण के लिए दी गयी प्रेरणाएँ उसे स्वयं को स्वीकार ही नहीं करने देती और तब उस की यात्रा प्रारम्भ से ही गलत दिशा मे गतिमान हो जाती है। इस भाँति की सभ्यता ने मनुष्य को एक महारोग की भाँति जकड़ लिया है। मनुष्य कितना कुरूप और अपंग हो गया है ? उस मे कुछ भी स्वस्थ और सहज नही है। क्यों ? क्योंकि संस्कृति और सभ्यता और शिक्षा के नाम पर उस की प्रकृति की निरन्तर हत्या की गयी है। इस षड्यन्त्र से यदि सजग न हुआ गया तो मनुष्य आमूलतः ही नष्ट हो सकता है। संस्कृति प्रकृति की हत्या नहीं, उस का विरोध नही, वह तो उस का विकास है। मानव व्यक्ति का भविष्य किसी बाह्य आदर्श से नहीं, वरन् अन्तरस्थ प्रकृति से ही निर्धारित हो सकता है। और तब एक ऐसे सहज और आन्तरिक अनुशासन का जन्म होता है जो स्वरूप को उस सीमा तक खोलता

और उघाडता है जहां सत्य का साक्षात् हो सके। इस लिए मैं कहता हूं स्वयं को चुनें, स्वयं को स्वीकारें, स्वयं को खोजें और विज्ञप्ति करें। स्वयं के अतिरिक्त कोई अन्य न किसी का आदर्श है, न हो सकता है। मित्र, अनुकरण आत्मघात है, और स्मरण रखें कि परतन्त्रता में परमात्मा कभी भी नहीं पाया जा सकता।

● मृत्यु से भागना असम्भव है

कैसा आश्चर्य है कि मनुष्य जन्म को तो स्वीकार करता है किन्तु मृत्यु को नहीं? जब कि जन्म और मृत्यु एक ही घटना के दो छोर हैं। जन्म में ही मृत्यु छिपी है। क्या जन्म मृत्यु का ही प्रारम्भ नहीं है? फिर मृत्यु की अस्वीकृति से भय पैदा होता है। भय से पलायन और भयभीत और भागा हुआ चित्त मृत्यु को समझने में असमर्थ हो जाता है। किन्तु कोई कितना ही भागे, मृत्यु से तो भागना असम्भव है। वह तो जन्म में ही उपस्थित हो गयी है। मृत्यु से भागा नहीं जा सकता वरन् सब भांति भाग कर अन्त में पाया जाता है कि मृत्यु में ही पहुंचना हो गया है।

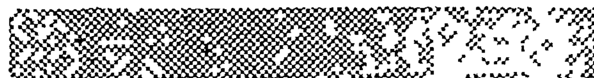
एक पुरानी कथा है। विष्णु शिव से मिलने कैलास आये थे। उन के वाहन हैं गरुड। वे विष्णु को उतार द्वार पर बाहर ही रुके थे तभी उन की दृष्टि तोरण पर बैठे भय से कांपते एक कपोत पर पड़ी। उन्होंने उस से भय का कारण पूछा। वह कपोत रोने लगा और बोला "अभी-अभी यमराज भीतर गये हैं। वे मुझे देख ठिठके, विस्मयपूर्वक निहारा और फिर मुसकरा कर गर्दन हिलाते हुए आगे बढ़ गये। उन की यह भेद भरी हंसी मेरी मृत्यु की निश्चित सूचना के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। मेरा अन्त निकट है।" और वह कपोत और जोर-जोर से रोने लगा। गरुड ने कहा "छि छि! तू व्यर्थ ही इतना भयातुर है। तू अभी युवा है, इसी लिए रोग से मरने की तेरी सम्भावना नहीं। रहा शत्रु का भय, सो आ मेरी पीठ पर बैठ। निमिष-मात्र में तुझे यहां से करोड़-करोड़ योजन दूर लोकालोक पर्वत पर पहुंचाये देता हूं जहां तेरे किसी शत्रु के होने की कोई सम्भावना ही नहीं है।" यह आश्वासन पा कपोत की जान में जान आयी। और निमिष मात्र में ही गरुड ने उसे ऐसी निर्जन उपत्यका में पहुंचा दिया जहां कि वह अजातशत्रु हो विचरण कर सकता था। किन्तु गरुड के लौटते ही उन की भेंट द्वार से निकलते यमराज से हुई। यमराज की दृष्टि तोरण पर थोड़ी ही देर पहले बैठे कपोत को खोज रही थी। गरुड ने हंस कर कहा "महाराज, वह कपोत अब यहां नहीं है। वह तो करोड़ों योजन दूर लोकालोक पर्वत पर निर्भय हो विचरण कर रहा है। मैं उसे अभी-अभी वहां छोड़ कर लौटा हूं।" यह सुन यमराज खूब हंसने लगे और बोले "तो आप ने उसे आखिर वहां पहुंचा ही दिया? मैं यही सोच तो उसे यहां देख विस्मित हुआ कि वह यहां कैसे? उसे तो थोड़े ही क्षणों बाद लोकालोक पर्वत पर मृत्यु के मुंह में जाना है।"

● संन्यास की परिभाषा

एक युवक आये थे। वे संन्यासी होने की तैयारी मे हैं। सब भाँति तैयार हो कर जल्दी ही वे संन्यास लेंगे। बहुत प्रसन्न थे क्योंकि तैयारी क़रीब-क़रीब पूरी होने आ रही है। उन की बातें सुनीं तो मैं हँसने लगा और उन से कहा : "संसार की तैयारियाँ मैं ने सुनी थीं। यह संन्यास की तैयारी क्या बला है ? क्या संन्यास के लिए भी कोई तैयारी और आयोजन करना होता है ? और ऐसा सुनियोजित संन्यास भी क्या संन्यास होगा ? क्या वह भी संसारी मन का ही विस्तार नहीं है ? संसार और संन्यास एक ही मन के आयाम नहीं है ? संसारी मन ही संन्यासी नही हो सकता है। संसार से संन्यास की ओर सम्परिवर्तन चित्त की आमूल क्रान्ति के बिना नहीं हो सकता। वह आमूल क्रान्ति ही संन्यास है। संन्यास न तो वेष-परिवर्तन है, न नाम-परिवर्तन, न गृह-परिवर्तन। वह तो है दृष्टि-परिवर्तन। वह तो है स्वयं के चित्त का समग्र परिवर्तन। उस क्रान्ति के लिए विचार की वे ही सरणियाँ काम नहीं देती है, जो कि संसार मे सफल है। संसार का गणित उस क्रान्ति के लिए न केवल व्यर्थ है अपितु विघ्न भी है। स्वप्न की नियमावलियाँ जैसे जागरण में नहीं चलती हैं, वैसे ही संसार के सत्य संन्यास मे—सत्य नही रह जाते है। संन्यास संसार के स्वप्न से जागरण ही तो है।"

फिर मै ने रुक कर उन युवक की ओर देखा। वे कुछ दुःखी-से मालूम होते थे। शायद मैं ने उन की तैयारियों को धक्का दे दिया था। और वे ऐसी आशा ले कर मेरे पास नहीं आये थे। बिना कुछ कहे ही वे जाने लगे तो मैं ने उन से कहा : "सुनो ! एक कहानी और सुने जाओ : एक सन्त थे आजर कैवान। एक व्यक्ति आधी रात में उन के पास आया और बोला : "हजरत, मै ने क़सम खायी है कि फ़ानी दुनिया के सारे ऐशो-इशरत छोड़ दूँगा, संसार के फ़न्दे को तोड़ने का मैं ने निश्चय ही कर लिया है," मैं होता तो उस से कहता : "पागल, जो क़सम खाता है, वह कमजोर होता है। और जो छोड़ने का निश्चय करता है, वह कभी नही छोड़ता और छोड़ भी दे तो फिर छोड़ने को ही पकड़ लेता है। त्याग अज्ञानी चित्त का संकल्प नहीं है। वह तो ज्ञान की सहज छाया है।" लेकिन मै तो वहाँ था नहीं ! थे कैवान। उन्होंने उस व्यक्ति से कहा : "तुम ने ठीक सोचा।" वह व्यक्ति प्रसन्न हो कर चला गया। फिर कुछ दिनों बाद आया और बोला : "मैं अभी गुदड़ी और फ़क़ीरी पोशाक बना रहा हूँ। सरो-सामान तैयार होते ही फक़ीर हो जाना है।" किन्तु इस बार कैवान भी न कह सके कि तुम ने ठीक सोचा है। उन्होंने कहा : "मित्र, सरो-सामान छोड़ने के लिए ही कोई दरवेश होता है और तू उसी को जुटाने के लिए परेशान है। जा अपनी दुनिया मे लौट जा, तू, अभी फ़क़ीरी के क़ाबिल नहीं है।" [जनवरी १९६८]

■ ■ ■



मेरे संस्मरण स्केच और रिपोर्ताज : पियास और लिबास

कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'

वृक्ष की तरह इस धरती पर मैं जन्मा और धरती के कलेजे का रस पी कर आकाश मे झूम उठा। आकाश मे मैं फूला और फला, पर इन फूलों मे धरती के ही हृदय का सौन्दर्य था और फलों मे धरती के हृदय का माधुर्य। इस लिए जब इन फलों का अर्घ्य और फलों का उपहार किसी को भेट करने का प्रश्न मेरे सामने उपस्थित हुआ तो मैं पल-भर को भी दुविधा में नही पड़ा, और मै ने उन्हे धरती माता के चरणों में मान और प्यार के साथ समर्पित कर दिया।

मैं जिस परिवार मे जन्मा उसे किसी भी दृष्टि से जनसाधारण कहा जा सकता है। माँ का मुझ पर कुछ अच्छा प्रभाव नही पडा। वे मेरे लिए मोम थीं, पर और सब के लिए इस्पात। मेरे नन्हे-से मन को जिस चरित्र ने सब से पहले प्रभावित किया वह मेरे शान्त, प्रेमी और सहिष्णु पिता का चरित्र था।

वे क़स्बे के एक साधारण कर्मकाण्डी ब्राह्मण थे। शिक्षा साधारण, धन-साधन शून्यता के समीप और सामाजिक स्थिति भी साधारण। पर उन के जीवन मे मानवीय महानता की ऐसी असाधारण दीप्ति थी कि उसे मेरा बचपन भी देख पाया। कुटुम्ब-पड़ोस

क़िला उदासीन भाव से इस वैभव की ओर देख रहा है। मेरे मन में आया किसी दिन लाल क़िला भी तो इसी उत्साह से बनाया गया होगा। मुग़ल साम्राज्य अपने इन सुदृढ़ और सुन्दर भवनों के कारण आज भी स्मरणीय है और अँगरेजी साम्राज्य अपने स्मृति-चिह्न निर्माण कर रहा है।

"हम इतिहास को पढ़ते हैं, पर उस से कुछ सीखते नही। यही कारण है कि वह अपने को बार-बार दोहराता है। राजपूतों का अध्याय समाप्त हुआ, मुसलमान आये और उन के बाद अँगरेज। आज यही अध्याय चल रहा है, पर कौन जानता है यह कितना लम्बा है। इतिहास के सभी अध्याय अपने वर्तमान में अखण्ड-अटल दीखते हैं, पर समय का प्रभाव इस अभिमान को मिथ्या प्रमाणित कर देता है। वर्तमान कितना मोहक है कि हमे भविष्य की ओर देखने ही नहीं देता।"

१९३५ में ही मैं ने एक रिपोतार्ज लिखा—'एक दिन की बात'। यह मेरे ही जीवन की एक घटना से सम्बन्धित है और इसे निश्चय ही संसार के सर्वश्रेष्ठ रिपोर्ताजों में रखा जा सकता है। १९३६ में लखनऊ में काँग्रेस पर मैं ने जो रिपोतार्ज दैनिक 'प्रताप' में लिखा उस के सम्बन्ध में स्वयं पण्डित नेहरू ने बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' से कहा, "तुम्हारे प्रतिनिधि से बढ कर सूक्ष्मदर्शी पत्रकार किसी भाषा के पास नहीं था।"

इस प्रकार १९३५-३६ में हिन्दी रिपोर्ताज का स्वरूप निश्चित रूप से निखर गया था, यह कहा जा सकता है। मेरा रिपोर्ताज लिखने का तरीक़ा यह रहा है कि उन्हे लिखने के लिए मैं बहुत अधिक नोट्स लेता हूँ और एक-एक चीज़ पर छोटी-से-छोटी प्रवृत्ति पर अपनी आँख लगाये रहता हूँ। फिर उस पर, खूब सोचता हूँ। उस के अर्थ, फलितार्थ फैलाता हूँ, उसे इतिहास की कड़ी और जीवन की लड़ी से गूँथता हूँ और तब लिखता हूँ। लिखते समय मैं अपने विषय के साथ इतना तल्लीन रहता हूँ कि मुझे यह भान ही नहीं रहता कि मैं इस समय वर्णनीय यात्रा उत्सव या घटना के बीच नहीं हूँ। यह तल्लीनता ही मेरी सफलता की मूल कुंजी है।

१९३२ मे फ़ैजाबाद जेल के मस्त वातावरण में मैं ने अपने मोती कुत्ते पर पहला स्केच लिखा—स्केच-रेखाचित्र। इस के बाद भी मैं ऐतिहासिक शहीदों पर रेखाचित्र लिखता रहा। पर ज्यों-ज्यों मेरी संस्मरण लिखने की प्रवृत्ति पुष्ट-विकसित होती गयी, रेखाचित्र लिखना मेरे लिए कठिन होता गया।

यह मेरे स्वभाव का एक रहस्य है, और राष्ट्रीय परिस्थिति का भी। १९४२ तक का समय राष्ट्रीय क्रान्ति का समय था। जोश जीवन की मुख्य प्रवृत्ति था, तो शहादत-बलिदान मुख्य प्रेरणा। स्वतन्त्रता कही दीखती न थी, पर कल्पनाओं पर छायी हुई थी। उन्ही घड़ियों मे वैसे रेखाचित्र लिखे जा सकते थे। पत्रों और अकसर तो समाचारों मे ही किसी बलिदानी चरित्र का कंकाल (पूर्ण व्यक्तित्व इतिहास मे सुरक्षित होगा, पर इतिहास मैं ने कहाँ पढ़ा है ?) हाथ आ जाता, तो मैं उस

मे अपने दिल को बेचैनी रख देता । वह तड़पने-फुदकने लगता, तो उस में अपना गरम खून भर देता । इस तरह वह एक सजीव चित्र बन जाता । वे दिन गये तो वे चित्र कहाँ ? उन्हें पढ़ कर आज भी रोमांच हो आता है आँखें छलक पड़ती हैं ।

फिर मेरा स्वभाव संस्कार कल्पनाशील नहीं । तभी मैं कवि न हो पाया । विद्वत्ता भी मेरे बाँट न आयी, तो मैं जीवन को पढ़ पाता हूँ—न ग्रन्थों के माध्यम से और न कल्पना के कैमरे से—जीवन को जीवन में पढ़ना ही मेरा स्वभाव है । इसी लिए मैं स्केच से हट कर संस्मरण में विकसित हुआ । फिर मेरा देशव्यापी सम्पर्क भी उस में सहायक था । पर इस का यह अर्थ नहीं कि मैं ने स्केच लिखना छोड़ दिया । हाँ, उस ने एक नयी सूरत ले ली—'नया जीवन' में लेखों के साथ लेखकों का लघु परिचय ।

श्रीमती अमृता प्रीतम का चित्र है यह—

"पहली बार देखा, तो अनजाने जाना, भले घर की बेटी है—स्वस्थ, सुकुमार, सलोनी । तभी सुना—यही है अमृता प्रीतम, पंजाबी कविता की कोयल ।

अमृता और यह ? इस सुकुमारता में आग की ये अठखेलियाँ ?

आँखें उस की बड़ी-बड़ी और खूब खुली कि दुनिया को भरपूर देखें, उस के होंठ कुछ इस तरह कि हथेली पर होंग लिये पूरी सख्ती से बँधी मुट्ठी, पेशानी पर बौद्धिकता की छाप कि देखने को सोचे विचारे, तो दृष्टि, संयम, चिंतन और अभिव्यक्ति । यही है कवयित्री अमृता का जीवन-परिचय ।

उस का सन्देश है पुराने से नये की ओर, युद्ध से शान्ति की ओर, द्वेष से प्यार की ओर—प्यार की ओर जैसे युग ने अपनी ही बाँसुरी उस के होंठों पर रख दी हो ।"

और यह है संक्षेप में मेरे संस्मरणों की बात—

१९२८ में मैं रणखण्डी गाँव के मुखिया श्री सुचेत सिंह के सम्पर्क में आया और उन के चरित्र से बेहद प्रभावित हुआ । यहाँ तक कि मैं ने उन पर एक लेख लिखा । यही मेरा पहला संस्मरण था । इस के बाद लिखा मैं ने अपने कस्बे की किम्वदन्तियों के आधार पर दूसरा संस्मरण 'मुल्हण मिश्र' । मुझे दोनों आज भी पसन्द हैं, पर उस समय के किसी सम्पादक ने उन्हें पसन्द नहीं किया ।

१९३२ की जेल-यात्रा में मैं ने सहारनपुर जेल के खेत पर बैठ कर लिखा अपने पिता जी का संस्मरण और फैजाबाद जेल में अशोक वृक्ष के नीचे बैठ कर 'भीरू खलीफा' । इन चारों में मेरी साधारण में असाधारण देखने की प्रवृत्ति का सुन्दर विकास हुआ और मैं ने इस दिशा में पूरी शक्ति से आगे बढ़ने का निश्चय कर लिया । इस निश्चय का अर्थ था परिश्रम । सच कहता हूँ मैं ने बहुत परिश्रम किया । दूसरे संस्मरण-लेखकों को खूब पढ़ा, नये-नये प्रयोग किये और अपने लिए एक राह निकाल ली ।

अब मेरे जीवन-परिचय व्यक्ति के जीवन का पूरा विकास अपने में लिये होते हैं । उन्हें जीवन को मोड़ और उभार देने वाली

घटनाओं का प्रामाणिक कोश बना देता हूँ मैं। इन घटनाओं को खोजने, पाने में मै बहुत परिश्रम करता हूँ, उस में काफी समय लगाता हूँ और अकसर उन घटनाओं को सब से अधिक महत्त्व देता हूँ, जिन्हें दूसरे लेखक कुछ भी महत्त्व न दें। मैं व्यक्ति के बाहर कम और भीतर अधिक झाँकता-आँकता हूँ और उन मोड़ों की खोज करता हूँ, जहाँ से उस की साधारणता असाधारणता की ओर मुड़ी और मेरी विशिष्टता यह है कि मै जिन राहों, आधारों से व्यक्ति की विशिष्टता तक पहुँचता हूँ, उन्हे ज्यों का त्यों पाठक को दे देता हूँ। इस से लाभ यह होता है कि मै पाठक को अपना प्रमाणपत्र नहीं देता, किसी की विशिष्टता का घोषणा-पत्र नही सुनाता, अपनी जानकारी को पाठक की निजी जानकारी बना देता हूँ। इस प्रकार पाठक व्यक्ति के सम्बन्ध मे मेरी राय मानने के मानसिक बोझ से बच जाता है और स्वयं अपनी राय बनाने और रखने के आनन्द से भर जाता है। मेरे संस्मरणों के प्रभाव का यही रहस्य है।

फिर मै घटनाओं का संग्रह ही तो नहीं करता। तब तो वे पटवारी की खतौनी-खसरा हो जायें। मै उन घटनाओं को अपने जीवन की गरमी मे तपा कर, अपनी आत्मीयता के ताजे रक्त से जोड़ देता हूँ और विश्लेषण-चिन्तन से इस तरह रँग देता हूँ, उन मे अपने को इस तरह उँड़ेल देता हूँ कि वे धड़कती-बोलती घटनाएँ बन जाती हैं और परिचय जीवन-परिचय हो जाता है।

कम से कम समय मे पूरे जीवन का दर्शन करने के प्रयोग भी मै ने किये हैं। श्री राजेन्द्रकुमार जैन एक उत्सव के सभापति के रूप में दिन के १२ बजे से रात के ११ बजे तक मेरे सामने रहे, पर इन ११ घंटों का जो संस्मरण है उस में उन के पूरे व्यक्तित्व का रोआँ-रोआँ खिंच कर खिल उठा है। और सर सेठ हुकमचन्द के अभिनन्दन-ग्रन्थ में जो संस्मरण है, वह ३-४ घंटों का ही दर्शन है, पर उस विशाल ग्रन्थ की सर्वोत्तम जीवन-झाँकी माना गया था। बस इतना और कि अपनी संस्मरण शैली में श्री बनारसीदास चतुर्वेदी के आरम्भ, श्री श्रीराम शर्मा की प्रवाह शक्ति, श्री श्रीरामनाथ 'सुमन' के विश्लेषण कौशल और श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति की घटना-शृंखला को मैं ने इस तरह पचाया कि मेरी अपनी चीज हो गयी।

मेरे अनेक मित्रों की शिकायत है कि मेरे संस्मरणों में दोष-दर्शन की कमी है। मानता हूँ, पर इस निवेदन के साथ कि पहले तो मेरी यह निजी कमज़ोरी है कि मुझे दोष कम दीखते है और दीख भी जाते हैं, तो बहुत देर याद नहीं रहते। दूसरे जब मैं व्यक्ति मे बिखरे दोषों की जड़ देखता हूँ, तो वे अकसर उस के नहो, परिस्थितियो के होते हैं। बस मै गुण ही गुण ले दोषों पर इशारा-भर कर के रह जाता हूँ। फिर इन लेखों का उद्देश्य व्यक्ति के गुणों को प्रेरक रूप में दूसरों तक पहुँचाना होता है—मुझे अपनी प्रचारकता स्वीकार है, यदि निर्माण की यह वृत्ति प्रचारकता है—इस स्थिति मे दोषों में उतरना, जो सब में है ही, मेरे उद्देश्य का घातक भी

तो हूँ। यह सब कह कर भी मैं मान लेता हूँ कि मैं व्यक्ति की गुण गाथा का ही नम्र निरीक्षक हूँ और या अपने में अपूर्ण हूँ।

श्रीमती रमारानी जैन की शिकायत है कि "मैं कई बार अतिशयोक्ति कर जाता हूँ और कभी-कभी यह भी होता है कि सन्तुलन नही रह जाता।" मेरा निवेदन है कुमारी प्रेम आलीवर माहित्यरत्न के विश्लेषण के अनुसार—"दोष मुझे छोटे हो कर दीखते है और गुण बडे हो कर।" ऐसी स्थिति में अतिशयोक्ति का हो जाना सम्भव है और कभी-कभी सन्तुलन का बिगड जाना भी, पर अपने आदर्श श्री गणेशशंकर 'विद्यार्थी' के जीवन से दीक्षामन्त्र में मिली साहित्यिक की ईमानदारी को पूरी तरह सुरक्षित रखते हुए कहना हूँ कि जानबूझ कर मैं ने कभी कण-भर भी अतिशयोक्ति नही की और क्षण भर भी सन्तुलन नही बिगडने दिया। हाँ, यह मुझे मालूम है कि समाज ने जिन्हें अनुचित रूप से क्रूर निन्दा का शिकार बनाया या घातक उपेक्षा की, उन्हें ममता से गोद में उठाते उठाते मैं ने कभी-कभी उत्साह से कन्धो पर जरूर उठा लिया है, पर यह कभी किसी हलके भाव से नही, सदा उस चोट-कचोट से उन्हें बचाने के लिए ही।

[अगस्त १९५७]

मैं कैसे लिखता हूँ

रामवृक्ष बेनीपुरी



कुरसी टेबल पर लिखना मुझे पसन्द नही। चौकी हो, उस पर गद्दा हो, साफ चादर हो, तकिया हो, जिसे छाती से चिपकाये रहूँ—इस तरह अधलेटे-अधलेटे लिखना मुझे पसन्द है। सामने पैड हो, वह भी बिना रूल का हो तो और अच्छा। बन्धन मे रहना या लकीरों पर चलना मुझे कभी पसन्द नही आया।

लिखते समय मेरे विचारों और मेरी लेखनी मे होड़-सी लग जाती है—विचार जैसे चेल्हवा मछली—तड़पती, उछलती, चमकती, लेखनी जैसे जाल, छोटे घेरे का, कच्चे सूत का। जाल मे आने से पहले ही माँझी को ललचा कर, जैसे मछली निकल भागना चाहती हो किन्तु माँझी उसे छोड़े तो कैसे? इस लिए बहुत तेज लिखता हूँ। इस तेज रफ्तारी के कारण जब होल्डर-रोशनाई से लिखता रहा, बड़ी दिक्कत होती थी। अब शेफर्स फाउन्टेनपेन से लिखा करता हूँ—सर-सर, सर-सर।

और लिखते समय सिगरेट का टिन हो तथा पान के कुछ बीड़े। जब सिगरेट का धुआँ गिर्दाब बनाता हुआ ऊपर उठता है तब मेरी वीणापाणि उस पर थिरकती हुई पधारती है। और जब पान के बीड़े मुँह मे घुलते हैं तो जैसे हृदय की सारी अनुभूतियाँ पिघल कर लेखनी की राह से कागज पर मूर्त्त रूप धारण करती जा रही हैं।

अच्छी चीजें या तो मै ने भोर में लिखी है या निस्तब्ध रात्रि में। भोर में देर से उठता हूँ और डट कर जलखई खा कर लिखने बैठ जाता हूँ और एक सुर मे तीन-चार घंटे तक लिखता जाता हूँ। किन्तु यह अपने कलाकार बेनीपुरी के बारे में कह रहा हूँ, पत्रकार बेनीपुरी तो दफ़्तर के हो-हल्ले में लिखा करता है। और ज्यों ही कुछ चीज तैयार हुई, मित्रों को सुनाये बगैर जैसे मेरे पेट का पानी नहीं पचता।

मौसम के हिसाब से मुझे बरसात पसन्द है। जाड़े मे प्रतिभा जैसे सिकुड़ जाती है और गरमी में फैल कर बिखर जाती है। बसन्त की रंगीनी मे सब-कुछ भूल जाता हूँ और शरद् की रजतिमा मुझ मे अजीब मुग्धता ला देती है। बस, मै अपने फ़ार्म मे रहता हूँ तो बरसात मे। कालिदास का 'मेघदूत' आषाढ़ मे शुरू हुआ था, मेरी 'अम्बपाली' सावन मे और उस की दो पृष्ठ की भूमिका के लिए तीन सावनों की प्रतीक्षा करनी पड़ी थी मुझे।

जब मै गति मे होता हूँ, तो मेरे हृदय और मस्तिष्क दोनों गति मे होते हैं। पल-

पर बदलने वाली दृश्यावली और परिस्थितियाँ जैसे मेरी प्रतिभा को पर दे देती हैं। अपनी सभी सुन्दर कला-कृतियों की रूप रेखाएँ सफर ही में तैयार की हैं मैं ने। गंगा पार करने समय जब-जब एकाध घंटे के लिए जहाज पर रहा हूँ, किसी-न-किसी सुंदर चीज की कल्पना मैं ने की ही है। उस समय उसे अपने मस्तिष्क के किसी कोने में डाल लेता हूँ, फिर जब उस पर लेखनी उठाता हूँ तो आश्चर्य म पाता हूँ कि मस्तिष्क ने मेरी धरोहर को कितना सुरक्षित रखा है। पैदल चलते समय भी मेरे मन में तरह-तरह की बातें उठा करती है।

पहले किसी खास प्रसंग, घटना या दृश्य से स्फुरण पा कर ही मैं लिखता था किन्तु अब तो लिखना आदत में शुमार हो चुका है। कुछ न लिखूँ तो अभाव अनुभव करने लगता हूँ जैसे बिना लिखे रह न सकूँ ऐसी हालत हो जाती है। और, मेरे मस्तिष्क में भिन्न-भिन्न यात्राओं में संचित इतनी धरोहर रखी है कि मैं सात जन्म लिखा करूँ तब भी वे शायद खाली न हों। लगभग ६५ पुस्तकें लिख जाने के बाद भी कम-से-कम पचास छोटे बड़े स्केच दो दर्जन कहानी और एकांकी, एक दर्जन नाटक, आधे दर्जन उपन्यास मेरे मस्तिष्क में खाव-खाँव मचाये रहते हैं।

क्षिप्र वेग से लिखने के कारण शब्दों के चुनने और मुहावरों के बनाने की ओर मैं ने कभी ध्यान नहीं दिया। तो भी अनायास ऐसे शब्द और मुहावरे आ जाया करते हैं, जिन्हें देख कर मैं स्वयं आश्चर्य में पड़ जाया करता हूँ। लिखना शुरू नहीं किया कि नये-नये विचार, नये-नये मुहावरों और शब्दों में सज-धज कर, मेरी कलम की नोक में अनायास उतरने लगते हैं। सच कहता हूँ, अपनी रचनाओं ने मुझे कम विस्मित नहीं किया है।

स्केच, नाटक कहानी या उपन्यास लिखने के समय मन-ही-मन ढाँचे बनाये जरूर, लेकिन जब समाप्त किया, वे उन ढाँचों से बहुत दूर पड़ गये थे। उन के पात्र या पात्रियाँ जैसे मुझ से अपनी बात लिखवा रहे हों जब तक, मानो वे मुझे कहते हों, मैं तुम्हारे मस्तिष्क के गर्भ में पलता रहा, तुम्हारा रहा, अब जब बाहर आया तो मुझे अपना विकास आप करने दो। मेरी बुधिया, मेरा बलदेव सिंह, मेरी अम्बपाली, मेरी मधुमिता वही नहीं हैं, जिन को कल्पना-मूर्तियाँ पहले तैयार कर ली थीं। ये मेरी मानसिक संतानें आप बनी हैं। मैं ने उन की वृद्धि में मदद भर कर दी है।

'अम्बपाली' में जब अरुणध्वज की मृत्यु के बाद मधूलिका जाने लगी और बोली, "मैं चली अम्बे, मैं ने इस की जिन्दगी ढोयी अब तू इस की लाश ढो"—"हाँ जो जिन्दगी नहीं ढोता उसे लाश ढोनी ही पड़ती है अम्बे।" तो मैं सच कहता हूँ यह लिख जाने के बाद मैं स्वयं विस्मय विमुग्ध बन गया था। मधूलिका यह भोली लड़की, मैं ने तो उस का निर्माण किया था अम्बपाली के चरित्र में रंग भरने के लिए, यहाँ आ कर खुद एक चरित्र बन गयी। तब से सारा नाटक उस के इस कथन पर ही चक्कर काटता रहा। और

जब अम्बपाली ने कहा, "मधु, आह, तू न जान पाती कि मैं ने ज़िन्दगी भी लाश ही की तरह ढोयी है।" तब तो मुझे ऐसा लगा कि कलाकार एक यन्त्र-मात्र होता है, उस की कलाकृतियाँ उसे जैसा चाहें नचा सकती हैं।

यह बात मैं ने लेखों के बारे में भी पायी है। मैं ने जो अच्छे लेख लिखे, सम्पादकीय टिप्पणियाँ तक, वे भी कुछ इसी तरह लिखे गये। थोड़ी देर सोचा, एक शीर्षक ठीक किया, फिर लिखना शुरू किया—बस, उस शीर्षक के इर्द-गिर्द एक स्तूप-सा तैयार होता गया। सोच-समझ कर मैं ने उस की नींव-भर डाली थी, सारी इमारत तो आप ही आप तैयार हुई। हाँ, मै मानता हूँ, असली चीज नींव ही है—किन्तु नींव ही इमारत नही है, यह भी तो एक प्रकट सत्य है।

मेरी एक शैली है और वह बहुत ही ज़ोरदार है, ऐसा प्रायः कहा जाता है। श्रद्धेय मैथिलीशरण जी ने एक बार कहा था: गणेश जी (स्वर्गीय गणेशशंकर विद्यार्थी) के बाद आप ही की भाषा में मैं ने वह जोर पाया। सोचना यह है कि वह जोर गणेश जी की भाषा में कहाँ से आया था, और फिर वह मेरी भाषा में कहाँ से आ गया। शैली जीवन से पृथक् कोई वस्तु नहीं है। गणेश जी की शैली का स्रोत उन का बलिदानी जीवन है, मेरी शैली का स्रोत मेरा तूफ़ानी जीवन रहा है। मेरी शैली में जो प्रवाह है, गति है, जोर है, वह मेरी ज़िन्दगी का है। मै ने अपना यौवन तूफ़ानों में बिताया है। इस लिए आप उस में हवा के वे झोंके पाते हैं जो बड़े-बड़े वृक्षों को उखाड़ दें, बिजली की वह चमक देखते हैं जो आँखों को चकाचौंध में डाल दे। मानता हूँ उस में गर्द-गुबार भी है—वहाँ आप का बूढ़ा व्याकरण पनाह माँगता है, वहाँ लँगड़े मुहावरे लुढ़कते दीखते हैं—किन्तु इस में मेरा क्या क़सूर? गति और गर्द साथ-साथ चलते हैं।

मेरी परेशानी तो यह रही है कि अपने भीतर के तूफान को मैं काग़ज़ पर सही उतार न सका। आँधी हवा का झोंका बन कर रह गयी, बिजली चिनगारी में समा गयी। आह, हमारे शब्दों में कितनी हीनता है, कितना अभाव है। वे अब तक न विचारों को सही रूप में प्रकट कर पाते हैं, न भावनाओं को। बोलने के समय तो कुछ काम भी चल जाता है—शब्दों की हीनता को हम चेहरे की भाव-भंगिमा से हाथों के इशारे से, स्वर के उतार-चढ़ाव से कुछ-कुछ ढँकने की कोशिश करते हैं। उजले तुनुक काग़ज़ पर ज्वालामुखी का विस्फोट प्रकट करना, काली स्याही से इन्द्र-धनुष की रंगीनियाँ चित्रित करना—कितना कठिन है। इसी लिए कलाकार नये शब्द गढता है, नये मुहावरे बनाता है, व्याकरण को आसमान में फेंक देता है।

जैसा कह चुका हूँ, लिखने के समय मैं शब्दों के चुनाव पर ध्यान नहीं देता। अनायास जो शब्द आते हैं, मैं लेता जाता हूँ। और मैं अपने शब्दों की वफ़ादारी का क़ायल हूँ: जैसा प्रसंग वैसे शब्द आ जाते हैं। हाँ, शहरों के शब्दों के बनावटी रूप पर मैं ने गाँवों की बोली के भोलेपन को हमेशा तर-

जोड़ दी है। ग्रामीण शब्दों और मुहावरों का मैं ने भरपूर प्रयोग किया है। एक-एक शब्द, एक पूरे चित्र का प्रतिनिधित्व करता है। एक-एक मुहावरा—एक पूरी दुनिया छिपी है उस में।

एक मित्र ने एक बार कहा था—बेनीपुरी जी फुलस्टाप और कामा बोलते हैं। सच, बोलने के समय जो काम हम भाव भंगिमा से लेते हैं, लिखने के समय वही विराम चिह्नों से लेना होता है। मैं लिखते समय इन चिह्नों से खूब काम लेता हूँ और मैं ने देखा है, इन के प्रयोग से चीजें चमक उठती हैं। फिर जिस तरह मैं पेंचीदे वाक्यों से भागता हूँ, उसी तरह बड़े-बड़े पैरेग्राफ से भी। एक शब्द का भी मैं ने वाक्य लिखा है। हाँ, एक शब्द एक पूरे चित्र को दे सकता है, जो एक वाक्य का काम है। यों ही एक पंक्ति के पैराग्राफों की भी भरमार मेरी रचना में है। छोटे-छोटे शब्द, छोटे-छोटे वाक्य, छोटे-छोटे पैराग्राफ़—देखने में सुंदर, पढ़ने में आसान, समझने में कोई दिक्कत नहीं। 'नावक' के तीर छोटे होते हैं, किन्तु घाव गम्भीर करते हैं। 'नावक' के तीर के एकमात्र अधिकारी 'बिहारीलाल' ही नहीं थे, शायद कोई एक जमाना कहेगा, किसी जमाने में कोई बेनीपुरी भी था।

[अगस्त १९५७]

मेरी संस्मरण कला :-यदि वह कला है

श्रीरामनाथ 'सुमन'



पर मैं आखिर क्या लिखूँ ? मै ने कभी नहीं सोचा कि मेरे संस्मरणों में भी कोई कला है। मै ने कोरे संस्मरण बहुत कम लिखे हैं— एकाकी संस्मरण, एक उच्छ्वास, स्मृति की डालियो से टप-टप झरते हुए पारिजात जहाँ कला के सोहाग के बन्दनवार बन जाते हैं; घूँघट से छन कर कुछ आता है, देखा और अदेखा, बोल कर भी अबोला-सा, रहस्य के एक आभास की तरह, वैसे संस्मरण लिखे भी तो केवल पढ़ कर फाड़ देने के लिए। जुही की शरमाई कलियों की मुसकराहट से लदी प्रभाती को जानता हूँ पर उस के झोंके केवल हृदय की घाटियों मे ही चलते हैं। वहीं के लिए वे हैं। बाहर वे नहीं आ पाते।

तब मै ने संस्मरण लिखे तो जरूर है, अनेक रूपों में लिखे है। एकाकी अन्तर से चू पड़े फूलों की तरह नही, जीवन के वटवृक्ष की निकली शाखाओ की भाँति, जो व्यक्ति के व्यक्तित्व को प्रत्यक्ष करते है। ऊपर से मौन वालुका भूमि की भाँति फैले जीवन में एक बिन्दु पर सतह को फाड़ कर जो एक सोता फूट उठता है, जैसे जीवन के शत-शत ननु-नच और निषेधों को ठोकर मार कर यौवन के चरण पार लगा देते है, कुछ इसी तरह के संस्मरण है मेरे, जिन से व्यक्ति का हार्द अनुबन्ध रहा है, जिसे हम देख सकते है। तब वे संस्मरण जीवन के विश्लेषण और गहराइयों से आते है और बताते हैं कि इस व्यक्ति का दिल यहाँ है, इस के व्यक्तित्व की शोभा यह है और छिद्र ये है। मानो वे व्यक्ति को समूचा उलीच कर हमारे सामने रख देने के लिए हैं। इसी लिए हमारे अधिकाश संस्मरण व्यक्ति की जीवन-रेखाओं से सम्बद्ध है। वे हमारी जीवनी-कला के अंग है। यों सचमुच तो जीवन-रेखांकन कला मे वे समाहित है और उस क्षेत्र में भी हैरल्ड लास्की और निकल्सन के रेखाचित्रों (स्केचेज) से उन मे भिन्नता है।

इसी लिए इन संस्मरणात्मक रेखाचित्रों के सम्बन्ध मे लोगों की प्रतिक्रिया भिन्न-भिन्न है। वर्षो हुए, श्री नन्ददुलारे वाजपेयी ने उन्हे लास्की के चित्रणों से भी श्रेष्ठ बताया था और श्री वनारसीदास चतुर्वेदी ने कुछ यों कहा कि वे विशद विवरणों से उलझ जाते है। मै कुछ

दूसरे ढग पर सोचता हूँ। मनुष्य के लम्बे-चौडे शरीर में हृदय बहुत थोडा स्थान घेरता है, फिर वह ऊपर से अदृश्य भी है। मैं करता यह हूँ कि जीवन के विशद कैनवेस पर पहले शरीर के चतुर्दिक् फैले ब्यौरे (डीटेल्स) देता हूँ। फिर उस ब्यौरे के बीच उन सब का प्रेरक मध्य विन्दु कहाँ है, हृदय कहाँ है, इस पर सारा ध्यान केन्द्रित कर देता हूँ—वह विन्दु जहाँ से जीवन का स्रोत वह कर उस व्यक्ति के व्यक्तित्व की विशिष्ट रेखाएँ बनाता है, उसे एक विशिष्टता प्रदान करता है। इस लिए सस्मरण भी कुछ ऐसे ही चुनता हूँ, जो पाठक को उस मूल स्रोत तक धीरे धीरे अग्रसर करते है जहाँ से फिर वह लेखक के साथ ही व्यक्ति के समूचे व्यक्तित्व के अन्तराल में प्रवेश कर सके। 'ऐटरेण्टम'—स्फुट—सस्मरण शायद कभी लिखे भी हो, पर उन में मेरी कोई कला नही, न उन मे मेरा प्रतिनिधित्व है।

कुछ उदाहरण दे कर अपनी वात स्पष्ट करूँ।

भारतीय राजनीति में स्व० महामना मालवीय का एक विशिष्ट स्थान है। उन की देशभक्ति, उन की वाग्मिता, उन की कोमलता, उन्हें 'घोंघों एव ककरो के बीच ग्रैनाइट की दृढ चट्टान की भाँति' सामने रखती है। पर जब हम उन के जीवन का गहरा अध्ययन करते हैं तो उन के जीवन में परस्पर विरोधी तत्त्वों का अद्भुत मिश्रण पाते हैं। इस का रहस्य क्या है? मालवीय जी का जीवन जिस मेरुदण्ड पर खडा है उस का तत्त्व क्या है? मेरा लिखा उन का 'प्रथम दर्शन' सक्षेप में यों है—

"ऊपर से नीचे तक स्वच्छ धवल वस्त्रों से सज्जित, सिर पर वही पेटेंट साफ़ा, ब्राह्मण का विनम्र पर प्राचीनता से दबा हुआ रूढि-प्रेमी मुख, ललाट पर चन्दन की सुन्दर बिन्दी, एकहरा बदन, जैसे प्राचीन युग का कोई सात्त्विक ब्राह्मण, युग-युग से सचित हिन्दू सस्कृति के गुण-दोष दोनों का बोझ लिये हुए, सामने आ कर खडा हो गया हो।" इसी रूप में पहली बार मालवीय जी को १९१७ या '१८ में देखा था।

उन की सारी बुराई-भलाई इसी बात में है कि वे पारम्परिक ब्राह्मणत्व के जहाँ दया के साथ कट्टरता है, क्षमा के साथ ब्रह्मदण्ड है, वरदान के साथ शाप है। और आत्म विरोध के लिए वाल्ट ह्विटमैन के शब्दों में उन का जीवन उत्तर देता है "Do I contradict myself? Very well, I contradict myself I contain multitudes"

जब मालवीय जी के जीवन के विविध सस्मरण उन की विविधता के बीच इस केन्द्रीय जीवन सत्य के चतुर्दिक् घूमते है और उन में जो अतीत का प्रेम, शारीरिक एव मानसिक पवित्रता, दया, समझौते की शक्ति और देशप्रेम या उन सब की कुजी हमें मिल जाती है।

स्व० मोतीलाल जी का विश्लेषण करते हुए मैं ने लिखा—

"आत्म विश्वास उन की पहली विशेषता है। भावुकता से उत्पन्न आत्म विश्वास नहीं,

कूट राजनीतिज्ञ का गूढ़ आत्मविश्वास। सैकड़ों वर्ष पूर्व देकार्ते ने कहा था, 'मैं सन्देह, शंका, करता हूँ, इसी लिए वर्तमान हूँ।' मोतीलाल जी का व्यक्तित्व कहता है, 'चूँकि मैं हूँ, इसी लिए अपने अन्दर विश्वास रखता हूँ।' कोई सिद्धान्त नहीं, कोई सूत्र नहीं। मार्ग से उन्हें मोह नहीं। एक वीर खिलाड़ी की तरह खेलते और हँसते हैं। उन के नियम स्वयं उन के बनाये हैं। उन के जीवन में कोई अतीत नहीं है--कोई बीता, गुज़रा हुआ कल वहाँ नहीं दिखाई देता। सब वर्तमान काल है, आज ही आज है। वह केवल अपनी प्रकृति के क़ानून को मानने वाले राजपुरुष हैं। नम्रता की उन मे बड़ी कमी है, पर इस के न रहने से ही वह वह हुए जो हैं। शायद ही किसी दूसरे नेता ने अपने विरोधियों को इतनी निर्दयता एवं उपेक्षा के साथ अपने रास्तों से अलग हटाया होगा। ....उन की ज़बान एक तीव्र अस्त्र है। उन के व्यंग्य अपने विष के कारण ही अमर हुए हैं।... उन में जो राजसिक अहम्मन्यता है वह उन के लिए व्यर्थ नहीं है। उन के लिए उस का कुछ अर्थ, कुछ उद्देश्य है। वह युद्धकला-निपुण पुरुष के हाथ मे शक्तिमान अस्त्र है। ....अपनी बात के बड़े कट्टर। उन की स्वीकारोक्ति ब्राह्मण की स्वीकारोक्ति नहीं, क्षत्रिय की प्रतिज्ञा होती है..."

लाला लाजपतराय अपनी देशभक्ति, भावुकता के साथ जनरुचि को देख कर चलने वाले नेता थे। मै ने उन का एक चित्र दिया है--

'हम भाई-भाई की तरह रहेंगे'--ज़ोर से भीड़ कहती है।

'रहेंगे क्या, हम भाई हैं ही,'--अपने मुसकराते हुए पंजाबी चेहरे के साथ, लाजपत राय कहते हैं।

चन्द दिनों बाद--'हम भाई नहीं हो सकते,' भीड़ उतने ही जोश के साथ सिर हिला कर कहती है।

'एकता की बात ही करना व्यर्थ है'--पंजाब का शेर दहाड़ता है।

वह राजनीति में सदा शुद्ध तत्काल के प्राणी थे। ....उन का जीवन देश के प्रत्येक राजनीतिक प्रवाह को देख कर प्रश्न करता है--'क्या समय इस के उपयुक्त है? क्या इस में सफलता होगी?' यदि विश्वास हो गया कि सफलता इधर है तो लाला जी को आप उधर पायेंगे।--मुहम्मद अली के शब्दों में वह एक 'क्विकचेंज आर्टिस्ट' थे।"

मौलाना आज़ाद मुसलमान होने के कारण अनेक अवसरों पर अविश्वास-भाजन हुए हैं। वर्षों हुए मैं ने उन का एक चित्र दिया था--

"पास का दीपक बुझ गया है। क्या अन्दर जो आशा का दीपक है, वह भी बुझ जायेगा?--सहसा दृष्टि-सामने जाती है। तूफ़ानों के बीच एक चोटी अचल-सी है। जो कुछ हो रहा है वह मानो उस के लिए नहीं है। बिजलियाँ उस का उपहास करती हैं, हवाएँ उस से टकराती है, बादल उस पर गहरी वर्षा करते है और उसे घेर लेते हैं, पर वह है कि सिर उठाये, चिरन्तन दृढ़ता के

प्रतीक-सी दायें-बायें आगे-पीछे के इन हास्यास्पद प्रयत्नों पर मुसकराती-सी खड़ी है।

'सतपुड़ा के अंचल में बैठ कर एक दिन मैं ने यह दृश्य देखा था जिसे भूलता नहीं, और मौलाना आजाद को देखता हूँ तो मानो उसी दृश्य को देखता हूँ।"

जवाहरलाल एक सिल्हुएट—

"एक तीर-सा लक्ष्य-वेध के लिए आज भी व्याकुल, बात-वीर ही नहीं कार्य-शूर भी, दीर्घकालिक पराधीनता के कुपरिणामों का फोड़ा जिसे बेचैन किये है, और गरीबी जिसे चुभती है—ऐसा, एक सारो जिन्दादिली के साथ जीवित व्यक्ति : यह जवाहलाल है। प्रतिक्षण चुभने वाली सर्वसाधारण की गरीबी और उस के लिए संसार में हो रहे आर्थिक प्रयत्न के अध्ययन से प्राप्त जिस के हृदय की गरमी के सामने, इस युग के प्रतिक्षण चल रहे भीषण शोषण ने बर्फ़ की एक दीवार खड़ी करनी चाही है, ऐसे जवाहरलाल है। जिस में अपना देश दूसरे देशों की हलचलों की पृष्ठभूमि पर रख कर देखने की आदत है, और जिस ने भारतीय राजनीति को अन्तर्राष्ट्रीयता का प्रकाश प्रदान किया है, ऐसे जवाहरलाल हैं।

आग का जलता हुआ पिण्ड आप ने देखा है ? पिण्ड वह जिस की कालिमा जलने में नष्ट हो गयी है और जिस में धुआँ नहीं है, जिस में ज्वाला है पर प्रकाश भी है और जो न केवल हमारे सर्द होते हुए दिलों को गरमी देता है वरन् इस निराशा के अन्धकार में ध्रुवतारे-सा अपने प्रकाश से हमें अपनी ओर खींचता है। एक आग जो दिलों के दामन को छूती और उसे आग कर देती है, एक व्यक्तित्व जो खींचता है और उठाता है, एक दिन जिस में बचपन की लोच एवं यौवन की समाजशीलता है, एक यौवन जो क्षण-भर में खीझ और क्रोध से भर जाता है और दूसरे क्षण पिघल उठता है, जो मरण को प्रतिक्षण जीवन में बदल रहा है—ऐसा व्यक्ति यह जवाहरलाल हैं।"

जीवन के अन्य पहलुओं में भी मैं अपने रेखाचित्रों के अनेकविध उदाहरण दे सकता हूँ। एक पति, एक आधुनिका, एक श्रद्धामयी अशिक्षिता, एक सास, एक नवोढ़ा, एक क्लर्क। सर्वत्र मेरी कला की गठन वही है। सारी बात को मै संक्षिप्त सूत्रों मे कहना चाहूँ तो यों कहूँ—

१. मेरे संस्मरण मेरी रेखाचित्रांकन कला या शब्दचित्रांकन कला के अंग हैं।

२. वे जीवन-वृक्ष के पल्लवों की भाँति मूल को प्राणवायु देते हैं।

३. शब्दचित्र जिस केन्द्रीय सत्य या बिन्दु को ले कर है उसे आकृति प्रदान करता है।

४. वे आकाश में दूर उड़ते पतंग की भाँति जीवन-क्षितिज के विविध स्तरों को पार करते हैं पर सदा कलाकार के हाथ की डोर से निर्देश पाते हैं और उन के व्यापक पर्यवेक्षण को जब चाहे एक सतह पर खींच कर लाया जा सकता है।

५. इस प्रकार उन मे विशदता होते हुए भी केन्द्रकरण है, विविधता होते हुए भी एकरूपता है, विस्तार होते हुए भी गहराई है।

६ वे व्यक्ति के जीवन के एक केन्द्रीय सत्य को, जिस के कारण वह व्यक्ति वह व्यक्ति है, प्रकट करते हैं और विविध रूपा में भी उस का जो निजत्व है उसे प्रकाशित करने की चेष्टा करते हैं।

७ शैली की दृष्टि से वे चित्रात्मक है, वे सोद्देश्य है और उन की प्रयोजनशीलता में मौन इगित है।

८ वे व्यक्ति के अध्ययन कक्ष के दीपक हैं। वे व्यक्तित्व के फर्नीचर है जिन से रुचि, गठन, मोड का पता लगता है, पर वे वैरोमीटर भी है जिन से मानसिक वातावरण, सस्कृति और दिल की गहराइयो के तापमान का सकेत मिलता है।

मुझे सस्मरण लिखने की प्रेरणा किसी एक घटना से नही हुई। १९२०-२१ के तूफ़ानी दिनों में बहुत बडे-बडे राष्ट्रीय नेताओ के सम्पर्क में आया। उन में से कुछ के सम्बन्ध में स्मरणीय बातें डायरी में लिखी। इसी अनगढ डायरी ने सस्मरणो को जन्म दिया। फिर जननी की तरह पाल पोस कर आगे भी बढाया। [अगस्त १९५७]

आधुनिक युग में समीक्षा ?

देवीशंकर अवस्थी



क्या साहित्यिक समीक्षा आज भी सम्भव है ? यह प्रश्न उठाते समय सहज ही एक उत्तर दिमाग़ में उभरता है कि यदि पहले सम्भव थी, तो इस समय कठिनाई क्यों महसूस होती है ? यदि इस विचार को स्वीकार न करें तो सहज ही दूसरा सवाल उठता है कि नये साहित्य एवं प्राचीन साहित्य (विशेष रूप से क्लासिक्स) में अन्तर क्या है ? क्या क्लासिक्स का अध्ययन यों ही रोज किये जाने वाले पठन-पाठनों से भिन्न होता है ? दोनों प्रकार के साहित्यों के मूल्यों की एकता या विभिन्नता इस प्रसंग मे नितान्त द्रष्टव्य है। आख़िर मनुष्य एक निरीह अनजान प्राणी तो बना नहीं रह सकता; एक स्थिति ऐसी आती है जब वह महत्त्वपूर्ण समझी जाने वाली वस्तुओं की सार्थकता की जाँच कर लेना चाहता है। सार्थकता की यह परीक्षा अनेक कोणों से होने लगती है। कुछ लोग तो उस की अपनी प्रकृति और स्वरूप के आधार पर जाँचते हैं; परन्तु बहुधा लोग नैतिकता या विज्ञान आदि की कसौटियाँ प्रयोग में लाने लगते हैं। ऐसे अवसरों पर साहित्य जैसे अतीन्द्रिय ग्राह्य क्रिया-व्यापार के अपरिभाष्य तथा सूक्ष्म मूल्यों की रक्षा करना कठिन हो जाता है। अपनी राजनैतिक चेतना के कारण मनुष्य नारेबाज़ी को एवं नैतिक दृष्टि सम्पन्न होने के कारण बँधे-बँधाये ढाँचों की चेतना को मूल्यवान् मानने लगता है। जो कुछ इनके भीतर नहीं समा पाता, उसे वह सन्देह की दृष्टि से देखता है। प्लेटो जैसे विचारक ने अपने युग के ज्ञान और नैतिकता के सन्दर्भ में ही कलाओं की निन्दा की थी। तब से यह प्लेटोवाद प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सामने आता रहा है। भारतीय काव्य-चिन्तन के क्षेत्र में प्लेटोवादी स्वर बहुत सशक्त कभी नहीं हो सका। प्रयोजन की दृष्टि से चतुर्वर्गफल प्राप्ति एवं मनोरंजन सर्व-सम्मत लक्ष्य बने रहे। यहाँ हमें इनकी परीक्षा नहीं करनी है। पर आधुनिक काल मे काव्य की उपयोगिता पर प्रश्न-चिह्न लगाने वाला प्लेटोवादी स्वर यहाँ भी प्रमुख बना है। इस से बचने का एक रास्ता तो यह है कि विज्ञानादि को साहित्य क्षेत्र में प्रविष्ट ही न होने

दें एव दूसरा मार्ग अरस्तू का है जिस में कि काव्य द्वारा प्राप्त होने वाले ज्ञान को अधिक यथार्थ या सत्य के निकट माना जाता है। भारतीय काव्य दृष्टि अरस्तू के बहुत कुछ निकट रही है। वहरहाल सामान्यत प्लेटो और अरस्तू के मत हा भिन्न-भिन्न रूपा और सशोधनों के साथ उपस्थित किये जाते रहे। एक यदि साहित्य को अनुपयोगी, बुद्धि का कुण्ठित करने वाला एव ख्याली पुलाव समझता है तो दूसरा मानता है कि साहित्य एक अप्रतिम ज्ञान और आनन्द देता है, जो हमारे व्यक्तित्वो को अतिरिक्त समृद्धि देता है।

यदि अरस्तू के इस मत को हम स्वीकार कर लें, तो इस का अर्थ होगा कि इस विशिष्ट, अप्रतिम ज्ञान की प्राप्ति के लिए ही हम पढते है और फिर नये साहित्य एव क्लासिक्स के अन्तर की बात भी मिट जाती है। परन्तु इसी स्थल पर दूसरा महत्त्वपूर्ण सवाल उठ खडा होता है कि साहित्य हमारी सभ्यता और सस्कृति का एक व्यापार (activity) यदि है, तो इस अप्रतिम, विशिष्ट तत्त्व द्वारा उस को व्याख्या सभव नही होती। परिणामस्वरूप एक विचित्र असुविधा में हम पड जाते है। साहित्य का एक सिद्धान्त जो कालिदास, बाणभट्ट या तुलसी पर लागू हो जाता है, आधुनिक कठिनाइयों पर कैसे लागू किया जा सकता है? प्रश्न श्रेष्ठता अथवा निकृष्टता का नही भिन्नता का है। साहित्य के उपयोग या मूल्य के सम्बन्ध में आज का जिज्ञासु प्राणी किसी सामान्यीकृत कथन को मानने में सकोच का अनुभव करेगा।

इस सकोच का कारण है केवल नये और पुराने साहित्य के बीच ही नही, नये साहित्य के भी विविध रूपो में परस्पर प्रकृति, उद्देश्य, और मूल्यो में पर्याप्त विभिन्नता प्राप्त होती है। रेडियो के लिए, टेलीविजन के लिए, सिनेमा के लिए, दैनिक अखबार, साप्ताहिक पत्र या मासिक पत्रिका के लिए लिखे जाने वाले सम सामयिक साहित्य रूपो में परस्पर वैभिन्य ढूँढना कठिन नहीं होगा। तुलसीदास ने प्राकृत जन गुणगान करने वाले कवि को अपने से अलग करके देखा अवश्य था, पर आज के अर्थ में व्यावसायिक-लेखक, प्रचारक-लेखक या गम्भीर-लेखक के अन्तर शायद उन की समझ में नही आवेंगे। ये सारे के सारे आधुनिक प्रश्न है, जिन्होंने कि आधुनिक साहित्य की प्रकृति, प्रयोजन और मूल्य में पुराने से अन्तर उत्पन्न किया है। आज के साहित्य के कभी कभी एकदम भिन्न उद्देश्य प्रतीत होते हैं।

इन नये रुख को उपस्थित करने वाला मौलिक कारण शिक्षा का नया प्रसारी रूप है। पहले जमाने में थोडे लोग साक्षर होते थे और अधिकाश जनसाधारण इन साक्षरो से मौखिक उपदेश ग्रहण किया करते थे। जो पढे-लिखे होते थे वे उस समय के उपलब्ध ज्ञान का भरपूर उपयोग कर अपने को पूर्णत जानकार और खुली आँखो वाला बनाये रखने का प्रयास करते थे। ज्ञान-विज्ञान की इतनी दिशाएँ एव इन दिशाओं में भी परस्पर इतनी अधिक विविक्ति न होने के कारण उस समय यह सम्भव भी था। साधारण अपढ जनता इन्हें पर्याप्त आदर भी देती है और मौखिक

कथा-वार्ताओं आदि के माध्यम से निर्देशन प्राप्त होने के कारण स्मृति एवं कल्पना को बढ़ने के लिए खुल कर अवकाश मिलता था। जिस युग में अधिकांश अनदेखा हो उस मे कल्पना के पंखों को अधिक फैलना ही चाहिए और जहाँ पर साक्षर जन कम हों, वहाँ पर स्मृति में सहज रूप से बस जाने वाले रूपों का आधिक्य अनिवार्य है। इसी कारण मौखिक परम्परा के माध्यम से पढ़ने वाले साहित्य मे स्मरणीय एवं अलंकारों के प्रति सहज उन्मुख भाव प्राप्त होता है। ऐसी मनःस्थिति में, यह बात सहज ही समझ में आ जाने वाली है, कि ये पाठक या श्रोतागण जिस भी साहित्य या कला रूप में प्रवेश पा जाते थे, अपनी कल्पना और स्मृति के सहारे उस में अपने को भाग लेता अनुभव करते थे। वे एक ऐसे कला-जगत् के, इस प्रकार, संरक्षक बन जाते हैं जो उन के दैनिक कार्य-व्यापार एवं हृदय के निकट है। और इस कला-जगत् के भीतर एक प्रकार की एकता एवं शक्ति भी संरक्षित रह पाती थी। इस तरह सब मिला कर यह सारा समूह (पाठकों, श्रोताओं, अध्येताओं एवं सर्जकों का) लगभग समान स्तर पर रह पाता था एवं साहित्य के अनेकमुखी प्रयोजन या मूल्य अथवा व्यावसायिक एवं गम्भीर के अन्तर नहीं उभर पाते थे। वहाँ स्पष्ट प्रकृति थी एवं निश्चित लक्ष्य थे, सम्मान की एक सहज भावना थी एवं लोक साहित्य-शिष्ट साहित्य के मध्य कोई गहरा अन्तराल नहीं था।

पर आज स्थिति नितान्त भिन्न हो गयी है। साक्षरता बढ़ती जा रही है, पर पढ़ने का उपयोग या लक्ष्य कोई निश्चित नहीं है। पढ़ना सुलभ, पर पढ़ने का प्रयोजन अस्पष्ट—परिणाम है कि साहित्यकार के प्रति आदर की वह भावना भी नहीं रही और स्मृति-कल्पना के भी पंख कट गये। पढ़ने की सुलभता के कारण प्रत्येक मनुष्य अपने से बाहर जगत् के विभिन्न स्रोतों से कुछ न कुछ ग्रहण करता है, परन्तु इस की कोई सीमा नहीं है कि सच-झूठ, तथ्य और मिथ्या, शुद्ध या भ्रष्ट के ग्रहण स्रोत क्या है? डेविड डैचेज के शब्दों में "लिपि के आविष्कार ने इसे सम्भव बनाया, छापेखाने ने एक बड़े पैमाने पर इसे व्यवहार्य सिद्ध किया और आधुनिक प्रकाशन-पद्धति ने इसे अनिवार्य बना दिया।" वास्तव मे पढ़ने के अनेक उपयोग हो सकते हैं अच्छे भी और बुरे भी। पढ़ना तो अपने-आप मे साधन मात्र है और यह साधन अनिवार्य है जब कि साध्य ऐच्छिक हो गया है। फिर पढने के लिए सामग्री जिस प्रकाशन-पद्धति से हो कर आती है वह एक व्यवसाय है जो लाभ के लिए है। लाभ वाला यह पक्ष साहित्य के प्रति आधुनिक अनोखे रुख को स्पष्ट करता है। एक जमाने मे लाभ राजा जयसिंह या विक्रम से होता था तब विपथगा होने के खतरे कम थे (क्योंकि पहले तो संख्या कम और फिर वह भी रसिक) पर अब तो लाखों-करोड़ों की रुचियाँ हैं, उन की भूखें है और उन की तृप्ति लेखक को भी धन-सम्मान देती है, ऐसी दशा में अपने सहज पथ को छोड़ कर इस पाठक-समूह का बैरी बन जाना कुछ अनहोनी

नही है।

इसी समस्या के साथ जुडी समस्या अभिजात एव जनप्रिय साहित्य की है। इस के कारण ही साहित्यिक मूल्यों के बारे में ऐसा भ्रम फैला हुआ है। दो श्रेणियो के पाठक सम-सामयिक जीवन के अत्यन्त प्रत्यक्ष सास्कृतिक तथ्य है। दोनों श्रेणियो के पाठको का अन्तर वास्तव में बुद्धि का अन्तर नही है। वास्तविक साक्षरता बुद्धि या कौशल की पर्याय न होकर मस्तिष्क एव कल्पना की एक स्थिति है जो किसी भी बौद्धिक स्तर पर सभव है। पर साक्षरता आज वास्तविक न हो कर अधूरी है। यह कहने के लिए हमें क्षमा किया जाय कि इस अद्धसाक्षरता की अपेक्षा छोटे बच्चे या पुराने अपढ़ अधिक साक्षर होते है। क्योंकि कुछ मृत खोखले साँचो के द्वारा उन की ग्रहणशीलता एव क्रिया-त्मकता नष्ट तो नही हो जाती। पर आज का अद्धसाक्षर तो बस निष्क्रिय रूप से पढता जाता है और ज्यों-ज्यो पढता जाता है त्यों त्यों उस की निष्क्रियता बढती जाती है। वे अपने विवेक से काम लेना छोड देते है जो जैसा है वैसा ही ग्रहण कर लेते है। इस के अतिरिक्त जो ग्रहण करते है उस का भी सचेष्ट उपयोग नही करते। वे उपयोग करें भी क्यों, किसी बौद्धिक प्रकाश या प्रयोजन के लिए तो वे पढते नही। औद्योगिक युग ने अवकाश दिया है, नीरसता दी है, परस्पर के परिचय एव प्रेम भावनाएँ, सौहार्द और सहानुभूति कम हुई है, परिवार, कुटुम्ब एव समाज की चूलें कमजोर पडी है। जीवन के सघर्ष और जटिलताएँ भी बढी है। ऐसी स्थिति में वे इस अवकाश को भरने के लिए और दुर्वह स्थितियो से पलायन के लिए जो कुछ मिल जाता है उसे ही पढ जाते है। यही कारण है कि आज साहित्य का गुण है कि वह पठ-नीय (readable) हो न कि स्मरणीय (memorable)। प्रकाशन पद्धति भी कहती है कि आज पढ़ो चाव से और कल भुला दो क्योंकि कल नयी किताब फिर आने वाली है उसे भी तो खरीदा जाना है। परतु जब साहित्य में मौखिक तत्त्व प्रधान था, तब उसे मस्तिष्क में बना ही रहना चाहिए। इसीलिए हम देखते है कि आधुनिक पुस्तकें प्राचीन महनीय (classics) कृतियो से कितनी भिन्न है।

इस के अतिरिक्त साहित्य द्वारा प्राप्त होने वाले आनन्द का प्रश्न भी आता है। प्राचीन भारतीय काव्य-शास्त्र में मनोरजन का स्थान बहुत ऊँचा था। पर आज धीमानो के लिए काल बिताने के लिए काव्य, शास्त्रविनोद की अपेक्षा अनेक सहज और आकर्षक माध्यम विद्यमान है। वह अपने नये दायित्वो की ओट भी देखता है (देखिए—कल्पना अप्रैल '६० में रामस्वरूप चतुर्वेदी का लेख—'साहित्य के नये दायित्व')। यदि आनन्द को श्रेष्ठ कोटि के आनन्द के रूप में लिया जाय, तब भी प्रश्न उठता है कि क्या 'बूँद और समुद्र' तथा 'कादम्बरी' से मिलने वाला आनन्द एक ही प्रकार का है? आधुनिक युग का बौद्धिक तो आनन्द या मनोरजन को नीची श्रेणी का ही मूल्य प्रदान

करने के लिए तैयार होगा। सब मिलाकर आनन्द का प्रश्न अत्यधिक सापेक्षिक है और उसके आधार पर एक सामान्य (common) एवं सर्वमान्य साहित्यिक मूल्य की प्रतिष्ठा करना कठिन होगा। अधिक आनन्ददायक को अधिक श्रेष्ठ माना जाय, यह कसौटी हमे उपयुक्त नही प्रतीत होती।

वर्तमान युग का एक अन्य सांस्कृतिक-साहित्यिक तथ्य है जो इस रूप और परिमाण मे हमें प्राचीन काल मे नहीं मिलता। एक ओर तो पेशेवर आलोचकों की एक पूरी जमात उठ खड़ी हुई है जो पाठकों को चाहे-अनचाहे रचना का मूल्य बता देना चाहते है तथा दूसरी ओर आलोचकों एवं लेखकों के अनेक दल, सम्प्रदाय, दुर्ग और प्राचीरें बन गयी हैं जिन के कारण समुचित सराहन का कार्य नही हो पाता। रचना का कार्य भी इन्हीं दबावों के भीतर होता है। यह एक ऐसी कृत्रिम पर सशक्त स्थिति है जो आधुनिक रचनाओं की प्रकृति, प्रयोजन और मूल्य को दूर तक प्रभावित करती है।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि साहित्य आज अनेक प्रकार के पाठकों, श्रोताओं को सम्बोधित करता है, अनेक प्रकार के उद्देश्यों एवं प्रयोजनों के लिए काम करता है। ऐसी स्थिति मे इस अनेकधा विभक्त साहित्य के लिए कहना पड़ जाता है कि क्या आज भी इस की समीक्षा संभव है? हम मानते है कि संभव तो है, पर जिस नवीन समीक्षाशास्त्र की इस के लिये आवश्यकता है उसे अंशतः समाजशास्त्र की भी कृति होना पड़ेगा—यदि ऐसा न होगा तो हमें सामाजिक साहित्य जैसा है और जैसा होना चाहिए—दोनों के अधिकांश भाग को छोड़ देना होगा। इस लिए साहित्यशास्त्र एवं समाज विद्याओं के मध्य एक संयोजन (Co-ordination) एवं समन्वय की स्थिति विचारणीय है।

प्राचीन काल के पूर्व और पश्चिम के काव्य-शास्त्रियों ने अपने समय के उपलब्ध साहित्य का विश्लेषण करने के उपरान्त आकलन करना चाहा था। आज भी उसी की आवश्यकता है। और यह संभव भी है यदि साहित्य द्वारा इस समय किये जाने वाले विविध कार्य-व्यापारों एवं प्रयोजनों को भलीभाँति पृथक् किया जा सके। कितने प्रकार से विविध काल्पनिक स्थितियों का व्यवहार किया जाता है, तथा साथ ही कितने भिन्न अभिप्रायों से आज के पाठक इस की ओर अभिमुख होते है, इस का अध्ययन होना चाहिए। हम इन अभिप्रायों के मूल मे स्थित आर्थिक-सामाजिक स्थितियों या इन्हे प्रेरित करने वाली मानसिक प्रवृत्तियों की विवेचना करते चलें तो अच्छा ही है, पर अधिक आवश्यक कार्य है कि इन अभिप्रायों एवं कार्य-व्यापारों का अन्तर समझा जाय। आज का द्वन्द्व संभवतः नैतिक एवं सौंदर्यपरक के बीच न हो कर साहित्यिक और असाहित्यिक का है। क्योंकि हम मानते हैं कि कोई भी रचना अपने लेखक के अभिप्रेत प्रयोजन से विलग हो कर भी जीवित रह सकती है। उस के साहित्यिक मूल्य लेखक के अभिप्रेत से बहुधा पृथक् होते है। "सत्ती मैया का चौरा' उपन्यास का साहित्यिक मूल्य उस की

प्रतीक शक्ति के भीतर है जब कि लेखक शायद कम्युनिस्ट दर्शन के प्रचार को भी अपना अभिप्रेत मानता रहा हो। अतः पहला कार्य साहित्यिक और असाहित्यिक मूल्यों के अन्तर करने का है। अच्छी और बुरी किताब की चर्चा तभी की जा सकती है। इस प्रकार संभवतः हम देख सकेंगे कि वास्तविक मूल्य प्रत्यक्ष और ऊपर दिखाई पड़ने वाले प्रयोजनों या व्यापारों पर आधृत नहीं होते हैं। उदाहरणार्थ किसी पुस्तक मे पत्रकारिता वाली विधि पर कुछ सूचनाएँ दी गयी है, किसी मत विशेष के पक्ष मे प्रचार किया गया है; अब यदि इन दोनों को भुला देने के बाद भी वह कृति किसी मानवीय अनुभव को आलोकित करती है एवं उस की सराहना उस सूचना या प्रचार मे सीमित नही है तो उसे हम साहित्यिक मूल्य कह सकते है और उस कृति का साँचा और संगठन भी इस मूल्य का एक अंग होगा। यह प्रस्तुतीकरण ही कृति का वास्तविक कार्य (function) होगा। पुस्तक का रिव्यूअर किताब के प्रत्येक मूल्य को बताता है; किसी किताब मे क्या बात पठनीय है, इस का वह उल्लेख करता है। परन्तु आलोचक केवल साहित्यिक मूल्यों को विविक्त और आकलित करता है।

अगर साक्षरता और प्रकाशन-व्यवस्था ने पुस्तकों की विशाल राशि विभिन्न उद्देश्यों के लिए उपस्थित कर दी है तथा पाठक-वर्ग की एकता को समाप्त कर उसे विशृंखलित कर दिया है, तो हम अपनी समीक्षा-संबंधी धारणाओं में तभी एकरूपता ला सकेंगे जब इस 'साहित्यिक प्रयोजन' को हम दृष्टि में रखेंगे। यह ध्यान रहे कि इस प्रयोजन के मूल्य अपने-आप में अप्रतिम होने चाहिए—इसी प्रसंग में यह भी खोज होनी चाहिए कि क्या ये मूल्य प्राचीन क्लासिक्स मे भी उपलब्ध होते हैं। यदि केवल पहली बात (अप्रतिमता) है तो इस का अर्थ होगा कि नये साहित्यिक मूल्य सामने आये है; परन्तु ऐसे किसी निष्कर्ष पर पहुँचने के पूर्व वास्तविक-उचित मूल्य एवं नये मूल्य का अन्तर स्पष्ट कर लेना होगा।

ऊपर हम यह भी कह चुके है कि उपयोग-हीन अवकाश को बिताने के लिए, नीरसता एवं संघर्ष से पलायन करने के लिए लोग पढ़ते है। पर इस पलायनवादी की सदैव और सर्वत्र निन्दा करना उचित नहीं है। त्रासदायक स्थितियो या बातों को भुलाने का प्रयत्न कुछ ऐसी निन्दनीय बात नहीं है। हाँ, यह अवश्य है कि उन स्थितियों से कैसे निबटा जाय इस के बारे मे सोचना एक अधिक श्रेष्ठ क्रिया है, बजाय केवल उन्हें भुलाने को पढ़ते रहने के। इसी प्रकार अवकाश के समय दर्शन-चिन्तन या गणित की समस्याओं या किसी सिद्धान्त के बारे में सोच-विचार भी मानव-स्वभाव की एक श्रेष्ठ परिणति है। दैनिक जीवन के क्षुद्र एवं अमहत्त्वपूर्ण यथार्थ से महत्त्वपूर्ण यथार्थ की ओर हम साहित्य मे आते है एवं तुच्छ यथार्थ से महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त के क्षेत्र में, दर्शन आदि मे।

परन्तु क्या साहित्य यह महत्त्वपूर्ण यथार्थ मात्र ही उपस्थित करता है? इस प्रश्न का उत्तर एक-दूसरे प्रश्न के माध्यम से मिलेगा।

आज का पाठक किस उद्देश्य से पढना प्रारम्भ करता है, यह देखने के लिए इस बात पर ध्यान देना होगा कि पाठक सजग मस्तिष्क से पढता हुआ कृति के मन्तव्यो को आगे बढ कर लेता है या मूक आत्म-समर्पण कर देता है। बहुधा पाठक चाहता है कि लेखक ही सब कुछ कर दे, उसे अपनी ओर से कोई प्रयास न करना पडे। पर यह स्थिति किसी प्रकार भी स्वस्थ नही होती—क्योकि बडी से बडी रचना में शक्ति, उत्तेजना, अन्तर्दृष्टि या आलोक देने की सभावना मात्र रहती है। कलात्मक आस्वाद इस प्रकार दुहरी प्रक्रिया होता है,—कृति का कलात्मक मूल्य और प्रमाता का सजग बोध। पाठक कभी आत्मसमर्पण न करे पर सहयोग सदैव करे, साथ ही उस को कल्पना का एक ऐसा प्रकार विकसित करना चाहिए कि जैसे ही पुस्तक का मस्तिष्क पर प्रभाव पडे वैसे ही एक महत्त्व को वह जन्म दे सके।

परन्तु जब यह दुहरी प्रक्रिया न बन सके, तब दोष किस का माना जाय—पुस्तक का या पाठक का? पर यह बडा जटिल प्रश्न है। इस का उत्तर खोजने में प्रजातन्त्र के भीतर जन-शिक्षा की तमाम समस्याओ को देखना पडेगा। पुस्तक और पाठक दोनो एक दूसरे के पूरक होते हैं और उन को अलग-अलग ढग से देखना असभव है। और जब हम इन समस्याओ से उलझते है तो फिर साहित्यिक मूल्य हाथ से छूटते प्रतीत होते हैं। इस लिए पुन प्रयोजन वाले प्रश्न की ओर लौट चलना समीचीन होगा। कैसा मनोरजन है, आनन्द कैसा है या कृति में किस प्रकार के पलायन को तृप्ति मिलती है, यह बहुत महत्त्वपूर्ण सिद्ध होगा। इस प्रकार के अध्ययन के परिणामस्वरूप एकदम नये उत्तेजक साहित्यिक साँचो एव धारणाओ के बदलाव एव पुनर्संगठन सामने आ सकते हैं अथवा पुरानो ही धारणाओं या पूर्व-ग्रहो का उत्तेजक समर्थन भी हो सकता है। यहीं हमें यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि सरस साहित्य जितना भ्रष्ट कर सकता है समाज को, उतना निर्माण भी नही। साहित्य में भी सब से अधिक खतरा उपन्यास से है। इन काल्पनिक गल्पो का हमारी सस्कृति में क्या योग है, इस पर बहुधा हम ध्यान नही देते, पर वास्तव में उन का महत्व आकलित होना चाहिए। इन्ही सब कारणो से यदि वर्तमान समीक्षक इस प्रश्न से प्रारम्भ करे कि 'यह (अथवा कोई) किताब क्यो पढी जाय?' तो उसे अधिक मौलिक और गहरे प्रश्नो की ओर जाने में सहायता मिलेगी।

हमारे वर्तमान साहित्य पाठक वर्ग में साहित्यिक प्रश्नो के प्रति एक जडता आ गयी है। हम अब साहित्यिक महत्ता एव मूल्यो को विवाद का विषय नही बनाते। उस का परिणाम है कि साहित्यिक मूल्यो के बारे में प्रबुद्ध पाठक भी अनजान मिलेंगे। ऊपर जिन प्रश्नों को उठाया गया है, उन के उत्तर शायद पाठकों के पूर्वग्रह पर चोट कर सकेंगे और उन्हें अपने पूर्वग्रहो के समर्थन में कुछ कहने के लिए उत्तेजित भी कर सकेंगे। यह उत्तेजना पाठकवर्ग की जडता को दूर करने में सहायक होगी।

[फरवरी १९६१]

अश्लीलता और साहित्य-समीक्षा

नामवर सिंह

●

अखबारों में खबर है कि राज्य सरकार अश्लील साहित्य को रोकने के लिए कोई नया क़ानून बनाने जा रही है। 'ताजीरात-ए-हिन्द' मे अश्लीलता-सम्बन्धी धाराएँ पहले से मौजूद है, लेकिन मालूम होता है कि या तो वे धाराएँ पर्याप्त नहीं समझी जा रही हैं अथवा अश्लील-साहित्य की कोई नयी संकटपूर्ण स्थिति पैदा हो गयी है जिस ने सरकार को इतना सक्रिय और चिन्तित कर दिया है। जो हो, सरकार की यह आकस्मिक चिन्ता स्वयं चिन्ता का विषय है। किन्तु साहित्यकार अभी इस चिन्ता से चिन्तित नही है। साहित्यकारों में कुछ सुगबुगाहट शायद उस समय होगी जब कोई साहित्यिक पुस्तक अदालत के कटघरे मे खड़ी कर दी जायेगी। हो सकता है कि अदालत में किसी पुस्तक पर राय देने के लिए यहाँ भी विशेषज्ञ के रूप में कुछ साहित्यकार बुलाये जायें। उस स्थिति का भलीभाँति सामना करने के लिए जरूरी है कि इस प्रश्न पर साहित्य-समीक्षा के अन्तर्गत अभी से व्यवस्थित विचारों की परम्परा हो।

साहित्य-समीक्षा की ऐसी व्यवस्थित परम्परा के अभाव में साहित्यकारों की स्थिति कितनी संकटापन्न हो जाती है, इस का ताजा नमूना 'लेडी चैटर्लीज़ लवर' सम्बन्धी मुकदमे की कार्यवाही है। इस स्थिति पर रोशनी डालते हुए सितम्बर '६१ के 'एनकाउण्टर' में साक्षी विशेषज्ञों में से एक—रेमण्ड विलियम्स ने लिखा है कि यद्यपि ब्रिटेन और अमेरिका मे एक अरसे से साहित्य-समीक्षा के अन्तर्गत साहित्यिक एवं नैतिक प्रश्नों को अलग-अलग मानने की परम्परा रही है तथापि 'लेडी चैटर्लीज़ लवर' के मुकदमे मे अनेक आलोचकों ने अभ्यासवश साहित्यिक एवं नैतिक निर्णयों को मिश्रित कर दिया। इस लिए ऐसे मामलों में स्वाभाविक एवं संस्कारजनित प्रतिक्रियाओं को ध्यान मे रखते हुए सामान्य विचार-प्रणाली को संशोधित करना आवश्यक हो उठा है।

जहाँ तक 'लेडी चैटर्लीज लवर' उपन्यास का सम्बन्ध है, अदालत ने निर्णय दिया कि 'अश्लील तो है किन्तु साहित्य के हित' को ध्यान मे रखते हुए इसे अपराध-मुक्त किया जाता है। लेकिन क्या यह निर्णय सन्तोषप्रद

कहा जा सकता है ? साहित्य पर यह अतिरिक्त कृपा है या साहित्य को दी गयी अतिरिक्त छूट ? इस अतिरिक्त छूट का अर्थ क्या दुहरा मानदण्ड नहीं है ? क्या यह कृपा साहित्यकार के गौरव एवं स्वाभिमान के लिए सह्य है ? ऐसी छूट किसी कृति को कब तक दी जायेगी ? इस कृपा की सीमा कहाँ तक है ? क्या यह एक संस्कृति के अन्तर्विरोध की सूचक नहीं है ? जिस संस्कृति में नैतिकता और साहित्य कानूनी न्याय और साहित्यिक औचित्य के बीच ऐसा अन्तर्विरोध हो, उसे स्वस्थ कहा जा सकता है ? क्या ऐसे मामले में कोई एक मानदण्ड कायम नहीं हो सकता—ऐसा मानदण्ड जिस से न्याय और साहित्य दोनों के हितों की रक्षा हो सके और जिस के द्वारा आगे चल कर किसी साहित्यिक कृति को अपवाद मान कर कृपापूर्वक छूट देने की जरूरत न रह जाये।

अन्तर्विरोध की यह स्थिति केवल अदालत तक ही सीमित होती तो एक बात थी। साहित्य समीक्षा में भी प्राय किसी कृति की अश्लीलता को उस के कलात्मक गुणों के कारण क्षमा कर दिया जाता है। 'अश्लील तो है किन्तु कलात्मक है'—इस प्रकार के निर्णय साहित्य-समीक्षा में भी प्राय सुनाई पड़ते हैं। क्या यह एक प्रकार का 'कलावाद' नहीं है, जिस के अनुसार किसी कृति के कलात्मक मूल्य को—नैतिक मूल्य साथ ही समस्त मानव-मूल्यों से भिन्न निरूपित किया जाता है ? क्या अश्लीलता की साहित्यिक परिभाषा सम्भव नहीं है ? 'अश्लीलता' को साहित्य-समीक्षा का एक पारिभाषिक शब्द मान लेने में क्या कठिनाई है ? जब तक हम स्वयं साहित्य समीक्षा में इस प्रकार के दुहरे मानदण्ड इस्तेमाल करते रहेंगे तब तक सामाजिक नियमों के व्यवस्थापक एवं संरक्षक न्यायालयों से, इकहरे मानदण्ड की उम्मीद कैसे कर सकते हैं ?

सवाल यह है कि हिन्दी के साहित्यकार इस दिशा में कहाँ तक प्रयत्नशील हैं ? अश्लील साहित्य के सामाजिक नियन्त्रण की स्थिति से हिन्दी लेखक भी अवगत हैं। सिद्धान्त रूप में नियन्त्रण का विरोध करना शायद ही किसी के लिए सम्भव हो। किन्तु यह नियन्त्रण व्यवहार में कितना विवेक बरतेगा, इस के प्रति हर जागरूक साहित्यकार शंकालु है। 'सेन्सर-शिप' के प्रश्न पर अज्ञेय ने दो साहित्येतर युक्तियाँ दी हैं "दवाएँ खतरनाक हो सकती हैं, उन के वितरण का नियन्त्रण केवल प्रयोक्ता को ही नहीं, दवा को भी दुरुपयोग से बचाता है। सामाजिक स्वास्थ्य का यह प्रश्न समस्या का एक स्तर है। एक दूसरा भी है बच्चे के लिए तो गरम दूध से भी खतरा हो सकता है। तब ?" इस प्रकार अज्ञेय के अनुसार "ऐसी व्यवस्था रखिए कि बच्चा और गरम दूध दोनों एक-दूसरे से बचे रहें, और बच्चा प्रकट निषेध से होने वाले आकर्षण से भी बचा रहे।"

यह निश्चित है कि साहित्य न दवा है और न गरम दूध। किसी भी उपमा की तरह युक्ति में प्रयुक्त ये उपमाएँ भी अपर्याप्त हैं, अथच भ्रामक। सभी जानते हैं कि दवा

और गरम दूध के नियन्त्रण को ले कर विशेष विवाद नहीं है। विवाद है अश्लील साहित्य को ले कर। यदि साहित्येतर विषयों के नियन्त्रण की विधि साहित्य के क्षेत्र में भी कारगर होती तो समस्या का समाधान बहुत सरल होता। यदि इस सरल समाधान से काम चल जाता तो लोग इतने सिरफिरे नहीं है कि ऐसी सरलता को छोड़ कर खामखाह अपने को उलझन मे डालते। स्पष्ट है कि साहित्य की समस्या काफी जटिल है। 'अश्लील साहित्य' का निर्णय करना ही जटिल नहीं है बल्कि 'अश्लील साहित्य' के सामाजिक नियन्त्रण की समस्या भी अत्यन्त जटिल है। साक्षरता और शिक्षा के क्रमिक प्रसार के साथ-साथ अश्लील साहित्य के नियन्त्रण की समस्या और भी जटिल होती जा रही है। इस जटिलता को देखते हुए भी यदि कोई जागरूक लेखक दवा और गरम दूध की उपमा का सहारा लेता है तो यही कहा जायेगा कि वह समस्या की जटिलता मे प्रवेश करने से इनकार करता है।

समस्या की जटिलता से पलायन करने की वृत्ति उस समय और भी स्पष्ट हो जाती है जब अज्ञेय कहते है कि "सेन्सरशिप का प्रश्न साहित्य का नही, सामाजिक नियन्त्रण का प्रश्न है।"

क्या 'सेन्सरशिप' केवल इसी लिए सामाजिक नियन्त्रण का प्रश्न है कि साहित्य के वितरण का प्रश्न सामाजिक है? लेकिन सामाजिक होने से ही कोई प्रश्न साहित्य का कैसे नहीं रहता? यह तो विचार करने की पद्धति पर निर्भर है कि एक ही प्रश्न को वह साहित्य की सीमा मे किस प्रकार रखती है और फिर सामाजिक सीमा में किस प्रकार? जिस प्रेषणीयता की समस्या पर साहित्य मे इतना विचार किया जाता है, वह भी क्या सामाजिक समस्या नहीं है? इस के अतिरिक्त, उत्पादन कोई करे और वितरण का नियमन कोई अन्य, यह कौन-सी व्यवस्था है? यदि अश्लील पुस्तकें साहित्य के अन्तर्गत लिखी जाती हैं तो उन के वितरण पर सामाजिक नियन्त्रण की बात सोचने से पहले साहित्यिक नियन्त्रण का प्रश्न उठना चाहिए। साहित्य-समीक्षा का एक उत्तरदायित्व यह भी है। इस प्रकार साहित्य-समीक्षा के द्वारा सामाजिक नियन्त्रण को न्यायोचित रूप देने में सहायता मिल सकती है। साहित्य की जो समस्या स्वयं साहित्यकार हल नहीं कर सकते अथवा किसी कारण से जिसे हल करने को जिम्मेदारी अपने ऊपर नही लेना चाहते, उसे दूसरे लोग अधिक अच्छी तरह हल कर लेंगे इस की क्या गारंटी है?

क्योंकि 'सेन्सरशिप' का निर्णय अन्ततः इस प्रश्न पर आधारित है कि प्रस्तुत पुस्तक अश्लील है या नही। और यह केवल संयोग नहीं है कि जो लोग 'सेन्सरशिप' के प्रश्न को साहित्य का नही मानते, वे 'अश्लील' को भी साहित्य का प्रश्न नही मानते। अज्ञेय ने स्पष्ट शब्दों में कहा है "साहित्य का प्रश्न वह नही है।" परन्तु इस बार अज्ञेय की आपत्ति शब्द पर है। उन के विचार से "श्लील और अश्लील का प्रश्न तत्कालीन सामाजिक नैति-

क्ता से है, उसी प्रश्न को जब सुन्दर-असुन्दर का प्रश्न बना कर हम साहित्य की मर्यादा के भीतर लाते हैं, तब वास्तव में प्रश्न वही रहता ही नही, दूसरा ही हो जाता है।" निस्सन्देह 'श्लील-अश्लील' का प्रश्न 'सुदर-असुदर' के रूप में उपस्थित किये जाने पर दूसरा ही हो जाता है, किन्तु उस प्रश्न को साहित्य की मर्यादा प्रदान करने के लिए क्या यह शब्दान्तर आवश्यक है ? यदि अतिम निणय शब्दो पर ही निभर हो तो प्रश्न हो सकता है कि क्या 'सुन्दर असुदर' भी साहित्यिक मर्यादा के शब्द हैं ? क्या ये शब्द मूलत सौन्दर्य शास्त्र और कला-शास्त्र के नही हैं ? क्या 'सुदर-असुदर' की चर्चा कला के अतर्गत नैतिकता निरपेक्ष अर्थ में नही हुई है ? यदि श्लील-अश्लील नैतिकता सापेक्ष है तो सुन्दर-असुदर भी नैतिकता निरपेक्ष है। इस प्रकार क्या यह नही हुआ कि श्लील-अश्लील के प्रश्न को साहित्यिक बनाने के प्रयत्न में अज्ञेय ने सचमुच उसे दूसरा ही रूप दे दिया। और यह दूसरा रूप कलावादी युक्तियो से समर्थन प्राप्त करने के लिए दिया गया है। और जिस प्रकार कलावादियो ने 'सुदर' को दृश्य से हटा कर 'दृष्टि' में डाल दिया, उसी प्रकार अज्ञेय ने भी 'अश्लील' को वस्तु से अलग कर के 'दृष्टि' में सीमित किया। इस से समस्या सुलझने के बजाय उलझती ही दिखाई पडती है। यह देख कर शका उठना स्वाभाविक है कि कही ये लेखक समस्या को सचमुच उलझाना ही तो नही चाहते है ?

जनवरी '५६ की आलोचना में 'साहित्यिक अश्लीलता का प्रश्न' शीर्षक जो विचार-विमर्श हुआ था, उस में भी कुछ लेखको ने इस प्रश्न को उलझाने की दिशा में इसी प्रकार का प्रयत्न किया था। यदि अज्ञेय के अनुसार "श्लील और अश्लील का प्रश्न तत्कालीन सामाजिक नैतिकता का है" तो श्री विजयदेव नारायण साही के विचार से यह प्रश्न "नैतिकता का नही, बल्कि सुरुचि और सस्कृति का है।" वस्तुत अज्ञेय और साही का यह विरोध बहुत-कुछ विरोधाभास ही है। जहाँ तक साहित्य का सम्बन्ध है, इस बात पर दोनो ही लेखक एकमत हैं कि साहित्य में अश्लीलता का निर्णय नैतिकता की दृष्टि से नही होना चाहिए। अन्तर इतना ही है कि अज्ञेय इस प्रश्न को 'सौदर्य' के रूप में उठाते है और साही 'सुरुचि और सस्कृति' के रूप में। 'सुरुचि और सस्कृति' में 'सस्कृति' भले ही कुछ सामाजिक आधार से सलग्न हो, किन्तु 'सुरुचि के साहचर्य से बहुत-कुछ आत्मनिष्ठ (सबजेक्टिव) हो जाती है और इस प्रकार 'सुरुचि और सस्कृति' भी उसी कलावादी शिविर से सम्बद्ध हो जाते हैं जहाँ सौन्दर्यवाद प्रतिष्ठित है।

'अश्लीलता' के प्रश्न पर सूक्ष्मता से विचार करने के लिए सौदर्य, सुरुचि, सस्कृति के गहन क्षेत्रो में प्रवेश करने पर किसी को आपत्ति नही हो सकती। आपत्ति तब उठती है जब सौदर्य, सुरुचि एव सस्कृति के नाम पर पूरे प्रश्न को आत्मपरक बनाने की कोशिश की जाती है। जिस सामाजिक सूत्र से सम्बद्ध होने के कारण नैतिकता से 'अश्लीलता' को

अलग करने की कोशिश हो रही है वह सामाजिक सूत्र सौन्दर्य, सुरुचि एवं संस्कृति से भी जुड़ा हुआ है। भाववादी विचारकों ने सौन्दर्य, सुरुचि एवं संस्कृति के चारों ओर आत्मपरक आवरण लपेट कर उन्हें, चाहे जितना सूक्ष्म बना दिया हो; किन्तु सामाजिक आलोक के सामने इन की वास्तविकता का ढँका रहना नामुमकिन है।

जिस 'सुरुचि और संस्कृति' के द्वारा अश्लीलता का निर्णय हो सकता है उस की व्याख्या करते हुए साही ने आगे चल कर स्पष्ट किया है कि "संस्कृति के विकास की दिशा यह रही है कि शारीरिक प्रेरणा और प्रतिक्रिया के बीच मानसिक आरोहण-अवरोहण के अधिक से अधिक सोपान प्रस्तुत करें।" साधारण शब्दों मे, जैसा कि प्रायः कहा जाता है, विकास की दिशा स्थूल से सूक्ष्म की ओर अथवा शारीरिकता से मानसिकता की ओर है। यों तो अश्लील चित्रण का रूप 'मानसिक' भी हो सकता है, किन्तु शारीरिक चित्रण की ओर अधिक लोगों का ध्यान जाता है—सम्भवतः इसी लिए शारीरिक चित्रण-सम्बन्धी अश्लीलता की कसौटी पेश करते हुए साही का कहना है कि "अब कितना वर्णन, कितना संकेत, हमे केवल अनुभूति के सोपानों पर छोड़ जायेगा और कहाँ से इतनी फिसलन होगी कि हम बिना रुके पाशविक शारीरिक प्रक्रिया तक पहुँच जायेंगे, यह हमारे सांस्कृतिक स्तर और कलाकार की अनुभूति-प्रवणता पर निर्भर करता है।'

प्रश्न यह है कि 'हमारे सांस्कृतिक स्तर' और 'कलाकार की अनुभूति-प्रवणता' का निर्णय कैसे होगा? कौन करेगा यह निर्णय और क्या होगा उस निर्णय का वस्तुगत आधार? क्या इसे हर कलाकार और पाठक के व्यक्तिगत विवेक पर छोड़ देने से काम चल सकता है? यदि व्यक्तिगत विवेक ही काफ़ी होता तो आज अश्लील साहित्य की अथवा साहित्य में अश्लीलता की समस्या क्यों उठती? इस स्थिति में क्या किसी व्यक्ति-निरपेक्ष मानदण्ड की आवश्यकता प्रतीत नही होती? ऐसा व्यक्ति-निरपेक्ष मानदण्ड जो दूसरों के सामने युक्तिसंगत ढंग से व्यवहारतः प्रदर्शित किया जा सके। इस वस्तुगत दिशा के अभाव में सारा 'मानसिक आरोहण-अवरोहण' एक अस्पष्ट और अपूर्ण मानदण्ड की ही स्थापना कर सकता है। उदाहरण के लिए, किसी साहित्यिक कृति मे अश्लीलता का निर्णय करने के लिए साही के अनुसार केवल ये प्रश्न पर्याप्त है: "क्या यह वर्णन हमारे अनुभव में कोई नया आयाम जोड़ जाता है? क्या इस ने जीवन की हमारी सामान्य अनुभूति में गहराई, सूक्ष्मता, विविधता जोड़ी है? क्या हम जिस तरह एक फूल की सुगन्ध को दूसरे फूल की सुगन्ध से अलग कर सकते है, उसी तरह कलाकार हमें ऐसे अनुभवों की ओर ले गया है जो हमारे नितान्त शारीरिक अनुभव को सौन्दर्यात्मक अथवा भावनात्मक अनुभूति बना कर मूल्यवान् बना सकें? यदि इन प्रश्नों का उत्तर हाँ है, तो निश्चय ही कृति, कलाकृति है और अश्लील नही है।"

यदि इन प्रश्नों के अनुसार चलें तो सारा

निर्भर 'अनुभूति' पर निर्भर है और मूल्य समस्या 'शारीरिक अनुभव' को 'भावनात्मक अनुभूति' (!) बनाने की है। यदि 'शारीरिक अनुभव' 'भावनात्मक अनुभूति' बन गया तो अश्लीलता नहीं रही, गोया सभी 'भावनात्मक अनुभूतियाँ' स्वत श्लील होती है और 'भावनात्मक अनुभूति' के स्तर पर अश्लीलता हो ही नही सकती। फिर भी यदि 'भावनात्मक अनुभूति' अपने-आप में निर्णायक न हो सके तो चाहे के चुनाव पर उस में गहराई, सूक्ष्मता, विविधता, प्रखरता आदि 'नये आयामो' को जोड कर विचार करना चाहिए। किन्तु क्या ये नये आयाम अपने-आप में मूल्यवान् हो सकते है? क्या अश्लील चित्रो में गहराई, सूक्ष्मता, विविधता एव प्रखरता के नये आयाम सम्भव नही है? क्या अनुभूतियो के ये विविध आयाम सामाजिक नैतिकता अथवा अनैतिकता से सवथा निरपेक्ष हो सकते है? यह किस प्रकार मान लिया गया है कि 'आयाम' भी एक मूल्य है?

इस के अतिरिक्त, इस अनुभूतिवादी मानदण्ड का निर्माण इस भ्रान्त धारणा के आधार पर हुआ है कि साहित्य में शुद्ध अनुभूतियो का चित्रण होता है तथा साहित्य से कुछ अनुभूतियाँ प्राप्त होती है, जब कि साहित्यकार अपनी रचना में अ तत अनुभूतिया का मूल्याकन प्रस्तुत करता है और किसी रचना से हमें अनुभूति के रूप में मूल्य प्राप्त होते हैं और इसी लिए हम किसी रचना का अनुभव कर के ही तुष्ट नही होते बल्कि उस से आगे बढ कर यथाशक्ति मूल्याकन करते है। इस प्रकार श्लील-अश्लील का प्रश्न केवल अनुभूति का प्रश्न नही, बल्कि अनुभूति के मूल्याकन का प्रश्न है और किसी-न-किसी स्तर पर मूल्याकन का नैतिक होना अनिवार्य है। केवल एक कलावादी ही कला को मूल्य-मुक्त मान सकता है और इस प्रकार नैतिकता निरपेक्ष (amoral) अन्यथा सूक्ष्म से सूक्ष्म और जटिल से जटिल नैतिक परिकल्पनाएँ करने वाले भाववादी एव व्यक्तिवादी विचारक भी मूल्य-निर्णय के प्रश्न को नैतिकता के अन्तर्गत विचार करने के लिए विवश है, यहाँ तक कि अनैतिकता का प्रचार करने वाले भी अपने नीति शास्त्र रचते हैं। नैतिकता का अर्थ हमेशा 'शुद्धतावाद' या 'प्यूरिटनिज्म' ही नही होता, यदि कुछ नये लेखक शुद्धतावाद से आतंकित हो कर 'नैतिकता' मात्र से भाग रहे हैं तो इसे उन का अविवेक ही कहा जायेगा।

साहित्य मे अश्लील-निर्णय को उलझाने के लिए कलावादी लेखको ने उन्नीसवी सदी के युरोपीय 'नैतिक सापेक्षवाद' को भी पुनर्जीवित करने की कोशिश की है। अज्ञेय जब कहते हैं कि "श्लील और अश्लील की कोई परिभाषा न केवल शाश्वत नही हो सकती वरन् आत्यन्तिक भी नही हो सकती", क्योकि "श्लील और अश्लील केवल समय (कनवेंशन) है, जो हर समाज और सामाजिक स्थिति के अपने अलग-अलग होते हैं", तो वे एक साथ ही देश और काल दोनो ही स्तरो पर 'नैतिक सापेक्षतावाद' का ही आश्रय लेते है। निस्सन्देह इस 'नैतिक सापेक्षतावाद' ने

शाश्वतवादी रूढ़ियों के शिकंजे से नैतिकता को मुक्त करने मे ऐतिहासिक भूमिका अदा की; लेकिन आगे चल कर इस मान्यता ने नैतिक अराजकता को बढ़ावा दिया। इस से व्यक्तिवादी नैतिकता की प्रतिष्ठा हुई और कालान्तर में जब समाजवादी नैतिक मूल्य सामने आये तो 'नैतिक सापेक्षवाद' जर्जर व्यक्तिवादी नैतिकता के लिए कवच बना। आज यह भलीभाँति स्पष्ट हो गया है कि 'नैतिक सापेक्षतावाद' अर्ध-सत्य है। श्लील और अश्लील के मानदण्ड देश और काल के अनुसार बदलते तो रहे हैं परन्तु इन परिवर्तनों के बीच से क्रमशः एक प्रतिमान भी विकसित होता रहा है और क़ायदे से आज का सभ्य समाज अश्लीलता-विषयक निर्णय कर सकने की वेहतर स्थिति मे है। यदि ऐसा नहीं है तो मनुष्य का सारा इतिहास व्यर्थ है और चिन्तन तथा विचार के विकास की सारी धारणाएँ मिथ्या है।

'नैतिक सापेक्षतावाद' से ही एक और बारीक बात निकाली गयी है कि किसी 'विशेष' मामले मे तो अश्लीलता का निर्देश किया जा सकता है किन्तु ऐसा कोई सामान्य नियम नही बनाया जा सकता जिस से इस तरह के सारे मसले तय हो जायें। निस्सन्देह हर मामला विशिष्ट होता है और उस की अपनी विशिष्ट समस्याएँ होती है जिन पर किसी पूर्व-निर्धारित प्रतिमान को लागू करना असंगत है। किन्तु क्या ऐसे ही अनेक विशेषों के विश्लेषण से क्रमशः एक कामचलाऊ मानदण्ड नहीं बन जाता? किसी मामले की विशेष समस्या के सम्मुख इस सामान्य प्रतिमान में आवश्यकतानुसार परिवर्तन भी होता है। किन्तु विशेषानुसार प्रतिमान को परिवर्तनीय कहना एक बात है और आत्यन्तिक परिभाषा को असम्भाव्य कहना बिलकुल दूसरी बात। यदि नियम न होगा तो निर्णायक व्यक्ति-विशेष होगा और वह व्यक्ति-विशेष भी यदृच्छाचारी। निर्णय क्या होगा, कहा नहीं जा सकता। परिणाम अनिश्चयवाद। यहाँ भी स्पष्ट हो जाता है कि अश्लील निर्णय के प्रश्न को जब भी समाज से हटा कर व्यक्ति पर और वस्तुगत आधार से अलग कर के आत्मगत आधार पर रखा जायेगा तो अनिश्चय की सृष्टि होगी।

एक ज़माना था जब किसी पुस्तक मे अश्लीलता का निर्णय करते समय लेखक के 'इरादे' को ध्यान मे रखने की बात कही जाती थी। कुछ लोग 'इरादे' का सवाल अब भी उठाते है। क़ानून में 'इरादे' की चर्चा अभी तक चल रही है और इस आन्तरिक रहस्य से काफ़ी नाजायज फ़ैसले कराये जाते हैं। फिर भी क़ानूनी कार्यवाही की कुछ ऐसी बाध्यता है कि इरादे को ठोस तथ्यों से प्रमाणित और पुष्ट किया जाता है। साहित्य-समीक्षा मे भी यदि यही कड़ाई बरती जाये तो 'इरादे' की समस्या वहुत कुछ हल हो सकती है। किन्तु यहाँ कुछ ऐसी स्थिति है कि लेखक का असली इरादा तो पोशीदा रह जाता है, आलोचक का इरादा अलबत्त प्रकट हो जाता है। वैसे, मन के अवचेतन स्तर की खोज के वाद भी यदि कोई लेखक

के चेतन 'इरादे' की बात करता है तो उसे मासूम ही कहना चाहिए। लेखक के इरादे की दुहाई देने वाले को क्या खुद अपने इरादे का भी ठीक-ठीक पता है ?

जब सारी दलीलें खत्म हो जाती हैं तो विचारार्थ प्रस्तुत पुस्तक की सफ़ाई के लिए प्राचीन युग के कुछ महान् लेखकों को पेश किया जाता है। कहा जाता है कि अश्लील वर्णन तो व्यास, वाल्मीकि, कालिदास, शेक्सपीयर, बाल्जाक आदि ने भी किये हैं। गरज़ कि आज जिन रचनाओं को 'क्लासिक' मानते हैं उन्हें किसी समय कुछ लोगों ने अश्लील कहा था और सम्भवतः वैसे ही लोग आज भी अश्लील कह सकते है, और यदि उन्हें अश्लील कहते डर लगता है तो इसी लिए कि वे महान् हैं, या फिर अश्लीलता का मानदण्ड ही बदल गया है। निस्सन्देह कट्टरपन्थी आलोचकों का मुँह बन्द करने के लिए यह युक्ति काफ़ी जोरदार है, किन्तु इस युक्ति के द्वारा विचारार्थ प्रस्तुत किसी नयी पुस्तक का समर्थन करना असम्भव है। इसे हेतुवाद से अश्लील-निर्णय मे कोई सहायता नही मिलती और न तो इस से जटिल स्थिति का का कोई स्पष्टीकरण ही होता है।

स्थिति यह है कि साहित्य में यौन-चित्रण की प्रवृत्ति तेजी से बढ़ रही है। सिर्फ़ बहस की बात यह नही है, बल्कि तथ्यों से ताल्लुक रखती है और कोई भी व्यक्ति सीधे इस की छान-बीन कर सकता है। इस लिए यह कहना कि "श्लील और अश्लील का प्रश्न नया नहीं है", संकट को कम कर के देखना होगा। आज यौन-आकर्षण विज्ञापन की सब से प्रचलित पद्धति है। जिस पूँजीवादी व्यवस्था ने हर चीज़ को बाज़ारू बनाने की कोशिश की, उस ने यदि 'सेक्स' को भी व्यावसायिक बना दिया तो इस में आश्चर्य की कोई बात नहीं। बहुत सम्भव है कि साहित्य में बहुत-सा सेक्स-चित्रण किसी न किसी रूप में इस व्यावसायिक प्रवृत्ति का ही प्रभाव हो। लेकिन जहाँ सेक्स-चित्रण व्यावसायिक नहीं है, बल्कि 'अनुभूतियों के नये आयाम' खोजने के लिए किया जा रहा है उस के मूल में भी सम्भवतः सेक्स की व्यावसायिकता की गहरी प्रतिक्रिया ही काम कर रही है। यदि कुछ लेखक सेक्स को व्यावसायिक बना रहे हैं तो कुछ कलाकार सेक्स से 'अनुभूतियों के नये आयाम' उद्घाटित कर के यह साबित करने की कोशिश कर रहे है कि एक व्यावसायिक वस्तु को भी कला का रूप दिया जा सकता है। इस प्रकार कलावादी साहित्यकार एक साथ ही 'सेक्स' को गन्दा समझने वाले शुद्धतावादियों और 'सेक्स' को बाज़ारू बनाने वाले व्यवसायियों को जवाब देते हुए, अपनी कला-सामर्थ्य प्रदर्शित कर रहे है। निस्सन्देह सेक्स-साहित्य लिखना बड़ा कठिन है; ऐसे सीमित विषय को ले कर विविधता एवं विस्तार की रक्षा दुर्लभ है ; ऐसे लेखन में अन्त तक दिलचस्पी का निर्वाह कर ले जाने के लिए बहुत बड़े कला-कौशल की आवश्यकता है। क्या इस कठिनाई के कारण ही तो कुछ समर्थ साहित्यकार इधर आकृष्ट नही हुए है ? जो हो, यह प्रतिक्रिया भी पूँजीवादी सांस्कृतिक

ह्रास का लक्षण है, क्योंकि जिस साहित्यकार का ध्यान जीवन के गम्भीर प्रश्नों की ओर है, वह ऐसी शिल्पगत चुनौतियों को स्वीकार करने के लिए अग्रसर नही हो सकता। कलात्मक भेद के बावजूद व्यापक परिदृश्य में सेक्स-सम्बन्धी बाजारू पुस्तकें और कलात्मक कृतियाँ अन्तत अनैतिक प्रमाणित होती हैं क्योंकि वे गैर जिम्मेदार हैं और समाज की ज्वलन्त समस्याओ से कतराने का प्रयत्न करती है।

सेक्स-सम्बन्धी बाजारू कथा-कृतियो को केवल असाहित्यिक कह देना ही काफी नही हैं। जो यह कहते हैं कि "कलाकृति अश्लील हो ही नही सकती क्योकि यदि वह अश्लील है तो कलाकृति नही है" वे खामखाह अपने को एक-दूसरे जटिल विवाद में डालते है। किस रचना को कलाकृति कहें और किसे नही—यह प्रश्न अश्लीलता के प्रश्न से कही अधिक जटिल है। जिन कृतियो में सेक्स के कलात्मक चित्रण के द्वारा 'अनुभूतियो के नये आयामो की खोज' का दावा किया जाता है स्वय उन का 'कलाकृति' कहलाना भी विवादास्पद हो सकता है और वह भी स्वय 'कला' के मानदण्ड से। कलावादी कृतियो की कला को भी चुनौती दी गयी है। इस लिए जो यह सोचते हैं कि 'कलाकृति' के नाम पर सेक्स के कलात्मक चित्रण वाली पुस्तकें श्लील कहलाने से बच जायेंगी और बाजारू पुस्तकें दण्डित होंगी, वे ताश के घर में आश्रय ढूँढ रहे हैं।

समस्या आज सिर्फ इतनी नही है कि सेक्स-साहित्य पढ कर लोग वास्तविक जीवन में यौनाचार के लिए उत्तेजित होंगे, बल्कि समस्या यह भी है कि साहित्य-जनित काल्पनिक उत्तेजना से ही पर्याप्त तृप्त हो कर वे वास्तविक जीवन मे निष्क्रिय हो सकते हैं। यदि बाजारू साहित्य के पाठक यौनाचार के लिए प्रवृत्त हो सकते हैं तो 'अनुभूति के नये आयामो' वाले कलात्मक साहित्य के पाठक निर्वीर्य भी हो सकते है।

इस लिए इस सकटपूर्ण स्थिति में भी जो साहित्यकार इस समस्या को खामखाह उलझाने के लिए 'मानसिक आरोहण-अवरोहण' के कलापूर्ण व्यायाम दिखा रहे हैं वे भी एक प्रकार से साहित्यिक अपराध कर रहे हैं। जिम्मेदारी का तकाजा यही है कि अश्लील साहित्य की समस्या को सुलझाने के लिए साहित्यिक स्तर से ही प्रयत्न शुरू किया जाये। जहाँ रेमण्ड विलियम्स को साहित्यिक स्तर पर इस प्रश्न को उठाने के लिए नये सिरे से प्रयत्न करना पड रहा है, वहाँ हमारे सामने तत्सम्बन्धी विशाल साहित्यिक विचार-परम्परा है। सस्कृत काव्य-शास्त्र में अश्लील को एक काव्य-दोष माना गया है और यदि हम आज भी अश्लील को एक साहित्यिक-दोष मान कर विचार करते हैं तो इस से साहित्य की मर्यादा किसी भी प्रकार भग नही होती। आज अश्लीलता सम्बन्धी विचार करते समय कोई आवश्यक नही कि सस्कृत काव्य-शास्त्र के ही लक्षणों का अनुसरण किया जाये, क्योंकि विकास-क्रम को ध्यान में रखते हुए आज अश्लीलता सम्बन्धी साहित्यिक विवेक

[शेष पृष्ठ १५२ पर]

भ्रमरानन्द का आंचलिक वक्तव्य

विद्यानिवास मिश्र

●

हे आँचर वाले बाबू, हे आँचर वाले बाबा,
हे आँचर वाले दादा, हे आँचर वाले भैया,

आप ने अपने विवाह मे आँचर-थम्हाई का नेग कुछ बेशी पाया, मैं तो अभागा ही रहा। शायद इस लिए कि आँचर तो बदस्तूर थाम्हा मैं ने भी, पर एक तो मेरी न कोई जेठी-साली थी, न जेठी-सलहज, सास भी एकाधिक नहीं, दूसरे मुझे देर तक थाम्हे रहना कुछ वैसा लगता था। किन्तु आप लोगों की क़िस्मत चौड़ी थी और हिम्मत भी बढ़ी-चढ़ी थी, तभी तो आँचर का पल्ला आप के हाथ से छूट नहीं रहा है, हाँ, जरा एक बार गौर से देख लीजिए कि कही केवल आँचर का पल्ला ही तो नहीं अपने संगी से विलग हो कर आप की फ़ौलादी उँगलियों में फँस कर तार-तार रह गया है। यह नहीं कि मै इस अंचलाग्रह को ग़लत मानता हूँ। बिलकुल नहीं, मै वचन पर वचन दे सकता हूँ कि साहित्य मे ही नहीं सांख्य-जैसे सोठ दर्शन में भी पण्डितों को मजा तब आता है जब 'विगलित सिचयांचला' हो कर प्रकृति-नटी पुरुष के सामने से लजा कर भागने लगती है। हमारी सन्तवादी धारा में तो अँचला लाक्षणिक प्रतीक बन गया है वैरागी की बानक का। वैसे भी हम मातृदेव हैं, वंग-जननी की जय हो, उस अंचल की वत्सलता से हम अघाये हुए भावोच्छल साहित्य-शिशु हैं। हमारे पड़ोसी अंचलप्रेमी बिहारी सरकार ने तो अंचलाधिकारी नियुक्त कर के (ब्लाक-डेबलपमेंट अफ़सर को यह रसिक नाम दिया गया है) राजनीति में नया कीर्तिमान् स्थापित किया है। यह भी नहीं कि अंचल के बीजन का सुख मुझे सुलभ न रहा हो, मेरे प्रथम उत्ताप के वे दिन इसी बयार से जुड़ाये जाते रहे। पर जाने क्यों जब ठाकुर भाई ने फौजी हुकुम दिया कि पण्डिज्जी, आप नयी हिन्दी कविता पर पूरबी लोकगीतों के प्रभाव पर निबन्ध पढ़िए, तब मुझे अपने उस अग्रज पण्डित की याद आयी, जो नदी मे बहा जा रहा था, एक गाँव के घाट पर लोगों ने उन्हे बहते देखा, कहा—मोटी चुटिया दिख रही है, हो न हो, ये पण्डित ही हैं, चलो, इन्हें बचा लें, न होगा तो बच्चों को पढ़ायेंगे।

पण्डितजी ने वही से हाथ से रोका और कहा कि यही बडे मजे में हूँ। तो दादा और भैया लोगो, ये बिचारे पण्डितजी ललित निबन्धिनी नदी में डूब-उतरा रहे हैं, पर ललित निबन्ध की सांसत आंचलिक प्रभाव पर व्याख्यान देने की अपेक्षा कुछ कम ही जानलेवा लगती है। मैं आंचलिक प्रभाव पर व्याख्यान देने की बात सोचते ही काँप जाता हूँ। बापरे-बाप! आंचलिकता के तोरण से ऐसे ऐसे मगरमच्छ लटक रहे हैं कि पण्डितजी एक कौर हो कर रह जायेंगे। यह सही है कि यह मन्दिर जब बन रहा था तो गारा माटी मैं ने भी सानी थी, पर अब तो इस पर ऐसे देवों-देवताओं और उन के भूत-बैतालों, पावाओं और घाटियों का अधिकार है कि सच कहता हूँ, डर लगता है बिलकुल नयी कविता वाला, मुझे अपने से डर लगता है।

नाराज़ न हों, मैं आ गया हूँ तो कुछ कहे बिना चारा नहीं है। माध्यम के द्वारा आहूत भूत हूँ, उस भूत की ही जबान में (ज़रा नक्सुर होती है वह जबान) कुछ भाखूँगा। लीला-नौटकी की बात नहीं, फुर-फुर बोलूँगा। भोजपुरी ने नयी कविता को दो अद्‌भुत प्रत्यय दिये, प्यार और दुलार के—या और—वा, वन की कोइलिया से अमवा हहर उठवा है, धनिया की मधुरी बतिया से मनवा भी लहर उठता है, बोलिए न मुनिया जी, बतिया जमी कि नहीं। ये प्रत्यय गीतों के प्राण बन गये, फिल्मी दुनिया भी इन प्रत्ययों को पा कर उफना उठी। भोजपुरी ग्रियर्सन बाबा के मतानुसार मर्दानी ज़बान है, ऐसी मर्दानी कि हाथी ऐसी चीज को स्त्रीलिंग बना कर छोडती है, सो खडी बोली का खडापन उस ने झुका ही तो दिया। पिछले साल इन दिनों एक दूसरी ही बरसाती बहार थी, एक कवि सम्मेलन प्रतिरक्षा-कोष के लिए हुआ, उस में टँइया-से स्वर में एक शायर ने बतर्ज़ 'झुलनी हेराय गइली रामा' अपनी कविता पढी और जब बँहिया, छँहिया, सँइया और अमरँइया तक वे पहुँच चुके, तब मुझ से नहीं रहा गया, मैं ने कहा टँइया और फिट कर दीजिए, गीत चहक उठेगा। और बिचारे मुरादाबाद की पालिश में पले आदमी समझ न पाये। झट उन्होंने टँइया को भी फिट कर के एक पंक्ति जोड दी और लगे हाथ सुना भी दी। परिणाम आशातीत रूप से सफल रहा, वे आदाब-अर्ज़ कर के वापस लौटे, समरभूमि से लडाई में पन्द्रह मिनिट तक अडे रहने की सनद ले कर।

दूसरा दुर्दान्त प्रभाव नयी कविता पर भोजपुरी का यह पडा है कि नैहरपन्थ प्रबल हो गया है। नैहर की सुधि गोइँठा की आग की तरह धीरे-धीरे सुलगती है, और रसे-रसे दर्द भैंस की तरह हिरने लगता है, इस से एक बडा कल्याण हुआ कि रीतिवादी पीर और छायावादी टीस से नजात मिली। दर्द और वह भी धुँईला दर्द नैहर के मैले आँचर का दद है न! कोई हँसी-ठट्ठा नहीं। नैहरपन्थ का दूसरा पहलू है, पोहर से उदासीनता। माँजने को बरतन धरे के धरे रह जाते हैं, गागर अनभरी की अनभरी रह जाती है, नैहर की सुधि आते ही मन जाने किन अरहर

के खेतों में चरने चला जाता है। कठकरेजी सास ताना देती है तो अँगुरियाफोड़ वाणी प्रादुर्भूत हो जाती है; पति गुदगुदाने की एकान्त में कोशिश करता है तो आँसू मुखर हो जाते हैं; समौरिया (समवयस्क) सखियाँ कुरेदती हैं तो आँखें कहानी कहने लगती हैं, रूपन दादा कलेजा थाम्ह लेना, बहकने न पाये ! यह आत्मविभोर भाव, यह गजनिमीलिका, यह पाछिल प्रीति-पहचान, यह छुटकारे का सहज नुस्खा संकटकाल की तरह भावात्मक एकता स्थापित करने मे वरदान-स्वरूप है। यहाँ तक कि जो दूध पीते ही पीहर चली आयी, उन को भी नैहर इस तरह याद आता है जैसे कि वह योगियों के प्रत्यक्ष से देख लिया गया हो। कभी-कभी कुछ गड़बड़ भी हो जाती है, बारहों महीने फागुन-चैत लरजे रह जाते है, बाजरा की मंजरी चैत मे महकने लगती है और महुए के कूँचे सावन में टपकने लगते है; गाँव की प्रकृति नैहरपन्थी कल्पना में उलटा-पुलटा सिंगार करने लगती है, आँख का आँजन होठों पर, माथे का टीका कानों मे, कानों की वाली नाक मे, कटि की करधनी गले मे और गले का हार पैरों मे; पर यह सब भावविह्वल विशृंखलता के साथ ताल-मेल ही रखती है। यह कल्पना-प्रवणता नैहर-पन्थ की कविता को तीसरी महान् देन है। इस कल्पना-प्रवणता ने असंख्य अनाम पेड़-पौधो और पशु-पक्षियों को एक अरूप अगोचर अस्तित्व प्रदान किया है, वह अस्तित्व ब्रह्म की तरह व्यापक है, निर्विकल्प है और आम है। इस अस्तित्व की छाँह, दुपहरी कौन कहे, साँझ तक गुज़ार देने के लिए काफ़ी है। ठाकुर भाई, ठीक है न ? और सब से मंगलकारी प्रभाव तो बिसरा ही जा रहा था। भोजपुरी भवानी की जय हो, नयी कविता में देववाद को नव-जीवन मिला। हमारे संस्कार-गीतों में पितरों को न्यौतते समय उन के नाम के बाद 'देव' जोड़ा जाता है और उन की पत्नियों के नामों के आगे 'देवी'। सो बड़े-बड़े नास्तिक मैया का चौरा पूजने लगे हैं, दियना बारने की और गंगा मैया की धारा मे चाँचर पर दियना जला कर बहाने की हुलास भी जोरों पर है, जन नामक डीह पर दूध और चावल के आटे की अधपकी खीर चढ़ रही है, धरती मैया के हाथी के मुँह में, कान में बतासे भरे जा रहे हैं और कुछ दिनों तक तो ललकी (लाल) भवानी के लिए कपूर की धार ढरकायी जाती रही, अब इधर करिक्की (काली) भवानी का ही जोर है। इस आस्तिकता के उमहाव के आगे तो वैष्णव भक्ति पानी भरे, शाक्त धर्म कलऊ (कलियुग) में प्रबल है न ! इस देववाद ने बड़ा पावन कार्य किया; अब शुचि-अशुचि का भेद मिट गया, भाव हो, फिर पाप-पुण्य तो भ्रम है ! इस ने फूटी, पूरी, आधी, डेढ़ी सभी आँखों को आँज दिया, उन्हें दिव्यदृष्टि मिल गयी। हर दीठ प्रीति बन गयी और हर प्रीति अमृत, हर पानी की बूँद मोती हो गयी, हर वाली सोना, हर काठ चन्दन और हर गड़ही गंगा। गंगा मइया की जय हो ! देवी-देवताओं की महिमा अपार है, पर यह क्या, चन्दन क्यों काठ हो गया और गंगा क्यों गड़ही हो गयी। यह कैसी आँचर की हेरा-

फ़ेरी हुई कि जो देववाद की प्रतिष्ठा करने वाले असली मन्त्र थे, वे झूठे हो गये। सत्य और उज्ज्वल प्रकाश का स्थान रंगीन असत्य ने कैसे ले लिया; बताओ न शक्ति के उपासको, सत्त कहाँ गया? दुःख को दुःख, सुख को सुख, श्मशान को श्मशान और घर को घर देखने वाला सत्त कहाँ गिर गया? परम्परा के धनी-धोरियो, तुम तो अपर की तलाश में अपरापर हो चले हो, तुम ने परम्परा की डोर किस ग़ैबी कुएँ में डाल दी : लोटा तो डूब ही गया। अब अँजुरी भर-भर ढकर-ढकर जल पियो। हाथ जोड़ता हूँ, बुरा न मानना, आनन्दकानन के वंशी टेरी वीर लोगो, अंचल देवता के धानी सावन में तुम ने लगता है समाधि ली और तब से बराबर तुम्हारे नलिनविलोचन ध्यान में मुकुलित हैं। तुम ने वैशिष्ट्य की तलाश मे इस अंचल की शरण गही, पर इस के एक रंग में ऐसे बेसुध हुए कि तुम ने अपना निजी सामान्य भी उत्सर्ग कर दिया। नये देववाद की प्रतिष्ठा मे ऐसा होता ही है। कबीर ने नयेपन की तलाश मे हर पूजा को ढोंग कह कर नकारा और कबीरपन्थियों ने पूजा की पद्धति और भी जटिल और विस्तृत रच डाली। नूतनता का उन्मेष सार्थक है प्रत्यग्र अनुभव के रूप में, नारा बनते ही धूमिल हो जाता है, ताज़गी की सुवास अपने क्षण में है, उस को टिकाऊ मानने वालों की घ्राणशक्ति निश्चय ही विजड़ित होगी। दुहाई पूर्वांचल के दादा लोगों की, दुहाई भैया लोगों की और दुहाई भोजपुरी मैया की, मैं पूर्वांचल का ही एक एकटाह (एकचारी) साहित्यकार हूँ, मैं ने जो कुछ भी निवेदन किया है वह इस लिए कि अपने लोगों के बीच अगर घर की सही-सही बात न रखी जाये तो दुराव होगा। मैं साहित्य के भौगोलिक विभाजन मे विश्वास नहीं करता, वैसे ही कुछ कम विभाजन नहीं है, मैं पूरबी अंचल के अखिल हिन्दीव्यापी उपकार का दम्भ नहीं रखता, क्योंकि मैं यह मानता हूँ कि अंचल का वैशिष्ट्य तभी है जब वह अपना है, उस को छूने में चोरी नहीं है; दूसरे अंचल की छीना-झपटी का प्रभाव कुछ अच्छा नहीं हो सकता। मै जाति-विलास और देश-विलास की नायिकाओं के रसास्वाद का साझीदार भी नहीं होना चाहता। इस लिए यह प्रलोभन किशोरमति पश्चिमाचली राजा लोगों के आगे देना कि 'हम त खरमेटाव करीलें राजा रहिला चबाइ कें, मेंवल धरल बा दूध में खाजा तोरे बदे' मैं सोचता हूँ ईमानदारी की बात नही है। यह दूसरी बात है कि खाजा लोभी राजा लोग पतियायेंगे नही, हर अंचल की क्षमता-अक्षमता उस अंचलवासी के लिए है; यह मान कर चलने पर बात वहीं तक की जानी चाहिए, जहाँ तक कि इस अंचलवासी हिन्दी के नये कवियो की रचनाप्रक्रिया में भोजपुरी लोकरागिनी का उपादान हुआ हो।

मैं ने इधर बहुत तीखेपन के साथ अनुभव किया है कि जहाँ लोकगीतों के तन्त्र या शिल्प को कविता में एकदम ढालने का यत्न हुआ है, वहाँ एक विचित्र-सी कृत्रिमता आ गयी है, शैवाल सरसिज की शोभा बनाता है, वह सरसिज वदन की शोभा बनाये यह क़तई

जरूरी नहीं है। पुनरुक्ति, प्रश्नोत्तर, पहेली और बिम्ब-प्रतिबिम्ब जिस हद तक लोकगीतों के आकर्षण को बढ़ायें, इस में मुझे बड़ा सन्देह है। इस के विपरीत जहाँ लोकगीतों के सन्दर्भ अनुभव के सस्पर्श से पुलकित हो कर आये हैं, वहाँ द्युति, शक्ति और प्राणवत्ता आ गयी है, उदाहरण के लिए कुछ पंक्तियाँ लें—

"टीठि पार काँपे डूबी डूबी परदेसी राह"
"खोज रहा हूँ, मैं यहाँ भी शायद अपनापन
कोई उठता निरवा, कोई बादल का छन"
(रामदरश मिश्र)

"मुझ को आँचल में हरसिंगार भर लेने दो,
मिटने दो आँखों के आगे का अँधियारा"
(सर्वेश्वर)

"ये तन से परे ही पर रहते
ये मन में नहीं अँटते
मन इन से विलग जब हो जाता,
ये काटे नहीं कटते,
ये आँखों के पाहुन बड़े छलिया इन्हें देखे
न मन भरता"
(केदारनाथ सिंह)

"आगे पुकारेगी सूनी डगरिया पीछे झुके
वनबेंत
सखा पुकारेगी गोरी अगडिया मारे हुए
धनखेत"
(केदार)

"पर पहले अपना यह आँगन कुछ कहता है,
उस उड़ते आँचल से गुड़हल की डाल
बार-बार उलझ जाती है,
एक दिया वहाँ जलाना"
(केदार)

"कोंपल के होठों ने बाँसुरी बजायी
पिडकलियों ने पूरी दोपहर जगायी"
(ठाकुर)

"धीरज की गाँठ खुली तो लेकिन
आधे अँचरा पर पिय सो रहा"
(ठाकुर)

"एक कली बेले की
मेरे मन में जैसे
भूली भटकी कोई लड़की हो मेले की"
(रूपनारायण)

"आया था घाट सँझलौके में
देखा नट छाया का
खेल रहा होली था रंगों की"
(मार्कण्डेय)

इन पंक्तियों में एक-दो शब्दों के ही माध्यम से लोकगीतों के सन्दर्भ को उकसा कर काव्य-अनुभव कृतार्थ हो गया है। उदाहरण ये दिङ्मात्र हैं, महज यह जतलाने के लिए मैं गलत न समझा जाऊँ।

इस सम्मेलन की देहली पर माथा टेकने आया हूँ तो यह अरजी लगा कर जाऊँगा कि अंचल पर बड़ी बुरी नजरें लगी हैं। उन से अंचल को बचाओ, लिम्टालकार बनने से अंचल की प्रकृति को बचाओ, फ्लैश बल्ब की जलाने वाली रोशनी से इस बनारसी पाटदार

अंचल को बचाओ, साईं के भभूत के लिए उघर कर परसने से इस अंचल को बचाओ, वेणी के साथ पीछे लहराने के कारण एँड़ीदार जूतियों की उठती धूल से इसे बचाओ। और अमृत के पुत्रो, आँधी-पानी से बचाओ, राजनीति की मूसलाधार वर्षा इसे निर्लज्जता का आवरण न बनाने पाये, नयेपन के अभिमान की आँधी इसे उड़ाने न पाये। अंचल सुकुमार है, इसे खींचो मत, इसे पकड़े मत रहो, अगर जवाँमर्द हो तो इशारा भर काफ़ी है। यह अंचल तुम्हे दूसरे अंचलों के प्रति आदरशील बनाने के लिए तुम्हे स्नेह देता है, तुम यदि इसे अपना कर दूसरे अंचलों को तुच्छ समझने लगे तो इस अंचल का अपमान होगा।

अधिक क्या विनतो करूँ, मझौवा या बारो के ही सब लोग तो है नहीं। थिर बुद्धि कर के सोचिए कि आंचलिकता नारा या शोर बन कर रहे या कि मन की सुवास। भूल-चूक लेनी-देनी। सब क्षमा करना। हम इस मण्डली का अहिवात दिन-दिन मनाते हैं।

आप का अँचराछोर मीत
अमरानन्द

पुनश्च :

अमरानन्द २००० पृष्ठों का २० प्वाइंट में सुखसागर आकार में भोजपुरी भाषा में उपन्यास लिखने की योजना बना रहे हैं। शीर्षक 'एक क्विटल ऊखि (गन्ना) का तीस किलो भेली' (गुड़) रहेगा। ३० लेखक चाहिए; प्रत्येक लेखक ज़रूरी नहीं कि भोजपुरी अंचल के बारे में, पर भोजपुरी भाषा में और भोजपुरी पात्रों के द्वारा एक-एक बड़ी कहानी भेजें। जोड़ने का काम अमरानन्द कर लेंगे। बिना इस के न अमरत्व है, न पैसा, न प्रतिष्ठा। महाकाव्य लिखना हो तो संस्कृत में लिखो, एकेडमी एवार्ड मिलेगा, विचारपूर्ण लेख लिखना हो तो अँगरेज़ी में, शासन और विश्वविद्यालय प्रतिष्ठा देंगे। हिन्दी में केवल रोया जा सकता है! हाँ, कथा-कहानी लिखना हो तो भोजपुरी में। लेखकों का उत्तर एक महीने के भीतर मिलना चाहिए। पात्रों के नाम और कहानी की भौगोलिक पृष्ठभूमि भी साथ हो। और हाँ, लेखक की ससुराल और लेखिका के मैके के सुदर्शन लोगों का फ़ोटो भी (नींबू के गाछ के नीचे लिया गया) साथ हों।—अ०

[मई १९६४]

[अश्लीलता और साहित्य-समीक्षा : पृष्ठ १४६ का शेषांश]

का सूक्ष्मतर होना स्वाभाविक होगा। किन्तु संस्कृत काव्य-शास्त्र के तत्सम्बन्धी विचार-विमर्श से लाभ न उठाना हानिकर होगा। काव्य-दोष अश्लील का विचार मम्मट ने शब्द, वाक्य, विसन्धि, अर्थ, रस आदि विविध-स्तरों पर जितनी सूक्ष्मता से किया है, वह आज के लिए भी पथ-प्रदर्शक हो सकता है। मम्मट के विवेचन की और जो सीमा सम्भव हो किन्तु एक बात स्पष्ट है कि अश्लीलता का निर्णय साहित्य-समीक्षा की मर्यादा के भीतर साहित्यिक रूप से ही सम्भव है।

[फ़रवरी १९६२]

विश्व के समीक्षकों के बीच

देवराज



छात्रावस्था के अध्ययन के वर्षों में प्रस्तुत लेखक का यह नियम था कि वह श्रेष्ठ लेखकों की पुस्तकों को पढ़ते हुए उन के, या उन में से, महत्त्वपूर्ण विचारों को किसी कॉपी में दर्ज कर ले। दूसरी दिशा में, महत्त्वपूर्ण कवियों को बार-बार पढ़ते हुए, वह अक्सर अधिक सुदर पद्यों को कण्ठस्थ कर पाता था। साहित्य-चिन्तक के रूप में उस का स्वभाव रहा है न्यूनाधिक सुदर पक्तियों को गुन-गुनाते हुए उन की विशेषताओं का अनुचिन्तन एव विश्लेषण करने में प्रयत्नशील होना। प्राय वह महत्त्वपूर्ण समीक्षकों और साहित्य-मीमासकों की मान्यताओं को, अपनी प्रिय कृतियों को पढ़ते हुए और अधिक प्रिय पक्तियों को गुनगुनाते हुए, आँकने की कोशिश भी करता रहा है। इधर काफी वर्षों से यह सम्भव नहीं रहा कि वह विभिन्न ग्रन्थों से चयन कर के नोट तैयार करे, ऐसी स्थिति में यह खतरा रहता है कि कुछ बड़े विचार, एक बार दृष्टि-पथ में आ कर, वहाँ से सदा के लिए ओझल हो जायें। एक और बात है। जिसे हम सचमुच बड़ा विचारक या समीक्षक कहते हैं उस की मान्यताओं में कहीं-न-कहीं अपेक्षाकृत स्थायी शक्ति वाला अंश होता है, जिस के प्रति प्रत्येक सजग लेखक-समीक्षक को प्रतिक्रिया करनी चाहिए। एक सतर्क चिन्तक की स्वयं-द्वारा अर्जित समग्र दृष्टि में, किसी-न-किसी रूप में, दूसरों-द्वारा दृष्ट सत्यों का सगत समावेश हो सकना चाहिए। इस अभिप्राय से बढ़ते हुए, नया लेखक सम्भवत, पुरानी दृष्टियों का पुनराख्यान करना जरूरी पाता है—उन्हें इस रूप में रखना कि वे उस की स्वयं की दृष्टि में सगत स्थान पा सकें। इसी उद्देश्य से हम यहाँ कतिपय अंगरेज समीक्षकों के कुछ ज्यादा महत्त्वपूर्ण मन्तव्यों का उल्लेख करेंगे।

किसी भी बड़े समीक्षक-विचारक को पढ़ते हुए हम उस के कुछ गुणों पर खास तौर से मुग्ध होते हैं उस की मान्यता या मान्यताओं की किंचित् चौंकाने वाली नवीनता या मौलिकता पर, उक्त मान्यता या मान्यताओं की पुष्टि में लेखक की लम्बा-चौड़ा साक्ष्य जुटाने की योग्यता पर, और अतीत मतों का

निराकरण या परित्याग करने मे प्रदर्शित उस के साहस व आत्मविश्वास पर। अँगरेजी साहित्य के इतिहास में तीन समीक्षक विशेष प्रसिद्ध हुए हैं; यानी—मैथ्यू आर्नल्ड, टी० एस० इलियट, और एफ़० आर० लीविस। इन मे से प्रथम दो कवि भी हैं। यहाँ हम इन के मुख्य विचारों के प्रति अपनी प्रतिक्रिया प्रकट करेंगे।

•

आर्नल्ड का कविता के बारे में प्रसिद्ध वक्तव्य है कि : कविता जीवन की समीक्षा है। उन्होंने इस मन्तव्य को काव्य-साहित्य की एक या एकमात्र कसौटी के रूप मे उपस्थित किया है। कुछ दशकों पहले आर्नल्ड-कृत काव्य की यह परिभाषा कि 'वह जीवन की आलोचना हैं' बहुतायत से उद्धृत की जाती थी; आज वह प्रायः उपेक्षित है। इस उपेक्षा का एक कारण है—आर्नल्ड के अभिमत की, उस के द्वारा पल्लवित किये रूप मे, गैर-जानकारी। आर्नल्ड की यह दृष्टि उस के वर्षो के चिन्तन का फल थी। उस के आधार पर उस ने अँगरेजी के दर्जनों कवियों का अवमूल्यन किया; और जर्मन-कवि गेटे तथा वर्ड्सवर्थ की उच्चता की घोषणा की। उस के मन्तव्य का ठीक अभिप्राय क्या है?

आर्नल्ड का आन्तरिक अभिप्राय कुछ इस प्रकार है : बड़े कवि को एक विशिष्ट अर्थ मे आधुनिक होना चाहिए, आधुनिक ढंग से प्रतिक्रियाशील; उसे युग की जटिलताओं के प्रति (और उन जटिलताओं के कारणों के प्रति) संवेदनशील होना चाहिए। बड़े लेखक में एक विशेष क्षमता (गिफ़्ट) होती है—एक विशिष्ट बौद्धिक व आत्मिक (स्प्रिचुअल) वातावरण-द्वारा उत्प्रेरित होने की; विचारों के माहौल मे वह कुछ ख़ास प्रत्ययों या प्रत्यय-क्रम के प्रति संवेदनशील होता है और उन्हे अपनी प्रतिक्रियाओं में निबद्ध कर पाता है; इत्यादि। वस्तुतः आर्नल्ड अपनी केन्द्रगत धारणा का बहुत स्पष्ट प्रतिपादन नहीं कर पाता, वह उस के प्रति अनेक संकेत भर कर पाता है। 'विश्व के विधान में एक केन्द्रीय दृष्टि', 'एक निराले दृष्टिकोण से मानव और विश्व की नैतिक व्याख्या', 'एक तरह की बौद्धिक तथा नैतिक विमुक्ति (डेलीवरेन्स) की क्षमता' इत्यादि अनेक व्यंजनाओ मे आर्नल्ड अपने मन्तव्य को संकेतित करता है। अधिक स्पष्टीकरण उस की व्यावहारिक समीक्षा में होता है। उस की दृष्टि मे गेटे सब से बड़ा कवि है, क्योंकि वह अपने पाठकों में विश्व-जीवन को जटिलता को संवेदित करते हुए उन की चेतना मे एक तरह की स्वस्थ अन्तर्दृष्टि और भावना का सबल उन्मेप कर पाता है। महान् लेखक हमे कल्पना-लोक में पलायन की प्रेरणा नहीं देता, वह हमे ऐसी सक्षम चेतना से सम्पन्न करता है जो हमारे और विश्व-जीवन के यथार्थ के बीच एक स्वास्थ्यकर सन्तुलन स्थापित कर सके। इस प्रकार आर्नल्ड की अभिमत 'आलोचना' का एक नैतिक-आध्यात्मिक पहलू भी है। अन्तिम विश्लेपण में एक श्रेष्ठ लेखक रस या आनन्द के साथ-साथ आत्मिक शक्ति व सन्तुलन का स्रोत भी होता है। यह दूसरी चीज़ वर्ड्सवर्थ

की वाणी में प्रचुरता से मिलती है—किन्तु, गेटे की तुलना में, वर्ड्सवर्थ के काव्य में जीवनगत जटिलता को सवेदित करने की योग्यता कम है। मध्यम श्रेणी के कवि भी कभी-कभी उत्प्रेरक विचारो का आकलन कर पाते है, कि तु बडे कवियो की वाणी में सर्वत्र एक तरह की बौद्धिक विशेषता—दृष्टिगत बौद्धिकता—निरन्तर अनुस्यूत या प्रतिफलित रहती है। आर्नल्ड ने कवि बर्न्स का एक व्यजक पद्य उद्धृत किया है जिस पर टिप्पणी करते हुए आर्नल्ड कहता है कि कवि बर्न्स सिर्फ एक अकेले पद्य में एक विशेष कोटि की बौद्धिकता का पुट दे सका है, उस की किसी समूची कविता मे वह पुट नही आ पाता। तात्पर्य यह कि उच्चकोटि की बौद्धिक सचेतनता बर्न्स के काव्य का व्यापक गुण नही है।

हम ने कहा कि आर्नल्ड के अनुसार वर्ड्सवर्थ की अपेक्षा गेटे के काव्य में बौद्धिक जटिलता अधिक सवेदित है, किन्तु प्रथम कवि में आध्यात्मिक स्वास्थ्य की विशेषता अधिक मात्रा में मौजूद है। साथ ही आर्नल्ड ने यह भी लक्ष्य किया है कि कही-कही, मुख्यत अपने ग्र थ 'प्रिल्यूड' में, वर्ड्सवर्थ ने जिस तरह साहित्यिक चमत्कार से विच्छिन्न कर के, अपने विचारों का नीरस अनुवाद किया है वह एकदम वाछनीय नही है। यह एक सूक्ष्म विभेद है, जिसे विचारो के प्रेमी समीक्षक कभी कभी नज़र-अन्दाज कर जाते है। श्रेष्ठ कवि की बौद्धिकता उस की दृष्टि व चेतना की विशेषता होती है, वह अपने को सिद्धान्तो के ग्रथन मे प्रकट करे यह जरूरी नही है। वास्तव में श्रेष्ठ काव्य का बुद्धि-तत्त्व उस मे सर्वत्र ओत-प्रोत होता है, उसे सिद्धा त-सूत्रो के रूप में अलग कर के दिखाना प्राय सम्भव नही होता।

आर्नल्ड ने फ्रान्सीसी लेखक वाल्तेयर का एक वक्तव्य उद्धृत किया है "किसी जाति ने कविता में नैतिक विचारो (चेतना ?) को, अँगरेज़ जाति की अपेक्षा, अधिक शक्ति और गहराई से, अभिव्यक्त नही किया। यह अँगरेज़ कवियो की बडी विशेषता है।" निश्चय ही इस का यह मतलब नही है कि अँगरेज़ कवियो ने स्थूल रूप से शिक्षाप्रद रचनाएँ प्रस्तुत की है ?

यह देखने की बात है कि इलियट ने भी चिन्तन से अनुप्राणित काव्य साहित्य की प्रशसा की है। तथाकथित 'मैटाफिजिकल' (वितर्क या विमर्शात्मक, खास ढग से उदात्त-दाशनिक विचारो का सन्निवेश करने वाली) कविता का स्वरूप समझाते हुए उस ने लिखा है कि उस कोटि का कवि विचारो का आवेगात्मक आकलन या उपभोग करता है। किन्तु समस्त बडे कवि विचार-तत्त्व की दृष्टि से इन आदि कवियो के समरूप नही होते। शेक्सपीयर के नाटको में सामा यतया, और 'मैकबेथ' के 'टु बी ऑर नाट टु बी' से शुरू होने वाले अवतरण मे विशेषत, निबद्ध चि तन या चेतना 'मैटाफिजिकल' कोटि की नही है। प्रश्न है—काव्यगत चिन्तन-तत्त्व के स्वरूप को ज्यादा सही और सामा य रूप मे कैसे परिभाषित किया जाये ?

काव्य का उद्देश्य हमारी चेतना का प्रसार

है—उन तथ्यों या वास्तविकताओं की चेतना का, जिन का हमारे लिए रागात्मक महत्त्व है। दर्शन तथा विज्ञान के महत्त्वपूर्ण प्रत्यय प्रायः ऐसे तथ्यों या तथ्य-समूहों का संकेत करते हैं, इस लिए उन प्रत्ययों की जानकारी हमारी चेतना को विश्व की अर्थपूर्ण सम्भावनाओं से शीघ्रतापूर्वक और संक्षेप में अवगत करा देती है। काव्य की दृष्टि से महत्त्व तथ्यों का नहीं, उन मे अनुस्यूत या उन के द्वारा संकेतित मूल्यों का होता है। विज्ञान और दर्शन से उक्त मूल्यों के संकेत लेते हुए लेखक उपयुक्त चित्रों का आकलन कर लेता है। लेखक की एक चिरन्तन समस्या है—तथ्यों या चित्रों की भीड़ में से उन कुछ को चुन लेना जो संक्षेप में महत्त्वपूर्ण अर्थो का संकेत दे सकते हैं; इस प्रक्रिया मे लेखक का विस्तृत विचार-पक्ष सहायक होता है। सच यह है कि साहित्यकार दर्शन या विज्ञान के किसी भी विचार को अमूर्त्त रूप मे ग्रहण न कर के, उसे जीवन की सापेक्षता मे देखता और आँकता है। जीवन और जगत् के पसारे मे किन चीजों को कम या अधिक महत्त्व देना चाहिए—जीवन के किस प्रश्न या मूल्य पर कितना जोर दिया जाना चाहिए—इस की उचित अवगति के लिए यह जरूरी है कि लेखक का विचार-जगत् से अच्छा परिचय हो।

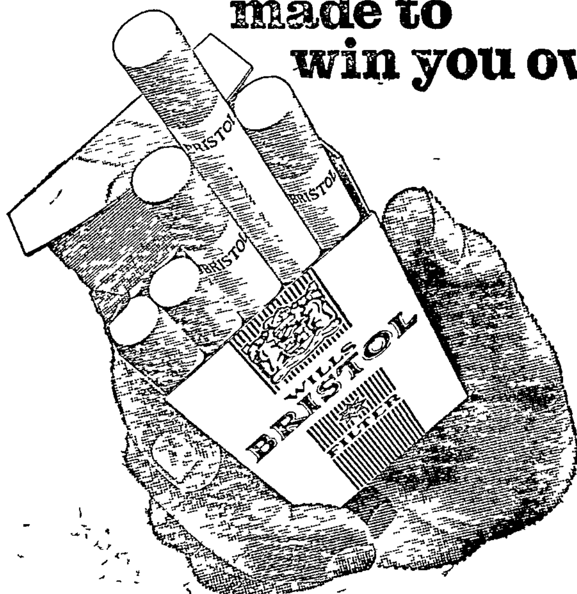
•

इलियट अपने को क्लासिसिस्ट कहता है। क्लासिक का अर्थ है महनीय यानी बड़े महत्त्व की कृति। क्लासिकी लेखक का एक लक्षण है—व्यवस्थित या क्रमबद्ध होना। क्लासिकी लेखक अपनी अनुभूतियों को संघटित या व्यवस्थित रूप में प्रकट करता है। उस की प्रत्येक रचना में सन्निवेशित चित्र एक केन्द्रीय अर्थ को पुष्ट करते हुए प्रकट करते हैं; उस की समग्र कृतियाँ भी जीवन-सम्बन्धी एक केन्द्रीय प्रतीति या दृष्टि (विजन) को पुष्ट करती दिखाई पड़ती हैं। टी० एस० इलियट व्यवस्था या क्रमबद्धता (ऑर्डर) का बड़ा पक्षपाती है। व्यक्तिगत कृतित्व की व्यवस्था को उस ने एकता (युनिटी) नाम से अभिहित किया है। उस का कहना है कि बड़े लेखकों में, सर्जन की विपुलता के साथ-साथ, केन्द्रगत एकता भी रहती है।

किन्तु इलियट ने एक बड़े अधिक्रम या व्यवस्था की भी कल्पना की है। वह मानता है कि बड़ा लेखक, मौलिक होने के साथ-साथ, अहम् का विसर्जन करने वाला यानी निर्वैयक्तिक होता है। निर्वैयक्तिक का एक अर्थ हो सकता है, पूरा-पूरा प्रेषणीय; अर्थात् सहृदय पाठकों-द्वारा उपभोग्य। उच्च कोटि का कृतित्व, इस अर्थ में, अपने रचयिता से विच्छिन्न हो जाता है—वह सर्वजनभोग्य, सब की चीज; बन जाता है। इस प्रकार के कृतित्व से सम्पन्न रचनाओं या कृतियों का एक निर्वैयक्तिक, सार्वभौम क्रमबद्धता (आर्डर) है; प्रत्येक नयी कृति को अनिवार्य रूप से इस क्रम के अन्तर्गत जगह लेनी या बनानी पड़ती है। इलियट कहता है कि होमर से ले कर आज तक के लेखक एक ऐसे व्यापक अधिक्रम के अंग हैं। अन्ततः प्रत्येक नये लेखक को इस के बीच अवस्थित होना होगा। इस का एक आवश्यक निष्कर्ष यह है कि प्रत्येक नये लेखक को,

Wills BRISTOL Filter

made to win you over



A filter so true all the taste comes through

Everywhere smokers are changing to filter cigarettes—for smoother smoking Wills Bristol Filter gives you a smooth smoke *plus* real taste

In Wills Bristol Filter you will enjoy the full taste of Virginia tobaccos, selected for quality and blended for superb smoking satisfaction Wills Bristol Filter is made to give you all the taste and goodness of a filter cigarette at its very best

55 paise for 10

proudly presented by the House of Wills

अनिवार्य रूप से, अतीत के निर्णायक प्रतिमानों-द्वारा अनुशासित होना अथवा आँका जाना पड़ेगा। इसीलिए इलियट ने इस बात पर जोर दिया है कि लेखक में—उस लेखक में जो पचीसवें वर्ष के बाद भी लिखते रहना चाहता है—इतिहास की चेतना रहनी चाहिए। पुराने लेखक नये लेखक के मूल्यांकन को निश्चित रूप में प्रभावित करते हैं; वैसे ही एक बड़ा नया कलाकार पुराने लेखकों के मूल्यांकन को प्रभावित करता है, जैसे कालिदास वाल्मीकि के मूल्यांकन को और तॉल्स्ताय बाणभट्ट के मूल्यांकन को।

बहुत बडे लेखक में जीवन-विवेक भी होना चाहिए। इस विवेक का अर्थ है, जीवन-मूल्यों के आनुपातिक महत्त्व की चेतना। इलियट का विश्वास है कि इस तरह की चेतना आध्यात्मिकता (रिलीजन) से सम्पृक्त हुए बिना ठीक से विकसित नहीं हो सकती। परिपक्व मूल्य-चेतना आध्यात्मिक मनोवृत्ति के अन्तर्गत ही उदित हो सकती है। इस प्रकार नये लेखक की मूल्य-चेतना आवश्यक रूप मे मनुष्य की अतीत मूल्य-चेतना से सम्बन्धित हो जाती है। इलियट का विचार है कि एक बड़ा लेखक दूसरे अर्थ मे नैतिक और आध्यात्मिक होता है—कम से कम अपनी दृष्टि व सहानुभूति मे।

शुक्ल जी की भाँति इलियट भी व्यक्तिगत वैचित्र्य अथवा निजी, निराली किस्म की मौलिकता का विरोधी है। महत्त्वपूर्ण काव्य-संवेदना निर्वैयक्तिक या सार्वभौम होती है।

इलियट ने, अपने ढंग से, रस-सम्प्रदाय के इस मन्तव्य की पुष्टि की है कि साहित्य मे रागात्मक संवेदना के वस्तु-पक्ष, यानी विभाव-पक्ष (ऑब्जेक्टिव कोरिलेटिव) का विशद आकलन रहना चाहिए। राग-पक्ष को प्रभावशाली ढंग से प्रकट करने का एक मात्र तरीका यही है कि विभाव-पक्ष को विस्तार एवं सचाई के साथ अंकित या वर्णित किया जाये।

प्रस्तुत लेखक इलियट के उक्त विचारों से दूर तक सहमत है; किन्तु वह इलियट के इस मन्तव्य को स्वीकार नही करता कि लेखक को आवश्यक रूप में किसी धर्म या सम्प्रदाय की मूल्य-चेतना का वाहक होना चाहिए। हम मानते हैं कि प्रत्येक युग को अपने ढंग से जीवन-विवेक की खोज करनी चाहिए। किन्तु यह ठीक है कि इस विवेक की खोज का अर्थ अतीत की महत्त्वपूर्ण मूल्य-दृष्टियों को—जिन का प्रकाशन विश्व की धार्मिक-आध्यात्मिक परम्पराओं में हुआ है—एकदम नकार देने से नहीं हो सकता। जरूरी यह है कि हम स्थायी मूल्य वाली प्राचीन मूल्य-दृष्टियों को नये मुहावरे में इस ढंग से अनूदित करें कि वे आधुनिक संवेदना को ग्राह्य प्रतीत हों। अतीत मूल्य-दृष्टियाँ सही हो सकती है, भले ही उन की पुष्टि में उत्सृष्ट की गयीं विचार-सरणियाँ सही न हों। अपनी 'कांक्वेस्ट ऑव् हैपीनेस्' पुस्तक में रसेल ने प्राय: उन सभी सद्गुणों के सम्पादन की सिफारिश की है जो पुराने धार्मिक साहित्य मे उपदेशित होते आये है—जैसे सन्तुलन, ईर्ष्या का अभाव, व्यक्तिगत हानि-लाभ मे सीमित आसक्ति या अनासक्ति, इत्यादि; यद्यपि रसेल की मूल (दार्शनिक) मान्यताएँ धार्मिक

परम्पराओं से विशेष भिन्न, भौतिकवाद की ओर उन्मुख है।

●

'स्क्रूटिनी' के भूतपूर्व यशस्वी सम्पादक एफ० आर० लीविस बड़े ही निर्भय समीक्षक हैं, निर्भय यानी ईमानदार, क्योंकि, बिना निर्भयता के अपनी संवेदना के प्रति ईमानदार होना कठिन है। लीविस शुद्ध समीक्षक है—न कवि, न विचारक। उन का समीक्षाकार्य विस्तृत और महत्त्वशाली है। शुरू में लीविस ने टी० एस० इलियट की कविता का स्वागत और समर्थन किया था, उन्होंने मिल्टन का विरोध भी किया। बाद में उन्होंने इलियट को रूपवादी—यानी काव्य के रूपाकार या 'फॉर्म' में अत्यधिक रुचि लेने वाला—कह कर उन के महत्त्व को कम किया है। लीविस आधुनिकतावाद और नयी शैलियों की उद्भावना को विशेष महत्त्व नहीं देते। वे उन समीक्षकों में हैं जिन्होंने नये पुराने लेखकों के स्वीकृत पदों में उलट पुलट किया है। अपनी पुस्तक 'द ग्रेट ट्रैडिशन' में उन्होंने जहाँ जेन आस्टिन, जॉर्ज इलियट, हेनरी जेम्स तथा कॉनरेड को महत्त्वशाली उपन्यासकार घोषित किया है, वहाँ वे वर्जीनिया वुल्फ को छोटी लेखिका करार देते हैं। वे फ्रान्सीसी कथाकार फ्लाबेयर को बड़ा लेखक नहीं मानते—प्रसिद्ध हेनरी जेम्स का भी यही मत है, जब कि एज़रापाउण्ड और इलियट ने फ्लाबेयर की, उस के शिल्प को ले कर, अतिरिक्त प्रशंसा की है।

लीविस की समीक्षा में साहित्यगत सचाई पर विशेष ज़ोर दिया गया है, उन की विशेषता इस में है कि उन्होंने सचाई की अवधारणा को बड़े व्यापक व जटिल रूप में उपस्थित किया है, जिस से वह उन का निजी सत्य बन कर प्रकाशित हुआ है। स्थूल रूप में, लीविस का कहना है कि साहित्य में प्रत्येक भावना तथा विचार लेखकीय संवेदना की अन्तःप्रक्रिया में अभिनीत होना चाहिए न कि कथित या उल्लिखित। लेखक जीवन को उस की जटिलता तथा गहराई में उपस्थित करता है, इस प्रक्रिया के बाहर वह विचारों का उल्लेख करे यह ज़रूरी नहीं है। ऐसे उल्लेखों की अधिकता लेखक की कमज़ोरी की द्योतक है। लेखक को पूरा पूरा अनुभव में रमा रहना चाहिए। अच्छा लेखक अपने अनुभव-प्रसार को मानवीय दृष्टि से देखता है, न कि बाहरी विचारों या सिद्धान्तों की दृष्टि से। साहित्य का अनुशीलन करते हुए हमें उन संकेतों पर अवधान केन्द्रित करना चाहिए जो लेखक की जीवन सम्बन्धी पकड़ एवं उपभोग को प्रकाशित करते हैं, न कि उन पर जो केवल अवधारणाओं, यानी अनुपभुक्त विचारों, को उल्लिखित करते हैं। मतलब यह कि श्रेष्ठ साहित्य ऊपर के अर्थ में उपभोग या अभिनय का साहित्य होता है, उल्लेखों का नहीं। इस दृष्टि से लीविस डी० एच० लॉरेन्स को विशेष महत्त्वपूर्ण कथाकार मानते हैं, इस पर उन्होंने एक स्वतन्त्र पुस्तक लिखी है।

दूसरे, श्रेष्ठ लेखक जीवन या उस के क्षणों को समग्रता में ग्रहण करता है, वह जीवन के अन्तर्विरोधों से नहीं घबराता, वह जीवन का सरलीकरण नहीं करता। केवल हृदय नहीं,

हृदय और बुद्धि दोनों। अच्छे लेखक के पात्रों से पाठक पूरा-पूरा तादात्म्य कर पाते हैं। वे महसूस करते हैं कि चित्रित पात्र स्वयं उन का ही प्रतिरूप है।

तीसरे, लीविस ने इस बात पर ज़ोर दिया है कि लेखक की नैतिक दृष्टि विकसित व सम्पन्न होनी चाहिए। इस दृष्टि से उसे जॉर्ज इलियट एक बड़ी लेखिका जान पड़ती है। जीवन के व्यापारों में भीतर से घुस कर लेखक को उन मे से प्रत्येक का उचित नैतिक मूल्य या महत्त्व देख सकना चाहिए—ठीक वैसे ही जैसे एक संवेदनशील व्यक्ति को उन व्यापारों के बीच गुजरने पर महसूस होता है। लीविस मानते हैं कि लेखक को जीवन के प्रति तटस्थ द्रष्टा का रुख नहीं बरतना चाहिए; उस के लिए उचित मनोभाव भोक्ता का है। लेखक को जीवन के प्रति ममता और अनुराग होना चाहिए; तभी वह उस जीवन के आन्तरिक स्पन्दन से सुपरिचित हो कर उसे वाणी-बद्ध कर सकता है। लीविस यह भी मानते प्रतीत होते हैं कि श्रेष्ठ लेखक जीवन को जीने योग्य एवं वरणीय समझते हुए अग्रसर होता है; वह जीवन का समर्थक होता है न कि उस का विद्वेषी, जैसा कि फ्लाबेयर है। एक गहरे अर्थ मे लेखक मे जीवन के प्रति नैतिक प्रतिबद्धता या संसक्ति मौजूद रहती है। वह यह विश्वास ले कर चलता है कि अन्त में जीवन की विजय निश्चित है—उन शक्तियों पर जो इस समय उस का अवरोध कर रही है। उस मे यह विश्वास भी रहता है कि वैसी ही विजय जीवन-सम्बन्धी गहरी अवगति में सन्निहित है; इसी लिए वह उस तरह की अवगति को अग्रसर करने की कोशिश करता है। श्रेष्ठ लेखक जीवन में आस्था रखता है; जो आस्थावान् नहीं है वह उतनी मेहनत कर के जीवन को अभिव्यक्ति देने की कोशिश क्यों करेगा? और जीवन में आस्थावान् होने का एक अर्थ है: जीवनगत भलाई-बुराई के प्रति गम्भीर भाव रखना, यानी गहरे अर्थ में नैतिक होना। इस प्रकार की आस्था को लीविस एक प्रकार की धार्मिक-आध्यात्मिक चेतना के रूप में देखता है। एक महत्त्वपूर्ण अर्थ में श्रेष्ठ लेखक आध्यात्मिक मनोवृत्तिका (रेलीजस) होता है। श्रेष्ठ लेखक अपने पाठकों को ऐसी चेतना से संयुक्त करता है जो उन की जिजीविषा या जीवनेच्छा को अक्षुण्ण रखते हुए उस के परिष्कार की प्रेरणा देती है। यदि पाठक विश्व-जगत् में अपने को सार्थक रूप में प्रतिष्ठित महसूस करें—न कि विच्छिन्न या विस्थापित—तो समझना चाहिए कि विश्व-जीवन के प्रति लेखक का मनोभाव समुचित या भावात्मक है। लीविस की मान्यता मे श्रेष्ठ लेखक ऐसे मनोभाव से सुसम्पन्न होते हैं। इस प्रकार लीविस इस मन्तव्य पर पहुँचते है कि श्रेष्ठ साहित्य मनुष्य को आन्तरिक या आत्मिक स्वास्थ्य से सम्पन्न करने, एक विशेष अर्थ में उसे प्रकृतिस्थ एवं संयत बनाने का उपकरण होता है। कहने की ज़रूरत नहीं कि इस प्रकार का स्वास्थ्य जीवन की अर्थपूर्ण अग्रगति का साधक होता है। इस विशिष्ट अर्थ मे लीविस धार्मिक-आध्यात्मिक विवेक-दृष्टि को ऊँचे साहित्य का आवश्यक उपादान मानते है। श्रेष्ठ साहि-

त्यिक कृति में नैतिक-आध्यात्मिक मूल्यस्वभाव से अनुस्यूत रहते हैं। यहाँ दो स्थितियों में अन्तर करना चाहिए। श्रेष्ठ लेखक पहले से बने-बनाये मूल्यों को परम्पराजीवी के रूप में ज्यों का त्यों उठा कर उल्लिखित नही करता; इस के विपरीत वह जीवन-स्थितियों का विश्लेषण एवं प्रकाशन करने की प्रक्रिया-द्वारा ही अपनी मूल्य-दृष्टि को आकार देता चलता है। यहाँ लीविस का ईसाई-धर्म के अन्यतम समर्थक इलियट से मतभेद है। हमारा मत लीविस के अधिक निकट है। साथ ही हमे लगता है कि उक्त दोनों लेखकों में उतनी भिन्नता नही है जितनी कि लीविस को दिखाई देती है। स्वयं इलियट का मत यह नही है कि लेखक ईसाई-धर्म के सत्यों को बाहर से जान कर उन का अपने साहित्य में अनुवाद कर दे। किसी भी धार्मिक-आध्यात्मिक परम्परा को समझने का अर्थ होता है उस की सचाइयों का भीतर से साक्षात्कार करना। यह साक्षात्कार तभी सम्भव है जब लेखक की मूल्यों-सम्बन्धी दृष्टि और भावनाएँ परिष्कृत हों। स्वयं हमारी मान्यता यह है कि प्रत्येक अच्छे लेखक के लिए जहाँ यह जरूरी है कि वह अपनी धार्मिक-आध्यात्मिक परम्परा से गहरा परिचय प्राप्त करे, वहाँ आज के युग मे जब कि विभिन्न देशों का भौगोलिक एवं सांस्कृतिक एकान्त खत्म हो चुका है, यह भी आवश्यक हो गया है कि वह वैसी दूसरी परम्पराओं का भी सहानुभूतिपूर्ण अनुशीलन व पर्यालोचन करे, और इस प्रकार अपने जीवन-विवेक को मानव-संवेदना के अपेक्षाकृत सार्वभौम धरातल पर प्रतिष्ठित करे।

उक्त मन्तव्य को दूसरे ढंग से भी प्रकट किया जा सकता है। मानवीय अनुभव या संवेदना के कई आयाम या दिशाएँ हैं; उस की मूल्य-चेतना के भी कई आयाम हैं। इन आयामों से सुपरिचित हुए बिना कोई लेखक उचित जीवन-विवेक का आकलन और प्रकाशन नहीं कर सकता।

लीविस ने 'साहित्य में विचारों की चर्चा' के बारे मे जरूरत से कुछ ज़्यादा आशंका और भय प्रकट किया है। जहाँ हम बहुत दूर तक उस के इस आग्रह को स्वीकार करते है कि साहित्य में विचार अभिनीत व उपभुक्त हो कर आने चाहिए, वहाँ हम इस सम्भावना को नकारना उचित नही समझते कि साहित्य मे, विशेषतः कथा-साहित्य मे, कभी-कभी बौद्धिक पात्रों का चित्रण किया जा सकता है। ऐसे पात्रों की बातचीत में कहीं-कहीं विशुद्ध विचारों का हवाला या उल्लेख अस्वाभाविक नही जान पडता। ज़्यादा व्यापक अर्थ मे हम यह मानते है कि श्रेष्ठ साहित्य 'बौद्धिक नियन्त्रण' का साहित्य होता है, वह प्रेरित प्रतीति की अराजकतापूर्ण अभिव्यक्ति नहीं है। श्रेष्ठ साहित्य सांस्कृतिक सम्पन्नता का साहित्य भी होता है। इस दृष्टि से हमारे विचार आर्नल्ड के ज़्यादा क़रीब है।

•

लेखक की 'दृष्टि' के स्वरूप का मार्मिक विश्लेषण जॉन मिडिल्टन मरी की प्रसिद्ध पुस्तक 'द प्राबॅलेम ऑव् स्टायल' मे मिलता है। प्रत्येक लेखक की—विशेषतः महत्त्वपूर्ण लेखक की—

शैली निजी-निराली होती है। लेकिन यह शैली है क्या ? उक्त लेखक ने शैली की कई परिभाषाएँ उद्धृत की है। फ्रान्सीसी लेखक बुफ़ाँ के अनुसार 'शैली—वह मनुष्य ही है।' स्तान्धाल का कहना है कि 'किसी विचार को प्रकट करते हुए उन सब परिस्थितियों का विवरण देना जो अभीष्ट प्रभाव उत्पन्न करने वाली है—यही शैली है।' स्तान्धाल का यह मन्तव्य इलियट के 'रागात्मक सवेदना का वस्तु-पक्ष' के सिद्धान्त के समान ही है। किन्तु मिडिल्टन मरी ने व्यक्तिगत शैली को ले कर एक ज्यादा महत्त्व की बात कही है। प्रथमत उस का कहना है कि शैली लेखकविशेष के दुनिया को निजी निराले ढग से देखने का तरीका है। असली शैली लेखक की अनुभूति या अनुभव करने के तरीके की आवश्यक विशेषता होती है। यह देखने-अनुभव करने का तरीका अपने में पूर्णतया सुसगत होता है। इस से भी आगे बढ कर उक्त लेखक ने वैसी सगति या एकता का मार्मिक विश्लेषण प्रस्तुत किया है। उन का मत इस प्रकार है। विभिन्न रूपों व परिस्थितियों में जिन्दगी को देखते-अनुभव करते हुए लेखक की चेतना पर उस की कोई खास विशेषता सशक्त रूप में अकित हो जाती है, यह विशेषता ही उस की जीवन-दृष्टि को निराला व्यक्तित्व देती है। जीवन या जगत् की छोटी से छोटी स्थिति के बारे में लिखते हुए लेखक, किसी-न-किसी रूप में, जीवन की उस विशेषता को गौरव दे देता है—यानी उस के महत्त्व का सकेत कर देता है। जीवन की वैसी विशेषता उस की दृष्टि को एक केन्द्रीय पक्षपात व गौरव के रूप में अनुप्राणित किये रहती है। यही विशेषता उस की शैली को निजी व्यक्तित्व से सम्पन्न करती है। समझदार पाठक देखेंगे कि मिडिल्टन मरी ने लेखन के जिस तत्त्व को शैली नाम दिया है उसे इलियट ने 'एकता' के अन्तर्गत उल्लिखित किया है। बडे लेखक का व्यक्तित्व एक तरह की भावनात्मक एकता—अथवा दृष्टि की एकता—से अनुप्राणित रहता है, यह एकता उस के समृद्ध कृतित्व को एक केन्द्रगत गौरव से सयुक्त करती है। वही एकता उस को शैली में भी प्रतिफलित होती है। प्राय बडे लेखक एक उपयुक्त कथानक को आधार बना-कर अपनी दृष्टिगत एकता को मूर्त अभिव्यक्ति दे देते हैं।

•

इस निबन्ध में प्रधानतया तीन विख्यात समीक्षकों के केन्द्रगत विचारों को, मुख्यत अपनी आलोचनात्मक अवगति के परिष्कार एव व्यवस्था के लिए, सकलित करने का प्रयत्न किया है। आलोचित समीक्षकों की कक्षा के लेखक किसी भी साहित्य के इतिहास में कभी-कभी ही पैदा होते हैं। निश्चय ही ऐसे कृती-समीक्षकों के विचार उपेक्षणीय नही हो सकते। हिन्दी के पाठक व लेखक इन विचारों की ओर आकृष्ट महसूस करेंगे और आलोचित लेखकों की विचारपूर्ण कृतियों से साक्षात् सम्पर्क स्थापित करने का प्रयत्न करेंगे। प्रस्तुत लेखक को यह देख कर आश्चर्य होता है कि मौजूदा हिन्दी साहित्य मे यहाँ उल्लिखित विचारों में से किसी एक पर भी अधिकारपूर्ण चर्चा नही हो सकी है। [अगस्त १९६५]

जैनेन्द्र के दम्पति उर्फ़ पढ़ी-लिखी नारी का पिंजड़ा

भारतभूषण अग्रवाल

•

'सुनीता' मैं ने लगभग सन् १९३७ में पढ़ी थी। हाल ही में वह छपी थी और हिन्दी-जगत् में उन दिनों उस का बाजार बड़ा गरम था। ऐसी हलचल मची थी उस से कि ग़ज़ब। ख़ासतौर से उस के क्लाइमेक्स ने तो जैसे समाज की नींवें ही हिला दी थीं। नारी निर्वसन हो जाये—स्वेच्छा से—जो भी पुरुष को स्वीकार करने के उद्देश्य से नहीं, उस का प्रतिकार करने के लिए—यह बात आसानी से गले न उतरती थी। उतरती भी कैसे—समाज के सामने तो सती नारी का वह स्वरूप था जिस के आगे रावण-जैसा प्रतापी भी पराभूत हो गया था। वही सती-साध्वी अपनी पवित्रता की रक्षा ऐसे विचित्र ढंग से करे, और वह भी हरिप्रसन्न-जैसे फुसफुसे रावण से जो सुनीता के घर में शरण लिये हुए है, जो उस से रुपयों की भीख माँगता है, और अपने क्रान्तिकारी काम के लिए प्रेरणा—उस के सामने ऐसी दयनीय बन जाने की क्या बाध्यता थी सुनीता को? सारा हिन्दी-जगत् उन दिनों यह प्रश्न पूछ रहा था। मैं ने सोचा, चलो लगे हाथ मैं भी यह प्रश्न पूछ लूँ। पर पूछता किस से? जैनेन्द्र को जानता न होऊँ यह बात नहीं, पर उन के सामने तब मेरा मुँह भी न खुलता था, और यदि पत्र में कुछ पूछो तो उन दिनों वे कागज-पत्रों से आग जलाने का काम लेते थे।

तो वह प्रश्न मन में ही पड़ा रहा। अब प्रश्नों के साथ एक विचित्र बात यह है कि जब तक उन का समाधान न हो जाये तब तक उन की मुक्ति नहीं होती। प्रेतात्मा की तरह वे आस-पास अपने सूक्ष्म रूप में मँडराते रहते हैं। इस प्रश्न की भी यही हालत थी। बरसों बीत गये पर वह मन में ही चक्कर काटता रहा। और तभी मेरी मुलाकात हरिप्रसन्न से हो गयी। सन् '४७ के आस-पास मैं 'प्रतीक'-सहकारी-योजना के सिलसिले में प्रयाग में रह रहा था कि एक दिन अचानक देखा कि सामने हरिप्रसन्न! हू-ब-हू वही रूप जो 'सुनीता' से जाना था। दाढ़ी बढ़ी हुई, एक हाथ में पिस्तौल और दूसरे में पेण्टिंग का ब्रश, कन्धे पर सामान लदा झोला जिस से लगा कि अभी वैसे ही हैं, दाम्पत्य के चक्कर में नहीं फँसे। बल्कि कुछ बदहवास-से भी थे मानो अब भी

'सुनीता' के निर्वसन चक्र से दुर्वासा की भाँति सहमे-डरे शरणस्थल खोज रहे हों। बड़ी मुश्किल से उन्हें कुरसी पर बैठा सका। बैठ कर भी वे बराबर खुले दरवाजे से बाहर देखते रहे मानो आहट होते ही भाग निकलेंगे। जैसे तैसे उन्हें चाय पिलायी। प्याला मेज पर रखते ही बोले "अब चलूँगा।" मैं ने कहा—"प्रसन्न जी, आप अप्रसन्न न हों तो एकाध प्रश्न पूछ कर अपना कुतूहल शांत करना चाहता हूँ।" बोले—"पुरानी बातें कुरेदने से क्या फायदा। फिर आप मुझ से क्या पूछते हैं? सुनीता से क्यों नहीं पूछते? या फिर, जैनेन्द्र से—उन्हें तो सब मालूम है।'

इस तरह शुरू हो कर हरिप्रसन्न से मेरी जो इण्टरव्यू हुई वह काफी लम्बी चली। बातें तो उन्होंने कम बतायीं पर अटकते बहुत थे, और बड़ी मुश्किल से बिन्दु पर आते थे। उन का भाव यह था कि जैनेन्द्र ने उन के साथ न्याय नहीं किया है, कुछ घटनाएँ तोड़-मरोड़ दी हैं और कुछ को साफ छिपा गये हैं। उन्होंने कुछ यह आभास भी दिया कि कभी चैन से बैठ सके तो वे अपनी आत्मकथा लिखेंगे और तब उस में सुनीता का सही रूप चित्रित करेंगे।

मैं ने कहा "एक तरह से तो आप कर चुके हैं।"

"कहाँ?"

"ओ तू—वाले चित्र में क्या सुनीता का ही रूप न था?"

"अरे, वह—वह तो मेरे मन की गाँठ का चित्रण है।"

"बिलकुल ठीक। जैनेन्द्र ने भी तो यही दरसाया है कि सुनीता आप के मन की गाँठ थी। अब आप ही बताइए, परायी स्त्री को अपने मन की गाँठ बना लेना, और इस तरह उन के दाम्पत्य स्वर्ग में घोर नरक का तूफान उठा देना—यह कहाँ की सभ्यता है। तिस पर श्रीकान्त के आप इतने गहरे मित्र थे, और सुनीता को भाभी कहते थे।"

मैं ने सोचा था कि यह अभियोग सुन कर हरिप्रसन्न खुल पड़ेंगे, और उन का पक्ष प्रकट हो जायेगा, पर वे तो मेरी बात पर बड़ी विद्वत्तापूर्ण हँसी हँसे और बोले "आप नहीं समझेंगे।"

मैं ने उन्हें बताया कि मैं एम० ए० पास हूँ और सब समझता हूँ। यही नहीं, जो मेरी समझ में न आये उस में समझने लायक कुछ है ही नहीं, यह मान लेना अतिशयोक्ति न होगी।

आज की इस दूरी पर उस इण्टरव्यू को ज्यों का-त्यों सुनना शायद आप पसन्द न करें, शायद मुझे याद भी न हो, पर कुएँ में काँटा डाल कर घण्टों की मेहनत और परेशानी के बाद जिस रहस्य का उद्घाटन हुआ वह जैनेन्द्र को शायद प्रिय न लगे। इसी लिए अब तक छिपाता रहा हूँ। और आज अगर सम्पादकीय सत्याग्रह के आगे हथियार डाल देने पर विवश न हो गया होता, तो कहता भी नहीं। हरिप्रसन्न का कथन था कि श्रीकान्त ने स्वयं उसे बड़े आग्रह से अपने यहाँ बुलाया था (यह बात तो जैनेन्द्र भी मानते हैं) और कहा था कि उस का दाम्पत्य-जीवन बड़ा ही

एकरस—नीरस—हो गया है (यह भी जैनेन्द्र ने कहा है) और उस का कारण यह है कि सुनीता पढ़ी-लिखी हो कर भी उस का साथ नहीं दे पाती । चक्की-चूल्हा तो ठीक (पाठक देख ही चुके हैं कि मकड़ी के जाले वह कितनी सुन्दरता से साफ़ करती है) पर सभा-सोसायटी से वह कतराती है । श्रीकान्त ने मुझ से निवेदन किया था कि किसी तरह सुनीता को आधुनिक जाग्रत् जीवन की ओर उन्मुख कर दो तो साथ-साथ रहने का रस मिले । (यह बात जैनेन्द्र ने नहीं बतायी) और मैं ने उस की बात मान कर सुनीता को सार्वजनिक कार्यों में रुचि दिलानी चाही । श्रीकान्त जब बाहर जाते समय सुनीता से यह कह गया था कि हरिप्रसन्न जो माँगे सो देना, उसे नाराज मत करना, तो उस का इशारा मेरे इसी प्रयत्न की ओर था (जैनेन्द्र ने इस को नितान्त भिन्न रूप मे प्रस्तुत किया है) पर सुनीता ने कुछ और ही समझा और वह काण्ड घट गया जो मेरी लज्जा का कारण बना ।

मेरे तो अचरज की हद न थी । बरसों से हम सुनीता के अहिंसक प्रतिकार की प्रशंसा करते आये हैं और आज यह हजरत दूध के धुले बन कर सारा दोष श्रीकान्त और सुनीता के मत्थे मढ़ रहे हैं, जैसे इन्होंने कुछ किया ही न हो । सुनीता को क्रान्ति-देवी बनाने मे क्या केवल श्रीकान्त का आग्रह ही था, हरिप्रसन्न की अतृप्त नारी-भूख का कोई स्थान न था ? श्रीकान्त-सुनीता के दाम्पत्य मे क्या आदर्श से तिल भर भी कमी थी ?

हरिप्रसन्न तो अपनी सफ़ाई दे कर चले गये, पर मेरे मन मे एक और ही प्रश्न उठा गये । जैनेन्द्र के दम्पति क्यों असफल होते है, और हर बार सारी यातना, सारी विपदा नारी ही को क्यों झेलनी पड़ती है ? और इस प्रश्न का जो उत्तर मुझे मिला है, वह बड़ा कष्टकर है । वह उत्तर यह है कि जैनेन्द्र के दाम्पत्य का पति पढी-लिखी नारी को बरदाश्त नही कर पाता । शक्ति और सामर्थ्य की बात तो दूर, वह उसे बरदाश्त करने की इच्छा भी नही रखता, क्योकि उस के मन में एक घरेलू टाइप की चुलबुली लड़की बसी हुई है—वह लडकी जिसे जैनेन्द्र कट्टो कहते है । कट्टो यानो गिलहरी ।

भला बताइए, नारी कभी गिलहरी भी हो सकती है ? पर 'परख' में जैनेन्द्र ने उसे गिलहरी के ही रूप मे पेश किया है । आप खुद ही सोचें, आखिर सत्यधन और श्रीकान्त में ऐसा क्या भेद है ? नाम का ही न ! पर सुनीता कट्टो नहीं है, वह गरिमा है । सारे रहस्य की यही जड़ है । गरिमा हो या सुनीता, मृणाल हो या कल्याणी—कट्टो उन में एक नहीं है । और सत्यधन यानी श्रीकान्त यानी शीला का भाई अर्थात् डॉ० असरानी सब उसी कट्टो की तलाश में है । जो पढी-लिखी नहीं है, पर हँसमुख है, सरल है पर बुद्धू नहीं है, जो अत्यन्त मनमोहिनी है, पर ड्राइंगरूम-सभ्यता मे नहीं खप सकती । सत्यधन के मन में उसी का स्थान है, पर उस विधवा को अंगीकार करना समाज से लडने की अपेक्षा रखता है, इस लिए वह गरिमा से शादी कर लेता है, और सोचता है कि समस्या हल हो गयी ।

क्योंकि गृहस्थी के लिए एक पत्नी चाहिए और वह आ ही गयी है—पढ़ी-लिखी, सुशील, समझदार, सम्भ्रान्त। यह तो उसे तब पता चलता है कि समस्या ज्यों की त्यों बनी हुई है जब वह श्रीकान्त के रूप में सुनीता नाम्नी गरिमा के साथ रहता है और दिनों दिन उस चुलबुलाहट को बुझता पाता है, और उस नीरसता को सुनीता के घरेलू घेरे का परिणाम समझता है। पर उस नीरसता का असली कारण है स्वयं श्रीकान्तजी के मन का वह चोर जो वट्टो के आस-पास मँडरा रहा है और जिस ने सुनीता जैसी प्रवुद्ध नारी को घर में रख कर सड़ा मारने का उपक्रम किया है। हरिप्रसन्न का सचमुच कोई दोष नहीं था क्योंकि उस की जगह कोई भी होता परिणाम यही होना था। जो ध्यान श्रीकान्त मे नही मिला वह जिस से भी मिलेगा सुनीता उसी के प्रति उन्मुख होने को बाध्य है। क्योंकि यदि सुनीता सभा-सोसायटी में रस नहीं लेती तो आखिर यह किस की ग़लती है, और इस का निदान स्वयं उसे उस ओर उन्मुख करना है या अपने किसी मित्र को बुला कर उस से प्रार्थना करना, और क्या यह विचित्र समाधान श्रीकान्त इसी लिए नहीं अपनाता कि वह अपने मन को सुनीता में नहीं रमाना चाहता क्योंकि वह वट्टो को नहीं छोड़ पाता ?

जैनेन्द्र के उपन्यासों में इसी लिए पत्नी शिक्षिता होते हुए भी घरेलू पिंजड़े में बन्द मिलती है, अपने पति को सहधर्मिणी बन कर घर-बाहर उस की अर्द्धांगिनी के रूप में नहीं। और पति का मन हरेक उपन्यास में एक अविकसित बालक-मन है जिस की ललक किसी अन्य ओर है, पर जिस में उस ललक का साथ देने की कर्मठता नहीं है। ऐसे पति पत्नी मिल कर जिस दाम्पत्य की रचना करेंगे वह निश्चय ही पति के लिए नीरस और पत्नी के लिए कारगर ही सिद्ध होगा। इस बात से विशेष क्या फर्क पड़ता है कि उसे श्रीकान्त से 'द क्वीन कैन डू नो रौंग' का सर्टिफिकेट मिल जाये या मृणाल की भाँति आत्म बहिष्कृत हो कर स्लम एरिया में पहुँच जाये अथवा मिसेज़ कल्याणी असरानी की तरह कभी कविता लिखने की कोशिश करे, कभी उपासना-आश्रम बनाने की और अन्त में किसी लोलुप राजनीतिज्ञ की वासना की बलि बन जाये। दाम्पत्य की मूल प्रतिबद्धता का जहाँ अस्तित्व नहीं है वहाँ ऐसी विभीषिकाएँ अनिवार्य हैं। पति और पत्नी जब तक प्रेमी-प्रेमिका के रूप में निरन्तर एक-दूसरे को नित नवीन रूप में पाने की चेष्टा न करते रहें, जहाँ पति पढ़ी-लिखी नारी को पत्नी रूप में वरण कर अपने घर में ला बिठाये और सोचे कि अब वह तन की भूख शान्त कर के निर्विघ्न अपने धन्धे में जुटा रह सकता है, जहाँ पत्नी को एक मूर्ति को तरह—ख्वाह वह वीनस की ही मूर्ति हो—घर के एक कोने में स्थापित कर पति अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ लेता हो, या इस से भी घटिया—पत्नी को आत्मोन्नति के साधन के रूप में—प्रयुक्त करने लगता हो वहाँ दाम्पत्य के सुख का प्रकाशन नहीं हो सकता। वहाँ नारी का धर्म है विद्रोह—दाम्पत्य की शर्त से विद्रोह। बकौल रवीन्द्रनाथ,

चित्रांगदा ने भी अर्जुन से यही कहा था :

मैं चित्रांगदा हूँ—
मै देवी नहीं हूँ,
....
यदि तुम संकटमग्न पथ पर
मुझे अपनी बग़ल में रक्खोगे,
जटिल चिन्ता मे मुझे भाग लेने दोगे,
कठिन व्रत मे सहायता
करने की अनुमति दोगे,
यदि सुख मे दुख में
मुझे अपनी संगिनी बनाओगे
तभी तुम मेरा सही परिचय पा सकोगे।

पर जैनेन्द्र के किसी भी पति को इतनी फ़ुरसत नहीं कि वह चित्रांगदा की माँग पूरी कर सके। उस के बाल-मन ने नारी को सिर्फ़ कट्टो के रूप मे ही जाना है—विधवा अर्थात् निरीह—जिस की कोई माँग नहीं है, जिस को सिर्फ़ एक अवलम्ब, एक शरण-स्थल चाहिए। श्रीकान्त हो या डॉ० असरानी, नारी के सच्चे ऊष्म स्पर्श से वे स्वयं अपने ही कारण ऐसे वंचित रह जाते हैं कि दया आने लगती है। आश्चर्य होने लगता है कि ऐसे आत्मबन्द दृष्टिहीन पुरुष के प्रति जैनेन्द्र की नारी विद्रोह क्यों नही करती—उस के चरणों में समर्पित रह कर अपने को धन्य क्यों मानती है? मृणाल की परिणति में तो उस विद्रोह की पुष्टि के बजाय नारी को एक चेतावनी ही निहित है कि खबरदार, जैसे कहूँ वैसे रह, नहीं तो देख ले, जज साहब की बुआ हो कर भी तुझे भिखारिन ही बनना पडेगा!

[दिसम्बर १९६५]

रस-आखेटक

कुबेरनाथ राय



पिता जी ने बचपन में मुझ से एक बार पूछा था "आगे चल कर क्या बनना चाहते हो ?" मैं ने कह दिया, "मैं सन्यासी बनना चाहता हूँ।" उन दिनों मेरे दरवाजे पर अक्सर साधु सन्यासी आते रहते थे और उन की अद्भुत बातों को मैं सुनता रहता था—कभी हिमालय की, कभी झारखण्ड की तो कभी गिरनार के गुफाओं की। मैं सोचता था कि ये लोग बहुत ही सुन्दर जीवन व्यतीत करते हैं, मैं भी यही बनूँ तो क्या हर्ज ? पिता जी मेरी बात सुन कर बहुत क्रुद्ध हुए पर उन्होंने ठण्डे मिजाज से ही मुझे विस्तारपूर्वक समझाया कि सन्यासी होने में कोई गौरव नहीं बल्कि अपमान ही है क्योंकि परजीवी-भिक्षा जीवी बनने में कौन-सी इज्जत है ? बात समझ में आ गयी तो मैं ने दूसरा चुनाव किया 'मैं प्रोफेसर बनूँगा।" उन दिनों मैं प्रोफेसर को बड़े ऊँचे दर्जे का जीव मानता था। मुझे क्या पता था इनमें से पचानवे ऐसे ही हैं कि इन की सारी बादशाहत विद्यार्थी-जीवन में लिखे गये नोटों पर आश्रित है और ये अँगरेजी-माध्यम का इसीलिए समर्थन करते रहते हैं कि मातृभाषा-माध्यम प्रतिष्ठित होने पर एक तो उन पुराने नोटों को फिर से लिखना पड़ेगा और दूसरे यह कि लड़के कक्षा में प्रश्न करने में भी समर्थ हो जायेंगे एवं यह एक नयी झंझट सिर पर आ पड़ेगी। और दूसरी ओर मुझे यह भी तब पता नहीं था कि सौ में जो पाँच असली प्रोफेसर होंगे वे जीवन-भर खून के आँसू रोयेंगे और शासन-रावण के उस ग्यारहवें ऊर्ध्वमुख के प्रति, जो उन का कुलपति बन कर अभिषिक्त होगा, उन्हें प्रति-दिन श्लोकों और अनुष्टुप् छन्दों में प्रशस्ति गान करना होगा

"हे प्रधान मन्त्री के सखा, मुख्यमन्त्री के प्यारे मीत, हे हमारे प्रभु, तुम्हारी दशमुख के ग्यारहवें मुख जैसी मनोहर आकृति पर सरस्वती प्रेमासक्त है, लक्ष्मी तुम से रात-दिन नजर लड़ाती है और पार्वती तुम्हें प्रेमपत्र भेजती है ..." इत्यादि।

—भारतीय प्रोफेसर के इस कदर्य-कुत्सित जीवन या इस अभिशप्त जीवन की कल्पना

ही मुझे उन दिनों नही थी। अतः मैं ने यों ही कह दिया : "मैं प्रोफ़ेसर बनूँगा।" पिता को मेरे उत्तर से सन्तोष हो गया। पर वे सावधान भी हो गये क्योंकि मेरे परिवार मे पहले ही एक संन्यासी हो चुके थे और मेरे पितामह के लघुतम भ्राता छात्रावस्था मे ही यानी १९१० में ही राजनीति में कूदकर अनिकेत यायावर बन चुके थे। पिता जी ने अपनी सावधानी को आगे चल कर ठोस सक्रिय रूप भी दिया। और उन बेड़ियों के कारण संन्यासी तो मै नहीं बन सका पर मन से पक्का यायावर बन गया—खंजन, कोयल या बनैले हंस-जैसा यायावर, जो धरती के सगुण रूप के मोह में आबद्ध हो कर देश-परदेश घूमता है और यह हरीतिमा, यह रूप-जाल, ये हवा वधुएँ उस का लाख दिल तोड़ें, पर वह निरन्तर रस-लोलुप, रस-आखेटक की तरह उन का पीछा करता रहता है। 'रोप न प्रीतम दोष लखि, तुलसी रागहिं रीझि।' अन्त मे कहीं-न-कहीं उस यायावर को रूप-रस-गन्ध की भिक्षा मिल ही जाती है। वह हारिल-जैसा यायावर नही। हारिल का दिल इस धरती की किसी अप्सरा ने तोड़ दिया था। उस ने क़सम खा ली कि वह धरती का स्पर्श ही नहीं करेगा। आज भी हारिल उड़ता-उड़ता धरती पर बैठता है तो पंजे में एक तिनका लिये हुए। अपने और धरती के बीच वही तिनका ओट करके रखता है। सूफ़ी और पुराने वैष्णव जब इस धरती की सगुण शोभा का स्पर्श करते है तो हारिल की तरह एक तिनका रख कर। सूरदास ने इस धरती के रूप-रस का स्पर्श किया था कृष्ण को तिनका बना कर, कृष्ण को मजबूती से पकड़ कर। 'हमारे हरि हारिल की लकरी'—'मेरे कृष्ण मुझ-जैसे हारिल के तिनके हैं जिन्हें मै कस कर पकड़े हुए हूँ।' परन्तु मैं तो बीसवीं शती का रसलोलुप यायावर हूँ। मेरी वैष्णवता सगुण की उपासना और रूप-रस-गन्ध के आस्वादन के लिए ही है, वह रूप-रस-गन्ध के बीच ओट या तिनका बनने के लिए नहीं।

मेरी वैष्णवता का झुकाव आनन्दवादी शैव सिद्धान्त की ओर है। मेरा विश्वास आस्वादन और आनन्द में है। जब मेरे मन में शाक्तभाव जोर मारता है तो धरती को 'माँ' कह कर पुकारता हूँ : 'माँ, तू मुझे रूप दे, जय दे, यश दे, नीच शत्रुओं का संहार कर।' पर जब मै वैष्णवभावापन्न होता हूँ तो रूप-जय-यश और शत्रुभाव से परे ऊपर उठ कर शुद्ध आस्वादन खोजता हूँ और यह धरती 'प्रिया' रूप मे नज़र आती है। मैं इस के सम्मुख भिक्षा-पात्र ले कर खड़ा हूँ और यह मेरे सम्मुख अँजुरी-भर रूप-रस-गन्ध ले कर खडी है। इस की नजर मेरे भिक्षा-पात्र पर नहीं मेरे चेहरे पर टिकी है और मेरी नज़र उस की अँजुरी पर न जा कर उस की नाभि-मण्डल की ओर है। उस की नज़र मेरी आँखों को भेद कर आत्मा में उतर गयी है और मेरी नज़र परत-पर-परत आवरण भेदती हुई सम्मोहन के द्वार पर है। इस प्रगाढ क्षण में कभी-कभी ऐसा भी हुआ है कि मेरी भिक्षा उस की अंजलि से मेरे पात्र में न गिर कर ज़मीन पर गिर पड़ी है। यह मेरी क़िस्मत है

कि भिक्षा मिली पर जमीन पर गिर पड़ी, कुत्तों का भक्ष्य बन गयी और मैं खाली-पात्र रह गया। धरती पछताती है और मैं पछताता हूँ। और यह पछतावा भी जीवन का एक पाथेय बन जाता है। यह आखिरी मंजिल तक का पाथेय होने में समर्थ नहीं, पर कुछ रास्ता तो इस से कट ही जाता है।

०

इस बार जब ग्रीष्मावकाश हुआ तो मैं ने सोचा कि अपने रस आखेटक का घोड़ा क्यों न इस बार अपने गाँव में ही विश्राम करे। जिस भूमि ने मुझे जन्म दिया है वह रूप-रस गन्ध से इतनी खाली तो हो नहीं गयी है कि मेरे आखेटक मन को मास दो-मास का चारा न दे सके। क्या यह भूमि मेरे लिए इतनी कृपण हो जायेगी कि मुट्ठी भर रस की भिक्षा भी नहीं देगी? मैं २०वीं शती का जीव हूँ। मैं क्षण भोग का विश्वासी हूँ। हवा, धरती और हरीतिमा ही मेरी नायिकाएँ हैं। मैं ने कामरूपिणी की निरावरण कटि को देखा है, बंगाल की कालवैशाखी का फहराता आँचल पकड़ लिया है, पक्वताल फलोपम स्तनों वाली कन्या कुमारी से परिचय किया है, कुंकुम देशी की कँसगी वर्णी मेखला के भीतर अथाह-अथाह झीलों का और उस में प्रस्फुटित रक्त कमल का देवताओं की शैली में आस्वादन किया है। महाबल्लीपुरम के समुद्र तट पर खड़े हो कर दक्षिणा सुन्दरी की आंखों के ज्वार में मेरा मन तैर चुका है। मैं रस आखेटक हूँ। पर मैं क्षणों का आखेट करता हूँ—एक प्रगाढ़, लम्बे अनुभव का आखेट करने की सामर्थ्य बीसवीं शती के क्षणभोगी मन को नहीं मिली है। एक हलकी मादकता, चेहरे पर उदित होती हुई चाँदनी-जैसी प्रसन्नता, वेणी के फूलों की गंध का झोंका, एक रेशमी नरम स्पर्श, इस से अधिक भोगने की सामर्थ्य हम में नहीं। इस से अधिक आगे जाने पर मन को पीछे ठेल कर शरीर आ जाता है और शरीर के आ जाने पर शरीर भोगता है मन को साक्षी बना कर। पर मन का भोगना और है। मन भोगता है तो आत्मा को साक्षी बना कर। वहाँ शरीर नहीं रहता है। कालिदास और प्रसाद में सामर्थ्य थी कि उन का मन एक लम्बे अनुभव का आखेट कर सके। पर हम 'हाइकू' लिखते हैं और 'घने नुकीले प्रगाढ़ क्षण' के अनुभव का ही आखेट करते हैं और अपनी पराजय छिपाने के लिए कहते हैं "अब लम्बी कविताओं का युग गया। अब 'मिथ' का सृजन नहीं हो सकता।"

यह पूर्वी उत्तरप्रदेश की धरती है। मैं मानता हूँ और भरत मुनि भी मानते हैं कि हर एक किस्म के अनुभव में रस है। रति में भी आस्वादन है और शोक में भी। सब का अपना अपना स्वाद है। इस पूर्वी उत्तरप्रदेश की धरती का भी ग्रीष्म में अपना एक स्वाद है। अपना एक निजी रस है जिसे हम वैराग्य रस कह सकते हैं। रस आखेटक का घोड़ा ग्रीष्म में घर लौटा है और अब छक कर वैराग्य रस का पान करायेगा। अपनी भूमि, अपनी धरती तो अपनी माँ है। यहाँ पर रस-आखेटक शिशु की तरह भरपेट वात्सल्य रस, सख्य-रस, कान्ता-रस, दास्य-रस और निर्वेद-

रस का पान कर सकता है। यहाँ पर रस-आखेटक 'क्षणभोगी' और 'नये' का जामा उतार फेंकता है। यहाँ पर वह भरत मुनि के शिष्यत्व को भी तिलांजलि दे देता है और वैष्णव-रस शास्त्र का अनुगामी बन जाता है। शृंगार, वीर, करुण और रौद्र का आखेट वह इस धरती की सीमा से बाहर-बाहर करता है। बाहर-बाहर भरत मुनि के दिये हुए धनुष पर उस का बाण निरन्तर चढ़ा रहता है। लेकिन इस धरती पर आ कर प्रत्यंचा उतार कर वह वैष्णवों की तरह वत्स, सखा, प्रियतम, दास और वैरागी के बाने धर-धर कर पाँचों वैष्णव रसो को छक कर पीता है। पर धरती हर मौसम मे हर फल नहीं देती। यह ग्रीष्म की ऋतु ऐसी है कि इस मे निर्वेद यानी वैराग्य-रस की नदी बहती है, बाहर-भीतर-सर्वत्र। शेष रसों का भी अभाव नही—धरती मे किसी रस का अभाव कभी नहीं रहा; पर वे अमृतघट की तरह आवास-कक्षों मे हो मिलते हैं। धूप और लू वाले आसमान के नीचे नहीं। शेष रसों को खोजना, माँगना और पाना पड़ता है, पर वैराग्य रस तो सर्वत्र प्रवाहित है। तप्त दुपहरी मे जहाँ चाहो इसे दो चुल्लू पी कर आत्मा को तेजस्वी बना डालो।

नौ बजे के बाद ही दिवस दैत्य की तरह मुँह बा कर आग उगलने लगता है। चारों ओर फ़सल कट जाने के कारण निर्जन सपाट मैदान, कहीं-कही बीच-बीच मे बबूल के श्यामल पेड़ और दियासलाई के डिब्बे जैसे छोटे-छोटे बिना खिड़की के डेरे। दोपहर को यह मैदान धू-धू कर के जलने लगता है और ये क्षुद्र पेड़ तथा डिब्बेनुमा डेरे उस की विस्तृत सपाट निर्जनता को कम नहीं करते। सीवान-मथार और ठियारे का दृश्य यही है। बस्ती के चारों ओर अवश्य आम, जामुन और महुआ के बाग़ लगे रहते हैं। पश्चिमा हवा आठ बजे दिन से आठ बजे रात तक सम्पूर्ण रोषाग्नि के साथ हाहाकार करके बहती है। नीम को झकझोरती हुई बाँस-वन मे खड़खड़ परस्पर बजने की कर्कश ध्वनि पैदा करती हुई, आग और धूल की लहर-पर-लहर निकालती हुई सनसनाती दरवाजे और खिड़कियों की बगल से निकल जाती हैं और उन के छिद्रों से सीटी-जैसा स्वर निकलता है। बाहर निकलने पर बस्ती से दो कदम बाहर जाने पर ही लगता है कि यह दिवस दैत्य-सा मुँह बा कर, जीभ निकाल कर आग फेक रहा है। दिवस के भीतर वास करने वाले वैरागी पुरुष अपनी अग्नि-जटा को खोल दिया है। उस के केशों की लपटें अन्तरिक्ष मे उस के मुख-मण्डल के चारों ओर उड़ रही हैं। और वह अपनी ब्रह्मचारिणी वधू पश्चिमा के साथ सृष्टि मे मध्याह्नवेला मे, त्रिपुर-दाह की वेला मे, अन्तरिक्ष-विहार कर रही है। उस तेजस्वी रुद्र के सम्मुख जाने पर काम, क्रोध, लोभ सब भूल जाते हैं! वह सारी धरती को पंचाग्नि मे तपा कर विषहीन शुद्ध कर रहा है। इसी से धरती पर वैराग्य की पावक नदी बह रही है। पावक का अर्थ ही है पावन करने वाला।

पर इसी ग्रीष्म में जब कभी पूर्वा बहती

है, तो प्रखर मध्याह्न मे भी वह नम ही रहती है। पूर्वा प्यार की, दर्द की, नशे की, उन्माद की, रोग की और आर्द्रमन की हवा है। यह घाव को और ताजा करती है और उस मे विकार और वासना का प्रवेश कराती है पर पश्चिमा का स्वभाव भिन्न है। वह पावक है, सूखी है, रोषयुक्त है पर वह जहर खीचती है, घाव सुखाती है, कच्चे कौमार्य को पकहर कर के फल बनाती है। वास्तव मे ग्रीष्म की वधू पश्चिमा ही है। पूर्वा तो पावस की सहचरी है। यह वासनारूपिणी है, नशीली है, आर्द्र है। मलयानिल वाली दक्षिणा सुन्दरी है, वसन्त की लीला वधू है और इसे मै वेणी को गन्ध से ही पहचान जाता हूँ। उत्तरा शरद् की बान्धवी है, जो शृंगार के नाम पर अंगों पर श्वेत दुकूल और केशों मे पारिजात का हार धारण करती है फिर भी इतनी मोहक और पवित्र लगती है जैसे दूसरे द्विरागमन पर लौटी हुई वधू। मै ने आखेटक के रूप मे दक्षिणा, उत्तरा और पूर्वा के पीछे घोडा दौड़ाया है, मन का अपहरण कराने के लिए और मन का अपहरण करने के लिए। पर अपनी धरती पर जा कर वैरागी ग्रीष्म को ब्रह्मचारिणी वधू पश्चिमा के सम्मुख मै ने नतशीश हो कर नमन किया है तथा निर्भयता, आरोग्य और तेज का आशीर्वाद माँगा है।

एक अजीब-सी बात है दोपहर को जेठ मे उस अग्निकुण्ड के बीच आम या जामुन की डाल से कोयल का किन्नर-कण्ठ से कूकना। यों कवि-प्रसिद्धि के अनुसार 'कोयल कूकती है' पर वास्तव मे यह कूकने वाला नरकोयल होता है यह किन्नर-कण्ठ है। मादा कोयल सिर्फ़ प्रजनन ही करती है। सृष्टि का गन्धर्व तो पुरुष-कोयल होता है। सृष्टि में यदि गौर से देखा जाये तो सर्वत्र नर ही सुन्दर और गुणवान् है। नारी में सृजन-सामर्थ्य मात्र है और कुछ नही। मयूर, शुक, कुक्कुट, पारावत, वृषभ, मृग आदि सभी नर ही आकर्षक, सुन्दर और गुणवान् होते हैं। नारी निश्चय ही विधाता की निम्नतर सृष्टि है। पर विधाता ने मनुष्यों मे 'मन' दिया है और पशु-पंछियों मे 'सहज वृत्तियाँ' तथा इस मन और इस सहज वृत्ति मे एक मोह, एक नशा, जिसे प्रेम या काम कहते हैं, भर दिया है फलतः वे आकर्षक और सुन्दर लगने लगती है। गोकि, यह मात्र भ्रान्ति है। भारतीय शिल्पकला आश्चर्यजनक रूप से इस तथ्य के बारे मे सावधान थी। विशेषतः हिन्दू मूर्तिकला। हिन्दू बौद्ध मूर्तिकला मे जहाँ-जहाँ युगल मूर्त्तियाँ है, वहाँ-वहाँ नारीमुख की छवि पुरुषमुख से हीन और कम आकर्षक दिखायी गयी है। ये कलाकार बड़े सावधान थे। सृष्टि में 'प्रकृति' से कहीं बढ कर 'पुरुष' सुन्दर, महान् और गरिमामय है। प्रकृति का पुरुष को मोहक लगना भ्रान्ति है। इन तथ्यों पर उन का दृष्टिकोण बड़ा साफ था। उदाहरण के लिए शिव-पार्वती, विष्णु-लक्ष्मी या बुद्ध यशोधरा की कोई मूर्ति या कोई चित्र लिया जा सकता है। अजन्ता का एक प्रसिद्ध चित्र बुद्ध मे वैराग्य के उदय को व्यक्त करता है। देवोपम बुद्ध राजकुमार-वेप मे हाथ मे नीलोत्पल लिये खड़े है और उस की झडती हुई पंखड़ियों की ओर देख

मृत्यु क्षुधा का रूप धारण कर के प्रकट होती है। उन बरसाती महीनों में यह महुआ ही उन म्हट्टिकों के प्राणों का आधार होता है। अरहर की थोड़ी-सी दाल में काफी महुआ के फूल और नमक डाल कर पका लेते हैं। गल कर रावड़ी-जैसा हो जाता है। पर तासीर गरम है। इस लिए भैंस का मट्ठा डाल कर चार महीने यही पीते हैं। यों अगर साल में एक दिन खाना रहे, तो इस का स्वाद बुरा नहीं। एक दिन के लिए विश्व का रूखा से रूखा खाद्य भी स्वादिष्ट लगेगा। पर इन का तो यही ओटन-डासन है।

इस स्थल पर रस आखेटक को अपने गाँव के चमारों का ग्रीष्मकालीन भोजन याद आ जाता है। लोग शायद विश्वास न करें। चैत में खलिहान में दाँय (देवरी) करते समय पशुओं के गोबर में उन के निरन्तर अन्न खाते रहने से कुछ अन्न अनपचा रह जाता है। यह अन्न ये चमार गोबर में से बिन लेते हैं और इसे धो कर सुखाकर गरमी के बेकारी के दिनों में इसे खाते हैं। समस्त पूर्वी यू० पी० में यह है। रस-आखेटक जब यह सब सोचता है तो उस की आत्मा में घाव हो जाता है, उस का घोड़ा तन कर खड़ा हो जाता है, उस के मन में क्रोध के पवित्र फूल फूटने लगते हैं। [जनवरी १९६८]

आज की कविता : दूरी का सवाल

श्रीकान्त वर्मा



कवि और कविता के पाठक के बीच एक दूरी पैदा हो गयी है । यह दूरी क्या है इसे पहचानने के बाद ही यह तय किया जा सकता है कि इसे कैसे समाप्त किया जाये ।

हिन्दी के एम० ए० को हिन्दी की ही समकालीन कविता सीधे-सीधे ग्रहण करने में मुश्किल होती है क्योंकि उसे १७ साल तक एक खास ढंग से 'साहित्य की शिक्षा' दी जाती है और उस मे वह बँध जाता है । फिर उसे, अपने-आप को, उस से मुक्त करने में एक भयानक आत्म-संघर्ष से गुज़रना पड़ता है । विश्वविद्यालयों मे 'कविता की शिक्षा' के नाम पर अलंकार, रस, छन्द और काव्य के लक्षण पढ़ाये जाते है । इस तरह कविता के बाहरी वस्त्रों, और बाहरी शर्तो से, छात्र का परिचय कराया जाता है, लेकिन कविता से उसे जोड़ा नहीं जाता ।

मनुष्य के रूप में हर व्यक्ति अपनी भीतरी तहों मे कविता से जुड़ा रहता है । जैसे कि इन्द्रधनुष को देख कर वह प्रसन्न होता है, वैसे ही कविता पर भी उस की सीधी-सीधी प्रतिक्रिया होनी चाहिए। लेकिन विश्वविद्यालयों के कुहासे में प्रवेश करने के बाद न इन्द्रधनुष केवल इन्द्रधनुष रह जाता है और न कविता केवल कविता ! दोनों की वहाँ शास्त्रीय व्याख्याएँ होने लगती है । वहाँ इन्द्रधनुष के विषय में केवल इतना कह देना काफ़ी नहीं होता कि वह इन्द्रधनुष है और न कविता के बारे में यह कहना पर्याप्त होता है कि वह कविता है । इन्द्रधनुष की व्याख्या में रंग और कविता की व्याख्या में मर्म का नष्ट होना दोनों की नियति है । १७ वर्षो तक शास्त्र के हाथों पिट कर छात्र जब विश्वविद्यालय से बाहर आता है तब वह पूरी तरह गूँगा और बहरा हो चुका होता है । उस में किसी तरह को ग्रहणशीलता नही रह जाती । वास्तव में आज की कविता दुर्बोध है नही, लेकिन लगती है । क्योंकि ऐसा मान लिया गया है । नयी कविता से अपने पहले परिचय में आलोचको की पहली प्रतिक्रिया यह हुई, कि यह 'बौद्धिक कविता' है । इस के पहले कविता के बारे मे यह धारणा थी कि कविता केवल संवेदना के स्तर पर ग्रहण की जा सकती है । लेकिन क्योंकि नयी कविता ने कविता के स्वरूप और

संगठन को बदल दिया था इस लिए उस के विषय में आलोचकों ने एक पूर्वाग्रह बना लिया कि इस का संगठन सहज न हो कर बौद्धिक है। दूसरे शब्दों में वे यह कहना चाहते थे कि वह कृत्रिम है या कि केवल मनोविलास है। कोई भी कविता 'बौद्धिक' नहीं होती। कविता के 'बौद्धिक' होने का अर्थ है उस का कविता न होना। लेकिन नयी कविता के बारे में एक पूर्वाग्रह बन गया, क्योंकि परिवर्तन-विरोधी आलोचकों के मन में नयी कविता के प्रति विरोध-भाव था। नयी कविता के विरुद्ध हल्ले का नतीजा यह हुआ कि पाठक देर तक गुमराह रहा। मैं उन पाठकों की बात नहीं कर रहा हूँ, जिन्हें समानधर्मा कवि या 'कवियश प्रार्थी' कहा जा सकता है, बल्कि उन की, जो लेखक नहीं हैं, महज पाठक हैं। वे नयी कविता के नजदीक यह उम्मीद ले कर आयें कि इस का किताबी अर्थ में कोई अर्थ है। कविता के बारे में उन्हें बताया ही यही गया था। दूसरे यह कि आलोचकों ने यह भ्रम पैदा किया था कि नयी कविता एक बौद्धिक प्रतिक्रिया है। नतीजा यह हुआ कि लेखक और पाठक के बीच एक बौद्धिक लड़ाई शुरू हुई। किसी भी कविता को, चाहे वह 'निराला' की हो या नये कवियों में सब से दुर्बोध माने जाने वाले कवि मुक्तिबोध की, उसे बौद्धिक आधारों पर नहीं ग्रहण किया जा सकता। देखना यह है कि कविता पढ़ते समय हमारे मन पर क्या प्रतिक्रिया होती है? मन में कौन से बिम्ब पैदा होते हैं? क्या आवेश पैदा होता है?

जो कुछ हमारे अन्दर पैदा हुआ वही कविता का अर्थ है। अगर कोई बाहर से कविता का अर्थ निकालना चाहता है, तो वह झूठा अर्थ होगा। इस स्तर पर जरूर नयी कविता दुर्बोध है। नयी कविता ही क्यों, कोई भी कविता दुर्बोध है। सूरदास या मीरा-जैसे सहज कवियों की भी किसी पंक्ति का शाब्दिक या तथाकथित अर्थ निकालने का प्रयत्न किया जाये तो उन की सहज से सहज कविता भी दुर्बोध हो जायेगी। मीरा एक जन-कवि नहीं होती अगर साधारण लोगों और अशिक्षितों ने उस को सीधे-सीधे ग्रहण नहीं किया होता। आलोचकों और प्राध्यापकों के हाथों पड़ कर मीरा की करीब-करीब वही गति हुई होती जो नयी कविता की या अन्य किसी भी कविता की हुई है।

सवाल यह है कि कविता को पढ़ा कैसे जाये, यह नहीं कि कविता को पढ़ाया कैसे जाये? आप कविता को किस तरह पढ़ना चाहते हैं? क्या आप कविता को, जैसा कि आप को स्कूलों और कालिजों में पढ़ाया गया है, उस ढंग से पढ़ना चाहते हैं, या कि उस की टीका करना चाहते हैं या कि किसी कविता को पढ़ने पर आप के मन में जो प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई, उसे आप पर्याप्त मानते हैं? अगर आप उस प्रतिक्रिया को पर्याप्त मानते हैं, तब आप सही जगह पर हैं। लेकिन अगर आप उस का अर्थ निकालने की कोशिश कर रहे हैं तो—यह मैं हिन्दी के ही बारे में ही नहीं कह रहा हूँ, हर समृद्ध भाषा की यही नियति है—कविता का केवल अनर्गल अर्थ हाथ

आयेगा।

अगर वास्तव में कोई कविता दुर्बोध है तो यह मान कर चलना चाहिए कि वह ख़राब कविता है। दुर्बोधता अच्छी कविता की नियति नहीं है, बुरी कविता की उपलब्धि है। दरअसल ख़राब कविताओं पर आरोप यह होना चाहिए कि वे बुरी कविताएँ है न कि यह कि वे दुर्बोध हैं। दुर्बोधता कृत्रिमता का दूसरा नाम है। कोई भी कृत्रिम चीज दुर्बोध होगी। क्रान्तिकारी परिवर्तनों को अकसर दुर्बोध कह कर रद्द करने की कोशिश की जाती है। कबीरदास हिन्दी आलोचकों को अब भी दुर्बोध लगते है। लेकिन जन-साधारण गवाह है कि वह क़तई-दुर्बोध नहीं। उन की तुलना में तुलसीदास ज़्यादा दुर्बोध कवि हैं। तुलसीदास में, अपेक्षाकृत कृत्रिमता है—इस अर्थ में कि उन्होंने एक विचारधारा की वकालत करना ज़रूरी समझा। इसी लिए उन्होने उस में बहुत-सा वह अर्थ भरा जो कविता के लिए ज़रूरी नहीं होता। कविता के लिए सामाजिक या राजनैतिक अर्थ अपने-आप में कोई अर्थ नही रखता। कविता एक सीधी-सीधी टक्कर है—परिवेश से या मनुष्य से! कबीरदास ने अपने परिवेश से टक्कर ली जब कि तुलसीदास ने एक बौद्धिक की तरह उस की व्याख्या करने की कोशिश की और इस में शक नहीं कि अपनी कोशिश मे काफ़ी हद तक वे सफल भी हुए। लेकिन कविता और उस की समग्रता के स्तर पर तुलसीदास उतने बड़े नही ठहरते जितने कि सूरदास या कबीरदास, जिन्होंने संसार को झेला, उसे चुनौती भी दी। मगर उस की बौद्धिक परिभाषा नहीं की।

अगर किसी कविता में सचमुच दुर्बोधता है तो, मेरे ख़याल में, उसे दुर्बोधता न कह कर कृत्रिमता कहना चाहिए। यह नहीं कि ऐसी कविताएँ आज लिखी नहीं जातीं। कुछ और भी कारणों से यह ख़याल बन जाना स्वाभाविक है कि आज की कविता में दुर्बोधता है। एक कारण है जटिलता। आदमी का, आज का जीवन, सपाट नहीं है; स्थितियाँ सीधी-सीधी नही हैं उलझी हुई हैं। एक ही कवि एक ही कवि नही है, एक ही व्यक्ति एक ही व्यक्ति नहीं है—यह निश्चय कर पाना भी मुश्किल है कि उस का कौन-सा चेहरा उस का अपना चेहरा है। सैकड़ों स्तरों पर उस का अन्तर्जीवन चलता है। उस के भीतर लगातार एक उलझन पैदा होती है। आज के कवि की ज़िम्मेदारियाँ एक-दूसरे से उलझी हुई हैं। उस की जितनी ज़िम्मेदारियाँ है उस के उतने ही जीवन हैं। दरअसल उस के अन्दर सैकड़ों अन्तर्जीवन हैं। तमाम अन्तर्जीवन मिल कर उस के भीतर एक भयानक अन्तर्विरोध पैदा करते है, और वही अन्तर्विरोध कविताओं में, एक जटिल संसार के रूप मे व्यक्त होता है। उदाहरण के लिए मुक्तिबोध की कविता को लिया जा सकता है जिस के अन्दर बहुत से अन्तर्जीवन थे। मुक्तिबोध-जैसा कि उन्होंने स्वयं ही लिखा है—किसी भी अन्तर्जीवन या किसी भी दबाव से पलायन करना नहीं चाहते थे। वह अपने समस्त अन्तर्विरोध को व्यक्त करना चाहते थे—अपने टूट जाने की लगातार बढ़ती हुई आशंका के बावजूद! अपनी अन्तिम

विताओं के भीतर के संसार को तय करने
। प्रक्रिया में उन्होंने अपने को नष्ट कर
ाया ! मगर यदि उन्होंने स्वयं को नष्ट न
कया होता तो उन के वे दबाव नष्ट होते
जिन से वे कविताएँ पैदा हुई। इस दोहरी
प्रक्रिया में पड़ कर जो कविता निकलती है,
यह सही है कि, वह ऊपरी तौर पर दुर्बोध
लगती है; पर वास्तव में दुर्बोध होती नहीं है।
दरअसल प्रतीकों और बिम्बों का यह संसार
जटिल होता है—उस की तमाम स्थितियाँ
तनाव-भरी और विरोधी होती है। मुक्तिबोध
की कविता का कोई एक बिम्ब होगा कि
ब्रह्मराक्षस कुएँ में पडा हुआ है। दस पंक्तियों
के बाद एक दूसरा बिम्ब होगा कि एक स्त्री
विलाप कर रही है। यह सारी फैंटेसी अजीब
लगती है। लेकिन जिन को स्थिति की समझ
है उन्हें यह पहचानते वक्त नहीं लगेगा कि यह
सब से यथार्थ संसार है जिस की अभिव्यक्ति
के लिए उन्होंने सैकडों बदरंग प्रतीक चुने है।
तमाम जीवन-स्थितियों को वह एक साथ व्यक्त
करना चाहते हैं। कोई भी कवि जब इस
तरह का प्रयत्न करेगा तो उस की कविता में
एक अनोखा तनाव पैदा होगा। इन से गुजरने
के बाद ही अपनी भी पहचान होती है। जैसे-
जैसे कविता के ज़रिये हम अपनी पहचान करने
लगते है वैसे-वैसे कविता खुलने लगती है।
जटिल वह प्रक्रिया होती है जिस से कवि
गुजरता है और बाद मे पाठक को भी उस से
गुज़रना पड़ता है।

यह सही है कि आज की कविता सीमित
वर्ग की कविता है। यह सीमित वर्ग वह है
जो अनेक भीतरी दबावों और संघर्षो से गुजर
रहा है, जो प्रश्नों की शय्या पर पड़ा हुआ
है। यह सवाल बिलकुल असंगत है कि यह
हर व्यक्ति की कविता क्यों नहीं। समकालीन
कविता अनास्था की कविता है और उस का
संसार अनास्था का संसार है। आस्थाजीवी
राजनेता, प्राध्यापक और बुजुर्ग यथास्थिति
को बनाये रखना चाहते हैं—इसी में उन का
भला है। कवि चाहता है कि समाज का
वर्तमान ढाँचा टूटे, इतिहास बदले और यथा-
स्थिति नष्ट हो। एक बहुत बड़े पाठक-वर्ग के
भीतर भी वही गुस्सा है, जो कि आज की
कविता मे है; लेकिन एक छोटा-सा वर्ग ऐसा
भी है जो कि पुश्त-दर-पुश्त आस्थावान् है।
यह चाहता है कि कुछ भी न बदले, खास तौर
से वे चीजें जिन के बदलने से वह नष्ट हो
सकता है। वास्तव मे शिक्षितों और अध्यापकों
का यही वर्ग कविता-विरोधी है, क्योंकि वह
जीवन-विरोधी है और इसी लिए वह समाज-
विरोधी भी है।

सन् 'साठ के पहले की कविता बहुत हद
तक रोमैण्टिक कविता थी। लेकिन सन् 'साठ
के बाद हिन्दुस्तान में भयानक राजनैतिक और
सामाजिक परिवर्तन हुए, हमले हुए, नेतृत्व
नहीं रहा और सारा देश गुमनाम हो गया।
इस सारे दबाव को नये कवि ने, कवि होने के
कारण ज़्यादा तीव्रता से महसूस करते हुए
अभिव्यक्ति दी—यह नही कि औरों ने उसे
महसूस नही किया। आज लिखी जा रही
कविता बागी जनता की ही एक भंगिमा है।

[अक्तूबर १९६८]

लिखना-और वक़्त की मिठास और बेरहमी

कृष्णा सोबती



अपने बारे में कुछ भी कह सकना मुश्किल नही लेकिन अपने लेखन के बारे में कुछ भी कह पाना आसान नही । खास कर ऐसे एक व्यक्ति के लिए जो अपने बारे में यह खुशगवार गलत-फहमी भी न रखता हो कि वह 'जेनुइन' लेखक है और 'जीनियस' भी । जो यह मान कर चले कि वह सचमुच का लेखक नही, समूचा लेखक नही और सिर्फ अधूरेपन में कभी-कभार ज़िन्दगी के टुकडे प्रस्तुत कर लिया करता है । ऐसा एक व्यक्ति कलाकार होने के स्वभाव-जन्य अहम् और दम्भ के बावजूद यह महसूस करने की क्षमता भी रखता हो कि समग्र साहित्य और कला उस के छोटे-से सीमित लेखन से कही गहरे विस्तृत और जीवन्त है । जो लिखा गया है, लिखा जा रहा है, वह सृजन की उस लम्बी कडी का एक अग है जो जीवन की ही तरह अटूट है, अमर है । उस का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व (सृजन के कुछ एकान्त क्षणो के बावजूद) भविष्य के हाथ में है । यही वह जोखिम है जिस का सामना हर 'लिखे गये' लेखन को करना होता है । आज के 'कॉण्टैम्प-रेरी लेखन' के पास सब तरह की कॉमर्शियल सुविधाओ के होते हुए भी, समय से होड लेने या समय को पछाड देने की प्रतिस्पर्धा में भी इस इम्तहान से बरी नही हुआ जा सकता ।

साहित्य समय को अकित करता है फिर समय पलट कर 'साहित्य' में 'साहित्य' का स्थान निर्धारित करता है ।

कोई भी कलाकार अपना मनपसन्द माध्यम चुन सकता है पर माध्यम को सफलता-पूर्वक निभाने को अपने लेखन के लिए प्रतिभा की 'परसेण्टेज' निर्धारित नही कर सकता । वह अपने को सँजो सकता है, अनथक मेहनत और साधना से कभी-कभी प्रतिभा के सहज गुण की प्राप्ति का छलावा भी दे सकता है, पर चाहने-भर से वह अपनी 'मिडीयोकेरिटी' को 'जीनियस' में नही बदल सकता । यूँ हर छोटा-बडा लेखक अपने को महान् और प्रतिभाशाली समझ कर अपनी मेज़ पर लिखने बैठे तो किसे एतराज़ हो सकता है ।

सच तो यह है कि यही वह मच है जहाँ जाने अनजाने लेखक अपने और अपने लेखन के लिए 'ट्रैजेडी' और 'कॉमेडी' बुना करते है । वह अलग बात है कि अक्सर 'ट्रैजेडी' 'कॉमेडी'

होती है और 'कॉमेडी' एक ऐसी 'ट्रैजेडी' में बदल जाती है जो न कॉमेडी होती है न ट्रैजेडी। दरअसल वह एक 'मीडीयाकर' लेखक होता है जो नही जानता कि वह क्या लिख रहा है, क्यों लिख रहा है। उस के लिए यही काफी होता है कि वह लिख रहा है और अपनी याद बनाये रहने के लिए पत्र-पत्रिकाओं में जिन्दा है।

वातावरण शिक्षा और जीवन से सम्बन्धित अन्य ढेरों सुविधाओं और मजबूरियों से हट कर हर लेखक के निकट कुछ ऐसा होता है जो उस के व्यक्तित्व के 'सम-टोटल' के बाहर रह जाता है और यहीं सहसा लेखन के लिए जीवन की समग्रता तथा समूचापन महत्त्वपूर्ण हो उठता है। जो कुछ भी जीया जा रहा हो, लेखक के आस-पास घट रहा हो, वह अपने-आप में लेखक के लेखन से कहीं महत्त्व-पूर्ण होता है। जो अपने बाहर के 'साधारण' को नजरअन्दाज कर अपने अन्दर के असाधारण को 'आत्मचिन्तन' द्वारा अपने ही मन के बन्द कपाटों में 'वैजीटेट' होने देता है वह जिन्दगी की केवल एकतरफ़ा तसवीर ही प्रस्तुत कर सकता है। अधिक नहीं।

कई बार लेखक के लिए 'घट' रहे के बाहर रहना उस के अन्दर रहने से कही अधिक 'इन्वॉलविंग' होता है। असल बात दो सीमाओं के मध्य से 'अपने अन्दर' फिर 'अपने से बाहर' झाँकने की है। जो अपने से बाहर है और जो अपने अन्दर है इन दोनों के बीच ही वह सीमान्त है जहाँ जीवन और साहित्य की मर्यादाएँ एक-दूसरे को छूती है, एक-दूसरे को चुनौती देती हैं, टकराती हैं, कुछ तोड़ती हैं और फिर कुछ नया पैदा करती हैं जो एक साथ जीवन और साहित्य को मान्य होता है।

लेखक लगातार जिन मूल्यों और वाता-वरण से संघर्ष करता है अकसर उस वाता-वरण की निकटता से वह उस दूरी को नहीं महसूस कर सकता है जो नितान्त सगेपन से उपजती है। इसी तरह पास की दूरी भी जो निकटता और आन्तरिकता का सहज परिणाम होती है। यह बात जितनी रोजमर्रा की जिन्दगी में सच है उतनी ही साहित्य मे भी।

कुछ इनी-गिनी रचनाओं के बल पर अपनी सृजन-प्रक्रिया की बात गम्भीरतापूर्वक करना न केवल अतिरंजित लगता है, ग़ैर जरूरी भी। सच तो यह है कि जो अब तक लिखा है वह उतना नहीं कि उस के बारे में अपने-आप ही साहित्यिक-मान्यताएँ प्रस्तुत की जायें जो अन्ततः आत्म-विज्ञापन का ही काम करती हैं।

लेखक के निकट कुछ भी लिख लेने के बाद सब से प्रिय काम अपने लेखन की 'व्याव-सायिक-सम्भावनाएँ' और उन की 'स्ट्रेटेजी' जमाने का होता है। ऊपर से महज़ एक शग़ल दिखने वाली यह कला काफ़ी गम्भीर है क्योंकि इस की सफलता के लिए ऊँचे दरजे का गणित ही कारगर हो सकता है। संयोगवश जिन का हिसाब कमजोर हो और जो साहित्य-क्षेत्र में छोटे-मोटे 'पैकेट' न करना चाहें उन्हें अपनी प्रतिभा के बल पर ही अपने पाठकों की मौन स्वीकृति संचित और

अर्जित करनी होती है। अगर यूँ कहा जाये कि उन्हें अपना लेखन 'पब्लिक रिलेशन्स' द्वारा जमा नहीं होता खुद अपने हाथ से धरती में उगाना-उपजाना होता है तो ग़लत न होगा। वह इसी तरह पनपता भी है क्योंकि असल बात अच्छे गणित की नही, अच्छी जमीन की होती है।

मै यह स्वीकार करना चाहूँगी कि अपने अब तक के लेखन में धरती के उस टुकड़े में ही सृजन की प्रेरणाएँ उठ खड़ी होती रही हैं।

यह सच है कि सभी कोई सभी वक़्त केवल विशिष्ट रचनाएँ ही नही लिख सकते। मुझे मेरे दोस्त और पाठक इस मामले मे अपवाद मानते है पर तथ्य कुछ और है। हकीकत यह है कि मै रोजमर्रा का दिमागी कूडा-कचरा साहित्य के आँगन मे फेंकने के बजाय अपने निज के 'कूडेदान' को सौंप दिया करती हूँ।

मामूली दिखने वाला यह नुस्खा आप को काफ़ी परेशान कर सकता है। कितनी ही 'बिन्दियों' के नुकसान के लिए आप को तत्पर रहना होता है। यह भूल कर कि यही 'बिन्दियाँ' आप के चाहने से गुणा के जोड़ में भी लग सकती है। (मैं यहाँ अर्थ-लाभ की बात नही कर रही—उस जमा का जिक्र है जो अपनी रचनाओं के रूप मे लेखक के निकट 'बैंक-बैलेन्स' से भी ज्यादा मूल्यवान् होता है।)

यूँ इस खयाल की दूसरी तसवीर कही ज्यादा रंगीन हो सकती है लेकिन अपने निकट यह एक ऐसी मजबूरी रही कि उस से छुटकारा पाना नहीं हो सका। हर-एक छोटी-बड़ी रचना के बाद एक लम्बा अन्तराल आता रहा और अपने-आप को दोहराता रहा। मैं ने भी अपनी सहज बुद्धि से यह जान लिया कि मेरे लेखन की यही तासीर है और कोई दूसरा 'शार्टकट' मुझे राज आने वाला नहीं।

मेरे लिखने के फ़ासले और अवधि दोनों लम्बे होते हैं क्योंकि मुझे कुछ भी हाथ मे लेने से पहले उसे धीमी रफ़्तार में जीना होता है। बाक़ायदा जीने की 'मेनोटनी' से। ग़लत न होगा अगर कहूँ कि मै उन लोगों मे से हूँ जिन्हें हर क्षण जीने के लिए एक शताब्दी चाहिए फिर पलट कर हर शताब्दी एक क्षण।

(इस का असर पूरे मिजाज पर ही नुमाँया है!)

वक़्त की मिठास और बेरहमी अगर हम ने नहीं जानी तो ऐसा लिखना नही हो सकता जो क़लम से निकले और प्राणवान् हो उठे। जानदार होने के लिए अपनी ही तरह हमारे लेखन को भी एक अदद देह चाहिए। एक आस्था (वह अनास्था भी हो सकती है) और एक मज़बूत हड्डी। यही लेखक और लेखन की 'वाइटैलिटी' की, कुछ कर सकने की सामर्थ्य की परीक्षा है।

जिस यथार्थ में मानवीय संवेदना की गूँज नहीं, जिस कल्पना मे ठोस यथार्थ का रंग नहीं—ऐसा 'पीलिया साहित्य' अपनी व्यापारिक सफलता के बावजूद साहित्य के

गम्भीर विवेचन का हकदार कभी नही होगा।

जिस वासन्ती साहित्य से मात्र पाठकों का मनोरजन होता है, या केवल आरोपित निराशा हाथ लगती है अथवा प्यार की असफल (फरजी) रात के वमैलापन का बदजायका ही मिलना है—ऐसे साहित्य से गम्भीर अपेक्षाएँ किसी को नहीं है।

लेकिन जो साहित्य का गम्भीर पाठक है (केवल अपनी रचनाओ का ही नही।) और किन्ही भी मानवीय मूल्यो में आस्था रखता है—वह यह स्वीकार करेगा कि उस का उत्तरदायित्व किसी समूह, किसी विचारधारा के प्रति नही, अपने लेखन के व्यक्तित्व के प्रति है। (अगर कोई व्यक्तित्व उस के लेखन के पास है तो)। अपने और अपने लेखन के बीच किसी भी तीसरी शर्त का अंकुश अस्वीकार कर देना होगा। जो लेखक अथवा लेखन अपने अकेलेपन में जितना बडा सघर्ष करता है, जोखिम उठाता है वह उतना ही कम अकेलेपन से भोगने की बात करता है। क्योकि जो सचमुच में 'अकेलापन' जीता है और महज चलन के तौर पर किसी चौखटे में से अपने अकेलेपन से साक्षात्कार नही करता, यह भीड की बात सोचता है, परले सिरे से लौट कर अपने मे भीड के कीटाणु ढूँढता है और व्यक्ति की सत्ता के रूप में फिर उसी भीड को साहित्य में अकित करता है। उजागर करता है।

कहना असगत न होगा कि हम ने दर्शन और चिन्तन की खूबियो और विवशताओ—दोनो से देहातीत अमर-प्रेम और जन्म-जन्मान्तर के सम्बन्धो के कुलावे बांधे है। अब हमें व्यक्ति की हैसियत से अपने होने की वैज्ञानिक सार्थकता को खोजने-टटोलने के लिए नितान्त कुछ दूसरा करना है जो पहले से भिन्न होगा। नया होगा।

परम्पराएँ पहले मूल्य निर्धारित करती है फिर उन्ही मूल्यो में जकडी जाती है और एक दिन दबावो के कारण टूट भी जाती हैं। हम क्यों न स्वीकार करें कि पुरानी परम्पराओ के टहते इस ऐतिहासिक मोड पर हम देह को आत्मा की अमलदारी से आजाद कर उस की स्वतन्त्रता सत्ता को स्वीकारें।

इसे कर पाने के लिए हमें मानसिक रति को घटिया कहानियाँ, 'सेक्स' की प्रेतात्माओ पर प्रतीको के लबादे नही पहनाने है—हमें हाड मांस के इन्सान के पास जमी सडांध को साफ कर उस अनोखे चमत्कार को उजागर करना है जो इन्सान के बार-बार मर जाने के बाद भी जिन्दा रहता है।

साहित्य क्योकि धर्म नही, और जीवन क्योकि आचार नही, इन दोनो की सँझाती में हमें अतीत से आक्रान्त जीवन और साहित्य में आधुनिकता के उस सस्कार को रोपना है जो सिर्फ शैली और कलेवर का फैशन ही नही—एक खुली उन्मुक्त और सेहतमन्द जिन्दगी का प्रस्तुतीकरण भी है।

[नवम्बर १९६८]

नारी की मुसकानें और महाकाव्य के कमल का खिलना

रमेश कुन्तल मेघ



प्रसाद का अपना एक रोमाण्टिक त्रैलोक्य था जिस में आनन्द और सौन्दर्य और शिवत्व के लोक थे। उन का वह वैयक्तिक त्रिपुर एक ऐसी प्रक्रिया से गुजरा कि 'कामायनी' में आते-आते वह इच्छाशक्ति, क्रियाशक्ति और ज्ञानशक्ति का कलातान्त्रिक त्रिपुर हो गया। अर्थात् उस मे 'शक्ति' केन्द्र में क़ायम हो गयी। वह शक्ति मन, मन के देवता काम तथा मन के प्रतीक मनु की भी संचालिका हुई। शक्ति के स्पन्दित होने की अनेक प्रक्रियाएँ हो सकती हैं (परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी, पर-अपर)। शक्ति के कई रूपक हो सकते हैं : पुरुष-प्रकृति, उपाय-प्रज्ञा, शिव-शक्ति, कृष्ण-राधा, मदन-रति, कुलिश-कमल इत्यादि। अर्थात् जयशंकर-प्रसाद ने अपने रचना-संसार में 'शक्ति नारी' को एक कर दिया है। छायावादी प्रसाद ने नारी की शक्ति को भाव या इच्छा माना है। उस का चेतन वरदान-रूप तो सौन्दर्य है, तथा गुण-धर्म है लज्जा एवं हास ! यह प्रसाद का नारी-संसार है। प्रसादीय नारी, अर्थात् 'मुसकान की एक सरल सुन्दर रेखा' !! किन्तु श्रद्धा के पीछे 'उस' मुख की 'वह' मुसकान कैसे पहचानेंगे हम ?

इन वर्षों के दौरान अब यह सच्चाई ज्यादा खुलती चली जा रही है कि हिन्दी के कृतिकारों में सब से विविध और बहुल, समृद्ध और दुर्लभ, विलक्षण और विशिष्ट नारी-संसार की अनुभावना तथा अनुरंजना करने वाले अकेले प्रसाद ही हैं। उन की नारियाँ यदि कालिदास की नारियों के बराबर अभिषेक कर के मांसल हो उठती है, तो (किंवदन्तियों वाले रोमांसों के लीला चमत्कारों को छोड़ कर) नर्तकियों, गायिकाओं के-जैसे आभिजात्य प्रणय-व्यापारों में प्रगल्भा सिद्ध होती हैं। उन के नाटकों, कहानियों और कविताओं मे वास्तविक नारियो की छायाएँ खोजना तो मुश्किल है और क्योंकि हमारे पास उन के निजी जीवनी के पर्याप्त सबूत नहीं हैं। अलबत्ता उन के नारी-संसार से कुछ अनूठे और अनागत नतीजे हासिल हो सकते हैं। किंवा हम उन के नारी-

लोक के अनुभव का साझा कर सकते है ।

सब से पहले उन के नाट्य रूपको में नारियो का क्रिया व्यापार और लीला ससार इतना प्रबल है कि वे नायिका-प्रधान लगते हैं । दूसरे, उन के नाटको की नब्बे प्रतिशत नारियाँ रमणियाँ और युवतियाँ है और वे पत्नियो के वजाय प्रेमिकाएँ है । तीसरे वे लगभग सभी तीन कलाओ तथा विद्याओ में प्रवीण है—१ सगीत और नृत्य, २ प्रेम और रोमास तथा ३ स्वच्छन्दता और सस्कार । इस तरह प्रसाद की प्रेमिकाएँ या युवतियाँ, या रमणियाँ सुसस्कृत (कल्चर्ड) भी है, तथा एक नागर साम तीय मस्कृति मे सास्कृतिक (कल्चरल) भी । वे सभी कम से कम गान और प्रेम मे तो बेहद चतुर है और चेतन । मह उन में से कुछ नारियो का दालमण्डी के झरोखो वाला समसामयिक वनारसी पर्यावरण भी हो सकता ह । इस तरह प्रौढ प्रमाद ने एक विशेष क्षेत्र से नारियो का तरोताजा सम्पर्क तथा अनुभव लिया है । यह ग्रहण नवीन और सत्य है । इस गहण मे उ हाने अतीत के स्वणकालो का सम्मोहक रग भर दिया है । इसी लिए उन के परवर्ती नाटको तथा कहानिया की नारियाँ यथाथ एव वास्तविक है । छायावादी कवियो में केवल प्रसाद ही नारी के जगत् की इतने नजदीक से सचमुच देख सके है ।

अब इस की दूसरी दिशा लें । ये नारियाँ वेहद स्वतन्त्र तथा स्वच्छन्द होने के बावजूद, पुरुषो के सम्पर्क में बुद्धिमती तथा युवको के सम्पर्क में भावुक होने के बावजूद जीवन-सस्कारो को सुरक्षित करने मे भी शीलवती एव शक्तिमयी है । अत इन की परिणति आत्मसम्मान के साथ-साथ त्याग और सेवा, उत्सर्ग और उन्माद में भी होती है । इस तरह आत्मरति से आत्मसम्मान, और आत्म-सम्मान से आत्मबलिदान के पन्थ पर चलने वाली उन की प्रमुख नारियाँ रूप और त्रिगुण में रोती तथा हँसती है ।

उन की व्यक्तिगत नारियो के निचोड से रची गयी महानारी 'कामायनी' में सघन और सूक्ष्म, अमूत और आदर्श हो कर श्रद्धा में अवतरित हुई है । कवि ने इस महाकाव्य के कई आयामो में अपना रचना ससार विकसित किया है । उस की नारियो की सृष्टि के भी दो द्वन्द्वयुक्त अनुभव-पैटर्न केन्द्रीभूत हुए हैं, यथा, भावमयी श्रद्धा और तर्कमयी इडा । इन में से पहली विश्वमित्र मातृमूर्ति है और दूसरी जनपद कल्याणी रानी है । वस्तुत यह नारियो के अमूर्त तथा मूर्त, रोमाण्टिक तथा आधुनिक अभ्युदय का तत्कालीन सघष है । इस सघष को प्रेमचन्द ने भी झेला था । फलत 'रगभूमि' की सोफिया और 'कर्मभूमि' की सकीना के बाद 'गोदान' में उन्होने गोविन्दी के मुकाबले मालती के रूप में एक आधुनिक नारी का आविर्भाव कराया जो भीतर से मधुमक्खी और बाहर से तितली होने के अलावा भीतर-बाहर से अकुण्ठ और बुद्धिजीवी है । नारी सम्बन्धी अनुभवो को केन्द्रीभूत करने को प्रसाद की दूसरी अन्य दिशा भी रही है नारी का मिथकवित्वपूर्ण आर्केटाइपल स्वरूप । वे उस विश्वरानी,

जगत् की मान तथा हृदय की सौन्दर्य-प्रतिमा के रूप मे उभारने के बाद उस की वैश्वक (युनिवर्सल) संरचना करते हैं : नारी दुर्बल है और अपने हृदय का समर्पण कर चुकी है । किन्तु उस की एक छायामूर्ति लज्जा है, जो चेतना के उज्ज्वल वरदान अर्थात् सौन्दर्य की धात्री है, गौरव-महिमा तथा शालीनता सिखलाने वाली अध्यापिका है, और चंचल किशोर सुन्दरता की रखवाली करने वाली रक्षिका है। इस ढंग से प्रसाद नारी और नारीत्व को एकैक करते है। पुरुष की हृदय-प्रतिमा नारी है, नारी की छाया-प्रतिमा लज्जा है, और लज्जा रति की प्रतिकृति है—इस निजी कामसूत्र को पकड़ कर प्रसाद लज्जा को रति से तथा नारी को प्रीति से जोड़ देते हैं। इसी उपक्रम मे नारी लज्जा से अपना जीवन-पथ और आलोकमयी संसृति-रेखा पूछती है । नारी को शारीरिक दुर्बलता ही चेतना के उज्ज्वल वरदान के कारण शक्ति बन जाती है। इस तरह कवि की मनस्तात्त्विक मानसिक तृप्ति और नारी को शारीरिक क्षतिपूर्ति हो जाती है ।

हाँ, तो प्रसाद ने इसी तरह नारी और नारीत्व की तदात्मकता क़ायम की है। उन्होंने यह समरसता फ़ायडीय अवचेतन के आधार पर न स्थापित कर के चेतना (महाचिति) या चैतन्य (शिव) के धरातल पर की। उन्होंने 'सौन्दर्य' को चेतना का उज्ज्वल वरदान माना, तथा 'सत्य' को चेतना का सुन्दर इतिहास । उन के सौन्दर्य-तत्त्व मे अनन्त आकांक्षाओ के सपने हैं। तो सत्य-तत्त्व मे अखिल मानव भाव हैं। किन्तु भाव और स्वप्न—दोनो का विन्दु एक है। वह है चेतना। यह आंशिक अभिनवगुप्तवादी प्रसाद के आदर्श चिन्तन रथ की भी धुरी है। उन्होंने यह भी स्पष्ट किया है कि इतिहास तो विश्व के हृदय-पटल पर अंकित है लेकिन सौन्दर्य पुरुष के हृदय-पटल पर आकर्षण बनता है। अतः निरंकुश कवि स्वयमेव इतिहास-शक्ति के बजाय नारी-शक्ति की ओर मुड़ जाता है। यहाँ भी स्वेच्छाचारी कवि का अन्तर्मुखी मनोविश्लेषण ही उद्घाटित होता है, जो 'कामायनी' की भौतिक इतिहास-प्रक्रिया को त्रिपुर-सुन्दरी की मुसकान से संचालित करता है ।

यह मुसकानो का संसार ही तो है, जो 'कामायनी' मे आदिम प्रतीकों, काव्यशास्त्रीय लक्षणों, तान्त्रिक पारिभाषिकों और आभीर-चर्याओं से बहुविध मण्डित हो उठा है। गैर-एकेडेमिक ढंग से समझने पर भी यह ऐसा ऐन्द्रजालिक संसार है जो कामबाला और श्रद्धा, कामायनी और नारी को उन्मीलित करता है। आदिम कामबाला कुछ दिनों से गन्धर्वो के देश अर्थात् गान्धार (अफ़गानिस्तान) या किन्नौर (हिमाचल प्रदेश) मे भी रह आयी है। साथ मे उस ने ललित कला का ज्ञान भी हासिल किया है। अतः कवि-चित्त मे वह गान्धार देश की ही रही होगी । यह कामबाला एक गम्भीर और मुग्धा किशोरी है जिस के सौन्दर्य का आदिम विधान है किन्तु जिस का नखशिख क्लासिकल भारत-यूनानी है, एवं जिस का रूपवर्णन छाया-

वादी है।

ऐसी किशोरी गन्धर्वकुमारी के मुख पर पहली मुसकान भोले सौन्दर्य और अँगड़ाते भाव को प्रकट करती है—"और उस मुख पर वह मुसक्यान। रक्त किसलय पर ले विश्राम॥ अरुण की एक किरण अम्लान। अधिक अलसायी हो अविराम॥"

इस आदिम तथा लवलीन मुसकान का ही खुला—चपल एवं चंचल—रूप हँसी है। हँसी लज्जा के कारण अवगुण्ठित हो कर स्मिति (मुसकान) बन जाती है। किन्तु हँसी विनोद और कृति का भी साधन है। हँसी की शिक्षा का क्षेत्र रति रहस्य है। काम की अनादि वासना अर्थात् रति ही आकर्षण बन कर हँसती है ("जो आकर्षण बन हँसती थी, रति थी अनादि वासना वही।")। इस मे छायावादी गणित ने रति को अनेक गुणित आकर्षण बना दिया है। उस की हँसी का उद्गम अनादि वासना है। इसी तरह रति की प्रकृति को कवि ने लज्जा बना दिया है। लज्जा चपल सौन्दर्य की धात्री है। इस भाँति प्रसाद ने अनादि वासना और चपल सौन्दर्य को एकतान कर दिया है। इस शोभा-गणित मे अनादि वासना का प्रगटाव हँसी है, और सौन्दर्य का सिमटाव लज्जा। वासना सर्ग मे एक ओर सृष्टि के हँसने से अतिथि की आँखों में अनुराग खिलता है और दूसरी ओर अतिथि के हँसने से एक अधीर कुतूहल छाता जाता है। वासना की हँसी का ही रूपायन 'लज्जा' सर्ग में स्मित मे हुआ है। लज्जा के कारण तरल हँसी ही स्मित बन जाती है जिस से नयनों में बाँकापन भर जाता है। फलतः (बाँकेपन से) प्रत्यक्ष भी सपना बन जाता है। फलतः स्वप्नदशा में अनुराग का बाँकापन भरना लज्जा के अक्षरों—स्मित—का काम है। यही नहीं; यह स्मित ही तो नयनों और अधरों को एक-धर्मी भाषा देती है: अधरों की हँसी और अधरों का चुम्बन, अधरों की रेखाएँ और अधरों की गूँजें!!! इस ढंग से प्रसाद स्मित और हँसी का काव्यशास्त्र और कामशास्त्र उद्घाटित करते हैं। नारी की यही मुसकान—स्मितरेखा—आँसू से भीगी नयन-रेखा का भी सामंजस्य करती है। यही नारी की शक्ति और दुर्बलता के बीच का संघर्ष है, जो उस के उर में नित्य होता रहता है। इसी उपक्रम मे वह पुरुष को ऐसा सन्धि-पत्र लिखने को विवश होती है—जिस में एक ओर समर्पण (आँसू) तथा दूसरी ओर विजय (स्मित) की सन्धि है। अभिनेत्री की तरह वह यह सन्धिपत्र अपनी स्मित-रेखा से लिखती है। यहाँ तक आ कर कवि ने नारी के आन्तरिक लोक का उद्घाटन किया है और नारी शक्ति को हँसी, आँसू तथा मुसकान में पिघलाया है।

लेकिन इसी के समानान्तर कवि ने नारी के स्वरूप का अन्धाधुन्ध आदर्शीकरण भी किया है अर्थात् उसे रति, लज्जा, दुर्बलता, मादकता, कोमलता, सुन्दरता, भावुकता, आलस्य आदि से परे (अब) 'केवल श्रद्धा' बना दिया है: नारीश्रद्धा। यह अमूर्तीकरण मध्यकालीन कवि तुलसीदास तथा गुप्तकालीन कवि कालिदास की स्थापनाओं से भी चर्व्यमाण

लगता है। तुलसी ने शकर को विश्वास रूप तथा भवानी को श्रद्धा रूप मान कर मगलाचरण किया ह, तो कालिदास ने परमेश्वर और पार्वती को वाक और अर्थ का सम्पृक्त रूप माना है। प्रसाद ने नारी को श्रद्धा रूप बना कर विश्वास के हिमालय की उस तलहटी में पीयूष धारा सी बहते रहने का विधान किया है, जहाँ जीवन का सुन्दर समतल है। अर्थात श्रद्धारूपी नारी पुरुष के विश्वास के आश्रय में रह कर जीवन में अमरत्व तथा समत्व का अनवरत सचार करती है। यहाँ हम झिलमिलाता हुआ वैष्णव हाशिया पाते हैं— महाभार का।

लेकिन शैवानन्दवादी प्रसाद अब अमूर्तनो (ऐब्सट्रैक्शस) की अगली सरचना में तान्त्रिक रहस्य साधनाओ में भटक जाते हैं। तान्त्रिक हाशियो पर महामुद्रा का सयोजन होता है, और श्रद्धा रूप नारी ही त्रिपुर सुन्दरी हो जाती है। अब श्रद्धा की स्मित रेखा महाज्योति रेखा सी बन कर त्रिपुर के तीनों बिन्दुओ में फैलती है तथा (जीवन के समतल के बजाय) त्रिपुर में विषमता व्याप्त होती है—एक ओर महाकाल का विषम नृत्य है तथा दूसरी ओर विश्वरन्त्र का विषम कृत्य। अत आगे हमें तान्त्रिक पारिभाषिको का ही अनगढा आतक मिलता है।

श्रद्धा की स्मित, त्रिपुर, रेखा, बिन्दु आदि मिल कर एक तान्त्रिक यन्त्र बनाते हैं। यन्त्र-मन्त्र का आयतीकरण करने की तान्त्रिक पद्धति है। यहाँ तान्त्रिक यन्त्र आनुष्ठानिक है, न कि सौन्दर्यतात्त्विक। अत श्रद्धा की स्मिति-रेखा महाज्योति-रेखा बनती है, जो त्रिपुर के तीन ज्योतिर्मय बिन्दुओ को मिलाती है जिस से 'नेति-नेति' कहती हुई सुनहली ज्वाला निकलती है। यदि श्रद्धा की स्मिति तीन बिन्दुओ में दौडती है, तो ज्वाला महाशून्य में धधकती है। यहाँ एक बुनियादी सवाल उठता है कि क्या तान्त्रिक अनुभव एक सौन्दर्यानुभव में रूपान्तरित हो सकता है? क्या दार्शनिक काव्य कवि के काव्यदर्शन से दामन बचा सकता है?

'कामायनी' के रहस्य सर्ग में कला और कर्मकाण्ड क बीच का उपर्युक्त सम्बन्ध इतना उलझा है कि इन प्रश्नो का दो टूक जवाब नामुमकिन है। तान्त्रिक पारिभाषिको को कलात्मक पारिभाषिको में तब्दील करने में प्रसाद ने प्रतीकार्थों को आमूल बदल डाला है। अत हम श्रद्धा की इस मुसकान को विशुद्ध कला की भूमि पर नही खीच सकेंगे।

यहाँ 'त्रिपुर' एक यन्त्र भी है। कवि ने त्रिभुवन और त्रिदिव् विश्व को एकधर्मी बनाया है। तीनो बिन्दु तीन लोक भी बनते हैं। त्रिपुर की यन्त्रमय ज्यामिति 'त्रिकोण' है जिस के मध्य बिन्दु मनु है। इस त्रिकोण के तीनो बिन्दु विपुल शक्ति वाले हैं अर्थात् इच्छा शक्ति, क्रिया-शक्ति और ज्ञान शक्ति वाले बिन्दुओं में क्रमश भाव-चक्र, कर्म-चक्र और बुद्धि-चक्र चलता है। स्पष्ट है कि प्रसाद ने उपर्युक्त सरचना में तन्त्र, शैव, शाक्त आदि दर्शनो का अनमिल घोल उत्पन्न किया है। यहाँ त्रिपुर न तो दैत्य है, न ही त्रिपुर लोहे, रजत तथा स्वर्ण से बना है, न ही वह स्वर्ग-

पृथ्वी-पाताल का त्रिभुवन है; और न ही रवि-सोम-अग्नि का 'बिन्दु' है। शायद प्रसाद की यह कल्पना रसशास्त्र पर आधारित है। इच्छा, क्रिया और ज्ञान शक्तियाँ भी हैं तथा लोक भी। इन लोकों के क्रमशः अरुण श्यामल और रजत रंग है। इन लोकों की पृथक्-पृथक् आलोचना तो कवि ने श्रद्धा द्वारा पहले ही करायी है। यहाँ बाद मे उन के बिन्दु एवं शक्ति रूपों को ही श्रद्धा मिलाती है। अतः त्रिपुर शरीर है और त्रिकोण यन्त्र। यहाँ तीन हाशिये खुलते हैं। पहला हाशिया स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर का है जिस के केन्द्र-बिन्दु मनु है। वासनाएँ स्थूल शरीर के साथ हैं। अतः वासनाओं से ऊपर उठना त्रिपुर शरीर से ऊपर उठना है। यही रसात्मक त्रिलोकीदाह है। कवि का एक दूसरा रूपक भी उद्घाटित होता है। श्रद्धा, इच्छा या काम-तत्त्व को भी ग्रहण करती आ रही है कथानक मे। उस की स्मिति 'स्फूर्ति' और 'सम्मोहन' है। अतः त्रिकोण मे उस की भूमिका त्रिपुर-सुन्दरी की हो जाती है। लज्जा सर्ग में वह नारी रूप हो कर पीयूष-स्रोत-से बही है, तो रहस्य सर्ग मे वह अमृतमयी है। (कवि ने इन तीन बिन्दुओं को त्रिगुणात्मक भी माना है।) दूसरे हाशिये के अन्तर्गत योगियों के अनुसार मूलाधार चक्र मे सोयी हुई कुण्डलिनी जब छठे आज्ञा चक्र में पहुँचती है तब जीव (मनु) अपने अहं एवं द्वैत को भस्म कर देता है। इसी लिए यहाँ प्रलय पावक, चितिमय-चिता के भी पारिभाषिक आ गये हैं। अतः यहाँ कुण्डलिनी का ऊर्ध्वगमन भी है। इस गमन के समय ही ऊष्म का अनुभव होता है जिस से यह रौद्री-शक्ति कहलाती है। कवि ने श्रद्धा की मुसकान रूपी कुण्डलिनी को महाशून्य में ऊपर-नीचे धधकती लचकीली ज्वाला के ललित रूपक से प्रकट किया है किन्तु यहाँ भी प्रसाद ने तब्दीली की। उन्होंने पहले इच्छा-क्रिया-ज्ञान को मिला दिया है जिस से वे अनाहत नाद में लीन हो गये है (इस के पूर्व त्रिकोण में प्रलय पावक की शक्ति तरंगों ने विषमता भस्म कर दी है)। अतः श्रद्धा की मुसकान उन बिन्दुओं को सन्नद्ध करती है और वह मुसकान ही मानो उद्बुद्ध कुण्डलिनी है, जो महाज्योति-रेखा-सी उत्थान करती है। इस क्रम मे ज्योति ज्वाला बन कर फैलती है, जिस से स्वप्न, स्वाप और जागरण भस्म हो जाते हैं; एवं इच्छाक्रियाज्ञान मिल कर लय हो जाते है। तान्त्रिक वृत्त मे हम देखते है कि तीनों बिन्दु सहसा सम्बद्ध होते है और सकल विश्व मे श्रृंग तथा डमरू का निनाद बिखर उठता है। शैवदर्शन मे रवि-सोम-अग्नि को 'बिन्दु' तथा शान्ता-शम्भु शक्ति को 'नाद' कहते है। किन्तु यहाँ भी कवि ने रसदर्शन के बाद भाषा-दर्शन का प्रकाशन किया है। यह इस का तीसरा हाशिया है। डमरूनाद सृष्टि का ताल है जिस से वर्णो की उत्पत्ति हुई है। श्रृंगीनाद ध्वनि है। यहाँ कवि ने कालिदास की तरह वाक्शक्ति को भी उभारा है। परावाक् मूलाधार चक्र में है। मनु इस के केन्द्र-बिन्दु है। यह सुषुप्ति की तरह है। पश्यन्ती वाक् मणिपूर चक्र मे है जहाँ अग्नि

त्रिकोण बनता है और शक्ति-तरंग पावक की तरह निखर उठती है। मध्यमा वाक् अनाहत चक्र में है जहाँ वायुषट्कोण बनता है। यह स्वप्न की तरह है। अन्ततः बैखरी शब्दवृत्ति जागृति की तरह फैल उठती है। कवि ने स्वप्न, (मध्यमावृत्ति), स्वाप (परावृत्ति) तथा जागरण (वैखरीवृत्ति) को भस्म करा कर सारे विश्व मे तो शृंग और डमरू निनाद बिखराया है, किन्तु श्रद्धा युत मनु को अनाहत नाद में तन्मय किया है। यह सब कुछ 'नेति-नेति' के बीज मन्त्रों के द्वारा हुआ है। कवि ने यहाँ ब्रह्मरन्ध्र के बजाय विश्वरन्ध्र की कल्पना कर के तन्त्र को लोकदृष्टि भी देने की अपनी कोशिश की है। इस तरह कवि ने महादेश में 'त्रिपुर' का दर्शन करा कर उस के यन्त्र अर्थात् त्रिकोण को महाकाल के विषम नृत्य द्वारा भस्म कराया है। अतः कवि ने हैरण्यगर्भ दर्शन की श्रद्धाशक्ति, शैव-दर्शन का प्रकाश एवं विमर्श, तथा योगियों की शब्द-वृत्तियों का अपना कलात्मक किन्तु क्लिष्ट मेल कराया है। इस मेल के कारण रहस्यात्मक प्रतीकों के सन्दर्भ बदले है, तान्त्रिक अनुष्ठानों में गड्ड-मड्ड हुआ है तथा 'त्रिपुर' एवं 'त्रिकोण' की कामायनी मूलक स्वेच्छाचारी संरचनाएँ हुई है। निष्कर्षतः हमें यही लगता है कि प्रसाद ने अपने सौन्दर्यबोधात्मक अनुभव को ज़बरदस्ती तान्त्रिक भाषा के द्वारा प्रकट करने का प्रयोग किया है, क्योंकि उन का कोई भी तान्त्रिक अनुभव नही था। अतः इस प्रसंग मे उन की सौन्दर्यबोधात्मक भाषा गुम हो गयी है।

श्रद्धा को मुसकान का तीसरा इन्द्रजाल आनन्दसर्ग में फैला है। उस की पहले वाली त्रिपुरसुन्दरी-मुसकान से प्रसादीय ढंग वाला छायावादी त्रिपुरदाह हुआ था। अब—आनन्दसर्ग के सन्दर्भो मे—हम पुनः जीवन-वसुधा का समतल पाते हैं जहाँ समरसता है और जहाँ शाप, ताप एवं पाप नही है। (लज्जा सर्ग वाला 'जीवन का सुन्दर समतल' यहाँ 'जीवन का समरस समतल' हो जाता है)। अतः यहाँ सब भेदभाव विलुप्त है। यहाँ श्रद्धा-मनु की पूर्णावस्था भी है ('यह = मैं हूँ') तथा यहाँ विश्व एक हो चुका है। यहाँ हृदय की सौन्दर्य प्रतिमा श्रद्धा पूर्णकाम की प्रतिमा है। अर्थात् प्रकाशरूप शिव का शक्ति में प्रवेश (बिन्दु) और स्फूर्तिरूप शक्ति का प्रकाशरूप शिव मे प्रवेश (नाद) हो चुका है, जिस से 'काम' (बिन्दु + नाद) की प्रतिमा श्रद्धा 'कामायनी' हो जाती है। अतः शुरू की कामबाला ही श्रद्धा होते हुए कामायनी बनती है। श्रद्धा के मधु अधरों की छोटी-छोटी रेखाएँ स्मिति की लेखाएँ बन कर विकसित हो उठती है। वे लेखाएँ मानो रागारुण किरण-कला-सी है। इस सर्ग में श्रद्धा को स्मिति-लेखाओं से विश्वसुन्दरी प्रकृति का लास रास शुरू हो उठता है। श्रद्धा के हँसने से अग-जग मुखरित हो उठता है। अतः कामायनी श्रद्धा की इस तीसरी मुसकान और हँसी से हिमवती पाषाणी प्रकृति मांसल हो कर विश्वसुन्दरी हो जाती है। अतः त्रिपुरसुन्दरी (श्रद्धा) का लास्य और विश्वसुन्दरी

(प्रकृति)का रास स्वय एक रूप हो कर शाक्तो की 'महामुद्रा' और वैष्णवो के 'महाभाव' को मिला कर लय करता है। इधर कामायनी विहँसती है और उधर लासराम में विह्वल कल्याणी प्रकृति हँसती है। अतएव कामायनी और कल्याणी, त्रिपुरसुन्दरी और विश्व-सुन्दरी, श्रद्धा और प्रकृति, नारी और लज्जा, आदि को तद्रूप मिलाने वाली हैं रहस्यमय मुसकानें !! मुसकान और हँसी ही जड या चेतन को समरस करती है, सुन्दर को साकार बनाती है, सब में एक ही चेतन का विलास फैलाती है और अखण्ड आनन्द को घनीभूत करती है।

इस तरह 'कामायनी' महाकाव्य श्रद्धा की मुसकानो के कमलो से शनै शनै खिलता खुलता गया है। उस के मुख की पहली मुसकान, गान्धार देश से ललित कला का ज्ञान सीख कर आने वाली, आदिम कामबाला की 'मुसक्यान' है। श्रद्धा गान्धार देश से क्यो आयी ? क्या यहाँ कार्नेलिया की याद रच-बस गयी है ? क्या प्रसाद भारतीय-गान्धार (इडो-हेलेनिक) सस्कृति का मिश्रित आदर्श खोज रहे है ? कला सीख वाली कामबाला मनु को काम की ओर प्रेरित करती है। अत कथातन्त्र के लौकिक दर्पण में वह 'कामकला' का भाष्य है। काम 'सेक्स' भी है तथा 'कर्म' भी। नारी-श्रद्धा की दूसरी स्मिति-रेखा की लज्जा ढूँढती है और उस रेखा पर वह नारी से आँसू की पराजय तथा हँसी की विजय का सन्धि-पत्र लिखाती है। त्रिपुरसुन्दरी श्रद्धा की तीसरी मुसकान से त्रिकोण के मध्यबिन्दु मनु में इच्छा-क्रिया ज्ञान का लय होता है। और अन्तत कामायनी श्रद्धा की पूर्णकाम मुसकान से विश्वसुन्दरी प्रकृति लासरास में विह्वल हो उठती है।

भला मुसकान को और क्या चाहिए एक महाकाव्य असर होने तक ? और 'उस' मुख की 'वह' 'मुसक्यान' न तो प्रसाद भूले थे और न ही हम भूलेंगे। किन्तु श्रद्धा न जाने कितनी मासल और लोकमागलिक युवतियो के रूप-गुण-धर्म का अमूर्त्त तथा अमृत प्रतिबिम्ब है !! इसे कौन कहेगा ? –

[मई १९६९]

अकविता का रचना-संसार

जगदीश चतुर्वेदी

●

हिन्दी के जागरूक पाठकों के लिए 'अकविता शब्द अब अपरिचित नही रहा। एक परिवर्तित सौन्दर्यबोध की बौद्धिक और समकालीन रचनाओं के लिए इस का प्रयोग किया जा रहा है। गो प्राध्यापकीय स्तर के आलोचकों ने इस के सम्बन्ध में अनेकानेक शास्त्रीय विवेचनाएँ प्रस्तुत कर एक भ्रमपूर्ण स्थिति पैदा कर दी है। साथ ही नयी कवितावादी समीक्षक यथा डॉ० नामवर सिंह, सुरेन्द्र चौधरी और परमानन्द श्रीवास्तव आदि ने वस्तुस्थिति को झुठला कर, अपनी पूर्व-निर्धारित मान्यताओ के आधार पर इस भ्रमपूर्ण स्थिति को बढ़ाने मे सहायता ही दी है। अब यह आवश्यक हो गया है कि स्वयं अकविता के कृतिकार इस भ्रामक स्थिति का निराकरण करें और परिवर्तित काव्य-रुचि से समकालीन कृतिकारों को परिचित करायें। 'अकविता' ने तमाम भारतीय भाषाओं के काव्य को जो प्रेरणा दो है या जिस काव्योन्मेष का श्रीगणेश किया है, उस को इन प्राध्यापकीय समीक्षाओं-द्वारा न तो झुठलाया जा सकता है और न ही यह समीचीन है।

वस्तुत: 'अकविता' ने आज के जीवन की विसंगति को पूरे आवेग के साथ महसूस कर काव्य-सृजन के नये आयाम स्थापित किये है। आज कविता बिम्ब-योजना, अर्थ की लय या स्वयं से सांक्षात्कार की काव्य-रूढियों से इतर कवि के अपने आन्तरिक सत्य और उस की अस्मिता (आइडेंटिटी) के सक्रिय, क्रियाशील अन्वेषण की उपज है। हम जिस दोहरी जिन्दगी को जी रहे हैं, जिस यान्त्रिक जीवन की ऊब से सन्त्रस्त है, जिस भीड़ के बीच अकेलेपन का अहसास ले कर हम अपने अस्तित्व के लिए संघर्षरत है, उस का अहसास अतीन्द्रिय, रागात्मक, योगीसीन मुद्रा में व्यस्त परम्परावादी कवियों को न तो हो सकता है और न ही उन को इस की कचोट सृजन-रत होने के लिए बाध्य ही कर सकती है।

आज की कविता विराट् विश्व मे चल रहे विनाश की अविराम प्रक्रिया की देन है। उस कॉस्मिक मानव की उपज है, जिस ने महायुद्धों की विभीषिका को अपने समीप एक प्रेत के रूप मे खडा पाया है। 'अकविता' के कवि ने इस विभीषिका से सन्त्रस्त मानव की

भयावह तथा कँपा देने वाली स्थिति को अपने संवेदनशील मस्तिष्क में स्पन्दित होते महसूस किया है। आज का कवि उन तमाम प्रतीक-चित्रों, पौराणिक बिम्बों या प्रकृति खण्डों से कट गया है, जिन्हें बीते हुए कवि काव्य का वैभव या समृद्धि अथवा वस्तुजगत् माना करते थे। आज का कवि अधिक संवेदनशील, विश्व की तमाम कटुताओं के प्रति अधिक संजीदगी से चिन्तन करने वाला तथा विभिन्न राजनैतिक ऊहापोहों के बीच पिसते हुए, अपने अस्तित्व की सुरक्षा के लिए अधिक सचेत तथा क्रियाशील है। यह क्रियाशीलता जहाँ आधुनिक कवि को तमाम चीज़ों से जोडती है, वहीं वह तमाम चीजों से गुजर कर भी उन में से कुछ पाता नहीं है। वे वस्तुएँ मात्र एक 'जिन्स' का अहसास दे कर तिरोहित हो जाती है। वह इस विघटित ऐतिहासिक अनिवार्यता को जीने के लिए प्रतिश्रुत दिखाई देता है। उसे समाज या परिवार, प्रतिष्ठा या वैराग्य, अपमान या आदर सब चीजें एक-सी बेमानी लगती हैं और वह इन्हें कोई अर्थ देने की बजाय निरर्थकता का एक विद्रूप, कम्पित कर देने वाला चित्र-मात्र मान कर अपने अर्जित काव्य-संसार द्वारा नया रूप प्रदान करने को कटिबद्ध दिखाई देता है। इस रचना-प्रक्रिया को मात्र 'ऐब्सर्ड बोध' की संज्ञा देना समीचीन प्रतीत नहीं होता। आज सार्त्र या कामू की दार्शनिक विवेचनाओं के सिक्के मूल्यहीन हो गये हैं। एक सर्वथा अलग दृष्टि इन दार्शनिकों की विवेचनाओं और अभिव्यक्तियों से परे, अपने वर्तमान के मूल्यों तथा जीवन से उसे मिल रही है। वह विसंगति का एक सर्वथा नया संसार रचने में मशगूल है। वह इस व्यामोह से निकल कर अधिक क्रूर, निर्मम और पारदर्शी हो गया है। वह उन तहों के अन्वेषण में रत है, जिन का वर्णन या तो काव्य में निषिद्ध था या जिन का वर्णन करने में कवि समाज या देश के कारण भयाक्रान्त हो उठता था।

आज की कविता जीवन के अत्यन्त समीप दिखाई देती है। वह उस जीवन के समीप है जिसे हम मात्र फैशन के वशीभूत हो कर नहीं, वास्तविक अर्थों में जीते हैं। 'अकविता' की तमाम कविताएँ इस की साक्षी हैं। यौन सम्बन्धों को मात्र अश्लील या रमोट्रैक कह कर आज के कवि उसे त्यागते नहीं, किन्तु उस की अनिवार्यता व्यक्ति को जिन विषम या सामान्य अर्थों से इतर जिस अत्यन्त वैयक्तिक जागरूकता में परिवर्तित कर देती है, उस को संस्पर्शित करते हैं। घृणा का व्यापार या प्रेम का एकात्म इन कवियों को जिन जटिल अभिव्यक्तियों के लिए प्रेरित करता है, उस की ओर अभी समीक्षकों या सामान्य बुद्धि-विलासियों की दृष्टि ही नहीं गयी। अकविता के प्रत्येक कवि का एक अपना संसार है। उस संसार में वह नितान्त अकेला और दुर्द्धर्ष और साधानिक व्यक्तित्व लिये जीता है। कवि सौमित्र मोहन के 'लुकमान अली' का संसार एक जीते-जागते, सामाजिक बुद्धिजीवी का काव्य-जगत् है, जिस में घृणा है, वितृष्णा है, समलैंगिक अनुभव हैं, रति-क्रीडा और आध्या-

त्मिक कुसन्धियों से अरुचि है। घोर विरक्ति और घोर पैशाचिक कृत्यों की बुनावट है। किन्तु उन मे जीती हुई कविता अपने अन्दर के उस व्यक्ति की तलाश का जीता-जागता उदाहरण है, जो एक गहन कलात्मक सुरुचि और आन्तरिक ऊहापोह के बिना असम्भव है :

"लुकमान अली गीता और कोकशास्त्र
दोनों की क़सम खा कर दर्शक-दीर्घा मे
बैठता है
वह सुपारी नहीं हैं कि आप उस का
उपयोग कर सकें।

वह मात्र गवाह हो कर
विधायकों की गाली-गलौज
टोपियों का उछालना
और खेद-खेद की आवाज़ों के बीच
अपने पाजामें उतारता है
अगर आप को आदमी के पाँव की हड्डियाँ
पक्षी-जैसी देखनी हों तो निजिंस्की की
परीक्षा करें—
लुकमान अली की नहीं।
वह तो चुपचाप आप की जेबों में
ख़ौफनाक इश्तिहार रख जायेगा।"

विसंगति यहाँ आरोपित नहीं, रचना-प्रक्रिया का अविभाज्य अंग है। यहाँ तमाम सम्बन्ध अपने को आत्मकेन्द्रित करने की ओर उन्मुख हैं। यहाँ मनुष्य एक साथ प्रेमी भी है, लौंडेबाज़ भी, हत्यारा भी और कबीर के पदों को तानपूरे पर गाने वाला या चार्ली चैपलिन के अभिनय का एक कुपात्र बन कर जीने वाला—जीता जागता—आधुनिक 'मनुष्य' शब्द से ज्ञात प्राणी।

अकविता का रचना-संसार एक परिष्कृत बौद्धिक रुचि का पर्याय है। यहाँ शब्दों की अपनी एक विशिष्ट भंगिमा है। जैसे हम अन्दर कहीं पशु भी हैं, सन्त भी, वैसे ही यहाँ भी कई रंग हैं। इन रंगों की पहचान इन के होने में है। यह 'होना' यहाँ अत्यन्त आवश्यक रचना-प्रक्रिया का तत्त्व है। इसे पहचानने के लिए सामने वाली आँखों के साथ दो गहरी अन्दरूनी आँखें भी चाहिए। यहाँ देश का अर्थ केवल भारतवर्ष नहीं है और गरीबी को बचाने का अर्थ साम्यवाद नहीं है। 'अकविता' एक छोर पर वैयक्तिक काव्य प्रक्रिया है, जिस ने कुछ सिरफिरों को उन तमाम वस्तुओं को नकारने के लिए प्रेरित कर दिया है, जिन्होंने पिछले शतादिक वर्षों से काव्य का स्वरूप बिगाड़ रखा था। यह निषेध राजनीति के प्रति भी है, क्योंकि यह सिद्ध हो चुका है कि राजनीति का प्रत्येक संगठन घृणास्पद कुचक्र का अंग है। कुछ दिनों तक पुस्तकों में अच्छे लगने वाले सिद्धान्त चाहे वह मार्क्स के हों या आरवेल के—उन के मतानुयायियों-द्वारा अपने स्वार्थ के लिए उपयोग में लाये जाते हैं। वह समाज से मात्र गहरी खीझ पाता है, क्योंकि सामाजिक मूल्य उन लोगों के हाथों में हैं जो अबौद्धिक हैं, जो सूदख़ोर, स्वार्थी और धूर्त हैं। वह इन से केवल वर्तमान की खोखली व्यवस्था का एक अपरूप चित्र प्राप्त करता है। और फिर उसे वह जब स्पष्ट भाषा में एक तीखे आक्रोश से कविता के नाम पर परम्परा या स्थापित बुद्धि-

जीवियों को देता है, तो वे मात्र सिर खुजलाते हैं या अपने अस्तित्व का संकट मान टाल देने की मुद्रा में मौन हो जाते हैं।

इन कवियों के ये तमाम भयावह प्रतीक, ये तमाम विसंगत चित्र उस व्यवस्था से लिये हैं, जो उन के लिए एक त्याज्य वस्तु है, और जिस में से दुर्गन्ध आती है। कुछ कवियों की कविताएँ इस सम्बन्ध में प्रामाणिक मानी जा सकती हैं, गो प्रामाणिकता एक ऐसा शब्द है, जो विभिन्न स्तरों पर भिन्नार्थ बन जाता है। यहाँ तो कविता सीधे तमाम ऐतिहासिक कलाबाजियों से इतर आज के मनुष्य की मानसिक-ग्रन्थि से उबरने की चेष्टा में संलग्न दिखाई देती है। श्याम परमार के शब्दों में :

> "इतिहास की गाँठें गल जाती हैं जब शहर का दिमाग़ फिरता है। एक लावा होता है और लाशों की गन्ध। नाली के पास चिथड़ों को नोंचना अरस्तू सदियों की पीता है !"

यह सदियों को चीथता आदि मानव का बिम्ब यहाँ सार्थक अर्थों में है। इस की सार्थकता मात्र कविता के लिए नहीं, आज के युग में छाये उस आर्तनाद के लिए है जिस का समाधान राजनैतिक दलबन्दियों के पास नहीं, उस अपने मे इकाई बने कवि के पास है, जो यह नहीं जानता कि समाधान की अनिवार्यता का क्या भविष्य है ? वह मात्र एक संघर्ष के लिए लालायित है, जो उस की अँतड़ियों से ले कर मस्तिष्क तक मे बौखलाहट पैदा किये है। यह बौखलाहट उसे एक व्यंगोक्ति से भर देती है और वह इन्हें सहज मानते हुए भी असहज मुद्रा में कह उठता है :

> "दुनिया का सब से सुखी आदमी—
> सूअर।
> और दु:खी जानवर
> आदमी !"
>
> (कुमार विकल : अकविता)

कुमार विकल का यह 'सुखी आदमी' पूजा-गृहों से शराबखानों तक दनदनाता है और उन की पवित्रता नष्ट कर देता है। यों शायद लोगों को लगता है कि अकविता ने काव्य की पवित्रता नष्ट कर दी है, पर जब जीवन का अर्थ सामूहिक आत्महत्या हो और वह भी करने की इच्छा सुप्त हो चुकी हो, चीज़ें गड्डमड्ड हो कर अपने कई रंगों में कई नये प्रेत-लोक निर्मित कर रही हों, तब वह मोना गुलाटी की तरह सोचता है :

> "पूरी पीढ़ी बंजर हो और बंजर रहे मेरे
> देश की धरती
> मुझे नहीं आकांक्षा किसी के जीवन या
> मृत्यु की
> काली और सपाट आँखों में देखते हुए मैं
> हत्याएँ करूँगी और अपनी आत्महत्या !"

और अनवरत हत्याओं का यह क्रम उसे उस विज्ञान ने दिया है, जिसे जीने के लिए वह विवश है। यों यह विवशता उस की थर्राहट है, उस की शक्ति है। मैं तो यह मानता हूँ कि ये तमाम विसंगतियाँ जिन्हे हम काव्य में साक्षात् देख रहे हैं, उस तीसरे महायुद्ध की पीठिका की झलक-भर है, जिसे तमाम विश्व के बुद्धिजीवी अनुभव कर रहे हैं।

यह संवेदनशील कृतिकारों का ही दायित्व है, गुटपरस्त समीक्षकों का इस से क्या वास्ता ?

मुझे लगता है यह सामूहिक विद्रोह, जिसे मैं युगानुपेक्षी मानता हूँ, उसी तरह नयी-नयी ऊलजलूल चित्रमयता मे संश्लिष्ट है, जिस तरह द्वितीय युद्ध के पूर्व सुरियलिस्ट युवा कवि-कलाकारों के कृतित्व । यह कृतित्व जिसे अकविता का विसंगत संसार कहा जाता है, पूरे विश्व की उस टेढ़ी आँख का अंकन है जिस ने सभी मानवीय मूल्यों को ध्वस्त कर दिया है और एक कुब्ज, नंगा, विराट् अबाबील-सा तैरता नर कंकाल हमारे सामने अट्टहास कर रहा है। उस अट्टहास को हमें शब्द देना है और उस के लिए हम नयी भाषा की तलाश कर रहे हैं । इस मोह-भंग की स्थिति को समझने की जरूरत है और हमारे कृतित्व को समझने के लिए एक विशिष्ट रुचि की अपेक्षा है। पर रुचियाँ एक दिन में नहीं बदलती । हमें प्रतीक्षा करनी है, अनवरत प्रतीक्षा । 'वी आर वेटिंग फॉर द गोदो ।'

[नवम्बर १९६९]

जहाँ विज्ञान जा कर ठिठक गया

अशोक जैन

आज का विज्ञान तो अभी सदी-दो सदी की चीज है। पहले विज्ञान के अनुसन्धान भी प्रयोग-परीक्षण और अनुभव-अनुमान पर आधारित न हो कर दार्शनिकों-द्वारा सोचे-विचारे जाते थे। दर्शन में चिन्तन-मनन की प्रक्रिया अपनायी जाती है। चिन्तन-मनन अन्तर्दर्शन या आत्मिक ज्ञान से सिद्ध होता था। विज्ञान तो आज इस सारे पचड़े मे विश्वास नहीं करता। पर फिर पूरी तरह आत्म-निर्भर हो कर भी विज्ञान ने क्या पाया और कहाँ पैठ नही सका, हार गया—यह देखना ही हमारा उद्देश्य है।

हम कुछ मोटी-मोटी समस्याएँ उठाते है। पहला प्रश्न : दुनिया क्या? दूसरा प्रश्न : हम क्या? तीसरा प्रश्न : हमारा दुनिया से सम्बन्ध क्या? और चौथा कि : दुनिया क्यों, हम क्यों और ये सम्बन्ध क्यों?

दुनिया क्या है?

विज्ञान ने माना कि दुनिया वह है जो दिखाई देती है : जमीन, आसमान, हवा, पानी, पेड़-पौधे, जीव-जन्तु सभी। और दुनिया के सम्बन्ध मे आज के विज्ञान की सब से पहली खोज गैलीलियों ने की थी जिस ने दूरबीन बनायी और उस के द्वारा यह सिद्ध कर दिया कि चाँद-तारे उतने छोटे नहीं जितने वे दिखते है। फिर सब से महत्त्वपूर्ण बात यह कही कि 'अचला' कही जानेवाली पृथ्वी भी चलती है, सूर्य के चारों ओर घूमती है।

गैलीलियो के बाद जो दूरबीनों और निरीक्षणों की परम्परा चली तो नक्षत्र और तारे बढ़ते ही गये, संख्या में, विस्तार मे और पृथ्वी से दूरी के अनुमान में। अन्त में, माउंट

विरसन पर स्थित १०० इञ्च व्यास वाली दूरबीन-द्वारा देखा गया ब्रह्माण्ड आश्चर्य-जनक और कल्पनातीत रूप से विराट् लगा। विज्ञान ने पाया कि ब्रह्माण्ड में असंख्य नक्षत्र-पुंज हैं और इन नक्षत्र-पुंजों का कोई-कोई नक्षत्र तो इतना बड़ा है कि हमारी पृथ्वी उस में इस तरह समा जाये जैसे सागर में सरसों का दाना। कोई-कोई नक्षत्र तो पृथ्वी से १० करोड़ प्रकाश-वर्ष दूर रहा है।

'प्रकाश-वर्ष' क्या? प्रकाश की किरणें एक सेकण्ड में १,८६,००० मील चलती हैं, तो एक मिनिट में कितनी, एक घंटे में कितनी, एक दिन में कितनी? और ऐसे ३६५ दिनों की यात्रा का हुआ एक 'प्रकाश-वर्ष' फिर ऐसे १० करोड़ प्रकाश-वर्षों की दूरी।—कल्पना कर पायेंगे? यह उन नक्षत्रों की बात है जो हमारी सब से बड़ी दूरबीन से दिखाई देते हैं। पर अभी तो ऐसे भी नक्षत्र हैं जिन का प्रकाश अभी तक हमारे पास नहीं पहुँचा। भूलना नहीं चाहिए कि ऐसे-ऐसे असंख्य नक्षत्र, असंख्य नक्षत्र-पुंजों में हैं।

सोचिए, कि इस विस्तार को और इस दूरी को विज्ञान कैसे प्रत्यक्ष करेगा? कागज पर अनंत शून्य लगा कर जो बात कही जायेगी वह दार्शनिक के कल्पनातीत, अनन्त-अखण्ड भगवान् से कैसे भिन्न होगी? नाम ही का तो अंतर है। कल्पना की अन्तिम सीमा पर पहुँच कर यदि विज्ञान के पाँव ठिठक जाये, तो आश्चर्य ही क्या? आश्चर्य तो यह है कि इतने पर भी विज्ञान इस ब्रह्माण्ड को 'सीमित' मानता है। दर्शन की भाषा में यह 'सीमित असीम' ही 'सगुण-निर्गुण' है। इस युग के विख्यात वैज्ञानिकों—आइन्स्टीन, जेम्स जीन्स और एडिंग्टन—ने लगभग एक ही निष्कर्ष निकाला कि ब्रह्माण्ड की यह असीम असीमता विज्ञान के किसी भी साधन-द्वारा प्रत्यक्ष अनुभव में नहीं लायी जा सकती, और इस लिए यह सब ब्रह्माण्ड अन्तिम रूप में 'मन' ही मालूम पड़ता है।

हम क्या हैं?

मनुष्य की उत्पत्ति के विषय में सब से अधिक मान्य वैज्ञानिक सिद्धान्त डारविन का है। इस के अनुसार मनुष्य की वर्तमान आकृति का विकास वनमानुष की पूर्वावस्था से हुआ। इस सम्बन्ध में विज्ञान का आधु-निकतम सिद्धान्त 'निओ-डार्विनिज़म' (नव्य विकासवाद) है जो डारविन के तर्क को, उस की विकास-पद्धति को, नहीं मानता। पर ज्यूलियन हक्स्ले का कथन है कि "बेशक, नव्य विकासवाद भी मनुष्य के जन्म की व्याख्या करता है और डारविन का विकास-वाद भी। पर जब दोनों से ही वह सिद्ध होता है, तो क्यों न पुराने विकासवाद को ही मान्यता दें?" तो अब बताइए, विज्ञान का सत्य क्या रहा? विज्ञान जहाँ सन्देह में भट-कता है, वहीं अन्त में उस के पाँव अटकते हैं, वहीं उस की सीमा आ जाती है।

इस से भी कठिन प्रश्न विज्ञान के लिए है जीवन क्या है? विज्ञान ने इस सम्बन्ध में सिद्धान्त अवश्य बनाये, किन्तु वे अभी सोच-विचार के खाने में रखे हैं। इन सिद्धान्तों की निरर्थकता इसी से सिद्ध है कि किसी भी

सिद्धान्त के आधार पर प्रयोगशाला में 'प्राण' का निर्माण नही किया जा सका। प्राण के सम्बन्ध में आधुनिकतम सिद्धान्त 'फिल्टर पासिंग आर्गैनिज़्म' (सूक्ष्मातिसूक्ष्म जीवाणु) का है। इस सिद्धान्त की ख़ूबी देखिए। वैज्ञानिकों में यह मतभेद है कि यह 'फिल्टर पासिंग आर्गैनिज़्म' सजीव है कि निर्जीव या दोनों एक साथ। स्पष्ट है कि विज्ञान इस सम्बन्ध में भटक ही रहा है।

हमारा दुनिया से सम्बन्ध क्या ? हम क्यों ?

और इस सवाल को तो विज्ञान ने पहले से ही अपनी सीमा से बाहर घोषित कर रखा है। विश्व की विकास-परम्परा मे, संसार भी मौजूद है हम भी मौजूद हैं, चींटी भी मौजूद है और सूर्य भी मौजूद है। जैसे आदमी की दृष्टि मे चीटी की कोई महत्ता नही, ठीक उसी प्रकार जिस ब्रह्माण्ड की महत्ता और विशालता में आदमी का इतना भी स्थान नही जितना सागर मे बूँद के अनन्तवें भाग का, तो उस ब्रह्माण्ड के संचालन में आदमी कैसे और कितनी मदद दे पायेगा यह न तो विज्ञान की समझ मे आता है और न समझने की जरूरत महसूस करता है। विज्ञान की दृष्टि मे ब्रह्माण्ड मनुष्य नामक जीव से निरपेक्ष है, और आदमी ब्रह्माण्ड से। यह स्थिति आज़ के वैज्ञानिक के लिए काफ़ी गम्भीर समस्या बन गयी है। इस स्थिति को मान लेने का अर्थ होगा, सारे जीवन की निरर्थकता, सारे ब्रह्माण्ड की निरर्थकता। आज का वैज्ञानिक इसे को मानने के लिए तैयार नही। किन्तु विज्ञान के जाने-माने साधनों और प्रयोगों की सीमा जिस क्षेत्र में आ कर समाप्त हो जाये वहाँ वैज्ञानिक क्या करे ? वह बढना चाहता है, जीवन और विश्व मे अर्थ खोजना चाहता है, किन्तु तब उसे विज्ञान की आज तक मानी हुई सीमाओं को तोड़ कर आगे बढ़ने की जरूरत होती है, नहीं तो वह ठिठकता है, अटकता है। और जब विज्ञान इस अटक से आगे बढ़ेगा तो दर्शन की सीमा से कहाँ तक अलग रहेगा ?

क्या विज्ञान पदार्थ की मूल इकाई को समझ पाया ?

पदार्थ के विश्लेषण में विज्ञान परमाणु तक पहुँचा। परमाणु का भी विश्लेषण किया तो वह प्रोटोन और एलेक्ट्रॉन पर पहुँचा। यह एलेक्ट्रॉन परमाणु के मध्यवर्ती केन्द्र न्यूक्लिअस के चारों ओर घूमते हैं, जैसे सूर्य के चारों ओर ग्रह-मण्डल। इस तरह पदार्थ की अन्तिम इकाई एक एलेक्ट्रॉन (विद्युत्-अणु) बन जाता है।

इस विद्युत्-अणु का रूप क्या है ? आइन्स्टीन के सामने सब से बड़ी समस्या यही थी। वैज्ञानिकों के दो मत है। कुछ है जो मानते है कि एलेक्ट्रॉन एक तरंग (वेव) है। स्पष्ट है, एलेक्ट्रॉन को किसी भी तरह, किसी भी यन्त्र से देखा नहीं जा सकता। वह कल्पना तीन रूप से छोटा है। और यदि उसे देखने के लिए उस पर दूरबीन द्वारा प्रकाश डाला भी जा सके तो यह प्रकाश जिसे आइन्स्टीन ने ऊर्जा (एनर्जी) सिद्ध किया है, एलेक्ट्रॉन के रूप को विकृत कर देगा।

निष्कर्ष यह कि एलेक्ट्रॉन का रूप विज्ञान

की प्रयोगशाला मे उतना ही अनिश्चित और रूपहीन है जितना दर्शन के क्षेत्र मे आत्मा का। प्रश्न होगा कि यदि एलेक्ट्रॉन विश्लेषण में नही आते तो इस से उस की क्रिया के सम्बन्ध में तो कोई शंका हो नहीं सकती? शंका है। वह यह कि एलेट्रॉन की गतिविधि में कोई कार्य-कारण सम्बन्ध नही स्थापित हो पाया। कब किस ऐटम के एलेक्ट्रॉन किस रूप और क्रम से सम्बन्धित होते है, इस का कोई नियम नहीं।

ऐसी निराकार, अनिश्चित सत्ता को ले कर विज्ञान प्रयोग की परिधि तक भी नहीं पहुँच सका, वह वही ठिठक कर खड़ा हो गया है। वास्तव में विज्ञान की प्रक्रिया, पदार्थ की इस मूलभूत इकाई—एलेक्ट्रॉन—के विश्लेषण मे नितान्त असमर्थ है।

वस्तुत: विज्ञान जिसे पदार्थ मान कर अपनी पकड में लेता है वह न पदार्थ है, न पदार्थ का वास्तविक रूप। संहति (मास), बल (फोर्स) और वेग (वेलासिटी) के आधार पर न्यूटन के गुरुत्वाकर्षण (ग्रैविटेशन) से ले कर आइन्स्टीन के सापेक्षवाद (रिलेटिविटी) तक जो सिद्धान्त बने है वे पदार्थ (मैटर) और ऊर्जा (एनर्जी) की वास्तविकता को नही जानते, केवल उस की क्रिया के उस रूप को जानते है जो बिजली के या दूसरे औजारों में अपने कम्पन के प्रभाव को सूई की नोंक-द्वारा व्यक्त करते है। जिस पदार्थ को हम ने देखा नहीं, उस की तसवीर हम अपने मन मे कैसे खड़ी कर सकेंगे? टेलेफ़ोन एक्सचेंज मे हम हजारों नम्बरों को जानते है, उन से काम लेते हैं, आलाप-मिलाप भी अंकों के माध्यम से कर लेते है, पर क्या हम उस नम्बर के पीछे की वास्तविक सत्ता, उस 'सब्स्क्राइबर' के व्यक्तित्व को जानते है? विज्ञान के द्वारा हम आदमी के अंग-प्रत्यंग की बनावट और उस की भौतिक क्रियाओं को जान लेते है, किन्तु क्या हम समूचे आदमी को जानते हैं?

विज्ञान की यह खण्ड-दृष्टि जो पदार्थ की भौतिक सत्ता को मान कर चली और अन्त तक पदार्थ के भौतिक रूप के विश्लेषण से जूझती रही, वह भौतिकता के बन्द घेरे में ही घूम सकती है। पर जहाँ भी इच्छा, विवेक, चुनाव, प्रेरणा की क्रिया से विज्ञान का मुकाबला पड़ता है, वहीं विज्ञान चुप हो जाता है। आइन्स्टीन और मैक्स प्लैंक यह स्वप्न देखते रहे कि किसी दिन हम इच्छा और विवेक की आकस्मिकता को भी कार्य-कारण सम्बन्ध मे बाँध सकेंगे। किन्तु एडिंग्टन और श्रोडिंगर का मत है कि सत्ता के सम्बन्ध मे बँधी लगी प्रक्रिया का और व्यक्ति की सहज-वृत्ति (इंट्यूशन) या सौन्दर्य-भावना को कार्य-कारण सम्बन्ध की सापेक्षता मे सिद्ध करना असम्भव है। ब्रह्माण्ड की अकल्पित, अकथनीय, अचिन्त्य, विशालता, विद्युत्-अणु (एलेक्ट्रॉन) की सूक्ष्मातिसूक्ष्म अरूपी सत्ता, जीवन के उद्गम का रहस्य, विश्व की उपादेयता, व्यक्ति की स्वेच्छा, सौन्दर्य के प्रति आकर्षण, विवेक की कल्पना, आदि ऐसी बातें हैं, जिन के सम्बन्ध मे विज्ञान या तो चुप्पी लगा लेता है या फिर इन प्रश्नों को

सुलझाने के प्रयत्नों में भटक जाता है।

आधुनिक विज्ञान के मनीषी अब इस परिणाम पर पहुँच ही रहे हैं कि भौतिक पदार्थ से आगे एक लोक है, एक अभौतिक सत्ता है, एक चैतन्य है जो सारी समस्याओं को अपनी विराट्ता में समा लेता है, जो विज्ञान की अंतिम भटकती अन्य अटकलों को दुलार की दृष्टि से देखता है, जहाँ पहुँच कर सारा विश्व ही 'मानस का विचार' बन जाता है, जहाँ तथ्य को सत्य की प्रतीति मिलती है। क्या विज्ञान भी सूर के स्वर में स्वर मिलाने को तैयार नहीं—"अवगत गति कछु कहत न आवै।"

[अगस्त १९५६]

काल : विज्ञान का चौथा आयाम

कुमार काश्यप



जब हम किसी घटना का उल्लेख करते हैं, तो केवल यही नहीं बताते कि वह घटना 'कहाँ' हुई, बल्कि यह भी बताते है कि 'कब' हुई। इस प्रकार हम 'जगह' सम्बन्धी अपनी धारणाओं में एक और तत्त्व की वृद्धि करते है। यह तत्त्व है 'समय' या 'काल'।

वास्तव में 'काल' के बिना हम किसी भी 'जगह' की कल्पना नही कर सकते। और यही कारण है कि 'जगह' के तीन आयामों (लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई) के अतिरिक्त 'समय' या 'काल' को चतुर्थ आयाम के रूप मे माना जाता है। दर्शन मे 'दिक्' (देश, जगह) और 'काल' को 'संयुक्त' बोला जाता है—'दिक्काल' अर्थात् एक के बिना दूसरे की कल्पना सम्भव नहीं है।

यदि, आप तनिक विचार करें तो आप को सहज ही मे अनुभव होगा कि प्रत्येक वस्तु के वस्तुतः चार ही आयाम होते है—तीन आयाम देश के और चौथा काल का। यदि किसी वस्तु को 'क्षणिक' भी कहा जाये, तो भी काल में एक क्षण भर उस का अस्तित्व अवश्य रहता है। ऐसा नहीं हो सकता कि किसी वस्तु की काल में कोई 'लम्बाई' ही न हो। बहरहाल यह सब साधारण बातें है, और सम्भवतः सभी लोग इन से परिचित हैं।

लेकिन काल को अन्य तीन आयामों की तरह एक साधारण आयाम मानने मे एक कठिनाई अवश्य आ पड़ती है। वह यह कि जहाँ जगह के तीन आयामों को मापने के लिए एक ही मापदण्ड—फ़ुट, गज या मील आदि समान रूप से काम दे सकता है, वहाँ चतुर्थ आयाम—काल—को मापने के लिए मिनिट, घंटा, दिन आदि का भिन्न मापदण्ड प्रयुक्त करना पड़ता है। इस के अलावा जहाँ 'देश' मे हम दायें-बायें अथवा ऊपर-नीचे चल कर फिर अपने प्रारम्भिक स्थान पर लौट सकते है, वहाँ काल मे हम 'बीते हुए स्थल' पर फिर कभी भी वापस नहीं आ सकते। ऐसा लगता है जैसे काल हमे निरन्तर अतीत से भविष्य की ओर धकेल रहा हो। ये सब अन्तर है, देश और काल की प्रकृति में, और इन के रहते दोनों के बीच कोई तुलना नही की जा सकती।

लेकिन देखा जाये तो इस समस्या का भी एक सरल हल मौजूद है। आप ने लोगों को अकसर कहते सुना होगा कि "अमुक स्थान तक यहाँ से 'चार दिन' का पैदल सफर है," अथवा "अमुक व्यक्ति यहाँ से बस द्वारा 'दो घंटे' की दूरी पर रहता है।" ऐसे वाक्यों में एक विशिष्ट गति निर्धारित कर दूरी को समय की इकाइयों में व्यक्त किया जाता है जिस का मतलब यह है कि यदि हमारे पास गति का एक निश्चित मानक हो, तो हम दूरी को समय की इकाइयों में, तथा समय को दूरी की इकाइयों में व्यक्त कर सकते हैं। लेकिन प्रकट है कि इस उद्देश्य से गति-वेग का जो मानक चुना जाये, वह पैदल-यात्रा अथवा बस-चाल की तरह परिवर्तनशील नहीं होना चाहिए, बल्कि कोई ऐसा प्रामाणिक गतिवेग होना चाहिए, जो हमेशा और हर हालत में एक-सा रहे। ऐसी गति केवल प्रकाश की मानी जाती है। प्रकाश ही एक ऐसा गतिमान पदार्थ है, जो 'हमेशा और हर हालत में' एक-ही गति से प्रसारित होता है। यह गति १,८६,३०० मील प्रति सेकेंड सिद्ध हुई है। सब जानते हैं, कि अन्तनक्षत्रीय दूरियों को व्यक्त करने के लिए 'प्रकाश-वर्ष' ('लाइट इयर') का मापदण्ड प्रयुक्त किया जाता है, जैसे कहते हैं, अमुक नक्षत्र पृथ्वी से इतने प्रकाश-वर्ष की दूरी पर है, अर्थात् प्रकाश को उस नक्षत्र से हमारी आँखों तक पहुँचने में 'इतने वर्ष' लगते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रकाश के गतिवेग को आधार मान कर हम दूरी और समय को परस्पर परिवर्तनीय बना सकते हैं, यद्यपि ऐसा करते हुए हम उन के प्रकट अन्तर को एकदम मिटा नहीं सकते।

देश और काल के इस अन्तर को सम्पूर्णत मिटाने का काम आधुनिक युग के महानतम वैज्ञानिक आइन्स्टाइन ने किया। उन के 'सापेक्षवाद' के सिद्धान्त के अनुसार भौतिक जगत् एक 'संयुक्त चतुर्विस्तारीय दिक्-काल जगत्' है, जिस में घटनाओं के बीच केवल एक ही अपरिवर्तनीय चतुर्विस्तारीय अन्तर होता है, और देश और काल में जो अलग-अलग अन्तर दिखाई पड़ते हैं, वे दरअसल उसी एक मौलिक अन्तर के प्रक्षेप मात्र हैं देश-अक्ष और काल-अक्ष पर, अर्थात् उन का मान निर्भर करता है उस विशेष निर्देशाक पद्धति पर, जिस में उन्हें देखा जाये। इस सारे ज्यामितिक शब्दजाल का साधारण अर्थ यह है कि देश और काल का कोई निरपेक्ष मूल्य अथवा स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती। उन के परिमाण के सम्बन्ध में जो भी धारणाएँ बन पाती हैं, वे निर्भर करती हैं द्रष्टा की गति और अवस्थिति पर। गति की एक विशेष अवस्था में जो 'सौ फुट' है, वही दूसरी अवस्था में 'पचास फुट' भी हो सकता है इसी तरह एक द्रष्टा को एक विशेष अवस्थिति में जो घटनाएँ एक साथ अथवा एक विशेष अन्तर से घटती प्रतीत होती हैं, वही घटनाएँ दूसरे द्रष्टा को दूसरी अवस्थिति में एक-दूसरे के बाद अथवा कम या ज्यादा अन्तर से भी घटती प्रतीत हो सकती हैं। बस यही आइन्स्टाइन के सापेक्षवाद का मूलमन्त्र है। केवल

इतनी बात को समझने के लिए उच्च गणित और अभिनव भौतिकी की जटिलताओं में उलझने की कोई आवश्यकता नहीं है।

मान लीजिए कि 'क ख' और 'ग घ' दो आयामों को सूचित करते है, और उन के क्षेत्र में दो निश्चित बिन्दु है 'च' और 'छ', जिन के बीच 'ल' का अन्तर है। इस अन्तर को जब दोनों अक्षों पर प्रक्षिप्त किया जाये, तो अक्ष 'क ख' पर इस का मूल्य 'अ', और अक्ष 'ग घ' पर 'आ' बनता है। अब यदि हम इस विशेष निर्देशांक पद्धति को थोड़ा-सा 'घुमा' दें, और दोनो अक्षों पर अन्तर 'ल' को फिर प्रक्षिप्त करें, तो नये मूल्य 'अ१' और 'आ१' प्राप्त होते हैं। ये नये मूल्य पिछले मूल्यों 'अ' और 'आ' से बिलकुल भिन्न है। लेकिन उल्लेखनीय बात यह है कि पाइथागोरस के प्रमेय के अनुसार दोनो अवस्थाओ मे प्रक्षिप्त मूल्यों के वर्गो के योगफल का वर्गमूल एक ही रहता है, क्योंकि यह दोनों बिन्दुओं के वास्तविक अन्तर 'ल' के बराबर है। अर्थात् $अ^{२} + आ^{२} = अ^{२'} + आ^{२'} =$ 'ल'।

इस प्रकार हम देखते है कि 'च' और 'छ' के बीच जो मौलिक अन्तर 'ल' है, वह परिवर्तित नही होता। लेकिन दोनों अक्षों पर उस के जो प्रक्षिप्त मूल्य है, वे ढाँचे के आवर्त्तन से परिवर्तित हो जाते है। अत: पहला मूल्य वास्तविक है, जब कि दूसरे सापेक्ष है, अर्थात् वे निर्भर करते है उस विशेप ढाँचे पर, जिस में उन्हे देखा जाये। और जब ऐसा परिवर्तन होता है, तो दर-असल एक मूल्य का कुछ अंश दूसरे में रूपान्तरित हो जाता है।

अब यदि हम अक्ष 'क ख' को देश का, और अक्ष 'ग घ' को काल का सूचक मानें, और दोनों बिन्दुओं, 'च' और 'छ' को दो निश्चित घटनाएँ कहे (जिन के बीच मौलिक चतुर्विस्तारीय अन्तर 'ल' है), तो देशक्ष पर इस अन्तर का प्रक्षेप दूरी को, और कालक्ष पर समय को सूचित करेगा।

मान लीजिए कि 'च' घटना एक गोली-काण्ड है, जो सड़क के दसवें मकान के सामने ठीक नौ बजे सुबह होती है, और 'छ' घटना एक व्यक्ति के उसी सड़क के पचीसवें मकान की खिड़की से कूद कर आत्महत्या करने की है, जो उसी दिन सुबह ठीक नौ बज कर पन्द्रह मिनिट पर घटती है। साधारण हिसाब से इन दो घटनाओं के बीच देश में पन्द्रह मकानों का और काल में पन्द्रह मिनिट का अन्तर है।

अब प्रश्न यह है कि 'पन्द्रह मकान' और 'पन्द्रह मिनिट' के इन अलग-अलग मूल्यों को परिवर्तित करने के लिए क्या करना चाहिए, अर्थात् इस दिक्-काल ढाँचे को किस तरह घुमाया जाये कि नये अक्षों पर नये मूल्य प्राप्त हों। आइन्स्टीन ने इस प्रश्न का जो उत्तर दिया, वह जितना अप्रत्याशित था, उतना ही विस्मयकर भी। उन्होंने कहा कि यदि आप अपने दिक्-काल ढाँचे को बदलना चाहते है, तो—गाड़ी मे सवार हो जायें!

मान लीजिए कि हम मोटर में सवार हो कर नौ बजे से कुछ देर पहले 'क' से 'ख' की ओर रवाना होते है, और 'डेढ़ मिनिट में

एक मकान' की गति से चलते हुए ठीक नौ बजे पाँचवें मकान के सामने आ जाते हैं।

हमारी मोटर ठीक नौ बजे पाँचवे मकान के सामने है। तभी दसवें मकान के सामने गोलीकाण्ड होता है। अत हमें यह घटना अपने से पाच मकान आगे होती दिखाई देती है।

लेकिन 'पन्द्रह मिनिट' बाद जब पचीसवे मकान के सामने आत्महत्या की घटना होती है, तब तक हमारी मोटर और दस मकान आगे पन्द्रहवे मकान के सामने पहुँच चुकी होती है। अत हमे उस समय होने वाली आत्महत्या की घटना अपने से केवल दस मकान आगे घटती दिखाई देती है। इस प्रकार, जहाँ तक हमारा सम्बन्ध है, हमे पहली घटना अपने से पाँच मकान आगे और दूसरी घटना अपने से दस मकान आगे घटती दिखाई देती है। जिस का मतलब यह है कि हमारे लिए इन दो घटनाओ के बीच केवल पाच ही मकानो का अन्तर है। हालाँ कि बिन्दु 'स' पर स्थिर खड़ा हुआ पुलिसमैन साफ देख सकता है कि पहली घटना दसवें मकान के सामने और दूसरी पचीसवें मकान के सामने होती है, अर्थात् उन के बीच पन्द्रह मकानो का अतर है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्थिर द्रष्टा (पुलिसमैन) के लिए जो दूरी '१५ मकानों' की है, वही गतिमान् द्रष्टा (हम मोटर वालो) के निकट '५ मकान' हो जाती है। गतिमान् दर्शक की दृष्टि मे देश के इस सकोच का कारण क्या है?

कारण यह है कि चूँकि आयामो के बीच हमेशा लम्बकोण (९०°) रहना चाहिए, इस लिए जब मोटर की गति के कारण उस का 'काल' स्थानान्तरित हो जाता है, तो उस के 'देशक्ष' को भी बदलना पड़ता है, ताकि दोनो के बीच लब कोण बना रहे। दूसरे शब्दो में जहाँ पुलिसमैन के लिए निर्देशाक्ष 'क ख' और 'ग घ' हैं, वहाँ मोटर वालो के लिए निर्देशाक्ष 'क' ग'' और 'ग' घ'' निर्धारित करने पड़ते हैं।

जब दोनों घटनाओ के बीच के मौलिक चतुर्विस्तारीय अन्तर 'ल' को इन नये अक्षो पर प्रक्षिप्त किया जाता है, तो देशक्ष पर नयी दूरी 'अ'' और कालक्ष पर नयी अवधि 'आ'' उपलब्ध होती है, जो पहले की दूरी (अ) और अवधि (आ) से बिलकुल भिन्न है, यद्यपि दोनो का सयुक्त मूल्य 'ल' एक ही रहता है। केवल एक का कुछ अश दूसरे में परिवर्तित हो जाता है।

साराश यह कि हम मोटर वालों के निकट केवल दूरी ही सकुचित नहीं होती, बल्कि समय भी विस्तृत हो जाता है, जिस का मतलब यह है कि 'स' पर खड़े हुए स्थिर पुलिसमैन के निकट समय का जो अन्तर 'पन्द्रह मिनिट' है, वही हमारे निकट 'कुछ और' हो जाता है। इस असगति का कारण यह नही कि हमारी और पुलिसमैन की घड़ियाँ किसी यान्त्रिक त्रुटि के फलस्वरूप विभिन्न गतियो से चलती हैं, बल्कि कारण यह है कि स्वय 'काल' विभिन्न गतियो से चलने वाले वाहनो मे विभिन्न प्रमाण मे प्रवाहित होता

है। इस लिए उस को सूचित करने वाले यन्त्र भी उसी अनुपात से मन्द हो जाते हैं। गति जितनी तीव्र होगी, काल-प्रवाह की मन्दता भी उतनी ही स्पष्ट होगी। और उसी अनुपात से देश का संकोचन भी अधिक होगा। वैज्ञानिकों का कहना है कि यदि हम इतने तेज चल सकें कि दूरियाँ आधी रह जायें, तो अवधियाँ दुगुनी हो जायेंगी, यहाँ तक कि असीम गति से चलने पर देश का सम्पूर्ण विलय और काल-प्रवाह की इति भी हो सकती है।

ऊपर के उदाहरण मे हम मोटर वालों के निकट देश 'छोटा' और काल 'बड़ा' हो जाता है, जिस का मतलब यह है कि हमारे लिए देश का कुछ अंश काल में परिवर्तित हो जाता है, इस से यह सारी बात साफ हो जाती है कि न केवल देश और काल का कोई निरपेक्ष मूल्य अथवा स्वतन्त्र सत्ता नही है, बल्कि द्रष्टा की गति और अवस्थिति से उन के जो सापेक्ष मूल्य निर्धारित होते है, वे परस्पर परिवर्तनीय है। अतः देश और काल की प्रकृति मे कोई अन्तर शेष नही रहता। और यह स्थापना पूर्णतः सिद्ध हो जाती है कि काल भौतिक जगत् के अन्य तीन आयामों की तरह एक आयाम मात्र है, तथा देश की तरह उस का परिमाण भी द्रष्टा की गति और अवस्थिति पर निर्भर करता है।

वैज्ञानिकों का कहना है कि गति की अवस्थाओं मे देश के 'संकोचन' और काल के 'प्रसारण' के बडे विचित्र परिणाम हो सकते है, विशेष कर अन्तर्नक्षत्रीय यात्राओं के क्षेत्र में। कारण कि काल-प्रवाह का यह फैलाव केवल घड़ी आदि यान्त्रिक उपकरणों तक ही सीमित नही रहता, बल्कि हर प्रकार की प्रक्रियाएँ—भौतिक, रासायनिक और जीव-सम्बन्धी—सब एक ही अनुपात से मंद होती हैं।

इस बात को अधिक स्पष्टता के साथ समझने के लिए एक उदाहरण लीजिए। मान लीजिए कि हम एक ऐसे नक्षत्र-जगत् की यात्रा पर जाते है, जो पृथ्वी से ९ प्रकाश-वर्ष की दूरी पर है। और इस यात्रा के लिए हम एक ऐसे अन्तरिक्ष-वाहन का प्रयोग करते है, जो प्रायः प्रकाश की गति से चल सकता है। अब स्वाभाविक बात तो यह है कि हम यह सोचें कि उस यात्रा से लौटने मे कम से कम १८ वर्ष तो लगेंगे ही। लेकिन यह केवल हमारा भ्रम होगा। वास्तविकता कुछ और ही होगी। यदि हमारे अन्तरिक्ष-वाहन की गति प्रकाश के गति-वेग का ९९,९९९९.... प्रतिशत हो, तो हमारी घड़ियाँ, हृदय-पिण्ड, श्वास का आवागमन, नाड़ियों मे रक्त का संचारण, पाचन-क्रिया, मानसिक क्रियाएँ जैसे स्मृति, विचार, कल्पना आदि, सब की सब ७० हजार के गुणनखण्ड से मन्द हो जायेगी! जिस का मतलब यह है कि हमारा 'एक मिनिट' पार्थिव वासियों के ७० हजार मिनिटों के बराबर होगा! अतः '१८ वर्ष' की यह पार्थिव-अवधि, जो इस यात्रा को सम्पन्न करने मे व्यतीत होगी, वह हमारे निकट 'चंद घंटों' से ज्यादा नही होगी। दूसरे शब्दों मे यदि हम सुबह का नाश्ता कर के रवाना होंगे, तो जब तक हमे 'दोपहर' के खाने की भूख

नाएँ ऐसी हो जाती है कि विवेक है कि कुण्ठित है।

एक सदी के तेईस वर्षों के भीतर दो-दो महायुद्ध ! यह अजीब जलजले-जैसे तानाशाह ! ये मुसोलिनी और हिटलर, स्तालिन और माओ—और भी कई नाम हो सकते हैं। यह सब क्या है ? क्या इन के पीछे कोई सूत्रता है ?

एक कागज़ का टुकड़ा मेरे पास तैरता हुआ चला आता है। अरे, यह तो कोई पत्र है। सो साल से भी पुराना। पढ़ूँ ?

(कार्ल मार्क्स का ऐन्गेल्स को पत्र)

"लन्दन, जून २, १८५३

यहूदियों और अरबों के बारे में तुम्हारी चिट्ठी ने मुझ में दिलचस्पी पैदा की। मैं यों ही सोचता हूँ कि

१—जब से इतिहास शुरू हुआ तब से सब पूर्वी प्रजातियों में एक तरह की सामान्य सम्बन्ध-दृष्टि देखी जा सकती है। कुछ कबीले बसते जाते हैं और कुछ अपनी घुमक्कड़ी हमेशा जारी रखते हैं।

२—मुहम्मद के समय युरॅप से एशिया के व्यापार-मार्ग बहुत कुछ सुधर चुके थे और अरब-राष्ट्रों के नगर, जिन्होंने भारत के साथ व्यापार आदि में बहुत भाग लिया था, ये व्यापारी दृष्टि से गिरावट की हालत में थे, इस से भी काफी प्रेरणा मिली।

३—जहाँ तक धर्म का प्रश्न है, सारा प्रश्न एक सामान्य और इसी लिए सहज उत्तरित होने वाली स्थिति में आ जाता है सारे पूर्व का इतिहास धर्मों के इतिहास-जैसा क्यों दिखाई देता है ?"

आगे उस चिट्ठी में मार्क्स ने लिखा है "फ्रास्वा बर्नियर का वर्णन पढ़ो। यह औरंगज़ेब का नौ वर्ष तक चिकित्सक था। कश्मीर में वह महान् मुगल कैसे ४००,००० आदमियों की फौज ले गया ? यह आये कहाँ से ?"

●

और एक कागज़ का पुर्ज़ा मेरे पास उड़ता हुआ आ रहा है 'लन्दन टाइम्स' का २० अगस्त का रविवासरीय विशेष सस्करण—छह दिनों के युद्ध के बाद येरूशेलम। इस में लिखा है कि यहूदी जो बहुत कट्टरपन्थी थे, बाल नहीं कटाते थे। "जो भगवान् ने दिया है, उसे हम कैसे काट सकते हैं ?"

बालों में जादू रहता है। कुन्तलीन का विज्ञापन नहीं, सैम्सन डलाइला का किस्सा नहीं, कवि पन्त की वीणा-ग्रंथि नहीं कि 'तुम्हारा ही स्वर्गिक उपहार, धरा है सिर पर मैं ने देवि !', 'बाल' और काल। 'काल भी सच, अकाल भी सच !'

●

मैं घड़ियों की दूकान के सामने खड़ा हूँ, ज़्यूरिक में। मैं एक कुक्कू-क्लॉक खरीदने जा रहा हूँ—सस्ती हो, हलकी हो और हवाई जहाज़ से आराम से ले जाऊँगा। बच्चे इसे देखेंगे और खुश होंगे। यह कोयल असमय बाहर निकलती रहेगी, गाती रहेगी। 'एक भारतीय आत्मा' को 'कोकिल बोलो तो ' नहीं लिखना होगा। उन से पहले गडकरी ने

सारी मुद्राएँ अब मूल्यहीन हो गयी थीं। सोने से ज़्यादह प्लेटिनम और उस से ज़्यादह युरेनियम के बाद ऐसा एक क्या द्रव्य निकला था, जिस से अणु-शक्ति संचालित होती थी—और वह इतना भयानक था कि किसी एक राष्ट्र या राष्ट्रमण्डल के साथ वह रह ही नहीं सकता था। साझा मिल्कियत विश्व की उस पर हो गयी थी। सो बैंकें ऐसी ही हो गयी थी, जैसे आजकल हम जमीन में गड़े हुए ख़जानों की बातें बच्चों की कहानियों मे पढ़ते हैं। पैसे की शक्ति बदल कर विज्ञान के हाथों में चली गयी थी।

जोरू? यह शब्द भी काफ़ी पुराना हो चुका था। स्त्री-पुरुष-भेद समाप्त हो गये थे। एक नया सेक्सहीन समाज था, जिस की कल्पना बर्नार्डशा ने 'बैक टु मेथुसेलाह' में की है—किसी स्त्रीविशेष पर सत्ता या अधिकार ज़माने का कोई कारण किसी पुरुष को नही लगता था। और वही बात पुरुष के विषय में सही थी। सन्तति स्त्री-पुरुष समागम के बिना सम्भव थी। सो यह सब झगड़े किसलिए?

●

सब से बुरा किसी का हुआ तो ज्योतिषियों का। २००० में जब जनसाधारण को अनागत के लिए कोई उत्सुकता ही नहीं बची रही तो हाथ बँचवाये कौन, किस का, किस लिए? ज्योतिष-शास्त्र केवल शुगल बन कर रह गया! कुछ बूढ़े लोग स्टुटगार्ट के ग्लासगार्टेन पार्क में जिस तरह बड़ी-बड़ी शतरंज की गोटों से खेलने में शाम बिताते है, वैसा ही एक ग्रह-पिण्डों का खेल, मात्र दिमागी क्रीड़ा।

●

गत-अनागत को जोड़नेवाली एकमात्र शक्ति है स्मृति। उस पर मानव को विलक्षण अधिकार प्राप्त हो गया था। शतावधानी लोगों की तरह दशकों की बातें याद रखने वाले निकल आये थे। जो चीजें आजकल हमें याद रखनी पड़ती हैं, वे २००० में व्यर्थ हो गयी थीं। टेलीफ़ोन-नम्बर, बीमा-पॉलिसी का नम्बर, कार का नम्बर, जन्म-तारीख़, कितनी व्यर्थ-की चीजों से हम अपनी सूक्ष्म और कोमल स्मृति को लादा करते हैं। वह सब अनावश्यक हो गया। मन के भीतर विचार आया और उस का ठोस वस्तुकरण सामने मौजूद। फिर आई० बी० एम० या कम्प्यूटर की तरह मशीन है और सब कुछ स्वयंचालित ढंग से होता जा रहा है। मानवेच्छा-जैसी चीज केवल एक 'खयाली पुलाव' बनी रह जायेगी। मसलन मैंने एक कविता लिखी और जानना चाहा कि इस का प्रभाव क्या होगा? उसे जाँचनेवाली संगणक यन्त्रमाला उपस्थित है। तो अब मैं कविता इस तरह लिखूँ कि उन का हिप्नोटिक असर अमुक-अमुक व्यक्ति, समूह या समाज पर पड़े। शब्द समय से यहाँ बँध गया। स्फोट क्या होगा। पाणिनि और यास्क, जैस्परसन और सैपीर बॉप्प और हुम्बोल्ट—बेकार है भाषा शास्त्री और कोश।

यार लोगों ने मौन के भीतर भी पैठ कर अनुकम्पनों के अर्थ जान लिये है। संकेत-भाषाएँ बन गयी है २००० मे। तो 'कार्डियोग्राम' की तरह कविता भी ग्राफ और बिन्दुओं में लिख दी गयी। समझने वाले समझ गये,

सारी मुद्राएँ अब मूल्यहीन हो गयी थीं। सोने से ज़्यादह प्लेटिनम और उस से ज़्यादह युरेनियम के बाद ऐसा एक नया द्रव्य निकला था, जिस से अणु-शक्ति संचालित होती थी—और वह इतना भयानक था कि किसी एक राष्ट्र या राष्ट्रमण्डल के साथ वह रह ही नहीं सकता था। साझा मिल्कियत विश्व की उस पर हो गयी थी। सो बैंकें ऐसी ही हो गयी थीं, जैसे आजकल हम जमीन मे गड़े हुए खजानों की बातें बच्चों की कहानियों मे पढ़ते है। पैसे की शक्ति बदल कर विज्ञान के हाथों मे चली गयी थी।

जोरू? यह शब्द भी काफ़ी पुराना हो चुका था। स्त्री-पुरुष-भेद समाप्त हो गये थे। एक नया सेक्सहीन समाज था, जिस की कल्पना बर्नार्डशा ने 'बैक टु मेथुसेलाह' मे की है—किसी स्त्रीविशेष पर सत्ता या अधिकार ज़माने का कोई कारण किसी पुरुष को नहीं लगता था। और वही बात पुरुष के विषय मे सही थी। सन्तति स्त्री-पुरुष समागम के बिना सम्भव थी। सो यह सब झगड़े किसलिए?

●

सब से बुरा किसी का हुआ तो ज्योतिषियों का। २००० मे जब जनसाधारण को अनागत के लिए कोई उत्सुकता ही नही बची रही तो हाथ बँचवाये कौन, किस का, किस लिए? ज्योतिष-शास्त्र केवल शुगल बन कर रह गया! कुछ बूढ़े लोग स्टुटगार्ट के श्लासगार्टेन पार्क में जिस तरह बड़ी-बड़ी शतरंज की गोटों से खेलने में शाम बिताते है, वैसा ही एक ग्रह-पिण्डों का खेल, मात्र दिमागी क्रीड़ा।

●

गत-अनागत को जोड़नेवाली एकमात्र शक्ति है स्मृति। उस पर मानव को विलक्षण अधिकार प्राप्त हो गया था। शतावधानी लोगों की तरह दशकों की बातें याद रखने वाले निकल आये थे। जो चीजें आजकल हमें याद रखनी पडती हैं, वे २००० में व्यर्थ हो गयी थी। टेलीफोन-नम्बर, बीमा-पॉलिसी का नम्बर, कार का नम्बर, जन्म-तारीख़, कितनी व्यर्थ-की चीजों से हम अपनी सूक्ष्म और कोमल स्मृति को लादा करते है। वह सब अनावश्यक हो गया। मन के भीतर विचार आया और उस का ठोस वस्तुकरण सामने मौजूद। फिर आई० बी० एम० या कम्प्यूटर की तरह मशीन है और सब कुछ स्वयंचालित ढंग से होता जा रहा है। मानवेच्छा-जैसी चीज केवल एक 'खयाली पुलाव' बनी रह जायेगी। मसलन मैंने एक कविता लिखी और जानना चाहा कि इस का प्रभाव क्या होगा? उसे जाँचनेवाली संगणक यन्त्रमाला उपस्थित है। तो अब मै कविता इस तरह लिखूँ कि उन का हिप्नोटिक असर अमुक-अमुक व्यक्ति, समूह या समाज पर पड़े। शब्द समय से यहाँ बँध गया। स्फीट क्या होगा। पाणिनि और यास्क, जैस्परसन और सैपीर बॉप्प और हुम्बोल्ट—बेकार है भाषा शास्त्री और कोश।

यार लोगों ने मौन के भीतर भी पैठ कर अनुकम्पनों के अर्थ जान लिये है। संकेत-भाषाएँ बन गयी है २००० में। तो 'कार्डियो-ग्राम' की तरह कविता भी ग्राफ और बिन्दुओं में लिख दी गयी। समझने वाले समझ गये,

नही समझे सो उन से हमें क्या ?

'कम्युनिकेशन'—परस्पर-सम्प्रेषण काल-सापेक्ष नही रहा। तो फिर केवल वही बचा जो सत्य है। और वह साधारणीकरण से बाहर का ही हो सकता है। जो नकारता है सारे सामान्यीकरण को, वही विशिष्ट बोधजन्य और बोधगम्य है। बाकी सब तो सपाट है, पठार। समतल। 'टेंबूला रास्ता'।

●

अगत-विगत की झंझट सिर्फ वही है जहा बही-खाते है, आवक-जावक है, जमा-खर्च है।

पर एक बार 'काल' की कक्षा टूटने पर यह प्रश्न ही कहाँ उठता है। विशुद्ध प्रज्ञा। नकार-स्वीकार से परे। बसने-उखड़ने से परे। अच्छे-बुरे से परे। 'यह' और 'वह' से परे। इद न मम।

'वाच-टावर' से परे, दीवारो से परे, शिकारी कुत्तो से परे, बिजली के तारों से परे—एक अमूर्त झाग, एक मन्द मधुर सुगन्ध, एक ऐसी दुनिया जिस में बेटोफेन की दसवी सिम्फनी (बहरे होने के बाद भी रची गयी) कैथ कोलविज की 'डेथ सीरीज' के चित्र, ब्रेस्ट की पुन क्लासिक को प्रतिष्ठित करने-वाली दिगन्त-भेदी विद्युत्प्रतिभा, गोएटे की कालजयी मूर्ति, पूर्व-पश्चिम के भेद से परे—एक अखण्ड पितृदेश !

वही अनवच्छिन्न बहनेवाली निक्र, हरी इजार, नीली डैन्यूब, एल्ब और नुगोल्ड-जैसी नदियाँ। उन पर बने पुल, जिन पर एक बन्दर का शिल्प आदमी पर हँसता है।

[नवम्बर १९६७]

तैंतीस साल बाद की दुनिया

हरीश अग्रवाल

●

● मानव सौरमण्डल के छोर तक की यात्रा कर सकेगा और वह सूर्य से कुछ लाख मील रह जायेगा।

● मानव को असीमित मात्रा में सूर्य, परमाणु और उद्‌जन ऊर्जा पृथ्वी पर प्राप्त हो सकेगी।

● इस असीमित ऊर्जा से मानव की अनेक समस्याएँ हल हो जायेंगी। ताजा पानी की कमी नही रहेगी, समुद्र से प्रचुर मात्रा मे खनिज निकाले जा सकेंगे और पृथ्वी से भी खनिज आसानी से उपलब्ध होंगे।

● कतिपय रसायन मानव व्यवहार में संशोधन करने की क्षमता रखते है। इस लिए पागलपन-जैसे रोगों का इलाज इन रसायनों से सम्भव हो जायेगा।

● मानव अपनी भावी उत्पत्ति पर नियन्त्रण कर सकेगा। इस तरह के इंजेक्शन या गोलियाँ आ जायेंगी जिस से हमेशा के लिए जन्म-नियन्त्रण हो सकेगा। यह भी सम्भव है कि जन्म से पहले ही भ्रूण के गुण मालूम हो जायें, और उन मे परिवर्तन किया जा सके।

● प्रयोगों से सिद्ध हो गया है कि मानव जैविक दृष्टि से मरेगा नहीं। मानव को बर्फ़ में जमाने के प्रयोग सफल हो गये है। असाध्य रोगों का इलाज होने पर इस तरह के मानव को पुन: जीवित किया जा सकेगा। लेकिन अधिक जनसंख्या के कारण मानव को अमर रखने की जरूरत नही पड़ेगी।

● सूटकेस मे रखे जाने वाले परमाणु बम बन जायेंगे।

● मौसम पर नियन्त्रण सम्भव हो जायेगा, मनचाही वर्षा होगी, रेगिस्तान नहीं रहेंगे।

● संचार और सूचना के क्षेत्र में क्रान्ति आ जायेगी। कम्प्यूटरों, टेलीविजन-टेलीफ़ोन, लेसर किरणों, संचार-उपग्रहों का प्रचार बढ़ेगा। पुस्तकालय, कागज के काम और टाइपिस्ट के काम 'समाप्त' हो जायेंगे, आज-कल-जैसे अखबार नही रहेंगे। व्यापारिक यात्राओं के स्थान पर टेलीविजन से काम हो जाया करेंगे।

अगले ३३ साल या उस से पहले ही या बाद मे होने वाली कुछ घटनाओं का उल्लेख हम ने यहाँ किया है। वास्तव में अगली घटनाओं की भविष्यवाणी भूत और वर्तमान को लेकर ही की जा सकती है और विज्ञान व टेक्ना-

लॉजी मे यह बात और भी सही बैठती है। जब से ५० साल के पहले लोगो को हम पिछड़ा समझते है, जब कि ५० साल बाद के लोग हम को पिछड़ा समझेंगे। लेकिन प्रगति निर्भर करती है विज्ञान के उपयोग पर ही। पिछले ५० वर्ष में विज्ञान और टेक्नालॉजी की जिस तरह तेज़ प्रगति हुई उतनी कभी नही हुई। हो सकता है, भविष्य में यह प्रगति और तेज़ी मे हो।

लेकिन कम्प्यूटर, स्वचालित मशीनें, टेलीविजन, अतिस्वन विमान आदि चीज़ें समृद्धिशाली और अमीर देशो के लिए उपयोगी हो सकती है, सारा सवाल गरीब देशो की समृद्धि का है, ससार के आधे से ज्यादा लोगो को खाना-कपड़ा देने का है। क्या यह भूखा ससार अगले ३३ साल में अपना पेट भर सकेगा, क्या विज्ञान इन की रक्षा कर सकेगा और क्या अकाल नाम की चीज़ हमेशा के लिए मिट सकेगी ?

यदि हम विज्ञान के पिछले इतिहास को देखे और आनेवाले विज्ञान पर निगाह डाले तो देखेंगे कि जब कुछ वर्ष मे विज्ञान के क्षेत्र में विश्व-सहयोग बढ रहा है और यह उपयोगी सहयोग बढेगा ही, कम नही होगा। पहले अन्तरराष्ट्रीय भू-भौतिक वर्ष मनाया गया, अन्तरराष्ट्रीय जैव कार्यक्रम आरम्भ किया गया और अब अन्तरराष्ट्रीय जलदशाब्दी भी आरम्भ हुई है। ये सब कार्यक्रम ससार के भौतिक, रासायनिक, जैविक व अन्य साधनो की खोज-खबर लेने के लिए है और अपनी पृथ्वी के बारे में आगे छानबीन करने के उद्देश्य से आरम्भ किये गये हैं, जिस से इस जानकारी से सभी लोगो को लाभ पहुँचे। हो सकता है कि यदि भूखे लोगो का दबाव बढा तो भविष्य में कोई 'भूखा ससार वर्ष' मनाया जाये। कुछ वैज्ञानिको का कहना है कि विकासशील देशो में समस्याएँ इतनी अधिक बढ जायेंगी कि वैज्ञानिको और इजीनियरो को इन समस्याओ को सुलझाने का काम सौंप दिया जायेगा। विज्ञान का महत्व और बढेगा और इस लिए इस पर अधिक धन खर्च किया जायेगा।

अब हम अपने देश में ही कृषि के क्षेत्र में कुछ क्रान्तिकारी बाते होती देख रहे हैं। हो सकता है कि इन का चमत्कार इतना बडे कि अगले ३३ साल मे हमारी खाद्य-समस्या सदा के लिए मिट जाये। हमें आधुनिकतम टेक्नालॉजी का लाभ मिलता रहेगा और हम उस का उपयोग करते रहेंगे। इस समय हमारी खेतिहर जनसख्या ७० प्रतिशत है। वैज्ञानिक साधनो और यन्त्रीकरण के कारण यह जनसख्या कम हो कर १०-१५ प्रतिशत तक पहुँच सकती है, जैसा कि अमरीका में गत ५० साल में सम्भव हो गया है। देश में उद्योग भी बढेंगे, इस लिए पेशेवर कामो के लिए डॉक्टर, इजीनियर, ठेकेदार, बढई, बिजलीवाले, मकान बनानेवाले आदि-जैसे प्रशिक्षित व्यक्ति अधिक सख्या मे पूछे जायेंगे।

बीसवी शताब्दी के अन्त तक जनसख्या ८० से ९० प्रतिशत बढ जायेगी, इस लिए खाद्यान्न-उत्पादन और जनसख्या-वृद्धि में रस्साकशी जारी रहेगी। अमीर देश गरीब देशा

को खाद्यान्न और अधिक मात्रा में भेजेंगे। यह भी सम्भव है कि लोगों को परम्परागत भोजन छोड़ कर कुछ कृत्रिम और वैज्ञानिक विधियों से बनाये गये खाद्यान्न का इस्तेमाल करना पड़े।

यदि मानव ने विज्ञान और टेक्नालॉजी का उपयोग मानव के हित के लिए किया तो एक समृद्धिशाली संसार की कल्पना की जा सकती है, अन्यथा नही। एक ओर जहाँ शान्ति-स्थापना की शक्तियाँ है, दूसरी ओर संसार को हथियारों से लैस करने की भी शक्तियाँ है। तो इन दोनों शक्तियों मे खीच-तान होती रहेगी और जहाँ नये-नये क्षेप्यास्त्रों व रक्षा-व्यवस्था के लिए खोज बढ़ेगी वहाँ शान्ति के लिए भी अनुसन्धान आगामी २०-२५-३० साल मे बढ़ेगा। एक ओर जहाँ बम बने है, दूसरी ओर उन से बचाव के साधन भी बनाये जा रहे है। विकिरण से पीड़ित व्यक्तियों का इलाज भी सम्भव हो गया है। तो यह मानव का दिमाग़ बड़ा अजीब है जो अपने विनाश और निर्माण दोनों की संरचना स्वयं करता रहता है। फिर भी हम यदि मानव के भविष्य के निराशावादी पक्ष की ओर ध्यान न दें, तो हम कह सकते है कि सन् २००० मे सारी मानव-जाति जीवित रहेगी। लेकिन फिर भी गरीब देशों का भविष्य ज़्यादा उज्ज्वल नहीं दिखाई देता। हाँ, इन देशों में जब तक स्वयं काम करने, विज्ञान व टेक्नालॉजी का अधिकतम उपभोग करने, निरक्षरता दूर करने और ग़रीबों का जीवन-स्तर ऊँचा करने के लिए पूरी तरह से प्रयत्न नहीं होता तब तक उन के अच्छे भविष्य की कल्पना कैसे की जा सकती है। विज्ञान के उपयोग के लिए अन्धविश्वास दूर होना जरूरी है। यह उस समय और भी जरूरी है जब कि विज्ञान का प्रभाव धर्म और समाज पर बराबर बढ रहा है। तो क्या हम अगले ३३ साल में एक ऐसे विश्व का उदय मानें जिस में मानव मान्यताओं पर आधारित ईश्वर-रहित अन्तरराष्ट्रीय मानवीय धर्म की प्रतिष्ठापना हो। जनतन्त्र, विज्ञान व टेक्नालॉजी यह प्रदर्शित करते है कि इस प्रकार का संसार सम्भव है। केवल यह जरूरी है कि ज़रूरतमन्द और गरीब लोगों को संसार के सुख-साधनों से पृथक् न रखा जाये, इन का समान वितरण हो। इस के साथ-साथ सभी लोगों को अपने-अपने रीति-रिवाज और सास्कृतिक मूल्य पूरी तरह से बनाये रखने के लिए प्रोत्साहित किया जाये।

[दिसम्बर १९६७]

प्रेम और प्रतिशोध

रामस्वरूप चतुर्वेदी



मन की अनेक रहस्यमयी और दुर्भेद्य वृत्तियो में से उस की रागात्मिकता वृत्ति कदाचित् सब से अधिक प्रबल है। तीव्रता और गहराई के प्रभेद से इस रागात्मिकता वृत्ति के ही एक-दूसरे मिलते-जुलते रूपो को स्नेह, प्रेम, प्रणय, मोह, ममता आदि कहा जाता है। फ्रायड ने जिस 'सेक्स' नामक शक्ति को सारे काय-कलापो के मूल में बताया है, उस की भी आधारशिला यही रागात्मिकता वृत्ति है। सेक्स का विस्तृत अर्थ है एक व्यक्ति का दूसरे के प्रति आकर्षण। यह आवश्यक नही कि सेक्स की भावना में ऐंद्रिकता अनिवार्य रूप से हो। सेक्स अथवा प्रेम में मन और मन का भी व्यापार हो सकता है। पर यह सत्य है कि अधिकाशत सेक्स-सम्बन्ध ऐन्द्रिकता से युक्त होते है, क्योकि तन का तकाजा व्यक्तित्व का एक अपरिहार्य अग है। एक व्यक्ति का दूसरी व्यक्ति के प्रति अदम्य आकर्षण ही प्रेम का शाश्वत तथ्य है और यही सृष्टि के मूल में स्थित है। क्रिस्टोफर कॉडवेल ने सभी प्रकार के प्रेम—विशेषत वासनोत्तेजित प्रेम में इस वैयक्तिकता की सत्ता स्वीकार की है।

मन की गति के अध्ययन से यह भली-भाँति ज्ञात हो जाता है कि मानव-हृदय में प्रेम की वृत्ति अपेक्षाकृत अस्थिर रहती है। आधुनिक मनोविज्ञान के सिद्धान्तो के अनुसार एकनिष्ठ प्रेम की सत्ता बहुत कुछ सन्देहास्पद है। गहन प्रेम की परिणति प्रतिहिंसा में भी हो जाती है। किसी व्यक्ति को अपने सर्वस्व के साथ प्रेम करना, परन्तु उस में असफल होने पर फिर प्रतिशोध की तीव्र आकाक्षा—यह एक ऐसा विषय है, जिसे कुछ पाश्चात्य कथाकारो ने बडी सजीवता और मासलता के साथ अकित किया है। पाठक जानते है कि इस प्रकार की कथाएँ कितनी ट्रैजिक, भयावह और हृदय-विदारक होती हैं। उदाहरणार्थ सैम्सन और डिलाइला की प्रसिद्ध प्रणय-कथा से स्पष्ट हो जाता है कि प्रेम की तीव्रता विपरीत दशा मे प्रवाहित होने पर कितनी भीषण होती है। यह असफल प्रेम का एक पक्ष है। इस का चित्रण पश्चिमी कलाकारो

ने, विशेषत: अँगरेज़ी और फ्रेंच में, अधिक सफलता और सजीवता के साथ किया है। असफल प्रेम की दूसरी ओर सर्वाधिक प्रचलित प्रतिक्रिया तटस्थता में होती है। किसी व्यक्ति से प्रेम का प्रतिदान न प्राप्त कर सकने पर उस की ओर से कालान्तर में उदासीन हो जाना—अथवा फिर से प्रयत्न करना, यह पथ सर्वसाधारण का है। इस का भी अंकन साहित्य में हुआ है, पर ऐसे चित्र प्राय: अपनी भाव-भूमि मे औसत दरजे के होते हैं। इन दोनों के अतिरिक्त असफल प्रेम का एक तीसरा पक्ष भी हो सकता है, और वह है प्रेम की निराशा का उत्पन्न हो जाना। साधारण मानव-जीवन ऐसी घटनाओं से भरा नही होता, पर साहित्य मे जब-जब इस प्रकार की किसी कथा का चित्रण हुआ है तो प्राय: उस का स्वरूप हृदयस्पर्शी एवं जीवन्त ही रहा है। डिकेंस का प्रसिद्ध उपन्यास 'ए टेल ऑव टू सिटीज' इस प्रकार के कथानकों का उपयुक्त उदाहरण है, जिस का प्रतिनायक अपने प्रेम-व्यापार मे असफल हो कर अपनी प्रेयसी के पति के लिए प्राण-त्याग करने मे भी संकोच नही करता। प्रेम के क्षेत्र में आत्मोत्सर्ग का ऐसा ज्वलन्त उदाहरण प्राय: नही मिलता। यहाँ व्यक्ति की तीखी वासनाओं का पर्युत्थान हो कर उस के हृदय में उच्च मानवीय आदर्शो का प्रादुर्भाव होता है। असफल प्रणय की निराशा उस के मन को और भी कोमल तथा सरस-संवेदनशील बना देती है।

मनुष्य के मन मे उदात्त भावनाओं की स्थिति बहुत कम होती है, और यदि किसी प्रकार यह स्थिति सम्भव भी हो जाये तो उस मे अपेक्षाकृत स्थायित्व नही रहता, जब कि पाशविक दुर्बलताओं का उदय अधिक आसानी और तीव्रता के साथ हो जाता है। इन दुर्बल मनोविकारों के सहारे ही व्यक्ति का प्रेम प्रतिशोध में परिणत हो जाता है।

उदाहरण के लिए हम बाइबिल के वर्णन पर आधारित प्रख्यात कथाकार आस्कर वाइल्ड के नाटक सेलोमी को लेते है। सेलोमी प्रसिद्ध अत्याचारी राजा हैरोड की सौतेली पुत्री है। हैरोड ने जोकानन नामक एक सन्त को अपने कारागृह मे बन्द कर रखा है। सेलोमी इस सन्त से प्रेम करती है पर अनेक प्रयत्नों के बावजूद वह अपने प्रणय का प्रतिदान प्राप्त करने मे समर्थ नहीं होती। इस पर उस की अतृप्त कामना उस के मन मे प्रतिशोध जाग्रत् करती है। वह अपना नृत्य दिखा कर हैरोड को मुग्ध कर लेती है और उस से अपनी एक प्रार्थना मान लेने का प्रण करा लेती है कि उसे जोकानन का सिर काट कर दिया जाये। राजा इस पर बहुत आपत्ति करता है पर अन्तत: सेलोमी की दृढता के कारण उसे अपना वचन पूरा ही करना पड़ता है। सेलोमी उस कटे हुए सिर को अपने हाथ मे लेती है, और उस के अधरो का चुम्बन करती हुई कहती है, "कहा जाता है कि प्रेम का स्वाद तीखा होता है।"

यदि हम सेलोमी के मनस्तत्त्व का विश्लेषण करें तो हमे उस के प्रतिशोध की पृष्ठभूमि स्पष्ट दिखाई देती है। जोकानन

को देख कर सब से पहले उस के मन में उसे प्राप्त करने की कामना, उसे प्राप्त करने का लोभ उत्पन्न होता है। पर इस लोभ की पूर्ति में उसे बाधा पड़ती दिखाई देती है। इस के फलस्वरूप उस के रूप के गर्व को चोट पहुँचती है और उस के मन में कदाचित् अपनी दुर्बलता और शोकानन की दृढ़ता की तुलना करने पर ईर्ष्या का भी सचार होता है। इस के अतिरिक्त उस के मन में इस बात का भी भय रहता है कि अपने जिस प्रेम को वह प्राप्त न कर सकी उसे कोई अन्य न प्राप्त कर ले। यहाँ उस के मन में एक अपरिचित एव अज्ञात प्रतिद्वन्द्विता की भावना भी वर्तमान रहती है, क्योंकि उस की एकाधिपत्य की आदिम मनोवृत्ति को आघात पहुँचा है। इस प्रकार अपने अपरिहार्य और दुर्दमनीय प्रेम को सन्तुष्ट होते न देख कर उस का हृदय क्रोध से भर जाता है, तथा इन सारे दुर्बल मनोविकारो की समष्टि के फलस्वरूप वह अपने असफल प्रणय के लिए अपने प्रेमी से बदला लेने को प्रस्तुत हो जाती है।

प्रेम और प्रतिशोध के पारस्परिक् सम्बन्ध का विवेचन करते समय एक बात का ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है। प्रेम जिस समय प्रतिशोध में परिणत होता है उस समय उस का अस्तित्व पूर्णत लुप्त नही हो जाता। प्रेमी अपने प्रेमपात्र से पूर्ववत् प्रेम करता रहता है, पर उस के मन में असफलताजन्य प्रतिशोध उस की कोमल भावनाओ को दबा लेता है। इस प्रकार व्यक्ति के मन में प्रेम और प्रतिशोध के बीच एक सघर्ष चलता रहता है और प्रतिक्रियात्मक होने के कारण अन्तत प्रतिशोध की ही विजय होती है। वस्तुतत प्रेम की स्थिति ही प्रतिहिंसा को जन्म देती है। यदि व्यक्ति के मन में प्रेम की स्थिति न रहे तो कदाचित् वह अपने प्रेमी के प्रति उदासीन हो जाये, और प्रतिशोध की बात तब वह शायद न सोचे। असफल प्रेमी की दशा उस छोटे बालक के समान होती जाती है जो किसी खिलौने को प्राप्त न कर सकने पर उसे तोड डालने की सोचता है, जिस से वह किसी और को न मिल सके। परन्तु उसे नष्ट करते हुए भी उस के मन में उस खिलौने के प्रति ममता समाप्त नही हो जाती। परन्तु यहाँ बालक खिलौने से प्रतिशोध नही लेता क्योंकि खिलौना तो एक जड और निर्जीव वस्तु है। इस के विपरीत, प्रेमपात्र की अपनी इच्छा और अभिलाषा होती है। इसी लिए उसे प्राप्त न कर पाने पर जब व्यक्ति उसे किसी प्रकार से हानि पहुँचाने या उसे नष्ट करने की सोचता है तो उस के इस कृत्य को प्रतिशोध कहा जाता है।

सैम्सन और डिलाइला के चित्राख्यान में सैम्सन को न पा सकने पर डिलाइला चाहती है कि यदि वह अपने प्रेमी को न प्राप्त कर सकी तो कोई अन्य भी उस के असफल प्रणय की राख के ऊपर अपने प्रणय का महल न बना सके। यह ईर्ष्या उसे सैम्सन के प्रतिशोध लेने को बाध्य करती है। पर वह उस के शत्रुओ से वचन ले लेती है कि कोई भी शस्त्र उस के शरीर को स्पर्श

न कर सकेगा। अन्त में तो वह सैम्सन को फिलस्तीनों से अपना बदला लेने के लिए सहायता देती है, और स्वयं अपने प्रेमी के साथ ही मर जाती है। (यहाँ उक्त आख्यान बाइबिल में वर्णित घटना से भिन्न हो जाता है।) इस स्थल पर शरत् के प्रसिद्ध उपन्यास 'चरित्रहीन' की किरणमयी का उल्लेख होना भी आवश्यक है। किरण-मयी उपेन्द्र से प्रेम करती है, पर विवाहित और दृढ़मना उपेन्द्र उसे उस दृष्टि से नहीं देखता। इस पर प्रतिहिंसा की भावना से प्रेरित हो कर किरणमयी उपेन्द्र के छोटे भाई को, स्वयं उसे प्यार न करते हुए भी, अपने साथ बर्मा ले जाती है, जिस से उपेन्द्र का गर्वोन्नत मस्तक नीचे झुक जाये। पर इस प्रतिशोध की भावना से उस का उपेन्द्र के प्रति प्रेम रंचमात्र भी कम नही होता। कलकत्ते वापस आने पर जब उसे उपेन्द्र की रुग्णता का समाचार मिलता है तो वह अर्द्ध-विक्षिप्त हो जाती है, और एक हद तक नास्तिक होते हुए भी भगवान् से प्रार्थना करती है कि उपेन्द्र की सारी बीमारी उस के सिर पर आ जाये और वे स्वस्थ हो जायें।

यदि हम ध्यानपूर्वक उक्त उदाहरणों और आख्यानों का अध्ययन करें तो एक और तथ्य हमे इन सारी कथाओं मे समान रूप से मिलेगा : यह कि प्रेम को प्रतिहिसा मे परिणत करने मे असफल प्रेमी के रूप का अभिमान महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। रूप के गर्व को चोट पहुँचने पर, यौवन की अंजलि के अस्वीकृत होने पर तथा सौन्दर्य का जादू व्यर्थ हो जाने पर प्रेमी के मन में प्रतिशोध की आग और भी तीव्रता से प्रज्ज्वलित होने लगती है। ग्रीकों मे प्रेम और सौन्दर्य को पर्यायवाची माना जाता है। जिस व्यक्ति के पास पर्याप्त सौन्दर्य होता है उसे बाह्य सौन्दर्य की—बाह्य प्रेम की अपेक्षा नही होती। इसी लिए प्रायः रूपवान् व्यक्ति निर्मम और निष्ठुर अधिक होते है। रवीन्द्र की कविता 'उर्वशी', कीट्स की 'ला बेल देम साँ मर्सी', आस्कर वाइल्ड का उपन्यास 'द पिक्चर ऑव डोरियन ग्रे' उक्त तथ्य को पूर्ण रूप से पुष्ट करते है। जीवन और जीवन के प्रतिरूप साहित्य में लेडी मैकबेथ जैसे चरित्रों की कमी नहीं है जो अत्यन्त रूपवती होने के साथ-साथ निर्दय और निर्मम है। पर जब कभी इन रूप के जादू-गरों को बाह्य प्रेम की आवश्यकता होती है तो उन की अतृप्ति भीषण हो उठती है। तब उन की कामना की पूर्ति निश्चित रूप से होनी चाहिए। इसी लिए जब-जब पाश्चात्य पौराणिक आख्यानों मे (जिन में वीनस और एडोनिस, और केलिप्सो और ओडीसस के आख्यान सर्वाधिक प्रसिद्ध है) किसी आकाश की देवी ने किसी सौन्दर्यवान् पुरुष को काम-वासना से प्रेरित हो कर देखा है तो अनेक प्रकार से उसे यातना देने के पश्चात् भी उस ने अपनी कामनाओं को तृप्त ही करने की चेष्टा की है। ग्रीक और रोमन-साहित्य इस प्रकार की अनेक कथाओं से भरे है।

यही बात सैलोमी, डिलाइला और किरणमयी के प्रतिशोध के बारे मे सत्य है। चाँदनी रात मे सैलोमी का जो रूप-सौन्दर्य

आस्कर वाइल्ड ने अंकित किया है, वह अपूर्व है। इसी प्रकार डिलाइला का सौन्दर्य अजेय था। किरणमयी-जैसा सौन्दर्य तो सतीश ने 'न जीवित देखा न चित्रित'। उक्त आख्यानों से स्पष्ट है कि अजेय रूप का गर्व आहत हो कर किस प्रकार असफल प्रेम को प्रतिहिंसा में परिणत कर देता है।

तिष्यरक्षिता कुणाल की विमाता थी। पुत्र के उत्तरोत्तर विकसित रूप और यौवन ने माँ की काम-वासना को उत्तेजित किया। एक दिन निभृत-एकान्त पा कर तिष्यरक्षिता ने कुणाल के प्रति अपना प्रणय-निवेदन किया। कुणाल मे जितना सौन्दर्य था उतना ही शील और सुरुचि भी। उस ने अपनी सौतेली माँ के इस प्रस्ताव को अस्वीकृत कर दिया। इस अपमान की ज्वाला से दग्ध हो कर तिष्य-रक्षिता ने कुणाल के ऊपर मिथ्या आरोप लगा कर उस की दोनों आँखें निकलवा लीं और उसे नगर की सीमा से बाहर करवा दिया। ठीक इसी से मिलता-जुलता कथानक प्रेमचन्द के अपेक्षाकृत कम प्रसिद्ध उपन्यास 'निर्मला' का है। इस में भी अपने सौतेले पुत्र द्वारा यौवन की भेंट अस्वीकृत होने पर माँ उस से बदला लेती है। परन्तु उस का यह बदला कुछ मिथ्या आरोपों और पारिवारिक कष्टों तक ही सीमित है। उस मे कोई भीषण प्राणान्तक भावना नही है।

यहाँ इस सम्बन्ध में एक और बात की भी चर्चा आवश्यक है। यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि असफल प्रेम की प्रतिक्रियास्वरूप आत्मोत्सर्ग पुरुषों ने अधिक किया है और प्रतिशोध स्त्रियों ने अधिक लिया है। इस का प्रधान कारण शायद कदाचित् यही हो कि पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों का मन अधिक कोमल और भावुक होता है। किसी भी गहरी चोट से जितनी आसानी से उस का मन आहत हो सकता है उतनी आसानी से पुरुष का नही। इसी लिए साहित्यिक आख्यानों में प्रतिशोध डिलाइला, सैलोमी और किरणमयी जैसी नारियों ने लिया है, और आत्मोत्सर्ग डिकेंस के उपन्यास 'टेल आफ टू सिटीज' के नायक सिडनी कार्टन और गुलेरी जी की अमर कहानी 'उस ने कहा था' के नायक लहना सिह जैसे पुरुषों के भाग में रहा है।

प्रेम और प्रतिशोध की प्राकृतिक और नैतिक पृष्ठभूमि का अनायास ही विश्लेषण करते हुए अपने उपन्यास 'नदी के द्वीप' में अज्ञेय कहते हैं, पुराणों में बहुत कहानियाँ है। स्त्री कभी नही माँगती और जब माँगती हैं—प्रत्याख्याता स्त्री ने कभी पुरुष को क्षमा नही किया, सदैव शाप दिया है, और पुराणों में कहीं यह ध्वनि नहीं है कि वह शाप अनु-चित है। कही बल्कि यह स्पष्ट कहा है कि स्त्री माँगे तो न कहने का अधिकार पुरुष को नहीं है, शीलविरुद्ध है—माँग के औचित्य-अनौचित्य से परे—सब पुराणों का रोमांटि-सिज़्म है ? लेकिन पुराण बिलकुल रोमांटिक नही थे—उन की स्वच्छन्दता प्रकृति की स्वच्छ, स्वस्थ, आत्म-निर्भरता की स्वच्छन्दता थी, जिस में स्त्री भी उतनी ही स्वच्छन्द है जितना पुरुष, बल्कि अधिक, क्योंकि उस पर

प्रकृति का दायित्व है। कही भी प्रकृति के शासन में अस्वीकार का अधिकार नर का नही है, सर्वत्र मादा निर्णायिका है—क्योंकि वह माँ है।

भारतीय वाङ्मय के ऐसे कथानकों में से कच और देवयानी का कथानक सर्वाधिक प्रसिद्ध है। कच देवगुरु बृहस्पति के पुत्र थे। देवताओं के अनुरोध पर वे दैत्यो के पुरोहित शुक्राचार्य के पास सजीवनी विद्या सीखने के लिए गये थे। शुक्राचार्य की पुत्री देवयानी इस सौदर्यवान् एव नम्र युवक से प्रेम करने लगी। जब कच अपनी विद्या समाप्त कर के घर जाने को उद्यत हुआ तो देवयानी ने कच के सम्मुख विवाह का प्रस्ताव रखा। परन्तु कच ने उस रूपवती युवती के प्रेम-प्रस्ताव को यह कह कर अस्वीकृत कर दिया कि गुरु-पुत्री होने के कारण वह उस की बहन के समान है, और इस लिए वह उसे काम-दृष्टि से नही देख सकता। इस पर देवयानी बहुत क्रुद्ध हुई और उस ने कच को शाप दिया कि तुम ने मेरे यौवन का अपमान किया है इसलिए तुम्हारी सीखी हुई विद्या कभी तुम्हारे काम न आयेगी। इस प्रकार की एक कथा अर्जुन तथा उर्वशी की है जिस में उर्वशी के प्रेम को अर्जुन अस्वीकार कर देते हैं। और उर्वशी अर्जुन को शाप देती है कि कुछ समय के लिए उसे पुरुषत्व खो कर नर्तकियों के बीच में रहना पडेगा। यहाँ स्मरणीय है कि उर्वशी की प्रतिहिंसा अर्जुन के प्रति जागरूक होती है, परन्तु उस का मुख्य केन्द्र अर्जुन का वह पुरुषत्व है, जिसे वह याचना करने पर भी न प्राप्त कर सकी। इसी लिए उस का अभिशाप अर्जुन के पुरुषत्व को विनष्ट कर देने के लिए है।

फिर भी युरोपीय साहित्य की अपेक्षा मध्ययुगीन तथा आधुनिक भारतीय साहित्य में प्रतिहिंसात्मक प्रेम के चित्रणो का अपेक्षाकृत अभाव है। प्राचीन पुराणो में इस प्रकार के आख्यान मिलते है, यद्यपि ग्रीक और रोमन पुराणो की भाँति उन में भी इन का बाहुल्य नही है। हमारे पुराणो मे ऐसी भी नारी मिल जाती है जो पीठ पर अपने कोढी परन्तु कामेच्छु पति को चढा कर वेश्यालय तक ले गयी है। इस से अधिक आत्मोत्सर्ग नारी कर ही क्या सकती है?

जो भी हो, यह निश्चित है कि अपने जीवन-दर्शन के कारण भारतीय साहित्य में प्रतिहिंसा का भाव उतना प्रबल नही दिखाई देता। यहाँ उत्सर्ग के आदर्श की प्रधानता है, जिस के फलस्वरूप निराश एव असफल प्रेमी अपने प्रिय के लिए प्राण तक देने को प्रस्तुत है। प्रिय जहाँ भी रहे सुख से रहे, भले ही वह प्राप्त न हो सके—कुछ इस प्रकार की भावना से अधिकाश हिन्दी साहित्य अनुप्राणित है। भारतीय काव्य की आदर्श प्रणयिनी गोपियाँ ऐसा ही भाव व्यक्त करती हुई कहती है

जहँ-जहँ रहो राज करो तहँ-तहँ धरो कोटि सिर भार।
'सूर' असीस देत यह हम सुनु न्हात खसे जनि बार॥

या लगन लगाई लाल मगन बने रहो।

इसी प्रकार आसक्ति में अनासक्ति का विचित्र सामंजस्य हमें अपने साहित्य में स्थान-स्थान पर मिलता है। प्रिय किसी के भी वश में हो कर रहें पर सुखी रहें, यही कामना गोपियों की है। यह स्पष्ट है कि इस प्रेम में वासना की भयंकरता समाप्त हो जाती है और कभी तृप्त न होने वाली कामनाओं का पर्युत्थान हो आता है। हमारे जीवन और उस के प्रतिरूप साहित्य में मानवीय मनोविकारों को कभी प्रवल तथा असंयमित हो कर उभरने नहीं दिया गया, उन्हें सदैव एक अपूर्व शान्ति की ओर प्रेरित किया गया है। रत्नाकर की गोपियाँ कहती है :

ज्यों ज्यों वसे जात दूरि दूरि प्रिय प्रान मूरि,
त्यों त्यों धँसे जात मन-मुकुर हमारे में।

इस उक्ति में प्रतिशोध की ज्वाला नही है, आत्म-सन्तोष की शान्ति है, प्रिय-प्रेम की पराकाष्ठा है।

जैनेन्द्र ने एक स्थान पर कहा है, "पुरुष द्वारा नारी की जितनी उपेक्षा की जाती है उतना ही उस का पुरुप के प्रति आकर्षण वढ़ता जाता है। पर यदि पुरुप नारी का अपमान करता है तो वह उस की चुनौती के जवाव पर देवी से दानवी वन जाती है।" मनोविज्ञान के दृष्टिकोण से उक्त तथ्य सब देशो और सब कालो में समान रूप से सत्य रहा है। पर जैसा कहा जा चुका है, भारतीय जीवन और साहित्य अपनी कुछ विशिष्ट मान्यताओं के कारण इस प्रकार की अधिक कथाओं को जन्म न दे सका। प्रसाद के नाटक 'चन्द्रगुप्त' मे मालविका अपने भोले-भाले हृदय को बिना किसी के जाने चन्द्रगुप्त को समर्पित कर देती है। चन्द्रगुप्त उस के इस मौन समर्पण को नहीं पहचान पाता और यदि पहचान भी लेता है तो उस का मन इसे स्वीकार नहीं कर पाता, क्योंकि वह कार्नेलिया से प्रेम करता है। पर इस सरस उपेक्षा के बावजूद मालविका में अपने प्रिय के लिए आत्मोत्सर्ग की भावना इतनी प्रबल है कि वह अकेली चन्द्रगुप्त की रक्षा के लिए उस की शय्या पर सोती है, जहाँ चन्द्रगुप्त के धोखे में विरोधी दल के सैनिक उस का वध कर डालते है।

प्राय: ग्रीक और फ़ारसी कथा-साहित्य में प्रतिशोध का यह रूप भी मिलता है कि असफल प्रेमी या प्रेमिका अपने प्रणयास्पद को जादू के जोर से भेड़-वकरी जैसे किसी असहाय एवं अवश पशु का रूप दे कर उसे सदैव के लिए अपने पास रख लेते है। ऐसा करने से उन की प्रेम और प्रतिशोध दोनों ही भावनाओं की पुष्टि होती है। यह प्रतिहिंसात्मक प्रेम रचनात्मक है क्योंकि इस मे प्रेमी को किसी प्रकार की यातना देनें का प्रयत्न नहीं किया जाता। इस प्रकार का एक उपाख्यान हमें होमर के प्रसिद्ध महाकाव्य 'ओडेसी' में मिलता है, जिस के अनुसार ट्राय की लड़ाई से घर वापस आते समय ओडिसस के साथियों को सागरतट पर रहने वाली एक अर्द्धदेवी ने भेड़-वकरी बना कर अपने पास रख लिया था। पर इस में कोई सन्देह नहीं कि इस प्रकार के कथानकों में प्रतिशोध की ज्वाला दीप्त होने का मुख्य कारण वासना का अतृप्त

रहना है, प्रेम का तिरस्कृत होना नहीं। वस्तुत इन उपाख्यानों में शुद्ध प्रेम का तो अस्तित्व ही नहीं है।

सारांश यह कि जिस प्रेम में शरीर की भूख प्रधान है उस की असफलता, वन्य-पशुओं की भांति, अपनी इच्छा के केन्द्र को शारीरिक यातना देने की भावना में परिणत हो जाती है। जहाँ प्रेम का परिपाक हृदय और प्राणों में व्याप्त हो जाता है, वहाँ प्रेमपात्र द्वारा की गयी उपेक्षा या असावधानी हीन भावनाओं पर नियन्त्रण रखती है। इसी लिए पश्चिमी साहित्य में असफल प्रणयिनी भूखी सिंहनी बन जाती है जब कि हमारे साहित्य में प्राय वह प्रिय की मंगलाकांक्षिणी और तपस्विनी का रूप धारण करती है। तब उस के मन में निष्काम एव उदात्त वृत्तियों का उदय होता है। अपवाद दोनों साहित्यों में मिलते हैं।

[अक्तूबर १९५८]

दाम्पत्य-जीवन का मनोविज्ञान

इलाचन्द्र जोशी

●

सभी सभ्य देशों का दाम्पत्य मनोविज्ञान समान होता है। पाश्चात्त्य और भारतीय दाम्पत्य-जीवन के मनोविज्ञान में मूलतः कोई अन्तर नहीं है। सभ्य बनने के लिए यह पहली शर्त है कि व्यक्ति सामाजिक विधि-निषेधों को पूरी मान्यता देता हुआ, दाम्पत्य-जीवन के बन्धनो को पूरी तरह अपनाता हुआ अपने को एक सामाजिक प्राणी सिद्ध करे। सभ्य समाज की सारी व्यवस्था मूलतः इस बात पर निर्भर करती है कि प्रत्येक विवाहित व्यक्ति दाम्पत्य-जीवन की सुरक्षा का ध्यान सब से पहले रखे।

इस प्रकार हम देखते है कि प्रत्येक सभ्य समाज ने अपने सदस्यों को इस बात के लिए विवश कर रखा है कि उन मे से प्रत्येक व्यक्ति, विवाह का ढोल गले मे पड़ कर बँध जाने के वाद, उसे आजीवन निभाता चला जावे। इस वन्धन के वाद फिर न पति किसी दूसरी स्त्री से किसी प्रकार का प्रेम-सम्वन्ध स्थापित कर सकता है और न पत्नी ही किसी दूसरे पुरुष को (एक पति के रहते) अपना जीवन-संगी वना सकती है।

इधर प्रेम एक ऐसी [illegible] व्यक्ति के ज्ञान में या अज्ञान [illegible] परिस्थितियों के परिवर्तन [illegible] अपनी रुचि भी बदलती [illegible] प्रत्येक व्यक्ति की अव[illegible] पात्र (या पात्री) से [illegible] करने के लिए बेचैन [illegible] या पात्री के साथ [illegible] निभाते चले जाने [illegible] समाज-विद्वेषी, [illegible] उच्छृंखल प्रवृत्ति [illegible] चक्की बँधे रहने [illegible] होती है। [illegible] तर,

पर इस [illegible] कटुता निभाने की क[illegible] ी है। समाज में [illegible] कता से प्रथा, नाना [illegible] ते चले विरोधों के [illegible] ती है। क़ायम है [illegible] तिपरि- थी। मनुष्य [illegible] परिचय [illegible] ा सहे [illegible] ऊव भी

तत्काल असामाजिक करार दे दिया जाता है। और समाज से पूर्णत कट कर रहने का साहस, कुछ थोडे से अपवादो को छोड कर, किसी भी सभ्य मनुष्य में आज भी नही पाया जाता।

समाज ही एक ऐसी शक्ति है जो अव-चेतना में प्रतिपल उठती रहने वाली प्रेम-सम्बन्धी उच्छृंखल और विद्रोही प्रवृत्ति को सब समय काबू मे रखे रहती है।

अतएव हम देखते है कि दाम्पत्य-जीवन के सुदृढ और स्थायी बन्धन के बिना सभ्य समाज टिक नही सकता और सभ्य समाज के सामाजिक नियमो के रहते प्रेम-प्रवृत्ति को पूर्ण चरितार्थता सम्भव नही है।

यह बात आज के मनोवैज्ञानिक युग में प्रत्येक विवाहित व्यक्ति को सुस्पष्ट स्वीकार कर लेनी चाहिए कि दाम्पत्य-जीवन की एकरसता को अन्त तक निभाते चले जाने के अतिरिक्त और कोई चारा उस के पास नही है और यह भी कि दाम्पत्य-जीवन स्त्री-पुरुष के मुक्त प्रेम-जीवन के लिए एक अनिवार्य बाधा है।

आज के बुद्धिवादी के मन मे यह प्रश्न सहज ही उठता है कि यह इन दो में-से किस एक को अपनाये। क्या वह सभ्य समाज का एक अविच्छिन्न अंग बने रह कर, दाम्पत्य-जीवन की निर्विचित्रता का भार अन्त तक चुपचाप ढोता चला जाये? या इस बन्धन को एकदम अस्वीकार कर के मुक्त प्रेम-सम्बन्ध स्थापित करता रहे?

प्रत्येक अनुभवी व्यक्ति जानता है कि सभ्य समाज का स्थायी सदस्य बनने से इन्कार करने और निर्बाध और निर्द्वन्द्व रूप से नये-नये प्रेम-सम्बन्धो के लिए छटपटाते रहने पर भी वह अपनी मूलगत प्रेम प्रवृत्ति को सहज रूप से तुष्ट और चरितार्थ करने में अपने को असफल पाता है। यदि दाम्पत्य जीवन के दायित्व से छुटकारा पाने पर वह मुक्त प्रेम-सम्बन्ध स्थापित करने लगता है तो पग-पग पर उसे कुण्ठा, निराशा और अशान्ति का शिकार बनना पडता है और समाज के प्रचण्ड विरोध और बहिष्कार का सामना करना पडता है। ऐसी स्थिति मे अधिकतर यही देखने मे आता है वह या उस की प्रेमिका को निरन्तर सामाजिक विरोध से तग आकर या तो आत्महत्या करनी पडती है, या जीवन-भर सुख और शान्ति के हनन का फल भुगतना पडता है।

फल यह देखने मे आता है कि दाम्पत्य जीवन ही अन्त मे एक अनिवार्य सत्य बनकर रह जाता है, जिस से सभ्य समाज का कोई भी व्यक्ति आसानी से मुँह नही मोड सकता।

दाम्पत्य-जीवन आदिम सभ्य मनुष्य का एक बहुत बडा आविष्कार है। पर अवि-काशत यह एक वज्र-अभिशाप बन कर क्या रह जाता है, यह बहुत गम्भीर और आव-श्यक प्रश्न है।

पहला कारण तो यह है कि मनुष्य की मूलगत प्रेम प्रवृत्ति एकरसता और निर्वि-चित्रता के स्थायी वातावरण में कभी नहीं पनप सकती। सेक्स की तुष्टि के लिए मान-वीय अवचेतना नित्य नया परिवर्तन चाहती

है, जब कि दाम्पत्य-जीवन अपने क्रम में कोई भी नया परिवर्तन लाने में अक्षम है। वह अपरिवर्तनशीलता, 'स्टेटस-को', स्थायित्व और प्रवाहहीनता मे ही पनप पाता है। पशुत्व से मनुष्यत्व की स्थिति प्राप्त करने का यह मूल्य चुकाने के लिए मनुष्य बाध्य है।

अशिक्षा, अन्ध-विश्वास और पौराणिक संस्कारों के पिछले युगों में इस देश में दाम्पत्य-जीवन अपेक्षाकृत सुखी था। कारण यह था कि एक मात्र पति ही सती की गति है, यह विश्वास हमारी अशिक्षित नारियों के अन्तर्मन में इस गहराई से गड़ा हुआ था कि पति की कोई भी ज़्यादती पत्नी शान्त भाव से सहन कर लिया करती थी। तब उस के मन में न कोई महत्त्वाकांक्षा रहती थी और न पति की वेश्या-प्रेमिका के प्रति ईर्ष्या की आग ही उस के भीतर उस रूप में सुलग पाती थी जिस रूप में आज की स्वाभिमानिनी और सुशिक्षिता नारी के भीतर पति की छोटी से छोटी त्रुटियों के कारण दहक उठती है।

आज जब स्त्री-पुरुष के समान अधिकार की बात बहुत जोर पकड़ चुकी है, तब अधिकांश लोग यह अनुमान करने लगे है कि आज के दाम्पत्य-जीवन का स्तर बहुत ऊँचा उठ गया है और लोग जानने लगे है कि दाम्पत्य-जीवन को किस प्रकार सुखमय बनाया जा सकता है, जब कि वास्तविकता यह है कि आज दाम्पत्य-जीवन, क्या भारत में और क्या दूसरे सभ्य देशों मे, पहले की अपेक्षा अधिक अशान्तिपूर्ण और अव्यवस्थित हो गया है। आज स्त्री और पुरुष दोनों के भीतर व्यक्तिवादी प्रवृत्तियाँ बहुत अधिक विकसित हो उठी हैं और सामाजिक व्यवस्था की चिन्ता कहीं नहीं दिखाई देती। इस लिए स्त्रियाँ अत्यधिक महत्त्वाकांक्षिणी हो गयी हैं और पुरुष समाज-विद्रोही और उच्छृंखल। फल यह देखने में आता है कि नियमित दाम्पत्य-जीवन आरम्भ होने के पहले भावी पति-पत्नी के बीच जो प्रेम का ज्वार उठता है वह विवाह-बन्धन में बँधते ही धीरे-धीरे विलीन होने लगता है। तब न तो पहले की तरह किसी भी बात में वह उल्लास, औत्सुक्य और कुतूहल शेष रह जाता है और न जमीन और आसमान के कुलाबों को मिलानेवाली तरंगें ही दोनों मे से किसी के भी मन में उठ पाती हैं।

अनुभवियों का कहना है कि विवाह-बन्धन मे बँधने के पहले ही मिलन के बाद से पति-पत्नी के बीच पारस्परिक उदासीनता के बीज पड जाते है। शेली के शब्दों में 'लब्स सैड सेटाइटी' का आरम्भ हो जाता है। बाहर से उस प्रेम पर कैसा ही मुलम्मा चढ़ाने के प्रयत्न क्यों न किये जायें, भीतर-ही-भीतर, परस्पर खीझ, अवज्ञा, ईर्ष्या, ऊब और कटुता के बढ़ाने के लिए जमीन तैयार हो जाती है। और ज्यों-ज्यों एक-दूसरे की मानसिकता से पति-पत्नी अधिकाधिक परिचित होते चले जाते है, त्यों-त्यों उबास बढ़ने लगती है। एक पुराने अनुभवी ने कहा है कि 'अतिपरिचयादवज्ञा'। अर्थात् एक-दूसरे से परिचय बढ़ते रहने के साथ ही पारस्परिक ऊब भी

उसी परिमाण में बढती चली जाती है—कुछ ज्ञात में और कुछ अज्ञात में। द्विजेन्द्रलाल राय ने अपने एक व्यंग्यात्मक गीत में कहा था कि प्रेम चीज़ तो बड़े मजे की है (प्रेमटा कि मजार जिनिष !) पर यह वैवाहिक जीवन आरम्भ होने के कुछ ही समय बाद पत्नी के 'ओगो शोनो !' (एजी, तनिक सुनना !)—इस कथा के साथ ही 'फिनिश' हो जाती है। और तभी से दाम्पत्य-जीवन की मालगाडी का किसी तरह ढकेलने चले जाने—उसे किसी तरह निभाने—का काम आरम्भ हो जाता है।

जैसा कि मैं बता चुका हूँ, पिछले जमाने की अशिक्षिता और पौराणिक सस्कारग्रस्ता पत्नी के साथ तो यह 'निभाये चले जाने' का काम तो भी अपेक्षाकृत आसान था, पर आज की आधुनिका के साथ यह समस्या अत्यन्त जटिल हो उठती है और 'निभाये चले जाने' का दायित्व अत्यन्त विकट, असहनीय और पेचीदा बनता चला जाता है, वह पग पग पर पति को 'तंग' करती है, कोसती रहती है, कचोटती है, अपने समान अधिकार के नाम पर आप को पूर्णत अपनी मुट्ठी में कस कर कुचल सकने की क्षमता रखती है आप के स्नायु-तन्तुओं को इस हद तक कसने के प्रयत्नों में बराबर लगी रहती है कि मस्तिष्क का केन्द्रीय तार ही टूटने लगता है। आप की कोई भी चालाकी उस के वारों से बचने में आप की सहायता नहीं कर पाती। प्रकट में भले ही आप का कोई अपराध न हो, पर आप की ऊब और उदासीनता से वह भली भाँति परिचित रहती है, इस लिए आप की कोई भी हरकत उस के लिए अपराध बन जाती है—चिकनी-चुपडी बातों से उसे प्रसन्न करने का आप का कोई भी प्रयास कारगर नहीं हो सकता।

इस प्रकार दाम्पत्य-जीवन की गाडी किसी प्रकार घिसटती चली जाती है। दूसरा बडा झटका इस गाडी में तब लगता है जब आप की पत्नी पहले बच्चे को जन्म देती है। आप यदि भावुक, चिन्तक और यथार्थवादी भी हैं तो आप के जीवन की कठिन परिस्थितियों में जीते हुए आप यह नहीं समझ पाते कि बच्चे के पैदा होने से घर में इतनी बडी खुशियाँ क्यो मनायी जा रही हैं, जब कि एक नये मानव-प्राणी के पालन-पोषण के बढते हुए खर्चे की कल्पना से आप की चिन्ता बढती चली जाती है। फिर भी जब आप नवजात शिशु की आँखों पर नाचने वाली मुसकान देख कर और मुँह से निकलने वाली किलकारियाँ सुन कर दाम्पत्य-जीवन के एक नये अनुभव से पुलकित हो उठते हैं, और पत्नी को भी प्रसन्न देखते हैं, तो कुछ समय तक आप को लगता है जैसे खोया हुआ प्रेम आप ने फिर से पा लिया। पर जल्दी ही आप का भ्रम दूर हो जाता है और आप देखते हैं कि जिस नारी पर आप इतने दिनों तक अपना एकच्छत्र अधिकार माने बैठे थे, उस पर एक नन्हें से शिशु ने पूरा अधिकार जमा लिया है। आप की अवचेतना के अन्तरतम कोने से, बच्चे के प्रति लगाव के साथ ही, एक हलकी और बेमालूम-सी ईर्ष्या और

विद्वेष की भावना घर करने लगती है। यह वह कष्ट-कल्पित विद्वेष नही है, जिस के सम्बन्ध मे फ़ायड ने कहा है कि वह बच्चे के मन में बाप के प्रति सेक्स-सम्बन्धी कारणों से होता है। नहीं, यह एक ज्वलन्त यथार्थ और शाश्वत सत्य है, जो बच्चे के प्रति बाप के स्नेह के समानान्तर चलता रहता है।

स्नेह और विद्वेष के मिश्रण से उत्पन्न इस नयी अनुभूति के बल पर आप, बीच-बीच में पति-पत्नी के आपसी मनमुटाव के बावजूद, कुछ समय तक दाम्पत्य-जीवन के वरदान और अभिशाप दोनों को भोगते हुए, अपेक्षाकृत धैर्य से दिन बिताते चले जाते है। पर डेढ-दो वर्ष बाद जब बच्चे की आवश्यकताओं की तुरन्त पूर्ति के लिए आप से निरन्तर झगड़ती हुई आप की श्रीमती जी, एक नये बच्चे को जन्म दे बैठती है, तब आप उस समय तो किसी तरह कलेजा थाम कर रह जाते है, पर आगे नही। क्योंकि आप स्पष्ट देखते है कि जो एकच्छत्र अधिकार द्विछत्र बन गया था, अब त्रिछत्र बन कर तैतीस प्रतिशत और बॅट गया है।

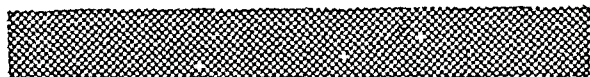
इधर तो आप का यह असन्तोष और उधर श्रीमती जी दो-दो बच्चो की सेवा मे दिन-रात प्रतिक्षण लगे रहने के कारण अपने शारीरिक स्वास्थ्य के साथ ही अपना मानसिक स्वास्थ्य भी धीरे-धीरे बेमालूम ढंग से, खोती चली जाती है। साथ ही आप के प्रति उन की अकारण या सकारण ईर्ष्या दिन दूनी और रात चौगुनी होती जाती है। आप की पत्नी को यह स्पष्ट महसूस होने लगता है कि दो बच्चो की मॉ बनने के कारण उस का स्वास्थ्य नष्ट हो चुका है और अब वह अपने सौन्दर्य-प्रसाधन से आप को रिझाने में असमर्थ है। इस कल्पित या वास्तविक अनुभूति की प्रतिक्रिया से उस के चेहरे मे और अधिक रुखाई आने लगती है और मन और अधिक खराब हो जाता है। फल यह होता है कि उन की (अधिकांशतः कल्पित) ईर्ष्या से खीझ कर आप सचमुच में किसी दूसरी नारी की ओर झुकने लगते है, जो आप की आदिम सेक्स-प्रवृत्ति को पूरी मात्रा में जगा सके।

और तब दो एक-दूसरे से खीझे हुए प्राणियों के परस्पर विष-वमन के फलस्वरूप नारकीय अशान्ति के रहस्यमय दरवाजे, अन्धकार-लोक के भीतर से, एक-एक करके खुलने लगते है। और आप दोनो शिक्षा, संस्कृति और बुद्धिवादिता का मुखौटा उतार कर एक-दूसरे को खा जाने के लिए हिंसक पशुओ से भी विकट और भयानक बन जाते है।

पिछला जमाना होता तो यह भी कोई बहुत बड़ी समस्या नही थी। पर आज के युग में यह बात एक अत्यन्त विकट समस्या के रूप मे आप के सामने आती है। आज तलाक़ का युग है और जिस प्राणी के साथ आप को विद्वेष की विषैली साँसो के बीच रहना पड़ रहा है, उसे तलाक़ दे कर छुट्टी मिल सकती है, ऐसा आप सोचते है। कलह दिन पर दिन उग्र से उग्रतर रूप धारण करता चला जाता है, और अन्त में आप आजीवन मुक्ति का निश्चित उपाय सोचने लगते है।

आदिम स्रोता की उत्पत्ति का मूल यही तथ्य है। आदिम मनुष्य को अपनी इस बहुगामिनी प्रवृत्ति के कारण अत्यन्त मानसिक उद्वेग, अशान्ति और बहुत सी व्यावहारिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था। यही कारण था कि उसे अपनी इस ध्वसक प्रवृत्ति को दमित करके उसे एक स्वस्थ सामाजिक जीवन के अनुकूल नियन्त्रित और नियमित करना पड़ा। इस से वह मूलगत प्रवृत्ति तो जड से निराकृत न हो सकी, पर जीवन, समाजबद्ध, सुचालित, सुव्यवस्थित और महनीय बन गया। इसी एक कारण से मनुष्य नितान्त आत्म-केन्द्रित होने से बच गया, और समाज के व्यापक हित के लिए आत्म-त्याग करना सीख गया।

[दिसम्बर १९६५]



नटनागर शम्भु महाराज

कोमल कोठारी

दीपावली का दिन था। महाराज के शिष्य और शिष्याएँ शुभ कामनाएँ देने के लिए उन के घर इकट्ठे हो रहे थे। भाई के साथ मै भी गया था। महाराज एक खूबसूरत-सी रजाई ओढ़े बैठे थे। शिष्य आ कर चरण छूते और एक ओर को खडे हो जाते। महाराज का एक हाथ आशीर्वाद देता उठता और फिर एकाएक व्यंग्य और सहजता-भरी हँसी उन के कण्ठ से फूटती चेहरे पर बिखर जाती।

तीन दिन उस के बाद मैं उन के समीप रहा। बार-बार उस योरोपीय लेखक की वह बात मुझे याद आयी और निश्चित प्रतीत की रेखा-सी मन पर गड़ती गयी कि हिटलर को यदि हँसना आता तो द्वितीय महायुद्ध-जैसा नर-संहार कभी न करता। हँसने के लिए मनुष्य को निरा सहज और सहानुभूतिमय व्यक्तित्व बनाना पड़ता है, उस मे कुटिलता या वक्रता रह ही नहीं पाती। और शम्भु महाराज तो मानो 'हँसी' के ही लिए बने हों।

उन के बचपन को लखनऊ का हवा-पानी और वातावरण मिला। इस लिए भाषा में एक नफासत और रवानगी तो आयी है, शिष्टाचार भी रोम-रोम पर ऐसा बस गया कि हरदम लगता कहीं दरबार में बैठे हैं। फिर बात करने का ढंग उन का अपना था ही, जिस में 'वार्तालाप' मुँह के बोलों तक ही सीमित न रहती बल्कि आवश्यकतानुसार हाव-भाव और आकृति-इंगितों का सहारा भी अपने संग के लिए आपोआप समेट लेती थी।

पहले ही दिन मन को यह तो स्पष्ट हो गया कि इतनी-इतनी ख्याति और प्रशंसा भी इस प्रकार की सरल मानवीयता को नष्ट नहीं कर सकी है, वह ज्यों की त्यों बनी है। इस लिए बिना किसी भय या भूमिका के मैं ने सीधे ही कहा, "महाराज, मैं आप से कत्थक नृत्य के बारे में कुछ जानना चाहता हूँ।"

एक मुक्त हँसी हवा में बिखरी और थिरकती हुई बड़ी-बड़ी गोल आँखों से मेरी ओर देखते हुए उन्होंने कहा, "देखो जी, कत्थक वत्थक नृत्य-जैसी कोई चीज नहीं। हमारा परिवार नटवरी नृत्य नाचता है, मैं भी वही जानता हूँ। यह कत्थक नाम तो आजकल चल निकला है, जो ठीक नहीं।"

मेरा सहज प्रश्न हुआ, "क्यों?"

"क्यों।" महाराज फिर हँसे, और इस हँसी में विचारों का गाम्भीर्य और इतिहास का विनोद जैसे दोनों घुले हुए थे, "तो पहले यह जान लो कि नृत्य है क्या, मनुष्य क्या नाचता है, कब नाच उठता है।"

सहज ही घड़ी पर उन की आँख गयी। पूछा, "कहीं जाना तो नहीं है घूमने घामने?"

कहाँ जाना होता। मैं तो आया ही यहाँ था। और महाराज ने बताना शुरू किया—

"तुम्हें जब खुशी होती है या बहुत दुःख, या जब मन किसी परिस्थिति की विचित्रता से व्याकुल हो उठता है, तो अंगों की बनावट में आपोआप एक विशेष रूप भाव आ जाता है न? मान लो, तुम्हें दस-बीस लाख की लाटरी मिल गयी। जानने के साथ ही तुम ताली बजा उठे। जी का कोना-कोना उमग पड़ा, और तुम भाग चले किसी को सुनाने के लिए। सुनाते समय आँखों से कैसी खुशी छूटती होती है, देह में एक सुखद सिहरन दौड़ जाती है, और हाथ-पाँव, अंग-अंग उस भाव के अनुकूल रूप लेता मुखरित हो पड़ता है। बस समझ लो, ये भावनापूर्ण अंग-भंगियाँ और आकृतियाँ ही नृत्य की जननी हैं।

"नृत्य और कुछ नहीं, मनुष्य के विभिन्न भावों से उद्भूत शरीर-संचालन की संगठित क्रिया-मात्र है। तुम लेखक हो अपनी भाषा के द्वारा तुम भी यही करते हो। भाषा विचारों और भावों को वाणी के माध्यम से व्यक्त करती है, नृत्य उन्हें अंग-संचालन द्वारा व्यक्त करता है। हाँ, जिस प्रकार किसी भाषा को न जानने के कारण हम उस में व्यक्त किये गये भावों को नहीं समझ सकते उसी प्रकार नृत्य की भाषा जाने बिना नृत्य को भी नहीं समझ पायेंगे।"

एक क्षण को महाराज रुके और जैसे कुछ सोच कर उसी रौ में कहते चले गये, "मगर यह जरूर है कि भावों को समझने के लिए तुम्हारी भाषा की अपेक्षा नृत्य को अधिक सुविधाएँ हैं। क्योंकि प्रेम, क्रोध, ईर्ष्या, दुःख, सुख, मन का कोई भाव व्यक्त करने के लिए विश्व में कहीं भी मनुष्य की लगभग एक-सी ही प्रतिक्रिया होती है। लन्दन दिल्ली, तोक्यो-टिम्बक्टू कहीं हो, किसी को क्रोध आयेगा तो मुँह लाल हो जायेगा, मांस-पेशियाँ तन जायेंगी, देह काँपने सी लगेगी। कोई भी देखते ही कह देगा यह क्रोध का भाव है। समझे न। इसी लिए मैं ने कहा, तुम्हारी

भाषा से नृत्य की भाषा समझने में कठिनाई कम है।"

महाराज अपनी बात समझा रहे थे। मेरी चेतना उन के एक-एक वाक्य को आकार दे रही थी और उन के भावो के चित्र शृंखला-बँधे आँखों के आगे उगते-उतराते चले जा रहे थे। पिछले दो-चार बरसों में जो कुछ इस विषय पर पढ़ा जाना था सब मूर्त ही नहीं, जैसे जी उठा था। और सहज ही विश्व के महान् अभिनेता चार्ली चैपलिन का मुझे स्मरण हो आया।

चार्ली चैपलिन पहले मूवीज़ में आये। अपनी उन फिल्मों से उन्होने अँगरेज़ी भाषा-भाषी देशों मे ही नही, अफ्रीका और अरेबिया-जैसे देशों की जनता के मन मे भी स्थान बना लिया था। वह जादू उन के इंगितों मे ही रहा जिस ने उन्हे यह गौरव दिया। मूवीज़ का स्थान जब टाकीज़ ने लिया तो बहुत समय तक चार्ली चैप्लिन ने उन्हे नही अपनाया। उन का मत था कि 'बोलने' से अभिव्यक्ति की गहराई मे फ़र्क़ आ जायेगा और सब लोग समझ भी न पायेगे। यही बात तो इस समय शम्भु महाराज अपनी तरह से बता रहे थे।

महाराज ने एक बार अपने आस-पास देखा और कहते गये, "तो भाई, नृत्य का मूल हमारे नित्य के भावावेगों से उत्पन्न होने वाली शारीरिक क्रिया या प्रतिक्रिया मे है। हाँ, प्रत्येक वाक्य जैसे साहित्य नहीं होता, उसी प्रकार प्रत्येक शारीरिक क्रिया भी नृत्य नहीं होती। भाषा और व्याकरण तो अनिवार्य है ही, साहित्य कहलाने के विषय का प्रेरणादायी और समाज पर प्रभाव डालने वाला होना भी आवश्यक है, इसी प्रकार नृत्य के लिए लय, ताल और तत्कार का ज्ञान आवश्यक है। इन्हीं तत्त्वों के आधार पर विभिन्न विषयों और भावों को कलात्मक रूप से व्यक्त किया जाता है। जिसे तुम कत्थक नृत्य कहते हो उस नटवरी नृत्य का मूल आधार यही है।"

जैसे सम आया हो, यों कहते-कहते यहाँ एकदम रुक कर महाराज ने भर नजर मेरी ओर देखा। मैं सिहरा। समझा, शायद वह देख रहे है कि उन की बात मेरे मन मे बैठी या नही। मै ने तत्काल कहा, "जी हाँ आप की एक बात मैं समझ गया, आपने..."

बीच मे ही ज़ोर से हँसते हुए वह बोले, "नहीं नहीं, यह बात नही समझ मे तो आ ही जाती।" फिर एक पलक मारते को गम्भीर हो कर मेरे भाई से कहने लगे, "देखो जी, तुम से कहीं अच्छा यह तुम्हारा भाई नाच सकता है। नृत्य के लिए ऐसे ही चेहरे की आवश्यकता रहती है जैसा इस का है: मन का हरेक भाव सहज ही इस के चेहरे पर झलक आता है। रोज ही तो तुम लोगों से यही करने और साधने को कहता हूँ।"

केशव मेरा छोटा भाई है। एक वर्ष से महाराज के साथ है। इस समय की महाराज की बातें सुन-सुन कर चकित हो रहा था कि नृत्य की ऐसी व्यवस्थित व्याख्या आज कैसे दे सके महाराज। कभी पहले तो नृत्य सिखाते हुए भी इतने विश्लेषणात्मक ढंग से कोई बात नहीं कह पाते थे। मै स्वयं सोच मे पड़ चला

था कि महाराज तो बस साक्षर भर हैं, फिर भी ऐसी सरल, सुबोध और सम्पूर्ण व्याख्या इस कठिन कला की।

महाराज मुसकराते हुए अपने में खो-से चले थे। तभी मुझे याद आया और महाराज से बोला, "अभी तो दो बातें और बताना है आप को : मनुष्य क्यों नाचता है, और कब नाचता है।"

फिर उन की एक हँसी समूचे वातावरण को लहरा गयी। जो चारेक जन वहाँ बैठे थे, सँभल गये। और महाराज बताने लगे—

देखो भाई, मनुष्य क्यों नाचता है इस का आधा-एक उत्तर तो मैं दे चुका। क्योंकि नृत्य को जब हम एक प्रकार की सहज अभिव्यक्ति मान लेते हैं तो मनुष्य इस रूप में भी अपनी बात कहने का आपोआप प्रयत्न करता है। यही नृत्य का कारण है। और किसी एक ही माध्यम से अपनी बात कहने में भी मनुष्य को सन्तोष नहीं होता। इसी लिए वह संगीत, चित्र, मूर्ति, स्थापत्य, काव्य आदि ललित कलाओं का भी उपयोग करता है। यह कलापूर्ण विविधता सृष्टि की नाना रूपात्मक छायाओं को ग्रहण करती है। सच में तो किसी एक कला मे यह शक्ति-सामर्थ्य भी नहीं है कि सम्पूर्ण सत्य के समस्त रूपों को व्यक्त कर सके। इसी लिए नृत्य का अपना महत्त्व है, वह भी एक आवश्यकता है, उस का भी एक अभिव्यंजना-रूप है। और इसी लिए जैसे अन्य कलाएँ मनुष्य को आनन्द देती हैं, नृत्य भी देता है। अब रही तुम्हारी तीसरी बात : मनुष्य कब नाचता है।

महाराज रुके। मुझे लगा जैसे सब तरफ़ से खिंच कर, अँधेरे में को सिमटा हुआ किसी सिनेमा-हाल में चित्र देख रहा था और रील सहसा टूट गयी। सँभलूँ-सँभलूँ कि महाराज का प्रश्न कानों में पड़ा, "क्यों, तुम्हारे किसी आत्मीय की मृत्यु हो जाये और तब कोई नर्तक आ कर कहे, मैं आप को एक सुन्दर नृत्य दिखाना चाहता हूँ, तो तुम्हे कैसा लगेगा ?"

जो लगेगा वही मेरे मुँह से निकला, "बुरा लगेगा, शायद उसे दो बातें भी सुना बैठूँ।"

केशव की ओर एक बार देख कर और होठों की हँसी आँखों से भी बिखेरते हुए महाराज बोले, "यही तो। मनुष्य तभी नाचता है जब उस का मन स्वस्थ होता है, उल्लास का वातावरण रहता है, और दूसरे के अनुभव देखने-समझने के लिए वह मानसिक रूप से तैयार होता है। देखते हो न, अपने यहाँ सामूहिक नृत्य-गान त्योहारों पर होते हैं और त्योहार ऐसे ही समय आते है जब ऋतु में आनन्द की लहर होती है और धरती माँ अपना फसलों का वरदान लिये सामने आ रहती है। कठोर परिश्रम के दो कालों के बीच मनुष्य के लिए जो थोड़ा-सा विश्राम का अवसर मिलता है, बस वही उस का नृत्य उमड़ उठता है। नृत्य के लिए उल्लास-आनन्द का भाव और वातावरण होना ही चाहिए।"

मन को जैसे आघात लगा हो, मेरी

ऐसी मुख-मुद्रा देखते ही महाराज का सिगरेट केस की ओर को बढता हाथ रुक गया और गम्भीरता और हँसी के घुलते-मिलते भाव के स्वरो में उन के मुँह से निकला, "क्यो, क्या हुआ ?"

एक बार को तो मै कुछ कह न सका। शायद कहते सकुचा रहा था। पर जब सभी की दृष्टि अपने चेहरे पर गडती देखी तो मै कह ही उठा, "आप क्या नृत्य को आनन्द और मनोरजन का ही साधन मानते है, आत्मिक उन्नति का नही ?"

कच् से दियासलाई की तीली मसाले पर पटी और सिगरेट के ढेर से धुएँ के पार से अपनी आँखें मेरी आँखो में डालते हुए हँसते-हँसते महाराज बोले, "कोमल, जिन्हें तुम कत्थक नृत्य कहते हो, ये नटवरी नृत्य तुम ने देखे तो है। क्या विषय रहता है इन नृत्यो का ? कृष्ण लीला, रामावतार, गणेश महिमा, अन्य देवी-देवताओ के कल्याण-रूप-भावो का अभिनय यही सब न ? भारत की परम्परा में देवी देवताओ के इन सब स्वरूपो का सामाजिक अर्थ है और उस अर्थ में आत्मिक उन्नति का सन्देश है। इस लिए नटवरी नृत्य तो है ही आत्मिक उन्नति का साधन, सन्देश-वाहक।"

कुछ देर के लिए कमरे में सन्तोष की थकान-जैसा मौन छाया रहा। सभी चुप थे, पर जैसे जो सब सुना था उसे मन की मजूषाओ में सहेजते समेटते हुए। महाराज भी खिडकी के बाहर को देखते हुए किसी विचार में थे सिगरेट जल रही थी, जल रही थी।

मौन को तोडते हुए मै ने कहा, "महाराज आप से एक विशेष निवेदन कर सकता हूँ क्या ?"

"बोलो, बोलो।"

मै ने कहा, "अपने यहाँ इस समय नृत्य की शास्त्रीय पद्धतियाँ चार है उत्तर भारत की कत्थक जिसे आप नटवरी नाम देते हैं और मणिपुरी, तथा दक्षिण भारत की कत्थ-कली और भारत नाट्यम। पिछली तीनों पद्धतियो पर पुस्तक साहित्य मिल जाता है जिस से समझने-परखने में बडा सहारा रहता है। कत्थक नृत्य पर कोई साहित्य नही है। इतना ही नही, उस का जैसे व्यवस्थित रूप भी नही है। यह अभाव उस की शिक्षा और प्रसार में भी बाधक है। आप इस अभाव की पूर्ति करा दें तो इस पद्धति की बहुत सेवा होगी।"

महाराज गम्भीर हो गये। फिर केस से दूसरी सिगरेट निकालते हुए बोले, "देखो भाई, लिखना मुझे नही आता, बातें जानता हूँ, यह भी जानता हूँ कि जो बता न दूँगा उसे फिर कोई बता सके—न बता सके या कब बता सके। कुछ लिखा हुआ हो इस की जरूरत है। पर वह कैसे हो, कौन करे, यह मै नही जानता।"

कुछ देर सिर के ऊपर को उठते जाते धुएँ के अनाकार आकार देखते रहे, फिर बोले, "तुम्हें तो केशव ने बताया होगा कि हमारे घराने में कई पीढियो से सदा दो भाई विशेष नृत्य प्रतिभा के होते आये हैं। यह भी परम्परा रही है कि एक नटवरी नृत्य के

शैलीपक्ष में विशेषता लेता और दूसरा अभिनयपक्ष में। मेरे बड़े भाई और गुणवान् गुरु श्री अच्छन महाराज ने शैली-पक्ष को लिया है, मैं ने अभिनय-पक्ष को। उन्होंने नटवरी शैली में नये ही प्राण फूँक दिये। सारी पद्धति को तत्कार में बाँध दिया, और पाँव के जितने भी काम हो सकते थे उन के सैकड़ों रूप बना कर नृत्य को एकदम व्यवस्थित कर दिया। इन तत्कारों को सीखने के बाद कोई भी नटवरी नृत्यकर्ता वर्णमाला, शब्द और वाक्य की सीमा से निकल कर स्वयं कुछ 'लिखने' योग्य बन जाता है। मैं—"

बीच में ही मैं पूछ उठा, "तो आप ने भी तो अपने अभिनय-पक्ष में बहुतेरा विकास परिवर्तन किया होगा ?"

"जरूर। नृत्य का मुख्य गुण है लास्य, और आजकल जो नृत्य होता है उस में इसी का अभाव रहता है। अंगों के संचालन में झटके, असुन्दरता, विकृतियाँ दिखाई पड़ें तो नृत्य ही क्या। मैं ने नटवरी के ओजपूर्ण और तीव्र पद-संचालन की क्रिया में लास्य का भाव लाने का प्रयत्न किया है। देखते हो मेरा शरीर। पचास वर्ष का हूँ पर अंग-अंग का अनुपात बना है।"

एक झपाटे में उन की दृष्टि वहाँ बैठे शिष्यों पर घूम गयी। फिर वह कहते गये, "और यही नहीं, इस के अभिनय-पक्ष को सबल बनाने के लिए एक और भी प्रयत्न किया मैं ने। मुझ से पहले नटवरी नृत्य में भावों की अदायगी खड़े हो कर की जाती थी, मैं ने अधिक सुविधाजनक और प्रभावोत्पादक ढंग से बैठ कर देना शुरू किया। अरे भाई, नटवरी के भाव दिखाने में मुख्य कार्य तो मुँह, आँख, नाक, कान और हाथों पर आधारित है। बैठ कर तो इन अवयवों को अपनी अभिव्यक्ति के अनुसार और भी सरलता से नियन्त्रित किया जा सकता है।"

अचानक कुछ जैसे सोचा और एक शिष्य को संकेत कर के अपना तानपूरा मँगाया। फिर मिला कर एक ठुमरी गाने लगे। ठुमरी में विरहिणी गोपिका का प्रणय-निवेदन था। सुन कर मैं तो चकित रह गया। इतना मीठा दर्दभरा गला। और उस ठुमरी की ऐसी जीवन्त अदायगी।

तानपूरा रख कर महाराज कहने लगे, "जानते हो कोमल, मेरा एक लड़का था और बरसों हुए इस दुनिया से चला गया वह। तुम्हें—" एकाएक वह उठे और आलमारी से ला कर एक छोटे-से सुन्दर बच्चे का फ़ोटो दिखाते हुए बोले, "यह है वह। अब नहीं रहा। इस ठुमरी के विरह-भाव को कभी-कभी नृत्य मे बताते गला भर आता है, मैं स्वयं दु:खी हो उठता हूँ।"

और मैं ने देखा उन की दृष्टि भीतर कहीं भटक रही है, बाहर तो पलकों की अँजुलियों में नमी ही उतरा रही है। फिर धीरे-से जैसे गोपिका की विरह-व्यथा दोनों कोरों से झूलती चू पड़ी। और महाराज की अँगुलियाँ होठों तक गयीं, जैसे मुरली बजाना चाहते हों, और फिर माँ के सूने उरोजों को बताते हुए सारी व्यथा को मूर्त कर गये कि मुरली की तान से विरह में जो वेदना उस गोपी की है

वही तो माँ की भी है जिस के स्तनो से अब दूध नही सरता क्योकि गोद तो सूनी हो चुकी।

पुत्र के विरह को हाथो ही हाथो उन्होने जिस सम्पूर्णता से व्यक्त कर दिया उसे देख कर मेरा तो रोया-रोया सिहर उठा। शब्दो का सहारा लिये बिना भी भावो को इतनी सफलता से बताया जा सकता है। क्या हृदय को और आत्मा को नृत्य अपनी बात मूक भाषा में ही इस सीमा तक सुना-समझा सकता है। और सो भी इस कत्थक नृत्य पद्धति द्वारा, जो देश में मात्र पाँवो पर कूदने वाली शैली कहलाती है।

[मार्च १९५७]

मन्दिरों में प्रणयलीन मिथुन-मूर्तियाँ

जगदीश गुप्त

•

मिथुन-मूर्तियाँ भारतीय शिल्प वैभव के अन्यतम प्रतीक, मध्यकालीन मन्दिरों की एक प्रमुख विशेषता है। सामान्य प्रेक्षक को उन में अंकित नग्न कामुकता, मन्दिर के सात्त्विक पूजामय पवित्र वातावरण की पृष्ठभूमि में सर्वथा असंगत एवं हेय प्रतीत होती हैं। उस की प्रतिक्रिया कभी खीझ की होती है, कभी संकोच-मिश्रित आश्चर्य की। ऐसे लोग कम ही दिखाई देते हैं जो एक ओर भारतीय मूर्तिकला के विकासक्रम को तथा दूसरी ओर मध्यकालीन धार्मिक चेतना के सन्दर्भ को दृष्टि में रख कर उन्हे सही परिप्रेक्ष्य मे, अपेक्षित तटस्थता के साथ, देख सकें। विद्वानों और कला-मर्मज्ञों ने भी इस ओर पूरी तरह ध्यान नही दिया है।

सन् १९२५ के 'रूपम्' में इन मिथुन मूर्तियों की समस्या को ले कर 'द मिथुन इन इंडियन आर्ट' शीर्षक एक लेख प्रकाशित हुआ। जिस में शिल्प-शास्त्र विषयक प्राचीन ग्रन्थों से खोज कर उन अंशों को उद्‌धृत किया गया जिन से मिथुनाकृतियों की स्थिति के औचित्य पर प्रकाश पड़ता था। स्त्री-पुरुष के, परस्पर स्नेहाकर्षणयुक्त, युवा युग्म उर्वरता एवं मौलिकता के प्रतीक माने जाते थे ऐसा आभास शास्त्रीय उद्धरणों से मिलता है। शास्त्रीय विधान है कि—'शाखाशेषां मिथुनैर्विभूषयेत्' अर्थात् अलंकरण की अन्तिम शाखा को मिथुनाकृतियों से विभूषित किया जाये। आनन्दकुमार स्वामी ने अपने विवेचन में इस बात पर बल देते हुए कि शिल्प-शास्त्रों से मिथुन-मूर्तियों के औचित्य पर पर्याप्त प्रकाश नही पड़ता, धार्मिक दार्शनिक ग्रन्थों के आधार पर उसे समझाने का यत्न किया। 'द्वैत मे अद्वैत की भावना' अथवा पुरुष और प्रकृति की औपनिषदिक धारणा में मिथुन-मूर्तियों के निर्माण की प्रेरणा का मौलिक स्रोत उन्होंने लक्षित किया। भारतीय मानस इस व्याख्या से भले ही सन्तुष्ट हो जाये, परन्तु पाश्चात्य मस्तिष्क इस से कभी पूरी तरह सन्तोष नहीं पाता। ओ० सी० गांगुली ने खजुराहो की कला के विषय में नव प्रकाशित 'दी आर्ट ऑफ़ दी चन्देल्स' की भूमिका में इस विषय की चर्चा

करते हुए अँगरेज़ी समालोचक रोजर फ्राई का मत उद्धृत किया है, कि भारतीय मस्तिष्क प्रकृत्या बौद्धिक स्तर पर विरोधी लगने वाली वस्तुओ के अन्तर को स्वीकार नही करता। जघन्य कामुकता-भरी आकृतियाँ भी हिन्दू मन्दिरो में दैवी शक्तियो के प्रतीक रूप में निस्सकोच समाविष्ट की गयी है। श्री गागुली ने अन्त में स्वय भी यह स्वीकार किया है कि खजुराहो और उडीसा के मन्दिरो में अकित मिथुन-मूर्तियाँ बहुधा हमारे सौन्दर्यबोध एव तत्त्वबोध की सीमाओ को पार कर के अनौचित्य का स्पर्श करने लगती है।

मिथुन-मूर्तियों का आलेखन कोणार्क, भुवनेश्वर, पुरी और खजुराहो के मन्दिरो में ही नही है वरन् उस का विस्तार चित्तौड, द्वारका और सोमनाथ के मन्दिरो तक मिलता है। आन्ध्रप्रदेश में नागार्जुन कोडा की बौद्ध कला में भी मिथुन-चित्रण विशेष उत्कृष्टता के साथ किया गया है। एलोरा, एलीफंटा, कार्ले कन्हेरी तथा दक्षिणवर्ती अन्यान्य शैव-वैष्णव मन्दिरो और गुफाओ में मिथुनाकृतियों का उन्मुक्त भाव से आलेखन किया गया है। भले ही उस में उतनी नग्न कामुकता न हो जितनी उत्तर भारत के पूर्वोक्त मन्दिरो में उपलब्ध होती है। सातवी-आठवी शती से ले कर बारहवीं तेरहवी शती तक या इसी के आस पास जिन मन्दिरो का निर्माण हुआ उन में ऐसे वासनात्मक चित्रण की विशेष प्रधानता है, अत इस काल की धार्मिक दार्शनिक विचारधारा से उन का अभिन्न सम्बन्ध रहा होगा ऐसा सोचना स्वाभाविक है और इस सम्बन्ध को प्रमाणित करने के लिए यथेष्ट आधार भी मिलते है, फिर भी मिथुन-मूर्तियों की समस्या का पूरा निदान उस से नहीं होता। मध्यकालीन गुह्य तान्त्रिक साधनाओ का भी तो कोई-न कोई मूल रहा होगा, इस की चिन्ता भी विद्वानो को हुई है।

मध्यकालीन गुह्य साधना पद्धतियाँ प्राय प्रजनन प्रतीको को उपास्य एव पूज्य मान कर विकसित हुई है। शैव धर्म में शिवलिंग की उपासना जिस प्रकार विहित मानी जाती रही उसी प्रकार शाक्त मत में स्त्री अवयव की। शैव शाक्त धर्म का उद्गम कामोपासना से ही हुआ यह बात शैव धर्म के ममज्ञो ने स्वीकार की है। काम-कम, उर्वरता, समृद्धि और जीवन शक्ति के रूप में पूज्य माना जाता था इस का प्रमाण मिस्र, जापान, बेबीलोनिया और असीरिया की सस्कृतियों के अध्ययन से मिल जाता है। यह आदिम भावना भारत में ही नही सम्पूर्ण पश्चिमी एशिया में व्याप्त थी ऐसा माना गया है। असीरिया में असोरह, बेबीलोनिया में इस्तर, ग्रीस में डायोनीसस तथा मेसोपोटेमिया में एक अन्य ऊर्ध्वमेढ़् पुरुष देवता की उपासना प्रचलित थी। ऋग्वेद में 'शिश्न-देवा' का किंचित् असम्मान के साथ उल्लेख है जिस से ज्ञात होता है कि सम्भवत भारतवर्ष में सिन्धु घाटी की अनार्य सभ्यता से यह प्रभाव आर्य सभ्यता में प्रविष्ट हुआ होगा। आर्य धर्म में देवी की उपासना कतिपय अपवादो को छोड कर उस रूप में प्रचलित नही थी जैसी कि सिन्धु घाटी में थी। वैदिक साहित्य में अम्बिका रुद्र की पत्नी न हो कर भगिनी थी

पर बाद मे रुद्र, शिव और अम्बिका उन की पत्नी पार्वती के रूप में प्रतिष्ठित हुए। प्रजनन प्रतीकों के ही मूर्त रूप होने के कारण, आध्यात्मिक अर्थ में शिव-पार्वती को संसार के माता-पिता—"जगतः पितरौ" कहा गया। तान्त्रिक साधनाएँ अधिकतर शैव-शाक्त मतों के अन्तर्गत या उन के प्रभाव से विकसित हुई। अतएव किसी-न-किसी रूप में काम-भाव से उन का सम्बन्ध अवश्य बना रहा। बहुधा तो उन का विकास इसी भाव को केन्द्र मे रख कर हुआ।

भारतीय धर्म साधना तथा कला के क्षेत्र में उन्मुक्त वासना एवं कामुकता के प्रवेश का एक और स्रोत माना जाता है और वह है यक्ष, किन्नर, गन्धर्व आदि की पार्वत्य संस्कृति। मथुरा, भरहुत, साँची, कौशाम्बी, राजघाट इत्यादि स्थानों से प्राप्त शुंग-कुषाणकालीन कलाकृतियों की विषयवस्तु को देखने से ज्ञात होता है कि यक्ष-गन्धर्वो की उस काल में अद्वितीय महिमा थी। वेदिका-स्तम्भों तथा यागपट्टों पर उन्मत्त विलासी मिथुन नग्न यक्षिणियों के ऊपर या पार्श्व मे अंकित मिलते हैं। गन्धर्व और कन्दर्प शब्द मूलतः एक ही है तथा काम इन्ही के उपास्य देव थे—यह तथा ऐसे अन्य आधारों को ले कर पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने मध्यकालीन धर्म-भावना मे कामुकता के प्रवेश की विशेष व्याख्या की है। यक्ष, किन्नर, गन्धर्व और विद्याधरों के मिथुनों का चित्रण ईसवी सन् के आसपास की कला में व्यापक रूप मे मिलता है। मदिरा-पायी कुबेर और कुसुमशर कामदेव यही इन के देवता थे, अतः विलास और वासना के प्रति देवत्व भाव के विकास में इन की संस्कृति का महत्त्वपूर्ण योग रहा होगा इस में सन्देह नहीं। शक-पार्थियन ग्रीक और हूण आदि के आगमन के साथ जो विदेशी संस्कार भारतीय संस्कृति में समाविष्ट हुए वे भी किसी-न-किसी रूप में विलासिता के पोषक रहे होंगे ऐसा अनुमान होता है। शुंग-कुषाण काल की मृण्मूर्तियों में विलास-भाव से युक्त मिथुनों का अंकन पृथक् रूप से मिलता हैं। मिट्टी के ऐसे अनेक ठीकरे मिलते हैं जिन पर केवल स्त्री-पुरुष युग्म ही उत्कीर्ण है।

निवृत्ति और प्रवृत्ति मार्गों के द्वन्द्व और पारस्परिक विरोध ने प्रतिक्रिया रूप में मध्य-काल में एक ऐसी विचारधारा को जन्म दिया जिस ने योग और भोग के बीच तात्त्विक अन्विति स्थापित कर के उन की एकता पर बल दिया। यहाँ तक कि परम भोगी और परम योगी के बीच अन्तर स्थापित करना कठिन हो गया। कहा जाने लगा—"श्री-सुन्दरीसाधनतत्पराणां, योगश्च भोगश्च करस्थ एव। अथवा "अयं शुभकरो योगो भोग-युक्तोऽपि मुक्तिदः"।

'ललित अकादेमी' को मुखपत्रिका 'ललित कला' के प्रथम अंक में श्री प्रमोदचन्द्र ने खजुराहो की मिथुन-मूर्तियों के पीछे कौल-कापालिकों की ऐसी ही योग-भोगमूलक विचारधारा का प्रभाव लक्षित किया है:

"These orgiastic scenes, in which religious ascetics take part, should be distinguished, I think, from many other mithuna figures that

adorn the walls of the numerous temples of Khajuraho Most of these are powerful and tense works of art, untouched by coarseness of any kind and faithfully represent the state of ultimate spiritual unity where yoga and bhoga are one, and of which physical union is an appropriate earthly reflection"

यहाँ के लेखक ने साधारण मिथुन मूर्तियों में तथा तन्त्र आश्रित मिथुन मूर्तियों के बीच जो अन्तर किया है वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। कारण यह कि गुह्य साधना पद्धतियों ने मिथुन भाव का समर्थन एक विशिष्ट प्रकार के सैद्धान्तिक आधार को ले कर किया जब कि सामान्यत मिथुनाकृतियाँ केवल आनन्द और मगल की प्रतीक मानी जाती थी, उन के पीछे किसी जटिल सिद्धान्त की छाया न थी। इस दृष्टि से मध्यकालीन मन्दिरो की युगनद्ध मिथुन-मूर्तियों का तात्त्विक आधार अन्य मन्दिरो में सामान्यत प्राप्त मिथुनाकृतियों के आधार से कुछ अशो में भिन्न दिखाई देता है। इस भिन्नता को परखने के लिए मध्यकालीन तान्त्रिक उपासना पद्धतियों के इतिहास और स्वरूप पर दृष्टिपात कर लेना आवश्यक है। वही इन का वास्तविक उत्स है।

बौद्धधर्म के अन्तगत, स्थविरवादी हीनयान शाखा की अपरिवर्तनवादी कट्टरता के विरुद्ध महायान की लोकोन्मुखी परिवर्तनवादी उदार नीति की स्थापना के साथ जो मौलिक परिवतन घटित हुए उन्होंने नीरस योग साधना को मूर्ति पूजा-अर्चा आदि से समन्वित कर के सरसता प्रदान की। बुद्ध के मानुषी तनु की उपेक्षा कर के उन की दिव्य काया की कल्पना की गयी। बुद्ध की विभिन्न कायाओ में धर्मकाय के साथ सम्भोग काय का भी समावेश हुआ। मन्त्र तन्त्र तथा गुह्यतामूलक अन्यान्य तत्त्व निवृत्तिमूलक साधना में प्रवेश पाने लगे और धीरे-धीरे उस में प्रवृत्ति के लिए पर्याप्त क्षेत्र प्राप्त कर लिया गया। बुद्ध वचनो में ही इन सब का मूल भी खोज लिया गया। निर्वाण का आदर्श महासुख की उपलब्धि में परिणत हुआ और महासुख की व्याख्या सुरत-सुख की उपमा के द्वारा की जाने लगी। जनसाधारण तक पहुँचते-पहुँचते महासुख विशुद्ध ऐन्द्रिक सुख का पर्याय बन गया। बौद्ध धर्मावलम्बी बेतुल्लवादियो ने मैथुन सेवन को विहित माना। नागार्जुन और असग जैसे महान् आचायो ने भी साधना पद्धति की गुह्यता को सैद्धान्तिक मान्यता प्रदान की। महायान सूत्रालकार में असग ने मिथुन-भाव को साकेतिक रूप से स्थान दिया है। भगवान बुद्ध के दिव्य गुणों म जिस प्रवृत्ति की गणना की गयी है उस का स्वरूप 'मैथुनस्य परावृत्तौ विभुत्व लभ्यते परम्' लिख कर स्पष्ट किया गया है। यहाँ मिथुन का अर्थ पण्डितो ने बोधिसत्त्व और बुद्ध के एकीकृत होने से लिया है किन्तु लोक ने सम्भवत ऐसे गूढार्थ की उपेक्षा कर के सामान्य अर्थ लेना ही अधिक सुकर समझा। इसी प्रकार के गुह्य वाक्यो से वज्रयानी वासनामूलक उपासना पद्धति को बल मिला। हठयोग की भूमिका में 'सुषुम्ना' और 'प्राण' का सगम ही 'मैथुन' है—ऐसे

प्रतीकार्थों का प्रचार हुआ जो क्रमशः वासना को सैद्धान्तिक आधार देता हुआ विलुप्त होता गया। वज्रयान ही सहजयान बन गया। प्रज्ञा और उपाय का मिथुनीभूत रूप सहजावस्था का चरम आदर्श बना। प्रज्ञा नारीतत्त्व और उपाय पुरुषतत्त्व माना गया। लामा अनागारिक गोविन्द, जो चित्रकार होने के साथ-साथ बौद्ध तन्त्र के मान्य विद्वान् हैं, इस से सहमत नहीं हैं कि बौद्ध धर्म में तान्त्रिकता का विकास शैव-शाक्त तन्त्रों से हुआ। उन का मत है कि बौद्ध तान्त्रिक सिद्धान्त तीसरी शती ई० तक स्थिर हो चुके थे जैसा 'गुह्य समाज तन्त्र' नामक ग्रन्थ से विदित होता है। 'मंजुश्रीमूलकल्प' जो प्रथम शताब्दी ई० की रचना है 'धारिणी' तथा 'यान्त्रिक' साधना का परिचय देता है। शाक्त मत और बौद्ध मत में मौलिक अन्तर यह है कि जहाँ शाक्त शक्ति को सृष्टि का आधार मानता है वहाँ बौद्ध उसे माया समझता है जिस से प्रज्ञा के द्वारा ही उद्धार सम्भव है। (द्रष्टव्य '२५०० ईयर्स ऑव बुद्धिज़्म', पृष्ठ ३६२–३६५) 'इंट्रोडक्शन टु बुद्धिस्ट एसोटेरिज़्म' में विनयतोष भट्टाचार्य ने भी बौद्ध-तन्त्रों को शाक्त-तन्त्रों से उद्भूत नहीं माना है। उद्गम का अन्तर भले ही हो परन्तु मध्यकाल मे एक समय ऐसा अवश्य आया कि बौद्ध और शैव दोनों परम्पराओं के तान्त्रिक काम-भाव से युक्त साधनाओं को प्रश्रय देने लगे थे। अनंगभैरव विरचित 'प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि' नामक ग्रन्थ मे महामुद्रा के अनुभव के लिए साधक-द्वारा स्त्री संग का विधान मिलता है। प्रायः सभी वज्रयानी सिद्ध साधना के लिए किसी-न-किसी निम्नवर्ग की स्त्री का संग करते थे, ऐसा प्रसिद्ध है। बौद्ध सहजियों ने कदाचित् इसी लिए स्त्री की उन्मुक्त भाव से प्रशंसा की है। वज्रयानियों ने बौद्ध धर्म के प्रसिद्ध त्रिरत्नों, बुद्ध, धर्म और संघ के स्थान पर वज्र, पद्म और मदन को त्रिरत्न माना। वज्र और पद्म अथवा कमल-कुलिश स्त्री-पुरुष की जननेन्द्रियों के प्रतीक थे—यह भी वज्रयानी साहित्य से स्पष्ट हो जाता है। वज्रयानियों का केन्द्रीय पीठ 'श्रीपर्वत' नागार्जुन कोंडा में था। नालन्दा, विक्रमशिला आदि भी उन के प्रमुख केन्द्र थे। इस प्रकार आन्ध्र, उड़ीसा, बंगाल और बिहार वज्रयानी गुह्य-साधनाओं के मुख्य क्षेत्र रहे। फलतः इन प्रदेशों की कला पर बौद्ध तान्त्रिक साधनाओं का निश्चित प्रभाव पड़ा।

कुछ विद्वानों का विचार है कि बौद्ध धर्म में गुह्य-साधना का प्रवेश कौलमत के द्वारा हुआ जिस के आदि प्रवर्तक मत्स्येन्द्रनाथ थे। कौलमत शाक्तमत का ही एक विशिष्ट विकास था। कुल का अर्थ शक्ति और अकुल का अर्थ शिव माना गया है। कुल और अकुल का सामरस्य ही कौलों का चरम लक्ष्य था। इस मत में शिव से भी अधिक महत्ता शक्ति को दी गयी। शक्तिहीन शिव शव के समान निष्क्रिय एवं निर्जीव कहे गये। 'कौल-ज्ञान निर्णय', 'कौलोपनिषद्' जैसे ग्रन्थों से इस सम्प्रदाय की विचित्र उपासना-पद्धति एवं सिद्धान्तों का परिचय मिलता है। हठयोग के साथ-साथ 'पंचपवित्र' और 'पंचमकार' भी

'कौलाचार' में पूज्य समझे जाते थे। यद्यपि 'अकुलागमतन्त्र' में स्पष्टतया कहा गया है कि वाह्य मद, मांस और मैथुन में रत होने वाला नरक को जाता है पर व्यवहार में कौलमत ने इन सभी के बाह्य रूपों को अपनी उपासना-पद्धति में स्थान दिया।

"बाह्यमदे रतो यस्तु, मैथुने मांसभक्षणे।
ते सर्वे नरकं यान्ति, इति सत्यं वचो मम ॥"

उक्त कथन के साथ 'कुलार्णवतन्त्र' के निम्नलिखित अंशों को मिलाने पर विरोधी स्थिति स्पष्ट हो जाती है।

"सुरादर्शनमात्रेण सर्वपापैः प्रमुच्यते।"

—५।५

"मदकुम्भसहस्रैस्तु मांसभाण्डशतैरपि।
न तुष्यामि वरारोहे भगलिङ्गामृतं विना ॥
न चक्राङ्कं न पद्माङ्कं न वज्राङ्कं इदं जगत्।
लिङ्गाङ्कं च भगाङ्कं च तस्माच्छक्तिशिवात्मकम् ॥"

शिव-शक्ति के नाम पर कामकला और उपासना का एकीकरण हो गया और एक सैद्धान्तिक आधार मिल जाने पर कला में स्वाभाविक रूप से उस की निस्संकोच अभिव्यक्ति होने लगी।

कौलों से मिलता-जुलता दूसरा मत कापालिकों का था। दोनों मतों में इतनी सैद्धान्तिक निकटता रही कि वे परस्पर अभिन्न-जैसे प्रतीत होने लगे थे। 'कर्पूर मंजरी' और 'प्रबोध चन्द्रोदय' से यह अभिन्नता प्रमाणित होती है। बौद्ध तान्त्रिक वज्रयानी सिद्धों पर भी कापालिक मत का प्रभाव था। सिद्ध काण्डपा कापालिक भी थे और वज्रयानी भी। कापालिक मत में 'कपालवनिता' के रूप मे किसी-न-किसी स्त्री का साहचर्य अनिवार्य माना गया है। संस्कृत साहित्य के अनेक ग्रन्थों में कापालिकों और उन की सहचरी कपालवनिताओं का चित्रण मिलता है जैसे भवभूति के 'मालतीमाधव' में वर्णित अघोरघण्ट और 'कपालकुण्डला'। योग-मार्ग की 'वज्रोली' जैसी कतिपय मुद्राओं की सिद्धि स्त्री-साहचर्य के बिना असम्भव थी। कपाल-पात्रों मे भरकर मदिरा-पान किया जाता था, तत्पश्चात् 'रतिचक्रमहोत्सव' का आरम्भ होता था। स्त्री-योनि का ध्यान कापालिक साधना का अंग था। योगियों की सिद्धि परमावश्यक थी। इन कापालिकों को महाव्रतिन्, महाभैरवानुशासन्, परमेश्वर सिद्धान्तिन्, सोम सिद्धान्तिन्-जैसी उपाधियों से गौरवान्वित किया जाता था। कौल-कापालिक मतों का प्रसार दसवी, ग्यारहवों और बारहवीं शती ईसवी के लगभग विशेष रूप से लक्षित होता है। प्रायः यही समय उन मन्दिरों के निर्माण का भी रहा जिन में मिथुन-मूर्तियाँ विशेष कामुकता के साथ आलिखित मिलती हैं। खजुराहो के मन्दिरों में मकार-सेवन के दृश्य तथा कापालिकों और कपालवनिताओं की मूर्तियाँ स्पष्ट रूप से अंकित हैं। कापालिक गुरु 'सम्भार-चीरिका', जिस में रति-महोत्सव की सामग्री लिखी होती थी, हाथ में लिये शिष्यों और शिष्याओं के बीच चित्रित किये गये है (द्रष्टव्य ललित कला, वाल्यूम १) इस सब से यह तथ्य स्वतः सिद्ध हो जाता है कि कौल व कापा-

त्रिक साधनाओं के प्रभाव से ही शैव मन्दिरों में रतिरत मिथुनाकृतियों को मूर्त किया जाता था और उस काल में उन को अपवित्र मानने के स्थान पर उपासना का पोषक माना जाता था। मन्दिरों के बाहरी भागों में ही नहीं, गर्भ-गृहों के प्रमुख द्वार पर भी उन का अंकन मिलता है। भोग और योग के इस समीकरण ने वैष्णव उपासना को भी प्रभावित किया जिस का परिचय जयदेव के 'गीत-गोविन्द' से पूर्णतया मिल जाता है। गीत गोविन्द १२वीं शती की रचना है और जयदेव का जन्म ग्राम किन्दुबिल्व बंगाल के वीरभूमि नामक प्रदेश में था यह सुविदित है। शाक्त और बौद्ध तान्त्रिक प्रभाव का ही यह परिणाम था कि जयदेव ने निस्संकोच भाव से 'हरिस्मरण' के साथ 'विलास कला-कुतूहल' को जोड़ दिया। 'कलिकलुष शमयतु हरिरमितम्' कामोपभोग को उपासना का अंग माने बिना नहीं लिखा जा सकता था। भले ही उस की स्थिति उपासक में न मान कर इष्ट में मानी गयी हो। माधुर्य भक्ति का विकास कामना और वासना का निषेध कर के नहीं वरन् उन को ईश्वरोन्मुखी बना कर हुआ। राधा-कृष्ण के रूप में मिथुन भाव को भावात्मक तीव्रता की उत्कृष्टतम कोटि तक पहुँचाने का यत्न किया गया, साथ ही स्थूल वासनात्मक चित्रण भी होता रहा। वैष्णव मन्दिरों में प्राप्त बहुत-सी मिथुन-मूर्तियाँ माधुर्य भाव का ही मूर्त रूप प्रतीत होती हैं—विशेष रूप से उत्तर मध्यकाल में। जिस प्रकार शिव-शक्ति के युग्म की चरम एकता 'अर्धनारीश्वर' के रूप में चित्रित की गयी उसी प्रकार राधा-कृष्ण की सम्मिलित प्रतिमा की कल्पना भी की जाने लगी। गोकुल के एक मन्दिर में मुझे राधा-कृष्ण की एक ऐसी ही मूर्ति देखने को मिली।

धार्मिक चेतना के एक विशिष्ट प्रभाव के कारण मध्यकाल में भले ही कामोत्तेजक मिथुन मूर्तियों को मन्दिरों में स्थान मिला हो पर आज उन के औचित्य पर प्राय प्रश्न-चिह्न अंकित किया जाता है। श्लीलता और अश्लीलता की समस्या उपस्थित हो जाती है। कुछ मिथुन-मूर्तियाँ कला की दृष्टि से इतनी मनोरम हैं और उन में मनोभाव का इतना सूक्ष्म और सशक्त अंकन हुआ है कि सौन्दर्य-दृष्टि उन की नग्नता को स्वयं आच्छादित कर लेती है और अश्लीलता का बोध ही नहीं होता, परन्तु ऐसी भी अनेक मूर्तियाँ मिलती हैं जिन में ऐसी कलात्मक पूर्णता का अभाव है। वे दर्शक के मन पर प्राय प्रतिकूल प्रभाव ही डालती हैं।

विचार करने पर ज्ञात होता है कि वास्तव में अश्लीलता खण्ड दर्शन में है। जीवन की समग्रता और विशदता के संदर्भ में देखने पर कोई भी क्रिया अपने में अशिव या अश्लील नहीं रह जाती। एक प्रसंग में जो वस्तु अश्लील नहीं प्रतीत होती, सन्दर्भ-भेद होने पर वही अश्लील लगने लगती है। मध्यकालीन मन्दिरों के निर्माताओं ने जीवन का खण्डदर्शन न कर के उसे उस की समग्रता में ही देखा है और शिव, विष्णु, बुद्ध या अम्बिका के रूप में किसी महान् कल्याणकारिणी

शक्ति को ही केन्द्र मे रखा है। जिस परि-प्रेक्ष्य से उन्होंने जीवन को देखा उस में काम-वासना उन्हें बहिष्कार करने योग्य नहीं लगी। उन्होंने उस के सर्वव्यापी सृजन-तत्त्व की महत्ता पर बल दिया और उसे पूज्य भी माना। प्रवृत्ति को पाप न मान कर निवृत्ति का साधन माना। जहाँ तक ऐसी स्थिति रही वहाँ तक मिथुनांकन ग्राह्य है पर ह्रास-काल की बहुत-सी मिथुन-मूर्तियाँ असुन्दर, अरुचिकर और अश्लील भी दिखाई देती है क्योंकि उन मे प्रेरणा की गहराई और दृष्टि की समग्रता का अभाव मिलता है, साथ ही स्थूल मिथुन-कर्म की विकृतियों एवं अति-रंजनाओं का समावेश भी। उपासना की सात्त्विकता के सन्दर्भ में अतिरंजित कामुकता अनावश्यक प्रतीत होती है। यह विचार कि काम-भाव को नग्न रूप में चित्रित कर के 'विषस्य विषमौषधम्' के न्याय से चित्त-शुद्धि करना ही ऐसी मिथुन-मूर्तियों के निर्माण का ध्येय था, यथार्थ और आधारयुक्त सिद्ध नहीं होता, क्योंकि उत्तेजक तत्त्वों को शमित करने की कोई चेष्टा कलाकारों ने नही की है।

[अक्तूबर १९५८]

हमें अभिनेय नाटक दो

नेमिचन्द्र जैन



प्रिय बन्धु,

आखिर माजरा क्या है ? अब तो पानी गले से ऊपर पहुँच चला और कब तक इन्तज़ार करवाइएगा ? क्या हुआ आप का नया नाटक ? कब तक पाने की आशा करूँ ? अब तो और देरी की गुंजाइश नहीं बची ।

मैं अभी अभी अपनी नाट्य-मण्डली की नाट्य-पाठ गोष्ठी से लौटा हूँ और यहाँ जो कुछ मुझ पर बीती है उस के बाद उसी उत्तेजना की अवस्था में आप को यह पत्र लिखने बैठ गया हूँ । इस लिए यदि इस में कोई बात आप को अप्रिय और तीखी लगे तो उस का बुरा न मानिएगा, उत्तेजनाजन्य ही समझ कर क्षमा कर दीजिएगा । आप से नाटक लिखने की माँग करते समय पिछली बार मैं ने अपने अनुरोध की पूरी पृष्ठभूमि आप को नहीं बतायी थी । पर अब उसे बताये बिना कोई उपाय नहीं ।

बात यह है कि दिल्ली में हर भाषा की—हिन्दी की भी—नाटक संस्थाओं की भरमार है, पर उन में भी कभी हिन्दी का कोई गम्भीर साहित्यिक नाटक नहीं खेला जाता । इस लिए यहाँ के कुछेक उत्साही अभिनेता और रंगकर्मियों ने यह निश्चय किया कि हिन्दी के श्रेष्ठ कलात्मक साहित्यिक नाटकों के लिए कोई स्थायी संगठन बनाया जाये । हमारी मण्डली इसी निश्चय की उपज है और उस में बड़े जोश खरोश के साथ इसी 'सीज़न' में दो नाटक खेलने का निर्णय हुआ—एक कोई गम्भीर दुःखान्तमूलक और एक उत्तम कोटि का सुखान्त नाटक, कोई कामदी । आवश्यक अर्थ-संग्रह, नाटक घर का चुनाव, अभिनेता अभिनेत्रियों का सहयोग, सब का कार्यक्रम बनाया गया । अब प्रश्न उठा कि सब से पहले नाटक कौन से चुने जायें ? हम सब के मन में भावना यह थी कि दिल्ली वासियों को, विशेषकर अँगरेज़ी नाटक खेलने और देखने वालों को, दिखा दें कि वे ही सब-कुछ नहीं हैं । इस लिए हम ने तै किया कि टक्कर के नाटक चुनने के लिए सदस्यों की एक विशेष गोष्ठी हो जिस में उपर्युक्त नाटकों के विषय में वे अपने अपने सुझाव ले कर आयें । आज उसी गोष्ठी की बैठक थी पर उस में जिस स्थिति से सामना हुआ उस का

बयान मुश्किल है ।

यहाँ अपनी मण्डली के बारे मे एक बात कह दूँ । आप तो वहुतों से परिचित हैं । ये सभी लोग वड़े ईमानदार और सहृदय रसिक व्यक्ति है जिन्हे नाटक से बड़ा लगाव है और उस के विभिन्न पक्षों की गहरी समझ और जानकारी है । उन पर ग़ैर-जिम्मेदार होने का आरोप नहीं लगाया जा सकता और न नाटक-साहित्य अथवा अभिनय-प्रदर्शन-कला की समझ न होने का । उन मे से अधिकांश ने देश-विदेश के बहुत से श्रेष्ठ नाटक पढ़ रखे है, कई एक ने उच्च कोटि के प्रदर्शन, शेक्स-पियर, इब्सन से लगा कर इओनेस्को, आनुइ, वेकेट, मिलर, विलियम्स, पिरांडेलो तक के नाटक, विदेशी रंगमंच पर देखे है, कई ने स्वयं उत्तम अँगरेज़ी नाटकों में अभिनय-निर्देशन कार्य किया है । एक प्रकार से रंगमंच को श्रेष्ठतम कलात्मक अभिव्यक्ति माध्यम मानने के कारण और उस दृष्टि से हिन्दी नाटक और रंगमंच को समृद्ध कर सकने के लिए ही यह मण्डली बनी है । इसी लिए उन लोगों के मानदण्ड भी कुछ कड़े है, उन्हें चाहे जैसे अतिनाटकीय, अस्वाभाविक तथा रूप और गठन की दृष्टि से दुर्बल नाटक पसन्द नहीं आते, क्योंकि उन का उद्देश्य आत्म-प्रदर्शन नही, किसी-न-किसी प्रकार रंगमंच पर उतरना मात्र नहीं, बल्कि रंगमंच के माध्यम से अनुभूति को, किसी सार्थक महत्त्व-पूर्ण जीवन-दर्शन को, अभिव्यक्त करना है ।

मुझे आप को यह लिखते हुए सचमुच लज्जा है कि वहुत कम मौजूदा हिंन्दी नाटक इस कसौटी पर खरे उतरते हैं । हमारी मण्डली की वह बैठक बहुत देर तक इस प्रश्न से उलझती रही कि कम से कम हमारे पहले दो प्रदर्शन तो ऐसे हों जो एक समुचित साहि-त्यिक-कलात्मक स्तर स्थापित कर सकें, जिन के द्वारा अभिनेता और निर्देशक तथा उन के साथ ही दर्शक-वर्ग एक गहन नाटचानुभूति के भागीदार हो सकें । सब से पहली बात तो हम सभी को यह लगी कि ऐसे नाटक बहुत कम ही हैं जिन्हें नाटक भी कहा जा सके और साहित्य भी । अर्थात् अधिकांश नाटक घटिया दरजे के संवादात्मक उपन्यास है जिन में या तो विषय-वस्तु की, भावों-विचारों की गहराई नही, या चरित्र अत्यन्त अस्वाभाविक, बना-वटी और सतही है । बहुतो के घटना-क्रम में कोई एकसूत्रता नहीं, अन्विति नहीं, कुछ में आन्तरिक विकास और नाटकीय परिपाक नही, या चरमोत्कर्ष का हो पता नहीं चलता । अधिकांश की भाषा भारी-भरकम, साहित्यिक प्रकार की, विश्लेषणात्मक है, उस मे बोलने की भाषा का सहज प्रवाह या चमक या मुहावरा नहीं है । काव्यात्मकता कही-कहीं मिलती है पर उस के पीछे भावों की समृद्धि नही, निरा वाग्जाल अधिक होता है । अधि-कांश नाटकों के संवादों में या तो गहन भावों की अभिव्यंजना का अभाव है या फिर चुस्ती का, संक्षिप्तता का । संवादों की गठन भी प्राय: बोलने के उपयुक्त नहीं होती और उन मे चरित्रों के अनुरूप विविधता और संगीता-त्मकता नही मिलती । अधिकांश संवाद या तो एकदम फीके और सौष्ठवहीन है या

साहित्यकारो की कृत्रिम औपचारिक गोष्ठियो के विवेचन के अधिक उपयुक्त है।

खैर, किसी तरह राम-राम कर के हम लोगो ने आप के दस-बारह नाटक ऐसे निकाले जिन में साहित्यिक गुण और रगमचीयता दोनो हैं। किन्तु इन में से अधिकाश पिछले ऐतिहासिक युगो से सम्बद्ध निकले, जैसे 'स्कन्दगुप्त' या 'ध्रुवस्वामिनी'। आप तो समझते है कि ऐसे नाटको को ठीक ठीक सँभालना एक शौकिया सस्था के साधनो के बाहर हो जाता है उन की वेशभूषा, परिवेश तथा वातावरण आदि के लिए बहुत धन चाहिए, उन के पात्रो के चरित्रो को समझने, रूपायित और अभिव्यक्त करने के लिए अधिक पूर्वाभ्यास, समय आदि की आवश्यकता होती है। इस के अतिरिक्त नाटक आज की जीवन्त अनुभूति से सम्बद्ध हो तो दर्शकवर्ग के साथ उस का भाव-विनिमय सहज होता है, अभिनेता भी अपनी सीमित क्षमता, प्रशिक्षण और समय में उन के पात्रो के साथ तादात्म्य स्थापित कर पाते है और नाटककार की अनुभूति सहज ही अभिनेताओ और दर्शको की अनुभूति बन जाती है। ऐतिहासिक अथवा इतिहास के किसी पूर्ववर्ती युग मे सम्बद्ध नाटको-द्वारा भी यह सब निस्सन्देह सम्भव है, पर वह कहीं अधिक कठिन है, और उन्हें कुछ बाद में ही किसी मण्डली को हाथ में लेना चाहिए। इन्ही सब कारणो से ऐसे नाटको को हमें छोड ही देना पडा। यो यह निश्चय इस लिए भी करना पडा कि उन में से दो-तीन—'शारदीया', 'आषाढ का एक दिन,' 'ध्रुवस्वामिनी' हाल ही में यहाँ बाहर की या स्थानीय मण्डलियो-द्वारा खेले भी जा चुके थे, 'स्कन्दगुप्त' में पात्रो की सख्या बहुत अधिक थी और 'कोणार्क' में तो कोई स्त्री-पात्र ही नही है।

आप के आधुनिक जीवन से सम्बन्धित नाटको में बहुत मे पाठ्य अधिक है, अभिनेय कम, जैसे 'राजयोग', 'मुक्ति का रहस्य', 'राक्षस का मन्दिर' आदि। कुछेक नाटक तो ऐसे है कि उन का नाट्य रूपान्तर किये बिना उन्हें नाटक कहना कठिन है। अधिकाश नाटक हल्की फुल्की, बाहरी-ऊपरी समस्याओ को प्रस्तुत करते है, उन में गहरी मानवीय सवेदनाओ का, अपने-आप से उलझते मनुष्यो का अन्तर्द्वन्द्व का, गरजती-उमडती वासनाओ-कामनाओ के विक्षोभ का, अदम्य आदिम वृत्तियो की टकराहट का एकदम अभाव है। उन की अधिकाश स्थितियाँ क्षुद्र भावो और व्यक्तियो को अभिव्यक्त करती है, उन में कोई बहुआयामी व्यापकता तथा विस्तार नही। इस लिए उन का मूल नाटकीय कार्य-व्यापार बडा सतही और छिछला रह जाता है, जिस से किसी अच्छे अभिनेता को तृप्ति नही मिलती। अधिकाश नाटको के अधिकाश पात्र 'टाइप' अधिक है, व्यक्ति कम। अभिनेता उन के द्वारा किसी बडे मार्मिक चरित्र की सृष्टि नही कर सकता। आप के 'अलग-अलग रास्ते', 'छठा बेटा', 'अजो दीदी,' 'उडान आदि नाटको में प्राय यही कठिनाई है। उन के घटना विधान में, नाट्य स्थितियो में प्राय न तो वह आन्तरिक तर्क-सगति मिलती है

जिस के बिना यथार्थवादी नाटक टिक नही सकता, और न कोई ऐसी गहरी और सूक्ष्म सांकेतिकता जिस के बिना भी नाटक मे गहराई नहीं आती। यह नहीं कि उन को मंच पर उतारा नही जा सकता, पर उस कार्य में सार्थक कलात्मक श्रम नहीं, मन-बहलाव भले ही उस से हो जाये। शायद 'क़ैद' में सांकेतिकता तो है पर उस की स्थितियों में आन्तरिक विश्वसनीयता कम है और उस के आधार में ही एक प्रकार की ऐसी कृत्रिमता है कि बड़ी कठिनाई होती है। आप के 'मादा कैक्टस,' 'तीन आँखों वाली मछली', 'नाटक तोता-मैना,' 'सूखा सरोवर,' 'रक्त कमल,' 'रात रानी' आदि नाटकों में विषयवस्तु महत्त्वपूर्ण लगती है, उस मे नवीनता तथा शिल्प के चमत्कार भी कई हैं, और वे लिखे भी रंगमंच के लिए ही गये हैं। पर साधारणतः उन में भावुकता बहुत है और स्थितियों में अतिरंजना है तथा पूर्वापरता की पर्याप्त कसावट नहीं रहती। इस लिए अन्त तक पहुँचते-पहुँचते वे बिखर जाते हैं। उन में प्रायः अनावश्यक अवान्तर प्रसंग, परिस्थितियाँ, घटनाएँ, पात्र और उन की प्रतिक्रियाएँ बहुत हैं, जिन से प्रभाव की समग्रता कम हो जाती है। 'डाक्टर' की विषयवस्तु की तीव्रता और तीक्ष्णता पर्याप्त नहीं और परिणति में बड़ी आकस्मिकता और यान्त्रिकता है। 'सुबह के घंटे' प्रायः पाठ्य अधिक है और 'खण्डित यात्राएँ' के गठन और चरित्रों में बड़ा गोलमाल है। एक नवीन नाटक 'अधूरी आवाज़' पहले अंक के बाद जाने किस लोक में खो जाता है। 'नया समाज' या 'नये हाथ' जैसे सुखान्त नाटकों में हलकापन बहुत है और गठन अथवा चरित्र-निर्माण की दृष्टि से उन में इतने बड़े-बड़े छिद्र हैं कि कुशल से कुशल निर्देशक भी उन्हें भर नहीं पाता। 'अन्धा युग' में अवश्य गहरी नाटकीय सम्भावना है, पर उस की पृष्ठभूमि पौराणिक युग की है और वह काव्य-नाटक है जिस की प्रेषणीयता बहुत ही सीमित दर्शक वर्ग के लिए ही हो सकती है।

इन सब के अतिरिक्त ऐसे भी बहुत-से नाटक हैं जो पृथ्वी थियेटर्स के प्रभाव में लिखे गये हैं। उन की न तो विषयवस्तु और न उन का शिल्प किसी बड़े कलात्मक प्रयत्न के लिए पर्याप्त है। वास्तव में आज के हिन्दी नाट्य-साहित्य की मुख्य दुर्बलता यही है कि न तो वह उच्च कोटि के कलात्मक रंगमंच के लिए उपयुक्त है, न सर्वथा व्यावसायिक प्रकार के रंगमंच के लिए। जैसे बंगला में व्यवसायी रंगमंच के लिए उपयोगी ऐसे नाटकों का अभाव नहीं जिन में नुस्खे के अनुसार बहुत-सा रोमांस, काफी करुणा और भावुकता, थोड़ी-सी सामाजिक आलोचना, उचित मात्रा में हास्य, यथास्थान गीत और नृत्य तथा थोड़े-बहुत रंगमंचीय चमत्कार दिखाने के उपयुक्त स्थलों का आवश्यक सम्मिश्रण सहज ही मिलता है। नियमित व्यवसायी रंगमंच के अभाव में हिन्दी में ऐसे नाटक भी नहीं हैं और कलात्मक नाटक भी बहुत कम हैं, जो है वे प्रायः शिथिल और किसी-न-किसी घातक दुर्बलता से जकड़े हुए हैं।

जागरण का, अपने आधुनिक होने का लक्षण मानता है। कई रंगकर्मी भी हिन्दी के प्रति इस सामान्य व्याधिपूर्ण दृष्टि के दोषी हैं और उन से आप की ऐसी सभी शिकायतें सही हैं। पर फिर भी अब आप को हमारी बात सुननी ही होगी और हमारे लिए ऐसे नाटक लिखने होंगे जिन्हें अभिनीत कर के हम न केवल अपनी भाषा को, अपने रंगमंच को, आप को और अपने काम को, गौरव दिला सकें, बल्कि अपने दर्शकों को एक वास्तविक यथार्थत्मक अनुभूति में साझेदार कर सकें।

विश्वास कीजिए, हमारी माँग 'आकाश कुसुम' की नहीं। हम चाहते हैं कि हमें ऐसे नाटक मिलें जिन में आज के इनसान का भीतरी और बाहरी संघर्ष भी भावुकता बिना, पूरी ईमानदारी और निर्ममता के साथ चित्रित हो—कल्पित नहीं वास्तविक संघर्ष—और संघर्ष ही, जो व्यक्तियों को विचलित और विक्षुब्ध करता है और उन्हें निष्क्रिय, निरपेक्ष, गतिहीन नहीं रहने देता। हम ऐसा ही कार्य-व्यापार चाहते हैं जिस हम मंच पर मूर्त कर के दिखा सकें, अचल गतिहीन स्थितियाँ नहीं, बल्कि गतिमान जीवन संघर्ष। इस से यह न समझिए कि हम बाह्य धर पकड़, उठापटक और सनसनीखेज घटनाओं की माँग करते हैं। हम नाटकों में चाहते हैं सक्रिय इनसान, बाह्य और आंतरिक परिस्थितियों के दबाव में स्वयं बदलते हुए और अपने संकल्प से परिस्थितियों को, परिवेश को तथा अन्य व्यक्तियों को बदलते हुए। घटनाएँ नहीं, हमें जीवित गतिशील चरित्र चाहिए। और चाहिए उन के लिए विश्वसनीय, आंतरिक संगतियुक्त परिवेश, इच्छित-कल्पित नहीं, आरोपित और तर्कशून्य नहीं। इस से हमारा अभिप्राय यथार्थवादिता या जीवन की दर्पणवत् अनुकृति से नहीं, न नीरस समस्यापरकता से है, बल्कि वास्तव में हमें ऐसे नाटक चाहिए जिन में काव्य हो, भावों का काव्य, नाटकीय काव्य कार्य व्यापार का काव्य, केवल शाब्दिक कविता नहीं। हमें कल्पनाशीलता से भय नहीं, नाटक तो है ही कल्पना का खेल, पर कल्पना की भी अपनी आंतरिक संगति तो होती ही है। वही हमें चाहिए, निरा यथार्थ नहीं, निरी कल्पना नहीं, यथार्थ और कल्पना की खिचड़ी नहीं, उन का कलात्मक-भावात्मक समन्वय, उन की अन्विति।

गठन और शिल्प की दृष्टि से भी नाटकों में अवान्तर और अनावश्यक के निष्कासन की बड़ी आवश्यकता है। व्यक्तियों और स्थितियों को उन की स्वाभाविक परिणति तक पहुँचने देने की उदारता और आत्मसंयम चाहिए। अन्य कलाकृतियों की, विशेषकर साहित्यिक रचनाओं की, सहज स्वाभाविक अन्विति चाहिए, किसी कृत्रिम नाटकीयता या आरोपित चरमोत्कर्ष की आवश्यकता नहीं। मुख्य बात है संयम, अनावश्यक का बहिष्कार, संक्षेप और सुस्पष्टता। रंगमंच का घनिष्ठ परिचय नाटक रचना के लिए, उस के शिल्प पर अधिकार पाने के लिए निस्सन्देह सहायक होता है। पर वह कोई रहस्य की बात नहीं, न उस का कोई हौवा खड़ा करना आवश्यक है। रंगशिल्प के नियम भी अन्य कला-कृतियों

के नियमों से मौलिक रूप से भिन्न नहीं। आवश्यकता मौलिक कलाबोध की है और उसी के साथ-साथ रंग-माध्यम की विशिष्टताओं को पहचानने-समझने की। रंगमंच रूपायन का माध्यम है, और नाटक में हर भाव और विचार, व्यक्ति और परिस्थिति, इस प्रकार प्रस्तुत होना चाहिए कि उसे रूपाकार दिया जा सके, मंचन में मूर्त्त किया जा सके। पर यह सब कोई असाध्य कार्य नहीं और न वह किसी अन्य वास्तविक सर्जनात्मक कार्य से भिन्न है। कविता या कहानी घटिया हो या श्रेष्ठ, पाठक तक सीधे पहुँच जाती है। पर नाटक और दर्शकवर्ग के बीच एक अन्य कलाविधा मौजूद है—अभिनय-प्रदर्शन की। यह मध्यवर्ती विधा एक तरह की छलनी है जिस में से छन-निकल कर नाटक दर्शक तक पहुँच सके, इस के लिए नाटककार का बड़ा सतर्क रहना आवश्यक है।

एक बात भाषा के विषय मे और कहनी है। हिन्दी के नाटककारो ने नाटक की भाषा को एक ओर तो बहुत शब्द-बहुल बना रखा है और दूसरी ओर अत्यन्त काव्यहीन। हमे ऐसे नाटक चाहिए जिन में कम से कम शब्दों में भाव और विचारों की अधिक से अधिक काव्यात्मक अभिव्यक्ति हो, जिस मे ऐसी भाषा हो जो बोली जा सके और सुनने में अटपटी, ऊबड़-खाबड़, फीकी या बनावटी न लगे। पर साथ ही वह काव्यात्मक भी हो, रचनात्मक हो, संगीतपूर्ण हो, चित्रमय हो। उस मे एकरसता न हो, बल्कि वह पात्रों के अनुसार विविधतापूर्ण और व्यक्तित्वपूर्ण हो। भोंडे यथार्थवादी ढंग से नहीं कि बंगाली पात्र अनिवार्य रूप से 'नोमोश्कार' कहे और मद्रासी पात्र 'अइयइ यो' के बिना बात ही न करे, या उस मे विभिन्न बोलियों की झड़ी लगा दी जाये, बल्कि सर्जनात्मक रूप से, पूरे नाटक की शैली के साथ समन्वित रूप में, सन्तुलन के साथ। नाटक की भाषा मूलतः उस के चरित्रों के आन्तरिक व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति होनी चाहिए, केवल उन की बाहरी-ऊपरी आदतों या अभ्यासों की अनुकृति मात्र नहीं।

पर अब बन्द करूँ। सचमुच उत्तेजनावश बहुत-कुछ लिख गया। बात कहाँ से कहाँ पहुँच गयी। खर, प्रार्थना यही है कि नाटक तुरन्त भेजिए। वरना यह मण्डली बैठ जायेगी और हम लोग किसी को मुँह दिखाने के काबिल न रहेंगे। मँझधार में न डुबाइएगा।

आशा है आप सानन्द हैं।

साभिवादन-आप का
नेमिचन्द्र जैन

[नवम्बर १९६३]

[illegible]

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

हास्य-व्यंग्य

६

हरिशंकर परसाई

[illegible]नी

[illegible] नागर

[illegible]चन्द्र वर्मा

श्रीलाल शुक्ल [?]

[illegible]कान्त [illegible]

[?]शरद जोशी

[illegible]

नरेन्द्र कोहली [?]

[illegible] चौहान

८

६

मैं हूँ तोता, प्रेम का मारा

हरिशंकर परसाई



सुना है मेरा एक पूर्वज था जो मण्डन मिश्र के द्वार पर पिंजरे मे टँगा रहता था और ऐसा शुद्ध वेद-पाठ करता था कि बड़े-बड़े वेदपाठी पण्डित चकित रह जाते थे। उसी के कुल में मैं ऐसा मूढ़ हुआ कि 'मिट्ठू' और 'सीताराम' के सिवा और कुछ नहीं बोल पाता। पर एक बात मे मैं उस से पीछे नहीं हूँ—जितना प्रेम मैं ने उमा दीदी से पाया, उतना उस ने मण्डन मिश्र की सरस्वती-स्वरूपा पत्नी से भी नहीं पाया होगा। मुझे आज भी यह दुःख सालता है कि मैं एक बार भी उस प्रेममयी उमा दीदी को पुकार नहीं सका। हज़ार कोशिशें करने पर भी यह जड़ जीभ नहीं पलटी। सक्सेना साहब की तरह प्यार से नाम लेने की चेष्टा की, मिसेज़ सक्सेना की तरह वात्सल्य से पुकारना चाहा, यहाँ तक कि छोटे गुड्डू की तरह तुतला कर 'डीडी' ही कहने का प्रयत्न किया, पर जब मुँह से निकला तब वही "मिट्ठू। सीताराम!" मेरा अपना निगोड़ा नाम न जाने किस अहंकारी आचार्य ने मुझे रटवा दिया था।

उमा दीदी मुझे बेहद प्यार करती थी। पर मैं वहाँ तीस-चालीस दिन ही रह पाया था कि एकाएक सक्सेना साहब का तबादला हो गया। जाते वक्त उमा दीदी मुझे प्रोफ़ेसर साहब की पत्नी सरला को सौंप गयी। प्रोफ़ेसर योगेन्द्रनाथ से सक्सेना-परिवार का बड़ा घरोबा था। उमा दीदी सरला को बहन मानती थी। उन लोगों की बातों से मुझे मालूम हुआ था कि पहले इस बात पर बड़ी खीचातानी चली कि उमा दीदी प्रोफ़ेसर साहब को 'भाई' माने या सरला को 'बहन।' मेरी समझ में आज तक नहीं आया कि सरला उन्हें ननद बनाने पर क्यों ज़ोर देती थी और प्रोफ़ेसर साहब उन्हें अपनी बहन बनाने की बजाय पत्नी की बहन क्यों बनाना चाहते थे। भई, मनुष्यों की बातें मेरी समझ में नहीं आतीं। इतना समझ में आता था कि दोनों परिवारों में बड़ा हेल-मेल है। प्रोफ़ेसर साहब अक्सर वहाँ आते थे। उमा दीदी की पढ़ाई की सारी ज़िम्मेदारी उन्हीं पर थी। वे बड़े सुन्दर और हँसमुख आदमी थे, पर पता नहीं क्यों वे मुझ से अप्रसन्न थे। वे मुझे देखते ही भड़क उठते थे। पालतू पक्षी उन्हे क़तई पसन्द

नही थे।

उस दिन जब उमा दीदी ने मेरा पिंजरा सरला के हाथ में सौंपा, तो मैं बहुत चीखा-चिल्लाया। उमा दीदी की आँखों में भी आँसू आ गये। पर मैं विवश था और वे भी न जाने क्यों विवश थी। उन के माता-पिता बहुत ज़ोर देते रहे कि इसे भी ले चलें, पर उमा दीदी न जाने क्यों मुझे छोड जाने पर उतारू थी।

सरला को बहुत दिनों से तोता पालने की साध थी। वे मुझे घर ले आयी। पक्षी हूँ तब भी इतना समझ गया कि उमा दीदी के जाने से सरला को उतना दुःख नही हुआ, जितना मित्र-बिछोह मे होता है। कुछ भी हो, मुझे उन्होंने बडे प्यार से रखा। मैं उन्हें मन ही मन सरला दीदी कहने लगा।

प्रोफेसर साहब उन दिनो कही बाहर गये थे।

मेरे दिन मज़े में कटने लगे। पन्द्रह-बीस दिन बाद एक सुबह प्रोफेसर साहब आ पहुँचे। द्वार के पास ज्यो ही वे आये, मैं उल्लास से चिल्ला उठा—"मिट्ठू! मिट्ठू! सीताराम! सीताराम!" मैं ने सोचा कि मुझे उन का स्वागत करना चाहिए। पर वे वही ठिठक गये और उन की भौंहें सिकुड गयी। मैं एक किनारे सिर नीचा किये दुबक गया।

उन्होंने बरामदे में पैर रखा, तो सरला दीदी ने बडे प्यार से हाथ से बैग लेते हुए कहा, "आ गये। कल ही आने वाले थे?" उन का प्यार उमडा पड रहा था और प्रोफेसर साहब का 'मूड' ही बिगड गया था। अनमने भाव से बोले, "हाँ, एक दिन और रुकना पडा।" फिर मुझे आँखें तरेर कर देखा और वही आँखें घुमा कर सरला दीदी पर गडा दी। मैं सकपका गया। सरला दीदी भी थोडी देर वहाँ खडी रही और जब खडे रहना असह्य हो गया, तो साडी के जिस पल्ले को उमेठ कर रस्सी बना रही थी, उसे दाँतो में दबा कर भीतर चली गयी।

थोडी देर में वे चाय का प्याला ले आयी। प्रोफेसर साहब चाय पीते-पीते बोले, "यह बला तुम ने क्यो पाल ली? एन० सी० सी० कैम्प से हारा थका लौटा, तो इस की टें-टें के मारे चैन नही।"

पत्नी ने अपराधी भाव से कहा, "दो-चार दिनो तक ही 'डिस्टरबेंस' होगा। फिर तो अभ्यस्त हो जायेंगे।"

प्रोफेसर साहब ने कहा, "लेकिन अभ्यस्त होने की ऐसी क्या ज़रूरत आ पडी है?"

सरला दीदी भी शायद उन्हें तंग करने पर उतारू थी। बोली, "अच्छा लगता है। कटु को सुस्वादु बना कर ग्रहण करना ही तो मनुष्यता है। कडवे करेले को भी तो हम मसालो में भून कर खा लेते हैं। तोते से भी टें टें की जगह भगवान् का नाम उच्चरित कराते है। इसे अच्छी-अच्छी कविताएँ सिखायेंगे।"

प्रोफेसर हँसे। मेरा मज़ाक उडाते हुए बोले, "सीख चुका। बूढा तोता भी कही 'राम राम' पढता है?"

"पढेगा क्यो नही?" सरला दीदी ने उत्तर दिया, "मण्डन मिश्र का तोता तो "

बात काट कर प्रोफ़ेसर ने व्यंग्य किया, "पर मण्डन मिश्र की स्त्री ने भी तो शंकराचार्य को परास्त किया था।" मुझे यह तुलना तीर-सी लगी। जी तिलमिला गया। बोल सकता तो कह देता कि मण्डन मिश्र की पत्नी और सरला दीदी मे अगर अन्तर है, तो मण्डन मिश्र से भी तो प्राइवेट कॉलेज के दो सौ रूपल्ली वाले टुटपूँजिया लेक्चरर की तुलना नहीं हो सकती। मैं ने टें-टें चिल्ला कर नाराजी जाहिर की।

प्रोफ़ेसर ने कहा, "यह बला कुछ पैसे दे कर खरीदी है या घर बैठे आ गयी ?"

मुझे दुःख हुआ कि यह भला आदमी मुझे पहचानने से भी इनकार कर रहा है।

सरला दीदी को जैसे कोई भूली बात याद आ गयी। कहने लगीं, "अरे हाँ, मेरी याद को क्या हो गया। मै ने तुम्हे बताया ही नहीं कि सक्सेना साहब का एकाएक ग्वालियर तबादला हो गया और वे चले भी गये।"

प्रोफ़ेसर साहब चौके। कहा, "अरे, एकदम ऐसा हो गया !"

पत्नी ने कहा, "हाँ, बेचारों को एकदम ही जाना पड़ा। बड़े दुःखी थे सब लोग। कहने लगे, प्रोफ़ेसर साहब से जाते वक्त मुलाकात भी नहीं हो पायी।"

"और उमा की पढाई का क्या होगा ?"

"मै ने तो बहुत कहा कि उसे मेरे पास ही छोड़ जाओ, चार-छह महीने की बात है, इतने में साल पूरा हो जायेगा। पर वे लोग माने ही नहीं।"

सरासर झूठ बोली, सरला दीदी। उन्हों-ने यह कुछ नही कहा था। इस मिथ्या भाषण का कारण तुम मनुष्य ही जानो। मै तो एक ही बोली जानता हूँ।

प्रोफ़ेसर साहब बड़े दुःखी हो गये। बड़ी देर नीचे देखते रहे। फिर नजर उठा कर मेरी ओर देखा और बोले, "इस वेद-पाठी को उन से तुमने ले लिया। उन्होंने भी तो हाल ही में इसे पाला था। पढ़ा-पढ़ा कर हार गये, पर जब इस ने एक अक्षर भी नया नही सीखा, तो तुम्हारे माथे टाल गये।"

सरला दीदी उदास हो गयीं। मुझ से बरदाश्त नही हुआ। विरोध मे कुछ कहना चाहता था, पर मुँह से निकला वही, "मिट्ठू ! मिट्ठू ! सीताराम !" प्रोफ़ेसर साहब ने बड़ी नफ़रत से मेरी ओर देखा और भीतर चले गये।

दूसरे दिन से वे कॉलेज जाने लगे, इस लिए मेरा दिन मज़े मे कटने लगा। दूसरे या तीसरे दिन वे कॉलेज से लौट कर कोट उतार रहे थे कि मेरी निगोड़ी जीभ मे न जाने क्या खुजलाहट हुई कि मैं बोल उठा, "मिट्ठू ! मिट्ठू ! सीताराम !" सीखा हुआ उगल देने का लोभ मुझ में मनुष्य से शायद कम नही है। प्रोफ़ेसर की भृकुटि मे फिर तनाव आ गया। वे खीझ उठे, "अच्छी मुसी-बत है। दिन भर कॉलेज में उन आदमीनुमा तोतों की टें-टें सुनता हूँ और घर आओ तो इस को टें-टें परेशान करती है। तुम्हें अगर तोता पालने का शौक़ है, तो मुझे भी बिल्ली पालने का शौक है। मैं भी अच्छी पुष्ट काली बिल्ली पालूँगा।"

बिल्ली का नाम सुनते ही मेरे प्राण काँपे। सोचा, यहाँ अधिक दिन निर्वाह कठिन है। यह भी लगा कि पक्षी हूँ तो क्या, मुझे किसी की शान्त गृहस्थी में विघ्न नहीं बनना चाहिए। क्या करूँ उड जाऊँ? पर पिंजरा तो खुलेगा नहीं। किसी तरह छूट भी गया, तो वर्षों से निष्क्रिय ये पंख हवा में कैसे फैलेंगे?

दूसरे ही दिन ऐसी घटना घटी कि मेरे मन में प्रोफेसर साहब के प्रति तीव्र घृणा पैदा हो गयी। शाम का धुँधलका था। वे आराम-कुरसी पर लेटे थे। एकाएक कहीं से एक बिल्ली आयी और मेरे पिंजरे के पास आ कर गुर्राने लगी। मैं ज़ोर से चीखने लगा। वह झपट्टा मारने की कोशिश करने लगी और मेरी चीख बढने लगी। उस के वे पंजे और वे क्रूर आँखें देख कर मेरा दम निकला जाता था। पर प्रोफेसर साहब बैठे-बैठे देखते रहे। मैंने सोचा, यह कैसा हृदयहीन आदमी है। यह मनुष्य नहीं, राक्षस है। हम पक्षी भी किसी के ऐसे आर्त्त क्रन्दन को अनसुना नहीं कर सकते। इसे प्रोफेसर नहीं, जल्लाद होना था।

मेरी चीख-पुकार सुन कर सरला दीदी रसोईघर से भागती हुई आयी और बिल्ली को भगा कर बडे गुस्से से पति से बोली, "तुम बिल्ली को भगा भी नहीं सके? खा जाती तो।"

प्रोफेसर साहब ने बडी तटस्थ पर कडुवी आवाज में कहा, "तो बला टलती।"

उस रात मुझे नींद नहीं आयी। मुझे मौत नजर आने लगी थी।

लेकिन दूसरे दिन शाम को बडी विचित्र बात हुई।

कॉलेज से लौट कर प्रोफेसर साहब मेरे पास आये और बडे प्यार से पुचकार कर बोले, "मिट्ठू! मिट्ठू!" मैं भय से कोने में दुबक गया। क्या ये मुझे पुचकार कर धोखे से मेरी गरदन मरोडना चाहते हैं? मुझे सहमा देख वे मीठे स्वर में बोले, "अरे पगले, अब डरने की कोई बात नहीं है। आजा, आजा!" वे पुचकारते, सीटी बजाते, पर मैं किसी कदर मानने को तैयार नहीं था कि उन का हृदय बदल गया है। सुना है, तुम लोग हृदय परिवर्तन की बडी बडी बातें करते हो। पर हृदय होगा, तब तो बदलेगा। जो आँखों के सामने मुझे बिल्ली से खिलवाना चाहता था, उस के हृदय की जगह भी पत्थर होगा।

इसी समय सरला दीदी बाहर आयी और चुपचाप द्वार के पास खडी हो कर देखती रही। फिर एकाएक बोल उठी, "आज क्या सूर्य पश्चिम में उगा है?" प्रोफेसर चौंके और ऐसे शरमाये जैसे छोटे बच्चे को बाप का पगड माथे पर रख कर बाप की नकल करते किसी ने देख लिया हो। सँभल कर बोले, "सोचा, यह भी बेचारा एक जीवधारी ही है। मुझे पछतावा हो रहा था कि उस दिन मैंने इसे बिल्ली के हवाले ही कर दिया था। बडा प्यारा तोता है।" सरला दीदी बडी प्रसन्न थी। वे दोनों जब साथ ही खिलखिला उठे, तब मुझे विश्वास हो गया कि सुलह हो गयी और मैं दोनों का प्यार पा गया।

इस के बाद मुझे जो प्यार-दुलार मिला, वह अच्छे-अच्छे घरों में बच्चों को भी नहीं मिलता। दोनों मुझे बेहद प्यार करते।

लेकिन यह सुख मै तीन दिन ही भोग पाया। चौथे दिन दोपहर के वक्त सरला दीदी प्रोफ़ेसर साहब के कागजात जमा कर रही थीं। खिड़की में से मैं उन्हें देख रहा था। काम करती हुई वे बड़ी अच्छी लगती थीं। काम करती हुई स्त्री ही सुन्दर लगती है। निठल्ले सौन्दर्य में कोई आकर्षण नहीं होता।

ढेर सारे काग़जात टेबल पर जमा हो गये। वे उन्हें उठा कर सँभाल कर रखती जाती थीं। कई चिट्ठियाँ पड़ी थीं। सरला दीदी चिट्ठी उठाती, उसे कुतूहलवश एक नजर देख जातीं और फिर चिट्ठी के डब्बे में डालती जाती। एक लिफ़ाफ़ा उन के हाथ में आया। भीतर से चिट्ठी निकाल कर देखते ही उन की आँखें और फट गयीं और दृष्टि चिट्ठी में ही गड़ गयी। उन का चेहरा तमतमा उठा, साँस बँध-सी गयी, पसीना छूटने लगा। वे थूक गुटक-गुटक कर उसे पढ़ गयीं। फिर मेरी ओर आग्नेय नेत्र से देख कर बोलीं, "अब समझी। इसी लिए तोता इतना प्यारा हो गया परसों-नरसों से। उमा जी प्रेम की निशानी दे गयी है।" फिर चिट्ठी खोल कर आवेश में पढने लगी : "आते समय आप से भेंट भी नही कर पायी। मन मसोस कर रह जाना पडा। यहाँ मुझे चैन नहीं पड़ती। हर क्षण आप की याद। मै अपना प्यारा तोता छोड़ आयी हूँ। उसे देखेंगे, तो मेरी याद आयेगी। समझिए कि मै भी उसी की तरह पिंजरे में बन्द एक तड़पती खगी हूँ—" इस के आगे वे नहीं पढ़ सकी। जमाये हुए काग़ज़ पहले की तरह ही बिखराती हुई, वे बड़बड़ाने लगीं—"मेरी बहन बनी थी। मेरी गृहस्थी में आग लगाना चाहती है। मुझे तो पहले ही सन्देह था—" उन्होंने कागजों को पूर्ववत् बिखरा कर उस चिट्ठी को जैसा-का-तैसा यथास्थान रख दिया।

मैं सब समझ गया। प्रेम वग़ैरह की झंझट में तो मैं कभी पड़ा नहीं। पिंजरे में वर्षों से बन्द हूँ। भला क़ैदी क्या प्यार करेगा? कभी-कभी एक अजब उमंग उठती है, जी कसमसाता है और मादा की चाह होती है। पर सीखचों में सिर मार कर बैठ जाता हूँ। पर मैं ने आदमियों का प्रेम देखा है। आदमी का प्रेम सब से विचित्र है। छिन में उसे देव बना देता है और छिन में दानव।

सरला दीदी की त्योरियाँ बदल गयी थी। मै ने जाँच करने के लिए टेर लगायी, "मिट्ठू! मिट्ठू!! सीताराम!" उन्होंने मेरी ओर जलती आँखों से देखा और फटकारा, "चुप रह, हरामजादे! नही तो अभी गरदन मरोड़ दूँगी।" समझ गया कि अब मेरी ख़ैर नहीं। उमा दीदी ने प्रोफ़ेसर साहब को चिट्ठी लिख कर मेरी मौत का सन्देशा ही भेज दिया है। और यह प्रोफ़ेसर कैसा लापरवाह है। चिट्ठी टेबिल पर क्यों छोड़ गया? जिसे प्रेम-पत्र सँभाल कर रखना नहीं आता, वह लड़कों को क्या पढ़ाता होगा?

शाम को प्रोफ़ेसर साहब घबराये हुए आये और एकदम टेबल पर से वह चिट्ठी उठा कर

जेब में रखी और सन्तोष की सांस ली। उन्हें क्या पता कि यह पढ ली गयी है।

सरला दीदी भी वडी अद्भुत हैं। उन के चेहरे पर शिकन नही। और दिनों से अधिक प्यार से मिली, हँसती और चुहल करती रही। भई, तुम मनुष्यो की मादा बडी रहस्यमयी होती है। हम लोगो में एक तो मादा नर की इतनी परवाह नही करती और करती भी हो, तो ऐसी बेवफाई होने पर नर से झगड कर, दो चार चोच मार कर फुदक कर दूसरी डाल पर जा बैठे। मनुष्यो में भी मैं ने ऐसी मादा देखी है। मै पहले जिस काछी के यहां था, उस की औरत को एक शाम पता लगा कि घर वाला किसी दूसरी के यहा जाता है। बस उस ने उसे हजार गालियाँ दी और पोटली माथे पर रख कर मायके को यह कहती हुई चल दी, "जा, मैं तेरे पास नही रहती।" काछिन का यह बरताव मुझे हमारी मादा के अधिक नजदीक लगा। नही बनी तो, छोड कर अलग। बात यह है कि हमारी मादा भी काम करती है और काछिन भी। पर तुम्हारी पढी-लिखी सम्भ्रान्त मादा बेचारी श्रम नही करती और बडी निबल तथा असहाय होती है। वह हर शर्त पर, हर कीमत पर, हर परिस्थिति में पति को अपनाये रहना चाहती है। तभी तो सरला दीदी के भीतर आग लगी थी और ऊपर ऐसी शीतल हँसी हँस रही थी, जैसे कुछ हुआ ही नही।

उस दिन स सरला दीदी ने मुझे वडे कष्ट दिये। अगर प्रोफेसर साहब मुझे दाना-पानी डाल कर न जाते, तो मै भूखा-प्यासा मर जाता। सरला दीदी को तो मेरी सूरत से, मेरी बोली से नफरत हो गयी थी। मैं कभी बोलता, तो वे ऐसा डाँटती जैसा प्रोफ़ेसर भी नही डाँटते थे। वे मुझ से पिण्ड छुडाना चाहती थी। इतनी वात्सल्यमयी, ऐसी पाषाणी कैसे हो गयी? वे अकसर मुझे धमकाती, "ठहर निगोडे, तुझे बिल्ली के आगे डाल दूँगी। प्यार की निशानी छोड गयी है, मेरे घर में।" मैं हर क्षण मौत का इन्तजार करने लगा। समझ गया था कि प्रोफेसर तो केवल धमकाते हैं, पर ये सचमुच मुझे बिल्ली को खिला देंगी।

एक दिन वे पति से कह रही थी, "यह अभागा तो कुछ सीखता ही नही। तुम ने ठीक कहा था कि बूढा तोता राम-राम नही पढता। इसे किसी को दे दें और एक नया बच्चा पाल कर उसे अभी से पढावें। पर प्रोफेसर साहब ने बडी आतुरता से कहा, "नही, नही! ऐसा न कर बैठना। दूसरे की चीज़ है। अगर वापस माँग बैठे तो? बेचारा आ गया है, तो पडा रहने दो।"

सरला दीदी उस समय तो कुछ नही बोली। पर अभी घण्टे भर पहले मुझे मकान के पीछे के इस मैदान में चुपचाप छोड गयी है।

मैं ने आस पास देखा—कोई सहारा नही था। ऐसे में बिल्ली आ जाये तो? मौत सामने दिखी तो मुझ में कुछ शक्ति आ गयी। मैं ने पख फटफडाये और फुदकता हुआ इस अमरूद के झाड के पास आ गया।

किसी तरह मुश्किल से इस सब से नीची डाल पर बैठा हूँ। अभी तो बच गया हूँ। पंखों को मरोड़ूँगा, फड़फड़ाऊँगा, सम्भव है, उड़ जाऊँ।

सरला दीदी सोचती होंगी कि मै मर गया। पर मै अभी ज़िन्दा हूँ। डैनों में बल आ जाये तो उड़ कर ग्वालियर चला जाऊँ और उमा दीदी को सब हाल सुनाऊँ। क्यों? क्या मुश्किल है? वह हीरामन तोता ही तो था जिस ने सिंहल की राजकुमारी का सन्देशा राजा को ला कर दिया था।

यह तो आगे की बात है। अभी तो इस अमरूद की डाली पर बैठ यही सोच रहा हूँ कि यह तुम मनुष्यों का कैसा प्रेम है? एक ओर तो तुम प्रेम को अमृत कहते हो और फिर उसी प्रेम के कारण तुम क्रूर, निर्दय हो जाते हो। एक ही भाव एक साथ अमृत और विष कैसे हो जाता है? एक ओर तो ईश्वर को प्रेम-मय मानते हो, प्रेम को पवित्र मानते हो और दूसरी ओर प्रेम करने वालों का जीना हराम कर देते हो। तुम्हारी जटिलताएँ तुम जानो। मैं तो प्रेम वगैरह के झमेले मे कभी पड़ता ही नही। न जाने उमा दीदी को क्या सूझा कि मुझे ही प्रेम की निशानी बना कर छोड़ गयीं। कोई अँगूठी-वँगूठी दे जाती। और अगर मुझे छोड़ ही गयी थीं, तो चिट्ठी मे क्यों लिखने बैठीं? शायद उन्हें प्रेम से सन्तोष नहीं है, प्रेम की मान्यता मे सन्तोष है। तड़पने मे नहीं, तड़पाने मे सुख होता होगा। मगर यह सरला भी अजीब है। प्रोफ़ेसर साहब ने प्रेम ही तो किया है न? लड़ाई तो नही की। किसी से लडाई करते तो बुरा मानती, पर प्रेम तो बुरी चीज़ नहीं है। और अगर प्रेम दण्डनीय ही है, तो उन्हे दण्ड दो, जिन्होंने प्रेम किया है। पर उन की तो हँस-हँस कर चाकरी करती हो और मुझ बेक़सूर को दण्ड देती हो। मै ने तो किसी से प्रेम नही किया?

[अक्तूबर १९५८]

जिस रात मौलाना ने तक़रीर फ़रमायी

शानी

•

बेगम साहिबा ने दहलीज़ में पाँव रखा नही और आमना बिछ गयी। वैसे तो आवभगत और स्वागत सत्कार के लिए दरवाज़े के पास ही जाहिदा थी, शमीम थी और आँगन मे बडी बी अलग कन्दील लिये आने वालो को रोशनी दिखाती दहलीज़ तक पहुँचा रही थी, लेकिन मेहमान मेहमान में तो फर्क होता है न। आजकल की नयी उम्र को लडकियाँ और वह भी स्कूल-कालेज में पढने वाली—शायद छोटे-बडो में तमीज़ न कर पायें और कोई ऊँच नीच या ऐसी-वैसी बात हो गयी तो कट गयी न खानदान की नाक, फिर कोई बात बनाये भी क्या होता है? सो बेगम साहिबा को देखते ही आमना ने हाथ में रखा खजूर का पखा पटका, झपट कर उठी, पल्लू सिर पर रखती बेगम साहिबा की ओर बढी और ललक कर हँसते हुए वही से पुकारा—"आइए बेगम साहिबा, खुशआमदीद।" फिर पास आ कर जरा झुकी और दाहिने हाथ की उँगलियाँ पेशानी से छुआती बोली—"आदाब अर्ज़ करती हूँ।"

शाहिदा मुँह में पान की ढेर-सी पीक भरे बैठी थी। अपने बाजू में बैठी रशीद मुशी की बीबी का ध्यान आमना और बेगम की ओर आकर्षित करने के लिए उस ने उसे कोहनी मारी लेकिन मुशी की बीबी अपने बच्चे को आँचल डाले दूध पिलाने में लगी थी। शाहिदा की कोहनी उस के घुटने में न लग कर बच्चे के सिर पर लगी और बच्चा एकबारगी ही फुक्का मार कर रो पडा। मुशी की बीबी ने चौंक कर बच्चे को देखा, लाल-पीली आँखो से शाहिदा की ओर ताका, आँचल सरका कर बच्चे को उठा लिया और ओ-ओ कर के मनाने लगी। शाहिदा बेवकूफ की तरह थोडी देर ताकती रही। कुछ कहना चाहा लेकिन मुँह में पीक भरी हुई थी। इधर-उधर नज़रें डाली—थूकने की जगह नही थी। औरतें और बच्चे खचाखच भरे हुए थे। मजबूरन अपनी ठोढी उठाये बाहर चली गयी। बच्चे का रोना रुका नही और लौटते-लौटते शाहिदा ने सुना, मुशी की बीबी बच्चे के सिर को मलती हुई सामने वाली से कह रही थी—"आग लगे ऐसे छिछोरेपन पर। ऐसी ज़ोर की कोहनी मारी कि बच्चे की साँस उखड

जाये····।"

पास ही की किसी ने जवाब में हमदर्दी जतलाते कहा—"ऐ हाँ बाई, इतनी मुस्टण्डी धरी है, क्या कम लगा होगा बच्चे को? क्या तमाशा है, ख़ुदा-रसूल के चरचे की जगह भी····"

शाहिदा को नज़दीक आयी देख वह एका-एक चुप हो गयी, थोड़ी देर के लिए दूसरी तरफ़ देखने लगी, फिर कहा—"धोखा हो गया शाहिदा से। वह दरअसल तुम्हे कोहनी मार रही थी, लग गयी बच्चे को।"

बैठती हुई शाहिदा ने शरमिन्दा हो कर कहा—"देखूँ, बहुत लग गया क्या?"

लेकिन मुंशी की बीवी ने न तो शाहिदा की बात का जवाब दिया और न उस की ओर देखा ही, बस लगातार मनाने की कोशिश करती रही। लाख हिलाने-डुलाने और 'ओ-ओ, न बाबा, ना' कह कर बहलाने पर भी बच्चे ने रोना बन्द नही किया और बहुत-सी औरतें पलट-पलट कर देखने लगीं तो सारी तान बच्चे पर तोड़ते हुए उस ने एक धौल पीठ पर जमायी और कहा—"ले और रो!" बच्चा पूरे ज़ोर से चीखने लगा और मुंशी की बीवी उसे उठा कर आँगन मे चली गयी।

शाहिदा क्या कहती? ज़रा-सा धोखा हुआ और सारी औरतों के बीच वह जलील हो गयी। उस के पेट मे क्या औलाद नहीं? बच्चों को मुहब्बत क्या वह नहीं जानती? ऐ, अकेले मुंशी की बीवी ने ही तो बच्चे नहीं जने? उस की भी प्यारी-सी बच्ची है लेकिन ऐसे पिनपिने और रोनी सूरत के बच्चों से ख़ुदा बचाये।

बाहर मर्दाने में मौलाना साहब तक़रीर करते-करते पूरे जोश मे आ गये थे और अपने अन्दाज और लच्छेदार भाषा से लगभग सन्नाटा खींच दिया था।

शमीम अब परदे के पास जाहिदा के पास खड़ी थी। वह जाहिदा से आहिस्ते-आहिस्ते कुछ कहती, वे दोनों परदे से बाहर थोड़ा झाँक कर देखतीं और मुँह में दुपट्टा ठूँस-ठूँस कर हँसती।

वाज़ शुरू हुए अभी एक घंटा नहीं हुआ, दस भी नहीं बजे और पीछे थोड़ा अँधेरे में बैठे अलाउद्दीन साहब (जो पिछले साल हज कर आये थे) आँखें बन्द किये धीरे-धीरे झूमने लगे, लेकिन थोड़ी देर में ही झूमना बन्द हो गया और अलाउद्दीन साहब अपनी सफ़ेद और मुक़द्दस दाढ़ी के साथ मिनट-मिनट पर झोंके खाने लगे। पास बैठे कुछ शरारती बच्चे थोड़ी देर तक तो घुटनों की आड़ में मुँह छिपा-छिपा कर हँसते रहे लेकिन जैसे ही अलाउद्दीन साहब का झोंका मिनट से उतर कर सेकेण्ड पर आ गया, उस में से एक ने ज़रा हिम्मत की, आगे बढा और अलाउद्दीन साहब की पीठ के बहुत पास बैठ, सब की नजरें बचा कर, बड़ी सफ़ाई के साथ उन के ढीले कुरते का एक छोर चटाई की डोरी से बाँध दिया।

शमीम और जाहिदा का परदे के पास खड़े रहना और हँसना अधिक देर तक नहीं हुआ क्योंकि किसी ने देख लिया कि मरदाने मे सब से पिछली सफ़ मे बैठा हुआ माल-

गुजार का लडका सलीम बार-बार इधर परदे की ओर ही देखे जा रहा था। थोडी ही देर मे औरतो मे चिमगोइया शुरु हो गयी। एक ने खालिदा की ओर झुक कर कहा—"हाय अल्ला, तौबा! कैसी दीदाफट लडकियाँ है? न बडो का लिहाज न छोटो का डर।"

खालिदा ने सुना नही, अपने पास वाली से बातो में लगी थी। पहले तो उस ने यह पूछा कि उस ने कौन सा साग बनाया है, फिर सब्जी न मिलने की शिकायत करती हुई आजकल की महँगाई और अपने शौहर की फिजूलखर्ची की बात करने लगी - हर चीज मे आग लग गयी है। खालिस घी मिलता नही। अच्छा कपडा तीन रुपये गज से नीचे नही आता। समझ मे नही आता कि हमारे जैसे छोटे लोग जियें भी तो कैसे जियें। अब देखो न, इन्हे दो सौ रुपये मिलते है "

वहीदा को लगा कि खालिदा घुमा फिरा कर केवल यह बताना चाहती थी कि उस के शौहर को दो सौ मिलते हैं। अरे, दो सौ मिलते हैं तो मिला करें। सुनाती किस को है? वहीदा भले ७० रुपयो से अधिक हर माह न देख पाये लेकिन इज्जत के साथ तो रहती है। वहीदा से खालिदा का क्या छुपा है? खालिदा शान बघार ले इन लोगो के सामने—जो कुछ जानती नही, बेवकूफ है, वहीदा के आगे क्या जबान खोलेगी? बडी बात मे तौबा उसे सब मालूम है कि खालिदा के शौहर के दौरा चले जाने पर उस का मामूजाद भाई क्यो दिन रात बाजीजान-बाजीजान कर के घुसा रहता है। अरे मान लिया कि भाई है, एकाध दो बरस छोटा भी है पर इस का मतलब यह तो नही कि रात-दिन मुँह से मुँह जोडे बैठे रहो और इतने बडे, जवान और तन्दुरुस्त लडके की रानें दबाओ। और अन्नू की माँ क्या बोलेगी माटीमिली? अरे लडकियाँ है, हँसने खेलने की उम्र है। परदे के पास खडी हँस दी तो कौन सा गुनाह कर डाला? अब वहीदा की जबान न खुलवाओ। शमीम-जाहिदा ने ताक-झाँक ही तो की, और कुछ तो नही किया?

वहीदा ने वैसे कुछ नही कहा लेकिन खालिदा और अन्नू की माँ से बात फिसलती-फिसलती वहाँ से बडी दूर बैठी जाहिदा की खाला तक पहुँची और उस ने वही से पुकार कर डाँटा—"अरी ओ जाहिदा, परदे की आड से क्या अपने खसम को झाँक रही है हराम-जादी?"

जाहिदा इतनी औरतो के बीच जैसे कट कर रह गयी। शमीम उतरा हुआ चेहरा लिये अँधेरे कोने में सरक कर बैठ गयी और जल कर जाहिदा को सुनाया—"खाला बूढी हो रही हैं न, जवान लडकियो को देख कर उन के सीने पर साँप लोटने लगता है।"

शमीम के पीछे कोई जाने किस बात पर कह रही थी—"अरे बाजी की बात। नयी दुल्हन है ठीक है, बडे घर की बेटी है यह भी ठीक, लेकिन यूँ रक्कासा की तरह सिंगार कर के ही ही करते घूमना क्या अच्छा लगता है? कुछ तो बडे-बूढो का लिहाज होना चाहिए।"

बाहर मौलाना साहब का बोलते बोलते

गला सूखने लगा—बैठ कर चाय पी रहे थे। पिछले दो हफ़्तों से सफर और जगह-जगह की तक़रीरों से उन की आवाज ने तो करीब-करीब साथ छोड़ ही दिया था, अब जिस्म भी साथ नहीं दे रहा था। कहने लगे कि अधिक देर बोलना अब उन से नहीं होगा। अभी-अभी इस्लाम को उन्होने बिलकुल साइंटिफिक ढंग से समझाया था। लोगों के सामने यह बात रखी कि यह मजहब इन्सान को इन्सानियत की सीख देता है, छोटे-बड़े और अमीर-ग़रीब मे भेद करना नहीं सिखाता। उन्होंने अफ़सोस जाहिर किया कि लोग मजहब को ठीक से समझ ही नही पाते। जो छोटे-बडे, अमीर-ग़रीब और इन्सान-इन्सान मे फ़र्क़ करता है वह और कुछ भले करे खुदा की इबादत क़तई नही करता।

चाय पी कर उठने के बाद मौलाना साहब ने घडी देखी—अभी सिर्फ साढ़े ग्यारह बजे थे। इस आश्वासन के साथ कि रात हालाँकि ज़्यादा हो गयी है लेकिन वे लोगों का अधिक वक़्त न ले कर कुछ ज़रूरी बातें बता देना चाहते है, उन्होंने औरतों और लड़कियों के लिए मजहब की आवश्यकता और उन के मुकाम की बात शुरू कर दी।

सामने बच्चों की कतार अब गायब हो चुकी थी और धीरे-धीरे एक-एक कर के सभी अपनी जगह पर टाँगें फैला कर आहिस्ते से लुढक गये थे। अलाउद्दीन साहब मौलाना की चाय के दौरान मे अपनी आँखें खोले किसी तरह सँभल गये थे लेकिन मौलाना की तकरीर शुरू होते ही जरा पीछे सरके, अपने को खम्भे की आड़ मे छिपाया और नये सिरे से झोंके खाने लगे। अलाउद्दीन साहब को नीद आने की बात अजीब है। उन्होंने शहर भर में अपने को मशहूर कर लिया था कि उन्हे रात में नीद नहीं आती इस लिए वे आधी-आधी रात तक अपने मकान के सामने वाली अँधेरी सड़क पर टहला करते हैं। अब उन शैतान के बच्चों का कोई क्या करे जिन्होंने अलाउद्दीन साहब के आधी रात मे टहलने को ले कर कई गढ़े हुए किस्से मशहूर कर दिये थे। वे तो बिचारे अल्लाह वाले है। घर से मसजिद, मसजिद से घर। आप भला, जग भला।

उन से कुछ दूर पर नईम साहब थे। चालीस की उम्र मे ही उन्होंने दुनिया का मोह छोड़ दिया था उन का कुछ बरस पहले का लहीम-शहीम जिस्म अब सूखा जा रहा था। केले और काँटे की क्या प्रीत? इबादत मे जान-जिस्म की मुहब्बत कैसी? पाँच बरस पहले उन की जवानी के किस्से घर-घर सुने जाते थे। आज भी कुछ लोग नईम साहब की पिछली जिन्दगी की बात छुप-छुप कर कहते-सुनते हैं। लेकिन उस से क्या? ठोकर खा कर ही तो आदमी सँभलता है। अब तो तन-मन दोनों की हुलिया बदल गयी थी। चिकने-गोरे गालो पर बेतरतीबी से उग आयी दाढी, कन्धों तक झूलने वाले लम्बे बाल (क्योंकि किसी पीर के मुरीद भी थे) और हमेशा संजीदा बना रहने वाला चेहरा—कई बरस से लोगो ने उन्हे मुसकराते हुए नही देखा। एक टाँग मोड़ कर दूसरा घुटना ऊपर किये और रान की आड मे सिर छुपाये (रोशनी से

आँखे चौंधियाती है) नईम साहब बैठे हुए थे। उन की आँखें बन्द थी। कम्बख्त आँखें ही तो सारे गुनाह की जड होती है। उन्हें जितना बन्द रखा जाये उतना अच्छा। कुछ लोग होते हैं जो मीलाद, वाज़ वगैरह में ख्वामख्वाह मौलाना को टुकर-टुकर देखे जाते है। नईम साहब उन लोगो में नही। आँखें बन्द कर के सुनना ही डूब कर सुनना होता है, इसे वह अच्छी तरह जानते थे।

बारह बजते न बजते मजलिस और संजीदा हो गयी और क़रीब क़रीब हर आदमी ने (मौलाना के बिलकुल सामने बैठे दो चार को छोड कर) नईम साहब की तरह डूब कर सुनना शुरू कर दिया।

कुछ देर में ही वाज़ खत्म हुआ। आधी रात का सन्नाटा कई मिले-जुले कण्ठो के सलाम पढ़ने मे उजडा। सलाम पढ़ना हुआ और मौलाना साहब की तक़रीर की तारीख एक कोने से दूसरे कोने तक उछलने लगी और वहाँ के अधिकाश ने एक के बाद एक अपने-अपने घर के प्रोग्राम की सूचना मौलाना को देनी शुरू कर दी। मौलाना साहब ने साफ-साफ कह कर माफी माँग ली कि उन के दूसरे प्रोग्राम दो-तीन शहरों में पहले से तय है, लिहाजा दो दिनों से ज्यादा टिकना उन से नही होगा। सवाल सिर्फ दो रातो का था अत अपने-अपने के लिए बडी खीचतान मची और अत में एक दिन मजिस्ट्रेट साहब और दूसरे दिन सेठ बरकतुल्ला (जो पहले बाजार-हाट में बोरी छिपा कर नमक बेचते थे और अब दल्लाली के धन्धे से शहर के बडे व्यापारियो में से थे) के यहाँ तक़रीरें तय हो गयी।

बशीर मियाँ मरी बकरी की तरह टट-टट देखे आयें। उगलते बने न निगलते। मौलाना साहब को जब बशीर मियाँ ने कही नागपुर में सुना था तभी मन ही-मन तय कर लिया था कि उन्हें किसी तरह अपने शहर तो बुलवायेंगे ही। अपने घर में ही तक़रीर करवायेंगे। अपने घर में मीलाद-वाज़ कराने की आरज़ू बरसो पुरानी थी लेकिन पैसा ही नही जुट पाता था। लेकिन इस बार वह चिनगारी शोला बन गयी और नागपुर से लौटने के बाद मौलाना साहब के बुलवाने के लिए खत लिखने से ले कर बस स्टैंड में गजरे ले कर खडे रहने तक का काम बशीर मियाँ ने किया था। पैसो से गरीब हुए तो क्या हुआ, दिल तो छोटा नहीं था। किसी तरह उन्होंने पेट काट-काट कर कुछ पैसे जोड लिये थे और मौलाना के आते ही उन्होने सब से पहले झेंपते हुए उन से कहा था—"मेरे ग़रीबखाने पर भी आना होगा। ये लोग तो आप का आज इन्तज़ार कर रहे है, मै तो पाँच महीनो से आप की तैयारी में हूँ।" मौलाना साहब ने कहा था—"बशीर मियाँ, मै आप लोगों की खिदमत के लिए ही तो आया हूँ।"

सचमुच बशीर मियाँ ने काफी तैयारी कर ली थी। शीरनी में खजूर या बिस्कुट (पैसे में दो वाले) बशीर मियाँ को पसन्द नही। उसे बाँटना उन्होने कभी ठीक नही समझा। होटल वाले को दस सेर मिठाई का ऑर्डर बहुत पहले से दे रखा था। बिछावन के लिए बडी-बडी दरियाँ आज सुबह से ही

आ गयी थीं और दावतनामा तो बशीर मियाँ, ने हफ़्ते भर पहले से बाँटना शुरू कर दिया था।

ऐन वक़्त पर इस तरह की बाधा आने की बात उन्होंने सोची भी न थी। लोग तो बस मजिस्ट्रेट साहब और सेठ बरक़तुल्ला का नाम सुन कर चुप कर बैठे। किसी ने जानने की कोशिश नहीं की कि मौलाना को बुलवाने में उन लोगों की दिलचस्पी कितनी थी और चन्दे में क्या दिया था। अब जहाँ इतने बडे-बड़े रोब-दाब वालों ने कुछ नहीं कहा तो बशीर मियाँ की क्या गिनती? चुपचाप मुँह खोले, मौलाना मजिस्ट्रेट साहब और सेठ बरक़तुल्ला को देखे जायें। कोई उन भले आदमियों से जा कर पूछता कि बशीर मियाँ ने हफ़्ते भर से जो इतना हल्ला मचा रखा था आखिर उस का क्या होगा? बशीर मियाँ ने एक-एक के चेहरे को टटोला—कहीं कोई नहीं। सब मुँह देखे बीड़ा देने वालों में से थे।

तभी शमीम के वालिद साहब ने आवाज़ दी—"बशीर मियाँ, मुँह क्या ताक रहे हैं, उठ कर पान, इत्र दीजिए।"

घुटनों पर हथेलियाँ रख कर बशीर मियाँ उठ गये।

भीतर बड़ी घमा-घमी थी। कोई तीन-साढे तीन घण्टों का दबाया गया मौन अब खुल गया था। औरतों-लड़कियों की आवाजें, बच्चों की चीख़-चिल्लाहट और उमस-भरी गरमी की बेचैनी में दम घुटने लगा। बेगम साहिबा अलग-थलग एक गलीचे पर बैठी इत्मीनान से पान चबाती और पंखा झलती हुई यूँ मुसकरा रही थीं जैसे तमाशा देख रही हों। शमीम, जाहिदा, सलीमन और दूसरे लोगों को काम सौंप कर आमना दरवाजे के पास खड़ी बड़ी-बी को डाँट रही थी—ए बड़ी-बी, बेगम साहिबा के लिए रिक्शा अभी तक नहीं आया? इस घर मे नासपीटे लोग ही ऐसे हैं कि भले आदमियों को बुलाने में डर लगता है। अब खड़ी चेहरा क्या देख रही है?…."

शमीम इत्र लगा रही थी। जाहिदा गजरे डाल रही थी और सलीमन ने एक कोने से शीरनी बाँटना शुरू कर दिया था। जाने की जल्दी सब को होती है और फिर बाल-बच्चे वाले आखिर क्या करें? औरतों ने बच्चों को जगाना शुरू कर दिया। कई उठे, कई रोने लगे और कई तो बैठ कर फिर लम्बे हो गये।

सलीमन कितनी सुस्त है। अभी तक बीस लोगों में शीरनी नहीं बँटी। जितना काम नहीं करती उस से ज़्यादा जबान चलाती है। खालिदा ने जल कर कहा—"नाग-नागिन का ब्याह और पनिहा सलमलाये। शीरनी बाँटने के लिए ही तो सलीमन मीलादो-वाजों में आती है। अपने वालों को देखो तो मुट्ठियाँ भर-भर देती है। अरे, कोई मिठाई के लिए नहीं मरा जाता। बात पर बात पड़ती है तो कहना होता है।"

सलीमन अभी दूर थी पर अन्नू की माँ अपने दोनों बच्चों को जगाने लगी। बड़ी जद्दे-जहद के बाद बड़ा लड़का अन्नू तो उठ

[शेष पृष्ठ २९० पर]

खगेन बाबू का निधन

मोहन सिंह सेंगर

उस दिन नगर के एक ख्यातनामा साहित्यिक के निधन पर शोक मनाने को हुई नागरिकों की विराट् सार्वजनिक सभा से लौटते समय खगेन बाबू भी मेरे साथ हो लिये। पर रास्ते-भर वे इतने गुमसुम और चुपचाप थे, जैसा कि मैं ने उन्हें पहले कभी नही देखा था। सभा में उन्होंने दिवगत आत्मा के प्रति श्रद्धाजलि अर्पित करते हुए जो रोचक सस्मरण सुनाये थे, उन से मुझे पहले-पहल मालूम हुआ कि उन से खगेन बाबू का इतना घनिष्ठ और निकट का सम्बन्ध था—यद्यपि पहले कभी भूल कर भी खगेन बाबू के मुँह से मैं ने उन का ज़िक्र या नाम नही सुना था।

काफी रास्ता तय करने पर भी जब खगेन बाबू कुछ न बोले, तो मुझे जरा विस्मय हुआ कि जिन की जबान पर सरस्वती नही, तो मार्कोनी का रेडियो सदा विराजता है, वह आज एकदम बन्द क्यो? फिर सोचा कि सम्भवत दिवगत आत्मा के बहुत निकट और अन्तरग बन्धु होने के कारण उन के वियोग मे खगेन बाबू बहुत पीडित हुए हैं, इसी लिए शायद कुछ बोल नही रहे। पर जब मेरे धैर्य और सयम ने जवाब दे दिया, तो मैं ने उत्सुकतावश पूछ ही लिया—"आप बहुत गमगीन हो रहे है, खगेन बाबू। आखिर क्या सोच रहे है?"

"कुछ नही रे भाया, कुछ भी तो नही।"—एक लम्बी ठडी साँस ले कर खगेन बाबू ने कहा।

मैं ने उन की उदासी को दूर करने के विचार से कहा—"जान पडता है, दिवगत आत्मा से आप का बडा निकट का सम्बन्ध था। शायद इसी लिए आप इतने शोकसन्तप्त है।"

"दुर!"—मुँह बना कर खगेन बाबू ने कहा—"उन्हें देखा किस भडवे ने था? मेरे तो दुश्मन भी उन्हें नही जानते।"

मैं अपने कानो पर विश्वास न कर सका। सकपका कर पूछा—"क्या कहा आप ने—आप ने उन्हें कभी देखा भी नही? तब आप ने उन के बारे में जो सस्मरण सुनाये, वे "

"वे तो इस लिए कि जब आप लोग सब एक-दूसरे का मुँह ताकने और बगलें झाँकने लगे, तब मैं क्या करता? किसी को तो कुछ

कहना ही चाहिए। आप लोग ठीक से सभा-सोसाइटियों का आयोजन-संचालन करना जानते ही नहीं। अरे, बिना पहले से बोलने वाले ठीक किये कहीं मीटिंगें की जाती हैं ?"

"हाँ, वह तो आप ठीक कहते हैं। पर मेरी तो यह अभी तक भी समझ में नहीं आया कि जिस व्यक्ति को आप ने देखा नहीं, जाना नहीं, उस की कोई किताब तक नहीं पढ़ी, उस के बारे में इतने और ऐसे संस्मरण सुना कैसे सके ?"

"समझने का इस मे कोई बात नहीं रे, भाया ! ये सब बुद्धि, प्रतिभा और कल्पना का चमत्कार है ! जब हम बिना गान्धी जी या नेता जी से मिले या उन्हें जाने भी उन के संस्मरण सुना सकते हैं, तब छोटा-मोटा साहित्यिक बेचारा तो किस खेत की मूली है ?"

यह सुन कर मुझे पश्चात्ताप होने लगा कि इतने दिनों से खगेन बाबू को जान कर भी मैं ने व्यर्थ यह प्रश्न क्यों पूछा उन से ? वे जीवन में तथ्य या सत्य के गुलाम कभी नहीं रहे। अतः उन की बातों को मुट्ठी-भर नमक के साथ ही लेना चाहिए।

पर अब जब खगेन बाबू का मौन भंग हो चला था, तो उन से चुप रहने की आशा नहीं की जा सकती थी। मेरी ओर देख कर उन्होंने पूछा—"अच्छा, यह बताओ कि तुम क्या सोच रहे थे ?"

"मैं ?"—जरा झिझकते हुए मै ने कहा—"मै तो यही सोच रहा था कि आप जो इतने ग़मगीन और एकदम चुप हैं, सो ज़रूर कुछ सोच रहे होंगे।"

"सो तो ठीक ही है।"—खगेन बाबू ने मुसकरा कर सन्तोष के साथ कहा—"पर जानते हो, मैं क्या सोच रहा था ?"

"जी नहीं, वह भला मैं कैसे जान सकता हूँ ?"

"सिक्स्थ यानी छठी सेंस से मैं सोच रहा था कि···"

"जी नहीं। मुझ में तो पाँच सेंस ही नहीं, तब छठी भला कहाँ से आयेगी ?"

"ख़ैर, मजाक़ छोड़ो। सच तो यह है कि मैं अपने बारे में सोच रहा था और उसी लिए ग़मगीन भी हो रहा था।"

"अपने लिए?"

"हाँ, हाँ भाई, अपने लिए। क्यों, अपने लिए कुछ सोचना क्या कोई पाप है ?"

"जी नहीं, पाप तो नहीं। पर आखिर अपने बारे में आप क्या सोच रहे थे ?"

एक क्षण मेरी ओर देख कर तनिक गम्भीर होते हुए खगेन बाबू ने कहा—"हम सोच यह रहे थे कि जब इतने बडे साहित्यिक के निधन पर हुई नागरिकों की विराट् कही जाने वाली शोक-सभा में भी सिर्फ गिनती के आठ-दस आदमी आये और उन मे भी सभा-पति होने और बोलने वाला कोई नहीं, तो भला तुम्हारी-हमारी शोक-सभा में कौन आयेगा ?"

"तो क्या आप जल्दी ही मरने की बात सोच रहे है ?"

"अरे, नही रे भाया। पर मृत्यु के आगे तो किसी की ज़ोर-जबरदस्ती चल नही

सकती। मान लो कि अगर कल मुझे जाना ही पडे तो सब बटाढार! कोई नाम लेवा भी तो नही! फिर मेरे खिलाफ तो न जाने धोखाधडी और हत्या के लिए कितने वारट निकले हुए हैं। मान लो कल पकडा जाऊँ और देश के लिए मुझे फाँसी के तख्ते पर झूल जाना पडे, तो तुम लोग क्या तो मुझे याद करोगे और क्या मेरा स्मारक बनवाओगे ?"

मै ने विस्मित हो उन की तरफ देखा और फिर उन के कान के पास मुँह ले जा कर पूछा—

"क्या कहा आप ने—धोखाधडी और हत्या के वारट ?"

"हाँ रे भाया, हाँ! पर ये जुर्म हम ने खुद नहीं किये। इन के करने वालो को बचाने के लिए ही हम ने उन के अपराध अपने ऊपर ले लिये और उन्हें अभय दान दे दिया!"

"आप धन्य है, खगेन बाबू! सचमुच आप एक महान् आत्मा है!"

"उस में तो तुम को क्या, हमें भी कभी कोई शक नही हुआ। पर दुनिया माने तब न।"

"पर आज नही, तो कल मानेगी। एक दिन जरूर मानेगी।"

"जरूर मानेगी! बस, तुम्हारे कहने से ही ?"—मुँह बना कर खगेन बाबू ने जरा आवेश के साथ कहा—"अरे भाया, सीधी अँगुली से भी कभी घी निकलता है? उसे मनवाना होगा। उस के दिमाग में कील ठोक कर मनवाना होगा।"

"सो भला कैसे ?"

"वह हर किसी को बताने की बात थोडे ही है। वह हमारा ट्रेड सीकरेट है! पर तुम तो जानते ही हो कि हम वाक्शूर नहीं, कर्मशूर है। एक दिन देखोगे कि हम अपनी शोक-सभा और स्मारक का काम किस खूबी के साथ कर के दिखाते हैं!"

"क्या कहा—आप स्वय अपनी शोक-सभा और स्मारक ?"—मै ने हँसते हँसते कहा।

"ये हँसी का नही, अक्किल का बात है रे भाया! पर तुम अभी बच्चे हो। तुम कैसे समझोगे इन गूढ रहस्यो को ?"

मै ने देखा, यह कहते-कहते खगेन बाबू का चेहरा और भी गम्भीर हो गया था और मै अपनी हँसी रोक नही पा रहा था। उन्होने तनिक खिन्न हो कर कहा—"जाओ, जाओ, दाँत क्या निकालते हो? जा कर अपना काम करो।"

वे चौराहे से दाहिनी तरफ मुड गये और मै बायी तरफ। हँसी आने के कारण मैं उन्हें नमस्कार तक नही कर पाया।

●

कई दिन बीत गये। बात आयी-गयी हुई और मुझे उस की याद भी नही रही। सहसा एक दिन एक दाढी-मूँछ और सिर घुटवाये व्यक्ति को कोरी धोती में बगल में कुशासन दबाये अपने द्वार पर खडा देख कर मै जैसे अपनी आँखो पर विश्वास नही कर सका। मै कुछ पूछूँ, इस से पहले ही आगन्तुक ने पूछा—"माफ कीजिएगा, वर्मा बाबू आप ही है न ?"

मैं अपनी हँसी नहीं रोक सका। बोला—"अरे खगेन बाबू, आप ने यह क्या भेष बनाया? और क्या मुझे आज नये सिरे से आप को अपना परिचय देना होगा?"

किसी साधु-संन्यासी की-सी मुद्रा मे हाथ उठा कर मुझे आशीर्वाद-सा देते हुए आगन्तुक ने कहा—"यह आप की आँखों का भ्रम है। मैं खगेन नही, नृपेन हूँ। उन का छोटा भाई।"

मै ने अपनी आँखें मलीं और गौर से उन्हें देखते हुए बोला—"लेकिन आप को पहले कभी तो देखा याद नहीं पड़ता और न कभी खगेन बाबू ने ही ऐसा जिक्र किया कि उन का कोई छोटा भाई भी है।"

"आप पहले कैसे देखते और दादा भी कैसे जिक्र करते? मै लड़ाई मे जो गया हुआ था।"

"लड़ाई मे?"—आश्चर्यचकित हो मैं ने पास ही टँगे १९६० के कैलेंडर पर नजर डालते हुए पूछा—"लेकिन इस समय कहाँ लड़ाई हो रही है?"

"इस समय नहीं महाशय, १९४२-४३ मे भारत को स्वतन्त्र करने को जो राष्ट्रीय संग्राम हुआ था, मै उसी की बात कर रहा हूँ।"

"अच्छा! तो आप का मतलब आज़ाद-हिन्द-फ़ौज से है। तब तो आप नेता जी के साथ भी रहे होंगे?"

आगन्तुक ने तन कर खड़े हो दोनों पाँव मिला कर फ़ौजी सलाम करते हुए कहा—"ओ यस! और साथ ही नही रहा, मै उन का दाहिना हाथ भी था।"

"अच्छा!"—मैं ने साश्चर्य उन्हें घूरते हुए कहा—"पर उन के बारे मे जो विवरण पत्रों में या पुस्तकाकार छपा है, उस में नृपेन नाम तो शायद कही भी नहीं आया।"

"आयेगा कैसे? मै ने रोक जो दिया। दादा की तरह मैं भी देश की मूक सेवा में ही विश्वास करता हूँ, नाम और विज्ञापनबाज़ी में नहीं।"

"लेकिन उस लड़ाई को तो खत्म हुए ही कई बरस बीत चुके। आप अब तक कहाँ थे?"

"युद्ध-बन्दी कैंप में, और कहाँ?"

"युद्ध-बन्दी कैंप में? क्या वे सब अब तक उठा नही दिये गये?"

"सब नहीं। मुश्किल तो यही है कि आप लोगों को पूरी जानकारी तो रहती नहीं और बस....."

"सो तो आप ठीक ही कहते हैं। हाँ तो, आप अब तक थे कहाँ?"

"कूकीयामा मे।"

"कूकीयामा? यह भला कहाँ है?"

"जापान मे। लेकिन इसे आप किसी भी नक़्शे मे नही पायेंगे। शत्रुओं की जानकारी से छिपाने के लिए जापान के फ़ौजी अधिकारियों ने इसे किसी भी नक़्शे मे नहीं दिखाया है।"

"लेकिन जापान तो हमारी स्वाधीनता में सहायता कर रहा था। उस ने भला आप को युद्ध-बन्दी क्यों बनाया?"

"बस, यही तो है सारा रहस्य। पर

अभी मैं इस बारे में कुछ नहीं बताऊँगा। किसी दिन आप स्वयं इस रहस्य को मेरी आत्मकथा से ही जान सकेंगे।"

"अच्छा, तो आप वहाँ से भारत लौटे कैसे?"

"एक भारतीय पनडुब्बी में।"

"भारतीय पनडुब्बी मे? लेकिन भारत में पनडुब्बियाँ कब से बनने लगीं?"

"देखिए, यह एक ऐसा फ़ौजी रहस्य है, जिस के बारे मे मैं कुछ भी बताने से मजबूर हूँ।"

"खैर, जाने भी दीजिए। अच्छा, तो कहिए, कैसे कष्ट किया आप ने?"

"कष्ट मै ने क्या, कष्ट तो आप को करना होगा। यह देखिए।"—कह कर उन्होंने बगल में दबाये कुशासन से एक हैंडबिल निकाल कर मेरी ओर बढ़ा दिया।

मै ने हैंडबिल ले कर पढ़ा। ऊपर बड़े-बडे मोटे टाइप में छपा था—शोक! शोक!! महाशोक!!! और नीचे खगेन बाबू के निधन पर होने वाली शोक-सभा का विज्ञापन था।

आगन्तुक ने कहा—"खगेन बाबू ने अन्तिम क्षण तक बड़ा जोर दे कर कहा था कि आप चूँकि उन के सब से अन्तरंग बन्धु हैं, अतः आप इस मे जरूर आयें और उन के बारे मे दो शब्द भी कहें।"

"देखिए, आने की तो मै अवश्य चेष्टा करूँगा; पर उन के बारे में कहने के लिए तो वैसा कुछ..."

"वह आप को कुछ सोचना न होगा। आप का भाषण वे स्वयं लिख कर दे गये है। यह देखिए।"—कह कर आगन्तुक ने बग़ल मे दबाये कुशासन को फिर खोला और उस मे से टाइप किये हुए कई पृष्ठों का एक भाषण निकाल कर मेरी ओर बढ़ा दिया।

मै ने उसे लेते हुए कहा—"यह तो आप ने मेरी सारी मुश्किल ही आसान कर दी। क्या इस में उन के राजनीतिक, सामाजिक..."

"जी हाँ, इस मे उन से सम्बन्धित सब बातें आ गयी है। हमारे देश मे 'बंग-भंग' से ले कर 'भारत छोड़ो' तक ऐसा कोई आन्दोलन नहीं चला, जिस मे उन्होंने भाग न लिया हो। इस बीच भारत मे ऐसा कोई गवर्नर-जनरल, गवर्नर या लेफ़्टिनेंट-गवर्नर और बाद मे चोटी का नेता नही हुआ, जो उन्हे न जानता हो।"

मुझे अपनी ओर घूरता देख कर आगन्तुक ने कहा—"अच्छा, तो अब आज्ञा दीजिए। मुझे अभी और सब मित्र-परिजनों, नेताओ, लेखकों, कलाकारों, अखबारों के सम्पादकों, उपसम्पादको, प्रूफ-रीडरों, रिपोर्टरों और न्यूज-एजेंसियों के मैनेजरों, टाइपिस्टों और चपरासियों आदि के पास भी जाना है। ऐसा कोई क्षेत्र नहीं, जिस में दादा को जानने वाले लोग न हों। पर हाँ, इस बात का ध्यान रहे कि आप समय से कुछ पहले ही पहुँचें, क्योंकि जबरदस्त भीड़ होने की सम्भावना है; फिर आप का मंच तक पहुँचना भी कठिन होगा।"

"सो तो ठीक है। पर देर हो गयी, तो पीछे हो खडा हो जाऊँगा। इस में भला क्या बात है?"

द्वारा मृत बन कर जीवन-बीमा का रुपया बेईमानी से हड़पने के षड्यन्त्र में शामिल है। आप को भी हमारे साथ चलना होगा।"

मैं ने उस से तो कुछ नही कहा, पर खगेन बाबू की ओर देख, खीझ कर जरूर कहा—"यह आप ने मेरे साथ कैसा पड़ोसी-धर्म निभाया, खगेन बाबू?"

"खगेन नही, नृपेन कहो। खगेन दा अब इस लोक में कहाँ?"—कह कर तथाकथित 'नृपेन' बाबू ने खीसें निपोर दी।

[मई १९६०]

[जिस रात मौलाना ने तक़रीर फरमायी पृष्ठ २८१ का शेषांश]

बैठा लेकिन उस से छोटी लड़की नही उठी और नींद में रोने लगी।

खालिदा ने कहा—"सोने दो न बहन, क्यो जगाती हो?"

वहीदा जो अब तक चुप बैठी देख रही थी, एकाएक हँसकर बोली—"बच्चे ठहरे, न जगाने पर सुबह अपने हिस्से की शीरनी माँगने लगेंगे।"

अनू की माँ ने जलती हुई आँखों से वहीदा को घूर कर देखा, फिर जबरन मुसकरा कर बोली—"मेरी बेबी मीठा खाती ही नही।"

बाहर बेगम साहिबा के लिए रिक्शा आ गया था। मरदाने में अब बहुत कम लोग रह गये थे।

केवल मौलाना साहब दो-चार शागिर्दों से घिरे जोर जोर से हँस रहे थे। उन के पास ही बशीर मियाँ बड़ा मिस्कीन सा चेहरा लिये अदब से खड़े थे। चाय का एक दौर और चला और उस के बाद सब बाहर निकले। बशीर मियाँ मौलाना साहब के पीछे-पीछे बड़े ठंडे कदमो से सिर झुकाये चल रहे थे। आमना के शौहर मौलाना साहब को थोड़ी दूर तक छोड़ने आये थे। अपने घर में मौलाना साहब के आने और तकरीर फरमाने के लिए बहुत भीग कर उन्होंने शुक्रिया अदा किया। सलाम दुआ और मुसाफा के बाद जब मौलाना आगे बढ़ गये तो आमना के शौहर ने धीरे से बशीर मियाँ के कन्धे पर हाथ रख कर रोक लिया। जब देखा कि मौलाना काफी दूर निकल गये तो आहिस्ते से बोले—"जी छोटा न करो बशीर मियाँ! खुदा-रसूल का चर्चा जैसे तुम्हारे घर में वैसे मस्जिद में।" फिर अपनी आवाज को और कम कर के राज़दाराना ढंग से कहा—"क्यो बेकार खर्च में पड़ते हो।"

[जनवरी १९५९]

उड़ी हुई दीवार और विलायती छाप मेम

केशवचन्द्र वर्मा

•

"शेट''''पुना देखेंगा ?"

'अमृततुल्य चहा' वाले साइनबोर्ड के नीचे एक छोटी-सी ढाबेनुमा चाय की दूकान के सामने एक बेंच पर वह अधपकी उम्र का आदमी बैठा हुआ, मुँह मे बीड़ी दबाये, हम से यह सवाल पूछ रहा था। गन्दी धोती पर एक गन्दी क़मीज और उस पर खाकी रंग का एक मैला-सा कोट, साँवले रंग का चेहरा जिस पर ऊबड़-खाबड़ लॉन की तरह अधपकी खिचड़ी दाढ़ी के बाल, सामने की मेज़ों पर 'सिंगल कप चहा' की पी हुई प्यालियों के बीच बैठा फकफक बीड़ी का धुआँ छोड़ता हुआ वह आदमी अपने पहले ही सवाल से कुछ विचित्र लगा। हम और रोशनलाल दोनों उस की तरफ़ देखने लगे। बाहर से आये हुए आदमी को ताड़ लेना कोई बहुत कठिन काम नहीं होता; लेकिन चूँकि हम लोग कोशिश कर के इस तरह व्यवहार कर रहे थे कि कोई यह भाँप कर उल्लू न बना जाये इस लिए इतनी आसानी से सही निशाने पर मारा जाने वाला टुकड़ा पा कर जरा चकरा गये थे।

रोशनलाल मेरे पुराने साथियों मे से है। पैसे वाले आदमी है। हर पैसे वाले आदमी के अपने-अपने खब्त होते हैं। अपनी पढ़ाई खत्म करते-करते उन्हें इतिहास का रोग लग गया था। जहाँ-कहीं भी आते-जाते, वे अपने चारों ओर की चीजों को इस गौर के साथ देखते कि जैसे उन सभी चीजो मे जो इतिहास का टुकड़ा अब तक छिपा पड़ा रह गया है उसे रोशनलाल ही खोद कर बाहर निकालेंगे। गाँवों मे जा कर इधर-उधर से पत्थरों के टुकड़े और टूटी हुई मूर्तियाँ अपनी मोटर मे चुरा-चुरा कर लाये थे। कितनी बार अपने इस दुस्साहस के लिए उन्हे इतिहास-प्रेम मँहगा भी पड़ चुका था, पर जैसा मैं ने कहा, उन्हे इस का रोग लगा हुआ था। जो लोग लखनऊ मे उन का ड्राइंगरूम देख चुके हैं उन्हे मुरदा-अजायबघर देखने की जरूरत नही है। बड़ी-बड़ी क़ीमती मेजों और शीशे की आलमारियों मे जाने कहाँ-कहाँ का लोहा-लक्कड़ और अंगड़-खंगड़ सामान सजा-सजा कर इस तरह रखा है कि उसे कबाड़ी की दुकान कहने मे भी डर लगता है। ताकों पर, मेटल-पीसों पर, लकड़ी की टँगी हुई

दीवारगीरा पर, किसी पत्थर की मूर्ति का सिर है, किसी का धड है, किसी का सिर्फ पैर है। बच्चो के खिलौने वाली गाडिया के पहिये, मिट्टी की गोलिया और लखौरी ईंटो की अनेक डिज़ाइनो से ले कर बडे बडे गुम्मे और पके हुए ढेले, उन की शीशे की आलमारी में इतने करीने से लगे हुए हैं कि उन इंटो के भाग्य पर 'चाइना पॉटरी' को 'क्रॉकरी' को भी ईर्ष्या होती। दीवारो की ऊँचाइयो पर दीमेंगे तरह-बेतरह की टूटी हुई तलवारो के ब्लेड, उन की मूँठें, उन की म्यानें, छूरियाँ और उन की अनेक डिजायनें, जो सिर्फ देखने में खौफनाक है लेकिन जिन से किसी की नाक पर भी ज़रब पहुँचाना कठिन है। उस का कितने पैसे खर्च कर के उन्होने कहा-कहाँ से बटोरा है, इस का किस्सा सुनाने मे रोशनलाल को जितना रस मिलता है उतना अपने बाप-दादा की कीर्ति बखान करने में भी नही मिलता। एक पुराने सिक्के के नाम पर कितने ही नये सिक्के उन की जेब से निकल गये हैं। बम्बई कलकत्ता घूमने में। उन्हें उतना मज़ा नही मिलता जितना टूटे-फूटे उजडे हुए खण्डहरो वाले इलाके घूमने में। रोशनलाल मेरे सहपाठी भी थे और यार भी। मेरा और उन का साथ ठीक वैसा ही था जैसा कि शरलॉक होम्स और डाक्टर वाटसन का। दुनिया का हर चीज़ को वह इतिहास को धरोहर समझ कर रखते थे और उस के लिए इस तरह तैयारी करते थे कि जवाब तलब करने पर वे क्या कहेंगे। इतिहास के चक्कर में पड कर वह खुद वर्तमान से इतिहास में न चले जायें, इस को देख-भाल करने के लिए मैं उन के साथ-साथ रहता था। रोशनलाल किसी काम से बम्बई आये थे। मैं भी उन के साथ-साथ आया था। बम्बई के पास ही पूना है !!

पूना पुणें। महाराष्ट्र का केन्द्र। महाराष्ट्र माने तुकाराम और ज्ञानेश्वर की भूमि! समर्थ गुरु रामदास और शिवाजी की भूमि !! पेशवाओं की भूमि !! लोकमान्य तिलक की भूमि !! 'स्वराज्य' की भूमि !! और इन सब का केन्द्र-बिन्दु पुणें !! पुणें देखा तो सब कुछ देख लिया। इसी लिए इतिहास के मारे रोशनलाल बम्बई से उड कर पुणें आ गये थे और उन के साथ मैं भी !! रोशनलाल के कन्धे से दूरबीन और कैमरा झूल रहा था और मेरे कन्धे से एक 'एयर-बैग'। रोशनलाल की आँखें स्टेशन से उतरते ही चारो तरफ टकर-टकर इतिहास के पन्ने पढने के चक्कर में घूम रही थी। लेकिन मैं सब चीजों पर उडी-उडी निगाहें फेंक रहा था। जैसे वहाँ की हर चीज मेरी रोज की देखी-भाली हो और मैं वहाँ के कोने-कोने से पूरी तरह परिचित हूँ। फिर भी उस बुड्ढे ने इतनी आसानी से बैठे ही-बैठे वह टुकडा हमारे ऊपर चिपका दिया, यह देख कर हमें उस की 'आदमचोह्ल' नजर पर ताज्जुब हुआ था।

रोशनलाल की निगाहें जैसे इतिहास के मूल स्रोत को पा कर ठहर गयी। एकबारगी अपने परदेशीपन को नये अपराधी की तरह तत्काल कबूल करते हुए खिल गये—

"तुम पूना दिखा सकता है? हम सब हिस्टॉरिकल जगह देखना चाहता है!"

"सब दिखा देंगा शेट !····आप टैक्सी करेंगा न ?" वह अधजली बीड़ी फेंक कर उठ खड़ा हुआ ।

"अच्छा चलो; कर लेगा । कितना पैसा टैक्सी से घुमाने का लेगा ?" इस बार डॉक्टर वाटसन की तरह मैं बोला ।

"टैक्सी का भाड़ा ओ टैक्सीवाला ही बोलेंगा शेट !····हम आप को सब जघा दिखायेंगा ।····आप ठहरो मैं टैक्सी लाता !!'

उस ने हमारे उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना ही आगे बढ़ कर एक टैक्सी रोक ली । फिर उस ने हम दोनों को उस में बैठ जाने का हुकुम दिया और फिर उसी के हुकुम पर टैक्सी चल पड़ी । उस ने पूछा—

"शेट ! आप पहले बी कबी पुने आया ?"

रोशनलाल चूँकि सेठ थे, इस लिए वही बोले—

"नहीं । हम इधर कभी नही आया ।"

वह बोला—

"पर शेट ! ··आप इधर का देस का बारे मे कुछ हाल-चाल सुना होगा ।··· खास जानदार मुलुक है इधर में !"

हमारे सेठ फिर बोले—

"हाँ हाँ सुना है !····शिवाजी का नाम है !"

वह कुछ उत्साहित हो कर बोला—

"हो हो बरोबर बरोबर····शिवाजी····शिवा जी महाराज····हो हो तँने ही तो ये पुणें नगर त्यार केला !···हो हो····ओ शिवाजी छत्रपती महराज····हुसका कुछ नहीं कहने का शेट ! ····वीर शिवा जी महराज···हुसका पास मे दस गज का तल्वार था ।····हुसका दुर्गा महराणी दिया····मोगल बादसाह का जान का वास्ते !····मोगल पुना से ओ तलवार से बाहर कर दिया !····दस गज का तलवार था न ! चार आदमी का 'हेड' माने 'नेक' एक साथ में खलास करता था ।····हो हो····शिवाजी महराज छत्रपती का बाजू में चार आदमी तिस तलवार को पकड़ कर चलता था ।····ओ शिवाजी महराज था न !"

रोशनलाल उस तलवार का ध्यान कर के गद्‌गद हो रहे दिख रहे थे, लेकिन मैं वाटसन की तरह उस कहानी में नहीं खो गया था । मै ने कुछ डपट कर पूछा—

"क्यों जी ?····वह तलवार कहाँ चली गयी ?"

बूढा अपने उस्ताद की स्वरलहरी उतारता हुआ बोला—

"नहीं है ना !" सिर हिलाते हुए वह बोला, "पहिले इधर मे पेशवाई में था न ! लेकिन फिर इंग्रेजी साहेब हुस का तलवार ले गया ना !···शेट ! हुस तलवार का ले जाने का वास्ते इधर में सब से पहले एक 'बस' आया था । तब्बी से पुना में 'बस' चलने लगा । इधर मे पहले 'बस' का हिसाब नहीं था ! ·· इंग्रेजी साहेब हुस तलवार से और हुस 'बस' से पुना में राज करने लगा ।··· आगे शेट ! हुस तलवार को दुर्गा-महराणी उधर मे वापस कर दिया तब इंग्रेजी साहेब भी अपना मुलुक को चला गया !"

चक्कर मे रोशनलाल भी थे और मैं भी । लेकिन वह समझ रहे थे कि इन्हीं लोक-कथाओं

के माध्यम से उन्हें इतिहास का वह सूत्र एक दिन हाथ में आ जायेगा कि वह सारे अनुसन्धानकर्त्ताओं के सिर पर चढ़ कर बैठ जायेंगे। मै सोच रहा था कि हमारा भाई न तो इतिहास और पुराण में कोई भेद मानता है और न हमें मानने देगा। यही सोच कर मैं ने दोनों को मिलाने का प्रयत्न करते हुए पूछा—

"अच्छा जी !''''वह सन्त ज्ञानेश्वर भी तो यहीं हुए थे ?"

बूढ़े ने फिर एकदम उत्साहित हो कर अपनी आँख बन्द करते हुए दोनों हाथ भक्तिपूर्ण मुद्रा मे जोड़ लिये। उत्तर भारतीय ढंग पर नकारात्मक और दक्षिण भारतीय ढंग पर स्वीकारात्मक स्टाइल का सिर हिलाते हुए वह बूढा फिर बोला—

"हो हो सन्त ज्ञान बा''''हो हो''''बरोबर बरोबर''''आलिंदी''''हुसका''''पुने का बरोब्बर''''दहा मइल !''''हो हो''''।"

प्रभात सिनेमा कम्पनी की बनायी हुई पुरानी 'भक्ति मार्का' पिक्चरों के बल पर मैंने महाराष्ट्र के अपने उस ज्ञान को 'आँकड़े वाले ज्ञान' की तरह ठोस बनाते हुए जरा इस तरह पूछा कि उस की अपनी लियाक़त को चुनौती मिले—

"वह जो दीवार उन्होंने उड़ायी थी, वह कहाँ है ?"

मेरे सवाल से वह कुछ देर के लिए चक्कर मे पड़ गया। फिर एकाएक रास्ते के एक मैदान के सामने टैक्सी रुकवा कर बोला—

"आओ आओ शेट !''''तुम को ओ देवार देखायेंगा !"

रोशनलाल कैमरा सँभाल कर बहुत उछाह से उतर पड़े। उन के पीछे मैं भी उतरा। मैदान में कुछ दूर चलने के बाद ईटों का एक छोटा-सा ढूह दिखा कर उस ने कहा—"हो शेट ! अपना शामने है ना ओ देवार ! अब टूट कर खलास हो गया !! बाक़ी आधा मंजे पन्नास परसेंट हुसका आसमान में चला गया''''मंजे ज्ञान बा हुस देवार का मुक्ती कर दिया।"

इतिहास-प्रेमी रोशनलाल ने अपना कैमरा सीधा कर के उस की फ़ोटो ले ली। मै उस ढूह की बगल मे खड़ा हो गया ताकि उस स्थान पर जाने की मेरी सनद बनी रहे। चलते वक्त हम दोनों ने एक-दूसरे की आँख बचा कर एक-एक ईट अपने-अपने ड्राइंगरूम के लिए चुरा कर रख ली। बूढ़े ने हथेली मे धूल ले कर अपने माथे पर चढ़ायी और हमारी तरफ इस तरह घूर कर देखा कि मानो मेरी ज्ञानजन्य प्रश्नावलियों का समाधान उस के लिए हस्तामलकवत् है। फ़ोटो खिंचा कर मैं भी उस के इस समाधान का एक अंग बन चुका था, इस लिए कुछ प्रभावित भी हो रहा था। लौट कर टैक्सी में आये और आगे चले।

टैक्सी को अगले चौराहे से मुड़ जाने के लिए उस ने मराठी में कहा। सामने एक पुराना किला-सा आ गया था। वह बोला—

"शेट''''ये शनिवारवाड़ा है।"

हम को उस टूटे हुए वीरान क़िले के

भीतर ले जा कर कहने लगा—

'ये पुने को पेशवाई महाल। ' अब तो फक्त फाटक फाटक है। तिस्का भीतर में कुछ नही। इसका पहिले महाल में मोट्टा मोट्टा बिल्डिंग था। इधर में पहिले 'मस्तानी गेट' था। मने मस्तानी बाजीराव का नाम। हिंदुस्तान से बाजीराव पेशवा लाया था मस्तानी राणी!! 'इसका गेट है। ' तिस्का भीतर में बोगदा था मजे भीतर-भीतर जाना तो सब जधा जाना। इसका भीतर का सब बिल्डिंग इंग्रेजी लोग खलास कर दिया। इंग्रेजी का दुश्मनी था ना। बस अब तो फक्त फाटक फाटक है।"

उस का कहना सच था। उस के भीतर कुछ भी नही था। गेनानलाल फिर भी तसवीर उतारने और वहाँ के ढेले-पत्थर बटोरने से बाज नही आये। हमारे लौटने पर वह कहने लगा—

"आओ शेट! बैठो हम आगे बता-येंगा इसका राना राणी का हाल हम आगे बतायेंगा।"

टैक्सी चल रही थी और उस का मुँह भी

"शेट, ये आप बाहर का चौक देखने हो! ये हम शिवाजी महाराज के कोचवान का कोठी था। इसका कोचवान का खानदान वाला इधर में सब जधा है। अपना बी शेट अपना बी इसका कोचवान खानदान वाला है तबी तो अपना को सब बतायेंगा। अबी सब कोचवान वाला का दुर्गा महराणी का तलवार मिल गया। ओ सब हुकूमत में चला गया। ये शेट! नाना साहेब का 'पारक' है पारक मजे बाग उतरो उतरो शेट! ये किल्ला से भी न्यास जना है।"

अब हमारे सामने एक पार्क था। टैक्सी छोड कर हम उतर गये। पार्क एकदम नये ढंग का था। इधर-उधर एकाध छोटी-मोटी पुरानी इमारतें जरूर दिख रही थी जिन की मरम्मत ठीक से नही हुई थी और बरसात उन का रंग उतार चुकी थी। पार्क से लगी हुई एक नदी बह रही थी। शिवाजी के कोचवानों के खानदान वाला गाइड कह रहा था—

"शेट! 'यही पुने का असल पारक है। सब असल पुने का क़िस्सा इसी पारक का किस्सा है। शेट! आप जानते हो कि दुर्गा महाराणी का तलवार क्यों 'बम' पर चला गिया और क्यूँ वास्ते इंग्रेजी साहेब पेशवाई को खलास कर दिया? हो हो बर बर वह सामने 'रीव्हर' देखता है? रीव्हर 'उममता' है? मजे नद्दी! इसका पार में ओ सपेद कोठी देखता है? तिस्का कोठी का एक इंग्रेजी साहेब और इस्का मेम था। अपना नाना साहेब एक दिवस तिकडे बोटिंग करने को गिया। हो तोऽ तिकडे ओ मेम बैठा मच्छी को काँटा में फँसाने को आया। मच्छी काँटा मे फाँसा न, पर ओ नाना काटा में फँस गेला। शेट! आप समसता है? मोहोब्बत का काँटा कैसा कि आदमी को मच्छी का जैसा इधर में उधर में तडफाता है। वैसई हालत अपन नाना का था। सब काम से मूँ हटा कर बस ओ

बोलता 'माला मेम पाहिजे'। मने अपन को मेम चाहिए।···शेट ! ओ इंग्रेज साहेब बोल दिया हम अपना मेम देने को नही सकता। हुसका 'वैफ़' का मामला था। पर इधर में नाना की आँख का मोहोब्बत शेट ! तिस्का मेम का आँख मे भी मार गया। ओ बी तड़फने लगा। नाना हुसका तड़फना सुना तो नद्दी पर जाने का राह खोल दिया।···· लेकिन शेट, इंग्रेज साहेब का मेम खास विलायत छाप मेम था। ओ हुसको कैसे छोड़ नही सकता था ?····लेकिन शेट ! ···नाना इधर में राजा था न ! राजा का मोहोब्बत से इंग्रेज साहेब डर कर इंग्रेज राजा बहादुर के पास अपना नाक कटने का कसम दे कर बोला : तिस पेशवाई को खलास करो नहीं तो हमारा 'वैफ' हमरा हाथ से बाहर जाना माँगता। तब इंग्रेज राजा बहादुर अपना तुपुक मार के पेशवाई को बरोबर खलास कर दिया। मेम भी शेट ! ऐसा-ऐसा रोया कि हुस 'रीव्हर' में अपना जान कूद गया। मेम को इग्रेज 'मुला' बोलता था तो पब्लिक भी हुस रीव्हर को मुला बोलता है।····तब से पेशवाई का खानदान वाला यहाँ बाग लगा दिया कि पब्लिक पुना देखने का वास्ते आ कर मुला नदी को भी देखेंगा।····यही है पुना का क़िस्सा ! !"

जहाँ-जहाँ वह उँगली उठा कर दिखा रहा था, वहाँ-वहाँ की तसवीरें रोशनलाल लपक-लपक कर उतार रहे थे। कहानी जिस ढंग से उस ने सुनायी थी उस से प्रभावित मै भी था। उस के इस लहजे से एक बार तो 'सर जदुनाथ सरकार' भी चक्कर में पड़ जाते। इतनी महत्त्वपूर्ण बात का क़िसी भी इतिहास में कहीं भी जिक्र नही है। हो भी कैसे सकता है ! सब तो अँगरेजों का लिखा-पढा इतिहास है न। जो मैं सोच रहा था उसी से मिलता-जुलता रोशनलाल भी सोच रहे थे। हम लोग पार्क के बाहर आ गये। वह बूढा हाथ जोड़ कर फिर बोला—

"शेट ! हम जो पुना जानता है आप को दिखाया। हमारा बख़्शीश दे दो; हम इधर में से घर चला जायेगा।"

रोशनलाल ने पहले उस बूढे की तसवीर उतारी; फिर उसे दो रुपये इनाम के दिये। इनाम ले कर उस ने सलाम किया और फिर उसी पार्क के अन्दर से हो कर वापस चला गया। हम लोग इस बात पर बड़े खुश थे कि अच्छा आदमी मिल जाने से बड़ी जल्दी पूना घूम लिये। वापस लौटने लगे तो रास्ते मे टैक्सी ड्राइवर बोला—

"कैसा लगा साहब आप को इधर का पार्क ?····ये अभी नया बनवाया है कारपोरेशन ने।····पहले यहाँ पर लकडी का ब्यौपारी लोग रहता था। उस को हटा कर पार्क बनवा दिया कारपोरेशन ने : "उधर से वाटर-वार्क्स के लिए तैयार कराया है न ?····सिटी के पानी के लिए ···उधर मुला रीव्हर है न····"

मैं फिर बीच मे बोला—

"ये पेशवाई का बाग है न ?···मुला अँगरेज लड़की के नाम पर····"

वह बोला—

"नही साव! इधर पेशवाई का कुछ नही है! मुला नदी है न! इग्रेज इधर पेशवाई का टाइम में कभी नही आया साव!"

हम और रोशनलाल एक-दूसरे के चेहरे के रग देख रहे थे। मै अपने मन मे सोच रहा था कि इतनी जल्दी इतिहास के रग में मनगढ़त कहानी बनाने वाला यह गाइड जरूर किसी 'हिस्टारिकल फिल्म' का डाइरेक्टर या कथा लेखक रहा होगा जिस की फिल्म 'बॉक्स ऑफिस हिट' न बन पायी और इन्हें इस दशा को पहुँचा कर छोड गयी। नया मोड आया। टैक्सी घूमी। उडी हुई दीवार की ईंट पतलून की जेब में ही टाँग से टकरायी। टैक्सी ड्राइवर कह रहा था—

"जमीन लेना हो सेठ, तो हम को बोलना! वह जो आप को मैदान दिखाया था वह तो कूडा पाट-पाट कर बनाया है। उस का जमीन मकान के लिए अच्छा नही है। देवार बैठ जायेगा। अब ईंट पत्थर से उस को कारपोरेशन बरोबर कर रहा है। पर उस जमीन से बोत अच्छा जमीन हम आप को दिला सकता है।"

शरलॉक होम्स मेरे मुँह की तरफ देखे चले जा रहे थे और मैं वाटसन की तरह उन के कैमरे की ओर जिस में विलायती छाप मेम की कथा और ज्ञानेश्वर की उडायी हुई दीवार के प्रमाण भरे धरे थे।।

[अक्तूबर १९६०]

मूर्खों का मनोविज्ञान

श्रीलाल शुक्ल



मूर्खता मे स्वाभाविक दिलचस्पी होने के कारण मैं ने कई मूर्खो का वैज्ञानिक समीक्षण किया है। इस विषय पर मैं एक शोधपूर्ण ग्रन्थ भी लिखने वाला हूँ। पर अँगरेजी में वैसा ही ग्रन्थ अब तक उपलब्ध न होने के कारण मै ने यह काम अब तक प्रारम्भ नही किया है। तब तक इस प्रारम्भिक प्रयास से ही सर्वव्यापी मूर्खता के प्रति अपनी पराजयपूर्ण श्रद्धाजलि अर्पित करता हूँ।

परिभाषा

मनोविज्ञान की पुस्तको मे, मेरा अनुमान है, मूर्खता की कोई परिभाषा नही पायी जाती। मानसिक अपर्याप्ति, मानसिक पृष्ठगामिता, मानसिक पक्षाघात और मानसिक शून्यता आदि का विशद वर्णन तो हमे मिल जाता है पर मूर्खता की परिभाषा करने का साहस अभी तक शायद किसी ने नहीं किया। कहावत है कि जहाँ देवता भी क़दम रखते हिचकते हों वहाँ मूर्ख एकदम-से कूद पड़ते है। यह देखते हुए मूर्खता की स्पष्ट परिभाषा करने का मै कोई प्रयास नही करूँगा। मुझे हिचक मालूम देती है।

परिभाषा देने का एक पैंतराबाजी वाला तरीका यह भी है कि उसे निषेधात्मक रूप मे प्रस्तुत किया जाये। इस दृष्टि से कुछ लोग मूर्खता को बुद्धिमत्ता का विपर्यय मानते है। पर यह बात सही नहीं है। जिस प्रकार बुद्धि का अस्तित्व भर बुद्धिमत्ता का द्योतक नही, वैसे ही बुद्धि का अभाव-मात्र मूर्खता का द्योतक नही हो सकता। बुद्धि किस देश-काल मे किस मात्रा और पद्धति से प्रयुक्त होती है, इसी से मूर्खता और बुद्धिमत्ता का निर्णय होता है। किस सीमा पर जा कर बुद्धिमत्ता पिघलते-पिघलते मूर्खता हो जाती है, यह बताना कठिन है।

उस गँवार का किस्सा सभी जानते है जो शहर मे बिजली का लैम्प बुझाने के लिए बल्ब पर फूँक मारने लगा। रोशनी बुझाने के लिए फूँक मारना एक पुराना और आजमूदा सिद्धान्त है पर इस निर्दोष पद्धति को मूर्खता-पूर्ण बनाने के लिए चिराग वाले गाँव से शहर मे आना पड़ेगा। देश के परिवर्तन से बुद्धिमत्ता भी मूर्खता बन जाती है।

इसी प्रकार काल का प्रभाव पड़ता है। इतिहास में हमें अनेक समझदार मिलेंगे जिन्हें कालचक्र ने मूर्ख बना दिया। मुहम्मद तुग़लक का नाम तो आज सभी आदर से लेते हैं। अकबर द्वारा दीन इलाही का प्रवर्तन भी कालचक्र से ही उस समय मूर्खता की परिधि में डाल दिया गया था। नये उदाहरणों में प० ज्वाहरलाल नेहरू का नाम ले सकते हैं। १९६२ के आरम्भ में अष्टग्रही-योग के अवसर पर भजन-कीर्तन, दान-पुण्य, वसीयत-वरासत के वातावरण में उन्होंने घोषणा की कि अष्टग्रह के प्रकोप की बात वाहियात है। परिणाम क्या हुआ? लोग उन की बात पर हँसने लगे। एक नेता ने खुल कर उन के रवैये का विरोध किया और थोड़ी देर के लिए प्रधानमन्त्री की बुद्धि के बारे में लोग सतर्क हो गये। यह काल का प्रभाव था।

मूर्खता के कारण

(क) वंश परम्परा—रिचर्ड जार्मर ने एक स्थान पर कहा है कि कुछ व्यक्ति पैदायशी मूर्ख होते हैं, कुछ स्वयं मूर्खता अर्जित करते हैं और कुछ पर मूर्खता का निक्षेप किया जाता है। उस ने यह भी माना है कि मूर्खों में अधिकतर वही हैं जिन्होंने अपने पुरुषार्थ से ही मूर्खता अर्जित की है।

मेरा पहला शोध पैदायशी मूर्खों के विषय में है। इन में 'ज्ञ' का केस काफी महत्त्वपूर्ण है। ज्ञ एक दफ्तर में बाबू था। उस की मूर्खता का उसी दिन अनुमान लग गया जब उस ने बड़े बाबू की डाँट खा कर रोना शुरू कर दिया। उसे अनुभवी लोगों ने समझाया कि नौकरी में ऊपर वालों की गाली का बुरा मानना मूर्खता है। पर बात-बात पर उस के रोने और शोर मचाने की घटनाएँ बढ़ती ही गयीं।

यह भी पता चला कि 'ज्ञ' कविताएँ लिखता है, पर उस की कविताओं में विद्रोह की लपटें उठती थीं और वह वहाँ 'क्रान्ति क्रान्ति' चिल्लाया करता था। जब तक वह मेरे सामने आये, तब तक वह अपनी मूर्खता के लिए काफी बदनाम हो चुका था। मैं ने पहले उसे स्नायविक प्रकाशन (न्यूराटिक मेनिफेस्टेशन) का केस समझा। यह स्पष्ट था कि उस का अति-अहम् असाधारण रूप से विकसित था। फिर भी जब उस के अतीत के अध्ययन से उस की मूर्खता के विकास का कोई स्पष्ट कारण नहीं दिखा—तब मुझे उस के पारिवारिक इतिहास में जाना पड़ा।

पता चला कि उस का बाप अँगरेजी जमाने में एक रायसाहब था, बाहर प्रभावपूर्ण होते हुए भी वह अपनी पत्नी के हाथों पिटता और रोता रहता था।

मैं ने निष्कर्ष निकाला कि जिस प्रकार तब की समसामयिकता से प्रभावित हो कर 'ज्ञ' के बाप ने रायसाहबी पायी थी, उसी प्रकार आज की सामयिकता से प्रभावित हो कर 'ज्ञ' 'क्रान्ति क्रान्ति' की पुकार अपनी कविताओं में झोंक रहा है। साथ ही पत्नी के सामने रोने की भावुकता का प्रभाव 'ज्ञ' के साथ दफ्तर में रोने के रूप में प्रकट हो रहा है। वंश परम्परा के गुण उस में हैं पर उस का प्रदर्शन विपरीत

परिवेशों मे हो रहा है।

ज्ञातव्य है कि मूर्खता का तत्त्व वस्तुतः व्यक्तिगत तत्त्व है। वंश-परम्परा केवल उस के प्रकाशन को विशिष्टता देती है, किन्तु उस प्रकाशन की दिशा का निर्धारण नही करती।

कुछ ऐसा ही निष्कर्ष सिरिल बर्ट ने बाल-अपराधियों के बारे मे निकाला है, पर उस का और उल्लेख कर के मैं मूर्खों को उन के समकक्ष नही लाना चाहता। मूर्खों की उदात्तवर्गता पर आक्षेप करना मेरा उद्देश्य नहीं।

रिचर्ड आर्मर का पैदायशी मूर्खों वाला वक्तव्य बड़ा ही निराशाजनक है। यदि कोई पैदायशी मूर्ख है तो फिर उस के उपचार की क्या कोई सम्भावना रह जायेगी ? वास्तव मे स्थिति बिलकुल ऐसी नहीं है। प्रजातन्त्र मे हम बहुत से ऐसे व्यक्तियों को, जिन्हे पैदायशी मूर्ख कहा जाता था, बुद्धिमानों का मुकुट-मणि बना हुआ देखते हैं। अतः मूर्खता के परम्परागत तत्त्वों को हमे उपर्युक्त निष्कर्ष की दृष्टि से ही देखना चाहिए और मूर्खता के सम्बन्ध मे दूसरे कारणों की खोज करनी चाहिए।

(ख) परिवेश (इन्वायरनमेंट)—परिवेश मूर्खता को प्रकार विभिन्नता की दृष्टि से सम्पन्न बनाता है। खेत और खलिहान के वातावरण मे सीधे-सादे, सच्चे-निर्दोष मूर्ख निकलते है। विश्वविद्यालय और पुस्तकालय दाम्भिक मूर्खों का सृजन करते है। निरंकुश मूर्खों का जन्मस्थान दफ़्तर और नौकरशाही है। सच तो यह है कि नौकरशाही पर शिथिलता और मन्दगामिता का चाहे जैसा आरोप लगाया जाये, पर मूर्खता के विकास में वह बड़ी ही तेजी से काम करती है। इस मूर्खता की सब से बड़ी विशेषता यह है कि कर्त्ता को नहीं, कर्म को ही बाधित करती है। वैसे यह बात प्रायः सभी मूर्खों पर लागू होती है।

चुटकुले सुनाना मेरा अभीष्ट नहीं, पर दो उदाहरण दे कर दफ़्तरी मूर्खता के रूप का निरूपण करना चाहता हूँ :

प्रसिद्ध है कि पेंशन-भोगी व्यक्ति को हर तीन महीने बाद अपने जीवित रहने का प्रमाण-पत्र देना पड़ता था। उस ने एक बार प्रमाण-पत्र देने मे नागा कर दिया। जून के अन्त से प्रमाण-पत्र दे कर उस ने पिछले तीन महीने की पेंशन पा ली। जब उस ने उस से पहले के तीन महीनो की पेंशन के लिए प्रार्थना की तो उसे जवाब मिला, "आप पिछले मार्च में भी अपने जीवित रहने का प्रमाण-पत्र दें।"

पिछली लड़ाई के दिनों कार चलाने में असुविधा होती थी, क्योंकि पेट्रोल कूपनों से मिलता था और कूपन कठिनता से मिलते थे। एक आदमी को उस के दफ़्तर पहुँचने के लिए समय से बस नहीं मिलती थी। बहुत लिखा-पढी करने पर उसे पेट्रोल के कुछ कूपन दिये गये। पर राशनिंग-कार्यालय से यह आदेश भी मिला, ऑफिस जाने के समय बस की व्यवस्था न होने के कारण ऑफ़िस जाने मे आप रोज़ कार का प्रयोग कर सकते है। उस के लिए पेट्रोल-कूपन भेजे जा रहे

है। पर खेद है कि वापसी के लिए पट्रोल नही दिया जा सकता, क्योंकि उधर से लौटते समय बस की व्यवस्था है। आप उस का प्रयोग कर सकते है।

नौकरशाही की दुनिया मे ऐसे सैकडो उदाहरण लाये जा सकते है। अगर मूर्खता के लिए नोबेल प्राइज की व्यवस्था होती, तो निश्चय ही हम इन के सहारे सिर्फ दो नोबेल प्राइज ले कर ही चुप न बैठते।

(ग) बौद्धिक स्थिति—बौद्धिक अपर्याप्ति, स्वाभाविक मूढता और अशिक्षा—मूर्खता में काफी योग देती है। स्वाभाविक मूढता से सम्पन्न मूर्ख का लक्षण मेरे बुजुर्ग श्री महादेवप्रसाद वर्मा ने निम्नलिखित छन्द द्वारा व्यक्त किया है

सर में बस गोबर ही है भरा,
कुछ राइटो रौंग का सेंस नही।
चहे कोई मजाक करे कितना,
सिवा खीस के कोई डिफेंस नही।
चहे गालियाँ कोई सुनाये हजार
पै लेते कभी ये अफेंस नही।

प्रेस स्वतन्त्रता की लज्जालु सीमाएँ देखते हुए मै इस छन्द का एक अमुद्रणीय चरण उद्धृत किये बिना ही कहूँगा कि कवि ने निरपराध और निर्दोष मूर्ख के बारे में जो कहा है, बिल्कुल सही कहा है।

मूर्खता का एक विषम रूप बौद्धिक उत्कटता में भी मिलता है। प्रसिद्ध ही है कि 'सर्वनाशे समुत्पन्ने अर्ध त्यजति पण्डित' पढ कर एक पण्डित ने अपने एक डूबते हुए साथी का सिर काट कर उसे समूचा डूबने से बचा लिया था। एक मेरे डॉक्टर-मित्र सम्पर्कजन्य कीटाणुओ से घबरा कर अपनी प्रेयसी से मिलने जाते समय डिटाल के पानी से मुँह-हाथ धो कर कुल्ला कर लेते है। फौजदारी के एक वकील अपने ऊपर गाली-गलौज के अपराध पर धारा ५०० दण्ड-विधान के अतर्गत मुकद्दमा चल जाने के डर से अपने साले को भी साला नही कहते।

मूर्खता के क्षेत्र में बौद्धिक उत्पादन दो प्रकार से प्रयोग में आता है। एक तो बुद्धि का विकास विस्तारपरक हो, अर्थात् रबर की तरह खिचते-खिचते ज्ञान के सभी क्षेत्रो पर वह इतना फैल जाये कि अन्तर्निहित मूर्खता पारदर्शक हो कर सर्वत्र झलकने लगे। दूसरा प्रकार यह है कि बुद्धि ज्ञान के एक विशेष क्षेत्र को इतना सघन रूप से ढँक ले कि और क्षेत्र नगे ही रह जायें। पहला प्रकार मूर्खता के अनुप्रस्थ प्रकाशन (हारिजेंटल मेनिफेस्टेशन) और दूसरा उस के लम्बरूप प्रकाशन (वर्टिकल मेनिफेस्टेशन) का है।

अनुप्रस्थ प्रकाशन के सर्वोत्तम उदाहरण पत्रकारिता में मिलते है। वहाँ किसी झील की सतह पर जमी हुई बरफ की हलकी पर्त-जैसी विद्वत्ता बडी ही मोहक दिखाई देती है पर किसी जगह से बर्फ के टूटते ही तरलता का दिव्य प्रदर्शन होने लगता है। लम्बरूप प्रकाशन में आने वाली मूर्खता वह है जो आँख के आगे तो सब-कुछ बढा कर दिखाती है, पर दायें-बायें कोण पर बिलकुल अँधेरा ही छोड

देती है। इस का उदाहरण भी देखिए :

फ्रेंच विद्वान् फ़ंटेनेल ने एक बार फ्रेंच एकेडेमी के कई सम्मानित सदस्यों को खाने पर बुलाया। खाने के बाद वे लोग बाग मे टहलने लगे। सहसा फ़ंटेनेल ने उन का ध्यान एक शीशे के गोले की ओर आकृष्ट करते हुए कहा, "सज्जनों, इसे देखो। इस के ऊपर इतनी धूप पड़ रही है, पर आश्चर्य है कि इस का ऊपरी सिरा ठंडा है, पेंदा गरम है। पता नहीं क्या बात है।"

विशेषज्ञों में जोरदार बहस होने लगी और शीतोष्णता के गहन सिद्धान्त खींचे जाने लगे। अन्त में फ़ंटेनेल ने ऊब कर कहा, "सज्जनो, मैं इस का कारण बता सकता हूँ। कुछ क्षण पहले मैं यहाँ आया था। तब धूप से इस गोले का ऊपरी हिस्सा गरम था, पेंदा ठंडा था। मै ने इसे उलट दिया है। अब इस का पेंदा गरम है, ऊपरी हिस्सा ठण्डा है।"

(घ) प्राकृत—बौद्धिक परिस्थितियो से उत्पन्न मूर्खता पकड मे आ जाती है, पर प्राकृत अर्थात् स्वभावगत स्थिति का मूर्खता पर कितना प्रभाव है, यह समझने मे देर लगती है। उस एक प्रोफेसर का आख्यान प्रसिद्ध ही है जिस ने शाम को घर आ कर बीवी को नौकरानी समझ कर उसे कॉफ़ी बनाने का आदेश दे कर बीवी के धोखे नौकरानी को प्यार करना शुरू कर दिया था। यह मूर्खता मे लम्बरूप प्रकाशन का एक उदाहरण हो सकता है। पर साथ ही यह स्वभावगत मूर्खता भी हो सकती है, जिस में व्यक्ति अचेतन रूप में कॉफी से और नौकरानी को प्रेम की क्रिया से सम्बद्ध करता है। स्वभावगत मूर्खता के कई उत्कृष्ट उदाहरण कवियों और कलाकारों मे भी मिलते हैं।

मूर्खता के कुछ विचित्र रूप

आनुषंगिक मूर्खता—एक ऐसा भी वर्ग है जो भूल से, अकल्पित और अयाचित रूप से, ऐसी मूर्खता कर बैठता है जो बुद्धिमत्ता का आनुषंगिक रूप है। एक विशेष पद के लिए कुछ योग्य महिलाओं की आवश्यकता थी। कई संस्थाओं से उस के लिए नाम माँगे गये। बाद मे काफी नाम आ जाने पर संस्थाओं को एक पत्र मिला, "अब तक हमारे समक्ष कई स्थानों से कई महिलाएँ प्रस्तुत की जा चुकी हैं। अब कृपया और महिलाएँ समर्पित करने का कष्ट न करें।" निश्चय ही पत्र भेजने वाले का तात्पर्य यह था कि और महिलाओं के नाम उन के पास अब न भेजे जायें। पर इस पत्र से हरिषेण की वह प्रशस्ति याद आ जाती है जिस मे समुद्रगुप्त के आगे युद्ध-भीत राजा लोग आत्मनिवेदन और कन्या-समर्पण के प्रबन्ध के साथ उपस्थित होते थे।

परिवार-नियोजन के एक प्रचारक नियोजित परिवार का बच्चों के स्वास्थ्य पर पडने वाले प्रभाव पर भाषण दे रहे थे। उन के चार बच्चों मे पहले दो बच्चे केवल सालभर के अन्तर से पैदा हुए थे। उन के दयनीय स्वास्थ्य की ओर इशारा कर के उन्होंने

नियोजनहीन परिवार की निन्दा की। बाकी दो बच्चे नियोजित पद्धति के अन्तर्गत तीन-तीन साल के बाद हुए थे। उन्होंने उन के उत्तम स्वास्थ्य की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया। कृत्रिम विधियों का हवाला देते हुए पहले यह भी बता चुके थे कि वे अब अपना ऑपरेशन करा चुके है। एक युवक जो प्रचारक की बात से स्पष्टतः बहुत प्रभावित हुआ था, उन का अनुमोदन करने के लिए उत्साह से कहने लगा, "सचमुच परिवार-नियोजन से बच्चे बहुत ही तन्दुरुस्त हो जाते हैं। इन्हीं दो बच्चों को देखिए। खासतौर से सब से छोटे बच्चे का स्वास्थ्य कितना अच्छा है। यह ऑपरेशन के बाद जो पैदा हुआ है।"

कुछ लोग किसी सिद्धान्त के पीछे पड़ कर व्यावहारिकता को बड़ी मामूली चीज मान लेते है और उसे छोड़ते-छोड़ते मूर्खता की सीमा में घुस जाते हैं। यह एक प्रकार से मूर्खता को सिद्धान्त रूप में अपनाना है। सैद्धान्तिक मूर्खता के उच्चतम उदाहरण इंग्लैंड के उच्चवर्गीय इतिहास मे और किसी भी स्थान की फ़ौजी छावनियों में बड़ी ही प्रचुर संख्या मे मिल सकते है। जहाँ कही भी सिद्धान्त को अभ्यासगत छोड़ दिया जायेगा वही वह प्रवृत्ति के रूप मे हमे मूर्खता के कीचड़ में लपेटता रहेगा। शारीरिक मलिनता पर हस्तक्षेप किये बिना ही जाड़ों मे एक लोटे पानी से नहा कर फिर गरम कपडों मे घुस जाना, पर-स्त्री की नाड़ी का स्पर्श न करना पडे इस सिद्धान्त के पीछे डॉक्टरी छोड़ कर साइकिल मरम्मत की दुकान खोलना, नैतिक पूजन के आवेश में मील के पत्थर पर फूल चढा कर उस के आगे आँख मूँदे, हाथ जोड़े बैठे रहना—सैद्धान्तिक मूर्खता कभी-कभी ऐसा ही रूप ग्रहण करती है। एक सिद्धान्त-प्रेमी ने अपनी पत्नी को एक मित्र के बाहुपाश मे देख लिया था। उस के चले जाने पर उन्होंने अपनी पत्नी से जवाब तलब किया। वह बोली, "इतना बुरा लगा था, तो तुम ने अपने दोस्त को मारा क्यों नही ?"

वे बोले, "प्रिये, मेरा सिद्धान्त है कि जब दो आदमी बात करते हों तो मैं उन के बीच हस्तक्षेप नहीं करता। पर तुम ने उस की बदतमीजी कैसे सह ली ?"

वह बोली, "प्राणनाथ, मेरा सिद्धान्त है कि मैं शरीर को अधम और क्षणिक वस्तु समझती हूँ। उस के लिए किसी से झगड़ा नही करती।"

मूर्खता का उपचार—मूर्खता का उपचार इस विषय का सब से विवादग्रस्त अंग है। प्रायः मूर्खता पेट दर्द की तरह स्वयं मूर्ख को कष्ट नही देती। अतः मूर्ख स्वयं अपने उपचार मे कभी दिलचस्पी नही लेता। फिर भी दूसरो के प्रयास से मूर्खता की स्थिति कुछ बदली जा सकती है। मूर्खता बिलकुल ही जड से मिट सकती है, ऐसा आशावादी दृष्टिकोण अभी हमारे सामने नही आया। पर विशेष परिस्थितियो मे वह दब सकती है। मार्गान्तरीकरण की पद्धति से उसे काफी दबाया जा सकता है। 'ज्ञ' नामक कवि अपनी प्रत्येक कविता मे विरह और मरण का ज़िक्र करता और साहित्य मे मरघट-

वाद का प्रवर्तक बनने वाला था। बाद में वह मलेरिया इन्स्पेक्टर बन गया। मच्छर मारते-मारते उस ने मरण के प्रति अवरोध (एलर्जी) प्राप्त कर लिया और उस की कविता का रूप बदल गया। यह मार्गान्तरीकरण का प्रभाव था।

मूर्खता को दबाने का एक यह भी उपाय है कि उस का सामना वृहत्तर मूर्खता से करा दिया जाय।

मूर्खता को झुठलाने की एक मनोविश्लेपणात्मक पद्धति यह भी है कि मूर्ख प्रवृत्तियो का उदात्तीकरण या शोध (सब्लिमेशन ऑव इंस्टिंक्ट) करा दिया जाये। उदाहरणार्थ, चीख-चीख कर बोलने वाले को 'रॉक'न रोल' सिखा सकते हैं। पब्लिक में हाथ और सिर झटक झटक कर व्याख्यान देने वाले के हाथो में मृदंग पकडा सकते हैं। लम्बे,लम्बे प्रेम पत्र लिखने वालो को नकल नवीसी का ओहदा दे सकते हैं और यदि उन में कोई अपने को बौद्धिक स्तर पर देखता हो तो उसे सूक्ष्म चित्रण (ऐब्स्ट्रैक्ट पेंटिंग) के दरजे में भरती करा सकते है। फिर भी हमें सतर्क रहना चाहिए कि मूर्खता का पूरा उपचार कभी-कभी नही हो सकता और प्रवृत्तियो के शोध के बाद भी मूर्खता 'शोधी हुई मूर्खता', के रूप में कभी भी उभर सकती है।

[नवम्बर १९६२]

....ये हैं प्रोफ़ेसर शशांक !

विष्णुकान्त शास्त्री

●

"आप कहाँ के रहने वाले हैं ?" प्रो० शशांक की धाराप्रवाह बंगला सुन कर एक बंगाली प्रोफ़ेसर ने पूछा।

"कहाँ का बताऊँ ?"

"क्यों, आप जहाँ के रहने वाले हों।"

"देखिए, असल में बात यह है कि मैं शरीर को प्रधानता नहीं देता, वह तो बाह्य है, मुख्यता तो अन्त:करण की है। वेदान्त के अनुसार अन्तःकरण के चार तत्त्व होते है, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार। मेरा मन बंगाली है, बंगाल में जन्मा, पला, बढ़ा, बंगला-साहित्य पढा, बंगाल की भावुकता पायी, अत: मन से बंगाली हूँ। मेरे पिता, पितामह, प्रपितामह काशी में संस्कृत का अध्ययन-अध्यापन करते रहे। पारिवारिक संस्कार और आचार-विचार का विवेक भी काशी से ही प्राप्त हुआ है; अतः कह सकता हूँ कि बुद्धि-तत्त्व काशी का है। चित्त और चित्तेश्वरी दोनों जम्मू की देन हैं। पूर्वज जम्मू से आये थे। आन-बान, स्वाभिमान और दृढ़ता का डोगरा स्वभाव विरासत मे मिला है। अहंकार सारे भारतवर्ष का है। अब आप ही बताइए कि मैं अपने को कहाँ का कहूँ ?"

प्रो० शशांक की लच्छेदार बातों का प्रभाव अगल-बग़ल के श्रोताओं पर ख़ूब जमा किन्तु वह बंगाली प्रोफेसर भी कम नही निकला। उस ने छूटते ही कहा, "आप बंगाली है, बंगाली को छोड़ कर ऐसी बातें भला और कौन कर सकता है !"

प्रो० शशांक के मन मे अकबर इलाहाबादी की पंक्ति कौंध गयी, 'बात बंगाली की सुन, बंगालिनों के बाल देख !' वे मुसकरा कर चुप हो गये।

प्रो० शशांक वैसे बहुत भले आदमी है। अब यह बात दूसरी है कि आज के युग में 'भले आदमी' की संज्ञा उन्ही को दी जाती है, जो 'काम' बनाना न जानते हों। और जो अपना ही काम न बना पाते हों, वे दूसरों का काम भला क्या बनायेंगे ! मेरा यह विश्वास हो गया है कि आज शक्तिशाली वे ही हो सकते है, जो या तो अपने और दूसरों के अड़े हुए और अड़ने योग्य काम चालू कर सकें या

दूसरो के चालू कामो में अडगा डाल सकें। जो ऐसा नहीं करते हैं उन्हें सहृदय व्यक्ति मुँह बिचका कर 'भले आदमी' की उपाधि दे डालते हैं, अर्थात् प्रत्यक्ष रूप से कहना चाहते हैं कि ये महाशय उसी कोटि के व्यक्ति हैं, जिस कोटि के लोग ऊँचे सिद्धान्तों की बातें चाहे जितनी बघार लें, काम की एक नहीं जानते।

कुछ लोगो की राय में (जो अवश्य ही उन के प्रशंसक नहीं कहे जा सकते) वे प्रोफ़ेसर से अधिक पहलवान लगते हैं। लम्बाई छह फीट, छाती की चौडाई इकतालीस इंच, जाटों की तरह हाथ पैर, भला इतनी लम्बी-चौडी काया कही प्रोफेसरो की होनी चाहिए। उन का सिर बडा है तो क्या हुआ, पाँव भी तो बडे हैं। कहावत है, 'पाँव बडे गँवारो के, सिर बडे सरदारो के।' प्रो० शशाक पर कहावत के दोनो हिस्से लागू होते है, जिस का अर्थ यही होना चाहिए कि वे गँवारों के सरदार हैं। यद्यपि ऐसे लोग भी हैं, जो सबल शरीर को उन के सशक्त व्यक्तित्व का वाहक मानते हैं, उन के गेहुँए हँसमुख चेहरे पर गरिमा मण्डित सौम्यता और सस्कार-शीलता की आभा पाते हैं, चश्मे के भीतर से स्नेह और उत्फुल्लता बरसाने वाली आखो में चिन्तन-शीलता की झलक देखते हैं।

पोशाक उन की सादी ही है। साल के नौ महीने तो काशी, कलकत्ते की परम्परा निभाते हैं धोती-कुरता पहन कर, जिस की स्वच्छता का श्रेय उन की पत्नी सुस्मिता को ही मिलना चाहिए। सर्दियो के ढाई-तीन महीने चूडीदार पाजामा और शेरवानी या लम्बा कोट पहनते हैं ताकि जम्मू को शिकायत न रहे। यह कहना कठिन है कि उन के बदन पर दोनो में से कौन सी पोशाक अधिक फबती है। जब वे नयी पोशाक पहन कर निकलते हैं तो उन के मुँहलगे मित्र कभी कभी चुटकी लेते हुए कहते हैं

"बन्धु तुम्हारी देह स्वय ही काम्य है,
जो पहनो सज जाय, सहज सम्भाव्य है।"

उन के स्वरूप में एक विरोधाभास और भी है। मूँछ बेचारी पर तो उस्तरा चल गया है लेकिन शिखा वर्तमान है जो 'गोखुर प्रमाण' की न होने पर भी कम मोटी और लम्बी नहीं कही जा सकती। वर्तमान और अतीत दोनो से युक्त रहने के इस निदर्शन को उन के प्रगतिशील मित्र समझ नहीं पाते हैं, फलस्वरूप प्रो० शशाक की शिखा उन मित्रों की व्यग्य-प्रतिभा के लिए उद्दीपन का कार्य करती रहती है। सुप्रसिद्ध सास्कृतिक सस्था 'अनामा' के होलिकोत्सव में एक बार श्री मोहनानन्द जालान ने आकाशवाणी—अनामा से घोषणा की थी "विश्वस्त सूत्र से पता चला है कि लिफ्ट में फँस जाने के कारण प्रो० शशाक की शिखा जड से उखड गयी। इस दुर्घटना के लिए परीक्षा के आतक से ग्रस्त षष्ठ वर्ष के विद्यार्थियो ने तीन मिनिट और पचम वर्ष के विद्यार्थियो ने एक मिनिट तक खडे रह कर शोक प्रस्ताव पास किया।" दूसरी बार श्री श्रीचन्द्र जैन ने उन की सस्तुति में यह छन्द पढा था

सागर था क्षुब्ध नीर-मन्थन के उपरान्त ।
क्रुद्ध नागों को जकड़ पकड़ करे कौन शान्त ।।
टूटे हुए रस्से लिये खडे देव दानव मौन ।
जानते है आड़े क्षण वस्तु आयी काम कौन ?
चुटिया की चनेट धन्य जय जय जय श्री शशांक!

किन्तु श्री शशांक पर इन सब का कुछ प्रभाव नहीं पड़ता, वे हँस कर इन बातों को उड़ा देते है ।

प्रो० शशांक की हँसी भी उन की खास अपनी है । आधुनिक सभ्यता में पले बुद्धिजीवी हों या प्राचीन मर्यादावादी—दोनों हँसना हलकापन मानते है और अट्टहास तो उन के लिए गँवारूपन ही नहीं अक्षम्य अपराध है, किन्तु प्रो० शशांक इस क्षेत्र में विधि-निषेध से परे हैं । सभा हो या गोष्ठी, भले ही कक्षा ही क्यों न हो, हँसी आने पर मर्द की तरह अट्टहास करते हैं, ऐसा अट्टहास कि अपरिचित लोग हिस्टिरिक समझ बैठें । उन के कथाकार-मित्र श्री रामेन्द्र यादव कई बार मत प्रकट कर चुके है कि यदि प्रो० शशांक को कभी 'नोबेल पुरस्कार' मिला तो उन की हँसी के लिए ही मिलेगा । मुन्नी भण्डारी का कहना है कि सोहन राकेश को छोड कर साहित्यिकों मे ऐसा ठहाका लगाते किसी को नहीं सुना । प्रो० शशांक के अट्टहास से पीड़ित रीति-कालीन मनोवृत्ति वाले एक मित्र ने उन्हें एक 'देव' की पंक्ति सुना कर क़ायल करना चाहा, "अधिक अधम, मधि मध्यजन, उत्तम हँसत विनीत' ! किन्तु उद्धरणो मे प्रो० शशांक से पार पाना जरा टेढ़ी खीर हैं । उन्होंने चट से तुलसी की पंक्ति पढी, "तुलसी सुनि केवट के वर बैन, हँसे प्रभु जान की ओर हहा है ।"

हँसी की तरह उन की आवाज भी बुलन्द है । छात्रावस्था मे ही उन्हे उन के मित्रों ने 'लाउड स्पीकर' की उपाधि दे दी थी, जिस की सार्थकता आज भी उतनी ही है । सभा-समितियों में तो खैर गरजते ही रहते है, कक्षाओं में भी उन का 'मेघमन्द्र' ही गूँजता है चाहे छात्रों की संख्या कम ही क्यों न हो । एक बार कक्षा की समाप्ति पर उन के एक छात्र ने उपस्थिति देने की प्रार्थना की । प्रोफ़ेसर साहब के यह कहने पर कि आप कक्षा में तो आये ही नहीं, उपस्थिति किस प्रकार पा सकते हैं, उस छात्र ने उत्तर दिया, "सर, मैं बाहर खडा-खड़ा आप का पूरा व्याख्यान सुनता रहा । भीतर आने से व्याघात होगा, यही सोच कर नहीं आया, अतः मै उपस्थिति पाने का अधिकारी हूँ ।" श्री शशांक को उस की बात मान लेनी पड़ी ।

उन की एक विशेषता यह भी है कि वे अनादि-अनन्त काल में जीते हैं । कलकत्ता-जैसे व्यस्त और व्यापारी नगर में रहते हुए भी अब तक समय के प्रति बनिया-बुद्धि के द्योतक प्रवाद वाक्य 'समय धन है' कि सार-वत्ता को वे नही समझ पाये है । सच्ची बात तो यह है कि बनिया-बुद्धि उन मे है ही नही। उन का कहना है : कहाँ धन, जो हाथ का मैल भर भी नहीं और कहाँ समय जो जीवन का ही दूसरा नाम है । भला दोनों की क्या तुलना ! भूमिका बिना बाँधे कहा जाये तो मतलब यह है कि जहाँ उन्हें रस मिलता है या जब उन के हृदय में रस उमडता है तब वे

सब कुछ भूल जाते हैं कि उन के जिम्मे और कितने जरूरी काम हैं क्योंकि वे 'रस' को ही जीवन का वास्तविक प्राप्य मानते हैं। दाग़ का यह शेर उन पर भी लागू होता है

"हज़रते दाग़ ये कूचए-कातिल है, उठिए,
आप तो जहाँ जाते हैं, जम जाते हैं।"

सुनने-सुनाने में, बहस करने में, मित्रो मे गप-शप करने में डूब जाने के कारण कई बार ट्रेन तक छूट चुकी है। कक्षा में पढाते समय 'मूड' आने पर वे घण्टा-दो घण्टा तक अधिक पढा जाते हैं, पन्द्रह-बीस मिनिट अधिक देर तक कक्षा लेते रहना तो नियम सा बन चुका है। पढाना उन का पेशा ही नही, नशा भी है। उन का यह नशा उन विद्यार्थियो के लिए सचमुच भारी पडता है जिन की कक्षा वे आख़िरी घण्टे में लेते हैं किन्तु उन के विद्यार्थियों की श्रद्धा को यदि मानदण्ड माना जाये तो ऐसा नही लगता कि अपने अध्यापक की 'सनक' उन्हें अप्रिय लगती है।

वैसे समय को जीवन मानने के कारण वे उस के छोटे से छोटे हिस्से को भी नष्ट नही करना चाहते। कलकत्ता शहर उन के इस सिद्धान्त का सब से बडा शत्रु है जिस के एक छोर से दूसरे छोर पर जाने में घण्टा सवा घण्टा या उस से भी अधिक समय लग सकता है। ट्राम बस में जीवन का इतना बहुमूल्य अंश व्यर्थ ही नष्ट हो, यह वे कैसे पसन्द कर सकते हैं। आलू के बोरे की तरह ठसाठस भरी ट्राम या बस में खडे-खडे वे अपनी प्रिय कविताओं की मन-ही-मन आवृत्ति करते रहते हैं। कभी-कभी सौभाग्य से जब बैठने का अवसर मिल जाता है तो वे अपनी प्रिय नयी-पुरानी कविताओं को याद करते रहते हैं या जब बहुत थके रहते हैं तो 'योग समाधि' में लीन हो जाते हैं ताकि गन्तव्य तक पहुँचते पहुँचते हरे हो सकें। उन की यह व्यवस्था उन के लिए अधिक लाभप्रद है कि जेबकतरो के लिए—यह कहना मुश्किल है। होता यह है कि हर तीसरे-चौथे महीने कुछ परोपकारी सज्जन उन की जेब के भार को हलका करते रहते हैं। उन्हें अधिक कष्ट न हो, इस लिए अब प्रोफेसर साहब अपनी जेबों को ज्यादा भारी रखते ही नही। मित्रो, विशेषकर पत्नी से सदुपदेश सुनते रहने पर भी वे अपनी आदत नही छोडते। उन का कहना है कि हर अच्छी चीज़ पर सरकार टैक्स लगाती है, चूँकि मेरी इस सुव्यवस्था पर अभी तक उस की दया दृष्टि नही हुई है अत उस के 'भाई-बन्द' उस का कार्य पूरा करते है। इस के लिए 'बजट' में रकम स्वीकार करनी चाहिए न कि इस के चलते अपने जीवन का एक बडा भाग व्यर्थ नष्ट करना चाहिए। और फिर कबीर दास तो कह ही गये हैं

"कबिरा आप ठगाइए, और न ठगिए कोय।
आप ठगे सुख होत है और ठगे दुख होय।"

किन्तु इस हवाई उत्तर से किसी का समाधान नही होता। श्रीमती सुस्मिता आखें नचा कर और सिर झटका कर कहती है, "चलिए, रहने दीजिए, सिवाय बातें बनाने के आप को आता भी क्या है? इतना भी नही होता कि जेब को ही सँभाल रखें, भला घर में और किसी की तो जेब नही कटती।" इस पर

प्रोफ़ेसर साहब ग़ालिब की पंक्ति मन-ही-मन दुहरा कर रह जाते हैं—

"क्या बने बात बनाये जहाँ बात न बने।"

समय की ही तरह स्थान के प्रति भी श्री शशांक की दृष्टि दार्शनिकों की-सी है। परिवेश मे रहते हुए भी परिवेश से परे रहने की साधना उन्हे प्रिय है। परिवेश अर्थात् देश, काल, वातावरण! परिणाम यह है कि भूगोल का उन का ज्ञान उस के प्रथम अक्षर को बाद दे कर ही है। चाहे वह उन के अपने शहर कलक़त्ते का भूगोल हो, चाहे होनोलूलू का। अपरिचित स्थानों की बात तो जाने ही दीजिए, दो-तीन बार के परिचित स्थानों पर जाने के लिए भी अकसर उन्हें रास्ता पूछना पड़ता है एवं कई गलियों और सड़कों का द्राविड़ी प्राणायाम करने के बाद ही वे अपने गन्तव्य पर पहुँच पाते हैं। अपने आलोचक-बन्धु श्री रामवर सिंह के इस कथन से वे पूर्णत सहमत है कि जिन का कालबोध तीव्र होता है वे कहानीकार होते है, जिन का देश और काल दोनों का बोध प्रखर होता है वे उपन्यासकार होते हैं और जो देश-काल में रहते हुए भी देश-काल से परे होते हैं वे ही कवि या कवि-हृदय हो पाते हैं। इस तरह अनायास ही दोनों बन्धु अपने को कम से कम कवि-हृदय सिद्ध कर सकते है, कविताएँ लिख-लिख कर तो दोनों घायल हो चुके है।

श्री शशांक कवि-हृदय है, इसे प्रायः सभी स्वीकार करते हैं। उन के और कविता के सम्बन्ध के बारे मे नन्ददास की एक पंक्ति उद्धृत की जा सकती है: "नन्ददास प्रभु कहत बनै ना मै ही लटू के धो वो ही लटूरी।" वे कविता पर लट्टू है या कविता उन पर लट्टू है, कहना कठिन है। संस्कृत, हिन्दी, बंगला, उर्दू की उन्हें इतनी कविताएँ याद है कि सुनाने पर आ जाते हैं तो घंटों सुनाते रहते है। कविता की आवृत्ति वे अपने ढंग से भावों के अनुरूप करते है और 'कविता-पाठ' को कला मानते है। राजशेखर की इस उक्ति के वे पक्के समर्थक है:

"करोति काव्यं प्रायेण संस्कृतात्मा यथा तथा।
पठितुं वेत्ति स परं यस्य सिद्धा सरस्वती।"

अर्थात् सुसंस्कृत व्यक्ति किसी-न-किसी तरह तो काव्य रच ही लेता है किन्तु पढना वही जानता है जिसे सरस्वती सिद्ध हो। हिन्दी कवि-सम्मेलनों मे प्रचलित स-सुर कवियों की 'गलेबाजी' को वे काव्य-पाठ के गौरव के प्रतिकूल मानते हैं किन्तु उन के कुछ कृपालु मित्र इस के लिए उन की अ-सुरता को दायी ठहराते है।

प्रायः उन के छात्र और मित्र कहा करते है कि उन की स्मृति-शक्ति अद्भुत है, किन्तु यह सच नही है, अद्भुत तो उन की विस्मृति-शक्ति है। अप्रयोजनीय बातों को वे इतनी आसानी से भूल जाते है जैसे किसी पट्टी पर लिखे हुए को गीले कपडे से पोंछ दिया हो। अवश्य ही इस की लपेट में कई ऐसी बातें भी आ जाती है जो उन की पत्नी या परिवार वालों या मित्रों की दृष्टि मे अत्यन्त प्रयोजनीय होती है। और जिन के लिए कभी-

कभी उन्हें डाँट भी खानी पड़ती है, किन्तु उस समय वे बहुत भोला चेहरा बना कर मिर्ज़ा गालिब की पंक्ति पढ़ते हैं "भूल जाना है निशानी मेरी।"

एक बार उन के एक मित्र ने देखा कि किताब की दूकानों की जगह वे अन्यान्य दूकानों के चक्कर लगा रहे हैं, उन के हाथ में एक पुर्ज़ा है, जिसे वे परेशान नज़र से बार-बार पढ़ते हैं, कोई चीज़ लेते ही उस पुर्ज़े पर कुछ टाँकने लगते हैं। अपना कौतूहल न रोक पाने के कारण उन मित्र महोदय ने आगे बढ़कर उस पुर्ज़े को खींच लिया तो पाया कि उस में गृहस्थी की चार-छह साधारण चीज़ों के नाम थे और उन के सामने उन के दाम लिखे हुए थे। मित्र ने पूछा, 'प्रोफ़ेसर, यह क्या बच्चों की तरह चार चीज़ों के लिए पुर्ज़ा लिख कर लाये हो और फिर उस पर दाम भी लिखने जा रहे हो, इतनी कविताएँ रटे बैठे हो, इन चीज़ों के नाम दाम याद नहीं रख सकते?"

प्रोफ़ेसर साहब ने गम्भीरता से उत्तर दिया, "सुनो भई, या तो कविताएँ ही याद रह सकती हैं, या इन और इन-जैसी चीज़ों के नाम दाम। तुम ने दूसरी बात चुनी है, मैं ने पहली। अब इस में किसी को किसी से शिकायत क्यों हो?"

तुलसीदास कह गये हैं, 'हरि अनन्त, हरि कथा अनन्ता।' प्रो० शशांक की कथा अनन्त भले न हो, इतनी संक्षिप्त भी तो नहीं है कि एक ही निबन्ध में चुक जाये, अतः इस समय इतना ही, शेष फिर कभी।

[दिसम्बर १९६२]

नया मेघदूत !

शरद जोशी



रामगिरि के पास से मेघ इस साल भी गुज़रा होगा। आषाढ़ के पहले दिन राम जाने कौन-सी तारीख थी पर यक्ष कोई जरूर वहाँ होगा जिस की मलका किसी अलका में बैठी होगी। कुटज अभी भी उगते होंगे, जंगली फूल हैं — इन्हें कौन उगाता है, यह तो लगातार उगते चले जाते हैं। और भी काफ़ी बातें वैसी ही होंगी जो पहले थी। हो सकता है, एकाध कॉलोनी बन गयी हो। हो सकता है, यक्ष वहाँ ठेकेदार हो। हो सकता है, वहाँ कोई खदान निकल आयी हो और यक्ष अपनी आदत के अनुसार पैसा पीट रहा हो। कालिदास ने मुझे यक्ष के मामले मे प्रिजुडिस कर दिया है। एक तो यही कि इस जाति के लोग बड़े जोरू के गुलाम होते है। जहाँ रहते है उसी की रट लगाते रहते है। दूसरा यह कि ये लोग अपना केस बराबर फाइट नही कर पाते। कुबेर नाराज हो गया तो चुपचाप राज्य से बाहर हो गये। और तीसरी बात कि वडे कंजूस होते है। सन्देश भेजने का सामान्य खर्च बचा कर ये लोग बादल वगैरह से सन्देश भेजने की सोचते हैं। एक कविता ने उस जमाने की सारी कम्युनिकेशन-फ़ेसिलिटी को बदनाम कर दिया। कंजूसी है। और क्या !

विरहिणियो की भी क्या कहिए। आहे भरना मात्र जिन की सोशल एक्टीविटीज हो, आँसू बहाने में जो मुहल्ले वालियो के पुराने रिकार्ड तोड़ दें और 'डायटिंग'से दुबली रहें और कहे कि मै तो गम की मारी हूँ। चील-कौवों से, हवा-बादल से जो सन्देशा पूछती फिरें। ग़जब के लोग थे उस जमाने के। जो काम करते थे बड़े पैमाने पर करते थे। आज-कल के लोग मोहब्बत करते है, एक खबर नहीं बन पाती लोकल अखबार के लिए। पहले के लोग मोहब्बत करते थे, किताबें तैयार हो जाती है। पुरानी मोहब्बत की दास्तानें आज कोर्स मे लगी है और आज जो प्रेम होता है उसे प्राचार्य महोदय एक्सट्रा-केरिक्यूलर एक्टीविटी घोषित कर देते है।

आजकल मेघदूत का कोई सिलसिला नहीं। खबर देना हो—खुद जाना चाहिए।

बार-बार चिट्ठियाँ भेजो तो प्रेमिका पोस्टमैन के साथ चली जाये। माशूक और नामाबर का रोमान्स शेक्सपियर से चला आ रहा है। कालिदास के जमाने में लोग शरीफ होंगे। मेघदूत भाभी की ओर बुरी नजर नही डालता होगा। कविता कविता रह जाती, उपन्यास नही बन पाती कि जब यक्ष का सन्देश ले कर मेघदूत पहुँचा तो यक्षिणी को देख ठगा सा रह गया। और क्यो न रहे साहब! जो उज्जयिनी की सुन्दरियो पर कुर्बान जा चुका हो, दशपुर में पगलाया हो, हर शहर और हर बस्ती में बडी बडी आँखो वाली ने जिसे नयन-चाप वालो से क्षत विक्षत कर दिया हो, बताइए अलकापुरी में वह क्यो चूकेगा। युद्ध और प्रेम में काहे की ईमानदारी, सब जायज है। फिर उसे यह पता कि इस का पति कोसो दूर है, अभी आने का नही और यह अकेली है। कालिदास खत्म कर अपनी कविता अब असल किस्सा मेघदूत शुरू होगा। मेघ कहेगा—'अरी किस फेर में पडी है तू! मैं देख कर आया हूँ, तेरा पति रामगिरि के क्षेत्र में रगरेलियाँ मना रहा है। वह तुझे याद भी नही करता, सन्देश भी नही भेजता। तू अपनी यह 'चार दिन की चाँदनी' क्यों वेस्ट करती है।"

यक्षिणी के तेवर चढ जाते है—"अच्छा, मुएँ की यह मजाल!"

बरसों बाद यक्ष आता है तो मोहल्ले वाले लम्बे हाथ कर-कर बताते है—"अरे, हम ने तो तुझे पहले ही बोला था भाई कि घरवाली को साथ ले जा, पर तू नही माना। ले वह किसी 'मेघ' के साथ भाग गयी!"

यक्ष दुहथ्थड मार कर रो देता है। और अपने जीवन की सब से बडी शिक्षा ग्रहण करता है—'कभी सन्देश किसी अन्य पुरुष के हाथ न भेजो!'

मेरा दिमाग तो शक्की है! मैं कालिदास और उस के पात्रो-सा भोला नही हूँ। कण्व के आश्रम में एक साहब घुस गये। कहने लगे, मै यहाँ का राजा हूँ! और शकुन्तला ने बात मान ली। न जान न पहचान और शादी कर ली। ऋषि के आने तक भी सब्र न किया गया। यक्ष ने एक मेघ जाता देखा तो सन्देश भेज दिया। मैं और मेरे पात्र कभी ऐसा नही कर सकते। मेरा दिमाग शक्की है। मैं पूछता हूँ कि यक्ष को कुबेर ने अपने राज्य से कुछ वर्षो के लिए निकाला क्यो? क्या यह नही माना जाये कि बॉस कुबेर की यक्ष की पत्नी पर नजर थी और वह किसी तरह यक्ष को अलकापुरी से 'खो' कर देना चाहता था? जवाब देंगे कालिदास क्या इस का? अजी हमें तो तब पता लगा जब मेघदूत अलकापुरी पहुँचा। कहाँ का विरह और कैसा विरह! यक्ष के घर में कुबेर-यक्षिणी रोमान्स कर रहे है। उस ने सिर पीट लिया। उधर बेचारा यक्ष जगलो की खाक छान रहा है और इधर यह कुलच्छिनी!

मेघदूत! क्या कहने! ऐसी पुस्तकें तो कोर्स में ही चल सकती हैं। ऐसी ही किताबें पढ कर जब छात्र निकलते है तो दुनिया कहती है—भाई, आजकल की पढाई जीवन में काम नही देती। ऐसा विरह तो किसी

पेशेवर अभिनेत्री को भी स्वीकार नहीं होगा कि वह मोटी से दुबली हो जाये। ऐसा हीरो कौन एक्टर बनना चाहेगा जिस में सारी बहादुरी सिर्फ़ सन्देश भेज देने में है। एक लेटरपेड और एक स्याही की बोतल ख़रीद कर कोई भी प्रेमी बन जायेगा। पन्द्रह पैसे के टिकिट से आप सोलह साल की लड़की को बेवक़ूफ़ नहीं बना सकते भाई साहब!

ख़ैर, हटाइए! जरा कवि बन कर देखिए। प्रेम नौटंकी स्तर पर भी होता है। उसे भी आजमाइए। पर वह सब भी शादी के पहले तक। शादी के बाद अगर वह शहनाई वाला, वह घोड़ा सजाने वाला, वह ससुर अगर सड़क पर भी नजर आ जाये तो आदमी पगला जाता है और पत्थर फेंकने लगता है। सारे नशे दूर हो जाते हैं। वे ही प्रेम के हिरन जो बैण्ड बाजा सुन शादी के वक्त आ गये थे, बच्चों का रोना-चिल्लाना सुन कुछ साल बाद भाग जाते हैं। आदमी मनाता है कि उसे इस अलकापुरी से दूर कही जाने को मिले। ब्रह्मचर्य-आश्रम से संन्यास-आश्रम तक का यह चिल्ल-पों मय, मार्ग उसे खाने दौड़ता है। वह सोचता है, कोई ऐसी जगह हो, जहाँ कोई न हो (जैसे रामगिरि) और वहाँ वह न शान्ति से रहे।

और फिर आषाढ के पहले दिन जब मेघ सी० आई० डी० नज़रों से रामगिरि के ऊपर से गुज़रता है, यक्ष कुटज के फूल हाथ में ले कर कहता है—"हे मेघ, उस यक्षिणी को मत बताना कि मैं यहाँ हूँ। मेरी मान कि तू अलकापुरी जा ही मत। पड़ने दे वहाँ सूखा। और अगर जाना ही है तो तू वहाँ उस यक्षिणी से मत कहना कि मैं कहाँ हूँ। हे मेघ, यह शान्ति मुझे बड़ी मुश्किल से प्राप्त हुई है। जिस प्रकार अमुक वस्तु फ़लाँ बात हो जाने से सुखी हो जाती है उसी प्रकार मैं भी अलकापुरी से दूर यहाँ सुखी हूँ। जिस प्रकार ये-ये जीव ऐसे-ऐसे कष्ट पा कर उसे भुलाने का प्रयास करते है। वैसा ही मैं भी कर रहा हूँ। इसी प्रकार वह कालिदास की टेकनिक से उपमाएँ देता हुआ मेघ से यही कहेगा कि हे मेघ, मेरी खबर किसी को नही देना।

बल्कि अब तो मेघ को दूर से आता देख कर ही यक्ष छाते में सिर छिपा लेगा कि कहीं यह दुष्ट देख न ले और ख़बर न दे दे घर वाली को।

[दिसम्बर १९६५]

आकाशवाणी की नारी

परदेशी

•

'साँवरिया की बाँसुरिया', 'परदेसिया की नजरिया' और 'दुल्हनियाँ की चुनरिया' के युग समाज और साहित्य के रणागणों से पलायन कर गये हों, लेकिन फिल्मी रगभूमि मे पैर गटा कर बैठ गये है। और आकाशवाणी के आदर्श फिल्मी सस्कार है, अत आकाशवाणी की नारी फिल्मी अप्सराओ के चरण-चिह्नों पर चल रही है।

आकाशवाणी की नारी आधुनिका है। उस की प्रकृति वर्तमान में विकसित हुई है। उस का मानस आज की तलाश में है। लेकिन उस की प्रवृत्ति उस की प्रकृति के प्रतिकूल है। वह अपने सस्कारो मे नही जी रही है अपने सस्कारो को विदेशी सस्कृति के ऑक्सीजन मे जिला रही है।

इस आधुनिका ने सामतकालीन-रीति कालीन परिवेश पहना है, यह इस को यान्त्रिक जड-प्रकृति का परिचायक है। इस का स्वर, भाव और अभिनय या कहिए इस का 'नखरा' तब और भी भद्दा लगता है, जब यह मुगलकालीन नायिकाओं के हाव-भावों और रीतिकालीन दूतियो की काम कला शब्दावली का प्रयोग करती है। आश्चर्य तो यह है कि इस समस्त आयोजना के पीछे उन कवि-प्रोड्यूसरों की शक्तियाँ सलग्न है, जिन्होंने चिरनवीन भाव, उन्मेष और आनन्द से अपने अनेक गीतो का शृगार किया है।

रोटी की मजबूरी, ऊँचे स्टैण्डर्ड की मजबूरी और नायलोन टेरिलिन की मजबूरी आदमी को खामोश रखती है और औरत को चुप। यह मजबूरी, यह समझौतावादिता वह सब कराती है जो अकरणीय एव अवरणीय है। जयिकाराय को छोड दीजिए, फिल्मो की कई प्लेबैक सिगर्स और आकाशवाणी की गायिकाओ की कण्ठ स्वर-परम्परा ही ऐसी है कि श्रोता उन के कण्ठ से मीराबाई के भजन सुनने की कल्पना भी नही कर सकता। सम्भव है वे भी सुनाना न चाहती हो, किन्तु प्राचीन और अर्वाचीन में विभक्त अपने मजबूर व्यक्तित्व की चुनौतीवश बाध्य हो। और इसी लिए 'चन्दा की नाव खेने की' बात करती है, हालाँ कि नये मॉडल की कार हविस बन गयी

है। नल से शीशे का गिलास भर कर, मेज़ तक आये मेहमान के सामने पेश करने में पटु आकाशवाणी की यह नारी मगर के आँसू बहाती है कि "साँवरिया तेरी कँकरिया से मेरी गगरिया फूटती है और चुनरिया भीगती है!" दरअसल, स्कर्ट पहनने वाली इस नारी को चूनर से जितनी नफ़रत है, उतनी किसी से नहीं!

यदि अनाउन्सर के रूप में इसे कभी उद्घोषणा का अवसर मिलता है तो बहुत ही बनावटी तरीक़े से शब्दो का तोड़-मरोड़-जोड़ बैठाती है, हिन्दी शब्द इस अन्दाज़ से बोलती है, मानो अँगरेज की बेटी है और उस का अँगरेजो उच्चारण कोई अँगरेज सुन ले तो सिर झुका ले!

खेत-खलिहानों और फ़सलों के इस के गीत काँच की नक़ली आँख की तरह है, संगमरमर की नकली औरत के नंगे जिस्म की तरह है। फसलों के इस के गीतों में उल्लास और आनन्द नही; बाँध और योजना के इस के गीतों मे उत्साह और आवेग नही, असल मे यह तो नक़ल में गाती है। इसे तो, जैसे-तैसे गीत समाप्त कर किसी रेस्त्राँ या लोकल स्टेशन पर अपाइण्टमेण्ट निभाना है! यह दशा है कि कहीं, किसो (हिन्दी) स्टेशन से आकाशवाणी की नारी का एक भी राग, रस, स्वर शब्द ऐसा नही सुनाई देता, जो मानव-मन-प्राण की रिक्तताओं को, अपूर्णताओं को, भाव-अभावो को किसी अमर आलोकवन्ती चिरन्तन चेतना के अनहद नाद से भर दे!

इस के विपरीत, मॉडर्न मीरा की ये बेटियाँ बहनों के प्रोग्राम मे भरी दोपहरी में ऐसे अचित्र और अस्वाभाविक वार्तालाप मे विलीन हो जाती है कि सुन कर मन मर जाता है। प्रतीत होता है मानो अदा और अभिनय के नोटेशन्स-सहित काग़ज़ पर लिखे नुस्खों को बड़े लटके और छोटे झटके से पढ़ती है और प्रयत्न रहता है नाक से बोलने का और अकारण हँसने का, जिसे ये नजाकत और सफलता की सर्वोच्च सीढी मानती है। बँगाली और गुजराती स्टेशनों की तुलना में हिन्दी स्टेशनों के गीत-संगीत कोरे और कर्कश है। दूर दक्षिण से आनेवाली संगीतलहरी का मर्मर स्वर समझने में, भले हम असमर्थ हों, परन्तु उस का देय—उल्लास तो सर्वसुलभ है।

देश मे जन अनेक (आर्म्डचेयर पोलिटिशियन्स) जिस तरह भोजन के बाद राजनीति का पान चबा लेते हैं, उस तरह एक ओर हम धर्मनिरपेक्षता के वार्ता वारि-विलास में सराबोर रहते है, दूसरी ओर धर्म के नाम पर प्रत्येक प्रकार के अन्धविश्वासों को आकाशवाणी क्रम में अग्रस्थान देते है और उस क्रमायोजन को आकाशवाणी की वाक्-कन्याएँ इस प्रकार प्रसारित करती है कि यह अप्रकट नही रहता कि इन की चाल और ताल मे अन्तर है। ये मात्र साधन है—इन्स्ट्रूमेण्ट है और यान्त्रिक मानस की जड़ता की शिकार है।

क्या प्राचीन अज्ञान, अन्धविश्वास और अन्धकार से परिपूर्ण असद्भावनाओं का प्रसार जरूरी है? तब हम देश को किस ओर ले जा रहे है? कौन-सी दिशा दे रहे है? समाजवाद का हमारा नारा ढोंग नही है क्या? क्योंकि

जहाँ भेद है, वहाँ समाजवाद नही है समाजवाद भेदो की रचना नही करता। वह मूर्तिपूजको के आस्थागीतो की गुरुतर गुजार से सुधारसमाजियो के मानस को चोट पहुँचाती है। वह पहली साँस में मूर्ति के चरणो की मतवाली मीरा बन जाती है और अपनी प्लास्टिकी भक्ति की हिमवर्षा मे श्रोता-मनुष्य के मस्तिष्क पर कुहरा छा देती है तो दूसरी ही साँस में कबीरदास के मूर्तिपूजा-विरोधी दोहे इस अदा से गाती है, मानो कबीर महाकवि न हो कर सडक पर गाता-जाता भीख माँगनेवाला अ वा है और ये है उस की जायज बेटी जो अपने कन्धे पर उस का हाथ रखाये चल रही है। मतलब यह कि आकाशवाणी की विसातिन की दूकान पर 'मोहन की मूरत के चरण-कमल में मतवाली मीरा' का रिकार्ड भी सुलभ है और 'पत्थर पूजे हरि मिले तो मैं पूजू पहाड' का कबीरी रिकार्ड भी।

विचित्रा है यह! कहती है—'सोलह सिंगार किनो तोरे करनवा, डर मोहे लागे!' साजन के पास जाते डरती है, हालाँ कि दिनभर दफ्तर में काम करती है और दो सौ टेलीफोन करती है। 'तोरे पैंया पडू, बालमा' गीत इसे पसन्द है, जैसे तलाक कानून पास हो जाने की इसे खबर ही नही है (?) लाख-लाख पुरुषो की भीड में खुले मुँह जाती है मगर पछताती है—'जो मैं जानती बिछुरत हैं सैंयाँ, घूँघटा में आग लगा देती।' कैसी विडम्बना है इस देश के भाग्य में या इस की सृष्टि के स्वप्नद्रष्टा, नवसमाज के योजनाकारो में ? एक ओर तो वे राजकीय प्रकाशन विभाग मे घूघट-बुर्के और परदा-प्रथा के विरुद्ध और स्त्री स्वातन्त्र्य के समर्थन में पुस्तकें छापते है और दूसरी ओर राजकीय प्रसारण विभाग से इस तथ्य का प्रचार करते है कि 'घूँघट में छिपे कजरारे नैनो की चोट' वोटवादी सरकार के कोटवादी अफसरो को लुभाती है। एक ओर विरोध करते है—दो-दो हाथ ले कर आने वाले प्रत्येक भावी कर्मयोगी शिशु का, टका बजाते है फेमिली-प्लानिंग का और दूसरी ओर गीत गाते है—अधिक बच्चोवाली पौराणिक जननी का! मुहर लगाते है उन अन्धविश्वासों पर, जो औरत को एक मन्त्र न मान कर यानी मात्र एक यन्त्र बना कर, अपनी कामेच्छातृप्ति का तुच्छ साधन घोषित करते है।

जिस समाज और जिस शासन-व्यवस्था के खिलाफ हिन्दुस्तान के महापुरुषो—१८५७ से ले कर आज तक के समाज-विधाताओ ने—संघर्ष किया, क्या उसी समाज-व्यवस्था और शासन-व्यवस्था को चुपके चुपके जीवित रखने के देश द्रोह का बीडा तो हमारे आज के समाज पर छाये स्वार्थसाधुओ ने नही उठा लिया है ? झाँसी की रानी लक्ष्मी से ले कर दिल्ली की देवी इन्दिरा प्रियदर्शिनी तक—भारतीय क्रान्तिकारियो ने जिस समाज को बदल डालने के लिए अपना खून पसीना बहाया, वह क्या बदला ? क्या कभी नही बदलेगा ? फिर नये समाज, नयी व्यवस्था, विज्ञान, यन्त्र, साधन और योजना का तात्पर्य क्या ? ऐसी दशा में पारम्परिक उत्पीडन से

परेशान प्राणी पूछता है—तब, मुझे बताइए विज्ञान ने नयी चीज़ क्या दी ? यन्त्र ने नयी दिशा कहाँ दी ? मेरे पैरों में तो आज भी युगों की बेड़ियाँ हैं। मेरी मजबूर बेटी के अधर आज भी सामान्तों की हविस के शिकार हैं। मेरी रोटी पर मेरी कुलवधू की नीलाम होती अस्मत के धब्बे हैं। तब, तुम ने मुझे कौन-सा सन्देश दिया ? नव-समाज-रचना की कौन-सी ऋचा तुम ने रची ?

कोई पूछे—क्या यन्त्र ने हमारे गीत की भावना को बदला ? वस्तु, कथन, कथ्य, तान, स्वर, बोल को आमूल परिवर्तन दिया ? क्या हमारे गीत की संवेदना शाश्वत है कि युग की पगधूल उस पर छा नही सकती ? तब, फिर परिवर्तन कहाँ आया ? यहाँ तो परम्परा का नग्न नृत्य है। परिपाटी के कीचड़ के धब्बे आकाशवाणी की सनातन नारी की कंचुकी और अधोवस्त्र पर आच्छादित हैं। यक़ीनन, अपनी ढोली चूनर और घेरदार लहँगे के शताब्दियों के बोझ को लिये वह तेज दौड़ती वक़्त की ट्राम या ट्रेन को नहीं पकड़ सकती। आकाशवाणी के साधकों ने इस नारी के बोझ को बढ़ाया है—उसे अधिक अन्धविश्वासिनी, विपथगामिनी और विलासवादिनी बनाया है। उन्होंने प्रयत्नतया उसे नवयुग के नवप्रकाश से वंचित रखा है। वह परित्यक्ता, तिरस्कृता, अपमानिता, शापहता, शोषिता नारी है और बाध्य है बिसूर-बिसूर कर रोने के लिए कि उस का पुरुप मध्य सामन्तकालीन लम्पट है, और स्वयं वह 'अबला नार बिचारी' है, हालाँ कि नेहरूकालीन नवविधान ने उसे अपने पुरुप के बराबर समानता के सिंहासन पर प्रतिष्ठित किया है।

आकाशवाणी की नारी—कालिदास और रवीन्द्रनाथ की, शरद् और अज्ञेय की, यशपाल, जैनेन्द्र और धर्मवीर भारती की नारी है अथवा फिल्मी फाइनेन्स के चक्कर मे कॉफ़ी-हाउसों के बाहर भटकनेवाले मेरे मित्रों की, जिन का एकमात्र कथ्य यह है कि "अगर, प्रदेसी साहब, आप दस-बाराँ हज़ार का बन्दोबस्त करा दें, तो फिलिम पूरी कराने का जिम्मा हमारा। नीता मेरी नातिन है···उसे आज सेठजी ने चाय पर बुलाया है।"

यह नारी गाना पसन्द करती है—"आ भी जा रसिया, मन मोरा प्यास ! आ आ आ आ आ ! आ आ आ आ आ !" (इस गीत मे सिर्फ़ ३८ बार 'आ-आ' आया है) और "परदेसिया, तेरे नैनों ने चोरी किया !" ('परदेसी' शब्दछाप के बिना कोई गीत पूरा नही होता ?) इस के सामने है रवीन्द्र का यह गीत—

"जानि तुम फिरे आसि के आवार, जानि।
तबु मने मने प्रबोध नाहि जे मानि॥"

अब उस के कण्ठ से जो गीत लहकेगा और जो स्वर महकेगा, उस से हम कह देंगे कि वह किस की नारी है ?

और प्रश्न यह भी है कि वह 'नार है या नारी ?' सोलहवी या किसी अन्य सदी के सामन्त पुरुप की अप्राकृतिक वासना की वस्तु है—'रतनार अनार-सी नार खड़ी'—किसी काले कोठे की टूटी सारंगी की फटी खोल है अथवा अपने 'कंकन के नग की परछाईं मे,

राम का रूप निहारनेवाली' जानकी ? विश्व मातृत्व और विश्वबन्धुत्व की राजतरंगिणी जनकनन्दिनी ! अतएव, आकाशवाणी की नारी की भाषा भले आधुनिका ही, किन्तु अपने अन्तिम भावलक्ष्य के लिए उसे 'गीत गोविन्द' के जयदेव और फिल्मी जगमोहन में से एक को चुनना पड़ेगा अन्यथा अपने काले चरणचिह्नों पर वह भारत भर को भूत बना भटका देगी ।

आकाशवाणी, जहाँ भजन भी 'रॉक् एण्ड रॉल्' की तर्ज पर गाये जाते हैं, क्या अपने शुद्ध आत्मरूप को पहचानेगी ? सत्, चित् और आनन्द की ओर बढ़नेवाले गीत सुनायेगी ? वह गान्धी की बात मानेगी या इटली के उस भगोड़े फिल्मी डायरेक्टर की जो एक भारतीय कुलवधू को बहका-महका कर ले गया ? वह सुधा मल्होत्रा के समर्पित स्वर में कनुप्रिया राधा के राजकवि रसखान की वाणी का अभिनन्दन करेगी अथवा किसी कस्बे के उस असंस्कृत कुँजड़े का जो बाल बढ़ा कर और पैग चढ़ा कर गीतकार बन गया है ?

हम इस नारी के सुगौर, चन्दनवर्ण भाल पर पूजा का केसर-कुंकुम का तिलक लगाने को तैयार है, पर पहले यह जानने को बेचैन हैं कि उस का प्राण-प्रगीत कौन-सा है ? अगर वह भगवान् कालिदास के अमृत श्लोकों को कव्वाली की तर्ज पर गाना चाहती है तो, हमें कुछ नहीं कहना है उसे ! वह भले गाती रहे— "जा-रे-जा । ल ल ला ! ल ल-ला ! "

[जून १९६६]

नौकरी और नोबेल प्राइज़

नरेन्द्र कोहली



मेरी प्रेमिका ने कहा, "प्रियतम, यह भीड़-भड़क्के की दुनिया, प्रेम करने के लिए सर्वथा अनुपयुक्त स्थान है। यहाँ तो हमें देख कर लोग कनॉट प्लेस में भी जलते हैं, चाँदनी चौक में भी और सदर बाजार में भी। तुम कोई ऐसा स्थान खोजो, जहाँ मेरे और तुम्हारे अतिरिक्त और कोई न हो।"

उस की बात सुन कर मेरे मन में कई भावनाएँ जागीं। प्रेम ने मुझे भावुक बना दिया है। गालिब को पता नहीं क्यों इश्क ने निकम्मा बना दिया था। वैसे शायद भावुक और निकम्मे मे कोई अन्तर भी नही है।

कृष्ण इसी लिए यमुना-किनारे प्रेम करते थे जहाँ उन्हे देख कर कोई जला, उसे झोंक दिया यमुना में। जलना वलना बन्द। पर कनॉट प्लेस मे तो फ़व्वारा तक नही है। फिर किसी का जलना कैसे रोका जा सकता था।

फिर सहसा मुझे परिवार-नियोजन वालों की असफलता पर क्रोध आया था। क्या किया अब तक इन्होंने? ये लोग अपने काम मे तनिक भी सफल हुए होते तो प्रेमियों को देख कर जलने के लिए इतने लोग पैदा न हुए होते।

मैं एकान्त की तलाश में निकल पड़ा। इस सिलसिले में पहले मैं हातिमताई के पास गया कि वे मेरी कुछ सहायता करें, पर पता चला कि वे अब रिटायर हो चुके है। सोचा, विदेशी सहायता नही तो क्या हुआ, अपने स्रोतों के आधार पर भी तो योजना बनायी जा सकती है। मैं अपने बल-बूते पर ही एकान्त खोजने चल पड़ा। बहुत ढूँढ़ा तो सोलन के पास कुमारहट्टी नाम के स्थान पर ठिठक गया। क्या देखता हूँ कि ऊँची पहाडियों और गहरे खड्डों के बीच में से रेल की, टी० बी० की मारी हुई, दुबली-सी लाइन जा रही है। वहाँ सड़क के पास रेल का गेट था और उस पर बोर्ड लगा था—"फाटक खोलने और बन्द करने के लिए एक आदमी की ज़रूरत है।"

मैं खुशी से उछल पड़ना चाहता था, पर खड्ड मे गिर पड़ने के भय से उछला

नही। मै ने प्रार्थनापत्र दिया और गेट खोलने और बन्द करने की नौकरी मुझे मिल गयी। है न खुशी की बात। नौकरी मिल गयी, फ़ुल टाइम। इस देश मे डॉ० खुराना को नौकरी नही मिली थी :

(गाइए—अरुण यह मधुमय देश हमारा।
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज
को मिलता एक सहारा)

डॉ० खुराना को सहारा नही मिला था इस देश में, मुझे मिल गया। सहारा न मिलता तो शायद मैं भी वैज्ञानिक ही बनता। सहारा मिला तो अनजान क्षितिज या प्रेमी हो गया। मैं ने अपने आप को डॉ० खुराना से महान् माना और अपनी जन्मकुण्डली निकाल कर उस पर अपने हाथ से लिख दिया—"मुझे नोबेल प्राइज भी मिलेगा।" इस देश मे नौकरी न पा सकने वाले को नोबेल प्राइज मिला तो मुझे, जिसे रेल का फाटक खोलने और बन्द करने की नौकरी मिल गयी थी, नोबेल प्राइज़ लेने से कौन माई का लाल रोक सकता था! तो नौकरी के साथ-साथ नोबेल प्राइज़ भी निश्चित हुआ।

नौकरी मिल गयी तो मै अपनी प्रेमिका को भी उस एकान्त मे ले आया। उस ने देखा—क्या एकान्त था। बस एकान्त ही एकान्त था। दूर-दूर तक या तो पहाड़ थे या फिर खड्ड थी। न आदमी था, न लाल तिकोन। पर मेरी प्रेमिका घण्टा भर ही प्रसन्न रही और फिर नाराज़ हो कर बोली, "यहाँ तो कोई भी नही है। हमारी रोटी क्या तुम्हारी माँ पकायेगी?"

मैं बोला, "मेरी जान! या तो एकान्त मे प्रेम कर लो, या फिर बरतन साफ़ करने के लिए, घर में झाड़ू-पोचा लगाने के लिए, खाना पकाने के लिए नौकर और माइयाँ ढूँढ़ लो।"

उस की समझ में मेरी बात आ गयी। उस ने प्यार करने की ठानी। आस-पास जलने वाला कोई था नहीं। वैसे भी पहाड़ों मे बारिश इतनी होती है कि जलने वाला बुझ जाता है। (इसी लिए तो सारी फ़िल्मों मे प्रेमी लोग पहाड़ों पर जा कर ही प्रेम करते है।) बारिश न भी होती, तो भी जलने वाला हमें बुरा न लगता। इतनी ठण्ड में आग तापने के काम आता साला। पर जलने वाला वहाँ कोई था नहीं इस लिए हम ने प्रेम खाया-चबाया, ओढ़ा-बिछाया और फिर प्रेम की चादर तान कर सो गये। पर जलने वालों के अभाव मे मेरी प्रेमिका अपने प्रेम से बहुत जल्दी बोर हो गयी। बोली, "कैसी वाहियात जगह है! यहाँ कोई कम्पनी ही नहीं है। मैं अकेली कैसे जियूँगी?"

मै बोला, "प्राणप्रिये! तुम अकेली कहाँ हो? मै जो तुम्हारे साथ हूँ।"

वह बोली, "पर कोई और भी तो होना चाहिए, हमारे अतिरिक्त भी। मैं और तुम तो दोनों एक ही है।"

मै ने सोचा, बात तो सही है। यही तो ऊँचे स्तर का प्रेम है। हम दोनों तो एक ही है। बड़ी विकट समस्या थी।

पर तभी माचिस की डिबिया की सी बोगियाँ लिये हुए छुक-छुक करती गाड़ी आ

गयी। मैं खुशी से उछल पडा और चीख कर अपनी प्रेमिका से बोला, "लो आ गयी कम्पनी।"

वह मुझ से सट कर खडी हो गयी और गांव के बच्चो के समान मुंह फाड कर रेलगाडी देखने लगी। जब गाडी गुज़र गयी तो बोली, "गाडी तो रुकी ही नही। उस में से कोई उतरा भी नही और तुम कह रहे थे कि कम्पनी आ गयी।"

वह बडी निराश लग रही थी।

मैं बोला, "ओ भलीमानस! बाढ-पीडित क्षेत्र के ऊपर जब मन्त्री लोग हवाई जहाज़ में उडानें भरते हैं तो बाढ के पानी में घिरे, तबाह और बरबाद लोगो के हवाई जहाज़ की आवाज़ से पेट भर जाते हैं और तुम ने पांच बोगियो को पच्चीस खिडकियो में पचासो चेहरे देखे और तुम्हें कम्पनी तक नही मिली।"

वह चुप हो गयी। मेरी बात का क्या उत्तर था उस के पास। मैं ने सरकारी बात कह दी थी, जो झूठ नही हो सकती थी, जैसे सरकारी सदन-प्राप्त लाटरियां झूठी नही होती। यदि बाढ-ग्रस्त क्षेत्र पर उडान भरने मात्र से वहां के लोगों का पेट न भरता तो उन उडानों पर खर्च किये गये हज़ारो रुपये उन लोगो को वैसे ही न दे दिये गये होते?

वह मेरी बात मान गयी और चुप हो गयी। पर बोलने की आदत है उस की। ज़्यादा चुप रहने से हमारे नेताओ के समान उस का हाजमा खराब हो जाता है। इस लिए थोडी ही देर में बोली, "उस गाडी में कितने लोग रहे होगे?"

"दो सौ लोग तो होंगे ही।" मैं बोला।

"और उन सब लोगों की कम्पनी हम को मिली?" उस ने खुशी-खुशी पूछा।

"हां।" मैं ने भी खुशी खुशी उत्तर दिया।

"फिर तो यहां-भी भीड हो गयी।" वह नाराज़ हो गयी, "चलो यहां से। इस से तो दिल्ली ही अच्छी। इतनी भीड में हम प्रेम कैसे करेंगे?"

मुझे उस की बात माननी पडी, क्योंकि प्रेम काम से बडी चीज़ है। यह बात हम ने राष्ट्रीय धरातल पर मान ली है। हमारे देश में जब भयकर बाढ आती है, भूकम्प आते हैं, अकाल पडते हैं, तब सभी बडे-बडे नेता विदेशो में वहां के लोगो से प्रेम करने चले जाते हैं। नेहरूजी ने हमें नारा दिया था, 'आराम हराम है' उस का मतलब यही था कि काम हराम है। क्योंकि काम के बाद आदमी आराम चाहता है। काम करेगा तो आराम भी चाहेगा। पर प्रेम में आराम आवश्यक नही होता। आदमी शताब्दियों तक बिना थके प्रेम करता जा सकता है।

तो प्रेम करने के लिए, अपनी प्रेमिका की बात मान कर दिल्ली लौटना पडा। नौकरी तो छूट गयो पर नोबेल प्राइज़ की आशा अभी तक नही छूटी। देखें, कब तक मिलना है।

[जून १९६९]

हिन्दी
हमारी मात्रा-भाषा है

मनहर चौहान

●

शेरजंग गर्ग मेरा दोस्त है। कविताओं के साथ कभी-कभी उस का नाम छपता है—'शरजग गग'। छपने के दौरान उस के नाम की सभी मात्राएँ टूट जाती हैं। मैं ने उसे कई बार समझाया है कि भलेमानस, अपना नाम बदल ले। कोई ऐसा नाम चुन, जिस में मात्राएँ ही न हों। जैसे—मनहर। शेरजंग गर्ग चिढ़ कर कहता है, "तुम अधूरे नाम का उदाहरण देते हो। तुम्हारा पूरा नाम मनहर चौहान है और इस में 'चौहान' की जगह 'चाहान' छपता रहता है।"

शेरजंग की मूल समस्या कुछ और है। वह अपने लिए बिना मात्राओं का नाम तो चुन सकता है, लेकिन बिना मात्राओं की कविताएँ वह कैसे लिखेगा ?

मात्राओं का महत्त्व हिन्दी में इतना अधिक है कि कई बार लगता है, हिन्दी हमारी मातृ-भाषा हो न हो, मात्रा-भाषा अवश्य है। अपवादों को छोड़ दें तो प्रकृति का नियम है कि नर अपनी मादा पर हमेशा हावी रहता है। हिन्दी की मात्राएँ हिन्दी के मातृत्व पर हमेशा हावी रहती हैं। इस से यह ग़लतफ़हमी हो सकती है कि मात्रा और मातृ में नर-मादा का सम्बन्ध है। गलतफहमी दूर की जानी चाहिए। जब दिल और दिल्ली नर-मादा नहीं, बिल और बिल्ली भी नर-मादा नहीं, फिर मात्रा और मातृ को ही नर-मादा क्यों माना जाये ? मात्रा मातृ का नर कैसे हो सकती है ? मात्रा तो स्वयं एक मादा है। मात्रा लगता नही है। मात्रा लगती है।

मादाएँ हमेशा आकर्षण का केन्द्र हुआ करती हैं, लेकिन कैसी विडम्बना कि मादा होते हुए भी मात्रा की ओर किसी का आकर्षण नही ! मात्राएँ ग़लत लग जायें या ग़ायब हो जायें, हिन्दी की गाड़ी चलती रहती है। जब 'शरजग गग' छपता है, तब मै समझ जाता हूँ कि यहाँ शेरजंग गर्ग छपा है। मर्म की जगह मम, मिनि की जगह ामान, दिल्ली की जगह ादल्ला, गेंदा की जगह गदा छपता है, तब भी मैं समझ जाता हूँ कि कहाँ क्या छपा है।

छपा कुछ हो, समझा कुछ जाये—यह

परम्परा दिल्ली में खूब निभती है। यहाँ के अधिकांश निवासी पंजाबी हैं। वे विक्रम को विकम, लक्स को लक्स और अशोक को सोक्की समझते हैं। यदि आप हाथी जितने बड़े अक्षरों में अशोक लिखेंगे तो भी वे उसे सोक्की पढ़ेंगे। अशोक से बना असोक। असोक से बना असोकी। असोकी से हो गया सोक्की! जब आप गदा छपने पर गेंदा पढ सकते है, तब किसी दिल्ली वाले के मुँह से सोक्की सुन कर अशोक क्यों नहीं समझ सकते? सुनना कुछ, समझना कुछ, इस का एक अमर उदाहरण इस प्रकार है—

"आप का शुभ नाम?"

"मनहर चौहान।"

"क्या आप सिंचाई-विभाग में काम करते थे?"

"जी नहीं।"

"फिर आप का नाम नहर चौहान क्यों है?"

"आप ने गलत सुना। मेरा नाम मनहर चौहान है।"

"मनोहर चवान?"

"जी नहीं। मनहर चौहान।"

"यही तो कह रहा हूँ! मनोहर चौहान?"

"मनोहर चौहान नहीं मनहर चौहान।"

"कमाल करते हैं आप! यही तो मैं भी कह रहा हूँ—मनोर चौवान!"

"मनोर नहीं, मनहर। म। न। ह। र। चौवान नहीं, चौहान। चौ। हा। न।"

"ओह! अब समझा। मनर चौहान!"

"आप फिर गलत समझे! मेरा असली नाम तो है नर चौहान!"

"देखिए जी, आप खामुखा तंग करते हैं।"

"आप ने 'बेन हर' फिल्म देखी है?"

"जी हाँ।"

"बोलिए—'बेन हर'।"

" 'बेन हर'।"

"अब इसी लहजे में बोलिए—'मेन हर'।"

" 'मेन हर'!"

"बस, यही है मेरा नाम—मेन हर चौहान!"

●

'संघर्ष' फिल्म के इश्तहार चूँकि अँगरेजी में हैं, मैं ने पहली बार पढ़ा—'सुघुर्ष'। समझ में नहीं आया कि माजरा क्या है। जब समझ में आया तो फैसला किया कि इस फिल्म को सिर्फ इस लिए नहीं देखूँगा कि इस में 'सुघुर्ष' याने 'संघर्ष' होता है। बाद में जब भाई लोगों ने बताया कि इस का पात्र-परिचय हिन्दी में दिया गया है तो फैसले की घोर उपेक्षा कर के मैं फिल्म देखने गया। पात्र-परिचय सचमुच हिन्दी में था। कहीं-कहीं हिन्दी की मात्राएँ गलत लगी हुई थीं। बहुत अखरा। बड़ा तैश आया। घर लौट कर 'संघर्ष' के निर्माता को करारी चिट्ठी लिखी। दसवें दिन निर्माता का उत्तर आ गया। उन्हों ने अँगरेजी में जो लिखा था, उस का हिन्दी अर्थ इस प्रकार है—

"पात्र-परिचय से अधिक महत्त्व संगीत

का है, नाच और गानों का है; हँसी-मज़ाक़ का महत्त्व भी पात्र-परिचय से अधिक है। जब ये सभी चीजें ग़लत जगह लगी हुई थीं, फिर पात्र-परिचय में यदि मात्राएँ गलत जगह लग गयीं तो कौन-सा आसमान टूट पड़ा ?''

यह उत्तर पढ़ कर मैं ने मुट्ठियाँ भींची, दाँत पीसे, कमरा बन्द कर के उछल-कूद भी मचायी, लेकिन निर्माता बम्बई मे था और मैं दिल्ली में। जेट-युग में भी यह दुनिया कितनी बड़ी है।

मैं ने तैश मे आ कर सोचा कि बम्बई की बात जाने दो। मुझे दिल्ली की सुध लेनी चाहिए, जहाँ कि मैं इन्दिरा गान्धी के साथ रहता हूँ। सुधार की शुरूआत हमेशा अपने घर से करनी चाहिए, इस सिद्धान्त को बल देने के लिए मैं ने अपने घर का चप्पा-चप्पा छान मारा। सिर्फ़ एक जगह थी, जहाँ हिन्दी गलत लिखी हुई थी—और उस का दोषी मैं नहीं था। हास्यरस की एक पत्रिका उस के प्रकाशक-द्वारा मुझे मुफ़्त भेजी जाती थी। उस का नया अंक अभी मैं ने लिफ़ाफ़े मे से निकाला भी नहीं था। लिफ़ाफ़े पर मेरा नाम इस प्रकार लिखा हुआ था—मनोहर चव्हाण ! मैं ने नाम और पता लाल स्याही से काट कर, ऊपर लिखा—यह आदमी मर चुका है। प्रेषक को वापस करें।

बीवी को उसी वक़्त बुला कर मै ने कहा, ''इसे डाक में डाल आओ।''

बीवी ने लाल स्याही से लिखे अक्षरों पर ज्यों ही निगाह डाली, वह बुरी तरह बरस पड़ी, ''आप को शर्म नहीं आती मेरे सुहाग के साथ खिलवाड़ करते ?''

''मनोहर चव्हाण तुम्हारा पति नही है !'' मैं ने डपट कर कहा, लिफ़ाफा उस के हाथ से छीना और स्वयं जा कर लाल डिब्बे में डाल आया।

उसी दिन शाम को कीर्तिनगर के नक़्शे पर मेरी निगाह पड़ी। निगम-द्वारा दिल्ली के प्रत्येक नगर में ख़ूबसूरत नक्शे लगाये जा रहे हैं, ताकि नये आने वालों को अपने शत्रु या मित्र का ठिकाना ढूँढ़ने मे आसानी रहे। कीर्तिनगर का नया नक़्शा दो सप्ताह पहले ही लगा था। मैं ने देखा, अँगरेजी मे तो कीर्तिनगर बिलकुल सही लिखा हुआ है, मगर हिन्दी मे कीर्तिनगर के बजाय लिखा है—क्रितीनगर।

मेरा रोम-रोम सुलग उठा। उसी समय घर जा कर, निगम के जन-सम्पर्क अधिकारी के नाम भर्त्सना का एक लम्बा पत्र लिखा और लाल डिब्बे मे अपने हाथ से डाल आया। अहोभाग्य ! जन-सम्पर्क अधिकारी ने शुद्ध हिन्दी मे मुझे उत्तर दिया कि ध्यान आर्काषित करने के लिए आभार। हम शीघ्र ही उक्त शब्द को सही करने के लिए कर्मचारी रवाना कर रहे हैं।

कुछ दिनों बाद मैं ने, खास जाँच करने के लिए ही, नक़्शे के पास जा कर देखा। अब 'क्रितीनगर' नहीं लिखा हुआ था। जो शब्द मेरी ओर देख-देख कर मुसकरा रहा था, उसे तो पढ़ना ही असम्भव था। जरा आप पढ़ कर बताइए—कींतीनगर !

(घोषणा—इस शब्द को कोई नहीं पढ़ सकता। यदि आप इस शब्द को पढ़ लें तो यक़ीन जानिए कि आप की हिन्दी बहुत कच्ची है।)

मैं ने जन-सम्पर्क अधिकारी को फिर एक चिट्ठी लिख कर सूचित किया कि सही शब्द 'कीर्तीनगर' नहीं, 'कीर्तिनगर' है

अधिकारी महोदय ने उत्तर दिया कि पुनः ध्यान आकर्षित करने के लिए पुनः धन्यवाद। हम पुनः अपना कर्मचारी भेज रहे हैं।

जब मैं ने पुनः उस नक़्शे की जाँच की, तो कीर्तिनगर के बजाय इस बार लिखा हुआ था—क्रीर्तीनगर !

मेरे तीसरे पत्र का उत्तर तो अधिकारी महोदय की ओर से नहीं आया, लेकिन पत्र का असर जरूर हुआ। 'क्रीर्तीनगर' को सुधार लिया गया, मगर नया शब्द, जो मुझे देख कर मुसकरा दिया, वह था—कीर्तीनगर !

मैं ने अधिकारी महोदय को सूचना दी—अब केवल एक गड़बड़ी रह गयी है। 'त' में 'बड़ी ई' नहीं 'छोटी इ' की मात्रा लगवाइए। रेफ को ज्यों-का-त्यों रहने दीजिए।

पत्र का उत्तर इस बार भी न आया, लेकिन जब कुछ अरसे बाद नक़्शे की जाँच की, तो लिखा हुआ था—कीर्तिन्गर ! मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। नगर शब्द को छेड़ने की जरूरत ही क्या थी ? वह तो शुरू से ठीक लिखा हुआ था। बहरहाल, मेरी ओर से पुनः सूचना पाने पर न् को न कर लिया गया। मुझे बड़ा गर्व हुआ। मेरे ही प्रयास के कारण क्रितीनगर अन्ततः कीर्तिनगर हो गया था।

लेकिन मेरा दिमाग ख़राब था, जो मैं ने जन-सम्पर्क अधिकारी को फिर पत्र लिखा। सब से पहले मैं ने जगमगाती सफलता पाने के लिए उन्हें हार्दिक बधाई दी, फिर पूछा—कीर्तिनगर को आप एक शब्द मानते हैं या दो ? वैसे तो दोनों ही रूप सही हैं, लेकिन सारी दिल्ली के नक़्शों में शैली एक ही होनी चाहिए। कीर्तिनगर, पटेलनगर, रूपनगर—अगर सभी जगह 'नगर' को पहले शब्द के साथ मिला कर लिखा जाता है, तब तो, इन दिनों यहाँ के नक़्शे पर जो लिखा हुआ है, वह सही है; लेकिन यदि आप 'नगर' को अलग लिखवाने के पक्ष में हों तो कृपया 'कीर्तिनगर' को 'कीर्ति नगर' कर दें।

कुछ ही दिनों बाद मैं ने कीर्तिनगर के स्थान पर कीर्तिन गर लिखा हुआ पाया। कबाड़ा हो गया था। मैं ने फ़ौरन जन-सम्पर्क अधिकारी को ख़बर करते हुए लिखा कि 'न' अक्षर 'गर' के साथ मिला होना चाहिए, तभी 'गर' से 'नगर' बनेगा।

थोड़े दिनों बाद कीर्तिनगर के नक़्शे पर लिखा हुआ पाया गया—कीर्तिन नगर।

अब मेरे बौखलाने की बारी थी। मेरी ही ओर से, जरूरत से ज़्यादा चुस्ती बरती जाने के कारण सब हंगामा हो रहा था। कुढ़ते हुए मैं ने जन-सम्पर्क अधिकारी को लिखा—'कीर्तिन नगर' शब्द ग़लत है। सही शब्द की सूचना मैं आप को अनेक बार दे चुका हूँ। कृपया फ़ौरन 'कीर्तिन नगर' शब्द

को सही कर लें, वरना मै नक्शे में आग लगा सकता हूँ।

तीसरे ही दिन मैं ने देखा, कीर्तिन नगर शब्द को सुधार लिया गया है। अब लिखा हुआ है—कीर्तन नगर।

मैं बंगाली होता तो पता नही उस नक्शे का क्या करता। पर मै गुजराती हूँ। गान्धी जी गुजराती थे। अहिंसा के भक्त वह थे और मै भी हूँ। मै चुपचाप मुँह लटका कर वापस घर आ गया। अपनी औकात के बारे में अब मुझे कोई गलतफहमी नही रही थी।

●

"पन्द्रह दिनो से हमारी कोई डाक नही आ रही।" सहसा बीवी ने आ कर कहा। मैं चौंका। सचमुच इसे केवल एक सयोग नही माना जा सकता था कि पन्द्रह दिनो तक मेरी डाक ही न आये। किसी भी मसिजीवी लेखक के लिए डाक की गडबडी को झेलना आसान नहीं होता। मै उसी समय घर से निकला और 'कीतन नगर' के नक्शे वाली सडक को बचाता हुआ, एक लम्बे रास्ते को तय कर के डाक घर जा पहुँचा। डाकिया, जो डाक की अधिकता के कारण मुझे एक अरसे से पहचान चुका था, एकदम भौंचक हो गया। "अरे !" उस ने कहा, "आप ज़िन्दा है ?"

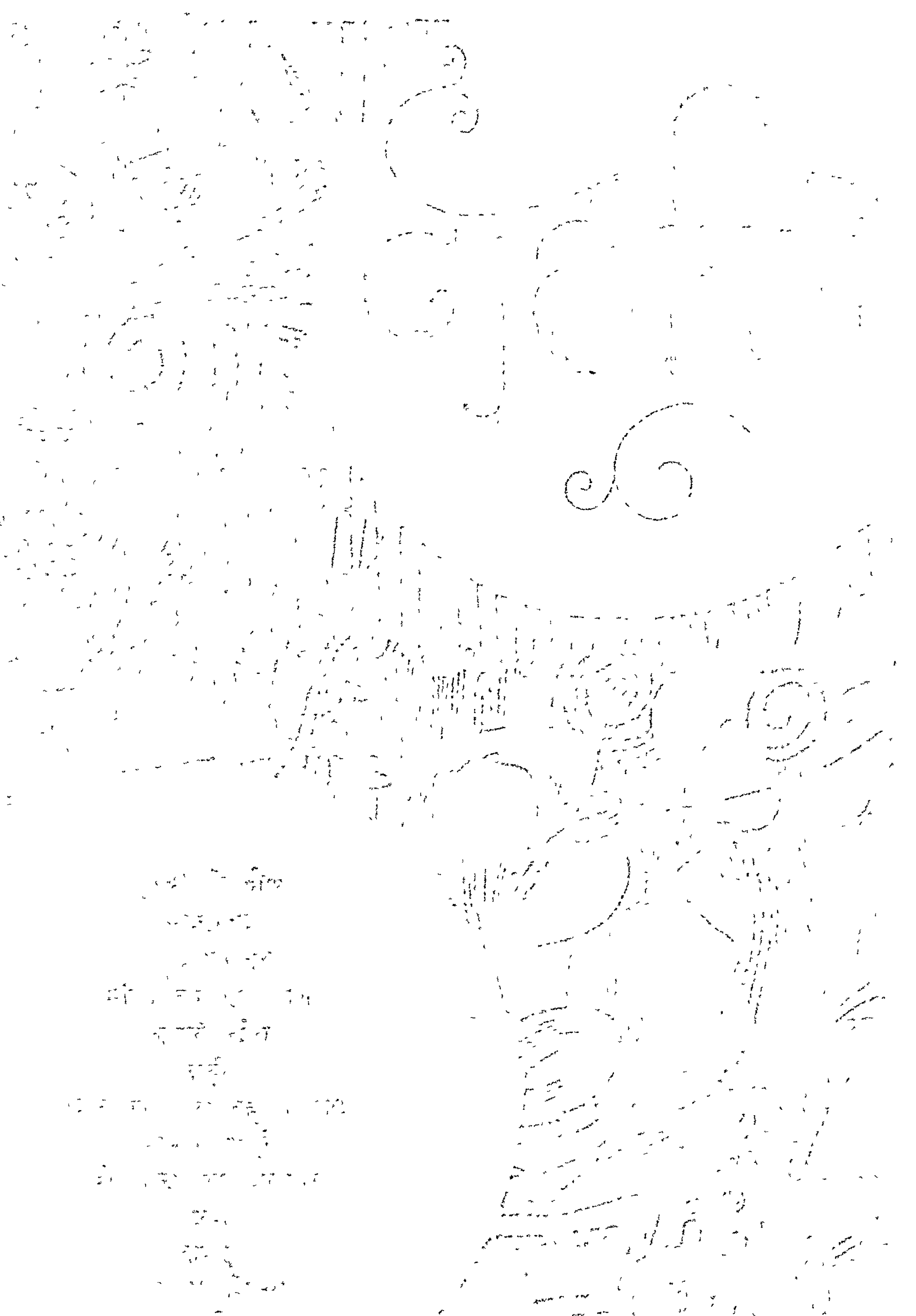
"क्यों ? मै कब मर गया था ? मेरी डाक कैसे नही आ रही ?" मै ने पूछा।

"हम तो सारी डाक वापस भेजते जा रहे है। आप के मकान मालिक ने 'मनोहर चह्वाण' के नाम आयी पत्रिका यह लिख कर वापस कर दी थी कि माफ कीजिएगा उस पर तो लिखा हुआ था कि यह आदमी मर गया ।" "खामोश।" मै ने कहा।

●

क्षमा-याचना सम्पादक को मैं ने अलग से पत्र लिखा है कि चूँकि इस हास्य-कथा में सारा खेल मात्राओं का है, इसे वह पूरी सावधानी से छापें। लेकिन, छपते-छपते यदि कोई मात्रा उड गयी हो, तो, लेखक क्षमा प्रार्थी है।

[जुलाई, १९६९]



कहानी

मुद्राराक्षस
जैनेन्द्र कुमा[illegible]
धर्मवीर भा[illegible]ती
रमेश [illegible]
देवेन्द्र [illegible]
हं[illegible]राज [illegible]
कृष्ण चन्दर
फणीश्[illegible] [illegible]
निराला
[illegible]ीष्म [illegible]
[illegible] [illegible]
[illegible]
कृष्ण[illegible]
महेन्द्र [illegible]
[illegible]प्रसाद [illegible]
[illegible]
रवीन्द्र का[illegible]
[illegible]
अमृता प्रीतम
[illegible]नी [illegible]
शशिप्रभा शा[illegible]
हृदयेश

मन्नू भ[illegible]ारी
[illegible]वीर [illegible]हाय
रांगेय रा[illegible]
मार्कण्डेय
कर्तारसिंह दुग्ग[illegible]
'भिक्खु'
[illegible]प्रकाश जैन

नारी की बात
नारी की दृष्टि

•

मन्नू भण्डारी



मोती डूँगरी, जयपुर
३ फ़रवरी, १९५६

स्नेहिला दीदी,

साँझ की उदासी घिरती चली आ रही है। मन बड़ा खिन्न है। इस समय आप को ही लिखने बैठ गयी हूँ। जानती हो अनीता दीदी की देह-यात्रा को आज महीना होने आया।

अनेक विचार मन को रौंदते रहे। लगता है इस एक महीने में ही मेरा सब-कुछ बदल गया। जीवन के आदर्श-विश्वास सब बिखर गये, कितने ही तो चूर-चूर हो गये।

कभी-कभी सोचने उठती हूँ कि इस से तो बड़ी दीदी ही सुखी रहीं। उन्होंने किसी बात का कभी विरोध नहीं किया। पिता जी ने पढ़ाई बन्द कर दी : न पढ़ीं। जहाँ ब्याह दिया : मान लिया। जीजा जी ने मन फेरा और दो बरस बाद फिर अपनाया, तो कोई मान-मनाई नहीं, सहज भाव से चली गयीं। आज भी वह सुखी लगती हैं। कभी उन के मुँह से शिकायत नहीं सुनी।

और अनीता दीदी। कौन कहेगा कि यह बड़ी दीदी की छोटी बहन थीं। इन्होंने तो समझौता सीखा ही नहीं था। मैट्रिक के बाद पिता जी ने रोका तो कहा : भैया कॉलेज जायेगा तो मैं क्यों न पढ़ूँगी। और वह पढ़ीं। भैया की तरह साइकिल पर भी वह जातीं-आतीं। 'क्यों न लें हम बराबर के हक़' : यही उन का कहना था।

विवाह किया उन्होने तो किसी की न सुनी। सब सिर पीट कर रह गये, पर उन्होने जात-बिरादरी के बाहर मनोज से किया ही मगर एक वर्ष बाद वह यहाँ आयी तो मुझे खुश नजर न आयी। उस बार मैं भी उन के साथ गयी थी। देखा वह बाहर का काम काफी करती थी। इस से घर और मनोज जीजा की कुछ उपेक्षा होती ही थी। फिर बच्चे हुए तो उन की भी हुई।

पर दीदी आप ही बताइए, कुछ करने की उन में तीव्र इच्छा और योग्यता थी तो भला घर और बच्चो में ही उसे कैसे बाँध रखती वह। पिता के घर उन्होने बन्धन तोडे तो पति और बच्चो का मोह क्या अटूट बाधा बना रह जाता। हाँ, यह बात जरूर समझ में नही आयी कि सब कुछ मनचाहा कर के भी वह सुखी क्या न हो सकी? आप उन के मन का रोम-रोम पहचान गयी थी। मैं सच जानने को आकुल हूँ कि अनीता दीदी का जीवन सुखी क्यो न हुआ और मृत्यु ऐसी दु खद क्यो रही।

सच कहती हूँ दीदी, उन की याद आते ही मन को यह प्रश्न झकझोर जाता है कि फिर बात-बात पर सिर उठाने से कौन लाभ? सहज ही वह मेरे जीवन का आदर्श बन गयी थी। पर क्या पाया उन्होने विद्रोह कर के? और अब आज तो, जब वह भी नहीं रहीं, तो लगता है कि जीवन का आसरा ही चला गया और मै गुमराह हो गयी। बडी टूटी-टूटी सी अनुभव कर रही हूँ। बतायेंगी कुछ आप ही क्या करूँ?

इस समय और कुछ नही। उत्तर जल्द दें। मै प्रतीक्षा करूँगी।

आपकी,
निम्मी

•

•

स्टेशनरोड, सीतापुर
८ फरवरी, १९५६

प्रिय निम्मी,

तेरा पत्र मिला। मै स्वय भी तुझे लिखना सोच रही थी। पर तेरे इस पत्र ने तो मुझे विस्मित और चिन्तित भी कर दिया।

अनीता का दु ख मेरे तो हरदम का क्लेश है ही, पर पागल, तू क्यो टूटी टूटी सी अनुभव करती है? तू भी हताश हो बैठेगी तो कैसे चलेगा। तुझे तो उस के जीवन और मृत्यु की व्यथाओ से टूटना नही, बनना चाहिए और भी ठोस, और भी मजबूत। बनेगी न? घर में अब तुझे ही नयी दृष्टि लेनी है जो नयी दिशा खोज सके। यह टूटना, तेरी कमजोरी है।

मुझे यह देख कर ठेस-सी लगी कि तेरी निराशा और मन की दुर्बलता तुझे इस सीमा तक उतार लायी कि तू लिखे—इस से तो बडी दीदी ही सुखी है। निर्जीवता ही सुख का रूप है तब तो कहना क्या, नही तो तू ही बता, यह भी कोई जीवन हुआ कि किसी ने दु ख उढा दिया तो सिर झुकाये ओढ लिया, कोई भी साचा सामने रखा तो अपने को ही काट छाँट कर जैसे बना उसी में ढाल लिया।

सच में निम्मी, यह जीवन की तो बात

हुई नहीं। और शव को तुम चाहे जल में बहा दो, चाहे चिता पर चढ़ा दो, और चाहे पशु-पक्षियों के आहार के लिए कहीं जंगल में डाल दो : वह विरोध नहीं करेगा, विद्रोह की नहीं सोचेगा। पर बावली, इतने ही से तो तू उसे सुखी नहीं मान लेगी ?

तेरी बड़ी दीदी सीता और शकुन्तला के युग की याद दिला देती है। पर आज तो वे साँचे चलेंगे नहीं। चलें भी कैसे, कहाँ ? आज न जनक है, न कहीं कण्व के आश्रम। ये बातें हमारे इतिहास का शृंगार भले ही हों, हमारे वर्तमान का रूप, जीवन के लिए उपयोगी, नहीं ही हो सकतीं पर इस सत्य को जैसे कोई समझना ही नहीं चाहता। दुनिया बदल गयी, पर जैसे सभी चाहते हैं कि बस नारी न बदले। यह भी सम्भव हो सकता है भला।

ठीक इस के विपरीत तेरी अनीता दीदी। वह किसी को स्वीकार ही नहीं करती। तुम बहनों में; तुझ से भी ज़्यादा मैं उसे पहचानती हूँ। पढ़ाते-पढ़ाते अनेक बार ऐसा होता था कि वह अड़ जाती थी, बहस करती थी, तर्क करती थी, पर हारती नहीं थी। अपनी बात मनवा न सके तो दूसरे की मानती भी न थी। मानना उस ने सीखा ही न था।

उस की इस ज़िद मे एक जीवन तो जरूर था, पर सन्तुलन नहीं था। और अब तू ही बता, सन्तुलन खो कर या उस से दूर रह कर कहीं सुखी जीवन बिता सकते है हम ? अनीता ने माँ-बाप की इच्छा तोड़ी, समाज की परम्पराएँ तोड़ीं, पति और बच्चों का मोह-बन्धन भी तोड़ा। मगर निम्मी, क्या तोड़ना ही जीवन में सब-कुछ होता है ? कुछ बनाना भी चाहिए न। उस का ही क्या हुआ ? तोड़ते-तोड़ते स्वयं को भी तोड़ बैठी। यह क्या ठीक हुआ ?

तू अभी छोटी है : ख़ून में गरमी है : इसी लिए अनीता को जीवन का आदर्श मान बैठी। सच में, तुझे तो और भी समझदारी से काम लेना है। तुझे एक नया साँचा तैयार करना है, नया मार्ग खोजना है। समझ ले कि दीदी सभी कुछ तोड़ते-तोड़ते स्वयं भी टूटी है तो इसी लिए कि अब तू बन, बना। नहीं तो उस का टूटना व्यर्थ जायेगा।

बहुत दुःखी न होना निम्मी। जानती हूँ, कितनी भी सान्त्वना तुझे दूँगी, पर तेरी दीदी की कमी उस से पूरी न होगी। वह कमी पूरी होने के लिए आती भी नही। हाँ, इतना जानती हूँ कि इन्सान बड़े से बड़े दुःख से भी बड़ा होता है। इसी लिए वह सभी कुछ सहारता, पार करता, चलता चला जाता है, टूट कर कही भी रह नही जाता।

माँ और पिता जी को प्रणाम कहना और भैया को स्नेह-आशीष। अनीता के दोनों बच्चे तुम्हारे यहाँ पहुँच ही गये होगे। मेरा बहुत-सा दुलार देना। उन्हे माँ का अभाव न लगने देना। चाहे तो यहाँ भी भेज सकती हो, मैं रख लूँगी।

उत्तर देगी न !

तुम सब की,
दीदी

०

०

मोती डूँगरी, जयपुर,
१२ फरवरी, १९५६

प्रिय दीदी,

कल रात बाहर से लौटी तो आप का पत्र पाया।

कई बार पढ चुकी हूँ उसे। दीदी की अनेक यादें उभर आयी। रह-रह कर मन रोने को होता है। पर अब रोऊँगी नही, अधिक नही रोऊँगी। कोशिश करूँगी, कुछ बनूँ, बनाऊँ। पर पत्र में यह तो आप ने बताया ही नही कि क्या बनूँ और क्या बनाऊँ।

बडी दीदी का साँचा पुराने जुग का है, यह मान लेती हूँ। पर अनीता दीदी के बारे की आप की एक बात गहरी चुभ गयी। क्यो दीदी, नया बनाने के लिए क्या पुराना तोडना न होगा? फिर इस तोडने से आप को इतनी शिकायत क्यों? और समझौते करते करते तो युग बीत गया। पूछूँ क्या पाया हम ने? इतिहास में स्वणयुग की कथाएँ पढी है, साहित्य में स्वर्ण-कथाएँ पढती हूँ पर नारी के दिन बदले कभी? ये तमाम आसमान को गुँजाती उस की गौरव गाथाओ में मुझे तो उस की बेबसी ही सिसकती सुनाई दी।

साहित्य को बडी शक्ति माना जाता है। क्राति ला कर युग और जीवन का निर्माण करता है वह। मगर तुलसीदास जी को ही लूँ। देश को उन्होंने भले एक नया माग दिखाया, युग-प्रवर्तक भी कहलाये। पर नारी के लिए कैसी 'उदार' भावनाएँ व्यक्त की उन्होने।

पर उन को छोड भी दूँ—वह पुराने जमाने के थे, अन्य भावनाएँ लाते कहाँ से—मगर आज के साहित्य में ही नारी का कौन छीछालेदर नही किया जा रहा? हम आज स्वतन्त्र है, शिक्षित है, बाहर घूमती फिरती है, तो इस का यह मतलब तो नही कि हमारे जीवन मे कोई मर्यादा ही नही। कोई भी उपन्यास आज का देखा है आप ने ऐसा जिस में नारी को कम-बढती अनावृत न किया गया हो। तो क्या नारी की स्वतन्त्रता का यही अर्थ है कि वह किसी के सामने यो निर्वसना होती फिरे? और आप अब भी कहती हैं कि हमें अब तोडना नही है।

सब तो यही सोचते हैं कि आधुनिक नारी को सब अधिकार मिल गये, वह अब सुखी है। आप भी ऐसा ही सोचती हैं क्या? मुझे तो लगता है कि प्राचीन नारी घर की चहारदीवारी मे घुट रही थी तो आज की नारी घर के बाहर पग-पग पर अपमानित हो रही है। शिवानी को जानती है न? दीदी के साथ ही थी। बी० ए० के बाद पढ नही सकी, शादी हो गयी। फिर कुछ ऐसा हुआ कि बेचारी को एक दफ्तर में स्टेनोग्राफर बनना पडा। और उस के बॉस को देखिए कि ऑफिस के पत्र बोलते बोलते उसे ही और तरह के पत्र बोलने लगे। उस ने ध्यान नही दिया तो उस की नौकरी चली गयी। अब यह भी कोई बात हुई भला?

सम्भव है आप कह दें कि उस का बॉस

कोई अभद्र व्यक्ति रहा होगा, तो यह लीजिए दूसरा उदाहरण। हमारे कॉलेज मे आजकल फ़िलासफ़ी की लेक्चरर हैं नहीं। इम्तिहान का एक महीना रह गया देख, एक स्थानीय कॉलेज के प्रोफ़ेसर महोदय के पास जाने लगी। दीदी के परिचित थे: सोचा लाभ उठा लूँ। दो रविवार को तो अच्छी तरह पढ़ाया। इधर-उधर की बातें भी ठीक से की, नारी-विषयक विचारों में भी उदार लगे। पर तीसरी बार गयी तो जाने कैसी-कैसी बातें करने लगे। दो बार जाने-आने में ही यह नौबत। ये है हमारे पढे-लिखे और भद्र व्यक्ति जो सोचते है कि नारी स्वतन्त्र हो गयी तो उस के साथ उच्छृंखल व्यवहार करें। आप कहती हैं, हमे अब तोड़ना नहीं चाहिए, मैं तो देखती हूँ दीदी कि अभी हमें तोड़ना ही तोड़ना है, बनाने की बात फिर सोचेंगे।

दीदी के बच्चे यहीं है। पर बड़े सहमे-सहमे रहते है दोनों। उन्हे दीदी का पूरा प्यार नहीं मिला जो चंचल और निर्भीक बना सकता। जी टीस उठता है। अपने भरसक मै पूरा प्रयत्न रखती हूँ कि वे हँसे-खिलें और खूब खेलें। मेरे इम्तिहान मार्च के अन्तिम सप्ताह मे पूरे हो जायेंगे तब हो सका तो कुछ दिन के लिए अपने साथ ही सीतापुर लाऊँगी।

इस पत्र में उचित-अनुचित बहुत कुछ लिख दिया है। आप बड़ी है और दीदी है, खयाल न करेंगी इसी आशा के साथ,

आप की,
निम्मी,

●

●

स्टेशन रोड, सीतापुर,
१९ फ़रवरी, १९५६

प्रिय निम्मी,

तेरा पत्र मिला। पढ़ कर लगा शायद तू इन पाँच वर्षों में बहुत बड़ी हो गयी है। बड़ी-बड़ी बातें करनी लगी है। एक बार तो मैं डरी भी कि सभी कुछ तोड़ते-तोड़ते कहीं तू मुझे भी तोड़ने न आ धमके। क्यों री, तू अनीता की छोटी बहन है या बड़ी? जो भी हो, है उस की असली बहन। बस, बात को एक तरफ़ से ही देखना जानती है। दोष तुझे क्या दूँ, दोष तेरी उम्र का है।

पर पागल, तू ने यह कैसे समझ लिया कि मुझे तोड़ने से शिकायत है? शिकायत है तो वहाँ जहाँ तोड़ना साधन नहीं साध्य ही बन जाता है। ध्वंस करने को ही यदि जीवन का अन्तिम लक्ष्य बना लें तो वह बात खतरनाक होगी या नहीं? और यह तो तू भी मानेगी कि इन बीस वर्षो मे तोड़ने का काम काफ़ी हुआ है। परम्पराएँ और अन्ध-विश्वास टूटे है, नारी के युग-युगों के बन्धन भी टूटे है, जिन मे जकड़ी वह सिसक रही थी, शिक्षा का प्रचार भी हुआ है, क़ानून भी अधिकार मान रहा है और दे रहा है। फिर भी क्या अब बनाने की ओर क़दम नहीं उठाना चाहिए? इतना पा कर भी आगे के लिए सही दिशा न ले सकें तो यह सब व्यर्थ न हो उठेगा?

साहित्यकारों को ले कर तेरे मन मे बड़ा

आक्रोश है। ठीक ऐसा ही भाव ले कर एक बार अनीता भी मेरे पास आयी थी। समझा-समझा कर भी उस का गुस्सा शान्त न कर सकी थी। तू भी मानेगी या नहीं, पता नहीं। पर बात आयी है तो लिख तो दूँ ही। यथार्थ सत्य यह है कि नारी को पुरुष आज भी उस के स्वाभाविक रूप मे नही देख पाता। अनेक मूल्य बदल गये, दृष्टिकोण कुछ से कुछ हो गये, पर नारी उस के लिए आज भी मनोरंजन की ही वस्तु है। उसे आज भी उस के शरीर मे ही सौन्दर्य नज़र आता है, उस के व्यक्तित्व मे नहीं। मानो यह हाड़-मांस का शरीर ही सम्पूर्ण नारी है, उस का सब-कुछ है।

पर मेरी बात यहीं समाप्त नहीं होती। मगर आगे की कहते भय लगता है, तू लड पड़ेगी। निम्मी ज़रा ठंडे दिमाग से सोच, क्या इस मे सारा दोष पुरुषों का ही है? यह भी सम्भव हो सकता है कि इन साहित्यकारों के जीवन मे नारियाँ ही ऐसी आयी हों तब तू ही किसे दोष देगी? आज भी क्या ऐसी नारियों की बहुलता नही है जो शिक्षित और स्वतन्त्र हो कर भी साज-सिंगार में ही जीवन लगाये रहती है? उन का लक्ष्य तक भी क्या यही नहीं रहता कि अधिक से अधिक पुरुषों का आकर्षण-केन्द्र कैसे बनें?

मुझ से पूछे तू तो मैं तो इन स्त्रियों को भी दोष नही देती। ये बेचारी जिस युग, समाज, शिक्षा और साहित्य की उपज है वह यही तो है जिस पर पुरुष का राज्य है। और यह पुरुष तो नारी के 'शरीर' को सामने से हटा कर उस के 'व्यक्तित्व' को देख नहीं पाता। नारी को उस के यथार्थ और सम्पूर्ण रूप में अपना नहीं पाता। यही कारण है कि नारी बेचारी आज भी समस्या बनी रह गयी। पुरुषों के इस राज्य में जो अधिकार उसे मिले भी उन का उचित उपयोग करना उसे नहीं आया, अपने को बनाना उसे नहीं आया। तू ही सोच, सिद्धान्तों को व्यवहार में लाना न आया तो वे ही बोझ न बन जायेंगे?

इसी से कहती हूँ निम्मी, कि अब बनाने की बात सोचना है। वह दिशा-पथ खोजना है जिस पर चल कर नारी अपना वास्तविक रूप समाज के सामने रख सके और समाज उसे अपना सके। जानती हूँ, लिखना जितना सरल है करना उतना ही कठिन। यह भी निश्चित है कि पुरुषों को बदलने के पहले हमें अपने को बदलना होगा। हमे ही अपनी आत्मा में सौगुना आत्म-बल संचय करना होगा। जाने क्यों मेरा तो दृढ विश्वास है कि जिस दिन नारी ही जीवन के सारे मानदण्ड बदलने की ओर पग बढायेगी उस दिन ही यह दुःसाध्य कार्य सुगम हो सकेगा।

इसी लिए नारी को अब अधिक काल तक पुरुषों पर निर्भर नही करना होगा। क्योंकि जितना नारी अपने को समझ सकती है, अपने गुणों-अवगुणो को परख-पहचान सकती है, उतना पुरुष के लिए असम्भव ही है। एक बार नारी अपने नारी, अपने यथार्थ रूप का परिचय तो दे, फिर न शिवानी का का बॉस उस की नौकरी ले सकेगा न मेरी निम्मी का प्रोफ़ेसर ही उच्छृंखल बन पायेगा।

तब प्रेम भी होगा तो छिछला और आधार-हीन तो नही। समझी मेरी बात ? और गुस्सा भी कुछ ठडा पडा या ज्यो का त्यो बना है ? पागल कही की।

हाँ एक बात तो रही ही जाती थी अनीता के बच्चे तेरे चार्ज में है, यह जान कर तसल्ली हुई। तू ने लिखा कि उन्हें दीदी का प्यार नही मिला कि वे चचल और निर्भीक हो पाते। मै जानती हूँ वह बाहर के कामो में इतनी व्यस्त रहती थी कि बच्चो के लिए समय ही नही होता था। फिर तो विद्रोह करते-करते वह रूखी और कठोर भी हो गयी थी। ठीक यही तो मुझे उस से भारी शिकायत थी। सब-कुछ हो कर भी यदि वह माँ है तो बच्चो को उसे देखना ही है। घर और बाहर, बच्चो और समाज में कोई स्त्री यदि सामजस्य नही रख सकती तो मेरी आँखो मे वह दोषी है और दोषी रहेगी।

अनीता कहा करती थी कि कोमलता और ममता नारी की कमज़ोरी है। क्यो, तू भी तो ऐसा ही सोचती-मानती होगी ? पर कितना उसे कहा और कैसे अब तुझे बताऊँ कि सच में यही उस की सब से बडी शक्ति है जो सब कुछ सँभाले रहती है। सोच तो तू, धरती पर अभी ही कम कटुता और सघर्ष नही है। यदि पुरुष की होड में नारी भी कठोर हो गयी तो ममता और स्नेह के अभाव में यह सारा समाज बिखर कर चूर-चूर न हो जायेगा ? युरॅप और अमरीका के जीवन का उदाहरण ही ले देख। आज तुझे बताऊँ, मैं ने तो एक दिन अनीता से यहाँ तक कहा था कि बाहर को ही जिन्हें अपने जीवन का सर्वस्व बनाना हो उन्हें घर का झझट ही नही बाँधना चाहिए।

अब बस करती हूँ, नही तो तू कहेगी कि पत्र क्या दीदी ने पुराण ही लिख मारी। गरमी की छुट्टियो में बच्चो सहित ज़रूर आना। हो सकने का सवाल तेरे लिए नही होता, यह मै भी जानती हूँ और तू भी। तू जो चाहेगी वह हो ही जायेगा।

मेरे पत्र की कोई बात तुझे बुरी लगे तो उस का क्रोध मुझ पर ही निकाल लेना, अपना मन दु खी मत करना।

तेरी सस्नेह,
दीदी

[अगस्त १९५६]

मुक्ति का क्षण

•

रघुवीर सहाय

वह कबूतर आज फिर आ गया। कितना बुरा हुआ। मैं आप को उस की कहानी सुनाना चाहता था, अब मेरी कहानी न बन सकेगी। आज फिर आ कर वह कल की कहानी में जुड़ गया है। अब भी शायद उस ने कोई कहानी बना दी होगी, पर वह मैं अभी जानता नहीं।

मेरे कितने पास आ गया है। इसे डर नहीं लगता? चाहूँ तो हाथ बढ़ा कर पकड़ लूँ। फिर उसे लिये हुए नीचे जाऊँ जहाँ औरों के साथ मेरे वह मित्र होंगे जिन्हें मैं ने कल अपनी कहानी सुनायी थी। कैसा लगेगा उन्हें मेरे हाथ मे यह कबूतर देख कर? जैसे कल का एक स्वप्न, शोर-शराबे की दुनिया से दूर जो एकान्त मे कहीं घटित हुआ था, और जो स्वप्न की ही भाँति अविश्वसनीय था, सहसा साकार हो उठता है।

तब फिर मुझे ही क्यों, क्यों, इस की पुनरावृत्ति एक हानि जैसी लग रही है, जैसे इस ने मेरा कुछ छीन-सा लिया है।

पर यह कितना सुन्दर है। और ठीक कल-जैसा सुन्दर है—इस में भी नहीं है। भरा-पूरा कबूतर है, जवान। चकर-मकर करती हुई गरदन, जैसे गुटरगूँ-गुटरगूँ कर रही हो, सफ़ेद रंग कुछ मैला हो गया है। ऐसा तो नहीं कि पंजे मे जो चोट है उस की वजह से इसे घोंसले में बहुत दिन पड़े रहना पड़ा हो? कल के उन दोनों को, जो इस ने छोड़ दिये थे, चुग रहा है। एक पंजे के बल फुदकता है, यह देख कर तकलीफ़ होती है, पर सच मे मैं नहीं जानता कि उसे भी हो रही है या नहीं।

कल वह अचानक फुर्र से मुँडेर पर आ बैठा था। गरदन घुमा-घुमा कर उस ने चारों ओर देखा था—अच्छा, वह जगह है। मै चना चबा रहा था, तो उस को भी मै ने थोडा-सा फेंक दिया। वह उतर कर छत पर आ गया। चुगने लगा। खायेगा। आधी मुट्ठी मै ने छत पर छिटका दिया। एक दाने से दूसरे तक फुदकना मुश्किल होगा। एक पंजा बेकाम है और लुंज-सा लटका हुआ है यह सोच कर आधी मुट्ठी मै ने एक जगह कुरै दी। यह आसान था। एक दाना चुगता, चारों ओर देखता। चारों ओर ताकने के लिए ही शायद कबूतर की गरदन इतनी लोचदार बनायी गयी है—क्योंकि आँखों से वह दायें-बाये ही देख सकता है।

चुगते-चुगते वह हाथ के बहुत पास आ गया। पकड़ लूँ? पकड़ लूँ तो अभी सिमट जायेगा और गरदन कन्धों मे धँसा कर टुकुर-टुकुर दायें-बायें देखने लगेगा। उस का स्पर्श। चिकने परों के अन्दर सिमटा हुआ स्पन्दित एक गरम पिण्ड। जैसे हाथ मे उस के प्राणों की ही उष्णता अनुभव हो रही हो। कितना सुन्दर पक्षी है यह, जिस का धड़कता हुआ प्राण उस के शरीर से इतने सन्तुलित अनुपात मे है।

कल्पना ही मे मैं ने उसे छोड़ दिया। क्यो पकड़ लूँ? क्योकि इतने पास है, और निरीह है, इस लिए मेरे प्रेम की अभिव्यक्ति और हो ही क्या सकती है? मेरे इतने पास आ कर चुग रहा है तो यह मेरे लिए गर्व का विषय होना चाहिए। पर नही। क्यों? क्या इस लिए कि ऐसा हूँ मै कि यह मुझ से भय नहीं करता? वह नही कर रहा है तो यह उस की निजी सम्पत्ति है जो मुझे दे रहा है और मै कृतज्ञ हूँ। नहीं, कृतज्ञ भी क्यों हूँ। यदि पक्षियों ने भय करना सीखा है तो जिन के कारण सीखा है उन का उत्तरदायी मैं नहीं हूँ। यदि इस ने भय किया है तो मै ने भी न भय किया है न भयभीत किया है। न यही अनुग्रहीत है—क्योंकि इस ने न अपनी मुक्तता मुझ से पायी है न अभय माँगा है। अंग-अंग मे शक्ति देती हुई धूप, जहाँ कबूतर चुग रहा है वहाँ को, और यहाँ को जहाँ मै बैठा हूँ, छायी हुई है और वह कबूतर वहाँ है। वह वहाँ बड़ी देर से है। मै उसे देर से देख रहा हूँ। मैं प्रतिकृत हूँ।

छत पर बिलकुल एकान्त है। कोई नहीं है। सहसा लगता है कि सिर्फ़ हम दो है। एक मै और दूसरा कबूतर। वह आज फिर आ गया है। वही है वह। मुझे चीन्हेगा? पर क्यो चीन्हे? शायद छत चीन्हता हो। पर वह भी क्या जरूरी है? क्या वह आज फिर उसी सहज भाव से नही आ सकता है जैसे कल आया था? इस मे उसे क्या बाधा हो सकती है? छत पर बिलकुल एकान्त है, और मै भी तो यहाँ उसी क्षण वर्तमान हुआ जिस क्षण आज वह धूप मे उतर कर एक पंजे के बल आ बैठा।

वह फुदक-फुदक कर चल रहा है। जिधर जाना चाहता है उधर आ रहा है। बिलकुल स्वाधीन भाव से कुरसी के नीचे निकल जाता है। उसे कल के दो-एक दाने मिल गये है।

सामने वाले कोने मे पहुँच गया है। वहाँ चारो ओर देखता है—टुकुर-टुकुर। क्या उस ने लक्ष्य किया है कि कोई यहाँ है? वह खास तरीका जो कबूतरो को आता है गरदन टेढी कर के देखने का, उस मे मेरी तरफ आँख कर के देख रहा है। देखा? वह इतना स्वतन्त्र है कि अपनी तरफ से मुझे हँसा भी सकता है। यह खिलौने-जैसी आँख पहले भी देखी है, शायद खिलौने ही में। पर यहाँ एक सजीव प्राणी है, और जिधर अपना स्वाभिमान भी है। अब छत पार कर दूसरी ओर गया—फिर इधर मुँह घुमाया। कुछ देखने काबिल नही। फिर सूरज की तरफ मुँह किया। हा गरम है। हूँ सवेरे कडाके की ठड थी। अब वही बैठा है। कुछ नही कर रहा है। सिर्फ अपना लूला पजा लटकाये वही कर रहा है जो उस के लिए स्वाभाविक है—गरदन चक्कर-मक्कर कर के चारो ओर टुकुर-टुकुर ताकना, जैसे गुटरगूँ गुटरगूँ की आवाज कर रहा हो।

कल उसे पहली बार देखा था। धडकते हृदय से देखा था। करीब-करीब मेरे हाथ से ही दाने चुग गया था। एक बार जरूर उस ने शक किया था मगर मेरे लिए भी तो इस तरह उठना-बैठना मुश्किल था कि वह शक न करे। क्योंकि शक करने की बात ही क्या थी? और मै किसी इरादे से थोडी ही उठा था।

बहरहाल, आज वह गलतफहमी दूर हो गयी है। और अब मैं कह सकता हूँ कि मनुष्य सुन्दर लग रहा है। पर स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि ऐसा कहने में कोई अनुग्रह नही है, कोई बन्धन नहीं है। वह मुझे अच्छा लग रहा है—बस इतना ही सच है। वह वहाँ थोडी दूर पर धूप मे है। वह है, और स्पष्ट है कि उसे जाने का कोई कारण नही है। इस लिए अच्छा है कि वह अच्छा लगता रहे और रहे।

अहा! अच्छा ख्याल आया। आज भी वह शायद दाना खा सकता है—यानी अगर चाहे तो। ठीक। मै ले आऊँगा, पर रुकना पडेगा। मै जा कर ले आऊँगा तब तक रुक सके तो रुके, पर हम लोग बिलकुल स्पष्ट कर लें—वह मुझे अच्छा लगता है और आज भी उस के लिए मैं दाना ला रहा हूँ। दुनिया इस को एक सम्बन्ध मान सकती है और गल्प-साहित्य इस को मनुष्य और पक्षियो के प्रेम की एक सच्ची घटना भी कह सकता है। पर यह कोई अनुग्रह नही है, न कोई बन्धन है। यहाँ की धूप सुखद है, और इस छत का अपना एक एकान्त है, उस को न आप तोडें, न हम, और सच इतना ही रहने दें कि यह समय बहुत सुन्दर है।

[जुलाई १९५७]

मुरदों के टीले

•

रांगेय राघव

(पुराने नामों का अभाव है। फिर पाठकों की समझ में बात आती है नये प्रचलित नाम लिखने पर। सो, बहुत से ऐसे नामों का प्रयोग मैं ने कर दिया है।)

आकाश में सुनहला तार झनझनाया। नाग बन्धक ने पुकारा, "रक्तजिह्वा की जय! गरुड़ परास्त हो पंख समेट कर चला गया।"

मैं ने अपने तम्बू से निकल कर देखा। सारा सार्थ लगभग चल पड़ने को तैयार ही था। मैं ने बन्धक को बुलाया और कहा, "नाग, यह पाँच नदियों का देश[1] तो बड़ा समृद्ध है। यहाँ हम ने काफी सुवर्ण कमाया है। अब हम शियान्त[2] की ओर चलें।"

नाग ने सिर झुकाया और कहा, "हम अपने निनैवे में होते तो कभी के पहुँच गये होते।"

सम्भवतः उसे अपने देश के दो पहिये वाले घोड़े के रथ का ध्यान आ रहा था।[3] वृषभ, तूफ़ानों का देवता, हमारी रक्षा करे। महामाता जीवन दे। अपने पक्षी की ओर मधुर मुसकान से देखे।

न जाने क्यों मुझे मृत्यु का स्मरण

१. तात्पर्य हरप्पा से है।

२. हौज्नी के आधार पर सम्भवतः सिन्धु देश का पुराना नाम।

३. एंशेंट हिस्ट्री ऑव वेस्टर्न एशिया, इण्डिया एंड क्रीट : बेडरिख हौजी, पृष्ठ २५ के आधार पर। यद्यपि हौज्नी के अधिकांश मतो से मेरी सहमति नहीं।

हो आया। कितना परदेस। यहाँ मृत्यु? होता अपने घर, तो वे मुझे शान्ति से आलथी-पालथी लगा कर बिठा देते कब्र में, सदा के लिए, और मै मृत्यु के उपरान्त नूतन जीवन मे प्रवेश करता। सुमेरु, किश, ऊर, एलाम और नाल होता हुआ यहाँ कितने दिनो में पहुँचा हूँ।

मेरी तृष्णा निरन्तर बढती गयी है। यदि मै अपार धन एकत्र कर सका तो क्या मिस्र के फराऊन की भाति मैं भी देवता के समान सम्मान पा सकूँगा। दजला-फरात से सिंधु तक चलते इस अखण्ड व्यापार का मैं भी एक भागी हो गया हूँ। किन्तु महामाता के उपासक ये लोग मुझे कुछ भिन्न से लगते है।

यातुधान किंकर कहता था कि वह राक्षस था और शियान्त जा रहा था जहाँ वह विशाल मन्दिर में अपने लिंग देवता की उपासना करेगा। उस ने बताया था कि वह हिमालय से शियान्त में देवदारु पहुँचाता था। वहीं यक्ष जाति भी थी जो हमारी भाँति ही महामाता की योनि-पूजा करती थी। उसी ने बताया था कि उस के देश के पूर्व में अभी नरभक्षी लोग रहते है। मै ने जब पूछा था कि शियान्त के पश्चिम में जो मरुभूमि है[१] उस के भी पश्चिम में क्या है, तो उस ने कहा था कि वह नही जानता।

अरब के तीर पर मुझे गोदावरी के नाविक मिले थे। वे बताते थे कि वहाँ दानव और नाग रहते है। किन्तु मेरा वणिक तो किश का नाग है। उन नागो के बारे में तो वह नहीं जानता। द्रविडो की बात मै नही कहता, उन के पास अपार धन है। वे साँवले रंग के है और सुनते हैं उन का हिताइत और मितन्नियो से भी सम्बन्ध है। नाग वणिक ने कहा था कि सुमेरु में उस ने सिंहमुख देवता की उपासना देखी थी। दजला-फरात के पास के नगरो मे स्वय मैं ने कुमारियो को विवस्त्रा खड़े हो कर विवाह के लिए तरुणों को आमन्त्रित करते देखा है।

नाग वणिक ने आ कर कहा, "स्वामी! शियान्त जाता हुआ मुझे एक युवक मिला है। वह वही का निवासी है और यहाँ पाँच नदियो के देश में आया था। वह कहता है कि इस नदी से उस नदी तक सब एक-से लोग रहते है। वह मोअन जो-दडो का निवासी नही, चन्हु-जो-दडो का है।"

मैं ने कहा, "उसे बुला तो।"

वह आया। प्रणाम किया। उस मे एक सहज गर्व था, जैसे वही सभ्य था, हम सब कुछ नही थे।

मैं ने पूछा, "मित्र, तुम्हारा नाम?"

उस ने बताया, "मैं रत्नो को काटने वाला इयाह हूँ।"

"स्वागत। अब कहाँ चल रहे हो?"

"घर जा रहा हूँ। वही जहाँ सुन्दर नगर है, परिष्कृत समानान्तर पथ है, जहाँ भीतो पर मनोहर चित्र बनाये जाते है, पुरुष और स्त्रियाँ अच्छे-अच्छे वस्त्र पहनते है।"

मै ने देखा। तरुण की बालो की चुटिया पीछे गुँथी लटक रही थी। उस के कन्धे पर

१ राजपूताना।

चादर पड़ी थी। मूँछें उस्तरे से साफ़ थीं और काली घनी दाढ़ी दीख रही थी। वह कहता गया, "वही जहाँ नदियों की सिंचाई से गेहूँ होता है, सफ़ेद उजला-उजला···"

मेरी कटि में खड्ग देख कर उस ने कहा, "शियान्त में नागरिक-शासन-व्यवस्था बहुत अच्छी है। इस की ज़रूरत नहीं पड़ेगी। नगर का गण-स्वामी एक विशाल भवन में रहता है, वहाँ नगर का नाज इकट्ठा कर दिया जाता है।[1] देवता के नाम पर कोई उस ठौर का अतिक्रमण नहीं करता।[2] पहले कुछ वन्य वर्बर लूटने आते थे, पर अब तो विशाल प्राकार बन गया है नगर का।"[3]

"तो तुम्हारे देश में धनी और दरिद्र नहीं?"

"क्यों नहीं? दोनों हैं, दरिद्र अधिक हैं धनी कम है।"

वह कुछ हतप्रभ हुआ। मैं ने भी सुना है कि तुम्हारा देश बड़ा समृद्ध है। नगर बड़ी योजना से बनाया गया है। तुम्हारे देश के तरुण बड़े शक्तिवान् हैं। नालियाँ भूमि के भीतर बनायी जाती हैं। कैसे बनाते है उन्हें?"

"पक्की ईटों से।" उस ने कुछ मुसकरा कर गर्व से कहा, "नगर में अफ़्रीका, चीन और बाहर के बहुत लोग आते हैं। कीकट और अन्य बर्बर देशों के लोग भी आते हैं। हमारा पशु-धन देख कर उन्हें आश्चर्य होता है।"

१. ह्वीलर ए'शेंट इण्डिया, १९४७। ६१-७६।
२. वही।
३. वही।

वन्धक के आ जाने से बातचीत रुक गयी।

हम चल पड़े।

●

●

यह शियान्त है।

इस की समृद्ध हाट में मैं खड़ा हूँ।

सुदूर कैस्पियन समुद्र से चीन तक के, फ़िनीशियनों से गोदावरी के दानवों के ही नहीं, नीलगिरि पर्वत तक के लोग यहाँ मंगोल चीनी से कन्धा मिला कर चलते हैं।

परन्तु मै जानता हूँ।

संसार में अनेक जातियाँ हैं। इन को अलग-अलग देवताओं ने बनाया है। वे अलग-अलग देवताओं की सन्तान है।

मैं यहाँ देख रहा हूँ—चाँदी, राँगा, ताँबा, सोना, मणियाँ। यहाँ क्या नहीं है? सुन्दर बरतनों पर बेहतरीन तसवीरें बनायी गयी हैं।

वन्धक ने आ कर कहा, "स्वामी!"

मैं ने मुड़ कर देखा।

"स्वामी! वह इयाह बड़ा चतुर है।"

"क्यों?"

"वह मन्दिर में चला गया है और कह गया है कि आप को वहाँ ले आऊँ।"

"क्यों?"

वन्धक कुछ हतप्रभ हुआ।

"स्वामी! वह महादेव देवता के त्रिशूल के आगे बलि देगा और आप के लिए तावीज

बनायेगा।"

"चलूँगा।" मैं ने कहा।

वह चला गया। मैं नगर में घूमने लगा।

एक स्त्री को रोते देख मुझे कौतूहल हुआ। उस के हाथों में चूड़ियाँ थीं। कुछ शंख सीप गले में लटके थे। उन के बीच में चाँदी और सोने की कई हँसुलियाँ थीं। सुनहले फीते से उस के बाल बँधे थे, सीना खुला हुआ, कटि पर जघाएँ-भर टँकता एक वस्त्र।

मैं उस के पास को गया। फूल बेचने वाले लड़के उस से मजाक कर रहे थे।

मैं ने पूछा, "तुम कौन हो?"

स्त्री ने उत्तर नहीं दिया, केवल आँखें फाड़ कर देखती रही। एक सुगंधि बेचने वाला दुकान से उतर आया और हाथ पकड़ कर मुझे हटा ले गया।

मैं ने कहा, "क्यों क्यों?"

"हाँ, तुम विदेशी हो न? मैं तुम्हारी बोली से जान गया।" उस ने बड़े आत्म-विश्वास से कहा। फिर कहा, "वह स्त्री वेश्या है, उसे एक मिस्री से प्रेम हो गया था। वह हापी (नील नदी) का माँझी था जो पोत पर एक व्यापारी के साथ आया था और चला गया। यह मूर्ख स्त्री उसी की याद में रोती है। तुम उस की चिन्ता मत करो।"

मैं ने पूछा, "तुम ने कैसे जाना मैं उस की चिन्ता कर रहा था?"

वह व्यक्ति उदास-सा हट गया। मैं फिर उस स्त्री के समीप गया। उस ने मुझे देखा और कहा, "परदेसी, इस महानगर पर महानद बार-बार उफन कर आता है। हर बार लोग पहले से ऊँचाई पर मकान बनाते हैं, किन्तु मैं भी क्या ऐसी ही नहीं हूँ? मैं भी तो आँसुओं की हर बाढ़ के बाद अपनी आशा को उतना ही ऊँचा ले जाने का यत्न करती हूँ। वह मिस्री क्या सचमुच लौट आयेगा?"

उफ्! तब मुझे लगा कि स्त्री देवी ही होती है। तभी तो उस के हृदय में इतना प्रेम होता है। स्त्री में दो ही चमत्कार हैं: प्रजनन और हृदय। ममता! महामाता! महादेवी!

मैं ने उसे देखा और कहा, "पुरुष चला गया, पर मेरे देश के पुजारी कहते हैं सब कुछ स्त्री में से आता है स्त्री में ही लौट जाता है।"

मेरे कन्धे पर किसी ने हाथ रखा।

"कौन?"

"इयाह।"

"तुम यहाँ कैसे आये?"

"मैं तुम्हें देवता की प्रसन्नता दूँगा। तुम्हारे पास अपार धन होगा। मैं तुम्हारे लिए एक तावीज बनाऊँगा। तुम इस नग्नी से क्या बातें कर रहे हो?"

हठात् उस की दृष्टि स्त्री पर अटक गयी। उस ने बढ़ कर स्त्री को वक्ष से लगा कर कहा, 'अरे! तू कब से यहाँ आ गयी?"

स्त्री मुसकराती हुई चली गयी।

पता चला, वह उस की पड़ोसिन थी। कभी देवी के मन्दिर में चढ़ा दी गयी थी। फिर अपराध हो जाने पर निकाल दी गयी। उसे दण्ड था। जब तक नर बलि के लिए अपने किसी प्रेमी को नहीं लायेगी तब तक-

मन्दिर में फिर न जा सकेगी।

मैं ने देखा और इयाह से कहा, "चलो।"

•
•

वह दूकान थी। सुमेरु के असुर बैठे मदिरा पी रहे थे। हम भी बैठ गये। इयाह ने मदिरा पात्र उठाने वाली स्त्री को इंगित किया। वह मदिरा ले आयी। फिर हम ने भेड़ के चमड़ों पर बैठ कर तरह-तरह के मांस, गेहूँ की रोटियाँ, शहद, मदिरा और मसालेदार मछलियों का भोजन किया। इयाह ने ही मूल्य चुकाया।

बन्धक डेरे पर चला गया। हम नगर में घूमते नगरपति के दुर्ग की ओर चले। दूर ही से वह पाषाण का कठोर दुर्ग देखा जिस में नगर का अनाज रखा जाता था, और तब साँझ के समय हम मन्दिर में पहुँच गये।

प्रांगण में पीपल के विशाल वृक्ष के नीचे मैं ने देखा एक मोटा व्यक्ति बैठा दही और मछली खा रहा था। उस के सामने एक स्त्री अधलेटी-सी मदिरा पी रही थी। उस की देह पर वस्त्र नाम को ही था।

इयाह ने पुकारा, "यक्ष, आज तुम्हारा वृक्ष देवता क्या कहता है?" फिर मुझ से कहा, "यह बहुत अच्छा ज्योतिषी है। शियान्त के लोगों ने नक्षत्रविद्या खूब सीखी है।"

हम यक्ष के पास को गये। अब हम ने देखा वहीं एक मुर्ग़ा भी बँधा हुआ था।

स्त्री मुझे देखते ही उठ कर बैठ गयी और पूछने लगी, "इयाह, यह कौन है?"

"परदेसी।"

वह मुसकरायी।

इयाह ने कहा, "यक्ष, वृक्ष देवता बोलेगा कुछ?"

यक्ष ने अपने पैने दाँतों और लाल-लाल आँखों को चमका कर कहा, "आज नग्नी किशी मन्दिर मे लौटेगी। देवता महादेव की नर्तकी बन कर।"

"यह तू ने ज्योतिषी से कहा?"

"नहीं", स्त्री बोली, "वह मुझ से मिलने आयी थी।"

"तुझ से? क्या उसे नर-बलि मिल गयी?"

"हाँ।"

"कौन है?"

"एक परदेसी नाग।"

वे हँसे। मैं सतर्क रहा आया।

"वृक्ष देवता," यक्ष ने कहा, "यही नहीं है इयाह। सारा संसार एक वृक्ष है।"

"संसार वृक्ष है?" इयाह ने पूछा।

"हाँ, यह ऊर्ध्वलिंग-सा है। इस की जड़ें धरती में है। पत्ते शाखा हैं। यह बीज से जन्मा है, बीज इस से जन्मता है। समझता है न?

"सारा संसार ऐसा ही है?"

"नहीं।"

"तू नहीं समझेगा।" यक्ष ने कहा, "इस वृक्ष के तने में देवता रहता है।"

"नग्नी किशी आ गयी।" स्त्री ने कहा।

मैं ने देखा। वही वेश्या थी जो पथ पर रोती हुई मिली थी। उस ने मस्तक पर लाल रंग-सा लगा रखा था। इस समय उस की देह पर कटिवस्त्र भी नहीं था।

बोली, "नदी तीर पर चलो। दानव पुरोहित बलि देगा।"

मुझे आश्चर्य नही हुआ। हमारे देश में भी बलि देते हैं।

"कब ?" इयाह ने पूछा।

"रात को अँधेरा होने पर।"

"हम आ जायेंगे।" इयाह ने कहा।

"उधर आना महादेव पुत्र के मन्दिर में।"

मैं ने कहा, "इयाह, मैं व्यापार करने आया हूँ। पहले नगर देख लें, चलो।"

यक्ष ने कहा, "देख लो, पर देवता का अपमान न करना।"

मैं ने कहा, "नहीं, अवश्य जायेंगे।"

मन्दिर के बीच में मैं ने जा कर देखा—त्रिमूर्ति महादेव, विकराल मुख, प्रचण्ड भ्रू।

जय महादेव! तू ही महादेवी में जीवन का बीज स्थापित करता है। यह ही सृजन करती है। हे परम देवता! तू ही लिंग है। तू ही सर्वत्र व्याप्त है अपनी प्रिया के साथ। क्योंकि तुम ही दोनो के चिह्न यह सम्पूर्ण प्रजा धारण करती है।

तू स्वयं संहार है, महानाश है। तू ही सब की मृत्यु है। रोगों का तू ही वर्षण करने वाला है। तू ही वृषभ है, अत तू ही शृंग धारण करता है, क्योंकि तू ही सब को धारण भी करता है।

तू विभीषण है। स्वस्तिक तेरी महागति का चिह्न है, क्योंकि दिशाओ में व्याप्त है। तू ही चन्द्रमा को शृंग बना कर सिर पर रखता है। जय महादेव! जय महादेव!

हम ने झुक कर प्रणाम किया।

नग्न युवतियाँ मदिरा पी कर मदमत्त-सी नृत्य करने लगी। पुरुष देवता इस से प्रसन्न हो सकता था। मुझे याद आया, अनेक पशु मुख धारण करने वाले देवताओं के सामने मिस्र में भी ऐसे ही युवतियाँ नृत्य करती थी।

घन-घन नाद कर के घंटे बजते रहे। हम निकल चले। एक ओर उँगली से इशारा करते इयाह ने कहा, "वह कौन है, जानते हो ?"

मैं ने देखा आलथी-पालथी लगाये एक नग्न पुरुष, कटि पर कौपीन मात्र।

"कौन है ?"

"योगी त्यागी। वह आत्मा को शान्त करता है।"

"आत्मा तो देह में रहती है। मरने पर भी तो आत्मा अपने साथ कब्र में देह समेत रहती है, सारे लौकिक भोगो को भोगती। एक दिन जब न्याय होगा "

"हाँ," इयाह ने बीच में ही कहा, "शियाल के दार्शनिक नही मानते। वे कहते है कि देह छोड देने पर आत्मा का शरीर नहीं रहता। वह 'काम' हो जाती है, जैसे देवता 'काम' होता है। और आत्मा को अहिराज के शासन में रहना पडता है। वह नरक और स्वर्ग में जाती है।"[1]

"स्वर्ग मै जानता हूँ। जहाँ पूर्वज आनन्द करते हैं, देवी-देवताओ के साथ रहते

१ देवताओं का वर्णन वी० गार्डन चाइल्ड के 'न्यू लाइट ऑन द मोस्ट ऐंशेंट ईस्ट' (१७६-२०१ पृ०) के आधार पर किया गया है।

हैं, अमर हो जाते हैं। पर यह नरक क्या है ?"

"चलो तुम्हें बताऊँगा।"

इयाह ने मुड़ कर शंख बजाते पुरुष को हाथ जोड़े और कहा, "चलो किशी से मिलना है। उधर ही से चलेंगे।"

इयाह मुड़ गया।

मैं ने देखा। सुदूर तक भवन ही भवन खड़े थे। कितना वैभव। देवताओं का-सा नगर।

"मैं स्नानागार चलूँगा, चल।"

"वह दूसरी ओर है। अभी हमें दक्षिण को चलना है।"

हम ने पक्की ईंटों की दीवार के पास कुएँ पर पानी खींचते दासों को पीछे छोड़ दिया। फिर विशाल राजपथ पर आ गये जो 'दक्षिण-उत्तर को मिलाता था। वहाँ रथ चल रहे थे। बैल उन्हे खींचते थे। वैभवशाली स्त्री-पुरुष उन पर सवार थे। हाटों में सुगन्धि थी। अनेक विदेशी भी वहाँ घूम रहे थे। दास रथों के आगे रास्ता बनाते चलते थे। एक बच्चे के हाथ में एक खिलौना था। खिलौना पशु की आकृति का था, जिस का सिर वह डोरे के सहारे से खींच कर हिला-हिला कर प्रसन्न हो रहा था। एक कोने पर छह आदमी चौपड़ खेल रहे थे। जब पाँसे गिरते, वे घोर कोलाहल कर उठते। एक स्त्री हाथी दाँत के कंघे से दोनों तरफ़ के दाँतों को उँगलियों से साफ़ करती बैठी थी। दूसरी पास बैठी कान-कुरेदनी से कान कुरेद रही थी। भीतों पर एक शृंगी वृषभ के चित्र बने थे।

इयाह के भुज पर बँधा चरणपादुका वाला ताबीज दीपों के प्रकाश में कभी-कभी झिलमिला उठता था। हम सूँड़ वाले बैल के पास बनी स्त्री-सिंहनी देवी की मूर्ति के पास से बढ़ कर मोड़ पर पहुँचे। अब वह विशाल भीड़ छँट गयी। हम ने जगह-जगह लिंग देवता, योनि देवी और नाग की आकृतियाँ देखीं। और फिर हाथी, गेंडा, सिंह आदि के चित्रों से घिरे विकराल महादेव के चित्र को पार कर के, पक्के घरों की पंक्तियों के बीच से हम दूसरे पथ पर आ गये जो राजपथ के समानान्तर था, पर उस से कम चौड़ा था। दायें मुड़ कर जब हम बायें को निकली हुई दुकान के पास पहुँचे। इयाह फिर सँकरे पथ से दायें को मुड़ा और हम एक चौड़ी-सी जगह निकल आये। काफी मकानों के बीच से गुजरते हम जब तीसरे समानान्तर पथ पर आये, अँधेरा हो गया था। तब वह बायें को मुड़ गया और हम खुले भूभाग से निकल कर नगर पीछे छोड़ आये। अब नद प्रान्त प्रारम्भ हो गया था जिस मे हरियाली छा रही थी।

●

●

"चलो परदेसी"।

किशी, यक्ष, उस के साथ वाली स्त्री और दानव पुरोहित पीपल की छाया मे खड़े थे। इयाह मुझ से कह रहा था।

परन्तु मैं सिर झुकाये बैठा था। वे सब देख रहे थे, जैसे मेरे दुःख को समझ नही पा रहे थे। नर-बलि दी जा चुकी थी। किशी

देव मन्दिर में जाने की अधिकारिणी हो गयी थी। मुर्गे का भुना मास चबाता यक्ष कभी कभी वृक्ष को सिर झुका देता था। और मैं चुप बैठा था।

मेरे सामने दो ही वस्तु थी। महादेव की विकराल मूर्ति, जिस के पीछे सिंह का शरीर और स्त्री के मुख वाली देवी त्रिशूल लिये अकित थी। और सामने था एकान्त भरा सूना अन्धकार जो बन्धक का शव लिये सांय-सांय कर रहा था।

वे सब चले गये।

अन्धकार में गीदडो की हुआँ हुआँ सुनाई पडती थी। बन्धक का सिर अलग था, धड अलग।

पत्ते खडखडाने लगे।

मैं चौंका। क्या कोई वन्य पशु है ?

देखा। एक नग्न पुरुष था। उस के सिर के बाल बढे हुए थे, दाढी भी।

उस ने पुकारा, "कौन ?"

"परदेसी।"

वह हँसा।

उस ने कहा, "बलि। बलि दी गयी है ?"

"हाँ," मैं ने भर्राये गले से कहा।

उस ने कहा, "सारे देवता मनुष्य को सुखी नही कर सकते। यह सारा नगर एक दिन नष्ट हो जायेगा, क्योंकि यहाँ अहंकार और पाप बढ गया है। मनुष्य नगा जन्मा है, वह नगा नही रहता, वह धन क्यो जोडता है, तभी पाप करता है—"[1]

वह अँधेरे में खो गया। सम्भवत वह कोई द्रविड था।

मैं उस के पीछे भागा। मैं ने कहा, "उसे जिला दो। वह मेरा प्रिय बान्धव था। वे पशु है जिन्होने उसे काट डाला।"

"आत्मा," द्रविड ने कहा, "नरक में जाती है जहाँ उसे दण्ड मिलते है। काटने वाला वही जायेगा। कटने वाला स्वर्ग—"

मैं उस के साथ न भाग सका, वह वन में छिप गया। मैं स्तम्भित खडा रहा। घने अन्धकार में महानगर ऐसे छिप गया था जैसे वहाँ था ही नही, केवल सिन्धु नद का अथाह गर्जन सुनाई पड रहा था। और केवल विकराल देवता सा आकाश और पृथ्वी के जबडे फैलाये अन्धकार साँस ले रहा था। मैं महानगर की ओर चल पडा।

दूर कही तारो का बाजा बज रहा था एकान्त में। मैं उधर ही चल पडा। मन कहने लगा "यह सृष्टि कितनी पुरानी है ? मनुष्य कब तक दुखी रहेगा—"

तारे मुसकराये। मैं ने बन्धक की याद के आँसू पोछ दिये।

[अगस्त १९५७]

---

१ दुगम्बारी चिन्तन का मूल प्रकरण। वैभव का प्रसाद। उस का प्रारम्भ जो आगे चल कर वैराग्य-चिन्तन बना।

धूल का घूर

•

मार्कण्डेय

घर से निकलते ही कुछ दूर हट कर सामने कुआँ और कुएँ के सामने ही एक शरबती नींबू का छितनार पेड़ है—जमीन तक सोहरा हुआ। मनी और राम उसी की छाया में इधर-उधर रेंग रहे हैं। क्या कर रहे हैं, यह कहना मुश्किल है। कभी क्षण-भर को होठों की पंखुड़ियाँ खिल उठती है, आँखों के सितारे चमक उठते हैं, लेकिन क्षण ही भर बाद फिर होठ भिंच जाते हैं और गालों में जैसे किसी ने शरबती नींबू ठूँस दिये हों—फूल कर कुप्पा, पर तभी कोई तितली या भुनगा या नन्हा कीड़ा दीख जाता है और राम भय का अभिनय करते हुए कहता है, "अरे बाबा, तुम्हारे घर में साँप।" मनी उचक कर उस के कन्धे से सट जाती है, फिर पल ही भर बाद दोनों खिलखिला कर हँस पड़ते है और फिर अलग बैठते हुए मनी कहती है, "छाहे जो कहो, पर भइया हमारा ही है।"

राम ग़ुस्से मे होठों को लम्बा करते हुए कहता, "तुम्हारा कैसे ? बड़ी चली है। नीबू का पेड़ भी तुम्हारा, भइया भी तुम्हारा, कुआँ भी तुम्हारा, बस एक माई है हमारी।"

"माई भी हमाली ही है, वह तो उसी ने उछ दिन मना कल दिया, पल थीक है, जब मना ही कर दिया।" मनी आज गहरे विश्वास से बोल रही थी, कहीं से कोई लगाव-अटकाव हो ही न और राम उस की शोखी से बेहद परीशान है। नींबू के नीचे वाले पूरे घरौंदे पर उस का अधिकार है और आज का क्या कहना जब उस ने घरौंदे में कुआँ भी खोद लिया, नींबू का पेड़ भी लगा लिया और सब से बड़ी खुशी की बात तो यह कि कुएँ से

पानी खीचने के लिए उसे कही से सूत की खाली रील भी मिल गयी ।

कई दिनो की लगातार मेहनत के बाद यह घरौंदा बन कर तैयार हुआ है। इस में चाचा का घर है, दादा का घर है, गुड्डई-गुड्वे का घर है, कक्कू का घर है, पर राम की कोठरी एक्दम किनारे एक ओर है ।

मनो कभी कभी कहती है, "तुम तो पहरेदार हो न, घर के बाहल ही ठीक है कोई चोर आयेगा तो ल्डोगे ।"

"मै सब कुछ करूँगा मनी, पर माई के लिए भी एक घर दे दो इस मे ।"

"देखो यह मेले मन की बात है, एक झोपली लग जायेगी यही कही बाहल । उसी में रह जायेगी माई ।"

तभी कक्कू उचक कर उन के बीच आया, "कौन रहेगा झोपडी में मनी ?" उस ने हँसते हुए पूछा तो मनी ने हँसते हुए उत्तर दिया, "लाम बइया की माई, बेचारे रो रहे है ।"

"राम रो रहा है ।" उस ने सिर झुका कर मुँह बनाते हुए राम की आँखों में देखा। सचमुच राम की आँखें भरी हुई थी, एकाएक बरस पडी, नीबू के पीले पीले पत्तों पर— घनघोर वर्षा के पहले गिरने वाली बडी-बडी बूदो की तरह ।

मनी विवण हो गयी और कक्कू हतप्रभ, पर निश्चल बैठा रहा । और उस की आँखो से आँसू बहते रहे । वह सोचता रहा, आखिर माई के लिए कोई जगह नही । आखिर माई रहेगी तो कहाँ रहेगी ? कभी यह हो सकता है कि मै घर में और माई बाहर झोपडी में । राम हिचक-हिचक कर रोता रहा और उठा तो सीधे घर में घुस गया ।

● ●

राम, कक्कू और मनी, तीन भाइयो की तीन सन्तानें है। पर माँ राम की मर चुकी है, मनी की माँ का दूध पी कर ही वह बडा हुआ है और उसे कोई किसी भी तरह यह नही समझा सकता कि मनी की माँ उस की माँ नही है। जब कभी मनी और राम में यह सघर्ष छिडता है कि माँ किस की और फैसले का भार मनी की माँ पर आ जाता है तो वह यह भी नही कह पाती कि नही बेटे मै तो दोनो की माँ हूँ। उन का फैसला हमेशा राम ही के पक्ष में होता ।

आज जब राम घर लौटा तो बेर लटक गयी थी और माँ ने अभी अन्न का टुकडा भी मुँह में नही डाला था । एक तो घर के काम-काज से फुरसत नही, दूसरे बच्चो की देख भाल, नहलाना धुलाना । उन्होने राम को देखते ही बाँह से पकडा और गुस्से में ले जा कर नहलाने लगी । राम बाहर ही से रो कर आया था । ऐसे मौके पर उसे माँ से जो सहानुभूति मिलती थी वह भी नही मिली और ऊपर से इतनी सख्ती । वह फूट-फूट कर रोने लगा ।

माँ ने हलकी सी चपत लगाते हुए कहा, "क्यो रोता है ? रात तो इतनी-इतनी बातें करता है, सोने का महल बनाता है और

ड्योढ़ी के बाहर पाँव धरते ही माँ का ध्यान भूल जाता है। अभी तो छोटा है, बड़ा हो कर तो माँ को किसी झोंपड़ी मे बसायेगा।"

जेठ की धूप चढ़ी हुई थी और बाहर ज़ोर की लू चल रही थी। माँ राम को चारपाई पर लिये लेटी थीं। कक्कू और मनी बाहर के दालान में कुछ फुसफुसा रहे थे पर राम का दिमाग़ जैसे किसी पंछी की तरह उड़ रहा था—तू तो कहता था सोने का महल बनवायेंगे और ड्योढी लाँघते ही माँ को भूल जाता····मै ने किया भी तो यही है, मनी के घरौंदे मे मेरा कितना अच्छा घर बन गया है और माँ को उसी में झोंपड़ी लगेगी।" "नही-नही"—राम जैसे फुसफुसा उठता, पर माँ की थपकियों से वह चुप रह जाता।

कहीं माँ को झोंपड़ी मे भी न रहने दे मनी, तो···? कहती तो थी कि यह तो मेरे मन की बात है—मेरा घर है, मेरा नीबू का पेड़, मेरा भइया····सब तो उसी का है··· उसी का रहे, मुझे कोई ग़रज नही, कोई ज़रूरत नहीं—और उस ने पलट कर देखा, माँ की आँखें लग गयी थी, धीरे से माँ का हाथ अपने सीने पर से नीचे उतारा और चारपाई से उतर कर जैसे ही दरवाजा खोला कि माँ ने आँखें खोल दीं—कहाँ गया, यह ? उन्होने अकचका कर देखा और उठ कर बाहर दौड़ीं तो राम जल्दी-जल्दी भागा जा रहा था।

"राम तुझे बुखार है बेटे। कहाँ जा रहा है—रुक जा राम—रुक जा···"पर राम ने पीछे मुड़ कर भी नहीं देखा। कक्कू और मनी भी पीछे-पीछे भागे। पर राम को कोई रोक नही सका। वह नींबू की हरी गाछ के नीचे घुस जल्दी-जल्दी अपने घर की धूल की दीवारे मिटाने लगा। मनी कुछ बोलना चाहती थी, पर माँ को देख कर उस का साहस न हुआ और माँ राम को गोद मे उठाते हुए कहती जा रही थी, "क्या करता है बेटे, यह क्या करता है····तुझे बुख़ार है, राम !"

"मै भी यही लूँगा घर माँ····, मनी के घर में मैं भी नहीं रहूँगा····नही रहूँगा।" राम रोता जा रहा था और उस के नन्हे-नन्हें कोमल हाथ माँ को कस कर पकड़े हुए थे।

[दिसम्बर, १९५७]

म्यान पर चूनर की गाँठ

•

कर्तार सिंह दुग्गल

आज गायें फिर उसी अमराई के पेड के नीचे से गुजरी थी। और सारा दिन वप्पे का स्वाद में बीत गया। बार-बार वह पीछे मुड कर अमराई की ओर देखता। कभी किसी टीले पर खडे हो कर, कभी किसी पेड पर चढ कर कई बार उस ने एक नज़र अमराई के लहलहाते पत्तो को देखा। और फिर अमराई पर एक कोयल आ कर बोलने लगी। वप्पा खाई में होता, खोह में होता, गायों को हँकाता कोयल की आवाज़ उस के कानों में गूँजती रही। उस की हर कूक पर वप्पा के दिल के तार जैसे नाच-नाच उठते।

"हियडइ भीतरि तु वसइ, मावइ जाण म जाण" लोकगीत के ये बोल आज बार-बार वप्पा के होठों पर आते और वह जैसे नशे में बार-बार ठोकर खाता, फिसल-फिसल पडता।

एक स्पर्श, और वप्पा जवान हो गया, एक दृष्टि, और वप्पा की आँखों के सामने और के और स्वप्न खेलने लगे, एक मुसकान, और वप्पे का सारा आकार जैसे खिल उठा।

अब वप्पा को अपने साथ के बच्चो में खेलना अच्छा नही लगता था। अब साझ को वह पडोसिन बुढिया के पास बैठ कर देर रात गये तक परियो की कहानियाँ नहीं सुनता था। अब वप्पा से गायों के पीछे व्यर्थ दौडा न जाता, व्यर्थ उन्हें हांका न जाता। अपने साथ के चरवाहों से पिछले कई दिन से वप्पा कन्नी काटता रहता। अलग-अलग बैठता, अलग-अलग उठता।

बार-बार वप्पा की आँखो के सामने खिल-खिल कर हँस रही चार अप्सराओ का चित्र आता। उन में से एक हँसती-हँसती आगे आयी और हक्के-बक्के खडे वप्पे को उँगली

से पकड़ कर अपने साथ ले गयी। चारों में सब से सुन्दर, सब से ज़्यादा सजी हुई लड़की जिसे और सब 'राजकुमारी राजकुमारी' कह कर सम्बोधित करती थीं, बप्पे की ओर किस तरह देखती थी। हर बार वह पलकें उठा कर बप्पे की ओर देखती और बप्पे के दिल को कुछ हो जाता।

बात यूँ हुई। सोलंकी राजकुमारी अपनी सहेलियों के साथ महलों के पीछे वन मे झूला झूलने के लिए आयी। यहाँ आ कर उन्हें ध्यान आया कि वे रस्सी लाना भूल गयी। रस्सी लायी नही थी और इतनी दूर जंगल मे झूला झूलने आ गयी थी। तभी उधर से बप्पा गुजरा। आगे-आगे उस की गायें थी, पीछे-पीछे बप्पा।

बप्पे के एक हाथ मे लाठी थी, दूसरे हाथ मे कपड़े मे लिपटी ज्वार की रोटी थी। ज्वार की रोटी, इधर पकती उधर सूख जाती। और फिर एक लड़की आगे बढी और उस ने बप्पे की लाठी पकड़ ली। एक और आगे आयी और उस की रोटी ले कर खाने लगी। बप्पा बिट-बिट उन की ओर देख रहा था। हँसती जाती और बप्पे की ज्वार की सूखी रोटी को एक-दूसरे से छीन-छीन कर खाती जातीं। और यह राजकुमारी किस तरह बप्पे की ओर देखती थी। हर बार वह उस की ओर देखती, उस की नजर जैसे बप्पे के दिल में चुभ-चुभ जाती। एक मीठा-मीठा दर्द बप्पे को महसूस होता।

और फिर लड़कियाँ बप्पे के साथ खेलने लग गयी। बप्पे की गायें कही-की-कहीं निकल गयी थीं और लड़कियाँ उसे छोड़ ही नहीं रही थी। एक खेल खत्म होता, वे दूसरा शुरू कर देती।

खेलती रहीं, खेलती रही। दोपहर होने लगा। और फिर एक लड़की आयी, उस ने बप्पे के साफे के एक कोने को सोलंकी राजकुमारी की चुनरी के साथ बाँध दिया। और फिर एक और लड़की आयी और उन दोनों को खीचते-खीचते अमराई के पेड़ के नीचे ले गयी। और फिर लड़कियों ने गाना शुरू कर दिया :

"तुंही ज सज्जण मित तुं, प्रीतम तुं परिवाण। हियडइ भीतरि तुं वसइ भावइं जाण म जाण॥"

गाती जाती और हँसती जाती। और फिर यूँ गाती हुई, और फिर यूँ हँसती हुई उन्होंने देखा दूर कोई घोड़सवार आ रहा था। जल्दी मे गाँठ खुलने मे ही न आती। फिर एक लड़की आगे बढ़ी और उस ने ज़ोर से चुनरी का पल्लू खींचा। सोलंकी राजकुमारी की चुनरी की गोट वैसी की वैसी बप्पे के साफे मे बँधी रही, चुनरी का कोना खिच कर निकल गया। और लड़कियाँ घबरायी-घबरायी तेज-तेज पग दूर महलों की ओर खो गयी। बप्पा बिट-बिट उन की ओर देखता रहा।

वह दिन और आज का दिन, और फिर कई सप्ताह, कई मास, लड़कियाँ फिर कभी उस वन मे झूला झूलने न आयी। और बप्पा स्मृतियों का एक ढेर हो कर रह गया।

बप्पे के सब साथी उस को छोड़ गये।

कौन उस के साथ सिर मारता ? आप मुहारा बैठा बातें करता रहता। टीलों पर खडा रोटी को ममलता रहता। मुंडेरो पर बैठा नाखूनों से मिट्टी कुरेदता रहता। कभी लकीरें खीचता, फिर मिटा देता। कोई देता तो खा लेता, कोई न देता तो कितने-कितने दिन उसे भूख न लगती। सूख कर काँटा हो गया था। लोग वप्पे को सौदाई समझने लगे। पगला-पगला पुकारने लगे।

चुनरी की उस गोट को आँखो से लगाता और छल-छल वप्पे के आँसू बहने लगते। उसे लगता उन उँगलियो में से सुगन्ध जाती थी जो उँगलियाँ सोलकी राजकुमारी ने उस की पकडी थी। और वह सिर से ले कर पाँव तक लरज गयी थी। अमराई का वह पेड वप्पे का शिवाला बन गया।

कोई कहता वप्पे पर साया पड गया है, कोई कहता वप्पे पर किसी ने जादू कर दिया है। जितने मुँह उतनी बाते।

वप्पा घुलता जा रहा था, बहता जा रहा था। एक दर्द दिल में छिपाये वह दिन-रात विचारो में खोया रहता। उस की सब से बडी मुश्किल यह थी कि वह अपने दुःख का किसी से जिक्र नहीं कर सकता था।

एक दिन एक नटखट बछिया बडी मस्ती कर रही थी। वप्पा बार-बार उसे समझाता। फिर उसे गले लगा कर वप्पा आप मुहारा बोलने लग पडा। लहू के आँसू रोता वप्पा कितनी देर एक साँस बाते करता रहा। और झाडी के पीछे छिपे उस के साथी देव ने सारी बात सुन ली। और वही बात हुई, देव झाडी के पीछे से निकला और हँसे जाता, हँसे जाता और वप्पे के साथ मजाक किये जाता। पानी-पानी हुआ वप्पा उस के मुँह की ओर देख रहा था।

देव आयु में वप्पे से बडा था और था भी वह बडा चट। और फिर उस ने अपने मित्र को बैठ कर समझाना शुरू किया। मुहब्बत करना बेकार लोगो का धन्धा है। एक चरवाहा कहाँ और मुहब्बत कहाँ। और फिर प्रेम भी राजकुमारी से। उस के पिता राजा को पता लग जाये तो बच्चा कोल्हू में पिसवा दे। तिक्का बोटी कर के चील-कौओं को खिला दे। वप्पे के पाँव तले से जमीन निकल गयी।

और फिर कभी वप्पा राजमहल के नीचे से न गुजरा। उस ने आँखें फाड-फाड कर ऊपर झरोखो की ओर कभी न देखा। फिर कभी वप्पा अपने भगवान् के सामने दिल में एक मुराद छिपाये हाजिर न हुआ। उस ने कभी माथे रगड-रगड कर फरियाद न की। 'हियडइ भीतरि तु वसइ' लोकगीत के यह बोल कई बार वप्पे के होंठों पर आये परन्तु वप्पा हमेशा टालता रहा। वप्पे की पलको में आप मुहरे आँसू ढुलक आते—वप्पा सोचता हवा ठडी है, हवा तेज है। कभी वप्पे का जी चाहता कुल्हाडी ले कर अमराई के लहलहा रहे उस पेड को छाँट दे। और वप्पा थर-थर काँपने लगता। उसे अपने-आप से भय लगने लगता।

"एक चरवाहा कहाँ और मुहब्बत

कहाँ।" अपने मित्र देव के यह बोल बार-बार बप्पे के कानों में गूँजते रहते और बप्पे को अमराई के नीचे की घटना जैसे सिरे से भूल गयी।

कई बरस बीत गये। गायों के पीछे दौड़-दौड़ कर उन्हें हँकाने के बरस, भैंसों को पुकार-पुकार कर उन को टोकने के बरस। बरस, जिन में उस के डंगर नये होते रहे, व्याहते रहे। और डंगरों में डंगर हो रहे बप्पे को अमराई वाली बात का कभी ख़याल भी न आया।

अमराई को बौर आता। बौर झड़ जाता। वर्ष के वर्ष बहारें उस को नये वस्त्र पहनातीं, पतझड़ें उस का पत्ता-पत्ता आ कर नोच लेतीं। कोयल आती, अमराई की टह-नियों मे छिपी कूक-कूक कर कुछ याद दिलाती रहती। डंगरों की रखवाली करते, लवेरों की चिन्ताएँ में डबे बप्पे को कुछ न सुनाई देता।

चरवाहों-जैसा चरवाहा, बप्पा ज्यों-ज्यों बड़ा होता त्यों-त्यों वह मिसकीन होता जाता। किसानों के बच्चे उसे घूरते रहते। बनियों के बच्चे उसे लताड़ते रहते। एक शाम थका-टूटा बप्पा ढोरों को हँकाता जा रहा था कि रास्ते मे उसे सोलंकी राजमहल का एक सिपाही मिला।

"किधर जा रहा है ओ छोकरे?" सिपाही ने अकड़ कर बप्पे को पुकारा।

"हुजूर डंगर हाँके जा रहा हूँ।" हाथ जोड़ कर बप्पे ने उत्तर दिया।

"तो यूँ ख़ाली क्यों जा रहा है?" सिपाही ने घुड़ककर कहा।

"हुज़ूर को अगर कुछ उठवाना हो तो मैं हाजिर हूँ," बप्पा काँपता हुआ बोला।

सिपाही के पास उठवाने के लिए कुछ नहीं था। परन्तु एक चरवाहा ख़ाली जा रहा था। उसे बेगार तो कराना ही कराना थी और सिपाही ने अपनी बाँह उठा कर बप्पे के कन्धे पर रख दी।

"अच्छा तुम यही उठा कर बस्ती तक ले चलो।" और बप्पा सारा रास्ता सिपाही के बाजू को अपने कन्धों पर उठाये चलता गया। सिपाही के बाजू के बोझ तले उस के पसीने छूटते रहे।

बप्पा का बैल पड़ोसियों के बैल के साथ लड़ता और हार जाता। बप्पे की गाय पड़ोसियों की गाय के साथ उलझती और हार जाती। एक बार बप्पा स्वयं आगे हो कर लड़ रहे अपने एक मरखने को शह दे रहा था : पराये बैल ने बप्पे के मरखने को पछाड़ा और आगे हो कर बप्पे को सींगों पर उठा कर परे दे मारा।

और फिर एक दोपहर जंगल से बप्पा एक नटखट बछिया के पीछे दौड़ता खजल ख्वार हो रहा था। बछिया इधर से आती उधर खिसक जाती, उधर से आती इधर दौड़ पड़ती। बप्पा बेहद परेशान हो रहा था कि उस का साथी देव दौड़ता हुआ आया और बप्पे को छाती से लगा कर उसे भींचने लगा। बार-बार उस के माथे को चूमता, बार-बार उस के हाथों को चूमता। झुक-झुक कर उस के आगे जुहार करता। बप्पा कोई

चरवाहा नहीं था, बप्पा तो राजकुमार था। बप्पा तो राजा नागदत्त का इकलौता बेटा था जिसे छिपा कर एक चरवाहे के घर लाया गया था, जब भीलों ने आक्रमण कर के उस के पिता के टुकड़े-टुकड़े कर दिये थे।

बात यूँ हुई कि जब सोलंकी राजकुमारी के विवाह का समय आया और उस के पिता ने राज-ज्योतिषी को बुलाया ताकि लड़की का हाथ देखे और उस के योग्य वर चुना जा सके, ज्योतिषी ने हाथ देखा और चिन्ता मे डूब गया। लड़की तो पहले ही ब्याही हुई थी। पूछने पर सोलंकी राजकुमारी द्वारा वन में रचाये खेल की कहानी राजा को पता चली। ढूँढ़ते-ढूँढ़ते राजा को ज्ञात हुआ, बप्पा तो राजा नागदत्त का पुत्र था। नागदत्त जिसे भीलों ने मार कर उस की गद्दी छीन ली थी। और अब राजा के सिपाही बप्पे की तलाश मे थे ताकि उसे नेजे की नोंक पर चढ़ा कर राजा के सामने प्रस्तुत किया जाये।

और देव कहता वह कोई डरने वाले थोड़े ही थे। बप्पा तो राजकुमार था। और देव उस का दोस्त। बार-बार एक दूसरे को प्यार कर रहे थे। बप्पा तो राजपूत था। बप्पे की रंगों मे देश की सब से वीर कौम का लहू था। और देव बार-बार बप्पे को गले से भींच रहा था। बप्पे को लगता जैसे उस के अंग-अंग मे अथाह बल भर गया हो, उस का पोर-पोर जैसे इस्पात मे ढलता जा रहा हो, एक क्षण-भर और उसे महसूस हुआ जैसे उस का क़द ऊँचा हो गया हो। देव तो उस की बग़ल तक आता था। बप्पे का क़द इतना ऊँचा था बप्पे को आज पहली बार इस का ज्ञान हुआ। उस की आँखों मे एक चमक आ गयी। उस के माथे पर एक आभा झाँकने लगी। उस के गाल खिल गये।

और फिर वह कुश्तियाँ लड़ने लगे। बप्पा उठा-उठा कर देव को गिराता। बार-बार वह उठता, बार-बार बप्पा उसे पछाड़-पछाड़ देता। और फिर उन्होंने लकड़ी की ढालें और लकड़ी की तलवारें बना लीं, और एक-दूसरे से खेलते डंगरों को भूल गये।

यों वह खेल रहे थे कि सोलंकी राज-महल का एक सिपाही उधर से गुजरा।

"इधर आ ओ सिपहुटे।" सिपाही को देख कर देव कड़क कर बोला। सिपाही चरवाहे की इस गुस्ताखी पर हैरान हो रहा था कि देव और बप्पा टूट कर उस पर जा पड़े। छड़ियों और लाठियों के साथ लड़ते बप्पे और देव ने सिपाही को मार-मार कर उस का बुरा हाल कर दिया और उस के शस्त्र छीन कर उसे भगा दिया।

नटखट एक बछिया बड़ी मस्ती कर रही थी। बप्पे ने कड़क कर उसे डाँटा और बछिया सिर झुकाये वही की वही खड़ी हो गयी, जैसे धरती मे गड़ गयी हो। और फिर ढोरों को वैसे का वैसा छोड़ कर बप्पा और देव दूर—बहुत दूर नीलगिरि की पहाड़ियों की ओर निकल गये।

जो कोई भी बप्पे की कहानी सुनता उस का लहू खौलने लगता। ढेर-सी फ़ौज बप्पे ने इकट्ठी कर ली। और बहुत दिन नही

गये कि वप्पे ने सोलकी राजधानी पर आक्रमण कर दिया। सोलकी राजकुमारी के चूनर की गोट को म्यान पर लगा कर वप्पा इस वीरता से लडा कि ऐसी लड़ाई न किसी ने सुनी थी न किसी ने देखी थी।

वप्पे के साथ के चरवाहे सुनते और उँगलियाँ दाँतो के तले दे लेते।

लडाई के बाद अक्सर वप्पा वन में सोलकी राजकुमारी के साथ अमराई के उस पेड को देखने आया करता। सामने गायें चर रही होती, भैंसे चर रही होती। कोई नटखट बछिया बार-बार मस्ती करती, किन्तु वप्पे की हलकी-सी खँखार पर डगर जैसे सहम जाते। और सोलकी राजकुमारी अपने चरवाहे महबूब की आँखों में आँखें डाल कर उस पर कुर्बान होती रहती।

[मई, १९५८]

लाल कनेर के दहकते फूल शैया भी समाधि भी

•

'भिक्खु'

पिंजरे में बैठा सुग्गा अपनी अटपटी बानी में चिल्लाया : "कालदेवल। कालदेवल।"

पास के ही दूसरे पिंजरे में शान्त भाव से बैठी मैना भी न चूकी। चिल्ला उठी : "महाधन। महाधन।"

अमावस की घनेरी रात। कहीं दूर बरसती हुई घन-धाराओं में नहा कर आयी-सी ठण्डी हवा। कहीं चाँद नहीं, तारे नहीं, सिर्फ़ अँधियारा। उस अँधियारे में जुगनुओं-से चमकते अटारियों के तैल-दीप। श्रद्धा की जोत-से टिमटिमाते आकाशदीप, मिट्टी के छिद्र वाले पात्रों में ऊँचे-ऊँचे बाँसों मे टँगे। बादलों मे गरज न थी, बिजली भी कहीं आराम कर रही थी। पर वाराणसी की सौन्दर्य-शलाका, सामा, तड़प उठी थी। शुक फिर-फिर रट लगाये था—'कालदेवल। कालदेवल।' सारिका फिर-फिर मुखरित हो रही थी—'महाधन। महाधन।' सुग्गा जैसे सामा के कलेजे की हूक को स्वर दे रहा था और मैना सुप्त पीड़ा को व्यंग्य की कुलिशकोर से कुरेद रही थी। "जलमुँही काली मैना बर्जना भी तो नही मानती ?"

सामा गवाक्ष से गंगा की ओर देखने लगी। अन्धकार से काली पड़ी उस की जलराशि मे जैसे उसे अपनी वेदना के ही स्रोत दिखाई दे रहे थे। वह सोच रही थी—यह गंगा

उलटी ही तो बहती है वाराणसी में। पर किसी ने इस के चरित्र को सन्देह की दृष्टि से नहीं देखा। उलटे उत्तरवाहिनी का विरद मिला। मोक्षदा हो गयी। पापियों को तारने की शक्ति और बढ़ गयी। पर मैं जब जीवन के अधोगामी मार्ग से विमुख हुई तो जन-जन मेरे चरित पर सन्देह करने लगा। वार-वनिता, समूह का मनोरंजन करने वाली अंगना, कैसे अपने प्यार में ध्रुव हो सकती है? कैसे ध्रुवस्वामी वाली हो सकती है? उलटी गंगा। उलटी गंगा।

तभी उस के कानों में सहस्रों नागर रसिकों का अट्टहास गूँजा। "वारांगना ध्रुव अनुराग वाली बनने चली। हा! हा! हा! वारयोषित् और ध्रुव प्यार। वारवनिता और अक्षय अनुराग। वारप्रिया और एकनिष्ठ राग। उलटी गंगा। उलटी गंगा। हा! हा! हा!"

सुग्गा चुप था। पर मैना चिल्ला रही थी—'महावन। महावन।' नागररसिकों के अट्टहास के बीच-बीच में 'महावन' का नाम अंकुश-सा चुभ उठता। सामा विक्षिप्त-सी चिल्ला उठी "कलमुँही चुप।"

मैना सहम गयी। सुग्गे ने तोतले शिशु की तरह टेर लगायी—'कालदेवल। काल-देवल।'

सामा के मन ने उस टेर का अर्थ लगाया, "मैं मझधार में पड़ी हूँ, कालदेवल! आओ, प्रिय कालदेवल! अपनी जिस प्रिया के साथ तुम ने फले हुए कनेरों की छाया में राग-रंग किया है उसी को उबारने लौट भी आओ, कालदेवल!"

पर कालदेवल के स्थान पर खड़ा था काल की कठिन छाया-सा अन्धकार जो अपने लक्ष-लक्ष अलक्ष्य करों को फैला कर प्रकाश और आशा की हर किरण का ग्रास कर रहा था। सामा के लिए असह्य हो उठा वह। अपनी अन्तरंग दासी के लिए चिल्ला उठी 'सुलसा। सुलसा।'

पर सुलसा तो दूर, प्रतिध्वनि भी नहीं लौटी। वह भूल गयी थी कि उसी ने तो सुलसा को भिक्षु माणवक को बुलाने भेजा है। माणवक प्रव्रज्या लेने पर भी रसों की तृष्णा न छोड़ पाया था। सामा की षड्रसव्यंजनी भिक्षा उसे निर्वाण से भी अधिक प्रिय थी। जब वह विहार के अन्य भिक्षुओं के साथ भिक्षाचार के लिए निकलता तो किसी न किसी उपाय से सामा की गंगा तीर वाली अटारी पर पहुँच जाता। तब उसे लवण, अम्ल और घृत, तैल से सुस्वादु भिक्षा मिलती और पिण्डपात के बाद वह सामा को शत-शत आशीर्वाद देता हुआ ऐसी बहुत-सी बातें बता जाया करता जिन का ध्यान भी धर्मवर्जित होता। सामा को लग रहा था कि उस के इस प्रणय-संकट में शायद भिक्षु माणवक ही किसी प्रकार सहायक हो सके।

आज ही शाम को कालदेवल की सूचना ले नट-दम्पति लौटे थे। सामा ने ही अपने प्रिय के अनुसन्धान में उन्हें भेजा था। काल-देवल ने उस की हत्या का प्रयत्न किया था। पर भाग्य में यह मत्र विडम्बना शेष थी जो सामा मूर्च्छित हो कर ही बच गयी। वह

यही सोचती कि कालदेवल ने उसे मृत मान लिया है। इसी से नहीं लौटता। पर जब उसे पता चलेगा कि उस की सामा साल-वन की आग-सी जल रही है और जलवर्षी नक्षत्र के मेघ सदृश अपने प्रिय की आकुल प्रतीक्षा कर रही है तो वह अवश्य लौटेगा और लौट कर अपनी प्रिया के जीवन दाव को शान्त करेगा। पर नट-दम्पति ने जो समाचार दिया उसे सुन कर तो सामा को लगा कि आकाश तप्त बालू की वर्षा करने लगा है। कृषि अन्न नहीं, उपल उपजाने लगी है। नटी ने बताया था—"स्वामिनी, हम वाराणसी राज्य का ग्राम-ग्राम घूमते-ढूँढते प्रत्यन्त के कोटि ग्राम में पहुँचे। हम ने सदा की भाँति वहाँ भी ढोल बजा कर जन-समुदाय को एकत्र किया। फिर काफ़ी लोगों के जमा हो जाने पर अपने नट शिल्प का प्रदर्शन किया। जब मेरा नट माया अंगारों पर चलने का खेल दिखा रहा था तब मैं ने मधुर स्वर मे आप की बतायी गाथा गायी थी :

यन्तं बसन्त समये, कणवेरे सुभानु सु
सामं बाहाय पीडेसि, सा तं आरोग्यमब्रवि।

मैं ने बार-बार गा-गा कर ध्वनित किया था—ओ प्रिय, तू ने वसन्त काल में लाल कनेर के वृक्षों के बीच मे अपनी जिस प्रिया के प्राण लेने का उपक्रम किया था वह अपने आरोग्य का सन्देश भेज रही है। लौट भी आ, प्रिय !

दर्शक समाज ने इस गाथा का अर्थ माया-अंगारों पर चलते मेरे प्रिय नट के प्रसंग मे ही लगाया। पर खेल समाप्त होने पर जब सब दर्शक चले गये तो साल वृक्ष-सा बलिष्ठ, कदम्ब-सा मनोहर और पारिजात-सा दिव्य पुरुष रुका रह गया। उस ने गाथा के उत्तर में कहा—"तेरी बात का विश्वास नही होता। भला कहीं वायु भी पर्वत को उड़ा ले जा सकती है? पर्वत उड़ा सकेगी, तो क्या पृथ्वी को नहीं बहा ले जायेगी ? भला जो मृत है वह भी अपने आरोग्य का सन्देश भेज सकती है?"

सामा ने सुना और रो पड़ी—"ओः ! तुम मुझे उस के पास ले चलो। मुझे देख कर उसे प्रत्यय हो जायेगा कि मैं जीवित हूँ।"

नट ने पीड़ित स्वर मे कहा—"स्वामिनी, हम ने उसे शपथपूर्वक आप के आरोग्य का विश्वास दिलाया और कहा कि वह एक भर्त्ता वाली सामा एकमात्र तुम्हारी ही कामना करती है।" इस पर उस ने उपहास से कहा था : "उस अध्रुव-स्वामिनी का मुझे विश्वास नही। अब मै तभी लौटूँगा जब—"

नट सहसा चुप हो गया था। उद्विग्न सामा ने पूछा—"बोलो बन्धु ! कब ? भला कब ? किस प्रत्यय के बाद मेरा वह प्रिय लौटेगा ? यदि इन नेत्रों को निकाल कर प्रत्यय—चिह्न-स्वरूप उस के पास भेजूँ और तब वह लौटे तो ऐसा ही करो। यदि मेरे रक्त मे लिखे निवेदन पर ही उसे विश्वास हो तो वह भी करो। बोलो, बन्धु ! चुप क्यों हो गये।"

नट का बोलने का प्रयास विफल होता जा रहा था। नटी ने गीले नयनों से किसी प्रकार कहा—"स्वामिनी, उस हठी ने यही

कहा कि जब गगा कुमुदों वाले सरोवर-सी शात हो जायेगी, कोकिल शख-सी शुभ्रवर्णा हो उठेगी, जम्बु वृक्ष पर ताड के फल लगेंगे, अब तो मैं तभी लौटूँगा।''

"स्वामिनी, हमारे अनुरोध पर उस ने फिर फिर कहा—जब कछुए के लोमो के शीतकाल के उपयुक्त तीन प्रकार के कम्बल बन सकेंगे मैं तो तभी लौटूँगा।

"उस का हठ अद्भुत है, स्वामिनी! वह कहता है कि जब मच्छरो के दाँतो की सुन्दर और दृढ अट्टालिकाएँ बन सकेंगी तभी मेरा लौटना सम्भव हो सकेगा। जब स्वर्गारोहण के लिए खरगोश के सीगो की सीढी बन सकेगी तभी मैं लौटूँगा। जब चूहे सीढी पर चढ कर चन्द्रमा को खा डालेगे और राहु को गिरा देंगे तब मैं अवश्य ही चलूँगा। जब मक्खियाँ सुराघट का पान कर अगारो को उपनिवेश बनायेंगी, तभी मैं लौटूँगा। हाय स्वामिनी, उस निठुर ने एक से एक असम्भव बाते कहते हुए कहा था कि जब किलक पक्षी गन्धमादन पर्वत को अपनी चोच में दबा कर उड चलेगा तो मै निश्चय ही लौट चलूँगा। स्वामिनी, लगता है वह प्रव्रज्या ले लेगा।''

नटी का वाक्य समाप्त भी न हुआ था कि सामा उस के वचनो के निर्दय आघातो से मूर्च्छित हो कर गिर पडी। तभी सुलसा शीतल सुगन्धित जल ले कर दौडी थी और उस के प्रयत्नो तथा शुक के 'कालदेवल, कालदेवल' के स्वर ने किसी प्रकार उस को चैतन्य दिया।

नट-नटी को समुचित रूप से पुरस्कृत कर के उस ने लौटा दिया था। उन के लौटते ही वह भूमि पर गिर कर क्रदन करने लगी थी। सुलसा ने किसी प्रकार आश्वस्त करने का प्रयत्न करते हुए कहा था "देवि, यो दीन-मलिन न हो। वाराणसी के विश्वविख्यात जनपद की आप श्री है। यहाँ के कला-रसिक और रूप-पारखी समाज को आप पर गर्व है। एक सहस्र स्वर्ण-मुद्राएँ ले कर आने वाला जन ही देवी के प्रसाद का सुख पाता है। आप ने जब से अपनी अस्वस्थता की घोषणा कर श्रेष्ठिपुत्रो को निराश किया तब से नगर में उल्लास का नाम भी नही रह गया है। देवि, आप को तो विधाता ने लक्ष-लक्ष जनो को कृतार्थ करने भेजा है। फिर आप उस एक पाषाण के लिए क्यो अपना सिर फोड रही है। देवि, जाने कितने काल से गगा के वक्ष पर एक भी ऐसा बजरा नही तिरा जिस पर से नृत्य-गान और वशीवादन के मोहक स्वर उठते हो। यो म्लान हो कर आप हमारे इस नगर को श्रीहीन न कर डाले।''

सामा ने आँसुओ से भीगा मुख उठाया। पिंजरबद्ध शुक 'कालदेवल, कालदेवल' की रट लगाने जा ही रहा था कि अपनी रूपवती स्वामिनी को अश्रुस्नात देख कर गूँगा हो गया। सामा ने सुलसा के स्नेहपूर्ण मुख को देख कर कहा, "प्रिय सखि, हृदयो की विजय मेरी लीला थी। पर उस निठुर ने इस लीला मे मुझे ही विजित कर दिया। मेरे हृदय की वशी से अब केवल उस एक के ही स्वर फूट सकेंगे। मेरे रूप की वीणा पर अब एक उसी का राग झकृत हो सकता है। इस निर्वाण

और मोक्ष के पुजारियों ने नारी को कामिनी, चंचला, प्रमदा आदि जाने क्या-क्या कहा। पर कहीं वह एकनिष्ठ भी है। गंगा की धारा और चन्द्र की सुधा-सी भी है यह उन्होंने नहीं जाना। सुलसा, मैं उस निठुर के बिना नहीं जी सकूँगी। तू उस मृत्यु-दण्ड के भागी को नगरगुप्ति से छुड़ा कर लायी थी न? उस पराङ्मुख को एक बार फिर ले न आ, प्रिय सखि!"

सामा फिर रो उठी। सुलसा दीन हो बैठी रही। सामा ने रोते-रोते प्रवंचना से भरे अतीत का स्मरण किया और सब-कुछ जानने वाली सुलसा को ऐसे सुनाने लगी जैसे कोई नयी बात हो—"हाय सुलसा, मैं तब उस गवाक्ष पर खड़ी ही क्यों थी। अचानक मेरी दृष्टि उस असामान्य पुरुष पर पड़ गयी थी। शृंखलाओं से बँधा और दण्डधरों से घिरा वह सिह के समान चल रहा था। साल वृक्ष-सी उस की भुजाएँ उस के असीम बल की द्योतक थीं। मुख ऐसा कान्तिमान् था जो पृथ्वी-भर के समस्त पुरुषों का उपहास-सा करता लगता था। उस ने अवश्य ही कोई भयानक अपराध किया था पर तब मुझे उस के अपराध का ध्यान ही नही आया था। मैं ने जीवन में अपने अनुरूप किसी पुरुष को देखा ही नही था। उसे देख कर मुझे लगा कि नेरे मन का चित्र यही है। यही वह पुरुष है जिस की भार्या ध्रुवस्वामिनी हो सकती है। मैं कदाचित् वारवधू इसी की प्रतीक्षा मे बनी। हाय, मेरा मन हुआ कि उस शृंखला के स्थान पर रेशम की डोर वन कर नहीं, फूलों की रज्जु बन कर उस से लिपट जाऊँ। सुलसा, भूल गयी क्या कि मैं ने उसे किस कौशल से मुक्त कराया था?"

"स्मरण है स्वामिनी!" सुलसा ने कहा, "दासी को सब स्मरण है। आप ने एक सहस्र मुद्राएँ दे कर नगरगुप्ति के पास भेजा था। पर उस उत्कोच को स्वीकार करने में वह काँप उठा था। उस ने कहा था—यह भयानक डाकू है। राजाज्ञा से प्राण-दण्ड पा चुका है। इस के स्थान पर अन्य-जन मिले तभी मुक्ति सम्भव है अन्यथा—"

सहसा सामा चिल्ला उठी—"मैं उसे अपने अतिरिक्त किसी का नही होने दूँगी। किसी का भी नहीं होने दूँगी। मृत्यु का भी नही। कालदेवल! कालदेवल!!"

शुक भी चिल्लाया—"कालदेवल! कालदेवल!!"

सुलसा ने कोमल स्वर में कहा—"स्वामिनी ने तब भी यही कहा था। पर मुझे डर लगने लगा था उस पुरुष से। वह डाकू जो था। पर देवी को तो तलवार को निगलने वाले नट से भी अधिक कठिन कर्म करने वाले उस भयानक पुरुष से अनुराग हो गया था। मै क्या करती। मै कैसे देवी को उस मार्ग से परावर्तित करती।"

कितनी ही देर से गूँगी-सी बैठी सारिका सब को बोलते देख परेशान हो उठी थी। उस ने अपने सदा के जाने नाम को पुकारा—"महाधन! महाधन!!"

सामा चिल्लायी—"हा, महाधन तो मृत्यु को प्राप्त हुआ, पर उस की दी हुई यह

कुटिला मैना उस का नाम ले-ले कर जैसे मेरी मृत्यु को ही बुलाती है। सुलसा, इस कलमुँही की गरदन तोड दे।"

और वह रो पडी। सुलसा मन ही मन सोच रही थी—उस निष्ठुर कालदेवल के लिए क्या नहीं किया स्वामिनी ने! श्रेष्ठिपुत्र महाधन नित्य सहस्र मुद्राएँ ले कर देवी के प्रसाद के लिए आता था। देवी ने उस से छल कर के कहा कि मेरे भाई को नगर कोतवाल पकड ले गया है। ये सहस्र मुद्राएँ देने से उसे वह छोड देगा। तुम सुलसा के साथ जा कर उसे छुडा लाओ। मैं आभार मानूँगी। मेरा भाई निर्दोष है।

उस के बाद जो कुछ हुआ वह कम भयानक न था। उस की स्मृति सुलसा को अब भी भयभीत कर डालती थी। कालदेवल डाकू मुक्त हुआ। श्रेष्ठिपुत्र महाधन बन्दी और उसी रात्रि को उस डाकू के स्थान पर उस निर्दोष का वध हुआ। सुलसा सहसा कह बैठी, "स्वामिनी, वह अनेक जन्मों का डाकू था। उसी के कारण श्रेष्ठिपुत्र मारा गया। उसी ने धन के लोभ से तुम्हारी हत्या का प्रयत्न किया और तुम्हें विपुल धन-राशि से वंचित किया। वही अब ऐसे हृदय-हीन सन्देशे भेज रहा है। तुम युवती हो, रूपवती हो, अब भी तुम्हारी साँसों का स्पर्श पाने के लिए श्रेष्ठिपुत्र तुम्हें स्वर्ण और रत्नों से तौलने को तैयार हैं। उस पाषाण को भूल भी जायें, देवि!"

पर अन्तरंग सखी की इस बात पर तो सामा और भी विकल हो कर रो उठी थी—

"नहीं! सखि, ऐसा मत कहो। वह मेरी कामनाओं का पुरुष है। उस के अत्याचार मेरे लिए पुरस्कार हैं। मैं उस से वंचित हो कर नहीं जी सकती। तुम भिक्षु माणवक को बुला लाओ। वह अवश्य ही उसे लौटा लायेगा। विहार से भी लौटा लायेगा।"

"पर देवि", कुछ संकोच के साथ सुलसा बोली—"इस निषिद्ध वेला में विहार में कैसे प्रवेश कर पाऊँगी?"

सामा बालिका-सी बोली—"मैं नहीं जानती, सुलसा! जहाँ हवा जा सकती है, तू भी पहुँच सकती है। तू भिक्षु माणवक को बुला। वैसा सन्देशा भेजने वाला जरूर ही प्रव्रज्या ले लेगा। हाय, कहीं ले ही न चुका हो। भिक्षु माणवक उसे मेरे अनुराग का प्रत्यय करा लौटा लायेगा। मेरा प्रिय मुझे इस तरह नहीं भुला पायेगा। जब उसे कोई मिष्टभाषी उन रात्रियों के जल-विहार और वन-उपवन विहार की स्मृतियाँ दिलायेगा जिन में मैं उस की एकमात्र सहचरी थी तो वह कभी भी वहाँ रुका न रह सकेगा, प्रिय सखि, हाय, तब पलास-वन कैसा फूला था—जैसे आकाश शुक-चंचुओं से भर उठा हो। मैं ने यही उपमा दी थी। हाँ याद आया। कुछ और भी कहा था—लगता है नभ का दहन हो रहा है। तारे अंगारे हो कर धरती तक झूल आये हैं। पर उस चतुर ने कहा था—नहीं प्रिये, नहीं। ऐसा कुछ भी तो नहीं। लगता है तुम्हारे अधरों को इस दुष्ट पवन ने मनमानी कर के छू ही लिया है। और अब अपना अपराध छिपाने के लिए वह

लाली अम्बर के अंचल से पोंछ डाली है।" इतना कह कर उस दुष्ट ने""हाय उस पत्रन से भी हठीला, निर्दय, पर प्यारा था। पर वह यह सब कैसे भूल गया। तुम अभी जाओ सुलसा, माणबक के पास। भिक्षु मेरे इस सन्देश को कुशलतापूर्वक उस तक पहुँचा सकेगा। यदि उस ने बुद्ध की शरण जा कर उप-सम्पदा भी पा ली होगी तब भी मेरी अधर-सम्पदा पाने लौट आयेगा। सुलसा, वह अवश्य लौटेगा।"

सुलसा भिक्षु माणबक को बुलाने चली गयी थी। सामा अपने अतीत की हार-जीत की स्मृतियों में खोयी रही। उसे तण्हा से पीड़ित जान एक दिन यही सुलसा, थेरी पटाचारा को भी बुला लायी थी। सोचा था कदाचित् सामनेरी की धर्मदेशना से स्वामिनी का चित्त-मल दूर हो और कालदेवल के वियोग को भूल अपने कर्म में प्रवृत्त हों।

सामा के नेत्रों में सामनेरी पटाचारा प्रत्यक्ष हो उठी थी। फूले हुए कास की झाड़ी-सी शान्त। पर उस के वचन न तो तब उसे कालदेवल से पराङ्मुख कर पाये थे और न आज ही उन का स्मरण वैसा करने मे सहायक हो पा रहा था। पटाचारा ने कहा था—"आयुष्मति, तुम्हारा यह राग नन्दिराग है। भवतृष्णा का ही यह एक रूप है। यह तृष्णा भवनेत्री है। कुमार्ग पर ले जाने वाली। रसों के उपभोग से कभी रसों मे विरति नहीं होती। आयुष्मति, इस भवनेत्री से मुक्त होना है तो सुगत के बताये मार्ग पर चल।"

सामा पीड़ित थी। सामनेरी की धर्म-देशना उसे कटु ही लगी थी। फिर भी उस ने उस से तर्क किया था—"थेरियों में श्रेष्ठ पटाचारा से एक बात पूछूँ—क्या वे सभी भिक्षु-भिक्षुणियाँ मुक्त हो गये है जिन्होंने उप-सम्पदा पा ली? क्या उन में से कोई भी अब रसों मे आसक्ति नहीं रखता? क्या वे सभी नन्दि से मुक्त हैं?"

"नही, उपसिके!" सामनेरी ने कहा था—"अर्हत पद बड़ा दुर्लभ है। बुद्धत्व उस से भी दुर्लभ। तथागत ने तो तण्हा के उच्छेद का आर्य-अष्टांगिक मार्ग बताया है किन्तु उस पर बिना भूल किये चलना बड़ा कठिन है।"

इस पर सामा कुछ तिक्त हो कर बोली—"तो देवि, तथागत से कहो कि पहले उन्हे शुद्ध बुद्ध बना लें जो उन की उपसम्पदा से धन्य हो चुके हैं। सामा तो वारांगना है, उस का पथ उन से भिन्न है!"

सामनेरी इस उत्तर से विचलित न हुई थी। उस ने कहा था—"आयुष्मति, इस रूप, यौवन और रसोपभोग के सामर्थ्य की नश्वरता पर तो विचार करो। अपना विक्रय कर तुम जिस अतुल धन का संचय कर रही हो वह अवश्य ही बढ़ता जायेगा, पर उसी अनुपात में यह रूप-यौवन और रस-भोग की शक्ति घटती जायेगी तब उस का क्या उप-योग रह जायेगा, आयुष्मति! भवसागर को पार करने के लिए बुद्ध के वचनों का बेड़ा चाहिए ही। तुम वही करो जो सुमंगल माता ने किया। जब उसे भगवान् की कृपा से बोध होता है तो वह कहती है—अहो मैं मुक्त। मेरी मुक्ति धन्य। मूसल ले कर धान कूटती

थी, उस से भी मुक्त। स्वामी जिन डडियो मे छाते बनाते थे मैं उन से भी क्षीण थी। पर आज जीवन के मलो और आसक्तियों को त्याग जब वृक्ष-मूल में बैठ ध्यान कर विहार करती हूँ तो कितने सुख का अनुभव करती हूँ।"

सामा चुप थी। सामनेरी कहती गयी—"मुक्त-भिक्षुणी को ही लो न। कोशल जनपद के दरिद्र ब्राह्मण की कन्या। पति मिला तो वह भी कुबडा। पर प्रव्रज्या ग्रहण कर उस ने ओखली से, मुसल से, और उस कुबडे पति से मुक्ति पा ली। तभी उस ने कहा—"मैं जरा-मरण से भी मुक्त हो गयी। मैं ने भव-जाल काट फेका।"

सामा दबे हुए उत्तेजन के साथ बोल उठी—"पर, मुझे ओखली और मुसल से त्रास नही। मैं उन से मुक्त हूँ। मैं न तो दरिद्र पति की भार्या हूँ और न ही कुबडे पति की। सामनेरी मुझे क्षमा करे। मेरे रूप की धार कुण्ठित नही हुई।'

पर सामनेरी की निष्ठा अडिग थी। कहती गयी—'शुभे, तो थेरी शुभा की मंगल-मय गाथा सुनो। राजगृह के प्रतिष्ठित ब्राह्मण कुल की शुभा असाधारण रूपवती थी। ठीक तुम्हारे ही सदृश। भगवान् के उपदेशों ने उसे मार्ग दिखाया। गौतमी ने उसे प्रव्रज्या दी। एक बार उस रूपवती भिक्षुणी मे आसक्त हो कर एक लम्पट युवक ने उस के रूप की स्तुति की। उसे काषाय वस्त्र त्याग कर पुष्पित वन में रमण करने का प्रलोभन दिया। युवक को उस के सुन्दर अंगो में आसक्ति थी। वह जान थेरी शुभा ने अपने नेत्र निकाल उस धूर्त की हथेली पर रख दिये। ऐसा कर के थेरी शुभा ने उस रूप की निःसारता ही तो प्रमाणित की।"

सामा कुछ उग्र हो कर बोली—"आर्ये, तब तो जीवन की निःसारता का प्रमाण देने के लिए आत्म-हत्या ही क्यो न कर ली जाये?"

इस बार पटाचारा विचलित हुई थी। फिर सँभल कर बोली—"शुभे, मेरा अपना जीवन भी एक दृष्टान्त है। मेरा प्रारम्भिक जीवन बडा ही निन्दनीय था। श्रेष्ठि कन्या होने पर भी अपने ही एक नौकर के मोह में फँस कर गृह त्याग दिया था। फिर दो बच्चो की माता बनी। पर एक दिन वन मे सर्प ने पति को डस लिया। एक बच्चा जल में डूब मरा और जो दूसरा एकदम छोटा था उसे कोई पिशाच पक्षी ले उडा। अपने जिन स्नेहियो को छोड कर मैं आयी थी वे भी छत से दब कर मर चुके थे। मैं दुःख के भँवर में पडी थी। तब भगवान् के उपदेशों ने मेरे मन को अमित और अनन्त सुख का दान दिया। आयुष्मति, रसो में आसक्ति रखने वाले जीवन के पास इन कष्टो के अतिरिक्त कुछ भी तो नही है देने को।"

सामा सहसा उठ खडी हुई थी। उस का स्वर तीव्रता के कारण विकृत हो गया था। उस ने चिल्ला कर कहा था "सामनेरी, तुम्हारे विरागी जीवन के पास ही क्या है देने को? आज भी तुम्हें भिक्षाचार पर निर्भर रहना पडता है। गृहस्थो के दिये हुए चीवरो

से अंगों को ढँकती हो, और उन से प्राप्त नमक-खटाई से जिह्वा के रस को उत्तेजित करती हो। अभी मेरे घर की छत नही टूटी। जिस दिन वह गिर जायेगी, उस दिन मैं भी तुम्हारे भगवान् की शरण में आ कर उपसम्पदा की भीख माँगूँगी। अभी आर्ये, मेरे चित्त की शान्ति भंग न करें।"

थेरी पटाचारा अनावृत होने पर भी शान्त भाव से चली गयी थी। पर सामा ने जिस शान्ति की दुहाई दी थी वह कहाँ थी उस के पास। न तो तब थी और न अब ही। इस घड़ी वह सोच रही थी कि कालदेवल नही लौटा तो वह इस जीवन को धारण नही कर पायेगी। अवश्य ही विषपान कर लेगी या सामनेरी पटाचारा से जा कर उपसम्पदा की भीख माँगेगी।

तभी उस ने देखा, सुलसा उपस्थित थी और साथ ही भिक्षु माणवक। भिक्षु ने रसिक की नाई कहा—"कहो सुन्दरि, इतनी मलिन क्यों हो? रात्रि के निभृत मे भिक्षु का स्मरण क्यों किया?"

सामा ने घृणा से उस के चीवर में लिपटे शरीर की ओर देख कर कहा—"तुम मेरे कालदेव को लौटा लाओ भिक्खु, मै बदले में तुम्हे दुर्लभ रसों से तृप्त कर दूँगी।"

भिक्षु ने कहा—"माणवक का रसों की तृप्ति मे विश्वास नहीं है, सुन्दरि! अतृप्त रह कर बार-बार रस लेना चाहता हूँ। पर तुम्हारी प्रार्थना को टालूँगा नहीं। सुलसा से मैं ने सब वृत्तान्त जान लिया है। पर कहाँ है कालदेवल? उस का अभिज्ञान-चिह्न क्या है?"

पीड़ित स्वर में सामा बोली—"यह तो नही जानती, भिक्षु, कि वह कहाँ है। लगता है वाराणसी जनपद के ही किसी विहार मे उस ने शरण ली है। पर अभिज्ञान तो उस का अत्यन्त सरल है। उस जैसा रूपवान् व्यक्ति इस धरा पर अन्य नहीं।"

माणवक हँस पड़ा—"सुन्दरि, यह अभिज्ञान मेरी तभी सहायता कर सकेगा जब मैं विश्व-भर के पुरुषों को एकत्र कर पाऊँ। कोई सूक्ष्म अभिज्ञान हो तो बतायें।"

सामा चुप ही थी कि सुलसा बोल उठी—"मैं बताऊँ, भिक्षु? 'कनेर के लाल-लाल फूल' कहने से जो प्रांशु व्यक्ति चौंके उसी को कालदेवल जानना।"

माणवक ने हँस कर कहा—"कर्म कठिन है पर प्रयत्न करूँगा। अच्छा देवि, भिक्षु को पाथेय दें।"

सुलसा ने उत्तम व्यंजनों से उस का भिक्षा-पात्र भर दिया जिसे वह चीवर से ढँक कर चल दिया। उस के चलते-चलते सामा ने दीन स्वर में कहा—"भिक्षु, आज अमावस्या है। मैं चन्द्र के सोलह कलाओं से पुष्ट होने की प्रतीक्षा करूँगी। यदि तब तक न आया तो उस कनेर के वृक्ष के तले ही प्राण त्याग दूँगी।"

भिक्षु उस के शब्दों का कम और भिक्षा मे प्राप्त व्यंजनों के विषय मे अधिक चिन्तन करता हुआ चला गया। उस के जाते ही सामा घुटनों मे मुँह छिपा कर रोने लगी थी। सुलसा विवश-सी दीवार से पीठ लगाये खड़ी

रही। मुग्गा और मैना सो चुके थे। उन में से किसी ने भी न तो कालदेवल को पुकारा और न महावन को।

सोलह कलाओं का चाँद उग आया था। पर भिक्षु माणवक न लौटा था। सामा सोलह शृंगार किये गवाक्ष से लगी खड़ी थी। सुलसा भयभीत-सी उस की चित्त-विकृतियों को देख रही थी। सामा कहती—"आज कनेर खूब फूला है न? चाँदनी रात में लाल-लाल कनेर। हाय कितना प्यारा लग रहा है।" फिर रुक कर कहती—"वह जरूर आयेगा। मेरा प्रिय। अवश्य आयेगा। जिस कनेर के वृक्ष के नीचे उस ने मुझे मृत जान कर छोड दिया था उसी कनेर के तले जब आभूषणों से मण्डित मेरे देह का आलिंगन करेगा तो वह कितना सुख पायेगा। सुलसा, मैं उसे वह सुख दूँगी, वह सुख दूँगी जो निर्वाण के प्रचारकों के पास भी नहीं, जो आज तक किसी स्त्री ने किसी पुरुष को न दिया होगा। पर वह आयेगा न?"

अन्तिम वाक्य में उस का स्वर टूट-सा उठा था। सुलसा काँप उठी थी। सामा कह रही थी—"नहीं, वह नहीं आयेगा। आना होता तो अब तक आ न जाता। सुलसा, अब मैं प्राण न रख पाऊंगी। कनेर के उसी वृक्ष के नीचे मरण का आलिंगन करूँगी। उसे मेरी वैसी ही मृत्यु अभीष्ट थी। मैं वही करूँगी। हाय, उस निठुर ने मुझ से ही क्यों नहीं कहा कि मुझे तेरे प्राण चाहिए। उसे भय था कि कहीं महावन की तरह किसी अन्य के लिए मैं उस की भी बलि न दे दूँ। इसी भय से तो वह मेरा अविश्वास करता रहा। अपने प्रति मेरी निष्ठा को न जान कर मेरे प्राण लेने का उपाय किया। हाय रे, अविश्वासी प्रवचक! तो तुझे प्राणों की ही बलि दूँगी।"

"स्वामिनी, स्वामिनी, ऐसी निर्दय बातें न कहें।" सुलसा रो पडी।

सामा ने पीडा से उबरने की चेष्टा करते हुए कहा—"अरी, निर्दय तो वह है। उस ने एक क्षण भी मेरा विश्वास नहीं किया। मुझे सदा वारवधू ही समझा। शायद अनेक पूर्व-जन्मों में भी ऐसा ही समझा। पर इस जन्म में मैं उस का निराकरण कर दूँगी। वाराणसी में गंगा उत्तरवाहिनी हो सकती है, तो वार-वधू भी अनुराग में ध्रुव हो सकती है। काल-देवल।"

कितनी ही देर तक 'कालदेवल' शब्द की गूँज उस के कानों में बनी रही। सोता हुआ मुग्गा भी जाग कर चिल्ला उठा—"काल-देवल! कालदेवल!!"

अपशकुन-सी मैना भी चिल्ला उठी—"महावन! महावन!!"

सामा अधीर हो उठी—"ओ, यह कलमुँही नहीं मानती। यह अशुभ की घोषणा कर रही है। वह चन्द्रास्त से पूर्व नहीं आया तो तो "

सामा बोलते-बोलते हठात् रुक गयी। जैसे पीडा ने ही कण्ठावरोध कर दिया हो। गवाक्ष से बाहर दूर-दूर तक निराश दृष्टि को फेंक कर फिर उसे अपने हर्म्य में ही समेट लिया। क्षण-भर चुप रह कर बोली—"सखि सुलसा, तो मैं उपवन में चली। उन फूले-फूले

कनेरों के पास ।"

सुलसा ने आतंकित भाव से कहा—"स्वामिनी, तुम अकेली नहीं जायेगी," सुलसा ने आतंकित भाव से कहा—"स्वामिनी, तुम अकेली नहीं जाओगी, सुलसा भी साथ जायेगी ।"

सामा ने हर्म्य की सीढ़ियों से उतरते-उतरते उसे शपथपूर्वक रोक कर कहा—"नहीं सुलसा । मेरा प्रिय कालदेवल आयेगा । अवश्य आयेगा । तू उसे बताना कि मैं वहाँ हूँ । मैं वहाँ ही मिलूँगी । उसी फूले हुए कनेर के नीचे ।"

सुलसा रुक गयी । सामा उपवन की ओर बावली-सी दौड़ गयी । सुलसा उस की पदध्वनि सुनती रही । जब वह शीघ्र ही क्षीण हो गयी तो गवाक्ष से अस्तमान चन्द्र को निहारती रही । उस ने साँस रोक-रोक कर उस के अस्त की घड़ी को टालना चाहा । गवाक्ष से जब चन्द्र का दीखना बन्द हो गया तो वह छत पर चली आयी । चन्द्र मलिन पड़ने लगा था । प्राची में उस की पीठ पीछे नये प्राणों का संचार हो रहा था । सुलसा को शुभ्र से पीत और पीत से धूसरित होते चन्द्र स्वामिनी सामा का म्लान मुख ही दिखाई पड़ रहा था । तभी उसे भिक्षु माणबक का स्वर सुनाई पड़ा—"देवि, लो मैं आ गया । भिक्षु बन कर भी पूर्व भार्या के लिए विकल रहने वाला यह कालदेवल भी आ गया । तो पहले मुझे रसों से तृप्त करो, तभी कालदेवल तुम्हारी सुरभित साँसों से सरस हो सकेगा ।"

सुलसा ने सुना । उसे अपनी अश्रुपूर्ण आँखों से अब हतप्रभ चन्द्र नहीं दिखाई दे रहा था । भिक्षु का स्वर सुन कर पीछे की ओर मुड़ी तो प्राची मे उषा इठला रही थी । अरुण सूर्य के रथ में महान् गति वाले अश्वों को जोड़ रहा था । अब तो वैसी ही गति वाले अश्व उसे भी मिलें तो वह स्वामिनी की प्राण रक्षा कर पाये, उस ने पीड़ित हो कर प्राची को देखा । अब वहाँ रहा ही क्या होगा जहाँ कनेर के असंख्य लाल-लाल फूल खिल उठे थे । वह समीप ही खड़े कालदेवल से कुछ भी तो नहीं कह पायी । रोने से लाल कनेर के फूल-सी आँखों को ढँक कर जहाँ की तहाँ बैठ गयी ।

[अक्तूबर १९५८]

महाकवि बिल्हण की प्रणय-साधना

●

आनन्दप्रकाश जैन

केवल एक ही रस ससार में ऐसा है, जो लोहे के आदमी को भी मोम का पुतला बना देता है, और वह है 'प्रेम-रस'। मेरे सोने का कमरा इस रस मे पगे छह प्रणयी युग्मो के चित्रो से सजा है। इन चित्रो की छहो नार सौन्दर्य के देवता की पसलियाँ है। बिल्व-मगल का चिन्तामणि, गग कवि की लवगिका, पृथ्वीराज की सयोगिता, बाजीराव की मस्तानी, बाजबहादुर की रूपमती और महाकवि बिल्हण की शशिलेखा। एक जमाने मे इन्होने प्रेमरस का पान किया था। किसी अनूठे चित्रकार ने रसपान के समय उन की अलौकिक मुद्राएँ भाँप ली और उन्हे खीच दिया।

और उस दिन, जब सामने वाली पडोसिन देवरानी के घर रतजगा कर रही थी, मेरी भामिनी मैके मे तारे गिन रही थी और रामकिशोर के घर मैं ने लड्डू खाये थे। मैं सारे घर में अकेला था और रात को भी अकेला कुरसी पर मूढ बना बैठा था। मैं यह सोचने की कोशिश कर रहा था कि आखिर मैं दुनिया में ज्यादा दिन रह कर करूँगा क्या, जब कि कोई मेरी तसवीर नही बनायेगा—खास तौर से सातवी नार के साथ।

हो सकता है यह ख्याल महज एक बेवकूफी का ख्याल हो और मेरा झीखना बेफायदा हो, मगर सहसा ही मुझे ख्याल आया कि यह घर जो एक बहुत बडी हवेली है, इस समय सुनसान है, और यह बहुत पुराना है और प्रेत लोग ऐसे में बडी आसानी से मुझे धर दबा

सकते है। दूसरे ही क्षण मैं अपने इस बेहूदा ख्याल पर बड़े जोर से हँसा। मै उठा, मैं ने स्टोव पर गरमागरम चाय बनायी। एक प्याला भरा और उसे तश्तरी में रख कर उसी कुरसी पर आ बैठा। ऊपर को पुतलियाँ चढ़ा कर मै ने तन्मयता से चाय की भाप की चुस्की लगायी और प्याला रख दिया। चाय में से भाप लहराती हुई उठी और दीर्घाकार होती चली गयी। अब कमरे में भाप की एक स्वच्छ चादर-सी तन गयी, जिस मे उन छहों तसवीरों की झलक-भर नजर आती थी।

मैं ने खूब आँखें फाड़ कर देखा और घबरा कर कुरसी से उठ खड़ा हुआ। चाय के प्याले के पास एक अधफ़ुटा आदमी खड़ा था। चश्मा उतार कर लैंस पोछे—मगर बेकार। एक हरे रंग का अंगरखा उस आदमी के गले मे था, जिस की खुली हुई छाती पर एक ताजे फूलों का हार लटक रहा था। पैरों मे चुस्त धोती थी, माथे पर स्वच्छ पीले चन्दन का तिलक था, कानों मे मुरकियाँ थी और बाल कवि-कट थे।

"कौन हो तुम ?"

अधफ़ुटे आदमी ने अपनी पूरी बाँह उठा कर ऊपर दीवार की ओर संकेत किया। मेरी नज़र ने संकेत का पीछा किया और मै ने देखा कि दीवार पर सामने वाली तसवीर मे से एक प्रणयी का पूरा आकार गायब है।

"देखा तुम ने ? हम वहाँ से उतर आये," उस ने कहा।

"बड़ी कृपा की," मै ने कहा, "चाय पीजिए।"

"यह औषध जो तुम ने दूध में पानी मिला कर तैयार की है, क्या इसी से हमारा स्वागत करने का विचार है ?" उस ने पूछा।

"यह औषध नहीं, चाय है।" मै कहने लगा।

"जो भी हो," उस ने कहा—"हम दूध पीते है।"

"दूध।"

"हाँ, केशर-कस्तूरी मिला हुआ, जिस में छुआरे और मुनक्का का पाक होता है।"

"आप किस तरह के प्रणयी है ?" मै ने पूछा, "मजनूं रेगिस्तान की धूल फाँका करता था—फरहाद हवा गटकता था—"

"प्रणय केवल दुग्ध-सेवन से ही सम्भव है," अधफ़ुटे महाशय बोले, "तुम ने हमे पहचाना नहीं। हम महाकवि बिल्हण हैं—चालुक्य सम्राट् विक्रमादित्य के राजकवि अनहिलपट्टण के राजा महाराज वीरसिह जी की कन्या के एकमात्र अवबोधक।"

"ओह !" मै बीच मे ही बोल पड़ा, "राजकन्या शशिलेखा के ट्यूटर थे आप ?" सुना है यह ट्यूशन तो काफ़ी रोमांटिक रहा था—क्या यह सच है ?"

"तुम ने उस महाभागा का नाम शुद्ध नही लिया", महाकवि ने अपनी एक टिन्नी-सी उँगली उठा कर कहा, "वह शशिलेखा नहीं थी, रतिलेखा थी। चन्द्रमा बहुत दूर होता है। उस की कोई पर्याय हमे रुचिकर नही।"

मेरा भय जाता रहा। मै अब इत्मीनान

से अपना कुरसी पर वैठ गया और एक पुस्तक महाकवि के पीछे रख कर मैं ने उन्हें वैठने का संकेत किया। महाकवि उस पुस्तक पर वैठ गये, जैसे कोई प्रतीक्षारत प्रेमी किसी विस्तृत चवूतरे पर/पाँव लटका कर वैठ जाता है।

"महाकवि, आप वहुत अच्छे मौके पर आये। मुझ अवोध का साष्टाग प्रणाम स्वीकार करें," यह कह कर मैं ने चाय का प्याला चुस्की लेने के लिए उठाया।

"तुम औषध-पान करो—तुम्हारे हृदय मे श्रद्धा विलकुल नही। ऐसी अवस्था में हम प्रणाम स्वीकार नही करेंगे," महाकवि कवि-सुलभ नखरो के साथ वोले, "हम तो इस लिए अवतरित हुए थे कि हमें ज्ञान की पिपासा है और हम जानना चाहते थे कि इस युग में प्रणय-तत्त्व के आधार क्या है।"

मैं ने चाय की एक कडी चुस्की ली और वोला, "आजकल की परिपाटी पर आप को दया है। आजकल के ट्यूटर भी अपनी शिष्याओ के नाम शशिलेखा पसन्द नही करते।"

पण्डितराज क्रुद्ध हो गये, "तुम हम पर व्यग्य कसते हो। तुम लोगो को अभी यह भी ज्ञात नही कि प्रणय किस पक्षी की सज्ञा है?"

प्याला छलक गया। उसे मेज पर रखा और दोनो हाथ निरीह भाव से जोड दिये। कहा, "भगवन्, निश्चय ही मालूम नही है।"

महाकवि शान्त हो गये। दार्शनिक भाव से तिरछी गरदन कर के वोले, "महाराज वीरसिंह वहुत बुद्धिमान् शासक थे। मानव-हृदय की ऊर्मियो को पहचानते थे। इसी लिए यौवन के मेले में प्रवेश पा कर हतवुद्धि हुई अपनी कन्या का सासारिक प्रशिक्षण उन्होने हमारे हाथो में सौंपा था।"

"अवश्य सौंपा होगा", मैं ने कहा, "आप जैसा सकल-विद्या-विशारद उस समय पृथिवी पर अन्यत्र कही नही था यह मैं भली प्रकार जानता हूँ।"

"हम ने तरुणी राजकन्या को काव्य पढाया—और कुछ समय बाद ही हमें लगा कि यह कन्या काव्य का रसास्वादन करने में नितान्त असमर्थ है।"

"ठीक है, पण्डितप्रवर! मन्दवुद्धि जन काव्य का रस-पान नही कर पाते।"

"इस के वाद हम ने उसे धर्मशास्त्र मे पारगत करना चाहा—किन्तु कुछ ही दिनो में हमें लगा कि यह कन्या धर्म का मर्म समझने में भी नितान्त असमर्थ है।"

"यह भी ठीक है, महाराज। आस्थाहीन प्राणी धर्म के प्रसाद से सर्वदा वचित रहते है।"

"हम ने उसे नीति-शास्त्र पढाने की चेष्टा की, गृह-शास्त्र पढाने की धुन लगी—किन्तु राजकन्या ने प्रत्येक विद्या में उदासीनता का भाव दर्शाया।"

"अवश्य दर्शाया होगा, नीतिमना," मैं ने कहा, "आजकल के स्कूल-कॉलेजो में भी यह प्रवृत्ति सामान्यत परिलक्षित होती है।"

"हमें वडा क्षोभ हुआ", दुखी भाव से पण्डितराज वोले, "इतनी सुदर कन्या और प्रत्येक सासारिक विद्या से शून्य।—आह!

इस भाव से जब हम ने उसे एक दिन ताड़ना देने का विचार किया, तो हम ने आश्चर्य के साथ देखा कि यह तो सुन्दर है।"

"हाँ। यह बात आप ने आश्चर्य के साथ देखी ?" मै ने उत्सुकता से पूछा।

"हम ने पूर्ण विस्मय के साथ लक्ष्य किया कि जिस कन्या के अंग-अंग से सौन्दर्य फूटा पड़ रहा हो, वह बिना प्रणय-शास्त्र में गति प्राप्त किये अन्य किसी विद्या को ग्रहण करने में समर्थ नहीं हो सकती।"

"आप विश्वास रखिए, भगवन्, इस महान् तथ्य को आजकल भी ट्यूटर-जन उतनी ही गम्भीरता से लक्ष्य कर पाते हैं, और इस पर उन की प्रतिक्रिया भी उतनी ही तात्कालिक होती है।" फिर तनिक स्वर को धीमा कर के मैं ने निवेदन किया, "पण्डितराज, आप ने एक बहुत बड़ी सच्चाई को लक्ष्य करने में आवश्यकता से कही अधिक समय व्यर्थ गॅवा दिया। हम आजकल के अध्यापक-जन चार सन्ध्या बीतते-न-बीतते स्थिति समझ जाते हैं।"

पण्डितराज खड़े हो गये। क्रोध से काँपते हुए बोले, "यह असम्भव है। उस समय समस्त धरा पर केवल एक कन्या ऐसी थी, जिस के नेत्रों से उस का प्रणय झाँक रहा था—"

"काश कि पाण्डित्य कभी भ्रम का शिकार न होता—" मैं ने कहना चाहा, शायद कह भी गया।

पण्डितराज बरस पड़े : "चुप रहो।"

मैं ने चुप रह कर चाय पीनी आरम्भ की। दो ही तरह के लोगों के सामने चुप रहा जा सकता है—उत्कट पण्डित या वज्रमूर्ख ! पण्डितराज कौन-सी श्रेणी मे थे यह सिद्ध होना था।

क्रोध के कारण पण्डितप्रवर बौखला गये। कुछ कहना चाहते थे और उसी की लक्षण-स्वरूप अपने दायें हाथ की तीन उँगलियों को मेरे नेत्रों के सामने चौड़ा कर वह बार-बार हिलाने लगे। बोलने की चेष्टा करते-करते ही उन का स्वर साफ़ हुआ और वह कहने लगे : "देख रहे हो ?"

"तीन उँगलियाँ।"

"प्रणय-तत्त्व की उपस्थिति के तीन लक्षण होते है।"

"इस में कोई सन्देह नहीं कि यह संख्या विषम है," मैं ने कहा

"तुम बुद्धिमान् हो," पण्डितराज ने निर्णय देते हुए कहा।

"मालूम होता है आप हर तथ्य को देर में पहचान पाते है," मैं ने उपेक्षा से कहा।

"अच्छा बताओ कि ये तीन लक्षण क्या हैं ?" प्रश्न हुआ।

"ठहरिए, मैं सोच लूँ।"

मै ने दमादम चाय की तीन चुस्कियाँ ली और चमक कर बोला, "ठीक है—तीन ही लक्षण होते हैं।"

"क्या-क्या ?"

"भ्रम", मै ने कहा।

"हूँ।"

"आवश्यकता।"

"हूँ।"

"सम्भावना।"

"तुम मूर्ख हो।"

"भ्रम।"

"या जान-बूझ कर मूर्ख बन रहे हो।"

"आवश्यकता।"

"या केवल इस विषय में घोर अज्ञान के स्वामी हो।"

"सम्भावना" मैं ने कहा।

पण्डितराज प्रसन्न हो गये। बोले, "मुझे ऐसे व्यक्तियों के साथ वार्तालाप बहुत रुचिकर लगता है। मैं तुम्हे बताऊँगा कि प्रणय-तत्त्व के प्रथम तीन लक्षण क्या है और उपलक्षण क्या है। ध्यान दे कर सुनो।"

चाय की अन्तिम चुस्की ले कर मैं ने कहा, "मैं भी तैयार हूँ।"

"देखो, वत्स, तुम ने जो ये तीन लक्षण गिनाये हैं ये वास्तव में लक्षण नही है, उपलक्षणों में से कुछ है। प्रणय-तत्त्व के तीन प्राथमिक लक्षण है अपूर्णता, आकर्षण, अनुकूलता—तीन 'अ'कार।"

मैं प्रभावित हुआ—बोला, "इस में कोई सन्देह नही कि आप लोग ज्ञान को ध्वनि में बाँधने में सिद्धहस्त रहे है।"

"ध्वनि का सामजस्य स्मृति को तीक्ष्ण करता है," महाकवि ने कहा, "पूर्ण सौन्दर्य का साक्षात्कार कभी प्रणय से नहीं होता—वह सदा प्रणय के भ्रम में अह के बीज बोता है और उस का फल सदा विनाशकारी होता है। भ्रम प्रणय का उपलक्षण है, यथार्थ लक्षण नही, यही कारण है कि ससार की वास्तविकता में जिन्हें भ्रम होता है उन का प्रणय भी भ्रम-मात्र होता है और उस से सुख की उत्पत्ति नही होती।"

"आप की यह व्याख्या नवीन है," मैं ने प्रशसा के भाव से कहा, "सम्भवत यही कारण है कि आध्यात्मिक रीति से प्रणय करने वाले युग्मो का मिलन इस लोक में नही होता—अर्थात् वे 'हाय, हाय' कर के ही मर जाते है।"

"इस की व्याख्या तुम चाहे जहाँ तक फैला सकते हो", पण्डितप्रवर बोले, "एक व्याख्या यह भी है कि प्रणय के चारो ओर पूर्ण सीमाएँ बाँधने पर वह स्वत निस्तेज हो जाता है। यही कारण है कि विवाह-बन्धन में बँधा हुआ प्रणय उसी दिन से अपने नाश की घडियाँ गिनने लगता है, जिस दिन उसे अग्नि-प्रदक्षिणा करनी पड जाती है।"

"आप की व्याख्या के सम्मुख दास नत-मस्तक है, भगवन्," मैं ने हाथ जोड कर निवेदन किया।

"और वत्स, समझ लो, क्योंकि यह अवसर फिर नही आयेगा—अपूर्ण चेतन सदा पूर्णता की ओर स्वभावत गतिमान् रहता है और दो 'अ' भाव के मिलने से 'अ' का लोप हो जाता है। जब तक यह अपूर्णता विद्यमान रहती है, तभी तक प्रणय है, क्योंकि प्रणय शुद्ध तत्त्व है। उस मे मिलावट का स्थान नही।"

"यह ज्ञान मैं ने पूर्णत हृदयगम कर लिया, पण्डितराज।" मै ने कहा।

"राज-कन्या होने के नाते जिसे समस्त सासारिक सुख उपलब्ध थे, वही रतिलेखा

अपने अस्तित्व की अपूर्णता से ग्रसित होते हुए भी उस के प्रति अचेत थी। इसी कारण वह उन्मना थी। उस का सौन्दर्य पीड़ित था—और इस तथ्य को पहली बार लक्ष्य करने वाला बिल्हण पण्डित था।"

"यह अन्तर हो सकता है," मैं ने स्वीकार किया। इस अपूर्णता की ओर से आजकल प्रत्येक अपूर्ण प्राणी सचेत दृष्टिगोचर होता है।"

"यही बात मै इस युग के बारे मे जानना चाहता था," महाकवि ने कहा, "वत्स, प्रणय-तत्त्व का दूसरा लक्षण है आकर्षण। आकर्षण के लिए आकर्षक वस्तु के महत्त्व को अपने समस्त मानस से स्वीकार करना अतीव आवश्यक होता है—क्योंकि अहं की उर्वर भूमि मे आकर्षण का बीज अंकुरित नहीं होता। आकर्षण उसी वस्तु के प्रति होता है, जो हमारी अपूर्णता को पूर्णता की ओर ले जाने की क्षमता रखती हो। जिन लोगों को अपूर्णता भ्रमजनित अथवा क्षणिक होती है उन के लिए आकर्षक वस्तु का महत्त्व भी उतना ही भ्रमजनित व अस्थायी होता है। वत्स, यही कारण है कि प्रारम्भिक अपूर्णता का आकर्षण आकर्षक वस्तु के प्रति सब से अधिक तीव्र होता है। किन्तु प्रणय-तत्त्व के बीज वही फलित होते है, जहाँ प्रारम्भिक अपूर्णता दोनों ओर हो। मैं ने अपनी अपूर्णता की जो पूर्ति रतिलेखा के अस्तित्व मे पायी, उस से पहले कभी मेरा उस से साक्षात्कार नहीं हुआ था। इस लिए वह मेरे लिए आवश्यकता-मात्र नहीं थी, अनिवार्यता थी। यह अनिवार्यता आकर्षण के सर्वोच्च स्तर की परिणति है।"

"ठीक है," मैं ने कहा। "अर्थात् आप दोनों एक-दूसरे के प्रति उसी भाँति पिलपिले रहते थे, जिस तरह सीलन में गुड़ पसीजा रहता है।"

पण्डितराज को मेरी यह उपमा पसन्द नहीं आयी क्योंकि उन्होंने उसी समय अपनी नाक दबा कर बड़े ज़ोर से छींका। फिर वह बोले, "वत्स, तुम्हारा कभी किसी से प्रणय हुआ?"

"भगवन्, उभरती आयु में ही अपने प्रणय की तो हत्या हो गयी। पहली बार ही जिसे अनिवार्य-सा समझा, तुरन्त उस के साथ विवाह हो गया।"

"हमें तुम्हारे साथ सहानुभूति है," महाकवि बोले, "कारण कि भय के बिना प्रणय की गति नहीं, फिर भी भय प्रणय का लक्षण नहीं, उस का तीव्र संचारक माध्यम है।"

"यह बात समझ मे नही आयी, महाकवि।"

"बुद्धि पर जोर डालो, अवश्य समझ गतिवान् होगी," महाकवि करुणा प्रदर्शित करते हुए बोले, "इष्ट की प्राप्ति मे आशंका उस की प्राप्ति के प्रयत्नों को तीव्र करने का कारण बनती है। यह एक विकट तथ्य है कि प्रकृति इस से उलटा खेल भी खेलती है, अर्थात् इष्ट योग की कामना तभी तीव्र होती है, जब उसे प्राप्त करने में आशंकाएँ हों। जिसे अपना प्रेय सहज ही मिल

जाये उस के लिए प्रणय-तत्त्व अगम्य है।"

"इस का अर्थ हुआ कि प्रणय-तत्त्व की उपस्थिति के लिए प्रतिकूलता अनिवार्य है," मैं ने कहा।

"नही, वत्स," महाकवि व्यवस्थाकार की भाँति सहज भाव से बोले, "भय प्रणय के लिए अनुकूल परिस्थिति उत्पन्न करता है क्योंकि वही उस की तीव्रता का जनक है। प्रणय के लिए प्रतिकूल परिस्थितियों में आती है आयु की विषमता, किसी एक में उदारता का अभाव, सम्भावना का सम्पूर्ण अनस्तित्व। वत्स, मैं, विल्हण पण्डित, रतिलेखा का अवबोधक मात्र नही था, उस के मानस, उस के अन्तर, उस के मस्तिष्क के परिष्कार का उत्तरदायी था और राजा का विश्वासपात्र था। मेरे लिए आशकाओं से मिश्रित सुयोग पग-पग पर विद्यमान थे। उन सुयोगों का आभास पा कर ही मेरे अन्तर्मन ने वह युक्ति खोज निकाली, जिस के अन्तर्गत मैं ने रतिलेखा का कामशास्त्र पढाने का निश्चय किया—"

"आप ने रतिलेखा को कामशास्त्र पढाया?" मैं आश्चर्य से उछल कर बोला, "क्षमा कीजिए, पण्डितप्रवर, यह तो आजकल की भाषा में धर्त्तता की चरम—"

"वत्स," पण्डितप्रवर मेरी बात को बीच में ही काट कर बोले, "अपने ज्ञान की हीनता का प्रदर्शन इतने तीव्र शब्दो में मत करो।"

मैं चुप हो गया। पुराने पण्डित लोग आग्रहपूर्वक, बार-बार दूसरो को अज्ञानी बता कर ही अपना पाण्डित्य कायम रखते थे। अपने राम ठहरे नितान्त व्यावहारिक बुद्धि के जीव। दार्शनिकता जरा कम ही गले उतर पाती है।

पण्डितप्रवर आशा के प्रतिकूल एकदम रुष्ट बन कर बोले, "वत्स, क्या तुम्हारे मतानुसार कामशास्त्र गर्हित विद्या है?"

"बिलकुल नही," मैं ने कहा, "लेकिन किसी को फाँसने के लिए यदि इस का उपयोग किया जाये—"

"फाँसना" चकित-से पण्डितराज बोले, "यह कैसा अवैधानिक-सा शब्द तुम ने बोला। अरे, गर्दभावतार, कामशास्त्र पढाना बडे भारी उत्तरदायित्व का काम है। क्या तुम इस नियम को नही समझते कि उत्तेजित व्यक्ति कामशास्त्र के पठन-पाठन के अयोग्य होता है?"

"नही, महाकवि, मैं ऐसा नही समझता। कामशास्त्र का पठन पाठन कामुकता उत्पन्न करे, तो यह नितान्त स्वाभाविक है। कामुकता समझदारी का अनुपातत हनन करती है और शुद्ध प्रणय से कामुकता का कोई सम्बन्ध नही। प्रणय किसी उत्तेजक क्षण का फल नही, बल्कि दीर्घकालीन मानसिक व शारीरिक आवश्यकता की सम्मिलित पूर्ति की भावपरिणति है।"

"वत्स, तुम्हारे विचार सन्तुलन के द्योतक नही। कामशास्त्र के पठन-पाठन के समय उत्पन्न होने वाली स्वाभाविक उत्तेजना को मानसिक शमन के अभ्यास से निर्बल कर के विद्वज्जन आग्रहपूर्वक उस का पठन-पाठन

करते है। यदि तुम्हारी उक्ति ठीक होती तो महर्षि वात्स्यायन कभी कामसूत्र की रचना न कर पाते तथा गृहस्थ धर्म इस दृष्टि से सदा अपूर्ण रहता। तुम्हें यह जान कर आश्चर्य होगा, वत्स, कि रतिलेखा को कामशास्त्र पढ़ाने के दिनों मैं प्रतिदिन प्रातःकाल एकान्त में पद्मासन से निर्लेप-भाव की साधना करता था और जब तक यह अवबोधन निर्विघ्न समाप्त नही हो गया, तब तक मैं ने रतिलेखा के मुख को नहीं देखा—उसे निर्लिप्त रहने का आदेश दिया और ज्ञान की साकार मूर्ति को अपने मानस-मन्दिर मे प्रतिष्ठित कर के ही वह अबोध बालिका, इस विषय में यथोचित ज्ञान प्राप्त कर के एक पूर्ण नारी मे परिवर्तित हो पायी। जिस दिन कामशास्त्र का अन्तिम पाठ पूर्ण हुआ—उस दिन से आने वाले सात दिनो तक मैं ने राजभवन मे प्रवेश नहीं किया।"

मैं चकित था, "महाकवि बिल्हण को बारम्बार प्रणाम।"

"तुम्हे आश्चर्य होगा, वत्स, इस श्रम-साध्य अवबोधन के बीच मे और बाद में एक वर्ष तक रतिलेखा ने विद्याध्ययन में जो अनुराग दिखाया उस से वह अनेक गूढ़ शास्त्रों में पण्डिता हो गयी—और उस एक वर्ष के पश्चात् मै ने उस के मुख पर प्रणय का वह सात्त्विक भाव देखा जिस के कारण मुझे शूली की नुकीली नोंक देखनी पड़ी।"

"आप को शूली। किस अपराध में?" मै ने गरदन आगे को बढ़ाते हुए पूछा।

"प्रणय के अपराध मे," महाकवि ने निर्लेप भाव से ही उत्तर दिया।

"क्या राजा को पता चल गया?"

"रूप छिप सकता है, गन्ध नहीं छिपती," महाकवि बोले, "राजा ने कन्या की आँखों में स्पष्ट रूप से मद को लक्ष्य किया—और एक दिन जब हम गन्धर्व-विवाह सम्पन्न कर गन्धर्व-क्रीड़ा के लिए तत्पर थे, राजा ने चक्षु प्रमाण के बल पर आदेश दिया: प्रातःकाल सूर्योदय के पहले राजकवि का शरीर शूली पर विदीर्ण दृष्टिगोचर हो—"

"चरम-दण्ड।"

महाकवि के नेत्र चमक रहे थे। वह बोले, "—राजधानी के नर-नारियों को शीघ्र ही घटना का पता चल गया। किन्तु उस समय के लोग रसिक थे, रसराज का हृदय से अभिनन्दन करना जानते थे, स्थिति को अंगीकार करने के अभ्यस्त थे, प्रणय के सुख को समझते थे, और बिल्हण पण्डित का काव्य उन की जिह्वा पर था, उन्होंने राजभवनों से शूली तक जाने का मार्ग अपने अस्तित्व से पाट दिया—हर तरफ़ नरमुण्ड ही नरमुण्ड नजर आते थे। महाकवि बिल्हण/प्रणय के अपराध मे शूली पर। जन-जन की पुकार थी: यह नही होगा।"

"गुड। जनता ने प्रोटेस्ट किया?" मेरे मुँह से निकल पड़ा।

"हाँ, जनता ने राजा से अनुरोध किया: महाकवि बिल्हण को शूली पर न चढ़ाओ, उस ने हमारे मानस को आनन्द की चरमानुभूति प्रदान की है। उस ने हमे जीवन दिया है। राजा ने उन की बात नही मानी।

किन्तु बिल्हण पण्डित निश्चिन्त था। राजा प्रणय को शूली पर चढा सकता है, किन्तु वह भूल गया है कि उस के राजमहल की समस्त गरिमा उस के तन के साथ-साथ विदीर्ण हो जायेगी।"

"किन्तु महाकवि के प्राण तो नही बचेंगे।" मैं ने चिल्ला कर कहा। मुझे बिल्हण पण्डित की निश्चिन्तता से ही ईर्ष्या उत्पन्न हो गयी।

"वत्स, प्रणय की कसौटी जब तक रग नही लाती, तब तक प्रणय की अनुभूमि स्थायी नही होती—और यह एक सार्वकालिक नियम है। शूली का मण्डल नर-मुण्डो की भूमि पर खडा प्रतीत होता है। राजा ऊँचे सिंहासन पर विराजमान था। वन्दिको ने कहा 'अन्तिम बेला आ पहुँची है। इष्ट देवता का स्मरण करो।' बिल्हण पण्डित ने उस समय एक श्लोक पढा।"

"परम पिता परमात्मा की स्मृति में ?"

"स्मरणीय की स्मृति में," बिल्हण पण्डित ने कहा "जिस ने जीवन के सुखो का सम्पूर्ण मर्म समझने में बराबर का योग दिया, जिस ने वाणी को कोमल शब्द उच्चारण करने की सामर्थ्य दी, जिस ने मृत्यु लोक में ही स्वर्ग की कल्पना को साकार किया, उसी रतिलेखा का स्मरण बिल्हण करता है—बिल्हण के लिए वही चरम आनन्द की जननी है।"

"फिर क्या हुआ ?"

"श्लोक सहस्रो मुखो से बार-बार उच्चरित हुआ, वत्स, मण्डप श्लोक-पाठ से मानो स्वय मुखरित हो उठा। रतिलेखा राजा के चरणो पर पछाड खा कर गिर पडी—"सुनो, बिल्हण के साथ राज्य की श्री, सुषमा, शालीनता सब का अन्त हो जायेगा, वैभव का लोप होगा, स्वाधीनता की इतिश्री होगी, जीवन दासता मे कलकित होगा, प्यार मर जायेगा, दुराचार को प्रश्रय मिलेगा, रसराज का आदर जाता रहेगा, जन-जन कुमार्गगामी होंगे, आततायी विजयी होंगे—बिल्हण को क्षमा करो, नही तो उस की चिता पर गान्धर्व-विवाह से आबद्ध रतिलेखा जीवित ही भस्म हो जायेगी।"

"फिर ?"

"फिर राजा का सिर नत हो गया। रतिलेखा ने जिस श्लोक मे भविष्य-दर्शन का चित्र खीचा था वह सच था। जो राजा निरी सात्त्विकता का उपदेश दे, स्वय उस की चारित्रिक योग्यता के विषय में पण्डितजन सशय करते है। जीवन को नैतिक दासता से उबार कर प्रणय के पथ को निरापद बनाने से ही दुराचार का नाश होता है क्योंकि दुराचार प्रणय का विकृत स्वरूप है।"

"महाकवि, आप को शत-शत प्रणाम," मैं ने कहा और भक्ति-भाव से फिर हाथ जोडे। "आप ने नरपति का मान-मर्दन किया—इस से जनता के हृदय को बल मिला।"

"हम ने राजा का मान-वर्द्धन किया," महाकवि बिल्हण ने गले को खरज को बटाते हुए कहा, "हम ने राजा को अनुराग-राग का उपदेश दिया, और उस दिन से राजा ने हमें

[शेष पृष्ठ ३८६ पर]

हँसी का दायरा और सुर्ख़ पत्तों की नाव

•

मुद्राराक्षस

हँसी का एक दायरा, जैसे पोखर में केले के फूल का एक सुर्ख पत्ता टूट गिरा हो और पानी में वृत्त फूटा हो, फूट कर खिलता जा रहा हो, खिल कर पानी की सतह पर दौड़ता जा रहा हो, हँसी का एक दायरा और सुर्ख होठ जैसे पोखर की सतह पर फूटे वृत्त के बीच केले के फूल का लाल पत्ता नन्ही-सी नाव की तरह झलमला रहा हो।

आज मुझे एक पुरानी कथा याद आती है। कहानी बहुत पुरानी है लेकिन फिर भी वह आज याद आ रही है ठीक उसी तरह जैसे धरती की खुदाई करते समय कोई नर-कंकाल निकल आये, सफ़ेद डरावना, सामने पोखर के उस पार के नारियल की चोटी से एक कौआ चिल्लाता हुआ उड़ गया। पोखर का पानी अकारण ही हिलोर रहा है और मेरी स्मृति में वह पुरानी कहानी अपना कंकाल बनाती हुई उठ रही है।

डेनाड ने अपनी पचास बेटियों से प्रतिज्ञा करा ली थी कि वे सुहागरात के दिन छुरों से अपने-अपने खाविन्दों की हत्या कर देंगी। नारकीय नियति ने छेददार सुराहियों में पानी भरने की उन्हें सजा दी।

नील नदी का चमकीला ठंडा पानी, किसी हूर के कन्धे की चिकनाहट-सा, आदम के बलखाते जज़्बे-सा, नील नदी का ताजा पानी—डेनाड की जवान विधवा बेटियाँ सुराहियों में भर कर चलती है, पर वह रीत जाता है। दु खी मन से वे फिर भरने लौटती है। उन की सुराहियो मे पानी टिकता नही और नील नदी के घाट की चाकरी से उन्हें राहत नही मिलती। एक नारकीय नियति की लाचार सेविकाएँ। लौट-लौट कर अपने को ही रौंदने वाले पदचिह्न नील नदी की सिकता पर सुराही से बहे पानी की धार से सन कर इस नारकीय नियति की चिनकथा आँकते जाते है, कथा—जिस में ककाल की सफेदी की तरह सिर्फ एक ध्वनि है—श्लथ, श्लथ, श्लथ

पगचिह्न जानते है कि डेनायडाओ की कथा सिर्फ एक लफ्ज की है—श्लथ, श्लथ। सुराही से रीते पानी से भीग कर छातियो से टखनो तक चिपट गये गेरुए कपडे को धकेलते हुए कदमो की आवाज—श्लथ।

सुबह से शाम, फिर रात और फिर सुबह। ज़िन्दगी भी एक छेददार पेंदी वाली सुराही है जिस मे पानी भर कर हम चलते है और वह खाली हो जाती है। फिर भरने चलते है और चलते हुए ही वह फिर रीत जाती है। किसी षड्यन्त्र की रात हम ने अपने विश्वास का खून कर दिया और षड्यन्त्र रचने वाले पिता का पाप हमारे ऊपर सवार है—पिता का पाप, नीव में ही की गयी एक भूल, मौलिक गुनाह—

नारियल के वृक्ष पर जाने क्या है कि उस की चोटी पर बहुत से पक्षी मँडरा रहे हैं। पोखर मे केले के फूल का टूट कर गिरा लाल पत्ता नन्ही सुर्ख नाव की तरह हवा से तैरता हुआ इस पार आ रहा है। इस के व्यक्तित्व की कुछ सिलवटे जैसे मुझे स्पर्श करती हुई गुजर रही है। इरा हँसी है और हँसते-हँसते बल खा जाती है। घने बालो से घिरा उस का चेहरा जब दुबारा ऊपर उठता है तो हँसी का दायरा जैसे किसी ने गीले कपडे से पोंछ दिया हो—उस की आँखो की कोरो पर आँसुओ के सितारो की एक कतार झलकती है। मेरी तरफ गहरी आँखो स्थिरता से देख कर सहसा इरा एक उलाहना देती है—"आप क्या कर सकते है मेरे लिए? मेरे साथ विवाह कर सकते है?"

बात इतनी अनपेक्षित और चौंकाने वाली थी कि मैं धक्का सा गया। मैं ने उसे साहस दिलाया था, एक तटस्थ आश्वासन-मात्र दिया था जो प्राय किसी अनिश्चय के क्षण परि-स्थिति को निबाह देता है। उस की अपनी जीवन की कठिनाइयाँ जानने के बाद मैं प्राय यही एक आश्वासन दे दिया करता था—मैं तुम्हारे किसी काम आ सकूँ तो मुझे खुशी होगी। सुन कर वह ठठा जाती थी और होठों की सुर्ख नाव भेज कर मुझे कुछ ऐसा सन्देश देती कि मैं न सुन पाता न समझ पाता।

यह ज़रूरी नही कि हर जीवन की जटि-लता सरल की जा सके और यह भी नही कि हर जीवन किसी जटिता को सरल ही कर सके। पर फिर भी इरा की उस जटिलता

को सुलझाने की सामर्थ्य न होते हुए भी मै छू जरूर लेता था जैसे कोई खाँसने वाले मरीज की पीठ सहलाये यह जान कर भी कि खाँसी रुकेगी नही। इरा के जीवन की खाँसी को मै बहलाने की कोशिश करता और फिर अपने निरर्थक उद्योग पर ख़ुद ही अटक रहता।

●
●

उस ने मुझे कभी नहीं बताया और मैं उस से पूछ भी न सका। वह हँसती फिर सुर्ख पत्ते की एक नाव टूट गिरती, पानी मे दायरा उठता और दायरे को कोई गीले कपड़े से पोंछ देता।

कौन था वह ? कैसा था वह दर्द जो हँसी के उस दायरे को पोंछ जाता था ? मुझे नहीं पता और जब इरा ने पूछा—क्या मै उस से शादी कर सकूँगा, तो मुझे लगा जैसे वह पूछ रही हो—क्या मैं उस की मदद करने का हक़दार हूँ ?

मुझे अचकचाया देख कर हँसी का दायरा फूट पड़ा, इरा हँसते-हँसते दुहरी हो गयी और जब उस ने घने बालों से घिरा अपना चेहरा ऊपर उठाया तो मै ने देखा उस की आँखों की कोरों पर आँसुओं की क़तार झलक रही है।

इरा चली गयी, खामोश !

●
●

हवा में ठंड कुछ ज़्यादा है। केले के फूल का सुर्ख पत्ता नाव की तरह हवा से तैरता इस पार आ रहा है। लेकिन हवा अब उलटी चलने लगी है। पत्ता झूम रहा है, हो सकता है पत्ता फिर उस पार लौट जाये।

उस सर्द दिन इरा बहुत देर तक बैठी रही। उस का व्यवहार भी अजीब था। उस की हँसी उस दिन पानी में फूटते वृत्त की तरह नही बल्कि ऐसी झन्नाहट और थर्राहट भरी थी जैसे घड़ी के अन्दर लपेट कर रखी कमानी छटक कर खुल पड़ी हो। वायलिन पर उस ने फ़िल्मी गाना सीखने का हठ किया।

ऐसी अस्थिर इरा बहुत दूर का कोई टूटता हुआ सितारा हो जाती थी जो तेजी के साथ चमकता है और खोता जाता है, खोता जाता है, खो जाता है।

पर ऐन जाने के वक़्त इरा ने अपनी चमक का कारण खोल दिया। वह बोली—उस की शादी होने जा रही है। इरा चली गयी। मै ने कुछ नही कहा। शायद मेरी जबान किसी गुनाह का फल खा चुकी थी और अपराधी की तरह ख़ामोश थी। मैं जानता था कि इरा मुझ से चाहेगी मै इस विवाह का मना करूँ, इस का विरोध करूँ। लेकिन मै शायद—

इरा चली गयी। मै असमर्थता के पत्थरों से खेलता रहा। कुछ करने को असमर्थता, कुछ न करने की भी असमर्थता।

धीरे-धीरे मैं सहज हो आया। इरा ने मुझ से बडे चाव से शादी के आयोजनों के बारे मे बातें की। हँसी के सुर्ख़ पत्ते तैरा-तैरा कर मुझ से साड़ियों के चुनाव की बातें भी कीं।

और सहसा एक दिन उस ने मुझे बताया कि यह शादी वह नही करेगी। कह कर वह हँसी। हँस कर दुहरी हो गयी। फिर

जब उस ने अपने घने बालों वाला चेहरा उठाया तो हँसी का दायरा कोई पोंछ गया था। आँखों की कोरों में आँसुओं की एक कतार झलमला रही थी।

•
•

इरा चली गयी, खामोश।

फिर हँसी का वह दायरा छोटा होता गया। वह हँसती, हँस कर दुहरी भी हो जाती लेकिन बहुत सक्षेप में और आँसुओं की वह कतार ज्यादा लम्बी होने लगी।

मैं ने कहा—इरा तू अस्थिर चित्त है।

पर इरा ने कहा, नहीं वह सिर्फ थकी है।

फिर एक दिन मैं ने कहा—इरा, तू कुछ थकी है।

पर इरा ने कहा, नहीं वह सिर्फ मच्छरों की वजह से सो नहीं सकी।

फिर एक दिन मैं ने कहा—इरा, तू ठीक से सो नहीं पायी शायद।

पर इरा ने कहा, नहीं सिर्फ सिर में दर्द हो रहा है।

फिर एक दिन मैं ने कहा—इरा, आज क्या तेरे सिर में दर्द है?

इरा ने कहा, नहीं सिर्फ

लेकिन इस बार इरा ने टाला नहीं, शायद टाल न सकी। उस के आँसुओं की कतार टूट पड़ी। उस ने बताया कि उस के पिता मजबूरन उस की शादी उसी लड़के से कर रहे हैं। इस के अलावा उस ने और कुछ न बताया। मुझ से पूछा भी न गया। मैं ने—शायद मैं ने नहीं, किसी ने मुझ से कहलाया कि उसे धैर्य रखना चाहिए। अगर कोई मुश्किल हुई तो मैं उस की मदद करूँगा। गोकि मुझे नहीं पता था कि क्या कठिनाई होगी और किस तरह मैं उस में कुछ न कर पाऊँगा।

इरा चली गयी, खामोश।

•
•

इरा चली गयी, खामोश। फिर नहीं लौटी।

इस के बाद—इस के बाद कहानी में चोट आ गयी है। जैसे किसी पतली छड़ी के आघात से छिपकली की दुम टूट जाये और तिलमिलाती रहे ठीक उसी तरह यह बाद की कहानी है विच्छिन्न और तिलमिलाहट भरी। क्यों इरा चली गयी खामोश और फिर नहीं लौटी। मैं अपने उसी निरर्थक आश्वासन को टूटे हुए आईने की तरह देखता रहा। छेददार सुराही में पानी भरने की नाकाम कोशिशें करता हुआ अपने मन की नींव में अकारण रोपे गुनाह को मैं नाखून से कुरेदता रहा।

इरा चली गयी, इस बात को मैं बहुत गहरे रूप में देखता हूँ। इरा मेरे पास नहीं थी, मेरी नहीं थी, वह सिर्फ एक रीतने के लिए मिली सुराही-भर ही थी लेकिन फिर भी वह चली गयी तो मुझे अफसोस हो रहा है, वह अफसोस जो दर्द की सिलवटों में खोता रहता है। वह अफसोस ऐसा है जैसे किसी गरीब की मिट्टी की सुराही फूट जाये और गरीब हाथ में अटके टूटे मुँह को देखता रह जाये। नियति की चाकरी करते-करते

डेनायडाओं को अपनी छेददार सुराहियों से भी मोह हो जाता है क्योंकि पिता-द्वारा नींव मे रोपे गये मौलिक गुनाह के कारण उन्हें अपनी खुशियों के शौहर की हत्या कर देनी पड़ी थी और शौहर के लिए सँजोया हुआ मन का मोह वे किसे समर्पित करे ? लाचार, वे अपनी रीत जाने वाली सुराहियों को, अपने अभिशाप के पात्र को भी प्यार करने लगती है। मुझे भी मौलिक गुनाह मजबूर करता है कि मैं सुराही को प्यार करूँ। जिस तरह डेनायडाओं को अपनी सुराही के टूटने पर अफ़सोस होता है उसी तरह मुझे इरा के इस प्रत्यक्ष के टूटने पर दर्द होता है।

समय बीतता गया और कहानी का दर्द धुँधला पड़ता गया और एक दिन, और शायद वह एक दिन यह आज का ही है, इतना तिक्त हुआ कि क्लास मे मुझ से आधे घंटे की मेहनत के बाद भी वायलिन के तार साधे न जा सके। तार चढाते-चढ़ाते लगता जैसे वे टूट जायेंगे लेकिन स्वर,पर चढ़ेंगे नही। छुट्टी दे कर मै बाहर चला आया। धूप बड़ी बेचैन थी, मौसम बहुत रूखा। दरख्तों के नीचे छाया नही थी। कचहरी के बाजू पर पड़े अनगिनत तख्तों पर बैठे मुनीम सिरों पर रूमाल बाँधे थे। सड़क के दूसरी ओर पार्क था। पार्क से गुजरा तो मुझे लगा जैसे कही कोई तारों वाला बाजा गिराया गया हो।

इरा, इरा—ठीक इरा—नही सिर्फ इरा ही थी। बेंच पर झुकी, ख़ामोश धरती की तरफ़ देखती, व्यस्त।

•
•

मै इरा से मिला। उस से बातें भी कीं और फिर लौट आया। वही इरा, बिलकुल वैसी ही इरा, और आज हँसी का दायरा भी वही था लेकिन लगा यह हँसी इरा की नही इरा की नियति की है, सिर्फ चिढाने के लिए। इरा का पिता किसी वकील के पास आया था। बडी व्यक्तिगत घटना थी। इरा का विवाह छूट गया था। फिर वह कही दूसरी जगह परिवार के साथ चली गयी। पड़ोस के एक घर से आना-जाना ज़्यादा था। लौटी तो इरा गर्भवती थी। पिता कोर्ट-द्वारा इरा की शादी उसी लड़के से करा देना चाहते थे जिस से गर्भ रह गया। इरा हँसती थी और कहती थी कि वह लड़का बड़ा गावदी है, कहता है मै कुछ नहीं कर पाऊँगा। पिता जरूर दावे में सफल होंगे। जो न कर पाने की दुहाई देता है उसे ही कुछ करने को मज-बूर किया जाये।

मेरा अभिप्राय क्या होता ? रीती सुराही का मोह मुझे सता रहा था—सिर्फ इतना ही मैं जानता हूँ। न जाने किस अन-मने क्षण में मैं ने फिर वह आश्वासन दिया, वही तटस्थ आश्वासन अनिश्चय के क्षण परिस्थिति को निवाह देने का—यदि मैं किसी काम आ सकूँ तो निस्संकोच कहना।

वह हँसी, हँस कर दुहरी हो गयी, फिर उस ने अपना चेहरा ऊपर उठाया—चेहरा ही ऊपर नहीं उठा,—इरा की हँसी और स्वयं इरा भी कहीं उठ गयी। मेरे सामने सिर्फ़

एक विवश तिक्तता थी। मुझे भी लगा कि उठ जाना चाहिए। व्यग्ग की इस आखिरी चोट पर आज कही यह राज खुल न जाये, यह सत्य प्रकट न हो जाये कि मैं कुछ नही कर सकता। असमर्थता के पश्चात्ताप की खोज कही मुझे उम सूत्रमूरत हँसी के सामने यह कहने को मजबूर न कर दे कि कुछ ऐसा भी उस के हित का हो सकता है जो मैं न कर सकूँ गोकि सभी कुछ शायद ऐसा है जो मैं न कर सकूँ। इसी लिए मैं उठ आया। इरा वही वैठी रह गयी।

लो, वह केले के फूल की नन्ही नाव हवा मे तैर कर उस पार हो ली। नारियल पर मँडराते पक्षी वैठ गये। आज की इस अप्रिय कथा के लिए मुझे क्षमा करो।

[जून १९५९]

[महाकवि बिल्हण की प्रणय-साधना पृष्ठ ३८० का शेपांश]

'महाकवि विल्हण' की उपाधि से विभूषित किया—क्योंकि जव विल्हण महाकवि बना, तव राजा के घर एक पुनरत्न उत्पन्न हुआ। राजा को इस रत्न की प्राप्ति कभी न होती, कभी न हुई थी, यदि विल्हण पण्डित-द्वारा रचित अनुराग के श्लोक राजा के हृदय में वास न करते।"

"धन्य हो महाकवि, धन्य हो।" मैं ने मस्तक को नत किया। "सचमुच आप ने प्रणय को सायक किया—मगर यह क्या। आप काँप क्यो रहे हैं ? ऐसा लगता है, जैसे आप—आप लोप हो जाना चाहते हैं।"

"वत्स, मैं इस कक्ष में सदा तुम्हारे सामने रहूँगा और सहस्रो रूपो में सहस्रो स्थानो पर रहूँगा। ऐसे ही चिरकाल से रहता आया हूँ। वत्स, चिरजीवी हो "

महाकवि पीछे हटते-हटते दीवार की सफेदी में लोप होते नज़र आये।

रामकिशोर ने जो लड्डू खिलाये थे, उन का प्रभाव लोप होता जा रहा था। सहसा ही मैं ने झटका-सा खाया और गरदन मोडी। चाय अभी तक ज्यो की त्यो रखी थी और उस की भाप कभी की अन्तरिक्ष में विलीन हो चुकी थी। छू कर देखी, एकदम ठडी थी। याद तो ऐसा पड रहा था, जैसे मैं ने उस की अन्तिम बूँद तक की चुस्की ले ली हो पर ।

महाकवि विल्हण—ऊपर दृष्टि उठा कर देखा—अपनी चिरप्रणयिनी के साथ चिर रमण में व्यस्त थे।

मैं ने महाकवि को प्रणाम किया और ठडी चाय का प्याला उन के स्वास्थ्य की शुभ-कामना में गटागट चढा गया।

[अक्तूबर १९५८]

अभागे लोग

•

जैनेन्द्र कुमार

रसवन्ती सिर पर रोटियों की एक पोटली रखे मुक्त गान गाती रोजाना इधर से निकलती है। साथ तीन जनी होती हैं, एक मर्द। पर मैं रसवन्ती को ही जानता हूँ। दूसरे कौन है, क्या सम्बन्धी हैं, यह जानने की उत्कण्ठा नही हुई है। नाम रसवन्ती मै ने मान लिया है (सुना सन्तो था। उस से रसवन्ती के सिवा और क्या बन सकता है ?)। कोई दूसरा नाम उचित भी नहीं होगा। क्योंकि वह बीस-बाईस वर्ष की है और चिन्ता की कोई रेखा उसे छू नही गयी है। अपने अलग होने का उसे भान नही, अपनी स्थिति और परिस्थिति से वह एकमेक है। दुनिया उधर होती रहे, वह समस्याओं में रहे। यह इधर ठठोली करती हुई सिर पर रोटियों की पोटली लिये निर्द्वन्द्व जाती है, उसी तरह मगन आ जाती है, उलझन नही है, प्रश्न नही है। जैसे मूर्त स्वीकृति हो, निरी अस्तित्व। शरीर उस का फड़कता रहता है और जीभ उस में बन्द नही होती। वह रसवन्ती ही हो सकती है।

रसवन्ती है। पर रस का क्या होता है ? मैं विश्वविद्यालय का प्राध्यापक हूँ। शास्त्र पढ़ाया करता हूँ। रस का वहाँ सिद्धान्त है। यह देहातिन मेरे बँगले के सामने से जो रोज निकलती है—ऐसे कि अखबार या पुस्तक या कॉपी एक ओर कर के मुझे देखना पड़ता है, क्या वह सिद्धान्त को जानती है ? क्या वह जानती है कि तत्त्व-जैसा कुछ होता भी है ? फिर किस कारण वह रसवन्ती है ? क्या सिद्धान्त से अलग रस है ?

यह लो, वह बिगड़ उठी। जवान ने उस की ओर हाथ बढ़ाया। वह झट दूसरी ओर हट आयी। इस मे ओन्नी का छोर जवान के हाथ मे रह गया, उस का सिर उधर

आया। रसवन्ती ने जोर मे पल्ला खीचा, कहा—"बदमऊर, सरम नही है तुझे ?"

जवान आनन्द में हँसा। रसवन्ती उसी मे बिगटी। बिगाड में क्या किया कि बढ के जोर से उस ने पसली मे चूँटी भरी। जवान 'आय' कर के एक ओर हटा और सन्तो बोली—"और ले, अपनी बिरियाँ भागता है।"

मैं देखता हूँ जो मुझे देखना नही चाहिए। पर बँगले का बरामदा ऐन सडक पर है। यहाँ तक कि शब्द सुन जाते है। नही, मुझे यह पसन्द नही है। सिद्धान्त पढता हूँ और वही रहना चाहता हूँ। बाकी खुराफात होती है सो हो। सिद्धान्त में जो आता है उस से अतिरिक्त के लिए मेरे पास अवकाश नही होना चाहिए। अखबार या किताब या कॉपी जो मुख से अलग हो जाती है, निगाह सडक पर चली जाती है, यह सम्यक् नही है। व्यवधान है। यह माया है। मैं सत्य का खोजी हूँ।

एक और भी कारण है। इस जवान को रोज मण्डली के साथ देखता हूँ। अव्वल तो गणित गलत है। स्त्रियाँ तीन हो, तो साथ पुरुष एक नही होना चाहिए। यह सिद्धान्त का व्यतिरेक है। व्यवस्था-सिद्धान्त और समाज-सिद्धात। दूसरे जो सब से बडी बात है वह यह कि निश्चय नही है कि जवान सन्तो का पति है। बल्कि निश्चय है कि पति नही है। क्योंकि पति हमेशा और होता है। ठिठोली है वहाँ पति वैसे हो सकता है? पक्का है कि नही हो सकता। अब आप सोचिए कि कितना बडा सवाल पैदा हो जाता है। नैतिक, सावजनिक और आध्यात्मिक।

मैं प्राध्यापक हूँ। प्रश्नो का उत्तर लेता हूँ और देता हूँ। अपने दायित्व को पहचान कर जो होता है, कहूँ—"ऐ इधर सुनो, तुम लोग कौन हो? क्या नाम है तेरा, बोलती क्यो नही? सन्तो। सन्तो क्या होता है? नाम भी ठीक नही आता—और तुम हरिया—तुम कौन हो इस के? कोई नही। कोई नही क्या होता है? खैर जाओ, सडक धीगामस्ती की जगह नही है। जाओ, अदब से चला करो। देखते नही आसपास कौन लोग रहते है।"

जो होता है और रह जाता है। क्योंकि यद्यपि प्रोफेसर का दायित्व बडा है पर ये लोग अपढ है। पुस्तक के द्वारा साक्षर के प्रति तो दायित्व से कुछ उऋणता पायी जा सकती है। इन उजड्डो को क्या कहा जाये?

सोचता हूँ संस्कृति बडी चीज है। ये असस्कारी लोग पशु सरीखे ही है। कितनी हीनता की बात है। जाते है, दिन-भर धूप में टोकरी ढोते है, तन रखने और ढँकने जितना मजूरी के नाम पर पा जाते है और मगन रहते है। आवश्यक असन्तोष भी तो इन में नही है। कितने जड है कि हम-जैसो के प्रति ईर्ष्या भी इन में नही होती। और नही तो जलन से ही सुलगते है, कुछ उभरते। पर अभागे अपने थोडे में ही मगन है। हम जो दिन-रात शास्त्रो के मन्थन-द्वारा जन-सामान्य का जीवन-मान बढाने का यत्न करते और योजना बनाते रहते हैं, इस का उन्हें पता नही है। अरबो खरबो रुपया खर्च हो रहा है। कारखानो पर कारखाने खडे हो रहे है। बाँध बाँध दिये गये है और जाने

कितनी बिजली पैदा हो रही है। पर इन्हें ज्ञान नहीं है। बस इन के जीवन में आनन्द है, ठिठोली है। बेचारे उसी को रस मानते है। सभ्यता वाले रस को नही जानते। यह भी इन्हें पता नहीं कि योजनाओं मे क्या-क्या इन के लिए हो रहा है। तभी ख़र्च भी होता है और इन का जीवन भी वही रहता है।

मै तर्क करता हूँ और मानता हूँ कि उन पर दया कर रहा हूँ। पर अखबार या कॉपी या किताब एक ओर कर के सिर पर रोटी की पोटली लिये हँसती और ठिठोली करती हुई बेख़बर जाती रसवन्ती को देखता हूँ और उस जवान को देखता हूँ, तो जाने क्या होता है कि कुछ देर के लिए मै बेभान हो जाता हूँ। प्रोफ़ेसर हूँ, डीन हूँ। वेतन के पन्द्रह हजार और कॅमिटियों और परीक्षाओं के पन्द्रह हजार और पाठ्यपुस्तको के तीसरे पन्द्रह हजार वार्षिक पाता हूँ। फिर भी बेख़बर हो जाता हूँ। ओस्त्री बहुत साफ और ख़ूबसूरत नही है। मुँह का रंग भी बहुत निखरा नही है। वह विशेष स्लिम नही है। न विशेष व्युत्पन्न है। संस्कारिता आसपास भी नही है। पर चालढाल मे उमंग है। हाव-भाव मे मुक्तता है। और किताब मेरी एक ओर रह जाती है, मोटी आमदनी से मिलने वाली सुख-सुविधा चारो ओर से उड जाती है और मैं खो जाता हूँ। ईर्ष्या होनी चाहिए जो मुझ मे होती है। और मैं बहुत कुछ सोचने लगता हूँ।

सोचता हूँ कि ये प्राणी दयनीय है, व्यवहार उन का अशिष्ट है। आचरण अनैतिक है। उन के उद्धार की आवश्यकता है। उन्हें पढ़ाने की आवश्यकता है। सिद्धान्त का ज्ञान चाहिए और उस के लिए अक्षर का ज्ञान चाहिए। हठात् अनुभव होता है कि विश्व-विद्यालय के डीन होने और योजना समितियों के परामर्शदाता होने और प्राध्यापक होने का तक़ाजा है कि मैं उन सोये हुओं को जगाऊँ, भूले हुओं को बताऊँ, गिरे हुओं को उठाऊँ। धर्म की मूढ़ता मे से उठा कर विज्ञान के आलोक मे प्रतिष्ठित करूँ।

यह सब मेरे लिए आवश्यक है। क्योंकि रसवन्ती मे रस है और उस पर कोई सिकुड़न नही। परिधान शरीर पर है, हृदय पर लपेट नहीं है। वह खुला, अनावृत और स्पष्ट है। वह शिक्षित और संस्कृत नही है, सहज और मानवीय है।

नही, हम अपनी जिम्मेदारी टाल नही सकते। सहज मानवीय को यहाँ कैसे चलने दिया जा सकता है। वह तरीक़ा तो आदिम है। यह गलत होगा कि हम प्रकृत रहे। जैसा हमे सिरजा गया है, वैसे ही रहना हो तो मनुष्य क्यों है? पशु वैसे रहते है। मनुष्य जैसा है वैसा नही रह सकता। सभ्यता का यही अर्थ है। अन्यथा हमारी संस्थाएँ सब वृथा हो जाये। कपड़ा आवश्यक है, पर मनुष्य ने बुद्धिमानी से उसे परिष्कारपूर्वक आवश्यक से अधिक बनाया है। इसी से कपड़े की मिल के मालिक के महल मे तरह-तरह की कलाओ और सुन्दरताओं का नित नूतन सृजन और आविष्करण दीखता है। सामाजिक सभ्यता मे नयी-नयी छटाएँ जो खिलती है

उन का उदय-स्थल वहाँ है जहाँ सब आवश्यकता से अतिरिक्त है । श्रीमान् और धीमान् का काल वही 'काव्यशास्त्रविनोदेन' के अनुसार बीता करता है ।

रसवन्ती और उस के साथी लोगो को कुछ भी उन अतिरिक्त नफासतो का परिचय नही है । यह घोर अज्ञान है । अर्थशास्त्र, राजशास्त्र, समाजशास्त्र, मानवशास्त्र निर्मित हो रहे है । उन ऊँचाइयो पर मानवता पल्लवित और पुष्पित होती है । जीवन की कृतार्थता वहाँ है । और नही तो इन निरक्षर अज्ञानियो को रेडियो, टेलिविजन और सिनेमा-द्वारा उन चित्रो की झाँकी तो दिखाई जा सकती है कि उन्नति पर उन्हे विस्मय तो हो । फिर उत्सुकता जिज्ञासा हो ।

कपडे की आवश्यकता प्रकृति ने मनुष्य को दे दी पर ज्यो-त्यो उस आवश्यकता को पूरा कर ले तो मनुष्य की इस मे मनुष्यता क्या ? पहले ऐसा ही होता था । आपस मे मिल-जुल कर वह पूरी कर ली जाती थी । उस आवश्यकता के कारण मनुष्य में परम्परा उत्पन्न हुई । लेकिन मनुष्यता का वैभव तो इस में है कि उस प्राथमिक आवश्यकता को प्रश्न और पहेली तक पहुँचा दिया जाये । तब कला को उत्कर्ष प्राप्त होगा । हम उस वैभवशाली युग मे है । आवश्यकता से आज कपडा नही मिल जाता । श्रम से ज्यो-त्यो अब उस की पूर्ति नही कर सकते । आदमी ने सभ्यता का निर्माण किया है । उस मे मुद्रा की सस्था को विकास मिला है । आप सर्दी मे ठिठुर सकते हैं । गरमी में तप सकते है । किन्तु इतने ही से यह आवश्यक नही है कि आप को वस्त्र प्राप्त हो जाये । जी नही, समाज जगल नही है । आवश्यकता और उपभोग में सीधा सम्बन्ध यहाँ नही हो सकता । तन को वस्त्र की आवश्यकता है । गोदाम में वस्त्र को रखने की भी जगह नही है । पर तन नगा रह सकता है । गोदाम ठट से ठट भरता जा सकता है । इस का भेद ज्ञान-विज्ञान के पास है, धर्म के पास नही, और बिना खर्च वह नही प्राप्त किया जा सकता । मैं पैतालिस हजार पाता हूँ । कोई पैतालिस लाख पा सकता है । किसी को साल मे कोई पैतालिस भी नसीब नही हो पाते । ऊपर से देखने से इस की सगति हाथ नही लग सकती । समझाना होगा इन रसवन्ती और हरिदास-जैसे मूर्खों को कि जीवन मे मगन रहना ही सब-कुछ नही है । यह जो सभ्यता का महाचक्र है, जिस के हम-तुम सब भाग है, उस को समझना आवश्यक है । मेहनत कर सकते हो, ईश्वर का नाम ले सकते हो, और इस तरह शायद एक मग्नता भी पा सकते हो । लेकिन ऐ लोगो, यह थोथी चीज है । समझोगे तो पाओगे कि ईश्वर छल है और तुम को रूखा-सूखा बनाये रखने के लिए ईजाद हुआ है । मेहनत ठीक है, पर मुद्रा की असलियत उस से गहरी है । वह न जानोगे तो मेहनत करोगे और नगे-भूखे रहोगे ।

मैं ज्ञान में हूँ और कुरसी में हूँ । इस लिए आवश्यक है कि दया करने की सोचूँ । कारण, रसवन्ती को, और हरिदास को, और उन के चुहल के सम्बन्ध को और उन की खुशी को,

और उन के मुग्ध भाव को व्यर्थ करना आवश्यक है। नही तो अपनी सार्थकता मुझे और किस तरह उपलब्ध हो सकती है।

रसवन्ती चली गयी है। आँख से वह ओझल हो गयी है। मुझे याद आता है कि ओन्नी का पल्ला खीचा था तब अचानक उस का बाँया हाथ सिर पर जा पहुँचा था, रोटी की पोटली उस ने गिरने नही दी थी। इस चपलता और तीव्रता पर मैं विस्मित रह गया था। उस का चिकोटी काटना याद आता है। लगता है कि उस का समय उल्लास प्रकाशन के नाना अवसरों का इसी प्रकार आविष्कार कर के रसपूर्वक ही बीतता होगा। मेरी ही युनिवर्सिटी मे जहाँ मदद लगी है वहाँ पर ईंटें ढोती हुई आसपास के जनों से चुहलबाजी किये बिना वह रह न पाती होगी। सोचता हूँ और मन में त्रास की एक गाँठ को दबा कर रह जाता हूँ।

ओ नही, नहीं, नही। मुझे अपने दायित्व को नही भूलना है। यह लोग जाहिल गँवार है और सभ्यता मे मानवता को आशा है।

रसवन्ती को टाल कर आखिर किताब या कॉपी को अपनी जगह आना था। मैं ने उधर ध्यान दिया जहाँ प्रश्न थे, उत्तर थे, और फिर प्रश्न थे। जैसे वहाँ मुझे ठिकाना था।

युनिवर्सिटी में नया विंग बन रहा है। सोलह लाख बिल्डिंग पर खर्च आयेगा। यह संस्था 'ह्युमेनिटीज' के विशेष अनुसन्धान विभाग के तौर पर होगी। स्नातकोत्तर शिक्षा और गवेषणा का एशिया भर का यह मुख्य केन्द्र होगा। निर्माण की देखरेख के लिए मुझे भी वहाँ जाना होता है। क्योंकि ह्युमेनिटीज विभाग का मैं प्रमुख माना जाता हूँ।

गया तभी लेबर का विराम का समय हुआ था। उस समय रसवन्ती का ध्यान मुझे नहीं था। लेकिन हरिया को मैं ने पहचाना जो मुझ से कुछ दूर पर काम कर रहा था। दूसरे लोग खिसक गये थे। वह जिस के साथ था वह राज अपना कोना पूरा कर के उठना चाहता था। इस से हरिया काम मे था। देखता क्या हूँ कि तभी रसवन्ती आती है, उस के हाथ से ईंट छीन कर फेंकती है और कहती है—"अरे मरे, चल ना।"

"ठहर जरा।"

"ठहरे तेरा दुश्मन।"

"तू चल के बाँट, मै आया।"

इतने में हरिया को आवाज़ लगी। राज को ईंट की जरूरत थी।

"तो ले, मैं करवाये देती हूँ, जल्दी हो जायेगा।" कह कर दोनों जनें ईंट ले जा कर राज के पास पटकने लगे।

मै ने राज के पास जा कर कहा—"टाइम हो गया है, तुम भी खा-पी लो। फिर काम देखना।"

रसवन्ती ने ऊपर देखा। क्या उस ने पहचाना कि मै बँगले वाला बाबू हूँ? पर दृष्टि से मालूम हुआ कि बीच मे अन्तर बहुत है, पहचान कोई सम्भव नही है। मै ने कहा—"जाओ जाओ, सब लोग खाओ-पीयो, आराम करो, काम पीछे देखना।"

रसवन्ती का रस कही एक स्थान में नही है। चेहरे पर है। जैसे सारे तन-बदन पर

है। असल में प्राणो में है। देख कर उस ने आँखे हटायी और हरिया से कहा—"चल चल, अब तो चल।" जैसे मानो अब भी वह इस उद्दण्ड व्यक्ति को चिकोटी काट कर सीधी राह लाने को तैयार हो। हरिया ने कहा—"कभी चुप भी रहते है। देखती नही?" आशय था कि मैं पास खडा हूँ।

अपनी जगह से मैं देख सका कि रसवन्ती ने मुँह बिचकाया, जैसे खडे रहें चाहे लाट साहब, हमे क्या।

उस सारे उजाड में बबूल का एक पेड था। मेरी राह के किनारे ही पडता था। लौटते हुए देखा कि वे ही चार है—तीन स्त्री एक पुरुष। कपडे पर मोटी-मोटी रोटियाँ रखी है। प्याज की चटनी से खा रहे है और रसवन्ती खिलखिला रही है। खिलखिलाहट की आवाज कानो में पडी और मैं हट कर एक ओर से निकलता चला गया। जैसे मुझ में लज्जा हो और सामना मुश्किल हो।

सच यह कि मैं बीच में पहुँच कर बाधा देना चाहता था। शामिल हो जाना चाहता था। पता ले लेना चाहता था कि यह हरिया है तो उस का कौन है। पर अन्तर बडा था और मैं हट कर निगाह बाँचे अलग किनारे-किनारे ही चलता चला गया।

दया करता हुआ, कि ये अभागे लोग!

[सितम्बर १९५९]

रत्नाकर शान्ति का सान्ध्य-चिन्तन

•

धर्मवीर भारती

सर्वप्रथम नमस्कार है आचार्य गुरु श्री नारोपा को जो अग्रणी हैं समस्त बोधिसत्त्वों में, ज्ञाता हैं गुह्य विषयों के, स्वामी हैं पारमिताओं के, समर्थतम है सिद्धों मे। फिर नमस्कार है मैत्रेय, वैरोचन अभिताभ को, नमस्कार है करुणा-शून्यता-रूप समस्त बुद्धों को और उन की भार्याओं को। नमस्कार है मालव देश मे मुझे दर्शन देने वाले आर्य मंजुघोष तथा भगवती आर्यतारा को। नमस्कार है समस्त क्लेश-हारिणी वसुमती, रत्नस्था, पर्णशवरी, अनेक मुखी, जांगुली, चण्डा, मामकी, तारा, पाण्डुरा आदि अनेकानेक भरणी देवियों को····और····और नमस्कार है इस बिना शोधे पारे-से चंचल, आशंका से उद्वेलित अपने इस चित्त को जो शंकित है, जिज्ञासु है, उद्विग्न है—वज्रावेश में उन्मत्त साधक की भाँति तर्कों की, अनुशासनों की, यहाँ तक कि कभी-कभी तथागत और गुरुश्री के वचनों तक की सीमा को तोड़-फोड़ कर जाने किस प्रलयंकरी तृष्णा से अधीरातुर, बार-बार ग्रहण किये हुए मार्गों को त्यागता है फिर ग्रहण करता है, फिर त्यागता है फिर ग्रहण करता है, और हर बार यह पाता है कि न अब यह पहले वाला चित्त है, न यह पहले वाला मार्ग है।

•

विजय, यश, धर्म, सम्मान, अगणित उपहार ले कर लौट आया हूँ सिंहल द्वीप से। पीछे छूट गया वह द्रविड़ नाविकों, श्यामल तन्वंगियों, हरित कुंजों और ललित शिल्पों का

मनोहारी द्वीप, महायान में सहस्रों भिक्षुओं को दीक्षित कर संघ स्थापित करा गुरु की आज्ञा से लौट आया हूँ पुनः विक्रमशिला में अपनी गंगा के तट पर। शाम हो रही है। गौड़ देश की एक विशाल नौका पाल झुलाये मंथर गति से जा रही है। पतवार उठते हैं, गिरते हैं। आचार्यों ने कहा, धर्म पतवार है, पारमिताएँ—पार ले जाने वाले।

मगर किस के पार? चित्त प्रवाह के, जिसे जगत् कहते हैं। पर जब चित्त प्रवाह न हो, तो? एक मरणवत् ठहराव ही हो, तो?

मैं गंगा तट के पीपल की जड़ों के बीच अपने चिरपरिचित स्थान पर बैठा हूँ। न सुख, न दुःख, न विजय, न पराजय, केवल शून्य के समक्ष एक शून्य। केवल शून्य में डूबा हुआ एक शून्य।

पर हाय! केवल इतना हो तो मेरा रत्नाकर शान्ति नाम सच न हो जाये। मैं वह जो दूसरा हूँ उस का क्या करूँ? शून्य से जूझता हुआ एक शून्य, शून्य पर शंका करता हुआ शून्य, शून्य को चीर कर कुछ खोजता हुआ शून्य—शून्य के परे देखने की कोशिश करता हुआ एक शून्य।

क्या करूँ अपने चित्त की इस चिरविक्षुब्ध मुद्रा को?

यही उद्विग्नता थी जब खोज प्रारम्भ की थी। यही उद्विग्नता थी जब ओदन्तपुरी में दीक्षा ली, यही उद्विग्नता थी जब मालव देश में भगवती आद्यतारा की साधना कर साक्षात्कार किया, यही उद्विग्नता थी जब सिंहल द्वीप गया, यही उद्विग्नता थी जब लौटा। यही उद्विग्नता थी, यही रही, यही है।

गुरु ने मुद्रा पहचान कर नाम दिया शान्तिभद्र। सिंहल जाते समय कहा अब तुम आठों सिद्धियों में निष्णात हुए। अब तुम्हारा नाम हुआ आचार्य सिद्ध शान्तिपा। सिंहल में सद्धर्म को विजय करा कर, रत्नाकर पार कर, लौटा तो बोले तुम हुए रत्नाकर शान्ति। लेकिन कौन जानता है कि शान्ति केवल मेरे नाम में रही। चित्त में केवल अशान्ति, उद्विग्नता, खोज, आकुलता, पीड़ा

लेकिन क्यों?

●

शाम हो चली है। सन्नाटा और गहरा लग रहा है क्योंकि थोड़ी देर पहले पथ पर गहरी हलचल थी। संघ की सहस्रों गायें गोशाला में लौट रही थीं। सींगों की टकराहट, गायों का रँभाना, बछड़ों की कुलेलें, गोरक्ष भिक्षुओं की वंशी, पीपल के शिखर से ऊँचे धूल के लाल-भूरे बादल, उन में से गुजरने वाली सान्ध्य विहगों की पाँतें और कान के बिलकुल पास से गुजरते सैकड़ों पंखों की सरसराहट। अब सब शान्त है (सिवा मेरे मन के)।

सिर्फ ऊपर घोंसले में एक विहग शिशु अनखना रहा है और आ रही हैं दूर से दिवंगत तुषित स्वर्गवासी आचार्य कुक्कुरी के बीसियों कुत्तों के भौंकने की कर्कश आवाज, अशुभ, अमंगल। बचपन में मैं ने भी पिल्ले पाले थे। कितने अच्छे थे वे दिन। जो भी सुनता था सब पर विश्वास करता था पूरे निश्छल मन से। सुनता था आचार्य कुक्कुरी के पाले इन कुत्तों में दैवी शक्ति है। साक्षात्

बोधि। सिंहल, चीन, जावा, स्याम, गान्धार और खोतान से आस्थावान् इन कुत्तों के पिल्लों को ले जाते थे, प्रसाद मान कर। इन का भी एक इतिहास है। मेरे गुरु श्री नारोपा को गुह्यविद्याएँ मिली थीं तिल्ली से, तिल्ली को पद्मवज्र से, पद्मवज्र को कुक्कुरी से। कुक्कुरी चतुर थे। बाहर से शैव बन कर भैरव की उपासना करते थे, मन से बौद्ध थे। सेवा करते थे भैरव के वाहन कुक्कुरों की। उन की साधना से प्रभावित हो कर भगवती महामुद्रा नैरात्मा ने कुक्कुरी का मुख धारण कर उन्हे दर्शन दिये। वे स्वामी बने भैरव की शक्ति और वाहनों के। उन्होंने बौद्ध देवता श्री वज्रभैरव की उपासना का सूत्रपात किया। पवित्र है ये कुक्कुर। आचार्य तो सशरीर तुषित स्वर्ग गये—पीछे छूट गये ये पवित्र कूकुर। दिन-रात भौंकते। कभी-कभी चैत्र-वैशाख मे उन मे से कई पागल हो जाते हैं। पर उन्हे मारने का नियम नही है। काट लें तो भिक्षुओं को पागल होना पड़ता है। इसे कुक्कुर महादशा कहते हैं। इस की विशेष पूजा का विधान है।

आह, वह मिथ्या विश्वासों से रंगारंग भोला शैशव जब यह अभागा रत्नाकर शान्ति इन सबों पर सहज विश्वास करता था। न शंकाएँ, न उद्विग्नता। सच थी ये असाधारण अनुश्रुतियाँ। सच थी ये दैवी सिद्धियाँ, ये गुह्य साधनाएँ, ये विचित्र अनुष्ठान। पर हाय, इस मन ने इन के आवरण को चीर कर वास्तविकता को जाना ही क्यों? क्यों जाना कि इन के पीछे है क्या?

उस दिन भी बहुत भारी मन ले कर इन्हीं पीपल की जड़ों पर, गंगा के तट पर, आ कर बैठ गया था। विहार मे जो कुछ देख कर आया था उस ने मन की नीवें हिला दी थीं। वह जो सब से मजबूत, बिलकुल सफ़ेद रंग और लाल आँखों वाला कुत्ता कर्पूर भैरव था—उस मे सुबह से ही पागलपन के लक्षण प्रकट हो रहे थे। भाग रहा था, इधर से उधर, उधर से इधर। अकस्मात् पूजार्थ आयी एक वृद्धा का पाँव भँभोड़ कर मांस निकाल लिया। गुरु अघोरवज्र उल्लास से उन्मत्त हो गये। बोले—"कर्पूर भैरव पर वज्रावेश अवतरित हुआ है, पूजा होगी।" प्रांगण मे नगाड़े बजने लगे। मन्त्रोच्चार होने लगा। कर्पूर भैरव इस से घबरा कर एक क्षण को रुक कर अचरज से चारों तरफ़ देखने लगा और फिर चारों तरफ बदहवास दौड़ने लगा। एक था नया, कम उम्र, दुबला-पतला, मगोल साधक, जो अभी दीक्षित भी नही हुआ था, पर था बहुत मेधावी और अध्ययनशील। कहते थे उस मे भगवती चीनतारा की विशेष प्रज्ञा थी। तैलंग भिक्षु उस से ईर्ष्या करता था। उस ने कहा—'ऐसे समय मे कर्पूर भैरव को लाल गुड़हल की माला पहनाने से तुरत खेचर सिद्धि मिलती है। आकाश-माग से जहाँ चाहो जा सकते हो।" मंगोल हाथ मे माला लिये आगे बढ़ा। नगाड़े दुगने वेग से बजने लगे। भोटान्त के भिक्षुओं ने नरसिंहे उठाये, कामरूप के भिक्षुओं ने मृदंग पीटा, बंगीय भिक्षु हर्ष से उलूकध्वनि करने लगे।

और फिर सब ठहर गये। कर्पूर भैरव

और मगोल भिक्षु में सिर्फ दस हाथ का अन्तर रह गया था। दोनो अचल। और अकस्मात् कर्पूर भैरव भयानक गुर्राहट से उछला। मगोल का साहस छूट गया। मगर वह भागे इस के पहले कर्पूर भैरव उस को गरदन पर था। श्मशान के मास का आदी कर्पूर भैरव। मगोल गिरा, फिर उठ कर भागा। कर्पूर भैरव के दांत जहाँ गड गये थे वही गडे रहे—नगाडे, नरसिहे, शख, मृदग दुगने वेग से बज रहे थे। भगवती वज्रभैरवी की जय बोली जा रही थी। तैलग भिक्षु का स्वर सब से ऊँचा था। गरदन का आधा मास कर्पूर भैरव के जबडो में झूल रहा था। मगोल गिरा और तडप-तडप कर शान्त हो गया।

अघोरवज्र ने घोषणा की—"मिल गयी। उसे खेचर सिद्धि मिल गयी। वह शून्य विहारी हो गया। शून्य है आकाश। पचस्कन्ध वाली देह तो भार थी, अब वह निबन्ध विहार करेगा—"

प्रागण में जहाँ तहाँ खून के गाढे चिप-चिपे धब्बे कई दिन तक पडे रहे।

मुझे उबकाई आ रही थी। इसी गगा तट पर आ कर निराहार पड रहा। माग क्या है तथागत? मुझे मार्ग दिखाओ वैरोचन। मेरा विश्वास हिल गया है। यह अमानुषिक हिंसा, सिद्धान्त की आड में वैयक्तिक ईर्ष्या का नरक, कर्पूर भैरव के जहरीले दाँत, नगाडों और नरसिंहों का अविवेकी प्रलाप—मार्ग क्या है? सद्धर्म का मार्ग क्या है भगवतो!

मुझसे कुछ खाया नही जाता था। केवल एक-दो घूँट गगाजल पी कर रेत पर सिर पटकता रहता था।

ऐसी ही शाम थी जब नालन्दा से आचार्य श्री गुरु नारोपा मेरी विरक्ति का समाचार सुन कर आये। विक्रम शिला में हलचल मच गयी। जितने मुँह उतनी बातें। पर वे अकेले मुझे पुकारते हुए आये। बच्चों की तरह चाहते थे मुझे। आज गायो का रँभाना सुन कर उन की याद आ गयी मुझे।

चरणों में से उठा कर मस्तक सूँघ कर बोले—"तैलग भिक्षु को कठोर दण्ड मिलेगा। उठो। अन्न ग्रहण करो शान्ति।"

नत था गुरुचरणों में पर अपने व्रत पर अटल था। यह कुछ भी हो सद्धर्म नही था। जो मनुष्यता को पागल कुत्तो का भक्ष्य माने और नगाडे पीट कर इस का उद्घोष करे। नही, नही, नही, वह अजितनाथ असग का योग-मार्ग नही, वह नागार्जुन का विवेक मार्ग नही—नही। कदापि नही।

गुरु की वाणी कठोर हो आयी—"तब तू चाहता क्या है। सब महान् महान् हो, सुन्दर सुन्दर। गुह्य साधना तो उसी को तोडती है न। पाप, पक, विष्ठा, रक्त मज्जा सब सुन्दर है। बिडाल, कुक्कुर सब महान् है। किसी वस्तु का अपना कोई धर्म नही। विष्ठा में दुर्गन्ध, पक में ग्लानि तो हम आरोपित करते है। गम्य-अगम्य, पेय अपेय, भक्ष्य-अभक्ष्य इन सब वर्जनाओ से चित्त मुक्त नही होगा तो बोधि कैसे जाग्रत होगी पगले!"

प्रणाम करता हूँ गुरु नारोपा के चरणो को जिन्होने प्रकाश के द्वार खोल दिये।

अभागा है रत्नाकर शान्ति जिस के मन का अन्धकार उस प्रकाश को भी पी गया। पूछा—"बोधि जाग्रत होने के अर्थ बर्बरता जाग्रत होने के हैं क्या आचार्य ?"

बोधि के अनादर से गुरु मर्माहत हुए, "किसी जैन श्रावक का जादू चल गया ? किसी शैव ने आनन्द का सिद्धान्त समझाया है क्या ? किसी वैष्णव ने चक्र चलाया है ?" फिर अपनी वाणी पर स्वयं पछताते हुए मेरा माथा सहला कर बोले, "तेरी व्यथा क्या है, कुछ बोल तो।"

मैं फूट पड़ा, "आडम्बर का विरोध करने मे हम स्वयं बड़े आडम्बर मे उलझ गये है। देवताओं मे से महानता बहिष्कृत की और पागल कुत्तों में प्रतिष्ठित कर दी। लघु को महान् के समकक्ष रखने की स्पृहा मे लघुता की जगह क्षुद्रता की उपासना करने लग गये हम। लिप्सा हमारा बीजाक्षर बन गयी। पशुता हमारा धर्म। केवल पंक में थूथन गड़ा कर हम ने जाना कि हम ने त्रैलोक्य विजय कर लिया। मंगोल भिक्षु की मर्मान्तक चीत्कार के समय भिक्षुओं की आँखों मे बर्बर उल्लास की चमक आप देखते तो ? तीर्थिकों ने, अवतारवादियों ने ईश्वर को मनुष्य बनाया था, हम ने पागल कुत्तों को ईश्वर बनाया है। मांस भँभोड़ते हुए बर्बर।....गुरुजी ! सद्धर्म ने आडम्बर का वमन कर पुनः उसी का भक्षण कर लिया है...."

"शान्तम् पापम्", गुरुश्री ने केवल यह कहा और अँगूठे से रेत कुरेदते रहे। फिर बैठ गये। मेरा कन्धा थपथपाते रहे, कुछ कहा नहीं।

अघोरवज्र ने मेरी बात सुनी तो ठठा कर हँसे। नाचने लगे। "है। है। उस अविश्वासी में दृष्टि है—दर्शन नहीं है। सद्धर्म ने जो वमन किया उसी को खा लिया, यही तो अघोर साधना है। हम केवल पंक में थूथन गड़ाते घूमते हैं। हाँ, वाराह हैं हम। पृथ्वी का उद्धार हमी करेंगे। जय भगवती वज्रवाराही। कल्याण करो उस प्रज्ञाहीन जड़मति का। संघ से पृथक् सोचने का अहंकार जागा है उस में। दम्भी है।"

वर्षों बाद स्वयं अघोरवज्र की स्थिति बहुत डाँवाडोल हो गयी। जाने क्यों उन की खीझ दिनोंदिन अनियन्त्रित होने लगी। जो कुछ व्यवस्थित होता उसे चीर-फाड़ डालते। जो कुछ सुन्दर दीखता उसे विकलांग कर देते। रातोंरात जाग कर जाने किसे गालियाँ देते। और अन्त में जाने किस का वध देख कर ठठा कर दानवी अट्टहास करते। कुछ भी जो सामान्य है, सहज है, मानवीय है, उसे सह नहीं सकते थे। विहार के ग्रन्थागार में वायुशुद्धि के लिए चन्दन सुलगता था, कीटों से रक्षा के लिए ओषधि छिड़की जाती थी। उन्हें यह असह्य था। वे घूम-घूम कर दीमकें बीन लेते और ताड़पत्रों के बीच छोड़ दिया करते। उन्मुक्त विहार करते भोले-भाले बछड़ों को मछली पकड़ने के जाल मे उलझा कर वृक्ष की शाखाओं से लटका देते थे। गोशाला के विराट् दुग्ध-भाण्डों में श्मशान से ला कर अस्थि-खण्ड छोड़ देते और आधी-आधी रात ठठा कर दानवी अट्टहास करते।

संघ से उन्हें जिस दिन निष्कासित किया गया गुरु नारोपा की पलकें सजल थीं। इस अत्यन्त मेधावी की साधना में कहाँ कौन सी कमी रह गयी कि फिर वह सन्तुलित हो ही नहीं पाया।

कहाँ है अघोरवज्र अब? तमाम सब के प्रति घृणा के किस भयानक मानसिक रौरव में जीवित उबल रहे हैं?

शान्ति दो अमिताभ! सब को शान्ति दो। अघोरवज्र को भी शान्ति दो। मेरे भाग की शान्ति भी उन्हें दो।

लेकिन यह विनिमय सम्भव है क्या? क्या एक की साधना दूसरे को शान्ति दे सकती है? या हर आदमी इस रास्ते में बिलकुल अकेला है, नितान्त अकेला—हरेक को अपना निजी निर्वाण बिलकुल अकेले, अपने-आप ढूँढना पड़ता है, क्योंकि हरेक का बिलकुल अपना निजी भव है, अपना निजी संसार, जो उस के अपने चित्त में बना है। उसे उसी ने बनाया है, वही सुलझा सकता है।

गान्धार से आगे पारस्य देश है—उस के आगे ताजिक देश है—उस के भी पश्चिम से एक भिक्षु आया था। वह कथाएँ बताता था उस धर्म की जो उधर फैला है। वह भी करुणा को मानता है, मानता है लोक-कल्याण को। (जय हो तथागत की। उन की करुणा को सब मानते हैं।) उस ख्रीस्त धर्म के आचार्य ने कहा—"मैं सब के पाप अपने कन्धों पर लेता हूँ प्रभु! सब की अशान्ति अपने मन में लेता हूँ। लोक अज्ञानी है, उसे क्षमा करो।"

पर रत्नाकर शान्ति को कोई बताये कि उस से हुआ क्या। पाप अपने कन्धों लेने वाला तो ज्ञानी हुआ, लेकिन लोक अज्ञानी का अज्ञानी रहा। लोक में पाप फिर पनपे, तो? नये रूप में पनपे, तो?

लोक या आलोक? वांछनीय क्या है तथागत? क्या दोनों अनिवार्यतः विरोधी हैं? क्या दोनों अन्ततोगत्वा पर्याय हैं? मार्ग क्या है, कोई बताये?

तुम ने कहा था कि "भिक्षुओं को मेरे वचनों की भी परीक्षा कर उन्हें ग्रहण करना चाहिए, केवल गौरव से अभिभूत हो कर नहीं।" मैं गौरव से अभिभूत भी हूँ तथागत और तुम्हारे वचन को परखना भी चाहता हूँ। तुम ने मध्य-मार्ग की बात किस लिए कही थी। लोक अपनी जगह बना रहे, आलोक अपनी जगह, मार्ग बीच से निकाल लिया जाये। पर यह तो दोनों से बच निकलना हुआ। अगर मैं आग्रह यही करूँ कि मुझे मार्ग वह बताओ जो वस्तुतः मार्ग है—तो?

लोक उस पर चले या न चले इस से क्या मार्ग की महत्ता घट जाती है?

•

पीपल की वह डाल टूट गयी जिस में उलझ कर शुक्र उगता था बरसों पहले। अब लगता है शुक्र उतना देदीप्यमान नहीं रहा। न रहीं अब वे वृद्धा माँ जो रोज शुक्र उगते समय गंगा को अर्घ्य देने आती थीं। तीर्थिक थे उन के गुरु पर वे तथागत की भी उतनी ही भक्त थीं। सम्प्रदाय की कितनी कथाएँ याद थीं उन्हें। मेरे मन की शंकाओं को

कितनी ममता से सुनती थीं और निवारणार्थ कितनी कथाएँ सुनाती थीं। अभी लोक-कल्याण की बात पर उन की वह कथा याद आ गयी।

तब मुझे दीक्षा नहीं मिली थी। वे रोज शुक्र को अर्घ्य देने गंगा तट पर आतीं, और मैं यहीं बैठा मिलता। अँधेरा होने लगता पर वे मुझे कुछ न-कुछ खिलाये बिना न जातीं। उन को अचरज था कि मैं ब्राह्मण-पुत्र था पर मुझे मीठा प्रिय नहीं था। नमक अधिक खाता था।

एक दिन मैंने विनोद मे कहा—"माँ, कल विदर्भ का एक भिक्षु बता रहा था कि महासिद्ध नागार्जुन ने दक्षिण की जटासंजय नगरी में ५०० तीर्थिकों को अकेले परास्त किया था। तुम्हारे गुरु तीर्थिक हैं न?"

वे हँसी—"नमक दूँ? क्या करूँ मेरे बेटे को नमक पसन्द है और नमक के साथ उस के तीर्थिक-विजेता महासिद्ध नागार्जुन के पराजय की कथा जुड़ी है।"

"सो कैसे?" मै ने बिलकुल बालसुलभ आग्रह से पूछा। ओह, बिलकुल कथासरित्सागर थी माँ—क्या-क्या सुन रखा था उन्होंने?

व्यंजनो में अतिरिक्त नमक डालते हुए मुझे देती गयी और कथा सुनाती गयी। नौकाओं पर लद कर पश्चिम से जो सेंधा नमक आता था वह मुझे विशेष प्रिय था, और कहानी भी उसी की थी।

बताने लगीं वे कि पश्चिम में एक प्रख्यात शैव आचार्य थे व्याली। पारद और गन्धक के योग से रसायन की सिद्धि मे लगे थे। लेकिन उन्हें कभी सफलता हाथ नहीं लगी। अन्त में उन्होंने सारे गुह्य तन्त्रशास्त्र गंगा में बहा दिये और देश-देश सिद्धि की खोज में भटकने लगे। ओडिविशा में एक छोटी-सी नदी में स्नान करते हुए उन्हें फिर वही पाण्डुलिपियाँ मिलीं। उन का अभिलेख पानी में घुला नहीं था। निश्चय ही यह सिद्धि ग्रन्थ है, उन्हे विश्वास हो गया। और वे उन्हें उठा ले गये। इस बार पारे का ठीक-ठीक शोधन हुआ और घर वालों ने देखा कि घर-भर में फूलों की वर्षा हो रही है। वे कुछ भी रहस्य समझ न सके।

लेकिन हज़ारों कोस दूर बैठे नागार्जुन को स्वप्न हुआ कि योगी व्याली को सिद्धि मिल गयी है। उन्होंने वृक्ष से पत्ते तोड़ कर दो पादुकाएँ बनायी और डाकिनियो को धरणी से सिद्ध किया—डाकिनियाँ उन्हे उड़ा कर वहाँ ले गयीं। व्याली से उन्होंने रसायन सिद्धि का पारा माँगा। व्याली ने बदले में वह मन्त्र-सिद्ध पर्ण-पादुका माँगी। उसे पहन कर व्याली पुनः भारत में लौटे। लोक में बड़ा दुःख था, दरिद्रता थी। लोग पीड़ित थे। व्याली ने धिनकोट के पर्वत को समूचा चाँदी-सोने मे बदल देना चाहा। लेकिन तब स्वयं भगवती आर्यतारा ने प्रकट हो कर कहा कि "तुम नागार्जुन से बड़े सिद्ध साबित हुए। बौद्ध-तन्त्र हारे, शैव-तन्त्र जीते। लेकिन तुम इस पर्वत को चाँदी-सोने का मत बनाओ।"

"क्यो?" व्याली ने पूछा।

भगवती आर्यतारा ने कहा कि "आगे चल कर इस रजत-स्वर्ण पर्वत के लिए युद्ध

होंगे, रक्तपात होगा–धर्म अस्त हो जायेगा।"

लेकिन व्याली आधा मन्त्र पढ चुके थे—यह झूठा नही हो सकता था। अत उन्होने उस सारी पवत-शृखला को नमक का वना दिया। प्रात सूर्योदय होता तो वह चाँदी की लगती और सूर्यास्त होता तो साने की। सो यह "शैव नमक खा रहे हो वत्स!" मुसकरा कर वह बोलीं, "और दूँ?"

मेरे कई आचार्य थे। कालसमयवज्र तो प्रश्न पूछते ही क्रोधित हो उठते थे पर जेतारि बहुत धैर्यवान् थे। उन से मैं ने दूसरे दिन पूछा था—"आचार्यवर, जब सब वस्तुएँ धर्म-शून्य हैं और उन की शून्यता का सम्यक् परिज्ञान ही निर्वाण है, तब शून्यवाद के प्रवर्तक नागार्जुन को स्वर्ण सिद्धि क्यो करनी पडी?"

"सघ के कल्याण के लिए।" जेतारि ने कहा। आगे बोले—"शैव आचार्य से स्वर्ण-सिद्धि का रहस्य जान कर आये थे और नालदा में उस समय सद्धर्म सकट में था। उन्होने आ कर स्वर्ण वनाया और धर्म को बचाया।"

"धम अपने को बचाने के लिए स्वत यथेष्ट नही होता आचार्य! इतना दुर्बल होता है कि उसे बचाने के लिए स्वर्ण की आवश्यकता पडे?" जेतारि क्षण-भर मेरे मुँह की ओर देखते रहे, फिर मुँह पर आयी बात दबाते हुए बोले—"यह रहस्य की बात है। आगे जानोगे।"

और सचमुच आगे चल कर जाना। अच्छा होता कि न जानता। लेकिन न मालूम इस रत्नाकर शान्ति के भाग्य में जानना ही जानना क्यो बदा है?

मैं जब सिहल द्वीप से लौटा लेकिन पहले अपने सिहल जाने की बात बता दूँ। कभी कभी मुझे लगा है कि ज्ञान का क्षेत्र पृथक् है, सघ का पृथक्। शुद्ध ज्ञान की खोज और सघ का अनुशासन कभी-कभी एक-दूसरे के विरोध में जा पडते हैं। लेकिन विचित्र है आचार्य श्री गुरु नारोपा की व्यवहार-बुद्धि। वे इस विरोध का भी सघ के पक्ष में उपयोग कर लेना जानते हैं।

मैं सुनता था कि मैं प्रतिभाशाली हूँ। मेरी प्रज्ञा विशेष रूप से जाग्रत् है। साधना की आरम्भावस्था में ही मालव के तन्त्रपीठों में मुझे आर्यतारा की विशेष कृपा मिली थी। अत इस सकट के समय जब तीर्थिक, नाथ योगी, श्रावक सभी सद्धर्म के विरोधी हो रहे हैं—मुझी को सघ सचालन का भार सौंपा जाना है। मुझे विक्रमशिला के पश्चिमी द्वार का अधिष्ठाता नियुक्त किया गया। लेकिन मेरी शकाओ का अत कही दीखे तब न। गुरु अघोरवज्र से भी कभी-कदा एकाध गहरी झडप हो जाती।

गुरुश्री ने कहा—"तुम सिहल जाओ। वहाँ के राजा को स्वप्न हुआ है कि हीनयानियो के पजे से सद्धम का उद्धार कर महायान के प्रसार के लिए भारत से रत्नाकर शान्ति को बुलाओ।" गुरु की महिमा। अगले पखवारे सचमुच सिहल से दूत आ पहुँचे और मैं सिहल गया।

समुद्र में आश्वासन देने की अद्भुत शक्ति है। शैवो ने हिमालय को चुना। हिमा-

लय मन को उदात्त करता है, शान्ति भी देता है पर मन मे यह भावना जगा कर कि नीचे जो छोड़ आये हैं वह सब हेय है—निरर्थक है। समुद्र मे आत्मीयता है। विशाल लहरों मे बालू के तटों पर पछाड़ खाता हुआ विक्षुब्ध रत्नाकर मेरे मन से मिलता है। लगता है केवल मैं ही नही यह भी कितना विक्षुब्ध है—अनादि काल से। और ज्यों-ज्यों आलोक पूर्ण होता है, त्यों-त्यो इसे शान्ति नहीं, अशान्ति ही मिलती है। पूर्णिमा की रात का समुद्र देखिए। और सोचिए कि वह आलोक, वह चन्द्र जो इसी की समस्त उद्विग्नता का आधार है—इसी के मन से उपजा है। तभी न गुरु ने मुझे समुद्र-यात्रा को भेजा। अद्भुत है उन की दृष्टि। मुझे आत्मीयता मिली, सिंहल को धर्म मिला, संघ मे विरोध बचा—

हाँ, तो जब मै सिंहल से लौटा मगध मे भयंकर दुर्भिक्ष था। न पेड़ों मे पत्ते बचे, न घोंसलों मे चिडियाँ, न नदी में मछलियाँ। रात-रात तक हूँ-हूँ करती हुई रेतीली आँधियाँ बहती, गंगा में शवों के झुण्ड बहते दीखते। मगध-भर में यह प्रसिद्ध था कि बौद्ध विहारों मे नागार्जुन के समय का अगाध स्वर्णकोष भरा पड़ा है। स्वयं भिक्षुओं ने यह बात बढ़ा कर कही थी कि इस से लोक-मानव पर बौद्ध धर्म का प्रभाव बढ़े।

वही बात हमारे लिए हानिप्रद बन गयी थी। रातों को भयावने नर-कंकाल घातक अस्त्र ले कर विहार के परकोटे को तोड़ने की घात में घूमा करते थे। सुना था शैव-योगियों ने उन्हे मन्त्राभिषिक्त त्रिशूल बाँटे है, वैष्णवों ने गदाएँ और चक्र बाँटे हैं, शाक्तों ने खाँड़े बाँटे है कि बौद्ध विहारों को लूट लो।

दीपंकर श्रीज्ञान ने बड़ी कुशलता से रक्षा का प्रबन्ध कर रखा था। वे मेरे सुयोग्यतम शिष्य और उत्तराधिकारी है। उन के मन मे शंकाएँ नही उठतीं, वे समाधान नही खोजते। बस उन के सामने एक समस्या आती है और वे उस का निराकरण खोज लेते हैं। संघ की रक्षा हो उसी से धर्म की रक्षा होगी, यह उन्होंने निर्णय लिया।

मैं भारत लौटा तो सामन्त चणक ने अपने ५० सशस्त्र अश्वारोही मेरे साथ कर दिये थे। ग्राम उजड़े पड़े थे। झाड़ियों मे क्षुधार्त्त लुटेरों के झुण्ड छिपे बैठे रहते। मुझ से खाया नही जाता। राह मे अकसर घोड़े शवों को लाँघ कर चलते और पालकी ढोने वाले भारिक राह बदल देते।

विहार में पहुँचा तो बहुत उत्सव मनाया गया। सिंहल मे सद्धर्म की विजय हुई थी। शैवों, शाक्तों, वैष्णवों के हृदय पर साँप लोट गये थे। रात-भर मन्त्रोच्चार और शृंगीनाद हुआ। बरछे और धनुष ले कर परकोटे पर प्रहरी भिक्षु निरन्तर पहरा देते रहे। दीपंकर ने मारक धरणी का विशेष जाप करवा कर विहार के चारों ओर दस योजन तक रक्त-पिपासु अदृश्य डाकिनियों का जाल बिछा दिया था जो पाते ही शत्रु को चबा डालेंगी। दक्षिण तोरण के पास एक बहुत बड़ा तहखाना बनाया गया था। वहाँ कैवर्ती-चक्र का विशेष आयोजन हुआ।

यह एक नया आम्नाय था जो मेरी अनु-

परिस्थिति में चला था। अभी तक साधक में आवेश जगाने के लिए बारह से बीस वर्ष पर्यन्त की कन्या मुद्रा रूप में स्वीकृत होती थी या तो डोम्बी, चाण्डाली, रजकी, शबरी या ब्राह्मणी, क्षत्रिया, वैश्या। पर एक नया आम्नाय चला था जो यह मानता था कि कैवर्ती सर्वश्रेष्ठ है, शेष सभी उस से नीची। उस का एक दर्शन था। हर चीज का दर्शन तैयार करने में मध की प्रज्ञा बहुत जाग्रत् थी।

पर इस का असली कारण क्या था मैं तो यह जानना चाहता था। कारण भी ज्ञात हो गया। ब्राह्मण और क्षत्रियों पर वैष्णव प्रभाव बढ रहा था। वैश्य श्रावकों के प्रभाव में थे। शूद्रों में से बहुत से शैव नाथ-योगियों के प्रभाव में आ रहे थे। केवल कैवर्त अभी बौद्ध-प्रभाव में थे। केवल कैवर्ती युक्तियाँ उपलब्ध थीं, अत वे सर्वश्रेष्ठ मान ली गयी।

उस के लिए तर्क थे। वे मछली पकडती हैं। मछली है चचल चित्त। जो चचल चित्त मारे वह साधिका। वे नाव चलाती हैं—गगा-यमुना में। गगा-यमुना हैं ललना और रसना नाडियाँ। वे उन्हें पार कर अवधूती में विहार करती हैं।

पर उस रात मैं ने जो देखा वह कर्पूर भैरव वाले दृश्य की ही भाँति हृदय-विदारक था। वह कैवर्ती बालिका बहुत छोटी थी। ग्यारह वर्ष की। उस की विशेष पूजा की गयी थी। अन्य सब मुद्राएँ थीं, वह थी स्वत साक्षात् भगवती नैरात्मा। अभिषेक प्रक्रिया प्रारम्भ हो रही थी—शख और वाद्य बज रहे थे—और वह अकस्मात् भयभीत हो गयी और चीत्कार कर उठी। उस की चीत्कार बाहर न जाये अत वाद्य दुगने वेग से बजने लगे।

मेरा मन विद्रोह कर उठा। मैं ने बाहर जाना चाहा। द्वार भी खुलवाया पर देखा बाहर बडी भीड है—क्षुब्ध स्त्रियों की। शायद उस कन्या के लिए। लेकिन ज्ञात हुआ कि कारण दूसरा है।

आजकल मण्डल-चक्रों के लिए ये कन्याएँ एक स्वर्ण-मुद्रा दे कर लायी जाती हैं। दुर्भिक्ष के कारण कैवर्ती माताओं की भीड अपनी कन्याओं को लिये खडी है। उन्हें क्षोभ है कि उन की कन्याएँ तो और भी कम उम्र की हैं। उन्हें मण्डल-चक्र के लिए क्यों नही लिया गया।

ओह! महासिद्ध नागार्जुन, तुम ने प्राणि मात्र के कल्याण के लिए स्वर्ण बनाया था? कल्याण किसे कहते हैं आचार्य?

वह रात मेरी बहुत उद्विग्न बीती। मैं परकोटे पर इधर-उधर खडे हो कर चाँदनी में, सूखे खेतों में गिद्धों से खाये जाते हुए ढोर-डगर के शवों को देखता रहा। दूर से तुम्हें भी देखता रहा माँ गगा! इतना जल तुम में, लेकिन लोक प्यासा का प्यासा!

प्रात काल ही मैं ने दीपकर को बुलाया। "बाँट दो जितना अन्न है भण्डार में। बाँट दो जितना स्वर्ण है कोष में।" दीपकर सहमत नही थे। न सहमत थे महाश्रमण। महाश्रमण का तो कहना था कि लोक को सद्धर्म से वैर करने का दण्ड मिल रहा है। अच्छा है—मरने दो मूर्खों।

पर दीपंकर ने गुरु की व्यथा समझी। सारा विरोध अपने माथे स्वीकार कर अन्नागार और स्वर्णागार का काफ़ी बड़ा अंश बँटवा दिया।

सद्धर्म की जयजयकार हुई। शैवों, वैष्णवों, श्रावकों ने मुँह की खायी। और लो, चार दिन बाद वर्षा आ गयी। दीपंकर ने श्रेय गुरु को दिया। जनता ने माना कि मैं ने इन्द्र पर विशेष मन्त्र का प्रयोग कर वर्षा बुलायी। बौद्धों पर लोक की आस्था लौट आयी। डूबते-डूबते बचा संघ। नमित हूँ नागार्जुन, तुम्हारे समक्ष। तुम स्वर्ण-सिद्धि न करते तो।—

लेकिन मैं ने जाना तब, जब उस दिन मरणोन्मुख वृद्ध श्रेष्ठी को आशीर्वाद देने नगर की ओर गया। उस छोटे से नगर मे दो सौ गणिकाएँ तो होंगी। और कम से कम पचास आपानक गृह। ज्ञात हुआ कि यह संघ की मुद्राओं का चमत्कार है। पहले कैवर्तियों को देने योग्य स्वर्ण मुद्राएँ केवल बौद्ध संघ के पास थी—बँट जाने के बाद अब सभी के पास है। सैकत धूसर केशों वाली, मत्स्य की दुर्गन्ध से सनी वे मल्लाहिनें अब चन्दन अगरु से केश वासित कर मल्लिका की मालाओं से सज कर बैठती हैं। और नगर में छोटे-छोटे कितने ही शैव, शाक्त, वैष्णव, श्रावक मण्डल-चक्र आयोजित होते है जिन मे वे बुलायी जाती है।

लोक! लोक!! लोक!!! लोक का कल्याण किस मे है तथागत! कहाँ जा रहा है यह महायान जिस मे हम ने समस्त लोक को बैठाने की कामना की थी।

•

अरण्य रोदन की एक सीमा होती है। कुक्कुरीपा के कुक्कुर भी भूँक-भूँक कर चुप हो गये हैं। केवल हरहरा रही हैं ये पीपल की डालें, कल-कल कर रही है यह गंगा और दूर के उस शमीवृक्ष के पीछे से निकल रहा है पीला उदास चन्द्रमा।

एक उदासी भरी थकान व्याप्त दीखती है सारे संघ पर। गुरु नारोपा तक थक चुके हैं। मैं ने उन से पूछा कि नालन्दा में यह जो नयी पद्धति कालचक्रयान चली, वह क्या है? तो ऊबते हुए बोले कि "यह तो समय है, कुछ पुराना पड़ेगा तो कुछ नया आयेगा। मैं तो तटस्थ हूँ—कुछ आये—कुछ जाये। नया, पुराना यह तो सब शून्य में बँधी हुई ग्रन्थियाँ है। बँधे तो शून्य खुलें तो शून्य।"

सचमुच लोग भ्रान्त हैं, ऊबे हुए है। कुछ भी नया हो वे पागल की तरह पीछे दौड़ पड़ेंगे। एक-एक दिन मे सौ-सौ नये आम्नाय बनते हैं और दो दिन बाद लुप्त हो जाते हैं। हर कोने मे चार आचार्यत्व के इच्छुक अशैक्ष्य साधक मिल कर एक नया आम्नाय गढ़ लेते है और फिर सिर-फुटौवल होती है। मतभेद के आधार भी अद्‌भुत होते हैं। तीसरे चक्र पर चित्त स्थित होने पर घंटे का रव सुनाई पड़ता है या मृदंग का। आलिंगन मे मातंगी अधिक सुख देती है या शबरी। यह सैद्धान्तिक मतभेद के आधार बन जाते है। और अष्ट साहस्रिका, गुह्य समाजतन्त्र तथा अनेकानेक शास्त्रों से श्लोक

उद्घृत किये जाते हैं और गाली-गलौज भरा शास्त्रार्थ होता है। फिर कोई साधक अपने चार मित्रों सहित शैव हो जाता है—कोई वैष्णव अपने सखा, सखी सहित बौद्ध हो जाता है।

धार अवरुद्ध हो गयी है। दसों दिशाओं में हहराता हुआ दिशाभ्रष्ट जल-प्रलय। हर नयी चीज एक तिनका है जिसे अपने से ऊबे हुए, अपने से हारे हुए लोग सहारा बना कर भव सागर के पार जाना चाहते हैं और हर ऐसे नाचीज तिनके पर एक बोझा-भर दर्शन और तर्क भी लाद लेते हैं। हाय री विडम्बना!

उत्साह केवल दीपकर में दीखता है। उन की प्रकृति कर्मठता की है, उन का विश्वास सगठन में है। जो कुछ तात्कालिक ह उस से परे देखना नहीं चाहते। इसी लिए शकित नहीं होते।

पर उन्हें मैं जानता हूँ—अतिशय सधे हुए हैं वे। अपनी पीडा नहीं स्वीकारना चाहते, पर कभी नेपाल, कभी दक्षिण, कभी गान्धार, कभी तिब्बत जाने के स्वप्न बुनते रहते हैं।

"बराबर देश छोड कर विदेश जाने की क्यों सोचते हो दीपकर?" मैं ने एक दिन उन से वात्सल्य से पूछा तो कुछ नहीं बोले, केवल झुक कर मेरी चरण-धूलि ली और कहा, "उन देशों में गुरु की चरण-रज पहुँचाने।"

दीपकर मेरे शिष्य हैं—मुझ से बहुत छोटे, पर कभी-कभी मेरी सँवार इस तरह करते हैं जैसे वे मेरे अभिभावक हों। और मन को यह अच्छा लगता है। पर उन की यह सँवार पुकार-पुकार कर कहती है कि रत्नाकर शान्ति अब तुम पर थकान आ रही है। शायद, सचमुच जूझते जूझते जैसे कहीं थकान आने लगी है।

पर हाय रे! यह रत्नाकर शान्ति का मन। सागर की लहर-सा एक बार पीछे हट कर फिर दुगने वेग से तट खोजने को दौडता है, हहराता हुआ। सघ की बागडोर सौंप दी है दीपकर को। बिलकुल अलग हूँ अब। गगा तट पर पीपल की इन जडों के बीच आ कर बैठता हूँ तो जैसे एक बार फिर अपनी बीती आयु को खोजता हूँ। आह! यदि एक बार इस सब को जैसे देखा है, जाना है, भोगा है, पाया है, खोया है—उसे बालू पर लिखे अक्षरों की तरह मिटा कर फिर से बिलकुल नये बिन्दु से जीवन आरम्भ कर सकूँ तो!—

पर हर बार तट से टकरा कर यह ज्वार यही पाता है कि अब न यह वह ज्वार रहा, न वह तट रहा। माँ गगा! वह कौन-सा दर्शन पाया है तुम ने विष्णु के चरणों में, शिव की जटाओं में, कि हर क्षण सागर में लीन भी होती रहती हो और हर क्षण हिमालय में जन्म भी लेती रहती हो!—

काश, कि आलोक की प्यास मिट जाती मन से। काश, कि लोक की चिन्ता मिट जाती मन से। काश, कि याद रह जाते केवल प्रतीत्य, समुत्पाद, दश-भूमियाँ, बीजाक्षर, धरणी-मन्त्र, अभिषेक और अनुष्ठान। और

[शेष पृष्ठ ४०९ पर]

वायलिन पर तिलककामोद

•

रमेश बक्षी

पूर्व कथन :

नयी कहानियाँ लिखते अन्वेषण-प्रयास में एक बिन्दु पर मन रुका। लगा कि अनुभव और अभिव्यक्ति प्रभाव की एक डोर से संगुम्फित हैं। किसी व्यक्ति, दृश्य या घटना का क्षण-खण्ड ही तो वह सब-कुछ अनुभूत है, जो सृजेता के साँचे में ढल कहानी बनता है। जिस क्षण कुछ देख-सुन-समझ रचना का जन्म हो जाये, इस का नामकरण सम्भव नही। कलाकार का अनुभावक मन जो कैमरे का डमी-स्क्रीन होता है जिस पर जीवन-जगत् के समस्त कोण-उपकोण प्रतिच्छवि बनते हैं—इन अनवरत दिखते छाया-चित्रों में से कोई भी किसी भी क्षण कहानी बन जाता है। मेरा प्रयास रहा है कि ऐसे प्रभावानुभव को प्रथम पुरुष, वर्तमान काल में लिखूँ। अपनी इस प्रकार की प्रभाववादी कहानियों के पात्र डिट्टो वैसे के वैसे ही हैं जैसे देखे है। नाम-धाम से सर्वथा अपरिचित, प्रभाव-ग्राही मन बिना रेखा, बिना रंग ही चित्र को सम्पूर्ण बनाने का दुस्साहस करता रहता है। घटना का प्रश्न नहीं उठता, वह तो गौण नहीं, गौणतम है। मेरा लेखक तो कथा के शास्त्रीय तत्त्वों से प्रभाव लेखन को मुक्ति दिलाये है। कोई कह सकता है कि ये कहानियाँ कविता के निकट है, मै दावा नहीं करता, न ही नकारात्मक उत्तर ही दे रहा हूँ। द्विवेदी युग 'कविता मे कहानी का युग' था, हम आगे भी तो बढ़े है उस युग से तो अब प्रभाव का युग 'कहानी मे कविता का युग' बन जाये तो आश्चर्य नही ! वस्तु, चरित्र, संवाद देशकाल आदि संज्ञाओं से अभिहित निश्चित कथा-तत्त्वों से सर्वथा मुक्त ये प्रभाववादी कहानियाँ 'कहानी' की परिधि में आती है या नहीं—नही जानता पर मैं इन्हे

कहानी ही कहता हूँ। शीर्षक की सिरखपाई से भी मुक्ति पाने का प्रयास कर रहा हूँ—प्रभाव के क्षण खण्ड को कहानी का नाम दे देता हूँ। अपनी लिखी इसी दिशा की प्रभाववादी कहानियों में (मिसाल के लिए कुछ 'कुछ बच्चे, कुछ माँएं,' 'बहती नावों में सपनों का तैरना,' 'थर्मस में बंद कुनकुना पानी,' 'किस्सा एक शुतुरमुर्ग का', 'मेज पर टिकी हुई कुहनियाँ', 'एक पौवे की जीवनी', 'तर्वा करदन तमामी उम्र') मैं ने चित्र-कला के ऐब्स्ट्रेक्ट शिल्प और सांकेतिक योजना का बहुत सहारा लिया है। इम्प्रेशनिज्म के अनुष्ठाता Monet, Renoir, Pissarro और Sisley तथा न्यूओ-इम्प्रेशनिज्म के पथ-प्रदर्शक Seurat और Signac ने अनुभव की अनवरतता तथा तत्परता को चित्रलेखन में जिस तरह मूल रंगों के संक्षिप्त और शीघ्र स्पर्श से प्रस्तुत कर प्रभाव उत्पन्न किया है—वैसे ही प्रयास का अनुकरण मेरा लक्ष्य रहा है। इस पूर्व-कथन के साथ कहानी प्रस्तुत कर रहा हूँ—'वायलिन पर तिलककामोद'।

•

सभी अपने-अपने व्यस्त हैं। बस तेज रफ्तार से चल रही है। आसपास की सीनरी आँखों को छूती हुई गुजरे चली जा रही है। मैं अपनी सीट पर बैठा बारी-बारी तीन तरफ देखता जाता हूँ, अपने कंधे से लगी बैठी पत्नी की तरफ़, जो पास बैठे दो बच्चों की सार-सँभाल में लगी है, सहज रूप से उस का कंधा मेरे कंधे से टकरा जाता है, कभी कभी बच्चा ज़िद करता है तो वह उसे डाँटती है और मेरी तरफ़ देख कर कहती है—"सुनो जी, कैसी ऊधम कर रहे हैं, कुछ कहो न इन से।" पर मैं कुछ नहीं कहता और आँखें दूसरी ओर घुमा लेता हूँ। मेरी बाँयी ओर एक अजीब आदमी बैठा है—सूटेड-बूटेड, हाथ में छोटा-सा ऑल ट्रान्जीस्टर रेडियो लिये। वह उसे बजा रहा है। कहता है "अमेरिका गया था तो वहाँ से ढाई सौ में खरीद कर लाया हूँ। सिगरेट, लाइटर और रेडियो, ये तीन चीजें हमेशा रहती हैं मेरे पास।" वह कुछ न-कुछ कहे ही जा रहा है और सारी बस का ध्यान अपनी ही ओर आकर्षित किये हुए है। मेरी आँखें उस के रेडियो पर नहीं ठहरतीं हैं। मैं अपने सामने की सीट पर बैठे जोड़े को देखने लगता हूँ। दोनों एक दूसरे की ओर मुँह किये जाने क्या बातें कर रहे हैं, मुसकराये जा रहे हैं, साफ लग रहा है कि शादी इसी मौसम में हुई होगी। पास बैठे, बार-बार कहते हैं कि "आप सीधे हो कर बैठिए कि कम जगह में बैठ सकें", पर वे इस बात के लिए बहरे हैं। लड़की है कि सौन्दर्य की मैं परी, हूर या प्रतिमा जैसे शब्द का उपयोग नहीं करना चाहता क्योंकि वह इन सब से बढ कर है। नारंगी कोसे की साड़ी पहनी है, जिस की बॉर्डर पर ज़रीतारों का मोर नृत्य कर रहा है, लगता है यह मोर आज के दिन अपने भद्दे पैरों को देख कर भी नहीं रोयेगा। उस के मखमली ब्लाउज पर कोई कसीदा नहीं, कोई डिजाइन नहीं, सीधी गोल कॉलर और कुहनियों से एक इंच आगे

आयी आस्तीनें—पर कपड़े तो कोई भी पहन सकता है, मेरी पत्नी भी। नहीं, लेकिन वह वही है। उस की कंजी आँखें जिधर को जाती है लगता है जैसे कोई नटखट बच्चा धूप मे बैठ कर आईने से सूरज की किरणें फेंक रहा है। मैं इसी लिए तो परेशान हूँ कि वह नटखट मेरी ओर भी किरणें क्यों नहीं फेंकता? डरता हूँ कि मेरी पत्नी अगर एक क्षण को भी मुझे उस की ओर देखते देख लेगी तो इस बेतरह जलने लगेगी कि मेरा अपना-आप झुलस जायेगा उस की ईर्ष्या से। पर ईर्ष्या तो मुझे हो रही है, कंजी आँखों वाली के पति पर, कितना खुशनसीब है!

ऑल ट्रान्जीस्टर रेडियो वाला अजीब आदमी अपनी घड़ी देखता मुझ से पूछ रहा है, "क्या बजा?"

कहता हूँ—"एक पच्चीस।"

"तब तो ठीक है"—वह रेडियो को तरफ़ किसी आशा से देख रहा है। रेडियो पर किसी की वार्ता चल रही है—"हाँ तो मैं कहना चाहता हूँ कि सहकारिता से ही देश का कल्याण होगा। सहकारिता एक ऐसा अमोल अस्त्र है······।" हालाँकि कान पर ढक्कन नहीं जो सुनना बन्द कर दूँ पर ध्यान हटा लेता हूँ उस बार वार्ता पर से। ऑल ट्रान्जीस्टर रेडियो वाला अजीब आदमी फिर कुछ कह रहा है, कि वार्ता समाप्त हो गयी। वह बोला—"एक बीस पर मेरा एक दोस्त रेडियो पर वायलिन बजाने वाला है, उसी प्रोग्राम को सुनने के लिए इतना उत्सुक हूँ।"

"तीन मिनिट बाक़ी है एक तीस को।" मैं कहता हूँ इतना और कंजी आँखों वाली की तरफ़ देखता हूँ। अब उस ने बैग मे से कुछ निकाल लिया है और वह दोनों खा रहे है, जाने क्या चीज है कि जो चबाने में दाँतों से चिपक जाती है और उस की जबान उस चिपकन को छुड़ाने में हाथ धो कर जुट जाती है। अब तो मुझे यूँ लगने लगा कि नटखट बच्चा हाथ में कई शीशे लिये है और हर दिशा में सूरज का चिलका किये जा रहा है।

"अभी तीन मिनिट है न, तो फ़िलर बजा दिया।" ऑल ट्रान्जीस्टर रेडियो वाला अजीब आदमी किसी से कह रहा है, 'फ़िलर तो जानते ही होंगे आप? प्रोग्राम शुरू होने मे कुछ देर हो और पहला प्रोग्राम पूरा हो गया हो तो उस समय, वक़्त पूरा करने के लिए फ़िलर बजाया जाता है। वाह, क्या ट्यून है!" सच ही वायलिन पर कोई बेहद प्यारी धुन बज रही है। इतनी प्यारी धुन बज रही है और वह कंजी आँखों वाली मेरी ओर देख ही नही रही। बार-बार उस की कोसे की साड़ी के पल्ले मे हवा भर जाती है और ब्लाउज के मखमल पर वह उड़ने-फिसलने लगता है, जैसे किसी ने साफ़ नीले आसमान में नीले रंग का गुब्बारा ऊपर उड़ा दिया हो। बच्चे ने जाने क्या किया कि मेरी पत्नी ने उस के कान मे चाबी भर दी, वह रोया तो नहीं पर उइंयांने लगा।

फिलर की धुन बज कर फेड-आउट हो गयी है। ऑल ट्रान्जीस्टर रेडियो वाले अजीब आदमी ने सब का ध्यान फिर अपनी ओर खींचा—"अब मेरा दोस्त वायलिन बजायेगा।

मैं पूछना भूल गया कि कौन-सा राग आज शिड्यूल है उस के लिए।" इतने में एनाउन्स-मेंट हुआ और उस का दोस्त राग पीलू छेड़ने लगा। सब चुपचाप सुनने लगे।

"देखिए ना इसे। मने क्यों नहीं करते। यह गुनी मुझे दाँत से काट रही है।" मेरी पत्नी की ये बातें मुझे बेहद बुरी लग रही हैं। दस साल से सब एक जैसा-सा पत्नी, बच्चे, ये, वो चल रहा है और मेरी रुचि घिसी हुई ब्लेड भी हो गयी है। पर यह कजी आँखों वाली जुल्म ढा रही है। इस के पास एक मिनिट भी नहीं है कि यह उचटती नज़रों से मेरी ओर देख ले।

वायलिन पर राग पीलू चल रहा है। उस की धुन उदास-उदास है। दिन चढ़े ऐसा राग सुनने को मन नहीं हो रहा है। वह धुन चल ही रही है और बस किसी शहर में ठहर गयी है। मैं सोच रहा हूँ कि बस के सारे लोग उतर जायें पर ये दोनों नहीं उतरेंगे। मुझे तो अपने कन्धे को नजात देने उतरना ही पड़ता है।

राग पीलू की धुन उसी तरह बोर कर रही है जैसे मेरी पत्नी किसी भी बात को ले कर मुझे बोर कर डालती है। पर बस के ठहरते ही वे दोनों व्यस्त हो गये हैं। मैं डरा कि यह कजी आँखों वाली यहीं न उतर जाये। वे दोनों किसी को ढूँढ रहे हैं, शायद वह कोई भी इन के साथ जाने वाला है या जाने वाली है। उस का मकान दूर है और बस ठहरेगी इतनी देर कि मैं वहाँ जा कर लौटा नहीं जा सकता। वे दोनों कुछ बातें करते हैं और तय यह होता है कि उस का पति यहीं ठहर रहा है। वह, जिसे यहाँ आना था उसे ले कर दूसरी बस से आ जायेगा।

मेरा मन खुश हो रहा है कि अब वह शायद मेरी ओर देख ले। रास्ते-भर वह पति से झूम झूम कर बतियाने में व्यस्त रही है तो बड़ी बेचैनी लगेगी उसे। ऐसे बेचैन मौके का लाभ मुझे मिल सकता है।

बस स्टार्ट हो गयी है। वह बोर राग समाप्त हो गया है। ऑल ट्रान्जीस्टर रेडियो वाला अजीब आदमी स्विच ऑफ करते कहता है—"बोर कर दिया। मेरा दोस्त है। वायलिन अच्छा बजा लेता है पर इस राग पीलू से सिर-दर्द करने लगा है।"

सच, वह कजी आँखों वाली बेचैन है। उस ने सिर घुमाया है। कोसे के पल्ले को कन्धे पर दबा लिया है और उदास-सी है। मैं तो उसी पर आँखें लगाये हूँ। भला है कि पत्नी बेबी की चोटी गूँथने में लग गयी है। जैसे पत्थर फेंकते पानी में लहरों की भीड़ टकराने लगती है आपस में, वैसा ही मुझे कुछ लग रहा है। उस ने, उस कजी आँखों वाली ने, कोसे की नारंगी साड़ी वाली ने मेरी ओर देखा है। मैं एक क्षण को मुसकराया हूँ और वह भी मुसकरा दी है। मुझे अपना आप जलतरंग के पानी भरे बड़े प्याले सा लग रहा है जिसे कजी आँखों वाली ने कजी कनखियों के हाथों कँपा डाला है। मुझे लगा कि नटखट बच्चा शीशे की जगह धूप में नीलम ले बैठा है और वह उस की इन्द्रधनुषी परछाइयाँ डाल रहा है मुझ पर। बरसता पानी तो

किसी भी बरतन में गिर सकता है, कंजी आँखों की बिजली वह अपने पति पर गिराये या मुझ पर, बात एक ही है ।

बस चली ही है कि किसी ने हाथ बताया है । बस रुक गयी है । कण्डक्टर ने दरवाजा खोला है तो कंजी आँखों वाली का पति आ गया है । वह खिल उठी है । पति ने बतलाया कि जिसे आना था वह पहले ही चला गया है । वे एक-दूसरे की ओर चेहरे किये फिर मुसकराने लगे हैं । अब उस के मेरी ओर देखने का सवाल ही नहीं उठता ।

आल ट्रान्जीस्टर रेडियो वाला अजीब आदमी अब इत्मिनान से बातें कर रहा है । कह रहा है—"राग पीलू ने बोर कर दिया पर तिलककामोद ने मजा ला दिया ।"

"तिलककामोद ने ?" मैं प्रश्न देकर उस की ओर देखने लगता हूँ ।

"वायलिन पर तिलककामोद बजा तो था—वह फ़िलर । मजा आ गया था । राग पीलू की जगह वही बजाया जाता इतनी देर तो मज़ा आ जाता ।"

"हाँ, साहब, बड़ा अच्छा राग था ।" मैं यह सोचते कह रहा हूँ कि कभी कंजी आँखों वाली लड़की मेरी ओर देखती ही रहती, वायलिन पर तिलककामोद छिड़ता ही रहता···

"पर ऐसा नहीं हो सकता । फ़िलर तो फ़िलर है ।" आल ट्रान्जीस्टर रेडियो वाला अजीब आदमी कह रहा है ।

"और राग पीलू की धुन इस दोपहर में ! ग़जब की बोर थी ।" यह सुन मेरी पत्नी मुझे कन्धे का धक्का दे कर पूछ रही है—"क्या कहा ?"

राग पीलू सुनते समय जैसा मुँह बना लिया था, वैसा ही मुँह बनाकर मैं कह रहा हूँ, "तुम से कुछ नहीं कहा ।"

[मार्च १९६१]

[रत्नाकर शान्ति····पृष्ठ ४०४ का शेषांश]

भूल पाता मंगोल भिक्षु को भँभोडता हुआ कर्पूरभैरव, भूल पाता वृद्धा माँ का सहज ममता-भरा सौम्य मुख । भूल पाता उस द्वादश वर्षीया कैवर्ती बालिका की मर्मान्तिक चीत्कार ।

काश, कि मन शून्य हो कर शून्य में लीन ही हो पाता । पर क्या करूँ अपने इस चित्त को जो शून्य है पर शून्य से जूझता हुआ, जो शून्य है पर शून्य पर शंका करता हुआ, जो शून्य है पर शून्य के परे कुछ खोजता हुआ ।

प्रणाम है तुम्हें वैरोचन, प्रणाम है तुम्हें आर्यतारा, प्रणाम है तुम्हे गुरु श्रीपाद ! लेकिन मैं क्या करूँ चित्त की इस विचित्र स्थिति का जो न भव की है, न निर्वाण की ।

मार्ग क्या है वैरोचन ?

[नवम्बर १९६०]

हौले-हौले नच कुडिये

(पजाबी लोक-गीतों में पारिवारिक जीवन)

●

देवेन्द्र इस्सर

छरेरा बदन, सरो कद, लम्बे स्याह बाल, काली गहरी आँखें, खिलता हुआ फूल, शोले-सी लप कती रूपसी। यह नाजो है।

एक दिन नाजो के हाथ पीले हो जाते हैं। लडका घोडी पर सवार होता है। सेहरा बांधता है और तूतियाँ बजती हैं। बारात का स्वागत होता है। औरतें 'सिठनियाँ' देती हैं

कुडी ता साडी तिले दी धार ए
मुडा ता लगदा कोई कुम्हार ए
जोड ता जुडदा नही
जोड ता जुडदा नही निरलज्जयो
लज्ज तुहानू नही

लेकिन लडका इस मजाक का बुरा नही मानता। वह 'छन्द' पढता है और अपने सास-ससुर के गुण गाता है

छन्द परागे आइए-जाइए
छन्द परागे फली
सौहरा फुल गुलाब दा
सस्स चबे दी कली

मुक्लावे के समय नाजो रोती है। उसे अपना बाबल याद आता है। सखी सहेलियों को

छोड़ने का ग़म है। सब को रोते देख कर वह भी रोने लगती है :

मैं क्यों मुकलावे जावां
मित्रां दा देस छड के

लेकिन वह अपने पति को धीरे से आश्वासन देती है :

मै तां कुड़ियां दा दिल परचावां
रोंदी ना साथों जोडी सोहणया

नयी बहू का स्वागत खत्म हुआ और अब उसे हर समय घर का काम-काज करना पड़ता है। नाजो सास से कहती है:

ससे मैनूं तां करें तगडइयां
अपणे नी दिन भुल गये
तेरे टुकडे खाण नहीं आयो
वे सौ गइयों दोपट्टा तान के

नाजों घर मे अपने पति के बिना नही रह सकती। जब पति को गाँव छोड़ कर परदेश जाना ही पड़ता है तो नाज़ो अपनी सास से रो-रो कर कहती है।

ससे वेख जवानी मेरी
भरती तूं पुत रोक ले

लेकिन उस का पति जाने पर विवश है। और वह कहती है :

जांदया दो पिठ दिखदी
भांवे सड़ जाये तवे दी रोटी

और लो, बरसात आ जाती है :

काले बादल आ गये बिजली दे लिश्कार
मेरे नयन उडीक विच, वरसन मूले धार

अकेले सूने घर में वह अब उदास रहती है :

लीरां लमकन सूट दियां
मैं बैठी रोवां चन्ना
माहिया पींगां झूट दियां

वह अपने पति को पत्र लिखती है :

शकर होवे तां वंड लां वे चीरे वालया
रूप न वंडिया जाये जानी मेरया

वह अपनी सास से शिकायत कर के कहती है :

ससू नी तेरे पंज पुतर
दो देवर दो जेठ
जेहडा साड़े हाण दा
ओ ही गया परदेश

सास उस का उत्तर भी देती है और दिलासा भी

नूहें नी बड़बोलिये
ऐंडे बोल न बोल
चार दिहाड़े नौकरी
सदा तुहाडे कोल

बेचारी ससुराल मे सास के ताने सहती है और जिस माही के लिए उस ने अपना मायका छोड़ा था वह भी परदेश में है :

नी में टूट गयी भरावां नालूं
इक तेरी जिन्द बदले

और तब पति की चिट्ठियाँ आने लगती है।

और आखिर नाजो के आग्रहों पर माही घर वापस आ रहा है। नाज़ो खुशी से उमड़ कर नाच उठती है, और दौड़ी-दौड़ी स्टेशन जाती है :

गडी आ गयी टेशन ते
परां हट वे बाबू
सानू माहिया वेखन दे

[नवम्बर १९६१]

दीवाने खास और मोती मस्जिद के पश्चिम में एक संगीन तालाब है। उस के बीच में जो एक खूबसूरत महल है, उसी को 'जलमहल' कहते हैं। संगमरमर की झिलमिलियाँ और चिरागदान बने हुए हैं। दक्खिन से एक नहर आती है। उस का पानी इन पर से गुजरता हुआ तालाब में गिरता है। इस महल में ज़िल्ले सुबहानी हुज़ूर बहादुरशाह के बेटे मिरज़ा शाहरुख की रिहायश है। उन की बीवी का इंतकाल हो चुका है, इस लिए वह अपनी बेटी नरगिस नज़र से बेहद प्यार करते हैं।

जलमहल को काश्मीरी शालों रोमी कालीनों और बनारसी कपड़ों से खूब आरास्ता किया गया है। नरगिस नज़र की तबीयत में नफ़ासत, नज़ाक्त और सलीकामन्दी इस कद्र है कि उन का महल क़िले की तमाम हवेलियों और महलों से ज्यादा खूबसूरत और आरास्ता समझा जाता है।

शहज़ादी नरगिस नज़र जिस छपरखट पर सोती हैं उस के पाये और डण्डे सोने के हैं और उन पर नगीने जड़े हुए हैं। रेशम की खूबसूरत मसहरी है। चार नर्म-नर्म रेशमी तकिये सिरहाने होते हैं और इन के पास दो छोटे-छोटे गोल-गोल तकिये और होते हैं। इन छोटे तकियों को गोल तकिया कहा जाता है। अगर सोने में शाहज़ादी का सिर बड़े तकियों से नीचे आ जाय तो ये छोटे तकिये उन की गालों को तक्लीफ से बचाते हैं। घुटनों के सहारे के लिए दो बड़े-बड़े तकिये दोनों पहलुओं में होते हैं। नरगिस नज़र जब सोने के लिए मसहरी के अन्दर जाती हैं तो मौलसिरी, जूही और चम्पा के फूल गाल तकिये के पास रखे होते हैं ताकि उन की खुशबू रात भर शाहज़ादी को मसरूर करती रहे। उसी वक्त चार नाचने वाली छोकरियाँ आ जाती हैं और शाहज़ादी को नींद आ जाने तक हल्के सुरों में गाती हैं। सुबह सूरज निकलने से पहले ये नाचने वालियाँ फिर आती हैं और उन की सुरीली आवाज़ें शाहज़ादी को जगाती हैं।

शाहज़ादी साहिबा मसहरी के अन्दर बैठी देर तक अँगड़ाइयाँ लेती हैं और ये लड़कियाँ उन से हँसी-ठठोली करती हैं। एक कहती है—"ऐ हुज़ूर, जमाही आती है! रूमाल हाज़िर करूँ?" और दूसरी कहती है—"सरकार की अँगड़ाई देखने को पानी से मछलियाँ सिर उठा रही हैं।"

नरगिस नज़र "चल, मुई! झूठी बातें मत बना!" कहती और मुसकराती हुई मसहरी से बाहर आती हैं और तख्तचौकी पर जा कर खली और बेसन से मुँह-हाथ धोती हैं। फिर जोड़ा बदल कर नाश्ता किया जाता है। इस के बाद वह घर की आराइश को खुद जा कर देखती हैं और चीज़ों को सजाने की नयी-नयी इजादें दिमाग से उतरती हैं। दोपहर का खाना खा कर कुछ देर आराम करती और गाना सुनती हैं। शाम को बाग़ में मटरगश्ती के लिए चली जाती हैं। रात का खाना बहुत ही पुरतकल्लुफ़ होता है। जब शाहज़ादी साहिबा अपनी मुसाहिब लड़कियों के साथ दस्तरख्वान पर बैठती हैं तो

बाजे बजते है और गाने होते हैं।

ये एक शाहजादी के चोंचले है और महलों मे शहजादे-शहजादियों की कुछ कमी नही है। जिल्ले सुबहानी हजरत बहादुरशाह की बेटियाँ हैं; उन के भाई और भतीजो की बेटियाँ है और उन के बेटों की बेटियाँ है। कलसूमज़मानी बादशाह की लाडली बेटी है; महजमाल अकबर शाह सानी के भाई मिरज़ा अली गोहर उर्फ़ नीली शाह आलम की बेटी है। और गुलबानो मिरजा दारा बख्त की बेटी हैं। मैं तुम्हें हर एक का हाल कैसे बताऊँ। आजकल गुलबानो के पास रहती हूँ; उस का हाल और सुन लो, बाक़ी तुम खुद समझ लोगे।

हज़रत जिल्ले-सुबहानी मिरज़ा दारा बख़्त को अपने सब बेटों से ज़्यादा चाहते थे। यह तुम्हे मालूम ही है कि वही उन के वली अहद थे। शहज़ादे की बेवक़्त मौत से बादशाह को बहुत रंज हुआ। अपने इस रंज की तलाफी वह पोती के लाड़ से करते है। बाप ने भी गुलबानो को बडे चाव-चोंचले सें पाला था। उस की नाजबरदारियाँ अब पहले से भी ज़्यादा होने लगी हैं।

शाम को चिराग जले और बानो छपर-खट पर पहुँचीं। वह दिन के दस बजे तक दोशाला ताने सोया करती है। लौंडियाँ इस डर से बात तक नहीं करती कि बानो की आँख न खुल जाये।

बानो की उम्र अब पन्द्रह बरस है और जवानी की रातों ने गोद मे लेना शुरू कर दिया है। मुहब्बत भी महलों का एक मशगला है। हर शाहजादी दस-ग्यारह साल की उम्र से मुहब्बत के मकतब मे सबक़ लेना शुरू कर देती है। बानो ने तो दिलरुबाई की शोखियाँ इस सितम की पैदा की है कि बच्चा-बच्चा पनाह माँगता है। शाही खानदान के लोग आपस में पर्दा नहीं करते। इस लिए चचेरे, फुफेरे और मुमेरे भाई बेरोक़-टोक महल में आते-जाते है।

शहज़ादा खिज्र सुलतान का बेटा मिरजा दावर शिकोह गुलबानो में खास दिलचस्पी लेता है। पहले तो वे चाचा-ताया के दो बच्चे समझे जाते थे। बानो उन की बहन और वह उन के भाई थे। मगर बाद मे इश्क ने एक और रिश्ता पैदा किया और दोनों के देखने का अन्दाज बदल गया।

एक दिन मिरजा सुबह के वक़्त गुलबानो के पास आये तो देखा कि बानो स्याह दोशाला ओढे सुनहरी छपरखट मे सफेद फूलों की सेज पर पैर फैलाये सो रही है। मुँह खुला है, तकिया अलग पड़ा है और अपने ही बाज़ू पर सिर रखा हुआ है।

दावर शिकोह चची के पास बैठा बातें कर रहा था और कनखियों से गुलबानो की ओर देखता भी जाता था। आख़िर न रहा गया और बोला, "क्यों चची हज़रत, इतना दिन चढ़ गया और धूप क़रीब आ गयी, अब तो बानो को जगा देना चाहिए!"

चची ने हँस कर कहा, "बेटा, किस की शामत आयी है जो उसे जगाये। उठते ही आफ़त बरपा कर देगी।"

शाहजादा बोला, "अच्छा देखिए, मैं

जगाता हूँ, और उठ कर तल्वे गुदगुदाये। बानो ने पाँव समेट लिये और आँखें खोल कर गुस्से से पाइँती की तरफ देखा। कोई लौंडी होती तो उसे गुस्ताखी की सजा मिल जाती मगर शाहज़ादे को खडे पाया तो शर्म मे दोशाले का आँचल मुँह पर डाल लिया और उठ बैठी।

इश्क और मुश्क छिपाये नही छिपते। बानो की माँ को शुबहा हुआ और उन्होंने शहज़ादे का घर में आना बन्द कर दिया।

अगर हँसो नही तो तुम्हें एक और बात बताऊँ। मिरजा दारा बख्त एक डूमनी मे इश्क फरमाते थे और उसी के पेट से यह गुलखानो पैदा हुई थी। इस में हैरत की कोई बात नही है। मैं पहले कह चुकी हूँ कि इश्क महल की जिन्दगी का खास मशग़ला है। शहज़ादे शहज़ादियाँ ग्यारह बारह साल की उम्र में ही इश्क की आँख-मिचौनियाँ शुरू कर देते है। शहज़ादे बाँदियो, कहारियों और डूमनियो पर फरेफ्ता हैं तो शहज़ादियाँ ख्वाजासराओ तक पर जान छिडक रही है। शहज़ादे दिल की तमन्नाओ के इजहार में किसी तरह का शर्म-लिहाज नही करते। बेगमात तक इस मामले में उन की मदद फरमाती हैं। हर शहज़ादे के पहले इश्क पर जकात बाँटी जाती है और उस की माँ ख़ुश हो कर कहती है "अल्लाह रखे, मेरा बेटा भी जवान हुआ है!" इन्ही बातो से तो लाल किला अपनी खानगी बदचलनी के लिए बद-नाम है। फिर बात यह है कि शहज़ादे तो अपने शौक़ पूरे कर लेते हैं, मगर शहज़ादियो को यह आज़ादी हासिल नही है। वे इश्क का दर्द पालने के लिए पैदा हुई है और उन की आहें दरो-दीवार से टकराती रहती हैं।

– शहज़ादियो पर कैसे जब्र होते हैं वह तो तुम बानो और दावर शिकोह के किस्से से ही बख़ूबी समझ सकते हो। अब एक किस्सा यह सुनो कि शहज़ादों के शौक़ कैसे पूरे होते है।

यह तुम जानते हो कि दारा बख्त की बे वक्त मौत के बाद मिरजा फ़खरू वली अहद करार पाये है। वह बडे पारसा समझे जाते हैं। मगर मुहब्बत की राह में पारसाओं के कदम भी डगमगा जाते हैं। लिहाज़ा जब शाहज़ादे की उम्र तेरह बरस कुछ महीने थी तभी उन्हें शबाब के दीवानेपन का ऐसा जबर्दस्त दौरा पडा कि उस की चर्चा अब तक है।

एक दिन शहज़ादा साहब कमान दुरुस्त करवाने ड्योढी के दारोग़ा के साथ खानम के बाज़ार गये थे। वहाँ उन की नजर किसी हसीन कहारी पर पड गयी, बस फिर क्या, हजार जान से फरेफ्ता हो गये।

कहारी की माँ किले में काम करती थी और महल की कहारियो में सब से दीदारू कहारी समझी जाती थी। उस की लडकी जवान हुई तो उस ने और भी गजब ढाना शुरू किया।

शहज़ादा साहब इसी की मुहब्बत में गिरफ्तार हुए थे। घर आये तो यह हाल था कि मुँह मे कुछ नही कहते थे। आहें भरते और पडे चुपचाप रोते थे। आखिर जब भेद

खुला तो बेगमात का मज़ाक शुरू हुआ और हमसिन शहज़ादे-शहज़ादियों ने आवाज़े कसे।

कह नही सकते कि मर्जी से या किसी के हुक्म से बूढ़ी कहारी अपनी बेटी को दूसरे दिन महल में ले आयी और हज़रत नूरमहल बेगम की ड्योढी पर हाज़िरी लिखवा दी।

कहारी की उम्र सोलह बरस की थी, यानी वह शाहज़ादे से दो-ढाई साल बड़ी थी। सतरह साल की उम्र मे उस के एक लड़का हुआ। वह चाहती तो दस्तूर के मुताबिक बेगम बन कर महल मे रह सकती थी। मगर जाने क्यों वह अपने बेटे को ले कर खानम के बाजार चली गयी। मिरज़ा फ़ख़रू की माँ अपनी इस बहू और पोते के लिए हीरे-जवाहरात और जरूरत की सब चीज़ें वहीं पहुँचाती रही।

कहारी के इस बेटे की उम्र अब ग्यारह बरस की है। वह अपने बाप के पास लाल क़िले में रहता है और तैमूरी नस्ल का मुग़ल कहाने मे फ़ख्र महसूस करता है।

फिर शहज़ादे-शहज़ादियाँ बड़े ही मौसम-परस्त हैं। सर्दी-गरमी और ख़ास कर बरसात के मौसम से ख़ूब लुत्फ़ उठाते है। और हर मौसम के कपड़े, हर मौसम की तरकारियाँ, हर मौसम के खाने एक-से-एक अलग और एक-से-एक बढ़िया। ये चीज़ें न सिर्फ़ खुद इस्तेमाल करते है बल्कि फकीरों और मोहताज़ों मे दिल खोल कर बाँटते है। यानी इस दुनिया की तो कोई फ़िक्र नहीं, आक़बत और भी यहीं सँवार रहे है।

इस ज़िन्दगी का एक और पहलू है जिस पर ग़ौर कर के मै तो अक़सर दिल ही दिल में हँसा करती हूँ। यहाँ सब जानते है कि बादशाह अब बराय नाम बादशाह है। उस की ताक़त और हैसियत तो कुछ नही है। वह अँगरेज कम्पनी के हुक्म का पाबन्द है। अमीर-वजीर इस हक़ीक़त से बे-ख़बर नहीं हैं, मगर वे अब भी 'हिन्दुस्तानी', 'इरानी' और 'मुग़लानी' पार्टियों मे बँटे हुए हैं। और नित नयी साज़िशें रची जाती हैं।

इन साज़िशों मे अँगरेजों का भी हाथ है। महल के अन्दर का हाल जानने के लिए उन्होंने अपने जासूस छोड़ रखे है। इस सिलसिले मे लोग नवाब जीनत महल बेगम पर भी शक़ करते है। रंग-ढंग देखती हूँ तो मुझे इस मे हक़ीक़त नजर आती है। उन्हे इस बात की जलन है कि दारा बख़्त के बाद बादशाह ने मिरजा फ़ख़रू को वली अहद करार दिया है। और वह अन्दर-ही-अन्दर अँगरेजी हुक्काम से अपने बेटे शहजादा जवाँ-बख़्त को तख़्त-नशीनी के मुआमलात तय कर रही है। वक़्त की सितम-जरी भी मुलाहिजा हो कि कभी तख़्त-नशीनी के लिए तलवार के जौहर आज़माये जाते थे और कहाँ अब अँगरेज़ी हुक्काम से मुआमलात तय हो रहे हैं। वैसे यह कोई नयी बात नहीं है। हजरत ज़िल्ले सुबहानी बहादुरशाह जफर भी इसी जोड़-तोड़ से बादशाह बने हैं। वरना अक़बर शाह सानी ने तो शहजादा सलीम को वली अहद बनाया था, चुनांचे मिरज़ा गालिब ने उन की खुशनूदी हासिल करने के लिए बादशाह और वली अहद की तारीफ में क़सीदे

लिये थे। हुजूर जिल्ले सुबहानी बहादुरशाह 'जफ़र' ने बेचारे ग़ालिब को इस ख़ता के लिए अब तक मुआफ़ नहीं किया, वह जौक़ को सिर पर चढ़ाये हुए हैं। हालाँकि हक़ीक़त यह है कि ग़ालिब के आगे किसी दूसरे का चिराग़ नहीं जलता। सच्ची बात है, मैं तो उन के कलाम की दीवानी हूँ! लो, उन की ताज़ा ग़ज़ल का तुम भी एक शेर सुनो और देखो कि इस शख़्स की फ़िक्र में कितनी पाकीज़गी है

नज़्ज़ारा ने भी काम किया वाँ नक़ाब का,
मस्ती से हर निगह तेरे रुख़ पे बिखर गयी।

उफ़, मैं भी कहाँ से कहाँ बहक गयी। शायद इसी लिए कि अपने दिली जज़बात और अहसासात तुम्हें मुकम्मल तौर पर लिख देना चाहती हूँ। मगर अब तो रात भी गुज़र चली। तड़का हुआ चाहता है। मुर्ग़ की अज़ान सुनाई पड़ रही है। थोड़ी ही देर में लोग उठ बैठेंगे। एक छोटी-सी बात और लिख कर इस ख़त को ख़त्म करती हूँ।

हज़रत दीन अलीशाह कलन्दर दिल्ली के नामी बुज़ुर्ग हैं। फ़राशख़ाने के बाहर उन का तकिया है। नवाब ज़ीनत बेगम उन्हें बहुत मानती हैं। वह कल अपने बेटे जवाँबख़्त के हक़ में उन से तावीज़ लेने गयी थीं? उन का यक़ीदा है कि आदमी की कोशिशें तावीज़ की तासीर के बिना कामयाब नहीं हो सकतीं। मैं भी हज़रत बेगम के हमराह थी। कलन्दर का सतरह-अठारह बरस का जवाँ बेटा भी तकिये में मौजूद था। उस ने मुझे ऐसी रसीली निगाह से देखा कि वे नज़रें अब तक दिल में चुभ रही हैं। पीरज़ादे भी शाहज़ादा की तरह इश्क़बाज़ी में बड़े तेज़ होते हैं। इस लिए डर रही हूँ कि मुआ कोई गुल न खिला दे। मगर तुम *।

●

वाक्या पूरा नहीं हो सका। शायद फ़ज्र की नमाज़ गुज़ारने वाली कोई बेगम जाग उठी हो। बाँदी ने चौंक कर यह ख़त तहख़ाने में छिपा दिया हो। उस के बाद मई सन् १८५७ का दंगा हुआ और वह ख़त वहीं पड़ा रह गया।

[दिसम्बर १९६३]

छड़ी

•

कृष्णचन्दर

मैं ने अपने लड़के से कहा, "मेरी छड़ी निकालो, मैं सैर को जा रहा हूँ।"

मेरा बेटा कमरे के अन्दर गया, बड़ी मुश्किल से उस ने छड़ी का एक सिरा निकाला। दूसरा सिरा निकालने में उसे कई बरस लग गये, क्योंकि छड़ी बहुत लम्बी थी। छड़ी निकालते-निकालते उस के सिर के बाल सफ़ेद होने लगे।

आखिरकार वह छडी निकालने में सफल हो गया। छड़ी मेरे हाथ में थमा कर उस ने चैन की साँस ली। पूछने लगा, "कहाँ जाओगे?"

"एक लम्बी सैर को जाऊँगा", मैं ने जवाब दिया।

जब वह मुझे सड़क पर अकेला छोड़ कर घर के अन्दर वापस चला गया, तो मैं ने सड़क को देखा, और सड़क पर पड़ी हुई अपनी छड़ी को देखा। छड़ी सड़क से ज्यादा लम्बी थी, और मै लम्बी सैर को जाना चाहता था। इस लिए मैं सड़क पर चलने के बजाय, छड़ी के अन्दर चला गया। मीलों अन्दर चलता रहा, दूर तक चलता गया। मटियाली सड़क थी— पुरानी यादों की तरह, और कोई आसमान न था, सिर्फ़ एक गूँज थी और वहाँ जितने मुसाफिर थे सब अपनी कब्रे अपने साथ लिये चल रहे थे और कोई किसी से बात नही कर सकता था, क्योंकि उन के पास जितनी जुबानें थीं वह उन्होने अपनी आँखों को दे दी थीं, और अब गूँगे हो गये थे, और गूँगे होने के पहले उन मे से हर शख्स के पास चार जुबानें थीं। एक जुबान सच बोलने के लिए, दूसरी झूठ बोलने के लिए, तीसरी बाहर की दुनिया के लिए, चौथी अन्दर की दुनिया के लिए। मगर अब वह सब गूँगे थे, सिर्फ़ आँखों में कविता थी शून्यता की और

माथे पर काफन था किसी सुदर आशा का। और अब वह चल रहे थे और जो कदम वह आगे को बढाते थे, पीछे को जाता था।

चलते चलते जब मै थक गया और रास्ता खत्म न हुआ तो मै ने अपने दांत निकाल कर अपने पैरो में नाल की तरह लगा लिये। फिर मै ने माथे से दोनो आँखें निकाल कर अपने पैरों को दे दी तो मेरे कदम बहुत तेजी से चलने लगे। चलते-चलते मटियाली सडक खत्म हो गयी, और लकडी का एक जीना शुरू हुआ, वर्षों मै उस जीने पर चढता रहा। आखिरकार वह जीना खत्म हुआ और एक छोटा-सा बरामदा नजर आया, बरामदे के पीछे एक घर का दरवाजा नजर आया, जिस पर एक अजनबी औरत खडी थी—आँखो में इन्तजार की चिता जलाये हुए और सिर के बाल कर्तव्य की तरह कसे हुए मेरी राह देख रही थी। मुझे देखते ही आगे बढी, मुझे हाथ से पकड कर बोली "कहा चले गये थे?"

"तुम कौन हो?" मै ने उस से पूछा।

"मै तुम्हारी बीवी हूँ" वह बोली।

"मगर मै तुम्हें नही जानता।"

"मै भी तुम्हें नही जानती, मगर वर्षों से हम एक-दूसरे के साथ रहते हैं," वह बोली।

"यह झूठ है।"

"कल को कहोगे यह बच्चे भी झूठे है," वह जल्दी से अपने बच्चों को आवाज दे कर बुला लायी, बच्चे दिखा कर बोली, "क्या यह सब तुम्हारे बच्चे नही है?"

मै ने गिना—कुल ग्यारह बच्चे थे। मै ने हैरत से उन बच्चो को देखा, "यह सब बच्चे मेरे है?"

"हाँ डैडी," वह सब खुशी से चिल्लाये।

मै हैरत मे अपनी आँखें झपकाने लगा।

मै ने उस अजनबी औरत से कहा, जो मेरी बीवी थी, "मै तुम्हें नही जानता, बच्चों को नही जानता, इस लिए यह बच्चे मेरे नही हो सकते, शादी की बात मै ने सोची जरूर थी, और बच्चो की भी, लेकिन सिर्फ दो बच्चे सोचे थे, और मनुष्य जो सोचता है, वही उस का हो सकता है, बाकी सब फालतू है, इस लिए अब मैं वापस जाता हूँ।" मै जीने से नीचे उतरने लगा, और वह शोर मचाने लगी। बच्चे रोने लगे। और उस की आवाज सुन कर आसपास के बहुत-से लोग अपने घरो से निकल आये, वह सब लानत भेजने लगे।

सब ने कहा, "यह तुम्हारे बच्चे है, यह तुम्हारी बीवी है, हम तुम्हारे पडोसी है।"

"मगर मै आप किसी को नही जानता," मै ने उन से कहा, "हो सकता है इस घर में मेरी तरह का कोई और रहा हो।"

इस पर उन्होने मेरे बाप का नाम बताया, जो सही था, मेरे दादा का नाम बताया, जो सही था, मेरे पर-बाबा का नाम बताया, जो सही नही था, क्योंकि वह खुद भी सही नही था, इस पर मुझे यकीन आ गया और मैं उस अजनबी औरत का हाथ थाम कर ग्यारह बच्चा के साथ घर के अन्दर चला गया, और ग्यारह साल वहाँ रहा, और जब ग्यारह साल बीत गये, तो मै ने चलने की ठानी, और एक बच्चे से कहा कि वह मेरी छडी निकाल कर

बाहर रखे।

"कहाँ जा रहे हो?" मेरी बीवी ने घबरा कर पूछा।

"आजादी ढूँढ़ने।"

वह रोने लगी, बच्चे छड़ी निकालने लगे, मगर ग्यारह वर्षों में छड़ी और भी लम्बी हो गयी थी, इस लिए छड़ी निकालते-निकालते कई वर्ष बीत गये, मैं ने छड़ी हाथ में ले कर सब से विदा ली, और जीना उतर कर सड़क पर चलने लगा, जहाँ क़दम-क़दम पर चिताएँ जल रही थीं, और सबीलें गड़ी हुई थी और आकाश की जगह गहरी मायूसी का कोहरा छाया हुआ था।

चलते-चलते सड़क खत्म हुई, और जहाँ पर सड़क खत्म हुई थी वहाँ पर सलाखोदार बहुत बड़ा एक फाटक नजर आया। मुझे देखते ही वह फाटक खुल गया, आप-ही-आप और जब मै फाटक के अन्दर गया तो मुझे भारी-भरकम देव-जैसा आदमी मिला, उस ने मेरे हाथ मे हथकड़ियाँ पहना दीं और पाँव मे बेड़ियाँ।

"आजादी मुबारक।" उस ने खुश हो कर कहा।

"आज़ादी मुबारक।" मै ने भी खुश हो कर जवाब दिया, फिर मै ने अपनी बेड़ियों और हथकड़ियों को देखा और उस से पूछा,

"यह कौन-सी जगह है?"

वह बोला, "यह आजादी का जेलखाना है।"

मै ने इधर-उधर देखा। यह जेलखाना बहुत बड़ा था, और उस मे हजारों, लाखों गालिबन करोड़ों आदमी काम करते थे। रोज़ाना दस-बारह घंटे काम करने के बाद पूरे एक महीने बाद उस भारी-भरकम आदमी ने मुझे अपने आँफ़िस मे बुलाया।

वह एक मेज के पीछे खड़ा था, और उस के हाथ में मेरी लम्बी छड़ी थी, और मेज़ पर एक बड़ा केक रखा था। उस आदमी ने मुझे देख कर मेज के पास आने को कहा। छुरी ले कर केक काटा, और एक छोटा-सा टुकड़ा मेरे हाथ में दे दिया, फिर दूसरी बार एक बहुत-बड़ा टुकड़ा काटा और उसे अपने हाथ में ले कर खाने लगा।

"यह क्या है?" मैं ने अपने हाथ में छोटा-सा टुकड़ा देख कर पूछा।

"आजादी का टुकड़ा।"

"मगर तुम्हारा टुकड़ा मुझ से बड़ा क्यों है?" मैं ने उस से पूछा।

"क्योंकि मै तुम्हें आजादी देता हूँ।" वह बोला।

"ठीक है।" मैं ने उस से कहा। बात मेरी समझ मे आ गयी थी, इस लिए मैं अपना छोटा-सा टुकड़ा ले कर चला गया।

वर्षों तक ऐसा ही होता रहा, एक छोटा टुकड़ा, एक बड़ा टुकड़ा। आखिर एक दिन मैं ने वहाँ कुछ क़ैदी इकट्ठे किये और सब को साथ ले कर उन के पास पहुँचा, और उन से कहा, "अब सब के सामने केक काटो।"

उस ने बड़ी दिलचस्पी से केक काटा, मेरे लिए एक छोटा टुकड़ा काटा, अपने लिए बड़ा टुकड़ा काटा। मै ने कहा, "तुम खुद बड़ा टुकड़ा लेते हो, हमें छोटा क्यों देते हो?"

वह बोला, "सालों से ऐसा ही होता चला आ रहा है।"

मैं ने फिर उस से पूछा, "तुम्हारा क्या ख्याल है, तुम्हारा टुकडा हम सब से बडा है?"

"इस में क्या शक है," उस ने अपना टुकडा दूर से दिखा कर कहा, "देखो।"

"शायद तुम गिनती नही जानते?" मैं ने कहा।

"जानता हूँ।"

"तो बताओ, दो और दो कितने होते हैं?"

"चार रुपये।"

"अहमक हो," मैं अपने साथियो की तरफ मुडा, "यह कहता है, दो और दो चार रुपये होते है। लेकिन दो और दो चार आदमी होते है।"

मेरे साथी भी जोर जोर से हँसने लगे। उन की हँसी सुन कर वह भय से काँपने लगा, फिर मायूसी से रोने लगा। इस पर मेरे साथी इतने जोर से हँसे कि उन का कहकहा एक गोले की तरह फटा, और चारो तरफ धुँआं फैल गया। जब धुआं साफ हुआ तो मैं ने देखा कि न वह जेलखाना है, न उस की दीवारे हैं, न वे लोग है। मेरे हाथ में मेरी छडी है, जो दो तिहाई से ज्यादा जल चुकी है।

मैं छडी हिलाता हुआ आगे बढा तो मुझे एक ऊँचे टीले पर एक बूढी औरत एक सुनहरे गोले को अपनी गोद में लिये कुछ बुनती नजर आयी। मुझे देख कर बडी मोहब्बत और मसर्रत से मुसकरायी, जैसे मुझे वर्षों से जानती हो। मगर मैं उसे नही जानता था।

"तुम कौन हो?" मैं ने उस बूढी औरत से पूछा।

"मैं सूरज हूँ," वह बोली।

"सूरज तो बाप होता है।"

"नही," वह बडे प्यार से सिर हिला कर बोली, "जो जन्म दे वह माँ होती है। मैं ने अपनी कोख से तुम्हारे लिए जमीन को जना, और जमीन ने तुम्हें, इस लिए तुम मेरे पोते हो।"

मैं ने उस के पाँव छुए और पूछा, "दादी-अम्मा, तुम इस टीले पर बैठी क्या कर रही हो?"

वह बोली, "जाओ, इस टीले पर चढ कर देखो।"

जब मैं टीले पर चढ गया, और जा कर दादी-अम्मा के पास खडा हो गया, तो मैं ने देखा कि जिस टीले पर दादी-अम्मा बैठी है उस के विपरीत दूसरी ओर एक और ऊँचा टीला है, और इस टीले और उस टीले के बीच एक अनन्त विनाश फैला हुआ है, और यहाँ से वहाँ तक जाने का कोई रास्ता नहीं है लेकिन दादी-अम्मा की गोद में रखे गोले से जो तार निकलते जा रहे हैं उन्होंने इस अनन्त विनाश के ऊपर सुनहरी किरणो का एक जाल बना दिया है, और इस सुनहरे जाल के नीचे एक सुन्दर पुल है जिस की सात मेहराबें स्पेक्ट्रम के सात रगो से बनी हैं। ऐसा सुन्दर पुल मैं ने आज तक नही देखा था। मैं ने इस पुल की तरफ ताज्जुब से देखते हुए कहा, "क्या मैं इस पुल पर चढ सकता हूँ?"

वह बड़े प्यार से मेरे सिर पर हाथ फेर कर बोली, "यह पुल तो हमेशा तुम्हारे क़दमों के नीचे था, ताज़्जुब है तुम ने आज तक इसे नहीं देखा।"

मैं ने अपनी ग़लती पर शरमिन्दा हो कर दादी-अम्मा के फिर पाँव छुए, और पुल पर आगे बढ़ गया। पुल पर क़दम रखते ही मुझे ऐसा लगा जैसे मैं ने अपना क़दम किसी झूले पर रख दिया हो। बड़े मज़े मे चलता, किसी तरह की थकान महसूस किये बग़ैर जब मैं पुल को दो-तिहाई के क़रीब पार कर गया तो मुझे वहाँ फिर एक छोटा-सा लड़का खेलता नजर आया। मैं उस की तरफ ग़ौर से देखने लगा क्योंकि उस की शक्ल मुझ से कुछ-कुछ मिलती-जुलती थी।

"क्या तुम मेरे बेटे हो?" मैं ने उस से पूछा।

वह बोला, "नही, मै तुम्हारा पोता हूँ।"

"यहाँ क्या कर रहे हो?" फिर उस ने पूछा।

"क्यों?"

"मुझे तुम्हारी छड़ी चाहिए।"

"इस छड़ी को ले कर अब तुम क्या करोगे? यह छड़ी बहुत टूट चुकी है, बहुत-सी जल चुकी है। इस छड़ी ने मुझे बड़ा दुःख दिया, तुम इस छड़ी को ले कर क्या करोगे?"

वह बोला, "तुम सिर्फ इस के सहारे ज़िन्दगी पर चलते रहे, यही तुम्हारी सब से बड़ी गलती थी, मगर मै यह ग़लती नहीं करूँगा।"

"पर तुम इस छड़ी को ले कर क्या करोगे?" मैं ने हैरान हो कर उस से पूछा।

"मै इस छड़ी को एक डाइविंग-बोर्ड की तरह इस्तेमाल करूँगा। पुल पर खड़े हो कर इस पर से छलाँग लगा कर समुद्र मे कूद जाऊँगा।"

"क्यों?"

"क्योंकि प्रकृति ने सिर्फ़ ज़िन्दगी और मौत बनायी है, जब कि जन्नत सिर्फ़ इनसान ने बनायी है।"

मैं हैरत से उस बच्चे की तरफ़ देखने लगा। मेरा पोता तो सूरज की तरह बुद्धिमान् था। मै ने छड़ी उस के हाथ में दे दी, उस ने छड़ी ले ली। वह पुल के किनारे सुनहरी किरणों के तारों में उलझ कर खड़ा रहा, फिर उचक कर उस की मूठ पर खड़ा हुआ, और दोनों हाथों को ऊँचा कर के उस ने समुद्र में छलाँग लगा दी।

दूर तक उस की हँसी के कहकहे बिखरते गये। पुल डोलने लगा, फिर हर मेहराब लचक कर नाचने लगी, फिर सातों मेहराबों के सातों रंग किसी सितार के सातों स्वरों की तरह गूँजने लगे। फिर मुझे ऐसा महसूस हुआ जैसे मेरा वजन कम हो रहा हो, मेरा शरीर हवा से भी नर्म और हलका बनता आ रहा हो। खौफ और मुसर्रत के मिले-जुले अहसास से मेरी आँखें बन्द होने लगी।

फिर जब मै ने आँख खोली, तो देखा कि मैं न था। सिर्फ़ हवा मे कहीं पर एक रंग-सा थरथरा रहा था और एक स्वर-सा बज रहा था....

[अप्रैल १९६४]

उच्चाटन

•

फणीश्वरनाथ 'रेणु'

ठीक वही हुआ, उसी तरह शुरू हुआ, जैसा उस ने सोचा था। बरसों से मन में 'गुनी' हुई बात अक्षर-अक्षर फल गयी। रात की गाडी से वह गाँव लौटा—दो साल के बाद। और, 'मरकट-महाजन' बूढे मिसर को रात में ही खबर मिल गयी। 'किरिन' फूटने के पहले ही वह 'बाभन-बनिया' खडाऊँ खटखटाता हुआ आया और उस के दरवाजे पर खाँसी उकासी कर के कफ थूकने लगा।

पहले तो उस को ऐसा लगा कि वह भोर का सपना देख रहा है। दो साल से, भोर में आने वाले सपने का 'सिरगनेश' ठीक इसी तरह होता।

कफ से बची हुई कण्ठनली से एक गिलगिलाती हुई—'गिटकारी भरी' बोली निकली—बिलस बा वा वा! आ य हैं कु-थो-ह!

बेसुध, चित्त हो कर सोयी हुई उस की अधनगी बीवी हडबडा कर उठी और कपडे सहेजनी लगी मिसर महराज?

महराज? नहीं, सपना नहीं। बुढवा साला सचमुच ही आया है!

उसे अचरज हुआ ठीक वैसा ही हो रहा है। ठीक इसी घडी की प्रतीक्षा और इस से जीवट बाँध कर जूझने की तैयारी वह पिछले चौबीस महीने से कर रहा था। इस के बावजूद उस का दिल धडका। हड्डी के अन्दर एक पुराने डर का तार काँप गया। गाल और कनपटी दहकने लगी। 'डरामा' में परदा उठते ही अचानक 'पाट' भूल गया, मानो।

उस ने देखा, उस की बीवी की आँखो में नीद के बदले भय समाया हुआ था। वह आँखो से ही पूछ रही थी—महराज को क्या ?

अपनी बीवी की घबरायी हुई सूरत को देख कर वह सँभला। मद्धिम आवाज़ में बड़बड़ाया—तेरे महराज की…! तू इस तरह क्या देख रही है? अचम्भा का बच्चा?

बाहर, मिसर ने खाँसी के पहले वेग को झेल लिया था। इस बार उस की आवाज़ मे स्वाभाविक 'खनक' थी—बिलसि-या-या-या!

उस ने आँगन मे निकल कर देखा, बूढ़ी-माँ एक कोने में दुबक गयी है—गठरी-जैसी! डर के मारे हाथ का हुक्का नहीं पी रही—कहीं गुड़गुड़ाहट न सुन लें—मिसर-महराज!

सुनहले बटन वाला 'टीसाट' पहनते हुए उस ने आँगन से जवाब दिया—कौन है जी?…इस तरह हल्ला काहे कर रहे हैं साहेब?

ऐसा नुकीला जवाब सुन कर उस की माँ-बीवी ही नहीं, बाहर खड़ा बहत्तर साल का बूढ़ा—इस गाँव का मालिक मिसर भी अवाक् हो गया।…नशा-पानी खाया है क्या?

उस की बीवी हाथ मे छोटी मचिया ले कर दरवाजे की ओर बढ़ी। उस ने डाँट दिया—कहाँ चली मचिया ले कर, मटकती हुई उधर? आँच सुलगा कर पानी गरम कर।

आँगन से बाहर निकल कर उस ने बीड़ी का धुआँ फेंका।… नही, इतने दिनों का रटा हुआ 'पाट' अब वह नही भूलेगा। बोला—कहिए, क्या बात है?

मिसर के लिए इतना ही काफी था।…न प्रणाम, न पाँवलागी? मुँह पर बीड़ी का जूठा धुआँ फेंक दिया?

अरे? तू तो एकदम बदल गया है बिल-सिया?

…अचरज की बात! मिसर ने ठीक वही बात कही?

उस ने अपना 'तैयार-जवाब' दिया—बिलसिया-बिलसिया क्या बोलते हैं? मेरा नाम रामबिलास है।…रामविलास सिंघ।

रामबिलास ने अपनी माँ को पुकार कर कहा—माय! जरा एक टोकरी गोबर और एक झाड़ू ले कर इधर आना तो…!

रामबिलास की बीवी ने अपनी बूढ़ी सास की ओर देखा।…पहले पानी गरम करने को कहा! अब गोबर और झाड़ू माँगता है?

बूढ़ी आँगन से ही बोली, डरती-डरती—झाड़ू-गोबर का क्या होगा बेटा?

मिसर की आँखें गोल हो गयीं। दम फूलने लगा—सशब्द! अपमान, क्रोध और भय के मारे मिसर के गले में फिर खसखसा-हट शुरू हुई। खाँसी को रोकने की चेष्टा करते, उस का 'थुथना' विकृत हो गया। पेट मे कुपित-वायु…!

—बहू पूछती है कि गरम पानी का क्या होगा?

रामविलास कुढ़ गया—बस, लगी जिरह-बहस करने। पानी क्या होगा तो झाड़ू क्या होगा? आ कर देखो, किस तरह मारे कफ-थूक के दरवाजा 'घिना' गया है।…ए! ए!! मिसर जी-थूक-थाक जरा उधर खेत मे—हँ-हँ-हँहँ…!

मिसरन ने सँभालने की कोशिश की। लेकिन, उन की गमछी गन्दी हो गयी।

रामविलास ने घृणा से मुँह-नाक सिको-ड़ते हुए कहा—ऐसी 'बे-सँभाल' खाँसी है तो गाँव घर में 'चल-फिर' क्यो करते हैं ? इस बीमारी को पोसे हुए है ? इलाज क्यो नही करवाते ? फोटो करवा कर देखिए—'टीबी-उबी' न हो गया हो।

किन्तु, मिसर की इन खाँसी-उकासी ने सारा खेला ही बिगाड दिया मानो। जैसा कि रामविलास ने सोच रखा था—रामविलास के 'टीबी-उबी' वाले सवाद के बाद, मिसर को बोलना था—चुप साला बेटोच् टीबी हो तुम्हें और तुम्हारी औलाद को !

लेकिन, मिसर 'पाट' छोड कर 'बेपाट' की बात बतियाने लगा। बोला—बबुआ ! अब क्या इलाज और क्या डागडर, क्या बैद। टीबी हो या दमा। अब तो चलाचली की बेला है।

पिछले साल, महेन्द्रपुर-मोहल्ला-दुर्गा-पूजा के 'डरामा' में जुगल महतो पनवाडी ने इसी तरह खेला चौपट किया था। जल्लाद का 'पाट' ले कर उतरा और तलवार उठा कर मारते समय रटा हुआ 'पाट' ही भूल गया। और, बे-पाट की बात बोलते-बोलते तलवार फेंक कर रोने लगा। मिसर भी रोता है, क्या ? नही, नाक पोंछ रहा है।

मिसर समझ गया 'राड' की बाढ। जब देखो राड की बाढ, मुँह सँभाल कर बोली काढ ! !

रामविलास की बूढी माँ हाथ में झाड़ू ले कर बाहर आयी—पाँवलागी महराज !

बूढी ने हाथ में झाड़ू ले कर ही पाँवलागी की ?

—प्रभु हो ! प्रभु हो ! ! अब तो बिल • रामविलास बबुआ, इज्जत-आबरू के साथ चले जायँ, यही मना रहा हूँ। इधर से जा रहा था तो सुना कि रात को बिल 'राम विलास बबुआ लौटा है तो बडी खुशी हुई।

वाह ! खूब उन्नति किये हो। वाह ! !

अब रामविलास क्या जवाब दे ? बे-पाटकी बात !

हम तो समझे कि आप बकाया रुपये का तकादा करने आये हैं। रात में तो आया ही हूँ। भागा जा रहा हूँ क्या ? खैर जब आ गये है तो लेते जाइए अपना बकाया।

बूढी ने पूछा—बहू पूछती कि पानी गरम हो गया। अब क्या ?

—हर बात में जिरह ! पानी गरम करने कहा है, चा बनाने के लिए।

मिसर बोला—बाकी-बकाया का हिसाब किताब होता रहेगा। जल्दी क्या है ?

नही। उठ कर आते समय भी बिल-सिया ने पाँवलागी नही की।

रामविलास अपने नये सूटकेस से चाय-चीनी-प्याली निकालने लगा। बहू बोली—अभी तो मिसर-महराज मैदा के हलुआ-जैसा नरम हो गये। मैया से पूछो, किस तरह महीने में दो बार आ कर भैंस 'कुरुक' करने की धमकी देते थे दोनो—बाप-पूत मिल कर।

—तो, उस समय बोली क्यो नही। मुँह में क्या था ? करेला ?

रामविलास को याद आयी। मिसर की बे-बात की बात सुन कर ही वह 'परन' ठान

कर घर से भागा था—शहर, रुपया कमाने। ....साले, रुपया ले कर 'बिहा-गौना' किया। अब बीवी को टाँग पर टाँग चढ़ा कर सोते हो और मेरे रुपये की बात भूल गया? एँ? ....मैं यदि रुपये नहीं देता तो अभी 'गुलगुला' कैसे खाते, रोज? एँ?

....साला! कान गरम हो जाता है अब भी, याद कर के।

—बेटा! अब क्या बताऊँ? अभी उस दिन मिसर का बडा बेटा दूध लेने आया। दूध बिक गया था, सब। कहाँ से देती? तो बरतन उठा कर जाते समय जीभ ऐंठ कर बोला—जमाना ही उलट गया है। नहीं तो, इसी टोले से भैंस के बदले औरत का दूध दुह कर ले गये है हमारे सिपाही-बरकंदाज!

रामविलास की जीभ जल गयी। चाय को फूंकते हुए वह बोला—तो, उस समय बोली क्यों नही। मुँह मे क्या था? केला?

...औरत का दूध? साला, कलेजा काट देने वाली बात!

रामबिलास ने अपनी बीवी से कहा—सूटकेस मे नयी अँगिया है। निकाल कर पहन ले।....अँगरेजी-अँगिया।

—राम-राम पालवेत!

•
•

सूरज की रोशनी के साथ, गाँव में बात फैलती गयी।

....'विलसिया घर लौटा है, रात में! एँ? अव उस को विलसिया मत कहना कोई! मिसर को 'भोरे-भोरे' वेपानी कर दिया। बोला, विलसिया मत बोलिए, रामबिलास कहिए।...मिसर की नाक पर दो सौ रुपये का 'पुलिंदा' फेंक दिया?...हाँ, उस के कुरता के पाकिट में 'लैसन्स' है, सरकारी-मोहर वाला। पटना में 'रिक्शा-डलेवरी' करता है तो सरकारी मोहर वाला लैसन्स जरूर मिला होगा।...जानते हो? अपनी घर वाली को नाम धर कर बुलाता है—ए, झुमकी!

झुमकी—रामबिलास की घर वाली—लाल अँगिया पहन कर पानी भरने गयी। औरतों ने उसे घेर लिया।...देखें जरा अँगरेजी-अँगिया; मेमिन लोग पहनती हैं?... पेट 'उघारे'? अरे, इस बित्ते भर अँगिया का दाम—पाँच टका? बट्टम नही है तो खोलती-पहनती हो कैसे? ऐसा ही—'सकिस्त' रहता है हरदम? साड़ी भी ले आया होगा! रात में कब आया? पहली-पहर रात में ही?

झुमकी, लजाती-हँसती, कहती—मैं तो डर गयी कि रात मे नाल वाला जूता पहन कर कौन आया रे बाप! मैया डर कर 'कोठाली' के पीछे छिप गयी दम साध कर। ...शहर जा कर आदमी की आवाज तक बदल जाती है? मगर, कारी-भैंस ने उस की बोली को ठीक पहचान लिया।....ऊँय-ऊँय करती—रस्सी तुड़ा कर आँगन मे दौड़ आयी। सिर से पैर तक चाटने लगी मारे दुलार से। ....सो, आते ही उलहना दे दिया मरद ने—तुम लोगों से भली है मेरी यह कारी-भैंस। ...आदमी से बढ़ कर।

—तब, इस के वाद? खाने को क्या

दिया 'उत्ती' रात को ?

क्या बताऊँ दिदिया, लाज की बात। संयोग ऐसा देखो कि घर में न एक चुटकी चावल, न चूड़ा और न भुजा। मुदा, दही जम गया था, तब तक। "सो, दही खाते समय भी उलाहना दे दिया—कारी नहीं होती तो घर आ कर रात में उपास ही करना पड़ता।

—तब ? इस के बाद ?

—चोली रात में ही पहनी ?

—गुलरोगन का तेल भी लाया होगा ?

—तब ? और भी कोई उलाहना दिया ?

—शहर जा कर आदमी की आवाज ही बदली है या' ?

झुमकी मुँह बना कर मुसकरायी। पनभरनियाँ हँस पड़ीं, सभी। सभी की आँखों में झुमकी की लाल अँगिया की लाली तैरने लगी। सचमुच, अँगिया पहन कर झुमकी का रूप खुल गया है।

दोपहर को पानी भरने आयी तो झुमकी के दोनों कानों में कुण्डल लटक रहे थे। झुमकी का रूप खुलता ही जाता है।

नहाने के समय औरतों और लड़कियों की भीड़ लग गयी। सभी ने झुमकी से 'मुनलैट-साबुन' का झाग माँग-माँग कर देह में लगाया। झुमकी अब रोज़ साबुन लगा कर नहायेगी ? तब तो, एकदम मेमिन-बंगालिन की तरह गोरी हो जायेगी ? है कि नहीं ?

अबेर में, दुकान पर गयी—कपाल पर चकमक-बिन्दी लगा कर। राह में ही, बहरी-मौसी की गली में, शिवधारी खड़ा था। झुमकी को देख कर सिहर गया—एह! आब जीयब कठिन अब ? अब मेरा क्या होगा ?

—धेत्त! राह चलते हँसी-दिल्लगी मुझे पसन्द नहीं।

हँसी-दिल्लगी पसन्द नहीं ? मुँह बना कर बड़बड़ाती हुई गयी ? कहीं, घर जा कर कह न दे! • सुनते हैं कि शहर से नाम में सिंग लगवा कर आया है! अच्छा, देखना है। कितने दिनों तक यह गुमान ? शहर का मलीदा खाया हुआ मरद गाँव में कब तक रहेगा ? इतने दिनों का सब 'लिया दिया, किया-धिया'—सब फुस ?

दुकान पर, उतने लोगों के बीच भी मोदियाइन ने, बात को घुमा-फिरा कर झुमकी से कहा—तनि अपनी सास से होशियार रहना। अकेले में, बेटा को फुसला कर बस में करने के लिए इधर-उधर की बात न लगा दे, तुम्हारे खिलाफ ? रुपया-पैसा न 'हथिया' ले बूढ़ी कहीं!

झुमकी, सदा की भाँति नयी-बहुरिया की रीत निभाते हुए घूँघट के अन्दर से ही बोली—मौसी! कोई कुछ लगावे-बझावे। ऊपर भगवान् तो हैं ? टोला-समाज, अड़ोस-पड़ोस के लोग तो हैं ? यह भैंस न होती तो न जाने क्या नतीजा होता। दो-दो बरस किस तरह खेया है सो सभी जानते हैं!

झुमकी भी बात को घुमा-फिरा कर कहना जानती है! सभी समझ गये, इस बात को शिवधारी की बात पर बैठायी गयी है। अर्थात्, शिवधारी नहीं होता तो भैंस की

चरवाही कौन करता? रात की चरवाही 'टट्ठा' नहीं।

झुमकी बोली—पिछवाड़े में दो घूर जमीन 'सर्वे' में हुआ है। लेकिन, जमीन होने से तो ही नहीं होता है, उस को जोतना-कोड़ना जनाना का काम तो नहीं?···बीस रुपये की गोभी और प्याज-लहसुन दस रुपये का दो साल से हुआ--सो ऐसे ही नहीं?···· इस गाँव में कैसे-कैसे 'जमामार-लोग' है सो किसी से छिपा है? लेने के समय दूध-दही मीठा लगता है और दाम देने के बेर खट्टा! हाट-बाजार में लोगों को 'पिठिया' कर दूध-दही का दाम वसूलते फिरना तो जनाना-जात नहीं कर सकती?

दुकान से लौटते समय झुमकी बहरी-मौसी के आँगन में गयी। शिवधारी मुँह लटकाये, सुतली का 'ढेरा' घुमा रहा था। झुमकी तनिक बिहँस कर बोली--मैं तुम पर गुस्सायी हूँ। सुबह से सभी लोग आये और तुम भैंस दूह कर बथान पर से ही क्यों भाग आये?···सुबह से तुम्हारे बारे में दस बार पूछ चुका है। नही जाओगे तो उस को कैसे मालूम होगा कि तुम ने कैसे-कैसे दिन में क्या-क्या किया है। अपने जानते, जितना हो सका, मैं ने कहा है।····तुम को डर काहे का लगता है? साँच को आँच क्या?

झुमकी ने टोकरी से बीड़ी का एक 'मुट्ठा' निकाल कर ओसारे पर रख दिया—यह रही तुम्हारी बीड़ी-सुपाड़ी।····मुँहचोर हो कर रहोगे तो वह जो कुछ सुनेगा—पतिया लेगा!

शिवधारी का तन-बदन झनझना उठा। लगा, जान लौट आयी।····नहीं, उस की बुद्धि सचमुच थोड़ी मोटी है। झुमकी-भौजी का गुस्सा जायज है!

····झुमकी के कान के कुण्डल····लाल-अँगिया···चकमक बिंदी····मह-मह महक देह की····जानलेवा हँसी?

शिवधारी की देह तप गयी।···आग लग गयी हो जैसे!

शिवधारी ओसारे पर रखे बीड़ी के मुट्ठे से एक बीड़ी निकाल कर सुलगाने लगा। उस का दिल अचानक बुझ गया····सब दिन ललचाती ही रही।····कही भागी जा रही हूँ?···अब तो भेंट-मुलाकात भी चोरी-चोरी ही कर सकता है, वह!

शिवधारी बहुत देर तक बीड़ी का धुआँ उड़ाता रहा।

●
●

रामबिलास के 'मचान' पर सुबह से ही बीड़ी के धुएँ का गुब्बारा उड़ रहा है। रह-रह कर हँसी की लहरें आती हैं। एक से एक दिल को गुदगुदाने वाला किस्सा सुना रहा है, रामबिलास। पटनियाँ-किस्सा।

····दो साल पहले, चैत महीने की आधी-रात में गाँव छोड़ कर चुपचाप भागा था राम-बिलास। गाँव छोड़ कर और मिसर की नौकरी छोड़ कर। मिसर का करजा पचा कर।···दूसरे दिन उस के मचान के पास और आँगन में ऐसी ही भीड़ लगी थी। उस की माँ रो-रो कर लोगों को सुना रही थी, गौना के बाद से ही उस के लाड़ले बेटे बिलसिया

की मति फिर गयी। पराये घर की बेटी ने आ कर उस के पाले हुए मुर्गे को उडा दिया।

झुमकी घुंघट के अन्दर से ही बुढ़िया को कोस रही थी और खूँटे पर बँधी भैंस रह-रह कर बहुत करुण सुर में पुकारती जाती थी—उँ-यें यें-यें-यें यें-हें-हें।।

बूढे मिसर के सिपाही रामसिंघासन सिंघ ने कहा था—हम खूब समझते हैं। लीला पसार रही हैं, दोनों! विलसिया चुपचाप नही भागा है। अपनी माँ-बीवी से सलाह कर के 'घसका' है, गाँव छोड कर। भाग कर जायगा कहाँ? ई 'भैंसिया' तो मालिक के बथान पर जइबे करी, एक न-एक दिन!

—वह साला आजकल कहाँ है? नौकरी छोड कर चला गया क्या?

रामबिलास के इस सवाल को सुन कर सभी ने एक ही साथ अचरज प्रकट किया—ओ ओ-ओ! तुम को नहीं मालूम?

पटनियाँ-किस्सों के मुकाबले में, एक 'गँवैया-घरैया' किस्सा सुनाने का मौका मिला है, घोतना को। हाँ हाँ, सुनाओ, तुम्ही घोतना।

—रामबिलास भाय! तुम ने आज जैसी बहादुरी की है उस से बढ कर मर्दानगी का काम किया, पिछले साल, पछियारी टोली की मुसम्मात की नयी पुतोहू ने। जानते ही हो, सिंघवा साला कैसा 'घरढुक्का' था! गाँव में कोई नयी बहुरिया आयी कि उस की नीद गयी। बिलार की तरह घर में पैठ कर, बिना 'छिका' को हिलाये ही—दही के ऊपर की मलाई साफ कर देता था। लेकिन, सब मलाई निकाला मुसम्मात की पुतोहू ने! साले को ऐसा 'कसक्सा' कर पकडा कि ऊपर नीचे दोनों तरफ की हवा गुम।

—एँ?

—पूछो, सभी से! आखिर अररिया-अस्पताल में ऑपरेसन कर के 'बधिया' किया तब जा कर होश हुआ। सुनते हैं, अस्पताल का डागडर पूछता था कि कही चक्की के दोपाट में पड गया था क्या सिंघजी? सो, अस्पताल से निकलने के बाद फिर इस गाँव की ओर मुँह नही किया, फिर। साला, एक-दम बधिया-आ-आ-हा हा•!

—इस औरत को तो सरकारी, तगमा मिलना चाहिए। शहर में होती तो अखबार में खबर 'औट' हो जाती, फोटो के साथ!

—फोटो कैसे औट होता? कसक्सा कर पकड़े हुए ही? हू-ब-हू?

फोटो की बात पर रामबिलास को अपनी तसवीर की बात याद आयी। पॉकेट से लाइसेंस निकाल कर दिखलाया। सभी ने बारी-बारी से हाथ में ले कर फोटो वाला रिक्शा-डलेवरी-लाइसेंस को देखा। नहीं, रामबिलास झूठ नही कहता। लोगो ने झूठमूठ खबर उडा दी थी 'क्रिस्थान होटिल' में बर्तन माँजता है। लोगो ने नही, उस दूबे के बडे बेटे ने। जनेऊ की कसम खा कर कहता था कि हम अपने 'चसम' से दखा है, उस को!

शिवधारी को देख कर सभी चुप हो गये। 'रामबिलास को 'लाट-साट' का

किस्सा मालूम हुआ कि जान से खतम कर देगा।...बात छिपेगी थोड़ो !

—क्या रे शिवधरिया ! सुबह से कहाँ 'लापत्ता' थे ?

—जरा टिसन चला गया था, भैया !

...जरूर, घड़े का पानी फेंक कर पानी भरने निकली है अभी रामबिलास की बहू ! ...शिवधारी की बोली सुन कर आँगन में कैसे रहे ?

बहू पानी ले कर वापस आयी और घुँघट के अन्दर से ही बोली—अभी सहजो पीसी कह रही थी तुम्हारे पिछवाड़े से मुसलमान-टोली की तरह महक क्यों आ रही है ? मुर्गी का अण्डा पकाया जा रहा है कहीं !

रामबिलास ने, जाने क्या समझा। बोला—कल से यहाँ मुर्गा बनेगा मुर्गा ! देखें कौन साला क्या बोलता है !...साला, यह भी कोई जगह है ? आलू की तरकारी में जरा-सा गरम-मसाला डलवा दिया तो सारे गाँव मे मुर्गी के अण्डे की महक फैल गयी ? बोलो !

शिवधारी ने कहा—इस गाँव की बलिहारी हैं। बिना पर की चिड़िया उड़ाने वाले बहुत लोग हैं।

—शहर मे सभी अपनी औरत को नाम ले कर बुलाते है। मैं अपनी बीवी को हजार नाम ले कर पुकारूँ, किसी साले का क्या ?

रामबिलास ने अपनी बहू को पुकार कर कहा—ए ! ए झुमकी ! शिवधरिया आया है। उस के लिए एक कुलफी चा भेज दो।... झुमकी !

आँगन में, बहू ने सास से कहा—माई ! सुनते हैं इस मरद की बोली-बानी ?

कमाऊ पूत की मस्ती देख कर, मसाले की गन्ध सूँघ कर बूढ़ी प्रसन्न है। कहती है—'बोली बानी' क्या सुनूँगो ? आदमी जहाँ रहेगा, चाल वहीं का चलेगा !

—साला ! हम दिन भर चा पीयें या रात भर दारू पीयें—इस से लोगों का क्या ?...शिवधरिया, टिसन की कलाली मे पचास दारू असली मिलता है या पानी मिलाया हुआ ? आज दो बोतल चढ़ेगा।

—शिवधरिया दारू का हाल क्या जाने ! वह गाँजा के बारे मे कह सकता है।

—ए झुमकी ! इधर आ !...तू एक हाथ घुँघट क्यों काढ़ती है ?

झुमकी लजा कर आँगन की ओर भागी। सब कुछ हुआ। रामबिलास ने पटना में बैठ कर जो-जो सपने देखे थे, सभी सच हुए।... मिसर का 'जहरदाँत' उस ने उखाड़ कर फेंका। गाँव मे इस बात को ले कर राम-बिलास का जै-जैकार हो रहा है। गाँव के हर घर में उस का नाम, दिन में दस बार लिया जा रहा है।...बेटा हो तो ऐसा !... मरद हो तो ऐसा ! !

उस का मचान, गाँव के मालिक मिसर का चौपाल हो गया है, मानो। अब बाभन-राजपूत टोले के जवान भी आ कर बैठते है। दिन भर चाय, बीड़ो, ताश और रात में 'अँगरेजो-तास' !

उस दिन मिसर का बड़ा बेटा दिन भर रामबिलास के मचान पर ताश खेलता रहा।

—भैंसवार ? कौन चरावेगा तुम्हारी भैंस ?

—क्यों ?

—सभी गृहस्थों के हलवाहे-चरवाहों को तुम भगा कर शहर ले जा रहे हो ।

—किसने कहा कि मैं भगा कर ले जा रहा हूँ ?

—गाँव के सभी गृहस्थ बोलते हैं ।

—सभी गृहस्थ नहीं । बोलता होगा, तुम्हारा वह शिवधरिया ।

झुमकी चुप रही । रामविलास ने घुटने से ठोकर मारते हुए कहा—क्यों ? ठीक कहता हूँ न ?

—जो कहो तुम ।

—मैं जो कहता हूँ, ठीक कहता हूँ ।

झुमकी ने एक लम्बी साँस ली ।

—ठीक कहता हूँ न ?

—हूँ ।

—चौथे दिन से खूब मौज करना ।

—मैं मौज करूँ या दुख से मरूँ तुम को क्या ? मौज करेगी रजवतिया डोमिनियाँ तुम्हारे साथ ।

—क्या बोली ?

झुमकी चुप रही । रामविलास ने फिर घुटने से एक ठोकर लगा कर पूछा—क्या बोली ?

—मारना है तो जान से मार दो ।

—साली ! जाने के पहले तुम को और तुम्हारे शिवधरिया को खतम कर के ही ।

रामविलास के सिर पर कोई भूत सवार है । आज वह दो चिलम गाँजा पी कर आया है ।

—चिल्लाओ मत, इस तरह ।

—साली ! पटना का बड़ा से बड़ा मास्टर हमारी बोली को बन्द नहीं कर सकता और तुम कहती हो चिल्लाओ मत ।

—तो, चिल्लाते रहो ।

—आज तो मैं ने दारू नहीं पी है । तू उधर मुँह फिरा कर क्यों सोयी है ? इधर पलट, तेरी · ।

—नहीं ।

—स् स् साली !

· आज रामविलास खून कर देगा । चीर फाड़ कर देगा झुमकी को । क्या समझ लिया है ? एँ ? रिक्शा-डलेवरी करने से आदमी जनखा हो जाता है एँ ? बोल ? कहती है, सब झूठ है ! मिसर से चौगुने सूद पर करजा ले कर उस शिवधरिया ने तुम से विहा किया था ? एँ ? बोल ! चोप साली ! खा कसम । क्या समझ लिया है ? शहर में रहने से, दारू पीने से आदमी चोप साली । हम सब समझते हैं ।

झुमकी बहुत देर तक रोती रही । रामविलास जब बिछावन छोड़ कर उठने लगा तो झुमकी ने उस की गंजी पकड़ ली ।

—क्या है ?

—तुम पटना मत जाओ ।

—क्या बकती है ?

—हाँ । मैं पैर पड़ती हूँ—मत जाओ ।

—हूँ । शहर नहीं जाऊँगा तो काम कैसे चलेगा ?

—इतने लोगों का काम कैसे चलता है ?

—उँहु ।

—तब, मुझे भी साथ लेते चलो।

—और, शिवधरिया ?

झुमकी रोने लगी फूट-फूट कर। सूरज, बाँस भर ऊपर उग आया। बूढ़ी ने पुकारा—बहू-ऊऊऊ ! !

•
•

गाँव के सभी जवान एक ही साथ आसमान से गिरे। रामबिलास आज मिसरके दरबार में कह रहा था कि घर की आधी रोटी भली।··· शहर में क्या है ? जितनी आमदनी होती है उस से चौगुना लहू खर्च होता है। गाँव आखिर गाँव है।···मिसरजी ने बाकी करजे-का एक पाई भी सूद नहीं लिया। शहर में इस तरह कोई सूद छोड़ देता ?····पटना कहो या दिल्ली, जो मजा अपने गाँव में है, वह इन्द्रासन में भी नहीं।

····सुना है, मिसर का बड़ा बेटा आँटा-घानी का मिल बैठावेगा। रामबिलास, मैनेजरी करेगा, बस का !

····सुना है, गाँव के गृहस्थों ने मिल कर चुपचाप रामबिलास को 'घुस' दिया है। सभी के हलवाहे-चरवाहे भागे जा रहे थे न !

····सुना है, रामबिलास पटना में एक डोमिन से फँस गया था। इसलिए, अब नहीं जाना चाहता। डोमिन को बच्चा होने वाला है।

और, चौथे दिन सभी ने सुना, शिवधारी गाँव छोड़ कर भाग गया।····कल स्टेशन-हाट-में दारू पी कर धुत्त था।

····उस की बहरी-मौसी कह रही थी कि रामबिलास को बहू साँझ से आ कर न जाने क्या फुसुर-फुसुर कह गयी और रात में ही शिवधरिया हवा हो गया !

रामबिलास ने कहा—झुमकी ! सुना ? वह शिवधरिया साला भाग गया।

—दो कोड़ी रुपया मेरा ले कर भागा है।

—तू पहले ही क्यों न बोली ? मुँह में क्या केला था ?

—ऐसी नमकहरामी करेगा वह, सो कौन जानता था ?

—तुम आदमी को नहीं पहचानती ?

—कभी तो आवेगा ! मुँहझौसा। तब पूछूँगी।

रामबिलास ने झुमकी को खींच कर छाती से लगा लिया। बाँहों में उस के सिर को भर कर बोला—मारो साले को गोली ! वह साला शहर से बच कर कभी वापस नहीं आवेगा !····साले को दारू खा जायगा ! देखना !

झुमकी हठात् उठ बैठी—भैंस क्यों 'डिकर' रही है इस तरह ?

रामबिलास ने कहा—सुबह, भैंसा की खोज में जाना होगा। भैंस 'उठ' गयी है, लगता है।

····आज झुमकी फिर नयी बहुरिया की तरह लजा कर मुसकराती है। बिना पिये ही रामबिलास मतवाला हो गया।

—ए ? जरा दारू चखेगी ?····बस, एक घूँट।

झुमकी हँसने लगी—नहीं !····नहीं ! ! ····नहीं ! ! मुझे दारू की बास····उयेक्···· ऊँ-हूँ-हूँ-हूँ···! !

[नवम्बर १९६४]

मित्र

○

शिवानी

पूरे घर की काया पलट हो गयी थी। काँचों को स्पिरिट से साफ कर रही थी बड़ी लड़की रम्भा, मँझली सरोज ने गोल कमरा चमका लिया, दोनों लड़कियाँ बार-बार अकर्मण्य छोटे भाई बब्बू की धज्जियाँ उड़ा रही थी—"बब्बूजी, आप से तो कुछ होने का नही, जब देखो तब लाट साहब चुग रहे हैं। ग्यारह बजे कालका मेल आता है, साढे दस बज गये और आप का पाजामा ही खिसका जा रहा है, जाइए, कपडे बदलिए।"

दस वर्ष के परमहस बब्बू बहनो की घुडकियों से बिना सहमे, चौके में बासी रोटी की प्लेट बनाये, माँ के सम्मुख याचक बने खडे थे—"हाय, ममी, थोडे-से भुने आलू दे दीजिए, फिर नही माँगूँगा।"

राधा झुँझला उठी—"मर अभागे, तेरी हडबडी में हाथ ही जल कर रह गया, चखते चखते सब ही कुछ तो खा डाला। अरे, देख तो बेटी, लगता है आ गये।"

पूरे घर को जैसे बिजली का तार छू गया, रिक्शा सचमुच ही आ गया था। रम्भा ने सफाई का तामझाम बटोर पलँग के नीचे कर दिया, सरोज बिजली की गति से गुसलखाने में घुस गयी। बब्बू खिसकता पाजामा और हाथ की बासी रोटी सँभाले, बक्स के कमरे में अदृश्य हो गया। हाथ में कलछुल और सब्ज़ी का ढकना लिये, राधा बेचारी सोचती रही कि कहाँ छिपे।

उस के पति का मित्र मुसकराता द्वार पर खडा था।

"ओह, यह हैं हमारी भाभी जी! नमस्कार!" उस ने झुक कर हाथ जोड और विनम्रता से दोहरा हो गया।

राधा काँप गयी। कैसा कदर्य, कुत्सित और भयावना था पति का मित्र ! एक तो यह प्रकृति का कुछ विचित्र नियम है कि पति के आत्मीय या मित्र, कितने ही सुदर्शन क्यों न हों, उन की पत्नियों को आम तौर पर कम ही पसन्द आते हैं पर इस मित्र को देख कर तो वह सचमुच ही स्तब्ध हो गयी। कामेश्वर की रुचि का ही तो वह आज तक लोहा मानती आयी थी, जो खाने मे, पहनने में, बोलने में, अध्ययन मे और स्वयं अपने व्यक्तित्व से अनमोल था। उस ने ऐसे मित्र को क्या देख कर चुना ? पति ने तो उसे पहले ही आगाह कर दिया था—"देखो राधा, राघव देखने मे तो आबनूस का चक्का है पर दिल का हीरा है, समझीं ! फिर इतना श्रीमन्त मित्र, अपने विपुल वैभव के बीच भी मेरा स्मरण कर सका, यही मेरा सौभाग्य है। चाहता तो बड़े से बड़े होटल मे टिक सकता था पर लिखा है, तेरे ही साथ ठहरूँगा।"

राधा के दुर्भाग्य से, पति का मित्र महीने की सत्ताईस तारीख़ को पहुँचा था फिर भी उस ने आतिथ्य मे त्रुटि नहीं रहने दी। कामेश्वर ने बहुत दिनों से एक भत्ते का बिल छिपा कर रखा था, अस्सी रुपये का सामान्य-सा बिल था, सोचा था कुछ पैण्ट बनवा लेगा। ऑफ़िस की कुरसी मे बैठता तो ऐसे सँभल-सँभल कर जैसे किसी गहरी नदी की टूटी-सीढ़ियाँ उतर रहा हो। हर पैण्ट की सीट बुरी तरह जर्जरित हो कर, झीनी पड़ गयी थी पर जब कभी बिल भुनवा कर पैण्ट बनाने की सोचता, दोनों लड़कियाँ फ़ीस माँग बैठती, लड़के का जूता, मुँह फाड़ कर अट्टहास कर उठता और पत्नी फटी सड़ियों की प्रदर्शनी-सी लगा देती। कहीं इन अभावों के बीच अपना तन ढाँकने का दुःसाहसी संकल्प पूर्ण कर बैठता तो गृहस्थी का संयुक्त मोर्चा उस के विरुद्ध हो जाता। इस बार उसी बिल को भुनाना पड़ा। खिड़कियों के, द्वारों के परदों की फ़रमाइश लड़कियाँ कब से कर रही थीं, जमाना सचमुच ऐसा आ गया था कि तन की लाज ढँकने से अधिक चिन्ता मनुष्य को गृह के द्वार और खिड़कियों की लज्जा ढँकने की हो गयी थी।

'सब के यहाँ हैण्डलूम के परदे है पापा !" रम्भा ने मुँह फुला कर कहा, "एक आप ही लोग है कि अभी तक दरवाज़ों पर हम से एक साल बड़े परदे लटकाये हैं। साथ की लड़कियाँ आती है तो हम शरम से मर जाती हैं, फिर आप के समृद्ध मित्र आ रहे हैं, परदे तो बनवाने ही होंगे।"

सरोज और रम्भा ने द्वार और खिड़कियों को नापा, बढ़ई को बुला कर नये चमकदार शीशम के डण्डे बनवाये, बढ़िया मोहनजोदड़ो के वृषभ 'अंकित कपड़े का थान आया, और बारह बजे तक बैठ कर राधा ने परदे सिले। परदे लग गये तो घर मुसकराने लगा पर अभी भी मुसकराहट पूर्ण नहीं थी, नंगी औरत कपड़े पहन कर मुसकरा भले ही ले, निराभरण क्या अच्छी लगती है !

मित्र आते ही चाय मागेंगे···और टी-सेट ?

"हाय राम, यह कोई टी-सेट है पापा ?

क्या कहेंगे आप के मित्र !" रम्भा और सरोज रंग बिरंगे बहुरूपिया कप-तश्तरियों को एक कतार में धर, चम्मच से जलतरंग बजाने लगी।

"छि-छि, हम से तो नहीं पिलायी जायेगी इन प्यालों में चाय, एक सेट तो लाना ही होगा! बारह सौ पाते हैं आप के मित्र, फिर आप की नौकरी भी तो ऐसी गयी बीती नहीं है पापा, सात सौ तो आप को भी मिलते हैं।"

"बेटी, उस के बारह सौ अकेले उसी के हैं और मेरे सात-सौ में तुम तीन, तुम्हारी ममी, फिर इनकमटैक्स, बीमा ..."

सरोज बाप की मुँहलगी बेटी थी—"बोर मत करिए पापा! फिर वही बजट-पुराण ले बैठे आप, निकालिए तो चट से चालीस रुपये, एक कामचलाऊ टी सेट ही ले आयेंगी।"

चालीस में 'कामचलाऊ'! कामेश्वर की आँखें बाहर निकल आयीं—"मैं जब होस्टल में था तब पाँच रुपये का वो फ़ाइन सेट लाया था कि बस ..."

अब रम्भा झुंझलायी—"आप लोगों की तो कुछ आदत ही पड़ गयी है शायद, हमारे ज़माने में ये था—वो था, हमारे बच्चे होंगे तो हम भी कहेंगे—सौ रुपये में मामूली टी-सेट? अरे हमारे ज़माने में तो चालीस का वो बढ़िया आता था कि बस ...।"

दोनों पुत्रियों की बहस ने कामेश्वर को पराजित कर दिया। द्वार खिड़कियों पर परदे टँक गये, नये सेट में ब्रुक बौण्ड की चाय बनी, कुरकुरे मोनाको स्नैक्स का चमचमाता टिन खुला और मित्र को घेर कर पूरा परिवार बैठ गया।

काले भुजग-से मित्र को घेरे कामेश्वर के तीनों बच्चे देवदूत से लग रहे थे। मित्र ने बड़ी आत्मीयता से छोटे लड़के बब्बू को गोद में खींच लिया था, वह बारी-बारी से तीनों से प्रश्न पूछ रहा था, कभी सामान्य-ज्ञान की परीक्षा चल रही थी, कभी बड़ी पुत्री का अँगरेजी साहित्य का जायजा लिया जा रहा था, शेक्सपियर के विभिन्न पात्रों की भूमिका में अवतरित हो कर मित्र, अपनी पाण्डित्यपूर्ण आवृत्तियों से मित्र के परिवार को प्रभावित करने की चेष्टा कर रहा था। बच्चों को राघव चाचा का गर्जन-तर्जन बड़ा अच्छा लग रहा था। उन की मोटी नाक के चपटे नथुने उत्तेजना से फड़फड़ाने लगते, अधमुँदी आँखें शेक्सपियर की आवृत्ति करते-करते पूरी बन्द हो जाती तो बब्बू दोनों बहनों को चिकोटी काट-कर बुरी तरह गुदगुदा देता—"देखो नाक के नथुने कितने बड़े हैं, पूरा चूहा घुस सकता है!"

रात के ग्यारह बजे सब ने खाना खाया, राधा थक कर चूर हो गयी थी, इतनी रात तक जग कर काम करने का उसे अभ्यास नहीं था, फिर पति के मित्र का ज़ोर-ज़ोर से बोलना, ठठा कर हँसना, कभी उसे काक-दृष्टि से छिप छिप कर देखना, कभी उस की सुन्दरी पुत्रियों को, उसे जरा भी अच्छा नहीं लग रहा था। पर पति का मन रखने को वह अतिथि देवता को प्रत्येक सुविधा देने की चेष्टा

कर रही थी। लाख हो, था तो पति का मित्र ! बेचारे के प्रौढ़ रिक्त जीवन में कभी नारी की सुशीतल छाया नहीं पड़ी थी; इसी से बार-बार मित्र-परिवार के सौभाग्य-मदिरा से छलछलाते जीवनपात्र को देख कर, शायद मुँह में पानी भर आ रहा था। फिर दो ही दिन की तो बात थी, तीसरे दिन तो चला ही जायेगा। कौन रोज-रोज आ रहा है, चलो इसी बहाने घर की एक-आध चीजें तो जुट गयीं।

राघव चाचा को दूसरे ही दिन सुबह मीटिंग में जाना था, सुबह की चाय चटपट पी कर वह मीटिंग में चले गये, लंच भी वहीं था। कह गये, शाम को लौटेंगे। उन के जाते ही पहले नाश्ते की मेज़ पर डाका पड़ा। तीनों बच्चों मे द्रुतगामी रफ़्तार से बिस्कुट साफ़ किये, पाँच केलों को तीन विषम भागों में विभक्त किया, बासी पत्तियों में उबलता पानी डाल कर दुबारा चाय बनी, ज़ोर-ज़ोर से राघव चाचा के गुण-दोषों की विवेचना सम्पन्न हुई, फिर आरम्भ हुई उन के विलासी सामान की चीर-फाड़ !

"हाय ममी, देखो कैसा हलका सूटकेस है ! एकदम काग़ज़ी फूल !" विदेशी रंग-बिरंगे लेबल-चिपके सूटकेस को एक हाथ में झुला कर, रम्भा ने राघव चाचा के विदेशी धूप के चश्मे से अपने गौर मुखमण्डल को दीप्त किया और मुसकराती, बंकिम मुद्रा मे खड़ी हो कर बोली, "इन से मिलिए, ये है कुमारी रम्भा, ऐयर होस्टेस, ऐयर इण्डिया, इण्टर नैशनल !"

"वाह, वाह, ऐयर होस्टेसजी, कल शायद अपने इकलौते फटे पेटीकोट की मृत्यु पर आप ही बिलख रही थीं !" सरोज ने लपक कर बड़ी बहन से चश्मा छीन लिया—"लाइए, हम भी लगायेंगे भई, मान गये राघव चाचा है रईस आदमी। ममी, देखो जूते के लिए भी जिप-लगा चमड़े का केस है !"

"तकिया देखिए दीदी, चिड़िया के पर भरे हैं !" बब्बू राघव चाचा की तकिया लगाये ठाट से लेट गया था।

राघव चाचा सन्ध्या को लौटे तो फिर महफ़िल जमी, उस दिन रात का खाना बारह बजे लगा। घर की महरी बड़बड़ाती चली गयी। बेचारी राधा कई बार खाना लगाने उठी पर राघव चाचा को देर में खाने का अभ्यास था। प्रत्येक गृहस्थ की एक निश्चित मर्यादा होती है, अपनी कुछ सीमाएँ होती हैं—यह उस मस्तमौला अतिथि को ज्ञात ही नहीं था। तीसरे दिन सुबह की मेल से उस के जाने की बात थी पर कामेश्वर ने बड़े आग्रह से रोक लिया। राधा मन-ही-मन झुँझलायी भी थी, दो दिनों में तीस रुपये तो घी-मिठाई और फलों मे ही टूट गये थे। बच्चों को भी अब राघव चाचा की गरिष्ठ विवेचना के पकवानों से अपच हो उठा था। देश-विदेश के मन्त्रिमण्डल का लेखा-जोखा देते-देते लड़कियाँ ऊब गयी थी। नये टी-सेट को राधा अपने हाथ से धोती-पोंछती थी, एक बार धो कर रखती तो दूसरी राउण्ड चाय का आर्डर आ जाता, फिर नित्य की दो सब्जियों

के स्थान पर तीन-तीन, चार-चार मक्खियाँ बनाते-बनाते उस की कमर टूट गयी थी, पहले दिन का पहुना अब कुछ-कुछ घिनावना पटने लगा था।

तीसरे दिन राघव चाचा का सामान बँधने लगा तो राधा विदा होते अतिथि के प्रति सहसा सदय हो उठी। इतना लम्बा सफर है, क्यों न बेचारे के लिए चार पूड़ियाँ ही झटपट उतार दे। रास्ते में नाश्ता कर, कम से कम याद तो कर लेगा कि किस के साथ रहा था!

वह पूड़ियाँ उतार रही थी कि कामेश्वर आ गया—सुनती हो, तुम्हारे पास कुछ रुपये होंगे?"

"रुपये? कैसे रुपये?" राधा चौंक गयी, जलते घी में पूड़ी सफ़ेद से गुलाबी और गुलाबी से क्रमश लाल पड़ने लगी।

"तुम्हारे पास हमेशा कुछ रुपये रखे रहते हैं राधा, अचानक चलते समय राघव को ध्यान आया कि उस के रुपये कुछ कम पड़ गये हैं। जाते ही भेज देगा, कुछ हो तो निकाल दो, प्लीज देर मत करो!"

"हद करते हैं! 'आप मँगते बाभना द्वार खड़े जजमान' इसी को तो कहते हैं, सवा तीन रुपये बचे हैं, कहिए तो निकाल दूँ?" राधा का स्वर बड़ा ही रूखा था और वह पति की ओर दृष्टिपात किये बड़ी बेरुखी से पूड़ियों का पेट दबा-दबा कर उन्हें फुलाती जा रही थी। मन-ही-मन वह सोच रही थी कि 'चलने समय यह अनोखा मित्र रुपये भी माँगेगा' अगर जानती तो रास्ते का नाश्ता कभी भी नही बनाती।

"नही राधा, झूठ मत बोलो, तुम्हारे काले बक्स में लक्ष्मी पूजा के सौ रुपये धरे हैं। देखो, आज मेरी इज्जत धर लो! क्या कहेगा, इतना बड़ा आदमी है। आध ही घण्टा ट्रेन छूटने में है, नही तो मैं कही और इतजाम कर लेता।"

एक बार तो राधा के जी में आया, कह दे कि कर लीजिए इन्तजाम, पर फिर मुँझला कर उस ने कड़ाई उतार ली। पति और चाहे कुछ देखे न-देखे, पत्नी के छत्रबल्ल मे छिपाये रुपये को वह पुलिस के सिखाये कुत्तों की भाँति अपने दिव्य चक्षुओं से बड़ी तत्परता से देख लेता है! लाल पोटली को निकालना ही पड़ा। एक सौ पचीस रुपये और मित्र परिवार की मीठी स्मृतियो को बटोर मित्र सुबह की मेल से विदा हो गया।

मित्र के जाते ही बड़ी धूमधाम से गृहस्थी का गणतन्त्र दिवस मनाया गया। दीवालों पर फिर रोल नम्बर और दूध का हिसाब लिखा जाने लगा, राधा ने फटी साड़ियाँ निकाल ली, कामेश्वर ने कच्छे का कौपीन धारण कर फिर गृहस्थी से वैराग्य ले लिया। नया टी-सेट ताले में बन्द हो गया, रग-बिरगे टूटे प्यालो में चाय की अमृतवर्षा करने, सूर्पनखा की कटी नाक की सी टोंटीधारिणी पुरानी केटली, एक बार फिर आ गयी। घर की बनावटी आडम्बर की केटली को उतार कर एक खूँटी पर लटका दिया गया। कभी-कभी राघव चाचा की बातें होती तो राधा अपने दिये गये रुपयो का उल्लेख

अवश्य कर देती।

चार महीने तक जब राघव ने पत्र ही नहीं लिखा, तो राधा का माथा ठनका।

"क्यों जी, कैसे हैं आप के मित्र! रुपये तो दूर, एक चिट्ठी भी नहीं डाली?" उस ने एक दिन पति से कहा।

"उँह, आ जायेंगे, कौन-सी बड़ी रक़म है, अब की तनख्वाह से तुम अपने रुपये ले लेना।"

"तनख्वाह है ना कद्दू।" राधा भुनभुना कर उठ गयी थी, "सौ रुपये मैं काट लूँ तो रोते नजर आओगे। कहना आसान है! वह तो मैं ही हूँ जो तुम्हारी गृहस्थी की गाडी ठेले जा रही हूँ, चौदह आने सेर तो आलू बिक रहा है, सौ रुपये क्या कम होते हैं?" इधर बिगडती खाद्यान्न स्थिति ने अधिकांश गृहिणियों की भाँति उस का भी रक्तचाप बढ़ा दिया था। हर तीसरे दिन वह पति के मित्र को कोसने बैठ जाती।

कामेश्वर को इतनी चिन्ता नहीं थी। एक तो उसे विश्वास था कि रुपये नहीं डूबेंगे। दूसरा, लेन-देन के मामले मे पुरुष स्त्री की अपेक्षा अधिक उदारता से काम लेता है। स्त्री किसी से लिया गया रुपया चाहे भूल जाये, अपने द्वारा दिया गया धेला भी नहीं भूल सकती।

पाँच महीने बीत गये। गेहूँ सोने के भाव बिक रहा था। धोबी, जमादार, महरी सब ने अपना मँहगाई-भत्ता सुविधानुसार बढ़ा लिया था, बेचारी राधा के ही पैर उस की गृहस्थी की चादर से बाहर झाँकने लगे थे। नाना अभावों के बीच उसे सौ की स्मृति कभी-कभी रुला देती। एक तो पूजा के रुपये थे, लक्ष्मी जी ने सचमुच ही रूठ कर मुँह फेर लिया था।

वह रुपयों की आशा एक प्रकार से छोड़ ही बैठी थी कि एक दिन उस के नाम का लिफ़ाफ़ा आ गया। राघव का ही पत्र था, रेलवे रसीद भेजी थी, दिल्ली से कन्धारी अनार और बेदाना-अंगूर चले आ रहे थे भाभी जी के लिए।

राधा पहले तो झल्लायी। यहाँ गेहूँ को तरस रहे हैं। भेज दिये कन्धारी अनार और बेदाना अंगूर! इस से तो सीधा-सादा मनिऑर्डर भेज दिया होता! पहले वह पति के सहयोगी अस्थाना की नयी फियट गाड़ी को ललचायी दृष्टि से देखती थी पर उस दिन एक मोटी-सी ललाइन को रिक्शा पर ढाई मन का गेहूँ का बोरा दोनों हाथों से सँभाले देखा तो फियट-आरूढ़ा अस्थाना-गृहिणी भी फीकी पड़ गयी। काश वह भी ऐसे ही एक भीम बोरे से बॉलडांस करती, उसे अपने घर तक ला सकती!

फलों का पार्सल आया तो बच्चे टूट पड़े। वाह-वाह, क्या रसीला अनार था! और क्या बढ़िया अंगूर!

राधा ने पड़ोस मे बाँटने का प्रस्ताव रखा तो पूरा घर भड़क गया—"वाह जी वाह, हम एक दाना भी किसी को नहीं देंगे!"

रम्भा और सरोज को माँ के औदार्य और छोटे भाई की नीयत पर सन्देह हुआ तो चट

टोकरी ताले में बन्द कर दी गयी।

राधा की आँखें भर आयी। ये वे ही बच्चे थे जो तिल का दाना भी पड़ोस में बाँट कर खाते थे। परिस्थितियों ने उन्हें कितना स्वार्थी बना दिया था।

कई दिनों तक अनार और अंगूर नाश्ते की जगह खाये और पानी के बदले पिये गये। राधा ने अब रुपयों का प्रसंग छेड़ना ही बन्द कर दिया था। कम से कम चालीस के तो फल होंगे ही। लिखा है, अगले महीने कुछ फिर भेजेंगे! वह कुछ खिसियाये स्वर में, पति के सम्मुख झुँझलाहट में कहे गये मित्र के प्रति अपशब्दों के लिए मूक क्षमायाचना-सी कर उठती।

दूसरे महीने, गढ़वाल के दौरे पर गये मित्र ने सचमुच ही एक पार्सल कागजी अखरोटों का भेज दिया तो राधा पिघल गयी—"आप के मित्र हैं समझदार, कितना खिला दिया हमें।" उस ने पति से कहा तो चट से मुँहजोर छोटी बेटी ने टोक दिया—"वाह ममी उस दिन तो तुम राघवचाचा को चोट्टा कह रही थी।"

"चल मुँहझौंसी, कब कहा था मैं ने ?" राधा खिसियाये स्वर में बोली।

"वाह, कहा नहीं था कि चोट्टे भस्मासुर ने चालीस के फल मत्थे मढ़ कर पूरे सौ रुपये डकार लिये।" ही-ही कर दोनों बहनें, पिता के सम्मुख मां को अपदस्थ कर देने की महिमा से हँसती हँसती दुहरी हो गयी।

सचमुच ही एक दिन खीझ कर राधा ऐसा ही कुछ कह बैठी थी, सौ की व्यथा को वह बीच-बीच में फलाहार करने पर भी नहीं भुला पा रही थी।

उधर राघव को काम से एक बार फिर मित्र के पास आना था। पहली बार मित्र-परिवार के साथ बिताये आमोदी दिनों की मिठास वह भूला नहीं था। कितनी स्नेही लड़कियाँ थी और कैसी सुशीला पत्नी! उस के साधारण मसालों में बने भोजन का रस उस के छत्तीस व्यंजनों में भी नहीं था।

अब के वह बिना किसी पूर्व सूचना के ही पहुँच गया था। बच्चों के लिए क्या उपहार ले जाये? और भाभी के लिए? तीनों के लिए खूब दामी साड़ियाँ ले जायेगा वह! कुँआरा होने पर भी वह इतना जानने लगा था कि स्त्रियों को अच्छा पहनना-ओढ़ना स्वभाव से ही रुचता है।

शहर में एक पंजाबी कपड़े वाले ने अपनी दूकान नये ही ढंग से सजायी थी। एक ओर आदमकद मेमों की मोम-मूर्त्तियों की कतार दर कतार साड़ी पहने इठलाती थी, दूसरी ओर दो आकर्षक ऐंग्लो इण्डियन युवतियाँ ग्राहकों पर विनम्रता के डोरे डाल कर उन्हें खींचती थी। उन्होंने तीन-सौ की तीन साड़ियां उसे थमायी तो दूकान के कोने में पड़ी एक औंधी तख्ती पर उस की दृष्टि पड़ी, जिसे शायद दूकान की आधुनिक सज्जा से मेल खाता न देख कर, कोने में फेंक दिया गया था। कांच के आइने में काले अक्षरों के बेलबूटों से लिखी पंक्ति ने उस की विस्मृति को कोंचा मार कर जगा दिया। उस पर लिखा था—'उधार मित्रता की कैंची है।'

वह भी तो सौ रुपये लाया था मित्र से, बल्कि एक सौ पचीस थे शायद ! कैसा भुलक्कड़ था वह ! राम रे राम !

तो क्या सौ रुपयों ने उस की मैत्री की डोर पर क़ैंची चला दी होगी ?

ऐसा नही है उस का मित्र !

अब मनिऑर्डर क्या भेजें खुद ही ले जायेगा । एक दिन पहले या बाद में मित्र के घर मित्र पहुँचता तो ठीक था । वह ऐसे मनहूस दिन पहुँचा जिस दिन मित्र की गृहस्थी का आकाश, मनोमालिन्य के घने कृष्ण मेघ-खण्ड से पूरा ढँक चुका था । दो दिनों से पति-पत्नी मे बुरी तरह खटक रही थी । झगड़े का सूत्रपात, अर्थाभाव से हुआ था ।

पूरी तनख्वाह महीने की पन्द्रह तारीख को ख़तम हो चुकी थी, कामेश्वर ने बड़े रूखे स्वर मे कह दिया था कि उसे महीने मे एक ही बार वेतन मिलता है, दो बार नही । उधर राधा पति की फ़िज़ूलख़र्चियों का उल्लेख कर उसे बुरी तरह पछाड़ रही थी । उस का स्वर क्रमशः ऊँचा होता जा रहा था, चेहरा तमतमा गया था, क्रोध के वाष्प से नारी की शील और सौम्यता का ढँकना बार-बार उलटा जा रहा था ।

"एक आप के मित्र है, दस-बीस के फल और मुफ़्त को सलामी मे मिले अखरोट भेज कर पूरे सौ रुपये डकार गये ! चालीस का तो टी-सेट आया हजरत के लिए, पचास के परदे, फल और सब्जियाँ अलग ! तन का ही नहीं, मन का भी काला था आप का मित्र !"

मित्र को बिना किसी सूचना दिये आश्चर्य और आनन्द से अभिभूत कर देने के संकल्प से पिछवाडे के पपीते के नीचे छिपा तन और मन का काला व्यक्ति काँप उठा ।

पति और पत्नी ऐसे तने आमने-सामने खड़े थे जैसे एक-दूसरे के ख़ून के प्यासे हों। मित्र भय और आशंका से काँप उठा । व्यर्थ ही काँप रहा था बेचारा । उस का कुँआरा जीवन, ऐसे तनाव के क्षणों से अनभिज्ञ था । वह नहीं जानता था कि जिस के विवाहित जीवनाकाश मे ऐसी घनघोर घटा नही घिरती वहाँ रसवृष्टि की आशा करना भी व्यर्थ है । वह नही जानता था कि आज, एक-दूसरे के ख़ून के प्यासे, कल फिर एकप्राण हो उठेंगे । वह और खडा नही रह सका । क्या पता, पति क्रोध मे आ कर पत्नी का गला ही घोट दे ! मित्र-पत्नी की हत्या वह नही देख पायेगा । उस का काला चेहरा और भी काला पड़ गया, मोटे होठ पश्चात्ताप से थरथराने लगे—क्या सचमुच ही वह तन और मन का काला था ?

डबडबायी आँखों से उस ने एक बार सिर झुकाये मित्र को देखा । क्या भीतर जा कर उपहार सहित सौ रुपये दे आये ? नही-नही, अब वह भीतर नहीं जा पायेगा, तार से रुपया भेज देगा । कुछ देर ठिठका, फिर हाथ मे सूटकेस लटकाये, मित्र के द्वार से मित्र बाहर चला गया !

[दिसम्बर १९६४]

दो तारों का आकाश



सोमा वीरा

शर्मा जी आजकल कितने परेशान नज़र आते हैं ! मुझे तो उन की बात सोच कर भी दया आती है ।

उस दिन प्रकाश पूछ रहे थे, "शर्मा को क्या हो गया है ?"

मैं चुप रही तो वे बोले, "तुम्हें मालूम जरूर है, इला । तुम मुझे बता नहीं रही हो ।"

मैं ने कहा, "खूब बातें करते हो ! किसी के घर की बातें मुझे भला क्या मालूम ? पति-पत्नी में झगड़ा होता ही रहता है । बातें बढ़ जाती हैं, तो कभी कभी डाइवोर्स होने तक की नौबत आ जाती है ।"

उन्होंने एक गहरी सांस भरी, "तुम ठीक कहती हो । सिर्फ एक यही कारण हो सकता है ।"

वे तो काम पर चले गये, किन्तु मैं सोचती रही—आठ महीने पहले भी तो ये ही शर्मा जी थे ! कैसा चेहरा खिला रहता था ! कैसे चहकते घूमा करते थे ! जिस दिन सावित्री के यहाँ आने का प्रोग्राम निश्चित हो गया था, ऐसे खुश हुए थे, मानो धरती पर बैठे ही आकाश के तारे झोली में आ गिरे हों । बोले, "भाभी, आप के भरोसे ही उसे सैनफ्रान्सिस्को बुला रहा हूँ ।"

"मेरे भरोसे ?"

"बिलकुल !" वे शब्दों पर जोर देते हुए बाले, "आप को बता चुका हूँ—उस ने कभी इलाहाबाद के बाहर पैर नहीं रखा, माँ और बड़ी बहन से सलाह लिये बिना कभी चूड़ियाँ तक नहीं ख़रीदी, घर वालों और पड़ोसिनों के सिवा कभी-किसी से दो बातें नही की। यहाँ उसे सुबह से शाम तक, सब काम अकेले ही करने पड़ेंगे। आप यदि उस की सहायता नही करेंगी, तो बेचारी दो दिन में ही घबरा जायेगी।"

सुन कर मन-ही-मन सोचा था—इतने पढ़े-लिखे और सम्भ्रान्त घराने मे जन्म ले कर, इन्होंने ऐसी गॅवारन से शादी क्यों की ?

प्रकट मे कहा था, "आप चिन्ता न करें, मैं उसे किसी बात का कष्ट न होने दूँगी।"

और फिर एक दिन, हम लोग उसे लाने, हवाई अड्डे जा पहुँचे।

कस्टम पार कर, वह बाहर निकली।

न जाने क्यों, उसे देख कर, मुझे वैजयन्ती माला की याद आ गयी—आँखों में काजल के बारीक डोरे, लम्बे बालों का खूबसूरत जूड़ा; स्लीवलेस ब्लाउज़; और कलाइयों मे जड़ाऊँ चूड़ियाँ, चेहरे पर ऐसी ताजगी जैसे चालीस घंटे का सफ़र कर के नही, वह अभी अपने ड्रैसिंग रूम से निकल कर चली आ रही हो।

सैकड़ो निगाहें उस का पीछा कर रही थीं। सभी अमरीकी—युवा और वृद्ध, पुरुष और महिलाएँ और बालक—मुड़-मुड़ कर उस की ओर देख रहे थे। एक बालिका अपनी नन्हीं-नन्ही टाँगों पर उछल-उछल कर, अपने युवक पिता से पूछ रही थी—"पापा, ये क्या हिन्दुस्तानी है ?"

किन्तु पिता के कानों में वह प्रश्न पड़ ही नही रहा था, सभी की तरह उस की दृष्टि भी सावित्री पर टिकी थी।

उन सब नजरों से अनभिज्ञ-सी, वह हमारी ओर बढ़ती आ रही थी। शर्मा जी पर दृष्टि पड़ते ही, उस के गालों पर सुर्ख़ी दौड़ गयी। लम्बी-लम्बी पलकें झुक गयीं। किन्तु, दूसरे ही क्षण, अपनी मेहदी लगी हथेलियाँ जोड़, उस ने मृदु स्वर में कहा, "नमस्ते।"

ढाई वर्ष अमरीका रहने के बाद, मेरी नमस्ते करने की आदत छूट गयी है। बड़ा 'ऑकवर्ड'-सा 'फ़ील' करते हुए कहा, "नमस्ते।"

पोर्टर ने सूटकेस मोटर में रख दिये। उसे 'टिप' दे कर हम लोग चल पड़े।

माता-पिता, बहन-भाइयों का कुशल-क्षेम शर्मा जी ने पूछ लिया, और उस ने छोटे-छोटे वाक्यों मे उत्तर दे दिया।

मोटर मे चुप्पी छा गयी।

मुझे याद आया—विवाह के छह महीने बाद ही शर्मा जी यहाँ चले आये थे। उन छह महीनों मे भी, कौन जाने वे कितने दिन साथ रह सके होंगे ! कितना एक-दूसरे का परिचय पा सके होंगे !

हम लोग 'फ़्री वे' पर जा रहे थे। गरदन तनिक-सा मोड़, वह साथ-साथ चलते समुद्र की ओर ताक रही थी। चुप्पी तोड़ने के लिए

मैं ने कहा, "आप को यह 'बीच एरिया' अच्छा लगा ?"

मैं अभी तक चुप रही थी। शायद इसी कारण वह चौंक गयी। एकदम मेरी ओर दृष्टि जो घुमायी तो मैं ने देखा, उस की दोनो आँखें झिलमिला रही थी।

तुरन्त ही उस ने दृष्टि पुन मोड ली। धीरे से बोली, "जी हाँ।" उस स्वर को सुन, शर्मा जी ने चौंक कर उस की ओर देखा। किन्तु वे केवल उस के जूडे में लगा गुलाब का फूल ही देख पाये।

मन ही-मन मैं ने सोचा—यह मुरझाया हुआ सुर्ख फूल, और यह रुद्ध-कम्पित वाणी, केवल ये दो वस्तुएँ ही इस बात की साक्षी है कि यह अभी-अभी हवाई-जहाज़ से उतर कर आ रही है।

इस दिखावटी शान्ति के कवच के भीतर कितने तूफान गहर रहे हैं—यह इस बेचारी के अतिरिक्त और कौन जान सकता है।

मन में दया भर आयी।

कहा, "राह में पहले मुझे घर पर उतार दीजिएगा।"

शर्मा जी कुछ चौंके, "क्यो ? हमारे साथ एक प्याला चाय नही पियेंगी ?"

"चाय तो अब आप लोगो के साथ रोज ही पीने को मिलेगी। आज सारा काम पडा है—'सिंक' में ब्रेकफास्ट के प्लेट प्याले, वाशिंग-मशीन में कपडे, अभी ग्रोसरी स्टोर भी जाना है।"

वे दो क्षण चुप रहे। फिर धीरे-से बोले, "अच्छा।"

उस बात को आठ महीने बीत चुके है।

किन्तु अब भी, जब कभी शर्मा जी मिलते हैं, शिकायत-भरी नज़रो से मेरी ओर देखते हैं। कभी सावित्री निकट नही होती, तो कहते है, "भाभी, आप इसे कुछ सिखाती नही।"

अब मैं उन्हें कैसे समझाऊँ ? जो सीखना चाहे, उसे कुछ सिखाया जा सकता है। जो सीखना ही न चाहे, उसे कुछ कैसे सिखाया जाये ?

जाडों में इतनी बर्फ पडती रही, किन्तु वह साडी ही पहनती रही। मैं ने कितना कहा, "चलो, एक दिन तुम्हें स्लैक्स और स्कर्ट खरीदवा दूँ, मैं भी तो पहनती हूँ।" किन्तु उस ने माना ही नही। जब भी मैं कुछ कहती, वह हँस कर बोलती, "मैं क्या हाई स्कूल में पढने वाली बच्ची हूँ जो स्कर्ट और फ्रॉक पहनूँगी ?"

सुन कर क्रोध आ जाता और मैं ? मैं क्या हाईस्कूल में पढने वाली बच्ची हूँ ? इनसान जहाँ रहता है, वहाँ के अनुसार वेष-भूषा पहननी ही पडती है। सदा विदेशी बन कर तो नही रहा जा सकता।

क्रोध दबा कर मैं कहती, "मैं जानती हूँ, तुम बच्ची नही, मैकफर्सन इंजिनियरिंग फर्म में ट्रेनिंग पाने वाले केमिकल इंजिनियर की पत्नी हो, किन्तु तुम ने देखा है—तुम्हारी कम्पनी के प्रेसिडेण्ट मिस्टर नेलसन की पत्नी क्या पहनती है ?"

उस की आँखें अचरज से बडी बडी हो जाती, "उन की तो यह पोशाक है। वे यह

नहीं पहनेंगी, तो क्या पहनेंगी ?"

अब ऐसे प्रश्नों का भला क्या उत्तर है !

जब भी किसी पार्टी में जाती है, कभी किसी प्रकार की 'वाइन' को हाथ नहीं लगाती। हाथ में 'औरेंज-जूस' या 'टमाटर-जूस' का छोटा-सा गिलास ले घण्टों बिता देती है। यह तक नही सोचती कि उस के ऐसे व्यवहार से शर्मा जी को कितनी लज्जा आती है।

ये कभी-कभी परिहास कर बैठते हैं, "भाभी, जब आप भारत लौट कर जायेंगी, तो किसी से क्या कहेंगी—यहाँ आप ने कौन-सा नया काम किया ?"

"नया काम ?" वह मुसकरा देती है, "नये काम मै ने बहुत-से किये है, भाई साहब ! डिश-वाशर में बरतन धोये है, वैकुअम-क्लीनर से घर बुहारा है; लोगों को स्केटिंग और स्कीइंग करते देखा है…"

"केवल देखा ही है। सीखा तो नहीं।"

"घर पर थी, तो क्या मै ने क्रिकेट और हॉकी खेलना सीखा था ?"

शर्मा जी कुछ खीझ कर बातों का रुख बदल देते है।

मिस्टर नेलसन कभी मछली पकड़ने जाते है, या अपने घर कोई पार्टी करते है, तो हम लोगों को अवश्य आमन्त्रित करते है। प्रकाश के बिना तो जैसे उन का काम ही नही चलता। कभी-कभी छुट्टी के दिन—शनिवार या रविवार को भी—फोन कर देते है, "मिस्टर खन्ना, आप को असुविधा तो अवश्य होगी, किन्तु यदि आप…"

"नहीं, नहीं," ये झट से बोल देते हैं, "असुविधा किस बात की !"

असुविधा हो भी तो उसे अनदेखा करना ही पड़ता है। कम्पनी मे इस समय ग्यारह इंजिनियर ट्रेनिग पा रहे है। उन मे केवल दो को—एक अमरीकी और एक भारतीय को—यहाँ नौकरी मिलेगी। शेष को और कहीं काम खोजना होगा।

अगले हफ़्ते प्रमोशन होने वाले हैं।

प्रकाश कभी-कभी कहते है, "मैं शर्मा की जगह होता, तो अभी से कहीं नौकरी खोजना शुरू कर देता। यहाँ नौकरी मिलना आसान नहीं है।"

मेरी भी समझ मे नही आता कि क्यों शर्मा जी को अभी तक आशा है। पिछले चार-पाँच महीनों से, मिस्टर नेलसन ने उन्हे एक बार भी आमन्त्रित नहीं किया है। मुँह से कोई कुछ नही कहता, किन्तु जानते सब है कि इस 'नेगलेक्ट' का कारण क्या है।

किन्तु जिस के कारण, शर्मा जी का आदर इस तरह कम हो गया है, उस सावित्री को जरा भी परवाह नहीं।

मै ने उसे कितनी बार समझाना चाहा है—"अमरीका में पति की नौकरी, समाज में पति का स्थान, सभी कुछ पत्नी की चतुरता पर निर्भर रहता है। यहाँ पत्नी का स्थान घर मे नहीं, पति के बराबर मे है। तुम्हें ऐसा व्यवहार करना चाहिए, जिस से शर्मा जी को सहायता मिले।"

"करती तो हूँ," वह मुसकरा पडती है।

सच तो यह है कि उसे इतनी जल्दी

यहाँ बुला कर शर्मा जी ने बड़ी भारी गलती की। जानते तो थे कि उस का स्वभाव कैसा है। कहीं नौकरी मिल जाने के बाद बुलाते। अब यदि कहीं भी नौकरी नहीं मिली तो

नरेन्द्र शर्मा की बात

न जाने मिसेज़ नेलसन ऐसी बेरुखी से व्यवहार क्यों करने लगी है। पिछले चार-पाँच महीनों से, उन से एक बार भी मिलना नहीं हुआ। उन के घर पार्टियाँ होती रहती हैं, यह खन्ना और इला भाभी से पता लगता रहता है।

खन्ना की बात दूसरी है। वह कण्ट्री क्लब का मेम्बर है। वहाँ उन लोगों को नित्य ही मिस्टर और मिसेज़ नेलसन से भेंट होती है।

देखता हूँ—मुझे भी क्लब का सदस्य बनना पड़ेगा। पचास डॉलर महीना तो देने पड़ेंगे, किन्तु नौकरी तो मिल जायेगी। माँ को समझा कर लिख दूँगा कि और रुपये नहीं भेज सकूँगा। नौकरी मिल जायेगी तो क्लब की सदस्यता भी छोड़ दूँगा, और रुपये भी अधिक भेज सकूँगा, दो-तीन महीने उन्हें किसी प्रकार काम चलाना ही होगा। न चले, तो थोड़ा कर्ज़ा ले लें। मैं शीघ्र ही चुका दूँगा।

पहली बार क्लब गया, तो अकेला गया। सोचा था—वातावरण देख-समझ कर, सावित्री को समझा दूँगा तो वह भूलें कम करेगी।

कई परिचित मिले। सभी अपनी पत्नियों के साथ आये थे। सभी ने सावित्री के विषय में पूछा। मैं ने बहाना बना दिया—आज उस के सिर में दर्द है। मन ही-मन सोचा—सावित्री में यह एक बड़ा भारी गुण है। एक बार भी जो उस से मिल ले, वह कभी उसे भूलता नहीं।

घर लौट कर उसे क्लब की बातें सुनायीं। कहा, "कल से तुम्हें भी ले चलूँगा।"

मेरी बात का विरोध करना तो वह जानती ही नहीं। बोली, "अच्छा।"

क़िस्मत की बात, अगले ही दिन, दफ्तर में खन्ना ने फोन किया, "शर्मा, सुना है, तुम ने क्लब 'जॉयन' कर लिया है?"

"हाँ। कल मैं वहाँ गया था। तुम दिखाई नहीं दिये?"

"नहीं, हम लोग अपने सेक्शन मैनेजर और उन की पत्नी के साथ 'रशियन बैले' देखने गये थे। सुनो, वहाँ तुम्हें किसी ने बताया? आज मिसेज़ नेलसन का जन्म दिन है।"

"नहीं, मुझ से तो किसी ने नहीं कहा।"

"हम लोग हफ्ते-भर से उन्हें 'सरप्राइज़ पार्टी' देने का प्रोग्राम बना रहे हैं। सब तैयारियाँ पूरी हो चुकी हैं। इसी लिए किसी ने कुछ नहीं कहा होगा। मैं ने सोचा, तुम्हें बता दूँ।"

"धन्यवाद!" मैं ने शब्दों पर ज़ोर देते हुए कहा। उस ने फोन रख दिया।

मैं ने तुरत ही सावित्री को फोन किया, "सवि, आज मिसेज़ नेलसन का जन्मदिन है। मेरे घर लौटने तक तो दूकानें बन्द हो जायेंगी। तुम फील्ड ऐण्ड मार्शल से उन के लिए कोई कीमती भेंट खरीद लाओ।"

"अच्छा।"

"इला भाभी को फ़ोन कर दो। वे तुम्हारे साथ चली जायेंगी।"

"आप चिन्ता न करें।"

फिर वही 'आप'! मैं खीझ गया। कितना चाह कर भी, मैं उसे 'तुम' कहना नही सिखा सका हूँ। झल्ला कर फ़ोन रख दिया।

सन्ध्या को घर पहुँचा तो देखा—ड्रेसिंग टेबिल पर, लाल-हरे रिबन से बँधा, ख़ूबसूरत कागज में लिपटा एक चौकोर पैकेट रखा है। प्रसन्न हो कर कहा, फ़ील्ड-मार्शल वाले सजाने की कला खूब जानते हैं। क्या ख़रीदा ?"

वह बोली, "वहीं देखिएगा।"

इला भाभी का टेस्ट बहुत अच्छा है। वे कोई ग़लत सलाह नहीं दे सकती—यह सोच कर, मैं निश्चिन्त हो, हाथ-मुँह धोने के लिए बाथरूम में घुस गया।

क्लब में पैर रखते ही, सावित्री को परिचितों ने घेर लिया, "हलो····हलो··हाउ आर यू ?····नाइस टु सी यू हियर····"

मै मुसकरा कर एक ओर हट गया।

तभी इला जी दिखाई दीं। कहा, "भाभी, आज तुम्हारे 'टेस्ट' की परीक्षा हो जायेगी।"

उन्होंने कुछ विस्मित हो मेरी ओर देखा।

"क्या ख़रीदवाया है सावित्री को ?"

"कब ?"

"आज।"

"आज ?" वे और भी अधिक विस्मित हो उठीं—"आज तो मैं दिन-भर घर पर ही थी। क्या उसे कुछ ख़रीदना था ? उस ने मुझ से कहा नहीं ?"

मेरा दिल धड़क उठा।

पार्टी शानदार रही, फिर सब के बीच बैठ मिसेज नेलसन उपहार खोल-खोल कर देखने लगी। उन के चारों ओर रंगीन काग़ज़ों और रिबन का ढेर लग गया। एक से एक सुन्दर और क़ीमती वस्तुएँ थीं। इला भाभी और खन्ना ने एक ख़ूबसूरत नटराज की मूर्त्ति भेंट की थी। उस पर दृष्टि पड़ते ही सब 'वाह! वाह!' कर बैठे। मूर्त्ति हाथों-हाथ घूमने लगी।

हमारा पैकेट उन्होंने हाथ में उठाया तो मेरी साँस-सी रुकने लगी।

सभी उस ओर देख रहे थे। उन्होंने क़ैंची से रिबन काटा, काग़ज़ खोला, और डिब्बे का ढक्कन उठाया। अन्दर, टिश्यू पेपर के बीच, जरी के किनारे वाली हरी साड़ी थी।

"ओह!" उन्होंने कहा।

मैं लज्जा से गड़-सा गया।

प्रशंसा मे कुछ शब्द कह उन्होंने दूसरे पार्सल की ओर हाथ बढ़ाया।

पार्टी चलती रही, किन्तु मेरा उत्साह समाप्त हो चुका था। इस अवसर को मैं ने भगवान-द्वारा भेजी हुई 'ऑपोर्चूनिटी' समझा था। एक क़ीमती भेंट दे कर मिसेज नेलसन को हमेशा के लिए खुश किया जा सकता था। किन्तु सदा की तरह, अपनी मूर्खता से

सावित्री ने सब-कुछ मटियामेट कर दिया।

खन्ना अपनी मोटर नहीं लाया था। अतः लौटते समय वे हमारे साथ आये।

राह में इला भाभी ने केवल इतना ही पूछा, "सावित्री जी, क्या आप को बाजार जाने का समय नहीं मिला ?"

"नहीं। समय तो बहुत था। मैं ने सोचा कि जो भी वस्तु मैं यहाँ खरीदूँगी, वह कोई भी खरीद सकता है, किन्तु ऐसी साड़ी यहाँ किसी को मिलेगी नहीं।"

"किन्तु आपने यह भी सोचा कि इस साड़ी का वे क्या करेंगी ? कब वे इसे पहनेंगी, और कौन उन्हें पहनायेगा ?"

"ओह !" वह बोली, "यह तो मैं ने सोचा ही नहीं था।"

मैं चुप रहा—जो होना था, वह तो हो ही चुका था, मेरे कुछ कहने से उस की आँखों में आँसू भर आते, बुद्धि की थोड़ी कमी है, तो इस में बेचारी का क्या दोष है ! दोष तो मेरा ही है, जो उसे यहाँ इस वातावरण में फँसा दिया। इलाहाबाद के उस समाज में वह साड़ी सब से बढ़िया भेंट मानी जाती। केवल आठ महीने में ही उस से ऐसी आशा करना, उस के प्रति अन्याय ही तो है।

वास्तव मे भूल मेरी ही थी, 'कुछ खरीद लाओ' कहने के बजाय, यदि मैं किसी वस्तु का नाम उसे बता देता, तो वह तुरन्त ही खरीद लाती।

भाग्यवान् है खन्ना ! कैसी 'मॉडर्न' पत्नी मिली है ! यहाँ आते ही ऐसा व्यवहार करने लगी है, जैसे अमरीका में ही जन्म लिया हो। पत्नी की चतुरता के कारण ही, अब यह नौकरी उस के हाथों आ गिरेगी। इन दोनों की ओर देखता हूँ तो मुझे लगता है जैसे ये दोनों आकाश मे चमकनेवाले दो तारे हैं, जो पास-पास चमकते हुए एक-दूसरे की शोभा बढ़ा रहे हैं।

काश ! मैं ने माँ की बात के आगे सिर न झुकाया होता ! अड़ जाता कि नहीं, मैं तो किसी आधुनिका से ही विवाह करूँगा, तो वे क्या कर लेती ? अधिक से अधिक दो-चार दिन रो ही तो लेती। रो-धोकर चुप हो जाती। अब जिन्दगी-भर साथ तो मुझे निभाना है।

माना, सुन्दर है सावित्री। यह भी माना कि वह घर के काम-काज में बड़ी चतुर और सुघड़ है, किन्तु आज की दुनिया में इज्जत घर के ड्राइंग-रूम में नहीं, क्लब के सोशल सर्किल में बनती है। जिस के कारण समाज में उन्नति रुक जाये, ऐसी पत्नी ले कर कैसे सुखी रहा जा सकता है ?

अब मिसेज़ नेलसन को खुश करना और भी अधिक कठिन है और यदि उन्हें खुश नहीं किया जा सका तो

सावित्री की बात

कुछ दिन से ये कितने परेशान नजर आते हैं। पूछती हूँ तो कारण नहीं बताते, टाल जाते है। ऐसे भी कहीं दुनिया चलती है।

भोजन करने बैठते हैं, तो एक फुलका लिये घण्टों बैठे रहते है। अखबार ले कर बैठते हैं तो घण्टो अखबार में ही आँखें गड़ाये

रहते है। मैं कुछ बोलती हूँ तो भन्ना उठते है। नहीं बोलती हूँ तो कहते हैं, "माँ-बाप के घर क्या तुम ने बोलना भी नहीं सीखा ?"

कुछ दिन और यही हाल रहा तो मै पागल हो जाऊँगी !

शुरू-शुरू में, जब मैं आयी थी, कितना अच्छा व्यवहार करते थे ! मेरा मुँह देख कर सोते थे, मेरा मुँह देख कर उठते थे। इधर कुछ दिन से न जाने क्या हो गया है !

माताजी को कुछ लिखते डर लगता है। न जाने वे अपने मन में क्या सोचने लगें !

कितनी ही बार सोच चुकी हूँ—इला भाभी से कुछ कहूँ, किन्तु सोच कर भी चुप रह जाती हूँ, वे अपने को बहुत चतुर समझती हैं ! जो अपने को बहुत चतुर समझता है, उस की बुद्धि पर मुझे विश्वास नहीं होता।

और कौन है यहाँ—इन छोटे-छोटे कमरों की ये नीली-नीली दीवारें, ये मूक मेज़-कुरसियाँ, ये ठण्डे फ़िजिडियर और वाशिंग मशीन—ये क्या मेरी बात का उत्तर देंगे !

कैसी है यह दुनिया जहाँ पड़ोसी अपने को 'पड़ोसी' नहीं, प्रतिद्वन्द्वी समझते है ! जहाँ प्रशंसा के शब्दों के पीछे ईर्ष्या छिपी रहती है, और 'मैत्री' का अर्थ, मित्र की मोटर से अधिक ऊँची क़ीमत की मोटर ख़रीदना है।

काश ! मैं यहाँ न आयी होती ! विवाह के बाद, तीन वर्ष इन के बिना बता दिये थे, क्या और दो वर्ष नहीं बिता सकती थी ? तब इन के स्नेह-भरे पत्र तो मिलते रहते। यह रूखा व्यवहार तो न सहन करना पड़ता !

इस कड़वाहट का केवल एक ही कारण हो सकता है—ये अन्य किसी के स्नेह मे फँस गये हैं। यदि ऐसी बात हैं, तो ये मुझ से कह क्यों नही देते ? यहाँ तो डाइवोर्स नित्य जीवन को साधारण-सी घटना है ! मैं चुपचाप इन की राह से हट जाऊँगी।

अवश्य यही बात है। तभी आज वहाँ क्लब में इन्होंने वैसी बातें की।

अच्छा, आज तीसरे पहर यदि मिसेज नेलसन न आयी होतीं, तो क्या यह दुर्घटना टल सकती थी ?

ये टी० वी० देख रहे थे। मैं आलमारी की सफ़ाई करने लगी। देखा, डिब्बे में केवल दो-चार मठरियाँ ही शेष है। कल जब मैं बाज़ार गयी थी, शायद इन के कुछ मित्र आये होंगे, इसी लिए डिब्बा ख़ाली है।

बिना मठरियों के इन्हें नाश्ता अच्छा नहीं लगता। सोचा—झटपट थोड़ी-सी बना लूँ, आटा गूँथ रही थी कि टेलीफ़ोन की घण्टी बज उठी। मैं उठी नहीं। सोचा—ये तो है ही, सुन लेंगे। दो मिनिट बाद ही इन्होंने पुकारा, "सवि !"

मैं उठ रही थी कि इन के पैरों की आवाज़ सुनाई दी, "सुनो, मिसेज़ नेलसन का फ़ोन आया था। वे····" कहते-कहते द्वार के सामने आये तो एकदम चौंक गये, "यह तुम क्या कर रही हो ?"

मैं डर गयी, "कुछ नहीं। थोड़ी मठरियाँ बना रही हूँ।"

"भला, आज शनिवार के दिन यह खट-राग फैलाने की क्या आवश्यकता थी ?"

"लेकिन पार्टी में तो साढ़े सात बजे जाना है। चाय भी आप पी चुके हैं। अभी मुझे और काम ही क्या है?"

"फिर वही बात! मैंने तुम्हें कितनी बार समझाया कि छुट्टी के दिन तुम इन बेकार के कामों में न उलझा करो।"

न जाने क्यों मुझे भी क्रोध चढ़ आया। बड़ी कठिनाई से, किसी प्रकार स्वर को दबा कर कहा, "आप बताइए न, क्या बात है? कहीं जाना है, तो मैं आटा उठा कर रखे देती हूँ।"

वे बोले, "मिसेज नेलसन आ रही हैं।"

मैं भौंचक्की रह गयी, "मिसेज नेलसन?"

"वे तुम्हें अपने साथ किसी मीटिंग में ले जाना चाहती हैं।"

"कैसी मीटिंग?"

"अब बहस ही करती रहोगी, या कपड़े भी बदलोगी?"

"लेकिन जाना कहाँ है, यह बतायें तभी तो पता चले कि कौन-सी साड़ी पहनूँ?"

तभी दरवाजे की घण्टी बजी। ये लपक कर द्वार की ओर बढ़े। मेरी समझ में नहीं आया कि भाग कर गुसलखाने में घुस जाऊँ, या इन्हीं आटा-भरे हाथों से मिसेज नेलसन का स्वागत करूँ! सोचने का समय नहीं मिला। इन्होंने पुकारा, "सवि!"

घी से चिकने हाथ लिये मैं ड्राइंग रूम में आ खड़ी हुई। कहा, "मिसेज नेलसन, मुझे बड़ी खुशी है कि आप आयीं। माफ कीजिए, मेरे हाथ—"

हाथ मिलाने को आगे बढ़ाया हुआ अपना हाथ, उन्होंने सहज भाव से वापस खींच लिया। कुछ घबरा कर बोलीं, "क्या मैंने आप को असमय परेशान किया? मुझे अफसोस है।"

"जी नहीं," ये बोले, "भूल मेरी है। मुझे मालूम नहीं था कि इन्होंने रसोई फैला रखी है।"

वे कुछ निराश-सी लगीं—"तो आप मेरे साथ नहीं चल सकेंगी?"

पूछा, "आप कहाँ जा रही हैं?"

"आज हम लोगों के चर्च एसोसियेशन की मीटिंग है।" मिसेज नेलसन ने कहा, "आप के देश में ऐसे एसोसियेशन नहीं होते, और शायद आप ..."

"मुझे आप के साथ चलने में बड़ी खुशी होगी," मैंने उत्साह दिखाते हुए कहा, "अगर आप पाँच मिनिट बैठने का कष्ट करें।"

"नहीं, नहीं, कष्ट किस बात का! आप आराम से तैयार हो जाइए।"

"मैं अभी चाय बनानेवाली थी। आप एक प्याला लेंगी?"

"अगर आप बना ही रही थीं, तो अवश्य लूँगी। आप लोगों के हाथ की चाय मुझे बड़ी अच्छी लगती है।"

मैंने झटपट दो प्याले पानी खौलने को रखा, और एक ट्रे में प्लेट-प्याले तथा कुछ मीठी-नमकीन वस्तुएँ सजायीं। चाय ले कर पहुँची तो वे बोलीं, "मीटिंग सात सवा सात बजे से पहले समाप्त नहीं होगी। यदि आप चाहें, तो इधर न लौट कर मेरे साथ ही पार्टी में चल सकती हैं।"

मैंने इन की ओर देखा। बोले, "ठीक तो है। मैं तुम्हें वहीं मिल जाऊँगा।"

दस मिनिट में ही तैयार हो, मैं बाहर निकल आयी।

मोटर में बैठते हुए मिसेज़ नेलसन ने कहा, "मुझे वास्तव मे अफ़सोस है, मिसेज़ शर्मा, कि मैंने आप को असमय परेशान किया। यदि मिस्टर शर्मा कह देते कि आप व्यस्त है, तो मैं जरा भी बुरा नही मानती।"

"मै जानती हूँ," मैंने कहा, "किन्तु मैं व्यस्त तो जरा भी नहीं थी। खाली बैठी थी, इस लिए मठरियाँ बनाने की बात सोच रही थी।"

वे प्रसन्न हो कर बोलीं, "मुझे भी खाली बैठना या टी० वी० देखना पसन्द नही। और मुझे खाना बनाने का बडा शौक है। आप मुझे मठरियाँ बनाना सिखायेंगीं, मिसेज शर्मा?"

"अवश्य," मैंने झटपट कहा, "किन्तु क्या मैं एक अनुरोध कर सकती हूँ?"

उन्होंने मेरी ओर देखा।

"आप मिसेज़ खन्ना को इला कह कर पुकारती हैं। मुझे भी आप सावित्री कह सकती है। सावित्री या सवि—कुछ भी।"

वे मुसकरा दी, "अच्छी बात है। किन्तु आप को भी मुझे मैटिल्डा कहना होगा।"

"ऑल राइट।"

मीटिंग मिसेज़ नेलसन की सहेली मिसेज़ मार्टिन के घर पर थी। कमरे के अन्दर पैर रखते ही मैं चौंक गयी। सामने ही इला थी। क्या वह इस संघ की सदस्या है? उस ने इस विषय में मुझे कभी कुछ बताया नहीं?

मिसेज़ मार्टिन ने हम लोगों का स्वागत किया। फिर वे हमें सैण्डविच और पेय पदार्थों से सजी मेज़ की ओर ले गयीं, "मिसेज़ शर्मा, आप क्या लेंगी?"

"मिसेज़ शर्मा नहीं, सवि!" मिसेज नेलसन ने झट से कहा, "सवि इन का नाम है एलिज़ाबेथ!"

इन लोगों का नाम लेते मुझे लज्जा आती है। किन्तु लाज छिपा कर कहा, "मैं औरेंज-जूस लूँगी, एलिज़ाबेथ।"

इला हम लोगों के निकट आ खड़ी हुई, "क्या तुम सदस्या बन गयी हो, सावित्री?"

"अभी तो नहीं।"

मेरा यह उत्तर सुन, मिसेज़ नेलसन ने कुछ चौंक कर मेरी ओर देखा; पूछा, "क्या तुम सदस्या बनना चाहोगी, सवि?"

"यदि मैं आप के कार्य में कुछ योगदान दे सकूँ तो अवश्य बनना चाहूँगी।"

मिसेज नेलसन तुरन्त ही मुझे एसोसियेशन के विषय में सब कुछ बताने लगी।

किन्तु उन की बातें मैं ने ठीक से सुनी भी नहीं। मन-ही-मन सोच रही थी—इला यदि सदस्या है, तो मुझे भी बन जाना चाहिए। सुन कर ये प्रसन्न होंगे।"

मैं ने उन के रजिस्टर मे अपने हस्ताक्षर कर दिये।

मीटिंग प्रारम्भ हुई। मैं मिसेज नेलसन के निकट ही बैठी। दूसरी ओर इला थी।

पता चला—यह क्लब की स्पेशल मीटिंग

है। केवल दो घण्टे के नोटिस पर इस लिए बुलायी गयी है, क्योंकि ब्राजील के भूचाल-पीडितो के लिए कुछ सहायता भेजने की योजना है। क्लब के सेक्रेटरी मि० पीटरसन अपना बात कह कर बैठे, तो अन्य दो व्यक्तियो ने उठ कर उन के प्रस्तावो का समर्थन किया। उस के बाद कुछ प्रस्तावो पर वोट ली जाने लगी। बहुत सी बातें मेरी समझ मे नही आयी थी। किन्तु मैं घबरायी नही। जब मिसेज नेलसन अपना हाथ उठाती, मैं भी उठा देती। जब वे नीचा रखती, मैं भी चुपचाप बैठी रहती।

मि० पीटरसन ने पुन अपनी कलम उठायी, "अब आप लोग यदि यह बोल दें कि आप लोग लगभग कितना चन्दा दे सकेंगे, तो मीटिंग शीघ्र ही समाप्त हो सकेगी।"

अगली कतार में बाँयी ओर बैठे सज्जन ने अपना हाथ उठा कर कहा, "मैं पाँच सौ डॉलर दूँगा।" दूसरे बोले, "मैं भी।" तीसरी महिला थी, बोली, "छह सौ।"

मि० पीटरसन राशि लिखते रहे। रकमें बोली जाती रही,—आठ सौ, सात सौ, एक हजार, बारह सौ, नौ सौ, ग्यारह सौ "

मेरा हृदय धक् धक् करने लगा—पाँच सौ से कम किसी ने भी नही कहा था। हमारे बैंक म कुल डेढ सौ डॉलर थे, और वेतन मिलने में अभी दो सप्ताह शेष थे।

इला की बारी आयी। उस ने सभी की तरह ऊँची आवाज में कहा, "सात सौ।"

मेरे कानो में रक्त खट-खट बज उठा। मिसेज नेलसन ने क्या कहा, यह जैसे मैं सुनना भी नहीं चाहती थी।

उन्होने अपना हाथ नीचा किया तो मैं ने हाथ उठा कर कहा, "पचहत्तर डॉलर।"

सभी निगाहें मेरी ओर घूम गयी। मुझे लगा, मेरे गालो पर लाली चढ़ रही है। और अपनी कायरता पर मैं क्रुद्ध हो उठी—मुझे लज्जित होने की क्या जरूरत है? इन सभी को पता है कि मेरे पति किसी करोडपति के बेटे नही, और अभी दो वर्ष पूर्व ही उन्होने कॉलिज छोडा है।

मीटिंग समाप्त हो गयी। इला ने पूछा, "सावित्री, मेरे साथ चलोगी?"

"नही," मिसेज नेलसन बोली, "ये मेरे साथ जा रही हैं।"

मेरी ओर एक ईर्ष्या-भरी दृष्टि डाल, इला पति के साथ आगे बढ गयी।

मोटर के अन्दर बैठते ही मिसेज नेलसन ने कहा, "सवि, तुम तो आज ही सदस्या बनी हो, तुम्हें चन्दा देने की कोई जरूरत नही।"

मेरा मुख लाल हो गया, "नही, मुझे विश्वास है, मेरे पति देना चाहेंगे।"

उन्होने एक बार मेरी ओर देखा। फिर सडक पर दृष्टि जमा कर बोली, "यह न समझना कि जितनी राशि यहाँ बोली गयी है, वह सभी इकट्ठी हो जायेगी। उस का बीसवाँ हिस्सा भी एकत्रित हो जाये तो बहुत है।"

मुझे विस्मित देख उन्होने बात स्पष्ट करने के लिए कहा, "कुछ लोग बिना सोचे समझे कोई भी राशि बोल देते है, कुछ केवल

दिखावा करना चाहते है।"

सुन कर विस्मय हुआ, किन्तु कहती भी क्या! चुप रही।

मिसेज़ नेलसन ने ही चुप्पी भंग की, "सवि, मुझे लगता है, तुम सच बात बोलना पसन्द करती हो। एक बात बताओगी?"

कुछ चकित हो उन की ओर देखा—ये न जाने क्या पूछ बैठें। कहा, "क्यों नही, अवश्य।"

उन की आँखें सड़क पर गड़ी थीं, "पार्टी आदि मे हमारा व्यवहार तुम्हे कैसा लगता है?"

प्रश्न इतना अप्रत्याशित था कि मै उन की ओर देखती ही रह गयी। तुरन्त ही सँभल कर कहा, "अधिक पार्टियों में जाने का मुझे अवसर नहीं मिला, किन्तु जब भी कभी गयी हूँ, आप लोगों की शालीनता पर मुग्ध हो-हो कर लौटी हूँ।"

उन्होंने एक गहरी साँस भरी, "मेरे हज़बैण्ड का सोचना ही ठीक था। मैं इतने दिन से ग़लती कर रही थी।"

"कैसी ग़लती?"

"पिछली पार्टियों में तुम्हे बुलाया नहीं।"

"यदि आप को यह पसन्द नहीं," मैंने मन को खूब कड़ा कर के कहा, "कि पार्टी में आ कर मै नृत्य आदि मे भाग नही लेती, तो मैं नृत्य सीखना शुरू कर सकती हूँ।"

"नहीं, नहीं" वे झटपट बोलीं, "केवल मेरी पसन्दगी या नापसन्दी के कारण तुम्हें कोई नया काम प्रारम्भ करने की ज़रूरत नहीं। किन्तु क्या तुम्हारी स्वयं ही नृत्य करने की इच्छा नहीं होती? इला ने तो सीख लिया है।"

मैं लज्जित हो उठी, "बात केवल इतनी-सी है कि मेरा यह सब कुछ करना मेरे सास-ससुर को अच्छा नहीं लगेगा।"

"तब तुम्हारा ऐसा न करना ही ठीक है," उन्होंने कहा, और बात बदल दी।

कण्ट्री क्लब की रोशनियाँ दिखाई देने लगीं। उन्होंने कहा, "सवि, मैने कभी कल्पना तक नहीं की थी कि मुझे इतनी ख़ूबसूरत साड़ी मिलेगी। क्या तुम मुझे पहनना सिखाओगी?"

"क्यों नहीं, अवश्य।"

"मैं उसे क्रिसमस के डान्स पर पहनूँगी।"

मिसेज़ नेलसन शायद धीरे-धीरे ड्राइव कर रही थीं। हम ने अन्दर पैर रखा, तो देखा—इला, खन्ना, मिस्टर नेलसन, सभी वहाँ आ चुके थे।

इन्होंने एक रूखी-सी मुसकान के साथ मेरा स्वागत किया।

पाँच मिनिट बाद, जब लोग इधर-उधर बँट गये, बोले, "जरा बाहर आओ।"

इन का यह स्वर सुनते ही मेरा दिल धक्-धक् करने लगता है। चुपचाप, साथ-साथ दूसरे कमरे में चली आयी।

बोले, "जो कुछ मेरी इज़्ज़त रही थी, वह तुम ने आज मटियामेट कर दी।"

तो इला ने सब कुछ कह दिया है?

मुझे चुप देख, वे और अधिक झल्ला उठे, "जब सब लोग इतनी ऊँची रकमे बोल रहे

थे, तुम्हें इतना कम बोलने की क्या जरूरत थी ?"

मैं ने सोचा, कह दूँ कि वे सभी रकमें केवल शान बघारने के लिए बोली गयी थीं, किन्तु पूछा, "बड़ी रकम बोल देती तो देते कहाँ से ?"

'कहीं से देते । क़र्ज़ा ले लेते, तुम्हारी नजरों में क्या मेरी 'प्रेस्टिज' छह सौ डॉलर के बराबर भी नहीं है । तुम्हारी जगह कोई अमीर की लड़की होती तो "

बात अधूरी ही छोड़ वे दूसरे कमरे में लौट गये ।

मैं चुप खड़ी रही । कानों में बस एक ही बात गूँजती रही—तुम्हारी जगह कोई अमीर लड़की होती तो

न जाने कब तक मैं वहीं खड़ी रही, न जाने कब तक खड़ी रहती, किन्तु उधर से अपने हाथों में ड्रिंक्स की ट्रे लिये एक बैरा गुजरा । मुझे देख कर जरा ठिठका, फिर मुड़ कर ट्रे लिये मेरी ओर बढ़ा ।

मैं ने कहा, "नहीं, यह मुझे नहीं चाहिए । एक कागज पेंसिल ला सकते हो ?"

उस के हाथ से वह छोटा सा पैड ले, मैं ने जल्दी-जल्दी लिखा—"मेरे सिर में दर्द है । घर जा रही हूँ । आप लौटने में जल्दी न कीजिएगा ।"

बैरा से कहा कि मेरे लिए एक टैक्सी मँगा दे, और वह परचा मिस्टर शर्मा को दे दे ।

घर लौट आयी । देखा, घड़ी नौ बजा रही है ।

दस बज गये । ग्यारह । फिर बारह । इतनी देर मैं सोचती रही हूँ, निश्चय कर लिया है—वे आयेंगे तो कह दूँगी, मैं तुरत ही घर लौट रही हूँ । डाइवोर्स ले कर वे अपनी अमरीकी सहेली से विवाह कर लें ।

वे शायद इसे झूठ समझेंगे । शायद व्यंग्य से कहेंगे—क्या सती-साध्वी का स्वांग भर रही हो कि पति के सुख में ही मेरा सुख है ?

सहसा साँस-सी रुकने लगी । उठ कर खिड़की के निकट आ खड़ी हुई । देखा—आकाश में दो तारे चमक रहे थे ये दो तारे उस आकाश में भी चमक रहे होंगे, जिस के नीचे, नित्य सुबह-शाम, तुलसी के पौधे में जल देती माँ बहू-बेटे के सुख-मंगल की कामना किया करती हैं ।

आँखें भर आयीं । फिर और सोचा नहीं गया । बैठा नहीं गया । सूटकेस उठा उस में दो-चार आवश्यक वस्तुएँ रखने लगी—अब एक रात भी यहाँ नहीं रहूँगी । दो साड़ियों के अतिरिक्त अपने साथ कुछ भी नहीं ले जाऊँगी । उन के लौटने से पहले ही यह घर छोड़ दूँगी ।

तभी द्वार खुला और उन के पैरों की आवाज हुई । मैं ने अपने मन को कड़ा कर लिया । किन्तु वे अन्दर नहीं आये । लगा कि ड्राइंग रूम में ही बैठ गये हैं ।

बहुत प्रतीक्षा कर चुकी हूँ । बहुत सहन कर चुकी हूँ । अब अधिक सहन कर पाना मेरे वश की बात नहीं है ।

धीरे-धीरे द्वार की ओर बढ़ती हूँ । वे चौंक कर उठ खड़े होते हैं, "अरे ! तुम जाग

गयीं? मैं ने तो कोशिश की थी कि किसी प्रकार का शोर न करूँ। अब कैसा है सिर का दर्द ?"

मेरा मन भिन्ना उठता है—पार्टी से आये हैं, इस लिए अभी 'मूड' अच्छा है, और मुँह से ये शहद में घुली बातें निकल रही हैं। चार घण्टे बाद फिर वही चकल्लस शुरू हो जायेगी ? अब मैं इस धोखे मे आने वाली नहीं हूँ। आज फ़ैसला कर ही लेना है !

दबी ज़बान से कहती हूँ, "सोया कौन था, जो जाग जाता ?"

मेरी बात क्या उन के कानों मे पड़ी नहीं ? आगे बढ कर, मेरे सामने आ खड़े हुए हैं। एकदम निकट—"सवि, मैं ने जिन्दगी मे बहुत-सी भूलें की हैं। बहुतों को गलत समझा है, किन्तु जितनी बड़ी भूल मै पिछले चार-पाँच महीनों से करता आ रहा हूँ, वैसी कभी नही की थी। क्या तुम मुझे माफ़ कर सकोगे ?"

अच्छा ! तो ये अपनी अमरीकी सहेली-से लड कर चले आ रहे है ! इसी लिए स्वर मे इतनी आजिजी है !

"सवि वहाँ सब के बीच, मिसेज नेलसन तुम्हारे साहस और चरित्र की प्रशंसा कर रही थीं ! और जानती हो, चलते समय, मिस्टर नेलसन ने क्या कहा ? मेरे कन्धे पर हाथ रख कर वे बोले, सोमवार को दफ़्तर में सब को मालूम हो ही जायेगा, किन्तु तुम्हारी पत्नी की तबियत ठीक नही है, इस लिए तुम उन्हें आज ही बता देना—बोर्ड ऑफ़ डायरेक्टर्स ने तुम्हें प्रमोशन के लिए चुन लिया है !"

"अच्छा तो है। अब आप अपनी अमरीकी प्रेमिका के साथ हनीमून के लिए किसी खूबसूरत जगह जा सकेंगे।"

"अमरीकी प्रेमिका ? हनीमून ? क्या तुम पागल हो गयी हो ?"

"मैं पागल हूँ ? और वह आप की इज़्ज़त करना जानती है ? छह सौ डॉलर से भी अधिक की बोली बोल सकती है।"

सहसा मेरे दोनों कन्धे पकड़ वे ठठा कर हँस पड़ते है—'समझा ! तुम्हे मुझ पर सन्देह हुआ है। जानती हो—मेरे क़ानून मे सन्देह करने वाली पत्नी के लिए क्या दण्ड लिखा है ?"

फिर बहुत देर बाद—मेरी आँखें उठती है—सामने खिडकी से झलकते आकाश मे दो तारे पास-पास चमक रहे हैं।

[जून १९६५]

कछुए

•

महीप सिंह

हम लोग अभी इण्डस्ट्रियल एरिया का चौराहा पार कर के कुछ ही आगे बढ़े थे कि पानी तेज़ हो गया। मनजीत ने पूछा, "क्यों, छाता खोल लूँ ?"

मैंने कहा, "खोलो। देखें, कुछ बचत होती है या नहीं ?"

स्कूटर की पिछली सीट पर बैठे-बैठे ही उस ने छाता खोला और मेरे सिर के ऊपर लाने की कोशिश में आँखों के आगे तक ले आया। मैंने चीख कर कहा, "ऊपर उठा, ऊपर। नहीं तो किसी से भिड़ जाऊँगा।"

वह हँसा—खी खी खी खी। मनजीत की हँसी मुझे बिलकुल अच्छी नहीं लगती। ऐसे हँसता है मानो छाती से कूट-कूट कर हँसी उगल रहा हो। हँसना तो उन्हें आता है जो हँसते रहते हों। वह तो साल में चार-छह बार हँसता है और तब ऐसा लगता है, जैसे मैंने सारंगी की धुन निकाली जा रही है।

छाता उठ कर काफ़ी पीछे जा चुका था। पता नहीं उस से उस की पगड़ी गीली होने से बच रही थी या नहीं परन्तु मेरी पगड़ी पूरी तरह गीली हो चुकी थी और छाते की नोक बार-बार उस में चुभ रही थी।

फिर पानी के साथ हवा भी काफ़ी तेज़ हो गयी। छाता उलटा होता जा रहा था। मैंने स्कूटर धीमा किया और उस ने किसी तरह उस पर काबू पा कर उसे बन्द कर दिया।

अब हम दोनों भीग रहे थे। पानी मेरी आँखों पर पड़ रहा था और मैं कभी क्लच और कभी एक्सीलेटर वाला हाथ छोड़ कर आँखें निचोड़ लेता था।

तभी न जाने क्या बात ले कर मैं उस पर तल्ख़ हो उठा। मैंने अपने पुराने आरोप फिर दुहराने शुरू कर दिये—"तुम बड़े स्वार्थी हो, सिर्फ़ अपना सोचने वाले—सेल्फ सेण्टर्ड ! तुम समझते हो कि जो भी तुम्हारा मित्र है, तुम्हारे निकट है, उस ने सिर्फ़ तुम्हारे लिए सोचने और कुछ करने के लिए ही जन्म लिया है। और तुम्हारा काम है सिर्फ़ अपने बारे में सोचना !"

वह चुप था। आज मैं उस का चेहरा नही देख सकता था। परन्तु ऐसे अवसरों का उस का चेहरा हमें याद है। ऐसे मौक़ों पर वह अपना चश्मा उतार कर अपनी आँखें पोंछता है और उन्हें मिचमिचाते हुए मेरी ओर देखता है। उस समय उस के होंठों पर एक अजीब-सी गोलाई आ जाती है, उस की छोटी-सी फिक्स दाढ़ी के दो-चार उखड़े हुए बाल साफ-साफ़ नजर आने लगते हैं और बग़ैर चश्मे के सूनी लगने वाली आँखें किसी बच्चे की तरह अबोध और तरल हो जाती हैं।

वह पीछे से बहुत रुक-रुक कर बोला, "जैसा हूँ, वैसा नया तो नहीं हूँ। पिछले अठारह सालों मे यह बात तुम कितनी बार कह चुके हो, मैं सुन चुका हूँ और मान भी चुका हूँ।"

अपने आरोपों के सम्बन्ध मे उस की यह निरपेक्षता देख कर मैं झल्ला उठा—"तुम्हारे सुन लेने और मान लेने से ही तो समस्या हल नही हो जाती। एक जमाना था कि तुम्हारा यह स्वार्थी रुख़ मै सहन कर लेता था। पर आख़िर हर बात की एक हद होती है। और अब, जब तुम सब कुछ कर सकने की स्थिति में हो, तुम्हारा यह एकांगीपन कभी-कभी मुझे बहुत खलता है।"

मुझे लगा कि मुझे उस के स्वार्थी रुख़ के दो-चार उदाहरण सुना कर अपनी बातों की पुष्टि करनी चाहिए। इस लिए मैंने उस के सामने फिर वही घटनाएँ दुहरायों जो इस से पहले भी मैं उसे कई बार सुना चुका था।

मनजीत पर जब कभी मैं इस प्रकार नाराज होता हूँ, मैं अनायास बहुत कटु हो जाता हूँ। वह बिलकुल चुप हो जाता है, प्रत्युत्तर में कुछ नहीं कहता और मै कहना ही जाता हूँ। मुझे उस का चुप हो जाना उस की बदमाशी मालूम होती है, बुरी तरह खलती है और खीझ पैदा करती है। फिर मै अपनी खीझ मिटाने के लिए बस बकता ही जाता हूँ।

एकाएक मुझे महसूस हुआ कि स्कूटर की चाल धीमी पड़ रही है। मै ने सड़क के किनारे के एक पेड़ के पास उसे रोका।

उस ने पूछा, 'क्यों क्या हुआ ?"

"पेट्रोल रिज़र्व पर आ गया है।" मैंने पेट्रोल नॉब को 'आर' पर कर दिया।

पानी कुछ ज्यादा तेज हो गया था। स्कूटर को स्टैण्ड पर खड़ा कर के हम दोनों घने पेड़ के नीचे हो गये।

दोनों चुप थे।

मैं ने देखा, उस ने चश्मा उतारा। रूमाल से शीशे पोंछे, आँखें पोंछी और चश्मा लगा लिया।

चश्मे के पीछे से वह अपनी आँखें मिच-मिचा रहा था।

हम लोग काफी देर गुमसुम खडे रहे। स्कूटर की अगली-पिछली दोनो सीटो पर पड रही पानी की टप-टप बूँदो को हम देख रहे थे। हम दोना बोलना टाल रहे थे। वह तो चुप था ही। और मैं बोल बोल कर थक चुका था।

पानी कुछ हलका हुआ तो मैं ने कहा, "जाओ, चलें।"

हम दोनो स्कूटर के पास आ गये। मनजीत ने जेब मे आधा गीला रूमाल निकाला और अपनी गीली सीट को साफ कर के उसे जेब में रख लिया।

मैं हँस दिया, "मैं समझता हूँ कि अब और किसी उदाहरण की जरूरत नही है।"

वह हतप्रभ-सा हुआ जैसे चोरी करता पकड लिया गया हो, उसी समय जब उस पर चोर होने का इलजाम लगाया जा रहा हो।

उस ने रूमाल निकाला और झटपट मेरी सीट साफ कर दी।

•

•

आठ दस दिन मेरे पास रह कर मनजीत वापस बम्बई जा रहा था। मैं ने कहा, "याद रखना, तुम्हारे पास सिर्फ अप्रैल तक का समय है। तब तक तुम फैसला कर लो और दिल्ली आ जाओ। बाद में बच्चो को स्कूलो में एडमीशन मिलना मुश्किल होगा।"

हम लोग स्टेशन पर आ गये थे। बूँदा-बाँदी तो रास्ते में ही शुरू हो गयी थी, यहाँ पहुँचते-पहुँचते पानी काफ़ी तेज हो गया। स्कूटर मैं ने स्टेशन के बाहर खुले में ही खडा कर दिया। दिल्ली स्टेशन पर प्राइवेट स्कूटरों, कारो को खडा करने के लिए कोई शेड नही है। 'जनता' में उस की सीट रिजर्व हो चुकी थी। जगह ले कर हम लोग प्लैटफार्म पर टहलने लगे।

पानी और तेज हो गया था। तेज बौछार से शेड के नीचे का प्लैटफॉर्म भी आधे से ज्यादा भीग गया था। आसमान घुप काला था और हम काली पटरियो पर पडती हुई मूसलाधार वर्षा देख रहे थे।

मैं मनजीत से वर्षा पर बात कर रहा था। दिल्ली और बम्बई की वर्षा की तुलना कर रहा था। बम्बई में वर्षा के दिनो में अपने साथ घटी हुई घटनाओ की बडी दिलचस्पी से, हँस-हँस कर चर्चा कर रहा था। कुल एक दिन पहले ही मैं उस पर बुरी तरह से नाराज हुआ था। ऐसी नाराजगी के बाद मनजीत के साथ कुछ वैसा ही व्यवहार करने को मेरा मन करता है जैसा बचपन में मेरी माँ मुझे खूब मारने और रुलाने के बाद मेरे साथ किया करती थी। ऐसे मौकों पर मैं उस के साथ बहुत मुलायमियत के साथ पेश आता हूँ। वैसे मैं अकसर उसे 'तू' कहता हूँ। परन्तु ऐसे दिन सँभल-सँभल कर 'तुम' कहता हूँ और सोचता हूँ कि यदि 'तुम' कहना इस अच्छा न लग रहा हो तो 'आप' कहूँ।

मुझे एकाएक अपने स्कूटर का ध्यान आया। अभी तीन बजने में दस मिनिट थे—गाडी छूटने में आधा घण्टा था। मैंने उस से कहा, 'अब मैं चलूँ न ?'

उसे आश्चर्य हुआ, "क्यो, कही जाना

है ? फिर अभी पानी भी कितना तेज़ है !"

मुझे मन-ही-मन उस पर बड़ा गुस्सा आया। मुझे बहुत-से उदाहरण याद है जब मनजीत मुझे स्टेशन पर छोड़ने आया और गाड़ी में मुझे जगह मिलने के पाँच-सात मिनिट बाद ही अनइजी-सा दिखाई देने लगा, फिर बोला, "अच्छा अब मै चलता हूँ···हाँ, वहाँ पहुँच कर पत्र फ़ौरन लिखना।"

मैंने कहा, "स्कूटर बाहर पानी मे ही खड़ा है। पता नहीं क्या हालत है उस की। और इस बरसात मे उसे उड़ा ले जाना भी ज़्यादा मुश्किल नहीं है।"

वह बोला, "अच्छा, तुम उसे एक बार देख आओ। देख कर वापस आ जाना···· जरूर। गाड़ी चलने में तो अभी काफ़ी देर है।"

मैं 'अच्छा' कह कर चल दिया, परन्तु मन मे सोचता रहा कि वापस नहीं आऊँगा।

बाहर स्टेशन के पोर्टिको से देखा, सामने स्कूटर खड़ा है। पानी उसी तेजी से बरस रहा था। पोर्टिको मे काफ़ी भीड़ थी।

मै पाँच-सात मिनिट वही खड़ा रहा। भीड़ मे लोगों के गीले कन्धे मुझे बार-बार छू जा रहे थे। मनजीत की गाड़ी छूटने मे अभी बीस-एक मिनिट बाकी थे।

मै घूम कर उस के प्लैटफ़ॉर्म की ओर चल दिया।

उस के डिब्बे के पास पहुँच कर देखा, वह लम्बी वाली नीचे की सीट पर पालथी मारे बैठा है। खिड़की से वह इतनी दूर था कि मैं बाहर से हाथ बढ़ा कर उसे छू भी नही सकता था। मुझे देख कर वह खुश हुआ, "क्यों, क्या हाल है तुम्हारे वाहन का ?"

मैं ने मुसकरा कर, आँखें झपका कर गरदन हिला दी।

मै ने देखा, वह वही बैठा कह रहा है, "मेरी चिट्ठी का जवाब देने मे तुम बड़ी देर कर देते हो। उत्तर तुरन्त दे दिया करो।"

मैं ने हँस कर कहा, "वाह, खुद तो हफ़्तों चिट्ठी नही लिखते हो, ऊपर से यह तुर्रा !"

वह अपनी शर्मीली-सी हँसी हँस दिया, "मेरी चिट्ठी न भी आया करे तो भी तुम दूसरे-चौथे ज़रूर लिख दिया करो।"

मैं ने देखा, आस-पास बैठे लोग हमारी बातों मे बड़ी रुचि ले रहे है। मुझे अजीब कुढन-सी महसूस हुई। मैंने कहा, "बाहर आओ न !"

"नही····नही।" वह झटपट बोला, "पैर-वैर साफ़ कर के ऊपर रखे है। बाहर आने से पैर फिर खराब हो जायेंगे।" और वह अपने आप में थोड़ा और सिमट गया।

गाड़ी जाने मे अभी दस मिनिट से ज़्यादा थे। कभी एकाध वाक्य वह उधर से बोलता, कभी मै इधर से। आवाज बीच मे बैठे हुए लोगों पर अपना भेद खोलती हुई एक दूसरे के पास पहुँचती थी। मै प्लैटफॉर्म पर घूमते हुए लोगो को देखने लगता, फिर उस की ओर देख कर ऐसे ही उस से कुछ भी पूछ लेता।

मै टी-स्टाल पर खडे एक जोड़े को देख रहा था कि उस ने वहीं से मुझे ज़ोर से आवाज़

दी। आस पास बैठे लोग हम दोनो को देखने लगे। वह मुसकराते हुए बोला, "नीता, रमा, दर्शी या और किसी को कोई सन्देश भिजवाना है?"

बैठे हुए लोग ओंठ सिकोड कर उत्सुकतापूर्वक मुझे देखने लगे। मैंने भी वैसी ही रहस्यमयी मुसकराहट में जवाब दिया, "उस में तुम्हारी बिचवानी की जरूरत नहीं है।"

वह खी-खी-खी-खी कर के हँस पडा।

गाडी जाने में अभी कुछ मिनिट बाकी थे, परन्तु अब इस तरह खडे रहना मुझे बहुत खल रहा था। मैंने कहा, "अच्छा मनजीत, अब मैं चलूँ।"

उस ने मुझे रोका नही। वही से गर्दन हिला कर बोला, "अच्छा चिट्ठी लिखना।"

•

•

मुझे बम्बई छोडे साल-भर से ज्यादा हो गया है। मनजीत वही है। बहुत दिनों बाद उसे एक अच्छी नौकरी मिली है। परन्तु अभी तक वह उस में कन्फर्म नही हुआ, टेम्परेरी वैकेन्सी पर काम कर रहा है। मनजीत बहुत आशावादी है। मै कहता हूँ, ख़ना मार्च अप्रैल तक जरूर ज्वाइन कर लेगा। उस का स्वास्थ्य अब ठीक है। मनजीत का आशावाद कहता है—चाहे अब वह ठीक ही हो गया हो, पर दफ्तर वाले उसे रखेंगे नही। टी० बी० की थर्ड स्टेज तक वह पहुँच गया था। दफ्तरवाले कुछ ले-देकर उसे रिजाइन करने पर मना लेंगे।

मैं पूछता हूँ, "मान लो उस ने रिजाइन कर भी दिया तो भी इस बात का क्या भरोसा है कि परमानेण्ट वैकेन्सी पर वे तुम्ही को रखेंगे। ऐसी अनिश्चित अवस्था से तो अच्छा है तुम दिल्ली आ जाओ। यहाँ तुम्हारे लिए पक्की नौकरी का इन्तजाम हो जाना ज्यादा मुश्किल नही है।"

मेरी इस बात पर वह कही से पडा हुआ एक वाक्य बडे दार्शनिक अन्दाज में कहता है—'इस युग की एक बात बिलकुल निश्चित है कि कुछ भी निश्चित नही है।'

•

•

बम्बई पहुँच कर मनजीत का पत्र आया—"यहाँ आते ही महँगाई रूपी सुरसा का विकराल रूप देख रहा हूँ। अच्छा गेहूँ ढाई रुपये किलो। वह भी मिलता नही। सस्ता गेहूँ आठ आने किलो तक मिल जाता है पर उस का आटा पेट में सीमेण्ट की तरह जम जाता है। अच्छा चावल देखने को नहीं मिलता। कोई सब्जी डेढ-दो रुपये से कम नहीं है। देशी घी की तो बात न पूछो। पन्द्रह रुपये किलो भी मिलना मुश्किल है। अच्छा वनस्पति घी भी ब्लैक में बिक रहा है। पुरानी लोकोक्ति दाल-रोटी खाने की बात कहती है परन्तु आजकल सब्जी-रोटी खाना दाल-रोटी खाने से इस लिए सस्ता है क्योंकि कोई भी दाल दो रुपये किलो से कम नही है। और दफ्तर का हाल यह है कि सुन रहा हूँ कि खन्ना छह महीने के लिए अपनी छुट्टी और बढा रहा है।"

इस के बाद महीना डेढ़ महीना गुज़र गया उस का कोई पत्र नहीं आया।

•

•

मैं अपने स्कूटर का एक मिलिटरी ट्रक से एक्सीडेण्ट कर बैठा हूँ। शाम को मैं काश्मीरी गेट जाने के लिए घर से निकला था। अभी इण्डस्ट्रियल एरिया का चौराहा पार कर के मैं ज़खीरे की ओर बढ़ा ही था कि दाहिनी ओर की एक सड़क से वह ट्रक बड़ी तेजी से निकला...और मुझे बस इतना ही याद है कि पलक झपकते मैंने उसे अपने सामने पाया।

मैं घटनास्थल पर ही बेहोश हो गया था। होश आने पर कितने ही लोगों को अपने चारों ओर खड़ा पाया। सिर मे खासा गहरा जख्म हुआ था। दाहिनी जाँघ और घुटने पर भी चोट आयी थी। फिर भी मेरे सभी हित-चिन्तक भगवान् का लाख-लाख शुक्र कर रहे हैं कि उस ने हाथ दे कर मुझे बचा लिया। नहीं तो ऐसी दुर्घटना के बाद कौन बचता है और यदि बच भी जाये तो हाथ-पैर तुड़वा कर जिन्दगी-भर को अपाहिज तो हो ही जाता है।

मनजीत को इस दुर्घटना की खबर न जाने कैसे लग गयी। दुर्घटना के पाँच-सात दिन के बाद उस का एक्सप्रेस पत्र आया, केवल दो पंक्तियों का घसीट पत्र—"सुना है तुम दुर्घटनाग्रस्त हो गये हो! लौटती डाक हाल लिखो।"

मैं डॉक्टर के पास ड्रेसिंग कराने जा रहा था। लौट कर आया तो कुछ पी कर सो गया। आँख खुली तो तीमारदारी के लिए आनेवालों से अपने को घिरा पाया।

दूसरे दिन की डाक में मनजीत का एक पोस्टकार्ड था—"तुम्हें एक एक्सप्रेस पत्र लिख चुका हूँ—सुना है, तुम किसी दुर्घटना के शिकार हो गये हो। अपना पूरा हाल लिखो।"

मैं कॉलेज जाने की तैयारी कर रहा था। एक सप्ताह की छुट्टी पूरी हो चुकी थी। सोचा, थोड़ा घूम भी आऊँ और पहली तारीख़ है, वेतन भी ले आऊँ।

एक दिन छोड़ कर मनजीत का फिर पत्र आया—"बड़े अजीब आदमी हो जी! दिल्ली से बम्बई पत्र एक दिन मे आ जाता है। मैं तुम्हें दो पत्र लिख चुका हूँ। चिन्ता के मारे मेरा बुरा हाल है। लौटती डाक सब लिखो।"

एक सप्ताह में मनजीत के तीन पत्र? ऐसा तो कभी नहीं हुआ। वह तो अपने आप में सिमटा रहनेवाला कछुआ है—कछुआ। पिछले बीस सालों में मुझे कभी ऐसा नही लगा कि वह भी अपने को फैला सकता है, अपना विस्तार कर सकता है। मुझे लगा यह मनजीत तो उस मनजीत से कुछ अलग है जिसे मैं इतने अरसे से जानता हूँ।

मैं ने उसे पत्र नहीं लिखा।

और एक के बाद दूसरा, उस के चार पत्र और आ चुके है। मुझे बड़ा मजा आ रहा है—सिमटने मे, सिकुड़ने में। और उस की चिन्ता, उत्सुकता, खीझ और झुँझलाहट को घूँट-घूँट कर इस तरह पी रहा हूँ जैसे वह

कोई बडा स्वादिष्ट पेय है, जिसे मैंने इस के पहले कभी चखा तक नहीं ।

और उस का आज का पत्र तो बस कमाल है हँसते-हँसते मेरा बुरा हाल है—"अरे मौनी बाबा के बच्चे, यह शायद आठवाँ पत्र लिख रहा हूँ । सुना है कि तेरे साथ कुछ दुर्घटना हो गयी थी । सो उस में बचा या मर गया ? अगर सचमुच मर ही गया है तो मुझे खबर तो दे दे जिस से मैं निश्चिन्त हो कर अपने काम में लगूँ । पर मुझे मालूम है कि तू अभी इस धरती पर ही रेंक रहा है क्योंकि तेरे मरने पर बम्बई में एक शोक सभा अवश्य होती और उस की खबर अखबार में भी छपती । अच्छा अब ज्यादा तंग मत कर और अपने सडे हुए हाथों से दो शब्द लिख कर भेज दे ।"

खूब हँस चुकने के बाद मैं चारों ओर से कम्बल ओढ कर, उस के पत्र को हाथ में ले कर मुसकराते हुए उस का स्वाद ले रहा हूँ ।

[सितम्बर १९६५]

भरेपूरे-अधूरे

•

कमलेश्वर

घर में मोटर सायकिल के आने से एक नयी रौनक़ आ गयी थी। मोटर सायकिल के आते ही सब से पहले बैठक की खिड़कियों पर नये परदे पड़ गये थे। जयप्रकाश बाबू ने यह भी महसूस किया था कि राधा अब साड़ी बदल कर और बाल सँवार कर ही बाहर निकलने लगी है, सब्जीवाला अब भी आता है, पर राधा भाव-ताव पर उस से उतना तकरार नही करती, जितना कि पहले किया करती थी···

बरामदे में मोटर सायकिल खड़ी रहती, तो ऐसा लगता रहता जैसे घर में कुछ बाँकपन आ गया है। राधा की नजर इस बात पर भी रहने लगी कि चारों बच्चो मे से कोई भी नंगे पैरों बाहर न निकल जाय।

क्रोशिए से उस ने बैठक की मेज़ के लिए जालीदार टेबिल-क्लाथ भी बुन लिया था और हर रोज बच्चों के स्कूल जाने से पहले उन के जूतों पर पॉलिश भी कर दिया करती थी।

जयप्रकाश बाबू को इस से बडी सन्तुष्टि होती थी····सैकिण्डहैण्ड मोटर सायकिल खरीद लाने के बाद से घर मे अजीब-सा ढब और बड़प्पन आ गया था। बच्चे शेर हो गये थे, बीवी पड़ोसियों को 'घर बनाने' की हिदायतें देने लगी थी और दूसरों के घरो की हालत देख कर अब जरा ज़्यादा दु.खी होने लगी थी।

पडोसवालों की मशीन पर वह जयप्रकाश बाबू के लिए धारीदार नाइटसूट सिल लायी थी और हर रात उन्हे जबरदस्ती पहना देती थी।

'सलीक़ा तो तुम ने सीखा ही नही!' राधा कभी-कभी उसे ताड़ देती, 'ऐसे अच्छा नहीं लगता कि धोती और बनियाइन पहन कर सवेरे-सवेरे घूमने लगो·· सुबह-सवेरे भी कई

लोग आ ही जाते हैं ' और अपने पैरो के नाखूनो पर वह नेलपॉलिश भी लगाने लगी थी।

जयप्रकाश बाबू सो कर उठते और गुसलखाने मे वापस आते तो उन्हें स्टूल पर शेव का सामान रखा हुआ मिलने लगा था

और एकाएक हुए परिवर्तन से कभी-कभी वे चकित रह जाते थे। पर मन में कही यह सन्तोष और भी गहरा जाता कि अब घर कुछ ऊपर उठ रहा है। उस के जीवन-स्तर में सुधार हो रहा है।

मोटर सायकिल का इतना गहरा और महत्त्वपूर्ण प्रभाव उन के रहन-सहन पर पड जायेगा, यह उन्होने पहले कभी नही सोचा था।

और पडोसी औरतो के बीच राधा बडे विश्वास और सहज स्वाभिमान से कहती, 'सब से पहली चीज़ तो घर है! आदमी घर बना ले तो समझो, सब कुछ बना लिया माधुरी के पापा कह रहे थे कि एक खाने की मेज और ले आयेंगे आजकल कौन खाता है चौके में बैठ कर '

जयप्रकाश बाबू को अपना बनता हुआ घर दिखाई देता, तो बडी खुशी से भर जाते लगता था जैसे राधा में एक बार फिर से चुस्ती आ गयी है। उस ने बच्चो के सोने का इतज़ाम दूसरे कमरे में कर दिया था और दो कोनो में पडी खाटो को सटा कर बिछा दिया था। जो खाट नीची पडती थी, उस के नीचे ईंटें लगा कर बराबर कर लिया था। उन दोनो खाटो से बने हुए डबल-बेड पर चौबीसो घण्टे बिस्तर बिछा रहता था और जयप्रकाश बाबू का नाइटसूट वह बिला नागा सिरहाने रख लेती थी

घर में चाहे और कुछ न आया हो, पर मोटर सायकिल के आ जाने से एक अजीब-सी सम्पन्नता लगने लगी थी।

'कुछ दिनो बाद नयी खरीद लेना!"

'और क्या इस पुरानी पर अच्छी तरह चलाना सीख जाऊँगा तब तक नयी का नम्बर आ जायेगा '

'एक रोज ज़रा हमें भी घुमा लाओ कितने महीने हो गये हैं घर से बाहर गये हुए • '

'अब तुम अपने झझट से निपट लो, तब घुमाने ले जाया करेंगे जरा से में कही झटका वटका लग गया तो तकलीफ मे पड जाओगी '

'ये झझट तुम्ही लगा देते हो खिसको उधर ' राधा बडे प्यार से उलाहना देकर आहिस्ता से बगल मे लेट कर सो जाती।

●

●

एक दिन जयप्रकाश बाबू दफ्तर से लौटे तो देर भी हो गयी थी और मोटर सायकिल भी साथ नही थी। राधा ने देखा तो अचरज में पड गयी। इस से पहले कि वह कुछ पूछे जयप्रकाश बाबू ने कहा, 'ज़रा सा तेल गरम कर देना '

'क्यों, क्या हुआ ?'

'वह साली मोटर सायकिल स्लिप हो गयी पुरानी तो है ही, पुरज़े चुस्त-दुरुस्त

नहीं है···वह तो कहो, जान बच गयी, नहीं तो हड्डी-पसली चूर हो जाती···'

'मोटर सायकिल कहाँ है ?'

'मरम्मत के लिए डाल आया हूँ। चैन साली टूट गयी···अगला पहिया अलग हो गया। साला धुरी से उड़ गया···'

'बड़ी खैर हुई !' राधा ने आतंकित भाव से कहा।

और रात में जयप्रकाश बाबू अपनी कमर पर मालिश करवाते रहे।

'धमक लग गयी है !' राधा ने मालिश करते हुए पूछा था।

'दर्द तो इतना हो रहा है कि लगता है साली हड्डी हट गयी है····'

'तुम मोटर सायकिल बेच डालो···लेना तो अब नयी लेना। पुरानी चीज पुरानी ही होती है···'

और जब मेकेनिक ने मरम्मत का खासा खरचा बता दिया तो जयप्रकाश बाबू ने बारह सौ मे खरीदी हुई मोटर सायकिल आठ सौ मे बेच दी और रुपया बैंक मे जमा कर आये।

'यह तुम ने अच्छा किया···' राधा ने सुना तो बोली, 'अब इस रुपये से कोई जरूरत को चीज खरीद लेंगे····माधुरी रेडियो की लगाये हुए है····न हो तो ···'

'नही-नही, इस मे से पाई भी खर्च नही करनी है। आठ सौ मे रुपया जोड़ते जायेंगे, तब नयी मोटर सायकिल खरीद लायेंगे····'

पर चौथे महीने ही जब घर मे नया बच्चा आया तो खरचे एकाएक खड़े हो गये और आठ सौ की रक़म घट कर जब पाँच सौ के क़रीब आ गयी तो जयप्रकाश बाबू फ़ौरन बाज़ार जा कर साढ़े चार सौ का रेडियो खरीद लाये। जो पचास ऊपर बचे थे, उन से कुछ और छोटी-मोटी ज़रूरत की चीजें खरीद ली गयी।

और तब राधा ने पड़ोसिनों को एक बार फिर भाषण दिया—'कहने लगे, दिन-भर घर में अकेले जी ऊबता होगा····रेडियो से ज़रा दुकेलापन हो जाता है····नहो····नहीं, क़िस्तों पर नहीं, नक़द लाये हैं। ये क़िस्त-विस्त का झंझट कौन पाले, बहनजी !'

दिन-भर घर में रेडियो चहकता रहता। जयप्रकाश बाबू को सन्तोष होता कि चलो यह भी एक काम की चीज़ आ गयी।

साबुत गोभी घर मे पका देख कर तो वे चकित ही रह गये कि तभी राधा ने गोद की मुन्नी को लिटाते हुए गर्व से पूछा, 'कैसा लगा ?'

'बहुत बढ़िया····कहाँ से सीखा ?'

रेडियो में खाना पकाने का प्रोग्राम आता है, उसी से सीखकर बनाया है····गल गया है ?' राधा बोली।

'बहुत बढ़िया····बढिया बना है !'

'रेडियो पर संगीत-शिक्षा का प्रोग्राम भी आता है। घर में हारमोनियम हो तो माधुरी सीख ले····अगले महीने से हारमोनियम सिखाने का पाठ शुरू कर रहे है रेडियोवाले····माधुरी का बड़ा मन है सीखने को····' राधा ने सहजता से कहा।

'पैसे कहाँ हैं ?' जयप्रकाश बाबू ने सीधा-

सा उत्तर दे दिया, 'एक पाई नही बचती ।'

'यही दिन हैं उस के सीखने के कल को पराये घर चली जायेगी '

'देखो ' जयप्रकाश बाबू ने कहा और उन्हें एकाएक लगा कि ऊपर उठता हुआ घर सहसा कही पर अटक गया है। राधा के नाखूनो पर पॉलिश है। खाटें भी डबल बेड बनी हुई हैं। बच्चे भी दूसरे कमरे में सोते हैं। नाइट ड्रेस भी एकाध धोब चल आयेगी पर कहीं कुछ है जो रुक गया है और वह पूरे घर की खुशहाली को क़ैद किये हुए है। ज्यादा अफ़सोस उन्हें नही हुआ, पर मन में बुरा जरूर लगता रहा।

'देख रहे हो, कितने बाल टूटने लगे है!' अपने बाल काढते हुए राधा ने उन्हें दिखाया था, 'इतनी-सी चोटी रह गयी!' उसने छाती पर बाल ला कर अपने अन्दाज से नापते हुए कहा था।

'घनापन भी उतना नही रह गया है ' जयप्रकाश बाबू ने उस की बात की ताईद में कहा, 'यह एकाएक क्यो झडने लगे?'

'जब से मुन्नी हुई है, तभी से झडने लगे है गाठ बराबर जूडा रह गया!' उस ने बाल लपेट कर छोटा-सा जूडा बना लिया था।

●

●

एक दिन बच्चो की हुडदग में रेडियो धडाम से नीचे आ गिरा। कैबिनट टुकडे-टुकडे हो गया। नाब्स की डण्डियाँ बुरी तरह भीतर घुस गयी और मरम्मत करने वाले ने करीब नब्बे रुपये की मरम्मत बतायी तो जयप्रकाश बाबू अचकचा गये। तनख्वाह में से नब्बे रुपये काट कर निकाल देना मुमकिन नही था। आख़िर सोच-साच कर वे ढाई सौ रुपये ले आये और उन्हें फिर बैंक में जमा कर दिया गया।

'इस में से अब एक पाई नही निकाली जायेगी डेढ सौ और जोड कर नया रेडियो ही आयेगा!' उन्होने एलान कर दिया।

बच्चे भी खुश बने रहे कि यह फ़ैसला सही है। जयप्रकाश बाबू को यह सन्तोष था कि घर की हालत में कोई खास फ़र्क़ नही आया था। राधा के पैर के नाखूनो पर अब भी पॉलिश चमकती है। बच्चे दूसरे कमरे में सोते है। नाइट ड्रेस जरूर फट गयी है पर खाटें अब भी डबल बेड बनी हुई हैं। सिर्फ़ यह हुआ कि घर अपनी जगह पर रुका हुआ है। रहन-सहन जैसे ठहर कर रह गया है।

"फिर मुसीबत में डाल दिया न!" राधा ने जब एक दिन कहा तो जयप्रकाश बाबू अवाक् सुनते रह गये। उन्हें चुप देख कर उस ने फिर उलहना दिया, 'कहती थी कि इन्तज़ाम कर लो पर नही अब भुगतना ' उस की आँखों में हलकी शोखी और ओठो पर मुसकराहट थी।

यह तो तुम्हें खयाल रखना चाहिए '

'यह खूब रही!'

'बडी मुश्किल हो जायेगी ' जयप्रकाश बाबू ने कहा।

'पडोसवाली बहनजी को भी जरूरत पड गयी थी खतरा भी कोई नही हुआ। अस्सी रुपये में, एक ईसाई नर्स है, वह कर देती है '

'दिखा लो।' जयप्रकाश बाबू ने बहुत आसानी से कहा और चुपचाप बैठ गये।

'अगले हफ़्ते ही उन्हें बैंक से सौ रुपया लाना पडा और सब ठीक-ठाक हो गया।

और बचे हुए रुपयों मे से एक सौ बीस का जब हारमोनियम ला कर उन्होंने माधुरी के सामने रख दिया तो राधा बहुत खुश हुई, 'चलो, पैसा जरूरत की चीज मे लग गया···· माधुरी का बड़ा मन था!'

जयप्रकाश बाबू को भी खुशी हुई और बचे हुए तीस रुपयो की वे छोटी-मोटी ज़रूरतों की चीजें ख़रीद लाये।

●
●

वह हारमोनियम बहुत दिन बजता रहा। पर जब माधुरी का शौक थम गया तो उसे लपेट कर मेज़ के नीचे रख दिया गया।

कई हफ़्तों बाद जब एक दिन माधुरी ने फिर स्वर-साधना शुरू करनी चाही तो देखा कि उस की धौंकनी की खाल चूहों ने काट डाली है। लकड़ी भी वे जगह-जगह से कुतर गये थे।

'माधुरी के लिए कुछ सोचा?' एक दिन राधा ने कहा तो जयप्रकाश बाबू ने हलकी चिन्ता से उसे देखा।

लिखा तो है 'एकाध जगह!' उन्होंने कहा।

'मै आज दोपहर उधर बाज़ार गयी थी तो बुआजी मिली थी····एक लड़का बताया है उन्होंने!'

राधा बोली।

'अच्छा····देख लेंगे!'

'और सुनो, यह हारमोनियम अलग कर दो, माधुरी बजाती-फजाती भी नहीं। बस, पड़ा हुआ है····बग़ैर बाजा-मास्टर के सीखे भी तो कैसे····क्यों?'

'कितने रुपये मिल जायेंगे····पड़ा रहने दो।' उन्होंने कहा।

'क्या फ़ायदा····'

'अच्छा····'

और तीसरे-चौथे दिन जयप्रकाश बाबू हारमोनियम ले कर गये और सत्तर रुपये ले कर लौट आये। रुपये ला कर उन्होंने रामायण में रख दिये और बोले, 'इस में से कोई खर्चा मत करना, समझीं····वक्त-जरूरत के लिए पड़े रहेंगे····'

'हाँ····छोटी-मोटी जरूरतें आ ही जाती है!' राधा ने कहा, 'चार पैसे पास हों तो अच्छा ही है।'

उन्होने गौर से राधा को देखा। उस के पैर के नाख़ूनों पर पॉलिश चमक रही है। बच्चे दूसरे कमरे मे ही सोते है। नाइटड्रेस के टुकड़े घर मे सफ़ाई के काम आ रहे है। खाटें वैसी ही डबल बेड बनी हुई है।

'कल मै जरा ऊन ख़रीद लाऊँ?' कई दिनों बाद राधा ने कहा था, उस में से ले लूँ, यह भी तो जरूरी ही है····मुन्ना के पास स्वेटर कहाँ है!' अपने बालों मे तेल लगाते हुए राधा ने फिर अफ़सोस से अपनी चोटी को देखा और चुप हो गयी।

'तुम्हारे बाल सचमुच बहुत गिर गये

है ' जयप्रकाश बाबू ने बडी आत्मीयता से कहा।

'शादी के वक्त घर-भर में सब से लम्बे बाल थे हमारे ' राधा बोली।

'वक़्त कितनी जल्दी गुज़र जाता है।' जयप्रकाश बाबू ने हसरत से उसे देखते हुए कहा।

'तुम्हारे बाल भी तो बहुत सफेद हो गये है ' राधा बोली।

'उमर का तक़ाज़ा है '

'इतनी अभी कहाँ से हो गयी है तुम से ज्यादा उमरवालो के सियाह्-काले बाल रखे हुए है।'

'तुम्हें आँवले के तेल मे कुछ फायदा हुआ ?' जयप्रकाश बाबू ने पूछा।

'कुछ भी तो नही हुआ ' राधा की आवाज में हलकी-सी निराशा थी।

'और कोई तेल इस्तेमाल कर देखो '

'कुछ होगा नही ' तेईस नम्बरवाली है न गुप्ताजी के घर में वे सब इस्तेमाल कर के देख चुकी है '

'उन के बाल तो बहुत अच्छे हैं '

'नकली लगाती है '

'ऊन खरीदने जाना तो तुम भी लेते आना '

मैं नही लाती मुरदा औरतो के हो, कौन जाने '

'अरे नही भाई, नायलन के भी होते है इस में क्या बात है समझी लेती आना तुम्हारे जूडा अच्छा लगता है। बाल – या दाँत खराब हो जायें तो आदमी कित्ता बूढा लगने लगता है '

और दूसरे ही दिन राधा बाज़ार जा कर तीन बच्चो के लिए पैंतालीस रुपये का ऊन खरीद लायी। घर लौटी तो जयप्रकाश बाबू खाट पर बैठे चाय पी रहे थे।

'ठीक है।' ऊन दिखाते हुए राधा ने पूछा।

'अच्छे रग है।' जयप्रकाश बाबू बोले, 'यह तो हम ने देखा ही नही था '

'अच्छा लगता है ?' राधा ने अपने भरे-जुडे में पिनो को दबाते हुए कहा।

'तुम तो बदल गयी ' उन की आँखों में प्यार की मद्धिम सी लौ दमक उठी थी।

'सोलह रुपये बच गये थे, सो उन में से एक यह लेती आयी हूँ।' कहते हुए राधा ने एक पैकिट जयप्रकाश बाबू के हाथ में पकडा दिया, 'सोचा कि कोई ज़रूरत की ही चीज लेती चलूँ नही तो ये सोलह भी यूँ ही उड जाते।'

'है क्या ?'

'देख लेना '

'अरे, यह तुम नाहक लेती आयी।' डिब्बा खोल कर शीशी देखते हुए जयप्रकाश बाबू बोले, 'इस से कही पूरी तरह बाल काले होते हैं ?' टिकाऊ थोडे ही है '

'बार-बार लगाने से हो जाते हैं ' राधा बोली, 'लाओ, रख आऊँ कल छुट्टी है, लगा लेना '

[शेष पृष्ठ ४८४ पर]

हर घर : एक अलग द्वीप

•

कुन्था जैन

रतेरिया भवन
राणा प्रताप रोड, जैसलमेर
२१-७-६५

प्रिय रजनी,

क्या इस पत्र की लिखने वाली 'माला' तुम्हें याद है ? ग्यारह साल पहले हम दोनों महारानी हाई स्कूल, जयपुर में सातवीं क्लास तक एक साथ पढते रहे। शायद तुम्हें याद हो कि हम दोनों को कविताएँ पढने का बहुत शौक़ था। महादेवी और सुमित्रानन्दन पन्त के हम दीवाने थे। समझ मे अधिक न आने पर भी बार-बार उन की कविताओं को पढते थे और छिप कर हमने स्वयं भी दो-चार कविताएँ लिखने की कोशिश की थी। एक बार अपने स्कूल के वार्षिकोत्सव पर रासलीला नृत्य हुआ था जिस में तुम ने कृष्ण का और मैं ने राधा का अभिनय-नृत्य किया था। मेरी सास भी उस उत्सव मे आयी हुई थीं और वही वे मुझे अपने लड़के चन्द्रभानु के लिए पसन्द कर गयी थी। पिता जी को घर-बैठे बडे घर का दामाद मिल गया और हाई स्कूल करते ही मेरी शादी हो गयी। शादी के बाद मैं अपनी ससुराल जैसलमेर आ गयी। मुझे जहाँ तक याद है, तुम्हारा इरादा कॉलेज मे पढने का था। आगे कहाँ तक पढ़ी और अब कैसे कलकत्ते में हो, यह सब मैं नही जान पायी।

परसों 'धर्मयुग' पढ़ रही थी तो उस मे 'गृहस्थी और चित्रकला' ('स्त्री-स्वभाव की

कला-सुरुचि और गार्हस्थ्य प्रेम का सुन्दर समन्वय') शीर्षक तुम्हारा लेख पढा और तुम्हारा कलकत्ता का पता ठिकाना मालूम हुआ। जी चाहा कि तुम्हें एक पत्र लिखूँ और तुम्हारा परिचय अपने पति से करा दूँ।

तुम्हें यह जान कर प्रसन्नता होगी कि ये कलकत्ते के प्रसिद्ध व्यापारी है। कॉलेज की ऊँची शिक्षा न प्राप्त कर के भी अपने व्यापार-कार्य में निपुण हैं और साथ ही साहित्य और कला में विशेष रुचि रखते है। कलकत्ते में जितनी सास्कृतिक सस्थाएँ है, उन सब के वे सदस्य है। सस्थाओं-द्वारा आयोजित प्रत्येक मुख्य कार्यक्रम में हमारी फर्म की ओर से हज़ार दो हज़ार का विज्ञापन जाता है। उन को यह जान कर बहुत ही गर्व और खुशी होगी कि तुम-जैसी सुसस्कृत महिला, मेरी सह-पाठिनी रही है और बहुत अशो में मित्र भी।

एक पत्र मैं उन्हें भी लिख रही हूँ तुम्हारे विषय में। वे तुम्हें अवश्य निमन्त्रित करेंगे। यदि तुम्हें किसी प्रकार की असुविधा और सकोच न हो तो अवश्य मिल लेना। और भेंट का पूरा विवरण लिख भेजना।

पाँच वर्ष का सुनील और तीन व[illegible]की सुजाता मुझ से पूछ रहे हैं कि क्या मैं उन के 'बाबू' को पत्र लिख रही हूँ। बात यह है कि मैं और किसी को पत्र कभी नही लिखती। लिखना भी चाहूँ तो समय ही नही मिलता और लिखने को विशेष कुछ होता भी नही।

मेरी ससुराल की बडी पुरानी हवेली है जिस में सास-ससुर, देवरानी-जेठानी, ननद-देवर, उन के बच्चे व विधवा बुआजी को मिला कर सब पचीस व्यक्ति इकट्ठे रहते हैं। यहाँ 'देश' में रहते हुए घर का सब प्रबन्ध करना हम स्त्रियों के हाथ में है। पुरुष तो अपने व्यापार-व्यवसाय से ज़रा भी अवकाश नही पाते। खाना बनाने वाले महाराज, नौकर-नौकरानी—सब है, किन्तु सास वृद्धा है और गठिया की रोगिनी। उन को केवल मेरे हाथ का बनाया खाना ही पसन्द आता है, इस लिए दोनों समय उन का खाना मैं स्वय ही बनाती हूँ। वर्ष भर के लिए पापड, बडियाँ, मगौडी, अचार, मुरब्बे, चावल और आलू के सेव आदि घर में तैयार करा के रखते है—सब्जियाँ सुखा कर रखते हैं। मेरी दो ननदें, उदयपुर और जोधपुर में ब्याही हैं। प्रत्येक तीज-त्योहार पर घर की रीति और परिवार की धनी साख के अनुसार उन के यहाँ सामान तैयार कर भिजवाते हैं। दो महीने बाद उदयपुर वाली ननद की लडकी की सगाई है और जोधपुर वालियो के खुशखबरी होने वाली है। बच्चे के कपडे, ननद की साडियाँ व उन के ससुराल वालो के लिए जोडे और तीयल तैयार कर रहे हैं। उन सब पर कढाई और सलमे का काम हम मिल जुल कर कर रहे है, (तुम तो कलकत्ते में हो, यदि कोई नयी डिजाइन की बूटी सामने आये तो भेज देना—भला क्या कहोगी कि पहली ही चिट्ठी में एक काम थोप दिया!)

तुम्हारे जीजा ने कलकत्ता जा कर परिवार के पुराने व्यापार को चौगुना बढाया है और धन की कमी नही है। ससुर जी के समय के वृद्ध मुनीम जी सारा हिसाब-किताब रखते हैं,

किन्तु आय-वृद्धि के साथ-साथ खर्च और रहने सहने व लेन-देन का भी बहुत फैलाव हो गया है। जब ये कलकत्ते से आते है तो वहाँ के फ़ैशन और ढंग की बातें इतने चाव से करते हैं कि हम तीनों देवरानी-जेठानी (इन के बड़े और छोटे भाई जैसलमेर में ही अपना काम सँभालते हैं) इन के अगले चक्कर लगाने के समय तक इसी प्रयत्न में लगी रहती हैं कि जब ये यहाँ आयें तो घर को किसी बात में कलकत्ते से कम न पायें। अब तुम्हीं बताओ कि ऐसी व्यस्तता में चिट्ठी सिवा 'इन को' लिखने के और किस को लिखूँ···

तुम उन से अवश्य मिलना—मैं तो इन सात सालों में कई बार कलकत्ते गयी हूँ। हर बार पन्द्रह दिन वहाँ ठहरी हूँ। वहाँ खूब सैर की है। दो गाड़ियाँ इन के पास है—बालीगंज में बढ़िया कोठी है····महराज और नौकर है। एक बंगालिन दाई भी, रसोई के सीदेबादे की चुग-बीन और झाड़-फटक करने को है। इन को किसी प्रकार की असुविधा नहीं होती।···

रजनी !····तुम भी क्या सोचती होगी, मुझ पागल के बारे में—इतनी देर तक अपनी ही गुण गाती रही हूँ और तुम्हारे बारे मे कुछ भी नहीं पूछा—पर वर्षों के अन्तराल पर यह पत्र लिख रही हूँ और वह भी एक बदली हुई माला, शायद बदली हुई रजनी को ! इस लिए अपनी बात कहने का पूरा भार तुम्हीं पर छोड़ती भी हूँ।

तुम्हारी सखी—
माला।

पुनश्च : हो सकता है, मैं इस वर्ष कलकत्ते आऊँ। कितनी बार जाने का प्रोग्राम बनता है, पर कई बात आड़े आ खड़ी होती है।····शादी के वर्ष-भर बाद से ही मुझे बेहोशी के फ़िट आने लगे हैं।···ऐसे समय में यहाँ तो परिवार के इतने लोग है मुझे सँभालने वाले, कलकत्ते में वह अकेले क्या-क्या सँभालेंगे ? और फिर माँ जी को छोड़ कर अधिक दिन कैसे कहीं रह सकती हूँ ? आजकल यहाँ सावन के झूले पड़े हुए है···कल रात कुटुम्ब और मेल-जोल की सब स्त्रियों ने मेंहदी रचायी है। धानी साड़ी और लँहगों पर लाल ओढ़नी ओढ़े कुटुम्ब की महिलाएँ और सखी-सहेलियाँ आयी खड़ी है···चेहरों पर खुशी और उदासी की धूप-छाया खेल रही है। सब के यहाँ से पुरुष व्यापार करने किसी-न-किसी 'विदेश' में हैं—चाहे वह कलकत्ता हो या बम्बई।····पेंग भरती हुई हम यह गाना गायेंगी :

झुक रया, चौमासा,
आमे मे चमके बैरंण बीजली,
राजन घर आवो जी,
महलाँ मैं डरपै सुन्दर एकली।

मा०—

रजनी की डायरी का एक पन्ना :

२३–७–'६५

आज वर्षों बाद 'माला' का सुकुमार भावुक चेहरा उस के पत्र के अक्षरों पर सजीव चित्र बन उभर आया है। वह राजस्थानी परम्परा में भीगी हुई थी। कितनी विलक्षण बुद्धि

वाली, कला-पारखी और संवेदन-सजग थी। हम दोनों मित्र से भी अधिक एक-दूसरे के प्रशंसक थे। शायद उसी भावना ने मेरे लेख पर उसे वर्षों बाद पत्र लिखने को विवश कर दिया।

तो माला के पति हैं 'श्रीमान् चन्द्रभानु रलेरिया' प्रत्येक चित्र-प्रदर्शनी में उन्होंने एक-न एक चित्र खरीदा है। प्रत्येक सांस्कृतिक कार्यक्रम में उन्हें मुख्य अतिथियों में बैठे पाया है। जानती हूँ, व्यापारी वर्ग में इस नवयुवक की बड़ी धाक और महिला-समाज में बड़ी 'पापुलरिटी' है। कला और साहित्य-जगत् की कई नवोदित आधुनिकाएँ उस की मित्र हैं। बहुधा वह उन में से किसी के साथ सिनेमा, रेस्ट्राँ या पश्चिमी संगीत और नृत्य के कार्यक्रमों में जाता है। उस के घर पर भी सब प्रकार के अतिथियों के सेवा स्वागत का उचित प्रबन्ध है। 'माला' को सम्भवतया यह सब मालूम नहीं है। नहीं तो जैसे भी होता वह जैसलमेर छोड़ अपने पति के पास आ कर कलकत्ते रहती।

किन्तु उस रोज़ कुसुम कह रही थी कि चन्द्रभानु प्रत्येक दूसरे तीसरे महीने जैसलमेर का चक्कर लगा आते हैं। और कलकत्ते की बढ़िया से बढ़िया साड़ियाँ और नये से नये डिज़ाइन के कीमती ज़ेवर अपनी पत्नी के लिए ले जाते हैं। तो क्या रुपये की चकाचौंध और सुसर-परिवार की जिम्मेदारियों के बोझ ने माला के दाम्पत्य-जीवन को सन्तुलन दे रखा है। राजस्थानी परम्परा में पले परिवारों की दृष्टि में सुखी सन्तुलन, जो माला की दृष्टि में दाम्पत्य-जीवन का आदर्श चित्र है मुझे लगता है, इस प्रकार के घर और परिवार अलग-अलग द्वीप-से हैं जो अपनी परम्परा में बँधे उसे निभाते रहते हैं। अपने अपने गृह-द्वीप की अनुकरणीय सभ्यता!

किन्तु फिर उसे 'फिट' क्यों आते हैं क्यों उस ने उस गीत की पंक्तियाँ लिखी हैं अपने पत्र में?

माला के पत्र ने मुझे आत्मनिरीक्षण की ओर उन्मुख क्यों किया? मेरी डायरी में तो सिवा प्रतिदिन की ऐनगेजमेण्ट्स के और कोई वाक्य शायद ही लिखा होगा?

मैं उसे अपने विषय में क्या सच-सच लिख पाऊँगी? क्या मेरे जीवन का पैटन उसे सफल दाम्पत्य-जीवन का आभास दे पायेगा?

उसे मैं कैसे लिखूँ कि मैं चित्रकला प्रेम से प्रेरित हो कलकत्ते आ कर तीन वर्ष के लिए आर्ट्स कॉलेज की छात्रा बन गयी हूँ और अपनी छोटी-छोटी बच्चियों, सात वर्ष की सुनीता और पाँच वर्ष की रीता को उन के पापा के पास रोहतक में छोड़ आयी हूँ। माला कलकत्ता इस लिए नहीं आती कि यदि उसे फिट आयेंगे तो उस के पति अकेले क्या क्या सँभालेंगे। और मेरे पति ने चित्रकला की ओर मेरी प्रबल इच्छा देख, स्वेच्छा से दोनों बच्चियों का भार अपने ऊपर ले कर उस की पूर्ति के लिए मुझे कलकत्ते भेज दिया। जयपुर से हाईस्कूल करने के बाद मैं पिता जी के ट्रान्सफ़र के कारण दिल्ली आ गयी थी। वहाँ हिन्दू कॉलिज में प्रथम वर्ष की छात्रा थी, एम० ए० के प्रथम वर्ष के छात्र

सुरेन्द्र से मेरी भेंट हुई। शेक्सपीयर के 'ऐज यू लाइक इट' ड्रामे में सुरेन्द्र ने रोजलिण्ड का अभिनय किया था। लड़कों ने हम लड़कियों से केवल मेकअप कराने में मदद ली थी। तब तक कॉलेजों के अभिनय में मिक्स्ड कास्ट नहीं होती थी। प्रथम परिचय मे ही हम एक-दूसरे के प्रति आकर्षित हो गये थे। मैं भटनागर और वह शर्मा! पर प्रेम और आकर्षण ने सब विघ्नों को पार किया। मेरे इण्टरमीडिएट करते ही हम दोनों की शादी हो गयी। सुरेन्द्र ने हिस्ट्री में एम० ए० पास किया, किन्तु सेकेण्ड डिवीज़न आने के कारण वह रोहतक के इण्टर कॉलेज मे प्राध्यापक हो गया।

कुछ दिन रोमाण्टिक मूड में कटे। किन्तु पैसे की खींचा-तानी, छोटी सुनीता और रीता की जिम्मेदारी, दुर्बल स्वास्थ्य, केवल घर-गिरस्ती के काम-काज से असन्तोष और कला में रुचि व ख्याति का आकर्षण—सुरेन्द्र और मेरे दाम्पत्य-जीवन में चोट-रँगड़ का कारण बन गये। दाम्पत्य-जीवन के सुख की झलक इसी में नजर आयी कि मै अपने व्यक्तित्व को कला अध्ययन से विकसित कर उस असन्तोष और अतृप्ति से उभर आऊँ जो हमारे दाम्पत्य-जीवन को विरस बनाये डाल रही थी।

सारे परिवार के विरोध के समक्ष भी, सुरेन्द्र ने दाम्पत्य-जीवन के कल्याण के लिए ही कलकत्ते आने की न केवल अनुमति दी, बल्कि सहायता की। कुछ का मत है कि इस प्रकार यहाँ आ कर मै ने अपनी घर-गृहस्थी को विच्छिन्न कर दिया है। किन्तु सुरेन्द्र और मैं आश्वस्त हूँ कि यह दाम्पत्य-जीवन के लिए अत्यन्त हितकर है।

पति और बच्चों से दूर रह कर, व्यक्तिगत विकास की धारा में बह कर मैं दाम्पत्य-जीवन के सुखी द्वीप में पहुँचने के प्रयत्न में हूँ—यह क्या 'माला' समझ पायेगी? प्रेम-विवाह से बँधे दो व्यक्तियों की गहरी और उलझी मानसिक गुत्थियों ने उन्हें दाम्पत्य-जीवन की सफलता के लिए इस राह पर चलने को इंगित किया है—इस का रहस्य क्या अपनी दृष्टि परिधि और विचार-परम्परा मे सीमित गृह-द्वीप के वासी अनुभूत कर पायेंगे? स्वेच्छा से ग्रहण किया पति और बच्चियों से विछोह घर-गृहस्थी और बन्धुत्व से एक सामान्य छात्रा का स्थानान्तर, दाम्पत्य-जीवन की सफलता का भी निदान बन सकता है, इसे कौन समझेगा?

कहते है कि जिस के शरीर मे हड्डियाँ मजबूत हों, गोलाई और गदरापन कम, वह व्यावहारिक और कर्मठ होते है····अनुभूतियों की कोमलता और उष्णता उन की हड्डियों में नहीं ठहर पाती।····देखती हूँ कि कर्मठ और परिश्रमी मैं किसी से कम नही रही हूँ ·· मैं ने कई प्रकार के काम हाथ मे ले कर इस बात का पूरा प्रयत्न किया कि घर की आय मे वृद्धि हो! किन्तु लगता है कि भौतिक समृद्धि की दौड़ मे भाग लेने वाले को सदा हारने की ही अनुभूति होती है! लोग कहते है कि मै ईगोइस्ट हूँ—एम्बीशस हूँ, इसी लिए स्निग्धता, ममता और प्यार की गरमाहट मुझे नहीं छूती····शायद ऐसा ही है····पर यह

भी तो एक विवशता है !

और फिर मैं इस सब के चिन्तन में क्यों पड़ूँ ? सुरेन्द्र ने मुझे कला-अध्ययन के लिए अपनी इच्छा से भेजा है। बच्चियाँ उसे मेरे से अधिक प्यार करती हैं, वह एक बड़े बिस्तर पर तीनों को अगल बगल लिटा कर आराम से सोता है। मुझे तो एक को भी पास सुलाना नहीं सुहाता। सुरेन्द्र खुश है खुद में और बच्चियों में मैं भी खुश हूँ कि अपने को केवल पति, बच्चों और परिवार में सीमित न कर, एक बृहत्तर उद्देश्य की ओर बढ़ रही हूँ। और सुरेन्द्र इस में मेरे साथ है।

मुझे घर वाले रूखी या कोल्ड कहते हैं। हो सकता है, सुरेन्द्र को भी मैं वह न दे पायी जिस का अभाव मेरी अनुपस्थिति से उसे खलता ! मुझे भी उस की या बच्चों की 'याद' जैसी चीज़ सताती नहीं (जैसा कि बहुत सी पत्नियों और माँओं को बेचैन कर देती है)

रोहतक की मेरी सहेली सरला ने जो हमारे पड़ोस में ही रहती है एक पत्र में लिखा था—"सुरेन्द्र, सुनीता और रीता बहुत आराम से रह रहे हैं तुम्हारे बिना। सुरेन्द्र दोनों बच्चियों का इस कदर खयाल रखता है कि क्या कोई माँ रखेगी। पर छोटी रीता जरूरत से ज्यादह समझदार सी हो गयी है और उस की आँखों में झांकती हूँ तो रुलाई-सी आने लगती है

अजीब भावुक सी है ये सरला भी !

एक और द्वीप

कुछ महीने हुए श्रीमती खोसला के यहाँ कीर्तन का आयोजन था, जिस में उन्होंने हमें भी निमन्त्रित किया था। मेरा कुछ परिचय उन से देहली में था। जहाँ वे गर्ल्ज़ कॉलेज की प्रिंसिपल थीं। अब वे रिटायर्ड हो कर, मिस्टर खोसला के चार वर्ष पहले देहान्त होने के पश्चात्, अपने लड़के के पास कलकत्ते में ही रहने लगी हैं, और कई बार 'विमन-एसोसिएशन' की सभाओं में मिल जाती हैं।

कीर्तन अत्यन्त सुरुचिपूर्ण ढंग से आयोजित था, जिस में सम्मिलित होने चालीस के लगभग महिलाएँ और पुरुष आये हुए थे। महिलाएँ अधिकतर पंजाबी परिवारों की लगती थीं शिक्षित और वेश भूषा में आधुनिक। पुरुषों में भी अधिकतर सरकारी अफसर, डॉक्टर, बैरिस्टर, कौन्सिलर या पंजाबी समाज के धनी उद्योगपति ही थे।

मुख्य कीर्तन कर्ता थीं एक बंगालिन साध्वी, जो कलकत्ते के एक प्रसिद्ध परिवार से सम्बन्धित हैं, मधुर स्वरा, गम्भीर और प्रभावशाली व्यक्तित्व वाली। कीर्तन सहयोगियों में प्रमुख एक और महिला थी, जिन की आयु तीस वर्ष के लगभग थी, सौम्यता, श्रद्धा और नेकी की मूर्ति। वे सफेद जार्जेट की लेस लगी साड़ी और बिना बांह का ब्लाउज़ पहने, साड़ी को सधे ढंग से लपेटे, कीर्तन में तन्मय हो कर भाग ले रही थीं।

कीर्तन के उपरान्त मालूम हुआ कि कीर्तन करने वाली साध्वी जी उन्हीं महिला

के यहाँ रहती हैं, अर्थात् श्रीमती सिंह के यहाँ। श्रीमती सिंह विनम्रतापूर्वक, साध्वी जी की व्यक्तिगत मन्त्री की भाँति, उन के अगले कार्यक्रम व व्यस्तताओं के विषय मे बता रही थीं। उन्होंने मुझे अगले शनिवार को अपने घर कीर्तन में सम्मिलित होने का निमन्त्रण दिया।

निमन्त्रण था सन्ध्या छह बजे का किन्तु भ्रमवश मैं अगले शनिवार सन्ध्या चार बजे ही उन के यहाँ चली गयी।....श्रीमती सिंह कहीं बाहर गयी हुई थीं और शीघ्र ही वापस आने वाली थीं। जब आ ही गयी थी, तो सोचा कि उन से मिलती ही जाऊँ—इस लिए उन के ड्राइंगरूम में बैठ, उन की प्रतीक्षा करने लगी। बहुत बड़ा ड्राइंगरूम, एकदम पश्चिमी ढंग के परदों और सजावट के सामानों से सुसज्जित था।....भारतीय कला व सुरुचि का वहाँ चिह्न भी नही था।...कमरे के बाहर एक बड़ा-सा ढँका बरामदा था जिस में एक ओर 'बार-काउण्टर' लगा हुआ था और पास ही अलमारी मे बढ़िया ह्विस्की, और शेम्पैन आदि की बोतल थी ओर कटग्लास के पैग। दीवारों पर मरे हुए चीतों के चेहरे सजे थे और पायदान की जगह चीतों की खालें पड़ी थीं। कीर्तन की श्रीमती सिंह का ड्राइंगरूम और ऐसा ?....

थोड़ी ही देर में श्रीमतो सिंह आयीं। एकदम आधुनिक ढंग का केश-विन्यास किये, सुन्दर ज़री की कढ़ी हुई गुलाबी साड़ी पहने और पूरे मेकअप मे।....मुझे देख कर कुछ सकुचायीं। किन्तु दूसरे ही क्षण आश्वस्त हो मेरे पास बैठ कर बातें करने लगीं।....उन की आँखों में अब भी वही भक्ति-भाव, सरलता और गहराई थी जो उस दिन कीर्तन में दिखाई दी थी। दो-चार मिनिट की बातों में ही हम परस्पर पुराने मित्रों की भाँति खुल कर बातें करने लगे।

मालूम हुआ कि अमृता (मिसेज़ सिंह) के पति सुरजीत सिंह पायलेट ऑफ़िसर हैं और शीघ्र ही ट्रेनिंग ले कर भारतीय वायु-सेना में फ़्लाइट लेफ़्टीनेण्ट बनने वाले हैं। मुझे यह जान कर आश्चर्य हुआ कि जो पायलेट रोज आकाश मे उड़ान भर कर अपनी जान हथेली पर रखे रहता है, वह वायु-सेना में भरती हो कर अपनी जान को और ज़ोखिम में क्यों डालना चाहता है! क्यों नहीं अमृता उसे ऐसा करने से रोकती ?....क्या उसे अपने पति के प्राणों का मोह नही ? जब तक इस का पति रोज हवाई जहाज़ उड़ा कर प्रतिदिन सुरक्षित धरती पर न उतर आता होगा, तब तक क्या इस के दिल की धड़कनें तेज न रहती होंगी ?....

इन्हीं विचार-भावनाओं के आधार पर मैं ने अमृता से इस स्थिति के प्रति बहुत सहानुभूति प्रकट की और कहा कि यह तो बड़े ही दुःख की बात है कि इधर तो भारत-पाक युद्ध-के छिड़ने की सम्भावना है और उधर उन के पति वायुसेना में जा रहे हैं।—भला क्या बीतेगी उस के स्त्री-हृदय पर ?

अमृता मेरी यह गँवार-सी सहानुभूति सुन कर उत्तेजित हो गयी, जैसे मैं ने कोई भद्दी गाली मुँह से निकाल दी हो। आश्चर्य और खिन्नता-भरे शब्दों मे वह बोली,

"प्लीज़ ! ऐसा न सोचिए !—आप-जैसी पढी लिखी समझदार स्त्री क्या पति-पत्नी के प्रेम को इतने तग स्वार्थ भरे दायरे में सीमित कर के देखती हैं ? क्या अन्य स्त्रियों को ईर्ष्या नही होती मुझ से कि उन के पति भी क्यों नही इतना बहादुर, एडवेन्चरस और दिलावर हुए ? जिस समय सुरजीत हवाई फौजी की वरदी से लैस हो कर, सीना ताने, लम्ब सधे कदमा, गरदन ऊँची किये, दुश्मन के छक्के छुडाने हवाई जहाज़ पर उडान भरने जायेगा, उस समय मेरी सारी प्यार प्रीति उस के कदमों को चूमेगी । बहन जी, आप को यह जान कर खुशी होगी कि सुरजीत का नन्हा, जो आज से छह महीने बाद जन्म लेगा, अभी स देहरादून मिलिटरी अकादमी में भरती लेने वालो में से कैण्डीडेट है ।"

मैं अमृता की ओर देखती रह गयी । यही है वह कीर्तन में रत सरसमूर्ति नारी और यही है बहादुर कैप्टन सुरजीत सिंह की नव युवती पत्नी, सुन्दर स्वस्थ, ओजस्विनी, आधुनिका ।

मुझ से बिना पूछे रहा नही गया कि अमृता के ये दो रूप किस प्रकार समन्वित होते हैं । घर में 'बार-काउण्टर' होने के अर्थ ही थे कि पति और उस के मित्रो को पीना पिलाना अमृता का कर्तव्य था । फौज और हवाई जहाज से सम्बन्धित होने के नाते अमृता को सुरजीत के साथ क्लब में जाना, ब्रिज खेलना, डास आदि में शामिल होना ही पडता होगा । दूसरी ओर उस ने अपने बँगले के एक कक्ष में छोटा-सा मन्दिर बना कर कृष्ण-राधा की मूर्ति स्थापित की हुई थी । मन्दिर के बगल का कमरा साध्वी जी को दे रखा था । कमरे के सामने वाले आँगन में प्रत्येक सन्ध्या छह बजे से आठ बजे तक कीर्तन आरती आयोजित रहते थे । प्रत्येक मगल को अमृता का उपवास होता था । पति के शुभ के लिए करवा चौथ का व्रत, श्राद्ध के दिनों में ब्राह्मण-भोज तथा वैदिक व हिन्दू-रीति में होने वाली सारी धार्मिक क्रियाएँ पूरी तरह पालन होती थी ।

किन्तु अमृता के दाम्पत्य-जीवन में जैसे इन दो पक्षो में कही विरोधाभास था ही नही । जीवन के दोनो क्षेत्रों को वह समान रूप से श्रद्धालु और सहज भाव से पूरा करती थी । कही कोई मानसिक उलझन नही, कही सोच-फिक्र में पडने की बात नही ।

अमृता मुझे अपना रसोईघर दिखाने ले गयी । चौके में भी दो विभाजन थे । आमिष और निरामिष । दोनो चौको में अलग-अलग बरतन और सामान था । सुरजीत के लिए वह प्रतिदिन अपने हाथ से एक विशेष आमिष डिश बनाती थी क्योंकि सुरजीत खाने-पीने में शौकीन तबीयत है, यद्यपि वह स्वय मास मछली मुँह में नही डालती । और घर में एक दक्ष गोयानीज बावरची भी नियुक्त है ।

अमृता ने बताया कि उस के पिता एक प्रसिद्ध मेजर जेनरल थे और उस की माँ साठ वर्ष की आयु में अब भी पजाबी में भक्ति गीत लिखती रहती है । उस के ससुर रिटायर्ड ब्रिगेडियर है और उस की सास लुधियाने की फौजी महिला-सेवा समिति की अध्यक्षा ! !

मैं अमृता के पास लगभग एक घटा रही । उठ कर आने लगी तो वह गाडी तक

छोड़ने आयी और कुछ खोयी हुई-सी बोली, "बहन जी, आप से बातें कर के मन बड़ा हलका हुआ, आप मुझे अपना पता दे दें। डायरी उस के हाथ में थी और उस ने मेरा पता व टेलीफ़ोन-नम्बर नोट कर लिया।

अगले दिन अमृता का ड्राइवर एक चिट्ठी लाया; लिफ़ाफ़े में छोटा-सा पुर्जा था, केवल चार-पाँच पंक्तियों का; लिखा था—

"बहन जी, कल आप आयीं। बहुत अच्छा लगा। एक बात बार-बार मन मे घूमती रही। जीवन युद्ध-स्थल और हवाई जहाज को एक ही डोर में जुडे देख आप ने जिन संवेदन-शील कोमल भावनाओं को व्यक्त किया था, उन के प्रति मैं उत्तेजित हो उठी थी।···मुझे खेद है इस बात का। किन्तु विश्वास करती हूँ कि आप समझ पायेंगी कि जिन परिस्थितियों और संस्कारों की परिधि से घिरे द्वीप की मैं वासिनी हूँ, उस का अधिकांश भगवान् कृष्ण की गीता से निर्मित है। इस लिए सहज भावना और परम्परागत संस्कार को साथ ले कर चलती हूँ। जो बात होठ पर नही ला पाती वह इन हरफ़ों के ज़रिये आप तक भेज रही हूँ।

आपकी—अमृता

[जनवरी १९६६]

गये। कुछ देर बाद वह 'स्टीयरिंग ह्वील' पर उँगलियाँ नचाने लगा। मुझे लगा कि वह मुझे काटना चाहता है। इस 'मेम साहब' के यहाँ मिल जाने की शायद उस ने आशा नही की थी। मैं ने झाँक कर इधर-उधर देखा। एक भी टैक्सी नही थी। बाहर जा कर मैं बस-स्टॉप पर ज़रूर खड़ा हो सकता था। मगर इधर से बसें बड़ी देर में गुजरती थीं। मैं झिझका।

"अगर आप को कोई काम हो तो मैं यहाँ उतर जाता हूँ। बाहर से मुझे बस मिल जायेगी।"

मैं उठने के लिए तैयार था। पर वह कुछ बोला ही नही। मेरी ओर देखता रहा।

"आप क्या काम करते हैं?" उस ने पूछा।

"इमारतो का ठेका है।"

"मेरा बिजली का है।"

उस ने जेब से बटुआ निकाला। उस में-से अपना कॉर्ड खींच कर मुझे दिया। टी० आर० ललवानी। उसी नाम की कम्पनी। मुख्य दफ्तर बम्बई में था। मैं ने उसे जेब में रख लिया।

"आप बाहर के हैं?" ऐसे ही पूछा।

उस ने सिर हिला दिया—"आप की कौन सी कम्पनी है?"

मैं उसे अपना कार्ड देना भूल गया था। मेरा कार्ड ले कर वह बोला, "तो आप भी बाहर के हैं?"

"हाँ, दिल्ली का।"

इस के बाद हम में-से कोई कुछ नही बोला। मुझे कार्ड लेना-देना अनावश्यक लगा। अजीब भी।

वह हवाई अड्डे की इमारत को देखने लगा था। उस की 'मेम साहब' शायद भीतर अपने भानजे को चाय-वाय पिला रही थी।

चुप्पी की वजह से मैं फिर असमंजस में पड गया। लेकिन यह सोच कर बैठा रहा कि चाहेगा तो वह खुद ही कह देगा। वह बहुत धम-संकट में पडने वाला जीव नही दिखता था।

"आप को गाडी चलानी आती है?" उस ने अचानक पूछा।

"हाँ, आती तो है, क्यों?"

उस ने जीप की चाबी मेरी ओर बढा दी—"मैं उस कार में जाऊँगा। आप जीप ले कर हमारे पीछे-पीछे आ जाइएगा। हम सिकंदराबाद ही जायेंगे।"

"नही, मैं ऐसा नहीं कर सकता।" मैं ने रुखाई से कहा।

"क्यो?" वह हैरान था।

"क्योंकि तुम ने मुझ पर विश्वास नही किया। तुम ने मेरा कार्ड इस लिए लिया कि कही मैं जीप ले कर भाग न जाऊँ। तुम ने यह सब पहले ही सोच लिया था। और रास्ते में भी " आवेश में आने से पहले ही मैं चुप हो गया।

उस ने एकाएक कोई उत्तर नही दिया। उस की नुकीली आँखें मुझे बराबर घूरती रही। "इतने नाजुक मत बनो," उस ने लगभग सहज भाव से कहा और चाबी मेरे हाथ में थमा कर हवाई अड्डे की इमारत की ओर

बढ़ गया। मैं हक्का-बक्का-सा उसे जाते देखता रहा।

एक महिला उधर से आ रही थी। उस के साथ दस-ग्यारह बरस का एक लड़का भी था। महिला, बल्कि लड़की क्योंकि वह तीस के ऊपर की नहीं होगी, दूर से ही बड़ी आकर्षक लगी। ललवानी ने उस का अभिवादन किया और उन के साथ-साथ आने लगा। वह क्षण-भर को ही रुकी थी।

कार के पास आ कर वे रुक गये। खम्भे के प्रकाश मे वह अच्छी तरह से दिखायी दी। बहुत कोमल और भली लगी, बहुत ही भीने रूप से सुन्दर। शायद इसी कारण मैं रुका रहा, चाबी वहीं छोड़ कर चला नहीं गया जैसा कि मैं ने सोचा था। यह हलका विचार भी मन मे आया कि उस के लिए ललवानी से मित्रता करनी चाहिए। और यह भाँप कर (पता नही कैसे यह बात मैं उसी वक़्त भाँप गया था जब ललवानी ड्राइवर से पूछ-ताछ कर रहा था) कि उस की दाल वहाँ ज़्यादा नहीं गलती है, मैं उस लड़की को ले कर स्वप्न बुनने लगा।

ललवानी और वह दोनों बातें करते-करते ज़रा दूर निकल गये। लड़का (विमल) कार मे बैठ गया था।

जब वे कार की तरफ़ लौटे तो बातें नहीं कर रहे थे बल्कि जल्दी-जल्दी लौट रहे थे। ललवानी ने तीखी शिष्टता से कार का दरवाज़ा खोला। वह भीतर बैठ गयी तो उसी चुभने वाली शिष्टता से दरवाजा बन्द कर दिया। लेकिन कार स्टार्ट होने से पहले ही वह जीप की ओर बढ़ने लगा।

कार हमारे पास से गुज़री। मुझे लगा कि कार मे वह जगह बहुत ही नर्म और सुडौल प्रकार से आरामदेह है, जहाँ वह बैठी थी।

"मुझे अफ़सोस है," ललवानी बोला।

"किस बात का?" मैं ने बिना सोचे पूछा।

थोड़ी देर चुप रहने के बाद उस ने कहा, "देर हो जाने का।"

तब मेरी समझ में आया कि अफ़सोस उस ने मुझ पर विश्वास न करने के लिए प्रकट किया था—शायद कार मे न जा पा सकने के कारण भी।

"कोई बड़ी बात नही थी," मैं ने कहा और यह आशा करने लगा कि वह भी मेरी ओर देख कर मुसकरायेगा। मगर वह रूखे तनाव मे जीप चलाने लगा। बेगमपेट हवाई अड्डे के साथ-साथ जीप तेज़ी से भागने लगी। जब उस ने खतरनाक तरीक़े से मोड़ काटा तो मैं ने जाना कि वह बहुत अपमानित महसूस कर रहा है। मेरे रहने से और भी ज़्यादा। उस के अपमान के सामने मेरा अपना अपमान घुल-सा गया।

'क्वालिटी' के सामने उस ने जीप रोक दी। मैं फ़ुर्ती से उतर गया।

"अच्छी बात है। मैं अब यहाँ से चला जाऊँगा। बहुत धन्यवाद।" यह कहते समय लगा—वह भी कुछ कहना चाहता है।

"....अगर आप को देर न हो रही हो तो तो आओ, अन्दर चलें। थोड़ी पियेंगे....मुझे उस बात का बहुत अफ़सोस है।"

उसकी आँखो में अफसोस तो था ही—-
मेरे साथ की ख्वाहिश भी थी ।

लेकिन यह बहुत ज्यादा साफ था कि वह अपने बारे में बात करेगा, अपने बारे में 'रोयेगा' । जब वह जीप की चाबी थमा कर चला गया था तो उस में 'कुछ' है ऐसा लगा था । अब यह महसूस हुआ कि उस में कोई खास बात नही है । वह लडकी भी तो उस से प्रभावित नही थी । हाँ, वह उस से प्रभावित नही थी—मै ने मन में दोहराया ।

"नही," मैं ने कहा, "आज नही, फिर कभी ।"

उसे बहुत बुरा लगा । बहुत ही बुरा लगा । वह जीप से कूदा और भागता-सा 'क्वालिटी' में घुस गया ।

उस ने तो कहा था कि नाजुक मैं हूँ ।

मै अनायास उस के पीछे भागा । लेकिन दरवाजे तक जा कर रुक गया । फिर लौट पडा । और टैक्सी-स्टैण्ड की तरफ चलने लगा ।

हमदर्दी 'देने' न जा पाने के कारण मुझे पछतावा हो रहा था । मै ने अपने को कोसा भी । मगर जब मै दरवाजे तक जा के लौट आया था तो यही सोच कर (बल्कि याद कर के) कि अगर मै उस के साथ चला जाता जो वह 'सब-कुछ' के बाद ठीक हो जाता और मुझे (शायद उसे भी) यही महसूस होता कि कोई ऐसी बात नही थी (अकसर नही ही होती) तब तब मन में एक खास प्रकार की जुगुप्सा पैदा होती । और उसे सहना ।

"हैदराबाद चलो ।" मैं ने टैक्सी वाले से कहा ।

[फरवरी १९६७]

[भरेपूरे-अधूरे पृष्ठ ४७० का शेषांश]

'सब खर्च कर आयी ?'

'सात रुपये बचे है पाँच सात दिन तो निकल जायेंगे महीना भी पार आ लगा है । और अब फिलहाल कोई ऐसी खास जरूरत भी नही है चल जायेगा ।' कहती हुई राधा ऊन व खिजाब की शीशी लेती हुई भीतर चली गयी ।

जयप्रकाश बाबू उसे गौर से देखते रहे नाखूनो पर पॉलिश है । कमरे में खाटें भी डबल बेड बनी हुई है । बच्चे दूसरे कमरे में सोते हैं घर भी ज्यो का त्यो है । तभी उन्हें एकाएक खयाल आया और वहीं से बोले, 'सुनती हो, वह, तसवीर के पीछे रख देना '

[जनवरी १९६६]

धूप में क़िस्सा

•

गंगाप्रसाद विमल

दरअसल मैं टप्पी के घर जाना चाहता था। और एक तरह से मुझे जल्दी भी थी। पर भीड़ देख कर मेरे होश गुम हो गये थे। और मैं ने सोचा कि कितना अच्छा हो, कोई परिचित इस वक़्त मिल जाये। चाहे बाद मे, सोचने के बाद, मैं ने अपनी इस बात पर ख़ुद को गालियाँ दी हों। भला एक परम्परावादी तरीक़े से यह कैसे नियत हो सकता है कि थोडी देर में क्या होने वाला है। और मैं सोचने लगा कि ऐसी भीड़ में मै ने क्यों, किसी परिचित के होने की बात सोची ?

चुपचाप खड़ा रहने के लिए और इन्तज़ार करने के लिए सब से अच्छा तरीका क्या है—मैं इस पर विचार करने लगा। हालाँकि यह एक कठिन मसला था। पर कुछ देर बाद मैं ने तरीक़ा खोज लिया था और मै हर आदमी के नाम चुनने लग गया।

यह तो एकदम आश्चर्यजनक था कि मैं ने पहले शब्द को अपने होठों पर रखा ही था कि वह आदमी सीधे मेरे पास चला आया।

"आप ने मुझे बुलाया।" उस ने कहा।

मेरे सिर्फ़ होंठ हिलाने पर ही वह आदमी चला आया था। यह कितनी विचित्र बात थी।

"मेरा नाम कट्टू है। शायद आप मेरा ही नाम ले रहे थे।" मुझे चुप देख कर वह बोला।

यह वह नाम था, जो बहुत गन्दा हो सकता था और जिस नाम को किसी के लिए चुनना सिर्फ़ मनोरंजक था। मैं अभी अपने-आप को इस लिए तैयार कर रहा था कि क्या इसे

सिर्फ सयोग मानना चाहिए या कुछ और ।

"आप भी शायद यहाँ खडे-खडे उकता गये है ।"

"मै बहुत देर से किसी सवारी का इन्तज़ार कर रहा हूँ । आप जानते है, आज के दिन कोई किसी को लिफ्ट भी नही देता ।"

वह हँसने लग गया—"लिफ्ट तो पहले भी कोई किसी को नही देता था ।" उस ने कहा ।

मै चाहता था कि बात की दिशा बदल जाये और मै यह सोचने से मुक्त हो जाऊँ कि मै ने इतने सुन्दर आदमी का इतना गन्दा नाम क्यो सोचा ।

उस ने खुद ही कहा, "आजकल सडको पर भीड बहुत ज्यादा है और सरकार इस के लिए कुछ नही कर सकती ।"

"किस की सरकार ?" मै ने उसे चौंकाने के लिए पूछा ।

"किस की सरकार " उस ने मेरी बात दुहराई और हँसने लगा ।

मै पछताया, क्योकि अगर मैं सीधे-सीधे सरकार की ही आलोचना कर देता तो बात राजनीति की ओर चली जाती और मेरा काफी वक्त कट जाता । हो सकता था, इस बीच मुझे कोई ट्रक ही मिल जाता, जिस में बैठ कर मै टप्पी के घर न सही, हवाई अड्डे तक ही पहुँच जाता । पर अब वह हँस रहा था और कुछ भी हो सकता था, यानी जब उस की हँसी रुकती तो वह बात बदल सकता था या मुझी से सरकार के बारे में कुछ पूछ सकता था ।

जब उस की हँसी थमी, तब पास ही बिजली का एक खम्भा पकड कर वह बोला, "आप ने ठीक ही कहा है । यह सरकार किस की है किसी की नही । आप नही जानते, मै कितने दिनों घटो बस की इन्तज़ार में बिता देता हूँ । मै ने हिसाब लगाया है कि मेरी उम्र का चौथाई भाग बसो के इन्तजार में ही बीत जायेगा ।"

मै उसे यह कभी नही बताना चाहता था कि मै उन आदमियो में से हूँ जिन के पास एक गाडी होती है लेकिन जब गाडी खराब हो जाती है तब वे सब इन्तज़ार करने वालों के प्रति सहानुभूति रखने वाले हो जाते हैं ।

"इन्तज़ार में बीतते हुए तो पहले आदमी को पता नही चलता," उस आदमी ने कहा, "लेकिन जब पता चलता, तब आदमी जानता है कि उस ने क्या नही खो दिया ।"

उस की बातो का मेरे पास कोई उत्तर नही था । सिर्फ हाँ-हूँ कर देने का अर्थ था कि मै स्वय को फिर उसी ऊब में छोड देता । मै इस प्रतीक्षा में था कि वह अपने सिलसिले में कोई लम्बी बात बतायेगा और इसी दौरान मै उस मूल बात को भूल जाऊँगा । यह भी कि मै ने उस आदमी का उतना गन्दा नाम क्यो चुना ।

"जब मै अपनी बातें बताऊँगा तब आप अवश्य हँसेंगे ।"

उस की बात सुन कर मुझे कुछ आश्वस्ति मिली । अब वह कोई लम्बी बात बतायेगा और मै उसे सुनने-उलझने के बीच रहूँगा ।

"आप हँसें या न हँसें, फिर भी ज़रूर हँसेंगे," उस ने कहा, "बात कुछ ऐसी ही है।"

मैं ने अपने चेहरे का भाव ऐसा बनाया जैसे मैं उसे कहना चाहता हूँ—वह बात सुना ही डालो। मुँह से मैं उसे कुछ नहीं कह सका क्योंकि अभी मैं तय ही नहीं कर पाया था कि क्या कहूँ। बात शुरू करना या बीच में जवाब देना कितनी कठिन बात है। हो सकता है, यह कठिनाई केवल मेरे लिए हो। परन्तु यह कठिनाई मुझे आज ही महसूस हुई हो, यह बात नहीं है। पहले भी मैं कभी-कभी इस तरह की स्थिति में फँस जाता हूँ, तो मेरे लिए यह निश्चय करना कठिन हो जाता है, कि किस तरह से मोक्ष पाऊँ। यह एकदम सच्ची बात है कि मुझे उन लोगों से ईर्ष्या होती है जो सारी स्थितियों में अपनी बातों से साफ़ बच कर निकल जाते हैं।

"कई बार अपने से जुडी हुई बात बहुत गम्भीर लगती है, लेकिन वह औरों के लिए हँसी का कारण बन सकती है, यह मैं ने अनुमान लगाया है।" वह न जाने क्यों कुछ देर के लिए चुप हो गया। जब वह चुप हो गया तब मुझे लगा कि कहीं ऐसा न हो कि वह बात बन्द करने की शुरूआत हो। मैं ने जल्दी-जल्दी अपने दिमाग में कुछ कहने के लिए शब्द टटोले। पर मैं कुछ ही न गिने जाने वाले क्षणों में निराश हो गया। मुझे लगा, मेरे दिमाग में सिर्फ़ टप्पी के घर पहुँचने की जल्दी है, और बाक़ी कुछ नही। मैं निराश हो गया, और मुझे लगा इस बाक़ी वक़्त मैं किसी ट्रक का इन्तजार करूँगा जो शायद मुझे लिफ़्ट देने के लिए तैयार हो जाये। मैं सोच ही रहा था कि अगर वह इस गति से चुप रहा तो क्या होगा। सचमुच मुझे गहरी निराशा में डूबना पडेगा। पर मैं ने उस के चेहरे की तरफ़ देखा, तो वह कुछ सोचने में मस्त था। जैसे वह कुछ खोज रहा हो। मैं ने सोचा, अगर मैं कुछ बोलूँ भी नहीं तो कोई बात नहीं। पर फिर मैं ने पाया कि इस तरह मैं सिर्फ़ अपने को आश्वस्त कर रहा हूँ। वह, हो सकता है, कुछ खोज न रहा हो, बल्कि चुप रहने की भूमिका बना रहा हो। या ऐसा ही कुछ हो।

"जब मैं अपनी पत्नी के बारे कुछ बातें कहूँगा तो आप को अवश्य बुरा लगेगा। इस लिए कि पत्नियों की बातें सब लोगों के लिए एक समान होती है।" वह बोलते-बोलते रुक गया, थोड़ी देर सोचने के बाद बोला, "मैं ने यह तो पूछा ही नही कि आप विवाहित है?"

मैं ने अस्वीकार में सिर हिलाया।

वह थोड़ा-सा मुसकराया, "जब आप ने मेरा नाम बुलाया था तो मैं समझा था, आप भी कोई पीड़ित है।"

मुझे उस की बातें सुन कर किसी तरह का अचम्भा नहीं हो रहा था। और मुझे इसी बात का अचम्भा हो रहा था कि क्यों नहीं उस की बातों से मैं चौंकने की स्थिति मे आ रहा था। मेरी इच्छा हुई कि उसे कहूँ कि मैं इसी बात से पीड़ित हूँ कि 'तुम्हारी' बातें मुझ पर कोई असर नहीं डाल रही हैं।

"भला आप भी क्यों पीडित होंगे," उस ने कहा, "पास आ कर मैं पाता हूँ आप और ही किस्म के आदमी हैं।"

मेरी इच्छा हुई उस से पूछूँ, 'मैं किस किस्म का आदमी हूँ।" पर मैं चुप ही रहा।

"दूसरे किस्म के लोग कभी किसी से पीडित नही होते।"

वह जब बात बता रहा था तब मुझे अचानक ही लगा, जैसे उस आदमी की वजह से मेरी उकताहट बढ गयी हो। वह बात को इस तरह लम्बी किये जा रहा था जैसे बाद में वह किसी रहस्योद्घाटन की प्रतीक्षा में हो।

"अगर मैं एक बात पूछूँ तो आप नाराज़ नही होंगे न ?" अपने को जब्त न कर पाने पर मैं ने कहा, "कही ऐसा तो नही, बाद में आप किसी प्रकार की रहस्यमय बात मुझे बतायेंगे।"

"मैं आप की बात समझ गया।" उस ने कहा।

"पर, मेरा खयाल है ।" मैं कहना चाहता था कि अभी आप मेरी बात पूरी तरह नही समझे कि उस ने मुझे बीच में ही टोक दिया।

"दरअसल आप जो कहना चाहते हैं, मैं उस का एक दूसरा ही अर्थ लगाता हूँ। जब मैं अपनी बीवी के बारे में कुछ कहूँगा तो आप को लग सकता है कि वह आप की बीवी के बारे में भी सच हो। पर मैं जिस तरह से पीडित हूँ, वह बात तो एकदम 'यूनिक' है, वह कहते कहते कुछ हिचक गया था, "अपनी बात कह कर मैं खुद ही अपने प्रति अन्याय भी करता हूँ। पर यह मामूली बात है, आदमी को खुद अपना अन्दरूनी हिस्सा दूसरों को दिखाना चहिए, मैं तो यही मानता हूँ।" वह मेरी तरफ, उत्तर के लिए, देखने लग गया था।

उस की आँखों में क्या होगा, मैं यह जानने के लिए उस की तरफ देख रहा था। मैं ने सोचा, शायद सचमुच ऐसा कह कर वह मुझ से कुछ पूछ रहा हो लेकिन बात यह नही थी। उसे मैं ने एक अभ्यस्त आदमी की तरह पाया—इसी तरह से बातें करना और रुकना जैसे उस का शौक हो। यह आदत थी। जब मैं ने यह जान लिया तब भी मैं निराश हो गया।

"मामूली बात यह है कि मेरी बीवी का एक दोस्त है। मैं उस से मिला हूँ। वह इतना अच्छा नही है—इतना ही अच्छा कि मैं उसे पसन्द कर सकूँ।"

"अच्छा।" अचानक मेरे मुँह से निकल पड़ा। मैं खुद शर्माया कि मैं ऐसा कैसे कह गया। वह सोचेगा कि मुझे आश्चर्य हुआ होगा, जब कि ऐसी बात बिल्कुल नही है।

"हाँ, वह अच्छा नही है। वह एक तरह से बदसूरत आदमी है, जिसे कोई भी नापसन्द कर सकता है। मेरी पत्नी ने जब उस से मुझे मिलाया था तब मुझे लगा था, वह बहुत ही गलत किस्म का आदमी होगा। उस की शक्ल ही ऐसी थी कि कोई भी यह अन्दाज़ा आसानी से लगा सकता था। मैं ने पहले पहल सोचा कि शायद यह मेरे मन के सन्देह की वजह से हुआ हो और मैं ने उस के

बारे में गलत ही धारणा बना ली हो। परन्तु बाद में मिलने पर भी मैं ने उस आदमी को वैसा ही पाया। वैसा ही जैसा मै ने उस के बारे में पहले तय कर लिया था।" उस ने अपना मुँह बिचकाया, बोला, "साहब, आप भी कभी ऐसे आदमी के साथ नहीं रह सकते। मुझे तो अपनी बीवी के चुनाव पर ताज्जुब होता है। उसे एक गलत आदमी कभी नहीं चुनना चाहिए था। दूसरी बात जो मुझे ठीक नही लगती, वह यह कि उन्हे मुझ से कुछ छुपाना भी नहीं चाहिए पर वे दोनों छिपाते हैं। मै उन की इन हरकतों पर हँसता हूँ। पर अब इस तरह से हँसने से भी क्या होता है? वह उस आदमी के साथ रहती है। मुझे शिकायत यह है कि वह आदमी साफ क्यों नहीं रहता। जब आप इतने बडे शहर में रहते हों, और शहर साफ हो, तो कैसे गन्दे रह सकते हैं। मै तो ऐसे रहने के बारे मे सोच भी नहीं सकता। आप को उस की गन्दगी के बारे में बताऊँगा तो आप को भी उस आदमी से नफरत हो जायेगी।"

उस ने अपना मुँह कुछ-कुछ घृणा के समय-जैसा बनाया—"अपने मन मे मै ने सोचा है, कहीं मैं उस आदमी से इसलिए नफरत तो नही करता कि वह मेरी पत्नी का दोस्त है। और उसे मै खलनायकों की तरह मानता हूँ—पर आप से सच-सच कहूँगा कि मेरे मन मे कोई ऐसा 'चोर' नहीं है। 'चोर' के अलावा मेरे पास शब्द नही है। आप जान सकते है 'भाषा और गन्दे आदमी' अब हमारे लिए कितने समान हो गये है।"

'भाषा' की बात पर मुझे हँसी आ गयी।

मेरे हँसने से वह उत्साहित हुआ। बताने लगा, "मैं तो खलनायक को बेहद पसन्द करता हूँ। खलनायक ऐसा होना चाहिए जिस मे आप वे सब चीजें देखें जो आप में नहीं हैं। मैं तो ख़ुद कई वर्षों से सोचता आ रहा हूँ कि मै क्यों नहीं कोई खलनायक बन गया। परन्तु मुझे इस बात का दुःख नहीं है कि मैं खलनायक क्यों नहीं बना, मुझे तो इस बात का ज़्यादा दुःख है कि मेरे सामने का खलनायक बहुत बेहूदा व्यक्ति है।"

अपने को रोकना चाहते हुए भी मैं नहीं रोक सका। बोला, "तो आप इस लिए दुःखी हैं कि आप का प्रतिपक्षी गलत किस्म का कमजोर-सा आदमी है?"

"नहीं, केवल यही एक कारण नहीं है।"

"मेरा मतलब यह है कि आप नहीं चाहते कि आप का प्रतिपक्षी कोई कमज़ोर खलनायक हो।"

"ओह," वह कुछ दुःख में और आश्चर्य मे बोला, "आप को मेरा इस तरह बोलना नाटकीय लग सकता है। मुझे इस बात का दुःख थोड़े ही है कि वह मेरा प्रतिपक्षी, मेरे मुक़ाबले का नहीं है। अगर आप गौर से देखें तो आप को पता चलेगा कि मेरा दुःख तो दूसरी ही किस्म का है।"

मै ने यूँ ही दिलचस्पी दिखाना शुरू कर दिया था, "तो फिर किस किस्म का दुःख है?"

"मै उसे व्यक्त नही कर सकता। पर कुछ ऐसा है कि ऐसे व्यक्ति के सम्पर्क में वह

खराब हो जायेगी। ऐसा मेरा विश्वास है। पिछले दिनों से तो मुझे लगा, वह कुछ जल्दी में है।"

"आप रहते कहाँ हैं ?" अचानक मैं ने सवाल किया। मुझे अपने सवाल पर शर्म आयी। पर मैं ने सवाल इस लिए पूछा था ताकि विषयान्तर हो जाये और वह मेरा इशारा समझ ले कि अब उस की बातें ऊब पैदा कर रही हैं। पर मुझे अपने सवाल पर शर्म आयी, यह अच्छा सवाल नहीं था।

"मैं " वह बोलते-बोलते कुछ खोजने सा लगा। शायद वह शब्द या वाक्य खोज रहा था, "मैं तो बहुत दूर रहता हूँ। पर मैं आप को ये सारी बातें अभी संक्षेप में बता देता हूँ।"

"ठीक है, ठीक है।" मैं ने कहा। यह बात मैं उस आदमी के सामने पहली बार और बातों के सिलसिले में हजारवीं बार कह रहा था।

"मेरी पत्नी और उस आदमी की एक बात मुझे अचानक ही पता चल गयी। वे लोग मेरी हत्या करना चाहते हैं। मजे की बात यह है कि मुझे उन के सारे कार्यक्रम का पता चल गया। अब मैं सोचता हूँ कि अगर मुझे अपने को बचाना है और उस आदमी से अपनी पत्नी को अलग करना है तो मुझे सब कुछ बता देना चाहिए कि मैं उन का कार्यक्रम जानता हूँ। पर मुझे डर है कि कहीं यह सुन कर ही वह कुछ कर न डालें। हो सकता है, वह मुझे मौके पर ही मार दे। हो सकता है। कोई भी बात सम्भव हो सकती है।"

"क्या कोई भ्रम तो नहीं है ?"

"भ्रम ऐसी बात नहीं है। मुझे कोई भ्रम नहीं है। यह बात मुझे तब पता चली जब मैं अपनी पत्नी को एक पब्लिक-टेलीफोन पर बातें करते हुए सुन रहा था। पत्नी उस आदमी को फोन कर रही थी। और वह इस तरह रहस्यमय ढंग से कर रही थी कि मुझे शक हुआ। मैं ने एक 'चोर' की तरह गुपचुप बातें सुनने की कोशिश की। वैसे यह बात कितनी 'ग्लानि' पैदा करने वाली है। मुझे बाद में बहुत अफसोस हुआ। पर उस की बातों के बाद जब मैं ने उस से पूरी बात जाननी चाही तो वह चुप हो गयी थी। सही बातें तो मैं बाद में ही जान पाया। परन्तु मुझे शक हो गया था।" वह अचानक ही थोड़ी देर के लिए चुप हो गया।

मैं उस से पूछना चाहता था कि क्या वह कोई प्रसंग भूल गया है। पर इस से वह नाराज भी हो सकता था। और इस से बातों का रुख कहीं और पलट सकता था। हालाँकि मेरी इच्छा थी कि उसे कहूँ कि न जाने क्या बात है, आज कोई जाने का साधन नहीं मिल रहा है।

"अब अगर मैं यह कहूँ कि मेरी पत्नी एक रात मुझे जान से मार डालने वाली ही थी कि मैं जग गया तो आप विश्वास नहीं करेंगे। मैं सोया हुआ था कि अचानक मुझे खड़-खड़ की आवाज सुनाई दी। पहले मैं ने सोचा, पड़ोस के घर में कुछ हो रहा होगा। कमरे में अँधेरा था। ऐसे मौके पर मैं चुपचाप लेटे रहने के सिवाय कर भी क्या सकता

था ? कुछ देर रुक कर मुझे फिर कुछ सुनाई दिया । मैं ने अपनी पत्नी को आवाज दी । पर कोई जवाब नहीं आया । मैं ने सोचा, वह सो रही होगी । मैं ने दुबारा आवाज़ दी । उत्तर न पाने पर मैं ने बग़ल के बिस्तर को टटोला तो वहाँ पत्नी नहीं थी । मैं उठ कर जैसे ही बिजली जलाने के लिए आगे बढ़ा, किसी ने मेरे गले में फन्दा डाल दिया । वह मेरी पत्नी थी, जिस ने मेरे गले में फन्दा डाला था । यह मैं ने तब देखा जब बिजली जल गयी थी । मुझे कोई आश्चर्य नहीं हुआ । पर मैं ने देखा, मेरी पत्नी तत्काल बेहोश हो गयी थी । वह मुझे मारना चाहती थी । परन्तु यह तरीका एकदम गलत था, और मुझे अफ़सोस हो रहा था कि मेरी पत्नी ने यह क्यों चुना । इतने ग़लत तरीक़े से, अगर वह सफल हो जाती तो वह निश्चित ही फँस जाती और वह खलनायक इस सारी योजना के चौपट हो जाते ही असफल हो जाता । वह बदसूरत खलनायक....।"

मैं उसे यह कहना चाहता था कि वह खुद कम बदसूरत नही है । पर मुझे क्या पता कि कोई उस से भी खराब और भद्दी शक्ल वाला हो ।

"मैं ने पत्नी को गिरने पर उठाया और उसे होश मे लाने की कोशिश की । वह काफ़ी घबरायी हुई थी । और ऐसे मौक़े पर, जानते है, किसी आदमी के लिए आत्मस्वीकार करना कितना सरल होता है । पहले मैं आप को यह बता दूँ कि इस तरह के ग़लत तरीक़े मै ने भी फ़िल्मों मे देखे हैं और मुझे अफ़सोस है कि खलनायक फ़िल्मी खलनायक है । उस में 'अपना' कुछ भी नहीं है । मेरी पत्नी ने मुझे सब बताया है कि उस आदमी ने कैसे ये तरकीबें उसे बतायीं और कैसे उसने कहा कि वे दोनों मिल जायेंगे । आप या और लोग कुछ भी कहें, मैं ने अपनी पत्नी से यह नहीं पूछा कि वह मुझे क्यों मारना चाहती है । यह पूछना अपने आप को जान-बूझ कर अन-जान बनाना है । मुझे उन बातों का सन्देह है । मैं उस से कभी भी इस तरह की साधा-रण बातें नहीं पूछूँगा ।"

वह कुछ देर इधर-उधर देखने लगा । मुझे लगा, अब शायद वह थक गया है । उस के चेहरे पर हलका-सा तनाव था । जैसे वह पछता रहा हो कि वह एक अनजान आदमी को ये सारी बातें बता रहा हो । पर उस ने फिर बातें शुरू कर दी थी । और इस बार उस में बताने का चाव-सा झलक रहा था ।

"वह आदमी मुझे दो-एक बार पहले भी मिला था, जब मेरी पत्नी ने दुबारा मुझे मारने की कोशिश की थी । तब मुझे पता चला था कि वह आदमी भी शादीशुदा है । हर शादीशुदा आदमी कहीं-न-कहीं से पीड़ित ज़रूर होता है । मै उस आदमी की पत्नी से कभी नहीं मिला । शायद ऐसा अवसर कभी न आये । पर मै ने मन-ही-मन उस औरत की तसवीर बना रखी है । वह कोई सुन्दर औरत होगी । और वह इस तरह के बदसूरत आदमी के साथ नहीं रह सकती होगी। इसी लिए यह आदमी कुण्ठित है । यह आदमी मेरी पत्नी को अपना आत्मीय बना कर षड्यन्त्र कर रहा

है। दुबारा वाला किस्सा भी मजेदार है। उस वक्त भी मेरी पत्नी अचानक पकडी गयी थी। उस दिन मै खाना खाने देर से पहुँचा था। मुझे पता नही था कि मेरे देर से पहुँचने के बीच भी कुछ घट सकता था। मैं जब खाना खाने बैठा तो रोज़ की तरह पत्नी मेज़ पर खाना रख कर वापिस रसोई में नही गयी थी। वह वहीं, पास ही, बैठ गयी थी। मुझे सन्देह न होता अगर वह यह न कहती कि आज न जाने पानी का स्वाद कैसा है? 'पानी का स्वाद'—मै ने इस सम्बन्ध में अपनी पत्नी से पूछना चाहा कि क्या वह अन्य दिनो से अलग है? वह चुप बैठी रहती तो भी मुझे शक नही होता। उस ने बताया कि आज पानी का स्वाद कुछ बदला हुआ नजर आ रहा है। उस ने यह बताते हुए आश्वस्त भी कर दिया कि अगर पानी का स्वाद कुछ बदला हुआ लगे तो इस से 'प्यास' का कोई ताल्लुक नही है। मै उस की इस तरह की उलझी हुई बातों से सन्देह की गुंजायश पाने लग गया था। परन्तु मै ने यह विचार कर लिया था कि इस तरह की स्थितियो के अवसर पर कोई भी निर्णय ले डालना ठीक नही है।

"कही, ऐसा तो नही कि आज नल से ही मिलावटी पानी आ रहा हो, और उस में गन्दगी के कुछ विषयुक्त कीटाणु घुले-मिले हो।"

ऐसा मै ने जान-बूझ कर पूछा था। पर मेरे अनुमति के विपरीत वह घबरा गयी थी और वहाँ से उठ कर चली गयी थी। जाते-जाते उस ने कहा, इतनी सारी बातो का उस से क्या मतलब है?

मैं ने पानी नही पिया। मै जान गया था, जरूर कोई गडबड होगी। इस गडबड से मुझे कुछ-कुछ घबरा जाना चाहिए था। पर मैं अपनी ही स्थिति को विचित्र पा रहा था। मुझे यह सारी क्रिया और सारी बातें बेहद उकताहट-भरी लग रही थी। इन का साफ़ रूप जब भी मेरे सामने आता है, तो आप जानिए, मैं इन से काफी ऊब-सा जाता हूँ। चाहे जो कुछ भी हो, कही कही मैं इस से पीडित हूँ। और यही कारण है, कि मैं इन्हें बता भी रहा हूँ।

कल की ही बात लीजिए। मै डर सकता था और डर भी गया था। पर वह उस तरह की बिलकुल नही जिस तरह की बात का इशारा मै ने आप को पानी वाली घटना पर दिया था। मै उठ कर उस कमरे में आया जहाँ वह खिडकी के पास खडी थी।

"पानी वाकई दूसरी तरह का स्वाद दे रहा था।"

"अच्छा।" उस ने चौंक कर पीछे मुड कर कहा, "उस का स्वाद अलग था। क्या तुम ने सचमुच पिया?"

"सचमुच।"

और मेरी पत्नी ने रोना शुरू कर दिया। रोते-रोते उस ने सारी बातें मुझे बता दी। मुझे लगा, इस बार फिर खलनायक पराजित हुआ है। मुझे उस से किसी तरह की सहानुभूति हो सकती है। किस तरह की?—यह नही जान पाया।

"आप उकता तो नही रहे हैं ?" उस ने मुझ से पूछा।

"नहीं, मै तो यह सोच रहा हूँ कि ऐसा कुछ आप के साथ क्यों घट रहा है। क्या आप नहीं जानते है कि इस के पीछे कोई कारण होगा।"

"कारण....? आप सच नहीं मानेंगे, मैं कई दिन इसी लिए परेशान रहा। मैं ने सोचा, कोई-न-कोई कारण जरूर होगा। शायद आप को शक होगा कि मुझ में जरूर कोई कमी है जिस की वजह से मेरी पत्नी दूसरे आदमी से सम्बन्ध रखे हुए है। इस बारे में मैं यही कह सकता हूँ कि ऐसी कोई वजह नही। हम लोगों मे किसी चीज को ले कर कोई झगड़ा नहीं हुआ। बल्कि अब मै इस खोज मे भी रहता हूँ कि हम दोनों मे कोई झगड़ा हो जाये और कम से कम मैं कोई कारण पा कर इस सारे सम्बन्ध के बारे में आश्वस्त हो जाऊँ। मैं अपने सन्तोष का कारण नही खोज पाता, इसी लिए पीड़ित हूँ। दुःखी और डरा हुआ इस लिए हूँ कि कौन जानता है कब खलनायक विजयी हो जाये ! उस की विजय से जो नुकसान मेरी पत्नी को होगा—उस का क्या होगा ?"

वह कुछ देर के लिए रुका तो मैं ने सड़क की ओर देखा। सवारियों के नाम पर कुछ घोड़ा-गाड़ियाँ आ रही थी, जो बेहद लदी हुई थीं। मुझे टप्पी की याद आ गयी। मै सोचने लगा, वह जिस तरह से मेरा इन्तजार कर-कर के उकता गयी होगी, वैसे ही मैं इन्तजार में और इस आदमी की बातों से उकता गया होऊँगा। वह कभी नहीं जानेगी कि मैं किस बुरी तरह एक बुरे दिन में फँस गया हूँ। मैं कभी नहीं जानता था कि मुझे ऐसा खड़ा होना पड़ेगा और 'इन्तजार' से बचने के लिए दूसरी तरह फँसना पड़ेगा।

मैं सोचने में व्यस्त था। मुझे चुप देख कर वह बोला, "मूल बात तो मै आप को बताना ही भूल गया। कल रात की ही बात है। मेरी पत्नी ने मेरे सो जाने के बाद भागने की तैयारी कर ली थी। मैं कभी किसी खटके से, आसानी से नही जागता। वह तो कल न जाने क्यों मैं जाग पड़ा। बत्ती जली हुई थी और मै ने दूसरे सन्देहों की बजाय यही सोचा कि मेरी पत्नी सर्दियों के लिए स्वेटर बुन रही होगी। वह तो संयोग समझिए कि मै जब पानी पीने के लिए उठा तो मैं ने पाया कि दूसरे कमरे की खिड़की पर पत्नी खड़ी दूर अँधेरे में देख रही है। मैं ने उस का बक्सा देख लिया था, और यह अनुमान लगा लिया था कि अब वह कहीं भागने के लिए तैयार है। मै बिना पानी पिये, वापस बिस्तर पर लेट गया। फिर मैं सो गया। जब सुबह उठा तो मै ने पाया कि मेरी पत्नी उसी तरह खिड़की पर खड़ी है। आप नही जानते, मै इस वक़्त उसी खलनायक से मिलने जा रहा हूँ।"

उस से 'क्यो' पूछने का मतलब था कि एक लम्बी-सी कथा सुनने के लिए अपने को तैयार करना। मै चुप ही रहा।

"आप को यह जान कर आश्चर्य होगा, मेरी पत्नी उस तरह खड़ी क्यों रही ? इस-

लिए नही कि वह निराश हो गयी थी। इस बात से निराश कि खलनायक नही आया, बल्कि इस बात से योटा निराश थी कि उस की योजना ठप्प हो गयी थी।"

"यह तो आप का ही अनुमान है।" मैं ने दिलचस्पी को खत्म कर देने की वजह से कहा। मेरा ख्याल था, वह कहेगा, उसी का अनुमान है। पर मेरा खयाल गलत निकला।

"अनुमान नही। मेरे पास तो प्रमाण है।" वह सडक के सामने देखने लगा।

मैं ने अनुमान लगाया कि अब वह जाने-की जल्दी मे होगा। पर उस ने तुरन्त आँखें मेरी तरफ फेर ली। वह बोला, "कल रात मेरी पत्नी चाहती थी कि मैं पानी पीऊँ या बिजली बन्द करूँ—दोनो तरीके से मर कर लोगो को यह खयाल होता कि मैं ने आत्म-हत्या की है। पर उस ने गलती यह की कि वह अपना सामान बांध चुकी थी। और मेरे मरने के बाद यह फँसने का प्रमाण बच सकता था। अब मैं उस खलनायक से मिलने जा रहा हूँ।"

वह अभी कुछ और कहना चाहता था, इतने में एक टूटा फूटा ट्रक आया, उस ट्रक की रफ्तार धीमे होते ही वह लपक कर उस में चढ गया। पहले मैं इन्तजार करता रहा कि वह अपना हाथ हिलायेगा लेकिन बाद में मैं ने देखा, वह ट्रक के पीछे लदे हुए लोगों में से एक मैले-कुचैले कपडे पहने हुए आदमी से बात कर रहा था।

उस की बातो का मुझ पर असर तो नही पड़ा पर इतना जरूर हुआ कि मैं धूप को भूल गया। उस के जाते ही मैं ने खम्भे के पीछे खडे होने का विचार बनाया।

इस से पहले मैं टप्पी के बारे में सोचता या कुछ और भी, मैं ने पाया कि मैं कई आदमियो के पीछे खडा हूँ, और खम्भों की छाया मेरे आधे सिर को ढँक रही थी। उस गरमी में मैं किसी निश्चय के लिए अपने-आप से लड सकता था।

[अप्रैल १९६७]

वे

•

कमल जोशी

वे फिर आयीं। मुझे बहुत बुरा लगता है। धूप में इतना लम्बा रास्ता पैदल तय कर के वे आती हैं। सफ़ेद कपड़े, दुबला-पतला शरीर और उदास आँखों के साथ जब वे हमारी चौखट पर आ कर खड़ी होती हैं, तब मैं दूसरी ओर आँखें फेर लेता हूँ। बेचैनी का अनुभव करता हूँ।

इस के अलावा यह बेवक़्त है। बहुत व्यस्तता का समय। मेरा, मेरी पत्नी और मेरे लड़के-लड़कियों का। यह उन के स्कूल-कॉलिज जाने का वक़्त है। नहा-धो और कपड़े पहन कर खाने बैठेंगे। समयानुसार उन्हें खाना देने, थाली परोसने, कपड़े-लत्ते ठीक करने और हर एक को रिक्शा व बस के पैसे हिसाब से देने में मेरी पत्नी बहुत परेशान हो जाती है। मैं सिर नहीं उठा पाता। अभी प्रेस का आदमी आयेगा, पूरा प्रूफ देख कर न देने पर दो बातें कहेगा। ठीक उसी समय, दीर्घश्वास की तरह, अपराह्न की मन्थर छाया-जैसी, दूर से आती हुई किसी उदासी-भरे गाने की आवाज की तरह दबे पाँवों वे हमारे बीच आ कर खड़ी हो गयी।

उन को यह समझना चाहिए। इस तरह जब वे यहाँ बीच-बीच में आती हैं, तब मैं सोचता हूँ, उन्हें देखने के लिए काफ़ी समय चाहिए—धैर्य, सहिष्णुता, मनोवेग और शिथिलता। हाँ, तब हमें निष्क्रिय होना होगा। दुनिया के सारे काम-काज, चिन्ता-फ़िक्र और समस्याओं को एक ओर धक्का दे कर हटाते हुए अत्यन्त स्थिर और संयत भाव से उन की करुण वेदना से आर्द्र आँखों की ओर हमे देखना होगा। उन के दुःख-दर्द की बातें कान लगा कर सुननी होंगी। नहीं तो उन के प्रति अन्याय होगा।

इस लिए कभी-कभी सोचता हूँ, हम कठोर, कृतघ्न, स्वार्थी, उदासीन, माया-ममता—तथा अन्य जिन सब गुणों से मनुष्य महान् होता है, अच्छा होता है, एक शब्द मे मनुष्यत्व का

अधिकारी होता है—उन मे से एक का भी हम परिचय न दे सकें, इस बुरे उद्देश्य से ही क्या वे सुबह नौ दस बजे, जब हम लडके-लडकियों को—सांस लेने की फुरसत नही रहती, इधर-उधर देखने का समय नही रहता—उस समय तीन मील दूर से पैदल आती है ?

वास्तव में चौखट के सामने उन्हें देखते ही कम से कम दो मिनट के लिए तो हम सभी निस्प द, निस्तब्ध और मृतप्राय हो जाते है ।

इस के वाद ? हां, इस के बाद काफी समय रहता है जब उन की ओर बिना देखे, दो एक कुशल-प्रश्न नही करने पर हमारे विवेक का दगल हमें कचोटता है । मतलब कि बेचैनी की मात्रा बढ जाती है । कारण, इतनी दूर से आ कर वे फौरन ही तो नही चली जाती । खडी रहती है ।

अत लडके-लडकियों की थाली परोस कर पत्नी एक वार आँखें घुमा कर बहुत वेमन से 'वैठिए' शब्द का उच्चारण करती है । प्रूफ से नजरें हटा कर फीकी मुसकान के साथ 'कहिए कैसी है ?' जैसा प्रश्न करता हूं ।

लडके-लडकियाँ हाथ में किताब-कॉपी लिये हुए और जेब में रिक्शा बस का किराया रख कर उन्हें एक नमस्कार का उपहार देते हुए कमरे से निकल जाते है । लगता है जैसे बारह, तेरह, चौदह और पन्द्रह वर्ष के ये लडके लडकियाँ भी 'चाचीजी' की उपस्थिति को सकट समझते हुए आराम की सांस लेने के लिए बाहर भाग जाते हैं । नही तो शायद और भी पाँच-दस मिनट तक व पसिल, पेन, जूता और मोजे के लिए शोर-गुल करते, आपस में झगडते । यो मूक-बधिर बन कर घर से नही जाते ।

लडके-लडकियाँ चले गये । पर हम क्या करें । मैं और मेरी पत्नी ? चौखट के पास अलसायी हुई धूप में मक्खियाँ भिनभिना रही है । नल से पानी गिरने की आवाज बन्द हो गयी है । इस निश्चल निस्तब्धता के बीच दु ख, शोक और निराश्रय की मौन मूर्ति के सामने मुझे और मेरी पत्नी को नये सिरे से पसीना आने लगता है ।

इस लिए, यदि वे कुछ बोलती ! बातें करती !

वे कुछ बोलती नही । यदि हमारे लडके लडकियो से 'स्कूल का वक्त हो गया ?' 'इतनी भीड भाड में बस में चढ पाते हो ?'-जैसे एकाध सवाल ही करती तो वातावरण कुछ हलका हो जाता । उन की ओर से मेरा ध्यान हट सकता था और पत्नी निश्चिन्त भाव से घर गृहस्थी के काम पूरे कर सकती थी ।

लेकिन यह होने का नही ।

हमें बेचैन करने के लिए ही जैसे वे इस वक्त आती है और आ कर चुपचाप दरवाजे के पास खडी रहती हैं । आखें झुकाये हुए चुपचाप खडी खडी वे हमारी स्वार्थपरता और आत्मसुख की आसक्ति, व्यापकता और गहराई का निर्णय करती रहती हैं ।

कम से कम हमें तो ऐसा ही लगता है ।

उन के प्रति हम कितने उदासीन, निस्पृह कठोर और निष्ठुर है, आँखों में उँगली डाल

कर यह दिखाने के लिए ही न वे इतनी दूर से आ कर भी बरामदे में धूप से तपते हुए सीमेण्ट के फ़र्श पर खडी रहती हैं ! इस लिए स्वयं को उपेक्षित और अपमानित अनुभव करती हुई पत्नी फिर एक बार दरवाजे की ओर नजर उठा कर कहती हैं, "आइए, भीतर बैठिए।"

मैं ने बहुत पहले ही पेन बन्द कर रख दिया था। अब अपनी जगह से उठता हूँ। खड़े हो कर प्रायः जबरदस्ती मुसकराने की चेष्टा करते हुए प्रश्न करता हूँ, "मुन्ना ठीक है ?"

वे जवाब नही देतीं। नजरें झुकाये हुए सिर को जरा हिला कर मेरे प्रश्न का उत्तर देती है। फिर दीर्घश्वास छोडती हैं। उन का चुप रहना बहुत जबरदस्त हथियार है—बहुत भयंकर और तेज़ धार वाला है, हरिहर मुझ से कहा करता था। हाँ, मित्र और सहकर्मी हरिहर ने कई बार शिकायत की थी।

मृत्यु से एक सप्ताह पहले भी उस ने यह कहा था, "उसे अभी तक मै जान नहीं सका, समझ नही सका। मुझे कभी भी उस ने यह जानने-समझने नही दिया कि नाराज है या रूठ गयी है, सन्तुष्ट है या दुखी।"

हरिहर मुझ से उम्र मे छोटा था। लेकिन हम दोनों एक ही कॉलेज के प्राध्यापक थे। इस लिए काफ़ी मित्रता थी।

हरिहर सुखी व्यक्ति नही था। मानसिक अशान्ति से वह पीडित रहता था। नही तो जैसे मै ने तीन-चार कुंजियाँ लिख कर अतिरिक्त आय की व्यवस्था कर ली थी, वह भी कोशिश कर सकता था। किन्तु····

अपनी पत्नी के सम्बन्ध में हरिहर कहता था, "भैया, और किसी की पत्नी ऐसी है या नहीं, नहीं जानता। बोलती ही नहीं, कभी कुछ नहीं कहती। कमरे में उस का होना या न होना एक बराबर है। एक छाया के अलावा और कुछ नहीं। ऐसी छाया तो मेरे कमरे के फ़र्श पर भी पड़ती है। खिड़की में लगी हुई छड़ों की कल्पना करो। लेकिन हाँ, धूप में छाया मिल जाती है। वैसा ही उस का शयन है, विश्राम है, निद्रा है। दूसरे दिन सुबह धूप निकलने के साथ-साथ खिड़की की छाया कमरे के भीतर देखता हूँ। उस के अलावा और भी एक छाया नजर आती है। हाड़-माँस, सिर पर घने काले बाल, धनुष-जैसी भौंहें और आँखें है—छडों की छाया से यही फ़र्क है। सच, कभी-कभी मन करता है, ऐसी इच्छा होती है कि दीवार से सिर फोड़ लूँ। अपना ही आदमी यदि न बोले, बातें न करे, अच्छे बुरे मे चूँ न करे ··"

हरिहर बहुत अच्छा आदमी था। शान्त और निरीह। विश्वविद्यालय का गौरव। हर परीक्षा मे सदा प्रथम रहा। पर एक परीक्षा में बुरी तरह असफल हुआ। हरिहर स्वयं भी कहता था : "इस मे मै बिलकुल फेल हो गया, भैया !···मूर्ख, वज्रमूर्ख ! जरूर मुझ में ही कोई कमी है, मैं ही अयोग्य हूँ, नही तो कनक इतनी उदासीन क्यों रहती इतनी नीरव और इतनी शीतल।"

शीतल ! यह बात याद थी। इस लिए जब वे हमारे यहाँ आती है तब हरिहर की

वह असहाय कातर दृष्टि मेरी आँखों के सामने नाच जाती है।

यही वह युवती है। वही नीरव और शीतल! हरिहर-जैसे मेधावी और सच्चरित्र युवक के हृदय को जिस ने छिन्न-भिन्न कर दिया था!

हरिहर की मृत्यु भी एकाएक हुई। आकस्मिक एव शोचनीय। वाकई, वह अभागा था। दिन दोपहर को एक ट्रक के नीचे आ गया। कॉलेज से निकल कर उसी वक्त सडक पर पहुँचा था।

लेकिन फिर भी जाने क्या मुझे ऐसा लगता, इन कनक देवी को देख कर याद आता कि हरिहर मानसिक रूप से पीडित था। स्वेच्छा से उस ने मृत्यु को बुलावा नही दिया—यह कैसे कहा जा सकता है। हाँ, हम लोगोका गलत खयाल है। मेरा और मेरी पत्नी का। आत्महत्या ही यदि करनी होती तो फाँसी लगा कर या जहर खा कर अथवा अन्य लोग अपने जीवन का अन्त करने के लिए जिन तरीका को अपनाते है, हरिहर भी उन का अनुसरण करता। यो तो अनेको सुखी व्यक्ति सडक-दुघटना के शिकार होते हैं।

खैर, जो भी हो, कनक देवी को मैं और मेरी पत्नी कभी अच्छी नजरो से नही देख सके। युवा पत्नी और एक शिशु को छोड कर हरिहर को मरे हुए दो वष हो चुके हैं। शिशु दो-सवा दो वर्ष का है। कुछ देर पहले मेरी पत्नी ने बच्चे के बारे में पूछा था। "मुन्ना कैसा है?" उन्होने कुछ नही कहा। न बोलें, उस से हमारा कुछ बनता-बिगडता नही। हरिहर बीमा की पाँच हजार की पॉलिसी छोड गया था। कजूस की तरह उसी रुपये से किसी प्रकार कनक देवी अपना और अपने बच्चे का पालन-पोषण कर रही हैं। तीन मील दूर एक बस्ती में एक कोठरी में रह रही है।

हरिहर की मृत्यु के साथ साथ इस परिवार से हमारा सम्बन्ध खत्म हो जाना ही उचित था। हाँ, श्राद्ध और तेरही आदि में मैं ने अपनी औकात के मुताबिक इन की सहायता की थी और जीवन-बीमा का रुपया जल्दी से जल्दी दिलाने के लिए मैं ने कई दिन काफी दौड-भाग की थी।

लेकिन इस के बाद फिर क्यो?

हरिहर की विधवा पत्नी और उस के बच्चे की सहायता करना मेरी क्षमता के बाहर है। मेरे चार बच्चे है। वे बडे हो गये है। उन को खिलाना-पिलाना और पढा लिखा कर आदमी बनाना है। प्राध्यापक हूँ। चीजो की कीमतें बढते बढते जैसे आकाश को छूने वाली है। इस मँहगाई में किसी तरह खा पी कर जीवित रहना ही प्राय असम्भव हो रहा है। भविष्य में क्या होगा, यह बताना मुश्किल है। कुजियाँ लिख कर और ट्यूशन कर के भी खर्चा पूरा नही पडता।

इस स्थिति में महीने-दो महीने के अन्तर पर कनक देवी जैसे एकाएक आ कर उपस्थित हो जाती हैं, तब हम—मैं और मेरी पत्नी—बहुत निरुपाय हो जाते हैं। लगता है कि सकट में फँस गये है।

लेकिन यह भी सच है कि आज तक

कभी भी किसी प्रकार की सहायता के लिए उन्होंने हम से कुछ नहीं कहा। इस से परेशानी और भी बढ जाती है। वे कुछ बोलती नहीं। सहायता माँगना तो दूर रहा, उन का स्वास्थ्य कैसा है, बच्चे का क्या हाल है, चार-पाँच बार यह पूछने पर भी वे कोई जवाब नहीं देतीं। यदि कभी-कदाच देती भी हैं तो 'ठीक है', 'चलता है',-जैसी एक एकाध बातें कह कर प्रश्न टाल जाती हैं।

फिर वे क्यों आती हैं? पैदल ही आती हैं। बस या रिक्शा में पैसा खर्च नहीं करतीं। कच्ची सड़क और मैदान पार करती हुई आती है। पहले दिन मेरी पत्नी को बताया था। इस के बाद जितनी बार भी वे यहाँ आयी है, धूल में सने हुए उन के पैर देख कर हम जान जाते हैं कि वे हमेशा पैदल ही आती हैं।

एक दिन जब वे वापस जा रही थीं, मेरी पत्नी उन्हे एक रुपये का नोट देना चाहती थीं ताकि इस कड़ी धूप मे वे बस या रिक्शा मे चली जायें। लेकिन उन्होंने रुपया नहीं लिया। नीरव रहते हुए उपेक्षा दिखायी। मेरी पत्नी को दुःख पहुँचा था। इस के बाद राह-खर्च के लिए फिर कभी कुछ देने की हिम्मत नही हुई।

यह क्या उन का अहंकार है? केवल रिक्शा का किराया दे कर हम ने हरिहर की विधवा पत्नी की सहायता करनी चाही है— कोई अन्य सहायता हम नही दे पा रहे हैं? यदि यही बात है तो हमारे नाराज होने का भी कारण था। रिक्शा के किराये के प्रति उपेक्षा दिखाने मे क्या अपमान का भाव नहीं छिपा था? शायद कभी-कदाच हम छोटी-मोटी मदद कर सकते थे, जैसे उन के लड़के के लिए एक-दो कपड़े खरीद देना। एक बार लड़के को बहुत जोर की खाँसी हुई थी। डॉक्टर और दवा के लिए दो-चार रुपये दिये जा सकते थे। ये मामूली मदद करने मे भी हमें मुश्किल होती, इस में सन्देह नहीं, लेकिन फिर भी वे जिस ढंग से सामने आ कर खड़ी होती हैं, उस मे हमारे लिए एकदम आँखें मूँद लेना सम्भव नहीं होता।

लेकिन कभी भूले-भटके इस तरह की कुछ मदद कर सकूँ—इस का रास्ता भी उन्होंने निर्मम भाव से बन्द कर दिया है। हाँ, नीरव—वे इतना अधिक चुप रहती हैं कि हमें कुछ भी पूछने मे डर लगता है।

इस लिए चुप रहते है। वे आती हैं। आ कर दरवाजे के पास छाया की तरह चुप-चाप खड़ी हो जाती है। इच्छा होती है तो कुछ देर बैठती हैं। और, जितनी देर यहाँ रहती है, विषम व गम्भीर दृष्टि से मेरी गृहस्थी देखती है।

आश्चर्य, हम बहुत सुख में हैं—यही उन की धारणा है!

पहले ही कह चुका हूँ। किसी प्रकार खा-पी कर जीवित रहते है।

हम क्या खाते है, मेरी पत्नी जो साड़ी पहने हुए है उस की क्या कीमत है, मेरे लड़के-लड़की कैसे कपड़े पहन कर स्कूल जाते है, यह सब तो वे अपनी आँखों से देखती है। माना कि आज बस्ती की एक छोटी-सी कोठरी मे वे रहती है। लेकिन जब हरिहर जीवित

था तब वे एक अच्छे फ्लैट में ही रहती थी।

लेकिन मेरे पास जो दो कमरे है उन में हम लोगों की आवश्यकताओ को देखते हुए क्या काफी जगह है? ठमाठस सामान भरा हुआ है। मुझे पढने-लिखने के लिए अलग कमरे की जरूरत है। दोनो लडकियाँ वडी हो गयी है, उन्हें अलग कमरा चाहिए। लेकिन चार-पाँच कमरे का फ्लैट लेने की औकात कहाँ है।

सब-कुछ वे देखती है। इस लिए यदि समझती है कि हम सुखी और स्वार्थी है तो उन का विचार गलत है।

तब क्या यो ही, जिसे आँखो से देखना कहते है, पति के मित्र और उस की घर-गृहस्थी को कुछ दिनो बाद आ कर देख जाती है कि मित्र की पत्नी और बच्चे कैसे है?

लेकिन इस पर ही कैसे विश्वास करूँ।

पति से वे शीतल व्यवहार कर सकती है। लेकिन हमारे यहाँ आ कर उन की यह कठोर नीरवता क्यो? यदि मेरी पत्नी से, मेरे लडके-लडकियों से मिलने आना ही उन का उद्देश्य है तो वे उन के साथ अच्छी तरह बातें करती। सकोचवश मुझ से न वोलती तो न सही।

इस लिए एक रहस्य की तरह था उन का इतनी दूर से पैदल आना और हमारे यहाँ उपस्थित होना—फिर उन का ऐसे चुपचाप खडे या वठे रहना।

मेरी पत्नी को यह सब जरा भी नही सुहाता।

हम लोगो से यदि वे किसी तरह की सहायता की आशा नही करती, यदि वे यह जानती है कि हम क्या खाते-पहनते है, तो फिर इस तरह वे यहाँ अकसर क्यों आती है। हम लोगों से उन का ऐसा कोई रिश्ता भी नही है। हमारे नाते-रिश्तेदार भी इतनी जल्दी-जल्दी नही आते। हाँ, यदि यह मान लिया जाये कि स्वर्गवासी पति के मित्र को, मित्र की पत्नी को, उस के वाल-बच्चो को, बीच-बीच में आ कर देख जाती है, उन की कुशलता की खबर लेती है—यदि यही बात हो तो उन का यह सीमा-लघन ही नही है, बल्कि अनुचित और अवाछित है। मेरी पत्नी ऐसा ही समझती है। यह विधवा युवती एक अन्य पुरुष की घर गृहस्थी में इस प्रकार बार-बार क्यो आती है? इस महिला के कारण अपनी पत्नी की नजरो में जैसे मैं ही अपराधी हूँ।

हालाँकि, उन से आने के लिए मना भी नही कर पाता।

मैं नही कर पाता। मेरी पत्नी भी मना नही कर पा रही है।

बेरुखी का बरताव भी अच्छा नही लगता। लेकिन यह सच है, वे बोलती नही और हम इस का फायदा उठाते है। उन से कम से कम बातें करने की चेष्टा करते है। कभी-कभी तो मैं बिलकुल ही चुप रहता हूँ। मेरी पत्नी 'आइए', 'बैठिए' आदि कह कर सिर्फ शिष्टाचार के नियम का पालन करती है। फिर मौन रहती है।

उस दिन ऐसा ही हुआ। हाँ, इस से कुछ अधिक ही। लडके-लडकियाँ स्कूल चली

गयीं। सिर्फ़ एक बार 'बैठिए' कह कर मेरी पत्नी ने दूसरी ओर मुँह फेर लिया और क्षण-भर बाद ही किसी काम का बहाना बना कर दूसरे कमरे मे चली गयीं। सिर में तेल मलते हुए और कन्धे पर तौलिया डाल कर मैं ने भी तेज़ी से गुसलखाने की ओर क़दम बढ़ाये।

बरामदे मे धूप से तपते हुए सीमेण्ट पर कनक देवी जैसे खड़ी थीं, वैसे ही खड़ी रहीं।

इस से पहले ऐसा कभी नहीं हुआ था।

सिर पर पानी डालते हुए मैं ने सोचा, आज हरिहर की पत्नी अवश्य समझ जायेगी कि हम लोग उस का आना बिलकुल पसन्द नही करते। इस के बाद यदि फिर कभी दूर से भी वे आती हुई नजर आयेंगी तो हम दर-वाज़ा भी बन्द कर सकते हैं।

जान-बूझ कर मै ने देर लगायी! काफ़ी देर तक नहाता रहा। गुसलख़ाने से निकला तो देखा कि पत्नी चौखट पर खड़ी हैं।

"चली गयी?" बहुत ख़ुश हुआ।

पत्नी ने जवाब नही दिया। मुँह फुलाये फ़र्श की मक्खियों को देखती रहीं।

"अब वह नहीं आयेगी।" मैं हँसा। बरामदे की अलगनी पर गीला तौलिया सुखाते हुए बहुत-कुछ स्वगत ही कहा, "आज उसे अच्छा सबक़ मिला!"

"आयेगी! कौन कहता है कि नहीं आयेगी।" पत्नी की तेज़ आवाज़ से चौंका—"अगले शनिवार को फिर आयेगी—कह गयी है।" कहते-कहते उस की आँखें छल-छलाने लगी।

कड़वा घूँट निगल कर और पत्नी के चेहरे पर नजर गड़ाये प्राय: चीखते हुए कहा, "तो तुम ने मना क्यों नहीं किया? क्यों नहीं कहा कि अब फिर कभी यहाँ...."

"मुझे क्या ज़रूरत पड़ी मना करने की? मेरा मकान....या मेरा घर? और, मेरे मना करने पर वह सुनती ही क्यों?" मुँह में आँचल देते हुए पत्नी ने रोना शुरू कर दिया।

सिर चकरा गया। इच्छा हो रही थी कि सड़क पर जा कर किसी मोटर के नीचे दब जाऊँ।

[मई १९६७]

शीर्षकहीन कहानी

•

रवीन्द्र कालिया

वे तीन थे—आर्टिस्ट, फ्रीलांसर और प्रोफेसर। बड़ी दौड़-धूप के बाद उन्हें रँगड़पुरे में एक कमरा किराये पर मिला था, कमरा पहली मंज़िल पर था और नीचे मालिक-मकान अपनी दूसरी बीवी और दो लड़कियों के साथ रहता था। नीचे से बहुत कम रोने की आवाज़ आती थी, आवाज़ के नाम पर ये तीनों कपड़े धोने और मसाले कूटने की आवाज़ के आदी हो चुके थे। पिछले कई महीनों से मालिक-मकान ने किराया बढ़ाने की बात नहीं छेड़ी थी, क्योंकि प्रोफेसर हर महीने की पहली तारीख़ को भाड़ा चुका देता था और इन तीनों को मालिक-मकान की किसी लड़की का नाम मालूम नहीं था और न ही इन में से कोई पानी लेने के बहाने नीचे जाता था। मगर फ्रीलांसर प्रयत्न न करता तो शायद इन्हें यह भी पता न चलता कि मालिक-मकान की कितनी लड़किया और कितनी टैक्सियाँ हैं।

फ्रीलांसर सुबह उठने का आदी था और जब तक आर्टिस्ट और प्रोफेसर उठते, वह प्रोफ़ेसर का अख़बार चाट जाता और केतली पर चाय का पानी चढ़ा देता। उस ने मन ही मन में तय कर रखा था कि नौकरी मिलते ही वह चाय बनाने का यह धन्धा छोड़ देगा और पहले की तरह ढाबे से चाय का प्रबन्ध कर देगा। दरअसल ये एक ही ढाबे से खाना और चाय वग़ैरह मँगवाते थे, जिस का नतीजा यह निकला कि जल्दी ही तीनों को अपने रास्ते बदलने पड़े। उन की आर्थिक स्थिति का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि उन तीनों के एक ही तौलिया और साबुन की एक ही टिकिया थी, जो घिस-घिस कर इतनी पतली हो चुकी

थी कि अगर हाथ से फिसल जाती तो उठाना मुश्किल हो जाता। उन के पास साबुन खरीदने लायक़ पैसे होते भी तो वे साबुन खरीदने की बजाय कोकाकोला पी लेते और घर लौट कर बातों-ही-बातों मे प्रोफ़ेसर की खाट पर सो जाते, क्योंकि प्रोफ़ेसर का बिस्तर काफ़ी आरामदेह था और उस में ढूँढ़ने पर भी खटमल नहीं मिलते थे। यह उन बहुत-सी बातों मे से एक बात थी, जिसे प्रोफ़ेसर की प्रेमिका ने कभी पसन्द नहीं किया कि प्रोफ़ेसर के बिस्तर से सिगरेट की बू आये। अपनी प्रेमिका से प्रेरणा ले कर प्रोफ़ेसर दिन-भर कमरे में धूप जलाने लगा, जिस का पता चलते ही आर्टिस्ट खिड़कियाँ खोल देता और प्रोफ़ेसर के जाते ही सीढ़ियों पर रख आता। कुछ ऐसी ही बातों को ले कर एक बार तीनों की प्रेमिकाओं में झगड़ा होते-होते रह गया था, जो ग़लती से कमरे में इकट्ठी हो गयी थी। तब से तीनो लड़कियों को एक-दूसरी से वितृष्णा हो गयी और हरेक को शक है कि बाकी दोनों कुँआरी नहीं हैं। आर्टिस्ट और फ़ीलांसर ने लड़कियों की ऐसी बातों की ओर कभी ध्यान भी नहीं दिया। वे अकसर कहा करते हैं कि प्रोफ़ेसर, लड़की कोई भी बुरी नहीं होती, अगर वह अपने को गुप्तरोगों से बचाये रह सकती है। एक दिन वे दोनों ऐसी ही एक लड़की को स्टेट्समैन के बस-स्टाप से पकड़ लाये थे। प्रोफ़ेसर लड़की को देखते ही नमस्कार की मुद्रा में खड़ा हो गया था। जब उसे असलियत का पता चला तो उस के कान सुर्ख़ हो गये और वह बच्चों की तरह झेंपने लगा। यह दूसरी बात है कि थोड़ी देर बाद जब उस की घबराहट दूर हो गयी तो प्रोफ़ेसर ने भी अपने हिस्से के पैसे दे दिये। अपने हिस्से के ही नहीं, बल्कि फ़ीलांसर के भी। आर्टिस्ट नहीं चाहता था कि फ़ीलांसर के भी पैसे खर्च हों। उस ने प्रोफ़ेसर से इतने पैसे ऐंठ लिये कि फ़ीलांसर खिड़की के पास खड़ा देर तक गुनगुनाता रहा। नौकरी की तलाश में वह अपनी तमाम जमा-पूँजी बसों के किरायों और सिगरेट-पानी पर खर्च कर चुका था। नौकरी के नाम पर उसे हनुमान-चालीसा और इसी तरह की दूसरी छोटी-छोटी पुस्तिकाओं के प्रूफ-संशोधन का काम मिला था; और मिला था टार्जन-सीरीज के कुछ उपन्यास लिखने का काम, जिन की वजह से वह पूरे चावड़ी बाजार में 'टार्जन साहब' के नाम से पुकारा जाता था। पिछले दिनों वह प्रोफेसर की सहायता से ड्रामा के एक स्कूल मे भी इण्टरव्यू दे आया था, चुन लिये जाने पर जहाँ से दो सौ रुपये प्रतिमास मिलने की उम्मीद थी। प्रोफ़ेसर ने उस के लिए पूरी कोशिश की थी, क्योंकि वह चाहता था कि आर्टिस्ट की तरह फ़ीलांसर भी कम से कम अपने हिस्से का भाड़ा देने की स्थिति में आ जाये। इण्टरव्यू से पहले प्रोफ़ेसर ने उस से पूछा था, "आप का प्रिय नाटककार कौन है?"

"आयनेस्को।"

"उस के कौन-कौन से नाटक आप ने पढ़े है?"

"एमेडी, द' चेयर्स, द' सन, रहाइ

स्नो रिसेस"

"साले, रहाइ स्नो रिसेस नही, रहाइनो सरस।" प्रोफेसर ने कहा, "पाँच बार दुहराओ, रहाइनो सरस रहाइनो सरस।"

फ्रीलासर 'रहाइनो सरस' दुहराता हुआ बस में बैठ गया था। तीन बजे जब वह इण्टरव्यू दे कर निकला तो आर्टिस्ट और प्रोफेसर उसे घास पर बैठे नजर आ गये।

"कैसा रहा?"

"रहाइनो सरस।" फ्रीलासर बोला। उसे फ्रीलासर नाम आर्टिस्ट ने दिया था। जिस दिन से वह चावड़ी बाजार से काम लाने लगा था, आर्टिस्ट उसे फ्रीलासर कह कर पुकारने लगा था, जब कि पहले वह फ्रीलासर को दूसरों से इस तरह मिलाया करता था—"ये हैं मेरे दोस्त ईश्वर दयाल, दो सौ रुपये ले कर दिल्ली में संघर्ष करने आये हैं।" फ्रीलासर के बारे में प्रोफेसर की राय भी उस दिन बदल गयी, जब वह अपने साथ लोहे के एक व्यापारी की बेटी को ले आया, जो हायर सैकेण्डरी स्कूल में पढ़ाती थी और फ्रीलासर से ज्यादा चुस्त और सुंदर थी। यह फ्रीलासर के प्रेम की ही करामात थी कि कुछ दिनों बाद ही घर में एक बाल्टी, तवा, चिमटा और सड़सी-जैसी चीजें नजर आने लगीं। बाल्टी आ जाने के बाद आर्टिस्ट ने भी नहाना शुरू कर दिया, जिस के बारे में मशहूर था कि वह बैसाखी और दीवाली पर ही नहाता है। चिमटे और तवे का उपयोग भी उसी ने किया था। तवे से वह रंगों की तश्तरी का काम लेने लगा और दीवार पर छिपकली देखते ही उस के हाथ चिमटे पर चले जाते। कैनवास और रंग वगैरह खरीदने के खयाल से उस ने एक प्रकाशक के यहाँ पार्ट-टाइम नौकरी भी कर ली थी, परन्तु इस से पूर्व कि वह रंग और कैनवास लाता, उस के पैसे अपनी प्रेमिका के साथ किसी रेस्तराँ के अँधेरे कोने में बैठने पर खर्च हो जाते। जो थोड़े-बहुत पैसे बचते उस से फ्रीलासर के सिगरेट का खर्च भी मुश्किल से निकल पाता।

जिस दिन समाचार मिला कि फ्रीलसर को ड्रामे के स्कूल में दाखिला मिल गया है, आर्टिस्ट, प्रोफेसर और फ्रीलासर—तीनों कमरे में जोर-जोर से 'रहाइनो सरस' 'रहाइनो सरस' चिल्लाने लगे। फ्रीलासर को ड्रामे और इण्टरव्यू के नाम पर केवल 'रहाइनो सरस' याद था और जब कभी भी तीनों में-से कोई किसी उलझन में फँस जाता, या प्रसन्न होता तो 'रहाइनो सरस' 'रहाइनो सरस' बुदबुदाने लगता। फ्रीलासर के दाखिले की सबसे ज्यादा खुशी प्रोफेसर को हो रही थी क्योंकि फ्रीलासर कहीं जाने की बजाय घर में बैठ कर टार्जन-सीरीज के उपन्यास लिखता रहता था और प्रोफेसर की प्रेमिका दरवाजे से ही लौट जाती थी। प्रोफेसर को मालूम था कि उस की प्रेमिका यह जानने हो फिर से कमरे में आने लगेगी कि अब फ्रीलासर चौबीसों घण्टे घर में नहीं रहता। प्रोफेसर आर्टिस्ट और फ्रीलासर के जाते ही कमरे की सफाई करने लगता और कॉलेज से लौटते ही

बिस्तर पर नया बेड-कवर बिछा देता और धूप वग़ैरह जला कर खिड़की मे खड़ा हो कर आशिकाना अन्दाज मे अपनी प्रेमिका की प्रतीक्षा करने लगता। ऐसे में एक दिन अचानक उस की प्रेमिका के बजाय फ़्रीलांसर ह्विस्की पी कर चला आया। आते ही उस ने प्रोफ़ेसर की नयी शीट पर कै कर दी और देवदास बना कालिदास का संवाद दुहराने लगा—"...लगता है तुम ने अपनी आँखों से इन कोरे पृष्ठों पर बहुत-कुछ लिखा है।...ये पृष्ठ अब कोरे कहाँ हैं मल्लिका? इन पर एक महाकाव्य की रचना हो चुकी है...अनन्त सर्गो के एक महाकाव्य की।...कैसा संवाद है प्रोफ़ेसर, है कि नही, एकदम मस्त! प्रोफ़ेसर, क्या अब समय नही आ गया है कि हम तीनों अपनी-अपनी प्रेमिकाओं को ले कर बुद्धा-जयन्ती पार्क चलें और टैक्सी मे चलें!"

प्रोफ़ेसर ने जल्दी से चादर उठा कर एक कोने में रख दी और अपने कपड़ों में से नयी चादर ढूँढने लगा। वह एक नज़र अपने गन्दे बिस्तर पर डालता और एक नजर दरवाज़े पर।

"कैसे घबरा गये दोस्त, तुम्हारी शीट खराब हो गयी? तुम नहीं जानते, इन पर महाकाव्य की रचना हो चुकी है...अनन्त सर्गो के एक महाकाव्य की...बोलो, कब चलोगे बुद्धा जयन्ती पार्क?" फ़्रीलांसर बोला।

"पहले तुम्हे अपना टूथ ब्रश खरीदना चाहिए।" प्रोफ़ेसर बोला, "वह इतना गन्दा हो चुका है कि मै उस से अपने बूट भी साफ़ नही कर सकता।"

"शट अप!" फ़्रीलांसर बोला, "मुझे उस व्यक्ति से नफ़रत है जो अपनी प्रेमिका के खत एकान्त में पढ़ता है।"

आर्टिस्ट वहाँ नहीं था। वह होता तो इसी बीच डाकिये की तरह दरवाजा खटखटा कर कोई पुरानी चिट्ठी फेंक देता। जब प्रोफ़ेसर दरवाजे की ओर भागता तो दोनों हँस पड़ते।

"मुझे इस मनहूस जगह मे रहना ही नही है।" प्रोफ़ेसर बोला, "मै जल्दी ही अपने लिए नया घर ढूँढ़ने वाला हूँ।"

"ब्रोक्रेज तुम्हारा बाप देगा।" फ़्रीलांसर बोला, "यह तभी हो सकता था अगर तुम्हारी माशूक खर्चीली न होती।"

"आप लोगों के धोबी का बिल चुकाते रहने से अनाथालय मे दान दे देना कही अच्छा है।" प्रोफ़ेसर बोला।

"तुम कहीं भी जा कर रहने लगो, चिट्ठियाँ तो हम ने तुम्हारी पढ़ ही ली है।" फ़्रीलांसर ने प्रोफेसर को सताने का अचूक तरीक़ा इस्तेमाल किया।

प्रोफ़ेसर का रंग सुर्ख हो गया, हस्बेमामूल वह जमीन पर पैर पटकने लगा।

"मगर प्रोफ़ेसर, इस में दु:खी होने की कोई बात नहीं। तुम ने शायद यह सोच कर चिट्ठियाँ ताले मे रख दी थीं कि हमें पता चल जायेगा कि तुम्हारी माशूक की 'आण्टी' दो मास से नहीं आयी।" फ़्रीलांसर ने एक और रद्दा जमाया। 'आण्टी' एक नया शब्द था जो आर्टिस्ट ने अपनी प्रेमिका से सुन कर इन

लोगों में प्रचलित किया था ।

प्रोफेसर खाट के नीचे घुस कर अपनी चप्पल ढूँढने लगा, उस ने चप्पल पहनी और फ्रीलासर की ओर देखे वगैर कमरे से वाहर निकल गया ।

"तुम चाय पी कर लौट आओगे सिद्धार्थ !" फ्रीलासर अपने नाटकीय अन्दाज़ में बोलता गया, "जब तुम्हें भूख लगती है, तुम रूठ कर चले जाते हो । मेरे पास दरियागज जाने तक का भी किराया नही है, किराया तो देते जाओ !"

प्रोफ़ेसर कमरे से निकल वस-स्टॉप पर जा कर खडा हो गया । फ्रीलासर कमरे में टहलता-बुदबुदाता रहा—"माशूक की तारीखो को ले कर जो आदमी परेशान रहे, वह बच्चो को खाक पढा सकता है । लगता है, तुम ने अपनी आँखों से इन कोरे पृष्ठों पर वहुत-कुछ लिखा है । ये पृष्ठ अब कोरे कहाँ हैं मल्लिका ? इन पर एक महाकाव्य की रचना हो चुकी है । • "

फ्रीलासर ने बुदबुदाते हुए प्रोफेसर की सारी रद्दी इकट्ठी कर ली और वनिये के पास दो रुपये तीस पैसे में वेच दी । फिर वह तीखी धूप में खडा हो कर वस का इतजार करने लगा । प्रोफेसर स्टॉप पर नहीं था ।

दरियागज उतर कर फ्रीलासर ने एक पान खरीदा और उसे बँधवा कर जेब में रख लिया । पान वाले से ही पानी ले कर उस ने अपना रूमाल भिगोया और दूकान पर लगे आईनो में देखते हो अपना मुँह रगडने लगा । पान खाने से पहले उस ने जेब से एक स्याही चूस निकाला और मुँह में रख कर चबाने लगा । स्याही चूस थूक कर उस ने कुल्ला किया और पान चबाते हुए अपनी प्रेमिका के स्कूल की तरफ़ चल पडा । अब उसे विश्वास हो गया था कि उस के मुँह से ह्विस्की की वू नही आ रही । स्कूल में छुट्टी हो चुकी थी । अपनी प्रेमिका उसे कही नज़र नहीं आयी । उसे अफसोस होने लगा कि प्रोफेसर की रद्दी वेच कर दरियागज आने की अपेक्षा वह घर में सो सकता था । अब उस के सामने एक ही विकल्प रह गया था कि या तो वह आर्टिस्ट को फोन कर के वुला ले या उस के दफ़्तर चला जाये । आर्टिस्ट को फ़ोन करने या आर्टिस्ट के पास पहुँचने में वह पन्द्रह पैसे खच कर भी देता, मगर आर्टिस्ट के पास पहुँचने का एक ही अर्थ था—मैनेजर का उस की ओर लगातार घूरते रहना और आर्टिस्ट की छुट्टी के वाद उस के साथ फुटवाल का मैच देखने जाना । फ्रीलासर को ये दोनों वातें पसन्द नही आयीं । सडक पर चलते हुए भी उसे एहसास हो जाता कि उस की तरफ़ कोई घूर रहा है तो वह वही खडा हो जाता है, उस के पैरों में शक्ति नही रहती । उस ने सोचा, वह अभिनय कैसे कर पायेगा ?

"सवाद याद होंगे तो अभिनय हो ही जायेगा ।" उस ने जल्दी-जल्दी में कहा और दूर से एक वस को आते देख कर स्टॉप की ओर लपका । इस से पहले कि वह स्टॉप तक पहुँचता, उसे अपनी प्रेमिका-जैसी कोई लडकी दिखाई दी, जो सडक की दूसरी ओर एक ठेले वाले के पास खडी कुछ खा रही थी ।

फ़्रीलांसर ने सड़क पार कर के देखा, वह लड़की उस की प्रेमिका ही थी और तन्मय हो कर गोलगप्पे खा रही थी। फ़्रीलांसर भी वहीं जा पहुँचा और अपनी प्रेमिका के साथ-साथ गोल-गप्पे खाने लगा।

गोलगप्पे खाने के बाद उस ने अपनी प्रेमिका से पूछा कि वह गोलगप्पे क्यों खा रही थी।

फ़्रीलांसर की प्रेमिका ने पैसे चुकाये और बोली, "तुम्हारे इन्तज़ार में और क्या कर सकती थी ?" सी-सी करते हुए उस ने कहा, "आज चटनी बहुत तेज़ थी।"

"कहाँ जाओगी ?" फ़्रीलांसर ने पूछा।

"जहाँ तुम कहोगे।" फ़्रीलांसर की प्रेमिका ने उत्तर दिया।

"तुम्हारी जेब में कितने पैसे हैं ?"

"गोलगप्पों के पैसे देने के बाद दो रुपये बचेंगे।"

"घर चलें ?"

"वहाँ प्रोफ़ेसर होगा और आर्टिस्ट। मैं वहाँ कभी नहीं जाऊँगी।"

"तुम्हारे घर चलें ?"

"अगर मम्मी लौट आयी ?"

"मम्मी आज तक कभी पाँच बजे से पहले लौटी भी है ?" फ़्रीलांसर ने कहा, "मैं हर हालत मे चार बजे चल दूँगा।"

फ़्रीलांसर एक केमिस्ट की दूकान में घुस गया। जब वह लौट कर आया, उस की प्रेमिका स्कूटर में बैठी उस की राह ताक रही थी।

"मै तो सोचता था, तुम मुझे बस की क्यू में खड़ा कर दोगी।" फ़्रीलांसर ने कहा।

फ़्रीलांसर की प्रेमिका मुसकरायी, स्कूटर उस ने घर से कुछ ही फ़ासले पर छोड़ दिया। गली में पहुँच कर उस ने इधर-उधर देखा, फाटक खोल कर घर में घुस गयी और फ़्रीलांसर पिछवाड़े से।

"पापा कहते थे, तुम्हें अपनी फ़र्म में काम दिलवा देंगे।"

फ़्रीलांसर की प्रेमिका ने फ़्रीलांसर के हाथ में पानी का ग्लास थमाते हुए कहा।

"मुझे काम नहीं चाहिए, मुझे बियर चाहिए, पापा से कह देना।"

"तुम्हारे दो सौ रुपयों से घर चल जायेगा ?" फ़्रीलांसर की प्रेमिका ने पूछा।

"मुझे घर भी नहीं चाहिए।" फ़्रीलांसर ने कहा और टार्जन की तरह अपनी प्रेमिका को उठा कर ले गया।

"यहाँ नहीं, यह ममी-डैडी का बिस्तर है।" फ़्रीलांसर की प्रेमिका बोली।

"तुम्हारे ममी-डैडी तख्तपोश पर क्यों सोते हैं ?" फ़्रीलांसर को गरमी लग रही थी, उस ने उठ कर पंखा खोल दिया, उस की प्रेमिका भी उठ कर परदों की सलवटें खोलने लगी।

फ़्रीलांसर के पास समय बहुत कम था। उस ने आव देखा न ताव, अपनी प्रेमिका को मुर्ग़ी की तरह वहीं दबोच लिया।

"तुम्हारे मुँह से पेट्रोल की बू आ रही है, तुम ने शराब पी है ?" फ़्रीलांसर की प्रेमिका ने पूछा।

"मैं ने पैट्रोल-पम्प में नौकरी कर ली

है ।" फ़ीलासर ने कहा । वह गुफ्तगू के मूड में नही था । मुर्गों की तरह ही, बहुत जल्दी पर फडफडा कर वह सफाई से अलग हो गया तो प्रेमिका उस की ओर हताश हो कर ऐसे स्कूटर वाले की तरह देखने लगी जिस की सवारी को मीटर पढना आता हो । फ़ीलासर अपनी प्रेमिका की माँ की ड्रेसिंग टेबिल के सामने बैठ कर, आईने में घूरते हुए, कह रहा था, "मैं ने नौटकी में हिस्सा लेने के लिए एम० ए० किया था या तवे-चालटियो का व्यापार करने के लिए ? मैं ने क्यो किया था एम० ए० मल्लिका ? ये पृष्ठ अब कोरे कहाँ हैं ? इन पर एक महाकाव्य की रचना हो चुकी है । अनन्त सर्गों के एक महाकाव्य की ।"

फ़ीलासर की प्रेमिका का ध्यान फ़ीलासर की बातों की तरफ नही था । उस ने तकिया हटा कर चादर के नीचे कर दिया और अपनी हथेलियो से चादर की सलवटें ठीक करने लगी ।

"पापा से मिलने कब आ रहे हो ?"

"सोचता हूँ, अब आया हूँ तो मिलता हो जाऊँ ।" फ़ीलासर बोला ।

"नहीं, मेहरबानी करो । जितनी जल्दी हो सके जाने की कोशिश करो ।" फ़ीलासर की प्रेमिका ने कहा, "इस इतवार को हम लोग तुम्हारा इन्तजार करेंगे, आओगे न ।"

"आ जाऊँगा, आर्टिस्ट और प्रोफ़ेसर को भी लेता आऊँगा ।" फ़ीलासर ने कहा और पिछवाडे से ही बाहर निकल गया ।

घर में न प्रोफ़ेसर था, न आर्टिस्ट । एक कोने में बिस्तर समेत, प्रोफ़ेसर का सारा सामान बँधा पडा था । फ़ीलासर की रीढ के नीचे सरसराहट-सी हुई । कमरे के इकलौते मोढे पर बैठ कर वह प्रोफ़ेसर और आर्टिस्ट का इन्तजार करता रहा । फिर उस ने बिजली की गति से सारा सामान खोल कर अपनी-अपनी जगह जमा दिया । कोने में जो गन्दी शीट पडी थी, वह उसे धोबी को दे आया और प्रोफ़ेसर का बिस्तर बिछा कर जूतों समेत उस पर सो गया ।

[मई १९६७]

त्रिकोण

•

कृष्णबलदेव वैद

अचानक मेरे मुँह से निकल गया—"सुनो, मैं बरसों से तुम्हारे लिए तड़पता चला आ रहा हूँ।"

मेरा लहजा और मेरे शब्द एक नंगी मुसकराहट मे लिपटे हुए थे। मुझे उन के बासी-पन पर शर्म शायद महसूस होती, लेकिन वाक्य मुँह से निकलते ही मेरा जिस्म एकदम झनझना उठा था, गोया मैं ने भीड़ में किसी औरत की छातियों को दबा दिया हो, या किसी दुकान से कोई बेकार चीज उठा कर जेब मे डाल ली हो। ये दोनों हरकतें मैं चन्द एक बार कर चुका हूँ, लेकिन किसी के लिए बरसों से तड़पते चले आने का दावा करने का वह पहला मौक़ा था। मुझे बहुत अच्छा महसूस हुआ। महसूस हुआ, किसी बर्फ़ को तोड़ डाला हो। लेकिन मेरी आँखें झुकी रहीं कि मुझे अन्देशा था, वह मुसकरा रही होगी या लजा रही होगी, या फिर गहरी निगाहों से मेरी तरफ़ देख रही होगी। मैं अपने अन्देशों को आज़माइश नहीं करना चाहता था। मै अपने जिस्म को झनझनाहट महसूस कर रहा था, और अपने डर की तपिश।

वह मेरे एक बहुत क़रीबी दोस्त की बीवी थी। ख़ूबसूरत, लेकिन इतनी ही जितनी कि एक बहुत क़रीबी दोस्त की बीवी हो सकती है। हर तीसरे-चौथे रोज़ उन से मुलाक़ात होती रहती थी। अनगिनत बार अकेले होने का अवसर भी मिल चुका था। और कई बार इधर-उधर घूमने का भी। यह भी नही कि उस रोज़ से पहले कभी उस के बारे में जिस्म मे कोई ख्वाहिश न उठी हो। ख्वाहिश किस औरत के बारे मे नहीं उठती। ख़ुद अपनी बीवी के लिए भी तो कभी-कभी जिस्म बेहाल हो ही जाता है। यह भी नही कि मेरी बीवी बदसूरत या बदमिज़ाज़ या निपट घरेलू हो, या उस में कोई इतनी बड़ी या ऐसी खामियाँ हों

जो दूसरी साधारण औरतो में नही होती, और जिन से मन ही मन वरसो तक असन्तुष्ट रहते चले आने के बाद उस रोज अचानक मैं ने अपने दोस्त की बीवी से इतना भारी और बासी झूठ बोल दिया हो। जो भी हो, बात मुँह से निकल चुकी थी, मैं अपने जिस्म की झनझनाहट महसूस कर रहा था, और अपने डर की तपिश, और उस के जवाब का इतजार।

"बरसो से ?" वह बोली।

अब मुझे याद नही कि उस का लहजा कैसा था।

"हाँ,पिछले पाँच बरसो से।" मैं ने कहा, मानो एक एक दिन का हिसाब कर रखा हो।

पाँच बरस पहले मैं ने उसे पहली बार देखा होगा, जब शायद उस की शादी नयी-नयी हुई थी और उस से हमारी दोस्ती भी।

इस तरह बिला झिझक किसी भी सवाल का जवाब दे पाना मेरे लिए मुश्किल होता है। अब मेरी निगाहें उस के पाँवो से उठ कर हाथो पर जा टिकी थी। वे हाथ मुझे देख रहे थे और उन का रग बदलता चला जा रहा था।

अगर मैं ने उस के सवाल का जवाब खामोशी से दे दिया होता तो बात शायद वही से खत्म हो जाती। अगर मेरे जवाब के जवाब में वह हँस दी होती तो भी शायद मैं टल जाता। अगर उस समय मेरा दोस्त या मेरी बीवी आ धमकती तो शायद मैं खामोश खडा रहता और मेरे डर का रूप बदल जाता। अगर उस ने मेरे झूठ को झँझोड कर कह दिया होता—'देखो, बकवास मत करो।' तो मैं शायद खिसिया कर हँस देता। यह तो मैं शायद तब भी न कह पाता कि बिगडो मत, मैं तो मज़ाक-मज़ाक में तुम्हारा इम्तिहान ले रहा था। मैं उस समय उस का इम्तिहान ले रहा था न अपना। यह भी नही कि मैं ने कभी उस से ऐसा वैसा मज़ाक न किया हो या सिर्फ़ अपने दोस्त या अपनी बीवी के सामने ही किया हो। कहना मुश्किल है कि क्यो, लेकिन उस रोज से पहले कभी वैसी झनझनाहट उस के बारे में महसूस नही हुई थी, हालाँकि वह उस समय रात के खाने का सामान ठीक कर रही थी, और उस का लिबास सादा और घरेलू था। यह भी नही कि मेरे भीतर कहीं गहरे में घरेलू लिबास और रसोई में उलझी हुई सीधी-सादी औरतों के लिए कोई पुरानी दबी-घुटी ख्वाहिश हो। असलीयत यह है कि वह सीधी सादी औरतो में से नही। लेकिन इस से यह अन्दाजा लगा लेना भी ग़लत होगा कि मुझे पेचीदा औरतें पसन्द है।

असलीयत कुछ भी क्यो न हो, हुआ यह कि पाँच बरसो से उस के लिए तडपते चले आने का दम भर लेने के साथ ही मैं ने आगे बढ कर, बडे आराम से, उसे परे हट जाने या चिल्ला उठने का समय देते हुए, उस के जिस्म को अपनी बाँहो में कस लिया। वह कसमसायी नही, लेकिन वह कसाव एकतरफ़ा था। उस कमी को नज़र-अन्दाज करते हुए मैं ने उस के होठो को अपने होठो से टटोलना-खोलना शुरू कर दिया, और मेरी आँखें बन्द हो गयी। फिर मैं ने उस के बदन को सख्त

होते, पिघलते, महसूस किया, और मेरा तनाव और बढ़ गया। उस समय अगर ग़लती से मेरी आँखें न खुल जातीं तो मुझे उस की खुली आँखों में अविश्वास और संकोच के काँच चमकते दिखाई न देते। और मुझे ग़ुस्सा आता न यह ख़्वाहिश होती कि उसी समय उन काँचों को चूर-चूर कर दूँ या उस सारी स्थिति को! चिल्ला-चिल्ला कर कहूँ कि मैं ने झूठ बोला था, कि मैं कभी किसी के लिए तड़पा हूँ न तड़पना चाहता हूँ, कि उस बकवास का कोई मतलब नही था, कि किसी भी बकवास का कोई मतलब नहीं होता, कि सब सच दरअसल झूठे होते है, कि सब झूठ किसी हद तक सच्चे होते है, और न जाने क्या-क्या बक डालने की ख़्वाहिश हुई थी।

लेकिन मेरा जिस्म जल रहा था, और कुछ ही क्षणों मे मेरा ग़ुस्सा भी जल कर राख हो गया होगा। मैं नहो कह सकता क्यों, लेकिन अब उस की आँखें बन्द थीं, और उस के होंठ प्रस्तुत थे। उस के बालों में से सूखी घास की-सी ख़ुशबू आ रही थी, और यह याद करने पर कि वह मेरे एक बहुत क़रीबी दोस्त की बीवी है, कि मेरा दोस्त किसी भी क्षण बाहर से वापस आ सकता है, मुझे बहुत डर महसूस हुआ था, और मैं ने उसे और सख़्ती से कस लिया था....

अब वे सब काँच चकनाचूर हो चुके थे। उस के मुँह से भूखी-सूखी आवाज़ें निकल रही थीं। मेरा झूठ और मेरी शर्म मर चुके थे। हमारे जिस्म एक-दूसरे को मथ रहे थे। वह कोई भी औरत हो सकती थी और मै कोई भी मर्द। हम कहीं भी हो सकते थे। उस समय कोई भी आ सकता था, कुछ भी हो सकता था। हमारे जिस्म बाग़ी हो चुके थे।

•

•

जिस्म की बग़ावत मेरे लिए नही। ऐसी बात शायद पुरुष ही सोच सकता है। मैं इतना जानती हूँ कि अगर मैं ने उसे प्रोत्साहन न दिया होता तो उसे वह झूठ बोलने का साहस न हो पाता जिस के आधार पर शायद उस ने सोचा हो कि वह उस शाम मेरे साथ सफल हो सका था। यह भी नहीं कि मै एक अरसे से उस के बारे में कोई ख़्वाहिश पालती चली आ रही थी। यह भी नहीं कि उस शाम मैं ने उस पर दया कर दी हो। इतना ज़रूर है कि अगर उस की जगह कोई हँसता-खेलता, हट्टा-कट्टा उद्दण्ड पुरुष होता तो मैं उसके पहले इशारे पर ही भड़क उठती। यह नही कि मुझे हँसते-खेलते आदमी पसन्द नहीं। मेरा अपना पति बहुत हँसोड़ है, और मुझे उस से कोई ख़ास शिकायत नही। सिर्फ़ शारीरिक तृप्ति की बात मै नही कर रही। मेरा शरीर तृप्त है। लेकिन उस का महत्त्व मेरे लिए अब इतना नहीं रहा जितना कि शायद पहले कभी रहा हो। अब उस की आदत-सी बन गयी है। यह भी नही कि अब मुझे उस में कोई दिलचस्पी न रही हो। मैं न जाने क्या कहना चाहती हूँ। शायद यही कि यह जानते हुए भी कि वह झूठ बोल रहा था, मैं ने उस की बात पर हैरान होने, उस पर विश्वास कर लेने का अभिनय किया था।

शरीर पर सयम मेरा था, शायद इसी लिए मैं उसे भरमा सकने में सफल हुई थी। उस ने शायद यही समझा हो कि उस के सरासर झूठ और उस के खौलते हुए तनाव ने मुझे गरमा दिया होगा। सचाई यह है कि मैं करीब करीब सारा समय अपने पति के बारे में ही सोचती रही थी। मेरे पति को मुझ पर विश्वास है। शायद उस पर भी हो। मजाक की बात दूसरी है। मजाक में मेरा पति अपने हर दोस्त पर शक करता है। शायद मुझे खुश करने के लिए। या शायद इस लिए कि अब और बातें आपस में कम हो पाती हैं। मैं अपने सम्बन्धों की एकरसता की शिकायत नही कर रही। सभी सम्बन्ध कुछ समय बाद एकरस हो ही जाते हैं। यह भी नही कि मैं आँखें बन्द किये उस की बजाय अपने पति को अपने साथ देख रही थी या उन दोनो का आपस में मुकाबला कर रही थी। मेरी आँखें बन्द थी लेकिन मैं एक क्षण के लिए भी नही भूल पायी कि वह मेरे पति का दोस्त है, कि उस की अपनी पत्नी है, कि उस की पत्नी से अगर मेरी दोस्ती नही तो दुश्मनी भी नही, कि अगर मेरा पति उस समय आ कर हमें पकड ले तो उसे बहुत चोट पहुँचेगी। हर पत्नी कही-न-कही अपने पति को गहरी चोट पहुँचाने की ख्वाहिश दबाये रहती है। जरूरी नही कि उसे कोई खास शिकायत हो, या किसी दूसरे आदमी से कोई खास लगाव। मुझे अपने पति से कोई खास शिकायत नही, न ही उस के दोस्त से कोई खास लगाव ही है। उस के बारे में उस शाम से पहले कोई स्वप्न बुने हो, ऐसी बात भी नही। मेरा ज्यादा समय स्वेटर बुनने में ही बीत जाता है, और यह ठीक भी है। अपने पति को चोट पहुँचाने की ख्वाहिश का आभास भी मुझे साफ तौर पर उसी समय हुआ था जब मैं उस की बाँहो में कस ली गयी थी। आँखें बन्द कर के मैं ने अपने-आप को उस स्थिति में देखे जाने की कल्पना की थी, और डर से मेरा शरीर उत्तेजित हो उठा था। निवारण किया जाना मुझे अच्छा लगा था। मेरी आँखें बन्द थी, और मुँह से आवाजें निकल रही थी, और मैं बराबर इस इतजार में थी कि ऊपर से मेरा पति आ जाये। यह सोच कर ही मैं बेकाबू हो सकी थी। मैं देखना चाहती थी कि मुझे उस स्थिति में देख कर वह कैसे पथरा जायेगा, फिर कैसे उस की हैरानी गुस्से में बदलती जायेगी, फिर उस के गुस्से का विस्फोट किन शब्दों और किस हरकत में होगा, मैं उस पर हँस सकूँगी या नही। मैं ने उन मस्ती के क्षणो में बाद की कल्पना भी की थी—कितने दिनों तक कितनी बार मुझ से पूछता रहेगा, मैं उसे कभी कुछ बताऊँगी और कभी कुछ, अगर मुझे गर्भ हो गया तो उस सन्तान के बारे में उस का रुख क्या होगा, कभी मरने से पहले मैं अपने उस बच्चे को सच्ची बात बता सकूँगी या नही। मैं ने उस थोडे-से समय में बहुत दूर तक सोचा था, और मेरा शरीर प्रस्तुत और व्याकुल और अन्त में शान्त हो सका था। साथ ही मुझे अपने पति से सुनी एक घटना याद आ गयी थी। कुछ ही दिन पहले उस ने

बताया था कि एक आदमी ने अपनी पत्नी को किसी ग़ैर आदमी के साथ ऐन मौके पर पकड़ लिया था, जब कि वे दोनों बुरी तरह तड़प रहे थे, एक साथ दूसरे से कहे जा रहे थे—आओ, आओ, आओ !—और वह पति सुन्न खड़ा सब देखता-सुनता रहा था और जब दोनों अलग हुए थे तो पति ने मेज़ पर पडा एक गुलदस्ता उठा कर फर्श पर दे मारा था, और कमरे से बाहर निकलते समय उसे अपनी पत्नी की हँसी सुनाई दी थी।

यह सोचते-सोचते मैं दूसरी बार के लिए तैयार हो चुकी थी, और जब उस ने कहा था—"सुनो, अब हमें उठ कर सँभल जाना चाहिए"—तो मुझे खूब हँसी आयी थी।

जिस्म की बगावत मेरे लिए नही।

कहा जा सकता है कि मै बहुत विकृत हूँ, कि मैं भीतर कही अपने पति से असन्तुष्ट हूँ, कि उस से कोई शिकायत न होने की बात ग़लत है। कहा कुछ भी जा सकता है। मैं कोई सफाई पेश नहीं करना चाहती इतना जानती हूँ कि उस शाम जो हुआ उस से मै खुश हूँ, क्षुब्ध नही। मै किसी अपराध-भाव से पीड़ित नही। जो हुआ ठीक ही हुआ और यह सोच कर कि मेरे पति को कुछ मालूम नहीं कि मैं कभी भी उसे बता कर तड़पा सकती हूँ, कि मैं कभी भी उसे नही बताऊँगी, कि जो उस शाम हुआ वह फिर कभी, किसी और से भी हो सकता है—यह सब सोच कर मुझे बहुत इत्मीनान मिलता है, बहुत अच्छा लगता है, एक ऐसी मुसकराहट मेरे होठों पर खिल आती है जो नितान्त मेरी अपनी है, जिसे मेरे पति ने न कभी देखा है, न देख पायेगा। मैं खुश हूँ।

●

●

मैं भी खुश हूँ, अपनी जगह, अपने तरीक़े से अपनी उदारता पर नहीं, अपनी चालाकी पर भी नहीं, इस लिए भी नहीं कि मैं खुद 'अपवित्र' हूँ, बस यूँ ही, शायद इसी बात पर कि देख कर जो प्रतिक्रिया उठी या सोच कर जो उठती है उस से मुझे आश्वासन मिलता है कि मैं भिन्न हूँ, शायद इस भिन्नता के एहसास से जो आत्मसन्तुष्टि मिलती है, उस की तह में मेरा अहम् ही हो, शायद उसी अहम् को बनाये रखने के लिए ही मैं खुश हूँ, शायद अहम् का सहारा मैं सिर्फ़ इसी लिए ले रहा हूँ ताकि मुझे दुःख न पहुँचे, शायद मुझे दुःख पहुँचा हो और इसी लिए मैं खुश हूँ, शायद मैं अपने दु.ख को दबा कर नही, उसे महसूस कर के खुश हूँ, शायद मै अपने किसी तर्क की अकाट्यता पर खुश हूँ, शायद मैं अपनी बीमार जहनियत पर खुश हूँ, शायद मेरे भीतर कहीं कभी उन दोनों को यह बता डालने की ख्वाहिश हो कि मै सब जानता हूँ कि मैं ने सब देखा था, कि उस से मुझे कोई फर्क नही पड़ा, कि मै उन दोनों से ऊँचा हूँ, कि मै अब भी उन्हें उसी तरह चाहता हूँ, कि मैं सीमाओं में नहीं बाँधा जा सकता, कि मैं ने सब कुछ सहज स्वीकार कर लिया है, कि मेरे लिए इस सब का कोई महत्त्व नहीं, लेकिन मैं कभी उन्हे या किसी और को कुछ बताऊँगा नहीं, कि बताने से सब-कुछ बदल जायेगा, घिस कर

आम हो जायेगा, मामूली नही मैं वताना नही चाहता, लेकिन मैं खुश हूँ कि उस शाम लौटने पर मैं ने उन्हें देखा, एक दूसरे से उलझे हुए, और मुझे हँसी आयी न गुस्सा, जलन महसूस हुई न शर्म, और मैं चुपके से कुछ क्षण वही खडा रहने के वाद कमरे से वाहर निकल निगहवानी-सी करता रहा और जो मैं ने देखा वह मेरी निगाह और याददाश्त में सुरक्षित रहेगा, अमिट, किसी खराश की तरह नही, वस यूँ ही भीतर पडे कई और दृश्यो की तरह, जिन्हें मैं जब चाहूँ देख सकता हूँ, इस लिए नही कि उन्हें उलटने पलटने से कोई कसक होती है वल्कि इसी लिए कि वे है, भीतर, खामोश, प्रस्तुत । मैं कहना यह चाहता हूँ कि उन्हें देख कर मुझे हैरानी तक नही हुई थी, महसूस हुआ था कि जो हुआ, हो रहा है, ठीक हो तो है, कि वे दोनो मेरी इस प्रतिक्रिया को नही समझ पायेंगे और मै कभी उन्हें शर्मिंदा होने का अवसर नही दूँगा, इस लिए नही कि मै उन्हे चोट नही पहुँचाना चाहता वल्कि इस लिए कि वे, और खास तौर पर मेरी पत्नी, मुझे जिन साँचो से मापना चाहेंगे मैं उन से वडा हूँ, सो मै खुश हूँ कि मैं कम से कम अपनी नजर में उस तथाकथित कडी आजमाइश से वेदाग वच गया हूँ, कि मै अनासक्त हूँ, हालाकि मै यह हिम्मत कभी भी नही कर पाऊँगा कि उन्हे यह वात समझा सकूँ, हिम्मत का सवाल नही, सवाल शायद अहम् का ही है, साधारण अहम् का नही, वल्कि उस उलटे अहम् का, जिस का सहारा मेरी खुशी को भी चाहिए ।

[जून १९६७]

कैनी का सफ़र

•

अमृता प्रीतम

अख़बार में ख़बर ज़रूर छपी है, पर बावजूद पुलिस की पूरी तहकीकात के, और डॉक्टरी रिपोर्ट के, यह ख़बर गलत है।

इनसान और ख़बर के बीच जो कुछ होता है वह कोई आँखों से नहीं देखा होता, इस लिए हर ख़बर को लोगों का अनुमान कहा जा सकता है और कुछ नहीं। और अनुमान अकसर ग़लत होता है।

कैनी और उस की ख़बर के बीच जो कुछ हुआ है, मैं उस के पल-पल का गवाह हूँ··· क्योंकि जिन दिनों वह किसी और से बातें नहीं करती थी, उन दिनों वह कितनी-कितनी देर मेरे सामने बैठ कर मुझ से बातें करती रहती थी। मेरा मतलब है, अपने-आप से बातें करती थी। और ऐसे दिन उस की ज़िन्दगी में बहुत थोड़े आये जब उस ने और किसी से बातें की हों। इस लिए मैं कह सकता हूँ कि अख़बार में कैनी की जो ख़बर छपी है वह ख़बर ग़लत है।···मैं यह हलफ़िया बयान देता हूँ।

मैं : कैनी के कमरे में लगा हुआ, कैनी के कद जितना शीशा।

मैं ने कैनी का बचपन नहीं देखा, चढ़ती जवानी भी नहीं। मैं ने पहली बार उसे जब देखा था उसे जवानी पूरी तरह चढ़ चुकी थी और उस की कला की शोहरत अपने उरूज पर थी। पर उस के जन्म के बारे में और उस के प्रारम्भिक दिनों के बारे में इतना कुछ ज़रूर जानता हूँ कि जिन दिनों वह मेरे सामने बैठ कर नये-पुराने ख़तों को पढ़ती तो कितने ख़यालों को अपने माथे में भर के, मेरे में से अपने-आप को देखती थी···उस की माँ एक पोलिश डान्सर थीं,

खडी सोच में पडने लगी थी। जैसे रियाज़ करती के अगों को एक थकावट सी हो जाती थी। शायद थकावट नही उकताहट सी हो जाती थी। एक दिन मुझे पता चल गया कि वह क्या सोचती थी—उस ने मेरे सामने खडे हो कर कितनी देर अपनी आँखो में देखा मैं यह कहना भूल गया हूँ कि उस की आँखें बहुत खूबसूरत थी बडी मोटी और काली बगाली आँखें और फिर एक गहरी साँस ले कर अपनी माँ को वह खत लिखने लग गयी। खत लिख कर लिफाफे में डालने की जगह उस ने वह खत सामने रख लिया, और पास पडे हुए गद्दे का सहारा ले कर वह कितनी देर अपने लिखे हुए खत को पढती रही—"माँ, कभी तू ने मुझे लिखा था कि तुझे मुझ से रश्क आता है, आज मैं तुम्हें लिख रही हूँ कि मुझे तुझ से रश्क आता है। एक अजीब सी उकताहट सीलन की तरह मुझे चढ रही है। मेरे कमरे में एक लाल रग का कालीन बिछा हुआ है गहरे लाल रग का और मुझे लगता है, मेरे खयालो का सारा रग मेरे माथे से उतर कर मेरे होठों से उतर कर, मेरे मन से उतर कर, और फिर उतरता-उतरता, मेरे पैरों में से उतरता, बिलकुल मेरे पैरो के नीचे आ गया है, रोज मेरे पैरो से मसला जा रहा है। मेरी उम्र मुझे मटमैली लगने लगी है—बाहर से दिखने वाली उम्र नही, पर अन्दर से कही और खोये हुए रग के साथ ही इस के अर्थ भी खो गये लगते हैं। माँ! क्या यह रग सचमुच खो गया है? या गहरा कही सो गया है? कभी ऐसा लगता है जैसे मेरे भीतर कही वह है—कुछ भारी-सा मेरे माथे मे पडा हुआ लगता है—जिन्दगी में लोगो से वास्ता पडता है, रोज पडता है, और एक मशहूर नर्तकी हूँ, इस लिए आम औरत की जिन्दगी से मुझे कही ज्यादा वास्ता लोगो से पडता है, पर इन लोगो में मुझे कभी कोई वह नही मिला जिसे देख कर मेरे मन का रग जाग जाये। शायद मेरे भीतर कोई रग नही, मुझे सिर्फ इस का भुलावा है। जिन्दगी से अघा गयी हूँ पर एक पीडा के लिए तरस गयी हूँ। माँ, जिस पीडा को झेलते तेरी उम्र टूट गयी है मैं उसी पीडा को तरस गयी हूँ। मेरी उम्र भी टूट रही है, पर अपने ही भार से—जो कही यह किसी पीडा से टूट सकती "

इस खत के जवाब में कैनो को उस की माँ का जो खत आया, वह बहुत छोटा था पर बहुत बडे सदमे से भरा हुआ। लिखा था—"कैनो, मैं ने जिन्दगी में कभी किसी खुदा के आगे दुआ नही की। तेरा खत पढ कर मैं दुआ कर रही हूँ कि आज जो तकदीर तू अपने मुँह से माँग रही है कही यह तकदीर तुझे मिल न जाये।"

यह खत पढ कर कैनी का मुँह देखते ही बनता था। बडा मासूम, पर जिन्दगी की प्यास से बिलखता और उस ने जल्दी से मेरे सामने खडी हो कर, अपना मुँह मुझ में दिखते अपने माथे से जोड कर कहा, "खुदाया मेरी दुआ सुनना मेरी माँ की नही!"

उस दिन मैं ने कैनी का जो बच्चो की तरह भोला मुँह देखा, मुझे पता नही था कि वह मुँह देखना मुझे फिर कभी नसीब नही होगा। यह

इस तरह था जैसे किसी बच्चे ने आग की लाल लपटें देख कर उस की तरफ दोनों बाँहें पसार दी हों, और फिर खुदा ने लाड़ से आग की लाल लपटें उस बच्चे के हाथों में पकड़ा दी हों।

एक दिन जब कैनी सो कर उठी और बाहर को कमरे मे आयी, वहाँ जहाँ मैं था, मेरे सामने खड़ी हो कर उस ने अपनी उनींदी आँखों को देखा, उस की आँखें मिची-मिची थीं - लगता था कि वह रात अच्छी तरह नही सोयी थी, और दिखता था कि रात उस की नींद मे जिस मुँह के खयाल ने खलल डाला था वह वही था जो कल रात को उस ने पहली बार देखा था। कल शाम को नाच से वापस आते हुए जो व्यक्ति उसे घर तक छोड़ने आ गया था, वह कुछ देर अन्दर आ कर इस कमरे मे बैठा था, इस लिए मैं ने भी देखा था। यहाँ से एक बार उठ कर वह बाहर रसोई में गया था और पानी के दो गिलास ला कर वह आप पीने लगा था और एक उस ने बड़ी बे-तकल्लुफ़ी से कैनी के आगे रख दिया था। घर कैनी का था, पानी कैनी को पूछना चाहिए था, लाना भी चाहिए था। पर कैनी की जगह जब उस ने—बाहर से आये ने—पानी का गिलास ला कर कैनी के सामने रख दिया तो कैनी कुछ परेशान-सी उस की ओर देखने लग गयी। वह बिलकुल परेशान नही था, बल्कि उस ने पानी का गिलास रखते हुए कहा था, "मुझे प्यास लगी हुई थी, इस लिए मैं ने सोचा कि आप को भी प्यास लगी होगी।" कैनी ने कुछ नही कहा। पानी पी लिया था। पर जब वह चला गया तो कैनी फिर परेशान-सी हो गयी थी। फिर वह अन्दर सोने के लिए चली गयी। जब सुबह उठ कर आयी तो उस की आँखों में रात की उखड़ी नींद की स्याही थी। वह मेरे सामने खड़ी अपनी आँखों को देखती रही, फिर उस ने आप ही रात वाले लफ़्ज़ों को होठों में दोहराया—"....मुझे प्यास लगी हुई थी, मैं ने सोचा कि आप को भी प्यास लगी होगी।" एक बार कैनी के माथे पर हलके-से बल पड़े—जैसे वह सोच रही हो, उस की प्यास के साथ अपनी प्यास को जोड़ने वाला वह कौन था? पर फिर वह मुसकरा दी। उस के होठ नहीं, उस के माथे के तेवर मुसकरा दिये। और फिर जो बात रात को उस ने जवाब मे नहीं कही थी, अब अकेली खड़ी कहने लगी—"तुझे जब भी प्यास लगेगी, तू पानी का गिलास पियेगा, तो क्या हर बार तुझे याद आयेगा कि मुझे भी प्यास लगी होगी?"

उस के बाद वह कई बार कैनी से मिलने आया। पहले दिन मुझे उस का नाम-पता नहीं चला था, पर दूसरे दिन चल गया था, क्योंकि दासी ने जब अन्दर आ कर कहा कि कोई जावेद साहब मिलने आये हैं, तो मेरे पास बैठी, कोई किताब पढ़ रही कैनी चौंक गयी थी। और फिर अन्दर आने वाला वही था जिसे मैं ने पहले दिन देखा था। दो दिन नहीं गुज़रे कि मैं ने उसे फिर देखा, और फिर देखा, कैनी जब एक बार अकेली मेरे सामने खड़ी हुई तो उस के चेहरे पर चढ़ते-उतरते रंग को देख कर मेरा माथा ठनका।

शायद उस का भी ठनका होगा। मैं हैरान था, कैनी हैरान थी, कि आज तक उस ने अपने किसी वाकिफ को अपने घर आने की छूट नही दी थी, पर यह कोई कैसा था जिस के सामने उस से कोई उज्र नही किया गया।

और फिर उस दिन माथा और ठनका जिस दिन उस ने कैनी को बताया कि वह पन्द्रह दिन के लिए शहर से बाहर जा रहा है, और उस के जाने के बाद कैनी बेचैन हो कर आने वाले दिनो को उँगलियों पर गिनने लग गयी थी। "माई गॉड, इट हैज़ हैपण्ड!" कैनी ने मेरे सामने खडे हो कर एक बार कहा और फिर हैरान-सी हो कर हँस दी। उस की हँसी उस शहद की तरह थी जिस की मिठास में शहद की मक्खी का डंक भी मिला हुआ था।

"ओह कैनी !" पता नही मैं ने कहा कि उस ने ? उस के होठ बिलकुल मेरे साथ सटे हुए थे, अपने ही होठों को छू कर देख रहे थे, शायद अपने होठों पर किसी के होठो की छुअन को अपनी कल्पना में उतार रहे थे वह अभी बाहर से आयी थी, वह उसे छोड कर गया था यह बीते साल इन्ही दिनो की बात है उस ने बाहर से आ कर कमरे का दरवाजा भिड़ाते हुए, जो सब से पहली बात की थी, वह मेरे सामने खडे हो कर, अपने-आप को देखा था अपने-आप को आवाज दी थी, और फिर दुलार से अपने होठों को अपने ही होठों से छुआ कर एक सरूर में आँखें बन्द कर ली थी।

अपने-आप को आप ही आवाज देने की आदत उसे उस दिन पडी थी। उस के अगले तीन सौ पैंसठ दिनो में उस ने कोई तीन हज़ार पैंसठ बार अपने-आप को आवाज़ें दी होंगी— ऐसे, जैसे उस का अपना आप उस से बिछुड रहा हो, पराया होता जा रहा हो, और इस पराये होते अपने आप को वह कभी चैन से देखती थी कभी बेचैनी से।

एक दिन उस ने बडे खौलते गुस्से से अपने इस 'अपने आप को' देखा। पहली शाम वह आया था। और कैनी ने उस से मांग की थी कि वह अपने दफ्तर में अब उस सेक्रेटरी लडकी को न रखे, जिस के साथ पहले कभी उस का कुछ रहा था। और कैनी ने बडी नरमी से उसे कहा था कि उस के मिलने से पहले उस का जो कुछ भी किसी लडकी से कुछ था, उस का कोई उलाहना वह उसे कभी नही देगी, पर अब उन्हें किसी बीते हुए की खामख्वाह याद दिलाने वाली कोई चीज सामने नही रखनी चाहिए थी। उस ने कैनी की बात रखी नही और कहा कि उस लडकी के बिना उस के दफ्तर का काम नही चलेगा। उस के सामने नही, पर उस के जाने के बाद कैनी बहुत रोयी थी। उस रात वह दूसरे कमरे में अपने पलग पर सोने के लिए नही गयी। बाहर कालीन पर औंधी पडी वह सो गयी थी। सुबह उठ कर उस ने दासी से कहा था कि आज किसी का भी फोन आये, वह उसे बुलाने के लिए भीतर न आये। फोन बाहर बरामदे में था। पर दोपहर बाद वह आप ही दरवाजे के पास खडी किसी फोन की आवाज का इंतज़ार करने लगी थी—यह वह

दिन था जब शाम को उस ने बड़े खौलते गुस्से से मेरे सामने खड़े हो कर अपने-आप को देखा। उस दिन अपने से वह बड़ी गुस्सा थी।

उस का वह गुस्सा तीसरे दिन उतर गया। वह आया और उस ने आते ही कैनी को बताया कि आज उस ने अपने दफ़्तर की सेक्रेटरी को दो महीने की पेशगी तनख्वाह दे कर छोड दिया था, और आगे के लिए उस ने कैनी से यह भी इक़रार किया कि वह कोई लड़की-सेक्रेटरी अपने दफ़्तर में नहीं रखेगा।

पर गुस्सा शायद बारी का बुखार था, अजीब-सी बारी का बुख़ार, अब वह कैनी को नही जावेद को चढ़ गया। बात यह हुई कि कैनी को इंगलैण्ड की एक क्लब ने पन्द्रह दिन के लिए इंगलैण्ड आने का बुलावा दिया था। कैनी के लिए हिन्दुस्तान से बाहर जाने का यह पहला मौका था और कैनी खुश थी। कुछ उसे यह भी उम्मीद थी कि वह इंगलैण्ड से आसानी से पोलैण्ड जा सकेगी और अपनी माँ से मिल सकेगी। पर जब कैनी ने पासपोर्ट के लिए अपना फॉर्म भरा तो फ़ॉर्म की पूर्ति के लिए उस में अप ने ख़ाविन्द का नाम भी लिखना पड़ा। चाहे वह बरसों से अकेली रह रही थी, पर उस ने तलाक़ अभी तक नहीं लिया था, इस लिए इस फ़ॉर्म की पूर्ति के लिए उस का नाम उस मे लिखना पड़ा था, जिस के साथ कभी उस का ब्याह हुआ था। और जावेद ने जब वह फॉर्म पढ़ा तो फ़ॉर्म मे उस का नाम देख कर वह बौखला पड़ा—"मै यह नाम बिलकुल बरदाश्त नहीं कर सकता" और उस ने गुस्से में आ कर वह फ़ॉर्म फाड़ दिया।

कैनी और फ़ार्म ला सकती थी, पर उस ने कुछ नहीं किया। कैनी के पैर एक बडी नाज़ुक जगह आ कर खड़े हो गये थे। उसे पता था कि अगर वह जावेद की गैरहाज़िरी में और फ़ॉर्म लायेगी, भरेगी, और पासपोर्ट बनवा कर इंगलैण्ड चली जायेगी तो जावेद को वह हमेशा के लिए खो देगी। वह सोच मे पड़ी थी, और मैं देखता था कि एक घड़ी वह जावेद को खोने का हौसला इकट्ठा करती थी तो दूसरी घड़ी रेत के महल की तरह वह हौसला टूट जाता था।

वह इंगलैण्ड नहीं गयी। जावेद अब खुश था। पर खुशी को अब जैसे रूठने की आदत पड़ गयी थी। कभी जावेद भी इस रूठी हुई खुशी को मनाता था, पर बहुत बार यह कैनी को मनानी पड़ती थी। और फिर होते-होते यह बात जैसे सिर्फ़ कैनी के लिए रह गयी। बाहरले दरवाजे तक और बाहरली सड़क तक दौड़ते, और रूठ कर जाते जावेद को मना कर लाते हुए मैंने कैनी को कई बार देखा। एक दिन कैनी रोये जा रही थी, इतना कि वह पास से उठ कर जाते हुए जावेद को कुछ न कह सकी। जावेद चला गया। कैनी रोते-रोते भी उस के लौटे पैरों की आहट का इन्तज़ार करती रही—शायद वह सोचती थी कि जावेद उसे इस तरह रोते हुए छोड़ कर नहीं जा सकेगा, लौट आयेगा, बाहरली सड़क से लौट आयेगा।

पर जावेद नहीं आया। कैनी को वह रात उम्र पर भारी होती लगी। यह शायद

वह रात थी जब कैनी का अपना-आप अपनी ही नज़रों में हलका पड गया था। और फिर वह हलका घटता गया—दूसरे दिन जब उस ने जावेद को फोन करने की पहल की, और फिर जब वह आया, उस ने हँस कर कल रात की बात टाल दी और कैनी ने वह बात टल जाने दी। और फिर उस ने जावेद को मनाने का और कोई मौक़ा कभी न खोया, और फिर और फिर ।

इस तीन सौ पैंसठ दिनों में कैनी ने कोई तीन हज़ार पैंसठ बार मेरे सामने खडे हो कर कैनी को आवाज़ें दी—"ओह कैनी !" वह कभी बेचैनी से आवाज़ देती थी, कभी तरस से, कभी प्यार से, कभी नफरत से।

इन दिनों कैनी ने अपनी माँ को कई खत लिखे, पर कोई खत डाक में नही डाला। जिस घडी वह खत लिखती, अगली घडी उस के मन का मौसम बदल जाता और वह खत उसे बेमायने लगने लगता। मौसम मन के वस में नही था, मन मौसम के वस में था।

जावेद उसे खुश मिलता, वह खुश हो जाती। जावेद उसे उदास मिलता, वह उदास हो जाती। एक तार की तरह वह कसी रहती, काँपती रहती। जावेद का जी चाहता, वह इस तार में से सोया गीत जगा लेता, जावेद के जी में आता, वह इस तार में से विलखते स्वर निकाल लेता।

कैनी को जावेद से कोई उलाहना नही था। उस ने कैनी को वह खुशी दी थी जो कैनी को कोई नही दे सका था। उस ने कैनी को वह दर्द दिया था जो कैनी को कोई नही दे सका था। उलाहना कैनी को अपने से था कि उस ने अपनी खुशी पर और अपने दर्द पर अपना कोई भी हक नही रखा था। वह खुशी को मणि की तरह सँभालती, साँप की तरह अकेली बैठ कर उस के साथ खेलती, पर अगर जावेद आ जाता—वह चाहता तो उसी मणि को एक पल में कौडी की तरह बना देता। उस उदासी को वह एक शाही पोशाक की तरह गले में डाल लेती, पर जावेद यदि चाहता, तो वह इस पोशाक को उतार देती।

कैनी को स्केचिंग का शौक़ था, एक बार उस ने एक छोटी खूबसूरत कॉपी पर जावेद का स्केच बनाया, दिखाया, जावेद को अच्छा लगा तो दूसरे सफे पर जावेद ने अपनी पेंसिल से कैनी का स्केच बना दिया। जावेद की ड्राइंग कैनी से भी अच्छी थी। फिर इस कॉपी पर उन्होंने कितनी ही बार स्केच बनाये। एक बार पाँच दिनों के लिए पहाड पर गये थे, वहाँ उन्होंने पहाडी झरनों के कई स्केच बनाये, फिर अपनी पसन्द की नज़में उन्होंने चुनीं और उस कॉपी में लिखीं। इस कॉपी को वह अपनी बेटी कहते थे। इस का नाम उन्होंने अतिया रखा हुआ था। इस अतिया को वह प्यार से आती बुलाते थे और किस्मतवाली इन खुश घडियों में जावेद कैनी को 'आती-माँ' कह के बुलाता था और कैनी जावेद को 'आतीपा' कह के।

उदास रातों में कैनी को एक सपना आता था। एक दिन उस ने मेरे पास बैठ के जावेद को बताया कि वह जब उदास होती थी तो रात को सपने में उन की बेटी मर जाती

थी—आतीका वरक़-वरक़ फट जाता था.... जैसे उन की बेटी का अंग-अंग कट जाता था।

ख़ुशी को रोज़-रोज रूठने की आदत पड़ गयी थी, रोज़-रोज मनाने की। पर एक दिन ऐसा आ गया कि कैनो उस को मनाते-मनाते आप ही रूठ गयी। किसी से नहीं, अपने-आप से। जावेद के पास इन दिनों कोई उस की दूर के रिश्ते की भाभी आ कर रहने लगी थी। जावेद के इस भाई और उस भाभी को तलाक़ लिये कई बरस हो चुके थे। वह भाभी कैनी को अच्छी नहीं लगी थी। एक बार जावेद उसे कैनी के घर लाया था। और इस भाभी ने एक अजीब अन्दाज़ मे जावेद की तारीफ़ करते हुए उसे कहा था, "योअर स्माइल इज़ हांटिंग।" और उस दिन उस ने कैनी के घर में ही कैनी को नजर-अन्दाज कर दिया था। कैनी को अगर कोई दावा था तो अपने जावेद से, उसे किसी तीसरे से कोई शिकवा नहीं था। और कैनी उस दिन इस बात से ज़ख्मी-सी हो गयी थी कि जावेद को इस भाभी के किसी रवैये से कोई शिकायत नहीं थी—और यही भाभी अब जावेद के पास रहने के लिए आयी थी।

"उस ने मुझे क्यों न बताया...मेरे से यह बात काहे को छुपा ली ?" कैनी का पुराना ज़ख्म खुल गया, क्योंकि आज अचानक उसे यह बात जावेद के नौकर से पता चली थी। और फिर जब कैनी ने जावेद को फ़ोन किया तो उस ने हँस कर कैनी को झिड़क दिया—"ऐसे ही ना बोला कर ....यह मैं ने तुम्हे इस लिए नहीं बताया था कि तुम्हें खामख्वाह तकलीफ़ होगी !"

"ऐसे ही ना बोला कर...." कैनी ने मेरे सामने खड़े हो कर कई बार यह लफ़्ज़ अपने को कहे। उस की आँखें भर-भर आती थीं और ये लफ़्ज़ उस के होठों में सिसक रहे थे—"कैनी, मैं यह तुझे कह रही हूँ....तुझे ! तू सुनती क्यों नहीं मेरी बात....तू ऐसे ही बोले जाती है..." और फिर कैनी अपने को चुप कराते-कराते बावरी हो गयी। जावेद वहाँ नहीं था पर वह कमरे में खड़ी जावेद से बातें करने लगी—"तू समझता क्यों नहीं ? क्या मैं ऐसे ही बोल रही हूँ ? क्या किसी को ऐसें ही दर्द होता है ? छाती से रोना ऐसे ही उठता है ? तू मेरे से अच्छी तरह नहीं बोलता, मेरी आधी जान निकल जाती है, क्या किसी की आधी जान ऐसे ही निकल जाती है ?...."

और बावरी हुई कैनी से चुप नहीं रहा गया। उस ने फिर जावेद को फ़ोन किया। उस की आवाज आँसुओं मे डूबी हुई थी। जावेद को उस की आँसुओं से गीली आवाज सुन कर हमेशा ही ग़ुस्सा चढ़ आता था, आज भी चढ़ गया और उस ने एक लफ़्ज कह कर फ़ोन बन्द कर दिया।

यह लफ़्ज कैनी के कानों मे पड़ा नहीं, कानों में चुभ गया। कैनी ने घबरा कर दोनों हाथ कानों पर रख लिये। और फिर बिलख कर मेरे सामने आ खड़ी हुई। उस की आँखों में खून के लाल डोरे पड़ गये थे, इन आँखों

से वह अपनी आंखो में देखती चीख उठी—"शट अप शट अप कैनी, शट अप !"

यह जावेद का कहा हुआ लफ्ज था। कनी ने हुक्म को तरह मान लिया। और कैनी ने फैसला कर लिया कि वह जावेद से इतनी दूर चली जायेगी जितनी दूर से जावेद तक कभी उस की आवाज नही आ सकेगी। वह अपनी मां के पास चली जायेगी।

मुझे पता है, मै ने अपनी आंखो से देखा है, कैनी ने मेरे पास बैठ कर मां को खत लिखा कि मै बहुत जल्दी पोलैण्ड आ रही हूं, और फिर हमेशा वही रहूँगी। कैनी ने यह खत लिफाफ़े में डाला, मेरे सामने टिकट लगायी और फिर दासी को बुलाकर यह खत डाक में डालने के लिए दे दिया।

कैनी के पैर उस धरती से नाता तोड चुके थे जिस धरती पर खडे होकर उस की आवाज जावेद तक जा सकती थी। वह जल्दी से पासपोर्ट के दफ्तर गयी और वहां से फॉम लाकर उस ने मेरे पास बैठ कर मेरे सामने भर दिया।

पोलैण्ड पहुंचने का रास्ता बहुत लम्बा था, पर कैनी के पैर उतावले हो गये थे, ठहरते नही थे। रात हो रही थी, और जैसे-जैसे रात का अंधेरा बढ रहा था, कैनी की बेचैनी बढ रही थी—"जाने में बहुत दिन लग जायेंगे बहुत दिन इतने दिन तू चुप रह सकेगी ?", और कैनी ने खौफजदा होकर कैनी को देखा—"मुझे डर लगता है, तू चुप नहीं रहेगी तू जिद्दी-जलील कैनी!" और कैनी को जलील कहते हुए कैनी फूट कर रो पडी।

एक कैनी वह थी जो हमेशा के लिए चुप रहने को तैयार थी, एक कैनी वह थी जो शायद कभी नही चुप हो सकती थी। एक कैनी वह थी जिस के पैर धरती के इस टुकडे से बहुत दूर चले जाना चाहते थे, एक कैनी वह थी जिस के पैर इसी जगह पर अड कर खडे थे। एक कैनी वह थी जिस का सिर मान मे ऊँचा था, और वह इस मान पर से सारी दुनिया की दौलत वार सकती थी, एक कैनी वह थी जिस का सिर महबूब की दहलीज पर झुका हुआ था, और वह मुहब्बत के एक कण के लिए भी झोली पसार कर खडी हो सकती थी।

कैनी को जाना था, जरूर जाना था। जो कुछ भी उस की राह में खडा था उसे लाघ कर जाना था—उसे अपने को लांघ कर जाना था।

कैनी रास्ते से हटती नहीं थी इस लिए कैनी ने शाम होते ही घर के सब दरवाजे बद कर लिये। पोलैण्ड से मां की भेजी हुई कोनिआक की बोतल निकाली, एक एक घूंट को इस तरह पिया जैसे वह मां से बातें कर रही थी। यह कोनिआक उस ने दो गिलासो में डाली थी—एक गिलास अपने हिस्से का और एक मां के हिस्से का। वह बारी-बारी से घूट भरती रही। नीद की गोलियां आज उस के पास सिर्फ दो थी। और फिर कैनी ने घूम कर मेरी ओर देखा कैनी की ओर देखा। मुसकरायी और फिर कहने लगी, "तू मेरी

राह में नहीं ठहर सकती''''हट जा परे''
मूर्ख !

और फिर उस ने कमरे में पड़ी हुई 'अतिया' का एक-एक वरक़ फाड़ा—'आती-माँ' ने अपनी बच्ची का एक-एक अंग चूमा—"तुझे यतीम हो जाना था आती ! मेरे पीछे''''" उस ने कहा और फिर मुसकरा दी, और फिर कमरे में रखी हुई गैस को खोल कर वह सो गयी ।

•
•

"भरत नाटचम् की मशहूर नर्तकी कैनी तारा ने कल रात आत्महत्या कर ली !"—अख़बारों मे यह ख़बर छपी है । पर बावजूद पुलिस की तहक़ीक़ात के और डॉक्टरों की पूरी-रिपोर्ट के, मैं कह सकता हूँ कि यह खबर ग़लत है । कैनी ने कभी मरना नहीं चाहा, हमेशा जीना चाहा है । कैनी को पोलैण्ड जाना था पर जाने मे देर लगती थी इस लिए वह किसी और देश मे चली गयी है । और इश्क़ में दीवानी हुई एक मूर्ख कैनी उस के रास्ते में बैठी हुई थी, उस ने मुश्किल से उसे राह से हटाया है ।

[जुलाई १९६७]

दायरे और दायरे

•

रजनी पनिकर

उस ने देखा, धड़ाधड़ लड़के-लड़कियाँ भीतर आ रहे थे। वह अभी अपनी कुरसी पर ही बैठी थी। उठी नहीं, असमंजस से भरी थी। जैसे वह अध्यापिका बन कर नहीं परीक्षार्थी बन कर आयी हो।

"अरे! आज तो नयी टीचर है!"

"हाँ, और सुन्दर भी।"

"ऐसी टीचर से पढ़ेंगी कैसे ?" मिली-जुली हँसी।

"क्या आप हमारी क्लास-टीचर हैं ?"

"क्या आज से आप पढ़ायेंगी ?"

"इतनी छोटी आयु में आप टीचर भी बन गयी हैं ?"

फिर हँसी। धीमी और एकाएक जोर से।

"सब कोई फेल नहीं होते।"

"शट अप।"

"यू शट अप!"

वह इस बात पर उठ कर खड़ी हो गयी। मेज पर जोर से हाथ मारती हुई बोली—"कृपया चुप हो जाइए। अब हाजिरी होगी।"

आगे की दो पंक्तियों ने ध्यान दिया। पीछे शोर-गुल वैसे ही चलता रहा।

"मिस घोष कहाँ गयीं, वह हमारी पुरानी टीचर थीं।"

"मिष घोष का विवाह हो गया।"

ओह! दो-एक सीटी की आवाज़। एक चपरासी एक काग़ज ले कर उस के हाथ में थमा देता है।

नोटिस : "सब अध्यापिकाओं को सूचित किया जाता है कि आज ग्यारह बजे आधी छुट्टी से पहले बड़े हॉल में मीटिंग होगी। प्रिन्सिपल मीटिंग को सम्बोधित करेंगे। विषय होगा—'अनुशासन।' श्रेणी के सभी छात्र और छात्राएँ लाईन बना कर ले आइए।"

उस ने देखा, अभी उस मे देर थी। वह हाजिरी लेने लगी।

"रोहिणी?"

"उपस्थित।"

"हरीश?"

"——।"

"हरीश?...क्या हरीश नहीं आया?"

"नहीं टीचर, वह आया भी है और नहीं भी आया है।"

"क्या मतलब?"

"वह आया था, परन्तु बॉल-पेन ले कर चला गया है। शायद वह चन्द्रा साहब से पढ़ेगा।"

"क्या मतलब?"

"वही जो मैं ने आप से कहा कि वह चन्द्रा साहब का बहुत मुँह-लगा छात्र है और अँगरेज़ी आप से नहीं पढ़ेगा।"

वह एक क्षण को ठिठकी फिर पढ़ती चली गयी।

"अमिताभ?"

"यस् सर।"

"सर नहीं, मैडम!" एक आवाज़।

"क्या फ़र्क़ पड़ता है, दोनों का मतलब एक ही है।"

फिर हँसी।

वह बोली, "पीछे आप लोग खड़े क्यों हैं, बैठ जाइए।"

"कुरसियाँ पूरी नहीं।"

"क्यों, स्कूल तो 'स्ट्राइक' के बाद खुला है, इस बीच नये दाखिले तो हुए नहीं। कुरसियाँ पूरी होनी चाहिए थीं।"

"कुरसियाँ पहले भी कम थीं। मिस, हैड क्लर्क के पास रिपोर्ट भेजिए।"

"मिस, मैं रिपोर्ट ले जाऊँ?"

"मिस, इस को भेजेंगी तो लौटेगा नहीं।"

"नहीं, यह ईर्ष्या करती है।"

"फ़ेल होने वालों से ईर्ष्या कौन करता है?"

"जबान सँभालकर बात करो—तुम स्कूल के हीरो से बात कर रही हो!"

"हूँ, छोटे बच्चों से उपहार ऐंठ कर अपने को हीरो समझता है।"

उस ने मेज पर जोर से आवाज़ करते हुए कहा, "खामोश रहिए।"

"मिस, हम खामोश तो हो जायेंगे, परन्तु झूठे लोगों का फ़ैसला इसी समय हो जाना

चाहिए।" वह परेशान सी इधर-उधर देखने लगी।

आज स्कूल में उस का पहला दिन ही था। वह उस स्कूल में अँगरेजी की अध्यापिका हो कर आयी थी। बडा नाम सुना था स्कूल का। इण्टरव्यू-बोर्ड में कई प्रकार के टेस्ट हुए थे। तब कही उसे यह नौकरी मिली थी। वह घबरा रही थी। स्वय उस की आयु यही तेइस-चौबीस की होगी, अपने शरीर को 'फार्म' में रखने के लिए वह भोजन छूती-भर थी, उसे खाती नही थी।

वह नवीं श्रेणी की 'क्लास टीचर' बन कर आयी थी। नवी से छात्रों में एक बडप्पन का भाव शुरू हो जाता है, नवी, दसवी और हायर सेकण्डरी। उस दिन स्कूल एक ऐसी छुट्टी के बाद खुला था, जिस का स्कूल की छुट्टियों से कोई सम्बन्ध नही था। यानी दूसरे शब्दो में यह छुट्टी छात्रो के अनुशासनहीन होने पर दी गयी थी। छात्रो ने इन छुट्टियों में बहुत से जलूस निकाले थे, अध्यापको को बडी डाँट-फटकार सुनायी थी। प्रिन्सिपल की मोटर पर पत्थर फेंके थे। इस सब के बाद अब वह लोग स्कूल आये थे। विद्याध्ययन के लिए। अनुशासन में रहने के लिए।

इस बीच चपरासी कार्ड भी दे गया था। वह बोली, "हाल में जाने से पहले यह कार्ड भर दो तुम लोग। बी० सी० जी० का टीका लगेगा। कार्ड सब को बाँट दिये गये। कार्ड यों भरना था—नाम, पिता का नाम, आयु और कक्षा। उस ने सब कार्ड बाँट दिये थे।

"अच्छा तुम लोग कार्ड भर दो, साथ-साथ मैं हाजिरी ले लेती हूँ।"

"मिस, मेरा नाम क्या है ?"

श्रेणी में हँसी का फव्वारा।

"मेरे पिता का नाम किसी को याद है ?"

एक बार और हँसी की लहर।

"बन्द करो बातें बनाना। अपना-अपना कार्ड भरो।"

"आप कार्ड क्यों नही भर रही हैं ?" उस ने एक लडकी से पूछा।

"मेरे पास पेन्सिल नहीं।"

"पेन्सिल से नही कार्ड पेन से भरना होगा।"

"पेन रखना तो फैशन नही, मिस !"

उस से पहले कि वह कुछ बोले, एक और लडकी बोल पडी, "मिस, पेन का रिवाज नही है। आजकल लोग 'बॉल पेन' रखते है।"

मैं फार्म कैसे भरूँ—"मेरा हाथ नहीं चलता।"

"तुम्हारा नाम क्या है ?"

"लिली।"

उस ने देखा वास्तव में वह लिली की तरह सुकुमार है।

"मैं इस का हाथ पकड कर लिखा दूँ ?"

फिर हँसी।

चपरासी नोटिस दे जाता है। लिखा है—"स्कूल-लाइब्रेरी आप सब की लाइब्रेरी है। अब आप सब इस का इस्तेमाल करें। जिन विद्यार्थियो के नाम नीचे दिये जा रहे हैं, उन्हे पुस्तकें नही दी जायेंगी। जब तक वह

पुस्तकों को लौटा न देंगे। अभी विद्यार्थियों के लिए लाइब्रेरी बन्द रहेगी, परन्तु अध्यापिकाओं के लिए खुली रहेगी।"

उस ने देखा उस की कक्षा का कोई भी विद्यार्थी नहीं था। तभी घण्टी बजी। शायद प्रिन्सिपल के लेक्चर की घण्टी थी।

लड़के और लड़कियाँ खड़े हो गये।

"लाइन बना कर चलिए।"

"हाँ मिस, हम जानते हैं कि लाइन बनानी चाहिए।"

"सिनेमा के टिकिट के लिए हम लाइन बनाते हैं।"

"सुबह दूध लेते हैं तो लाइन बनाते हैं।"

"हम लोगों की मौत भी लाइन बना कर होगी।"

पुनः हँसी।

प्रिन्सिपल भाषण दे रहे थे। अध्यापक-अध्यापिकाएँ एक ओर खड़े थे। विद्यार्थी जमुहाइयाँ ले रहे थे!

डॉक्टर राय की आवाज़ बड़े ज़ोर से आ रही थी:

"छात्रों में अनुशासन का होना अनिवार्य है। अनुशासनहीनता ही हमे ले डूबेगी। मुझे पूरा यक़ीन है कि मेरे छात्रों को इस बात का एहसास है कि उन्हें माता-पिता का कहना मानना चाहिए....उन्हें...."

उस के पास ही मिस पार्वती खड़ी थी। मिस पार्वती के विषय में इतना सुना है कि वह अपने को फ़्रॉयड का अवतार समझती हैं। विद्यार्थियों से उलटे-सीधे प्रश्न पूछती हैं--वह समझती हैं, शिक्षा का बहुत बड़ा सुधार कर के रहेंगी।

"तुम अपने माता-पिता से नफरत क्यों करते हो?"

"तुम लोगों की यौन-सम्बन्धी कौन-सी समस्या है?"

दूसरी अध्यापिकाओं ने उस से कहा था कि वह उस से अधिक मित्रता न बढाये। स्कूल के सरकुलर तक ही उस से सम्बन्ध रखे। वह बुधवार को सब विद्यार्थियों को एकत्रित कर के 'जीवन में शिक्षा के महत्त्व' पर लेक्चर देती है।

है तो केवल मिस पार्वती, परन्तु डॉक्टर कहलाना पसन्द करती है और पीठ पीछे सब हँसते हैं।

डॉक्टर लाल भी पास ही खड़े थे। डॉक्टर लाल, अँगरेजी-विभाग के सीनियर टीचर हैं—अप्रकाशित लेखक हैं। किसी भी विषय पर कविता बना लेते हैं। कविता बना कर नयी-नयी आनेवाली अध्यापिकाओं से प्रेम प्रकट करना उन का पेशा है। उस ने लाल की ओर देखा तो लाल ने उसे आँखों में ही सलाम पेश किया। वह मुसकरा दी। सुबह से उसे लग रहा था कि उस का नरबस ब्रेक-डाउन हो जायेगा। लाल की एक भौंह ऊपर की ओर उठी थी, दूसरी नीची थी। उस के सूट की सिलाई बड़ी सलीक़ेदार थी। उसे लगा, यदि सब छात्राएँ इस से प्रेम करती हों तो उन्हें दोष नहीं दिया जा सकता। उस ने सरसरी दृष्टि से देखा—प्रायः सभी छात्राएँ उस की ओर देख रही थीं।

प्रिन्सिपल की आवाज़ जैसे कहीं बहुत

दूर से आ रही थी। वह मानो स्वप्न देख रही थी। जब वह स्वयं छात्रा थी, मैट्रिक में ही उस ने स्कूल बदला था।

पहले दिन वह स्कूल गयी थी उस दिन किस तरह सिमट कर बैठी थी। आज वह पढ़ाने आयी तो दुनिया बदल चुकी है। लड़कियाँ और लड़कों का स्कूल भी इकट्ठा है। शायद तब भी होंगे। उस समय उसे पता नहीं था। लड़कियाँ और लड़कों में अब भेद करना भी कठिन है। लड़कियों के केश प्राय ऊँचे ऊँचे कटे हैं। पन्द्रह प्रतिशत साड़ी में हैं। शेष तो स्कर्ट में हैं। एक लड़की हरी स्कर्ट के साथ तंग लाल ब्लाउज़ पहने थी। उसे देख कर लगता था कि 'हारमोनुस' का विज्ञापन है। वह बहुत खुले रूप से प्रिन्सिपल की अवहेलना कर के डॉक्टर 'लाल' को देख रही थी।

प्रिंसिपल कह रहे थे "यह स्कूल आप लोगों के लिए है। आप लोगों की सुविधाओं के लिए, इस के नुक़सान करने का मतलब है—आपने अपना नुक़सान किया है।"

एक लड़का दो-तीन लाइन छोड़ कर कह रहा था, "चाक बार आइसक्रीम वाला चला जायेगा। यह लेक्चर बन्द न होगा।"

"खिसकना मत। वह नाराज़ हो जायेंगे।"

"कौन परवाह करता है!"

"नहीं यार, कभी तो परवाह करनी पड़ती है।"

तभी एक चिट उसे मिला "दोपहर को लंच मेरे साथ लें।—लाल"

उसी चिट के बाद एक और चिट मिला—"यह अपने को सार्वजनिक रोमियो समझते हैं, सावधान।—एक शुभचिन्तका।"

वह दोनों चिट पा कर मुसकरा दी। कौन सा माने, कौन-सा न माने!

वह दिन राम-राम करते किसी तरह व्यतीत हुआ। वह टीचर्स-क्वार्टस में बने अपने एक कमरे के फ्लैट में आकर निढाल हो लेट गयी।

छात्र कितने भयानक हैं। "मिस मैं प्रेजेण्ट हूँ और नहीं भी हूँ।", "मिस, आप कितनी सुन्दर हैं। विवाह क्यों नहीं कर लिया। आप विवाह कर लेंगी तो एक पुरुष टीचर मिलेगा।"

लिली जैसे वासना का अवतार हो। प्रिन्सिपल के भाषण के बाद वह सीधी लाल के पास आ कर खड़ी हो गयी थी। लाल ने कैसी प्रोत्साहन भरी मुसकराहट के साथ उस की ओर देखा था। लिली का मुख लाल हो गया था, ठीक अपने ब्लाउज की तरह।

उस दिन श्रेणी (कमरे) में पहुँचते ही उसे एक चिट मिला—लिखा था "सब काग़ज़ पत्र मेज़ के ड्राअर में बन्द कर के रखें।"

उस ने ड्राअर देखने के लिए हाथ बढ़ाया था, तो देखा, मेज़ में ड्राअर ही नहीं। छात्र हँस पड़े थे। "मिस, मिस घोष ने नयी टेबिल माँगी थी। हेड क्लर्क पाजी है, अभी तक दी नहीं।"

वह सोच रही थी कि एक लड़का, जो

अपने को हीरो की पदवी देता है, खड़ा हो गया था।

उस ने उस की ओर देखा था, तो वह बोला, "मैं कुरसियों के लिए और मेज़ के लिए अभी कह कर आया।" उस की आज्ञा की अपेक्षा किये बिना ही वह चला गया। उस की देखा-देखी दो छात्र और बाहर चले गये।

उस ने अपनी सखी को पत्र लिखा :

"प्रिय सखी,

बहुत दूर से तुम्हें पत्र लिख रही हूँ। बी० ए० करते समय हमें, 'ऐडलोसेण्ट' का मनोविज्ञान पढ़ाया गया था। उस पुस्तक के लेखक की मुलाक़ात 'ऐडलोसेण्ट' से नहीं हुई थी। मेरी हुई है।

तुम ने अपनी शिक्षा का बहुत अच्छा लाभ उठाया है कि अपनी बेबी को साँझ के समय पार्क में घुमाने ले जाती हो। यहाँ क्लास में बच्चे या तो कुछ समझते नहीं या जरूरत से अधिक समझते है। मैं ने एक ही सहेली बनायी है–पूर्णिमा सेन। और दुश्मन अनेक।

स्कूल का रूप वैसा ही है, जैसा हमारे समय में था। चाक की धूल, सादे बिना शीशों के दरवाजे, लम्बे-लम्बे चुप-गम्भीर गलियारे, स्थान-स्थान पर गिरता चूना। फिनायल की दुर्गन्ध से सड़े हुए गुसलखाने। स्कूल मे बदइन्तजामी का यह हाल है कि कक्षाओं में विद्यार्थी ज़्यादा और कुरसियाँ कम है। फ़र्नीचर पर शायद उस समय पॉलिश किया गया होगा जब वह खरीदा गया था। अभी तो पूरे स्कूल में एक डॉक्टर लाल तथा मिस पार्वती चर्चा के विषय हैं।

मिस पार्वती मनोवैज्ञानिक सहायता करती हैं, विशेष कर विद्यार्थियों की जो पढ़ने में किसी तरह पीछे हों। उन्हें चाय बना कर पिलाती हैं और फिर उलटे-सीधे प्रश्न करती हैं।

कुछ छात्र तो उस को खूब समझ गये हैं। जब चाय पीनी होती है वहाँ जा बैठते हैं। वह हर कक्षा को जीवन में शिक्षा के महत्त्व पर सप्ताह में एक बार लेक्चर देती हैं। अपने को मिस की जगह डॉक्टर पार्वती कहलाना पसन्द करती हैं। कलकत्ता को उन्होंने अमरीका बना दिया है और स्वयं को वह फ़ायड का अवतार समझती हैं।

डॉक्टर लाल सचमुच के डॉक्टर हैं। बने हुए नहीं। डिग्री विदेशी है—खुद देशी हैं। विदेश नहीं गये। विशुद्ध विदेशी उच्चारण। कीट्स की कविता मे 'सौन्दर्य-बोध' पर सौ पन्ने की थीसिस लिख कर डॉक्टर बने हैं। हवा मे भी सौन्दर्य-बोध की सुगन्ध उन्हें मिल जाती है। पहले दिन ही उन्होंने मेहमाननवाजी दिखलायी। मुझे खाना खिलाया, पर सारे शहर में इस दावत की खबर फैल गयी। इस के बाद नसीहतों के चिट आये है—'आज लंच खा लिया आपने, परन्तु सावधान रहें। यह विश्वसनीय नही हैं।' 'डॉक्टर लाल मुझ से प्रेम करते है—आप आज ही आयी हैं, इस लिए जानती नही—एक छात्रा।'

बताओ, ऐसे वातावरण में कितने दिन रह सकती हूँ। यदि पूछो कि घर का काम

क्यो नही करते तो उत्तर मिलता है

'मै लिख रही थी कि मेरे फाउण्टेन पेन की निब टूट गयी ।'

'मुझे इतिहास पढने का चाव है। अँगरेजी अच्छी नही लगती ।'

'माँ कल सिनेमा चली गयी थी । छोटे भाई को मुझे देखना पडा ।'

'माँ कहती हैं—मँहगाई के समय में नौकर रखना कठिन है, तुम लोग घर के काम-काज में हाथ बँटाया करो । मै ने माँ से कहा था कि टीचर गुस्सा करेंगी, तो ? इस पर माँ बोली थी, टीचर से कहो आ कर घर का काम करवा जायें । करेंगी, सोचता हूँ, आप के गोरे हाथ मैले हो जायेंगे ।'

अच्छा है, तुम किसी को पढा नही रही हो ।

तुम्हारी
—केतकी

उस ने देखा, अध्यापिका को सुझाव देने वाले डिब्बे में वहुत-से सुझाव हैं

"आप चुन-चुन कर साडियाँ पहन कर आती हैं, जिस से हमारा ध्यान बँटता है। आप सादे कपडे क्यो नही पहनती ?"

"जब से आप आयी हैं, मैं घर पर बैठा रहता हूँ और आप के बारे में सोचता हूँ। मुझे कोई भाई-बहन बुलाये तो भी बुरा लगता है । माँ हैरान है कि मुझे क्या हो गया है ?"

"मै यह नही समझ पाती कि आप डॉक्टर लाल से क्यो इतनी मित्रता बढा रही है । मै ने आप को एक रेस्तराँ में उन के साथ चाय पीते देखा था । आप दोनो हँस कर बातें कर रहे थे । मुझे देखते आप चुप हो गयीं, वह बोले थे—'चाय पियोगी ?' काश उन्होने पूछा होता—ज़हर पियोगी ?"

"प्रिय अध्यापिका जी, मै ने आप की तरह कोई और देखा नही । न ही स्कूल में, न ही घर में । आप बहुत अच्छी है ।"

"मै ने अपनी राय बदल ली है । अध्यापक भी मनुष्य हो सकते है। यदि आप जैसी अध्यापिकाएँ हो तो समझ लीजिए, हमारे भाग्य खुल गये । वह बूढे-बूढे अध्यापक हमें अच्छे नही लगते ।"

"आप बहुत बददिमाग है—श्रेणी में कुछ लोगो को प्रश्रय देती हैं ।"

"हमारे अध्यापक केवल पुरुष होने चाहिए । हमें नारी अध्यापिकाएँ नही चाहिएँ । सब नारियाँ खराब होती है, इस में तो आप को सन्देह नही होना चाहिए । मुझे एक ही अफसोस है कि आप अच्छा पढाती है, नही तो हम ने हडताल की होती । अभी लगता है हडताल करना आसान नही ।"

इन सुझावो को पढ कर वह हैरान रह गयी थी । उस का मन नही हुआ कि वह उन्हें कुछ और पढ़ाये । उस ने उन्हें टेस्ट दे दिया । तीन प्रश्न थे

(१) हम रामायण और महाभारत क्यो पढते है ?

(२) अपनी सस्कृति से क्या तात्पर्य है ?

(३) पौराणिक आख्यानो से किस बात का बोध होता है ?

उत्तर पढ कर उसे पता नही था कि उस की बेचैनी और बढ जायेगी ।

"हम लोग सांस्कृतिक लोगों से बातचीत करते है। यदि किसी ने राम तथा अर्जुन के विषय मे पूछ लिया तो उत्तर हमें आना चाहिए।"

"हम लोग रामायण इस लिए पढ़ते है कि देखें राम ने सीता का परित्याग क्यों किया था ? उस ज़माने मे धोबियों का बड़ा महत्त्व था। वाशिंग मशीन, सर्फ़ और लक्स कुछ भी नही मिलता था। धोबी की बात पर पत्नी को घर से निकाल दिया था।"

"द्रौपदी का चीरहरण 'स्ट्रिपटीज़' का पुराना रूप है।"

"पौराणिक संस्कृति से मतलब है—खजुराहो एवं कोणार्क की मूर्त्तियाँ। ममी कहती हैं, उन्हें कोई ब्रेसरी का साइज़ पूरा न आता होगा। आप का क्या खयाल है ?"

"क्या आप पुरी का मन्दिर देख चुकी है ? न देखा हो तो ज़रूर देखें।"

"हम रामायण और महाभारत इस लिए पढ़ते है कि उस समय की लिखने की शैली जान सकें।"

"द्रौपदी के पाँच पति थे। वह केवल पुरुषों से बात करना पसन्द करती थीं। उन्हें भारतीय नारी का आदर्श माना जाता है। मेरी दीदी के केवल दो ही 'बाय-फ्रेण्ड' है, माँ उन्हे उठते-बैठते कोसती रहती है। वह क्यों ? आप कोई उपाय बतला सकती है ?"

"महाभारत आजकल क्यों पढ़ाया जाता है। आजकल भारत शान्तिप्रिय हो गया है। छात्रों मे अनुशासनहीनता का एक यह कारण भी है। भाई से भाई लड़े। बहुत बुरी बात है।"

"भगवान् राम की प्रेम-कथा जानने के लिए हम लोग रामायण पढ़ते हैं।"

सखी को उस ने एक और पत्र लिखा :

"प्रिय अमिता,

तुम्हारा पत्र मिला। धन्यवाद। मुझे तो लगता था, मैं बिलकुल अन्धकार में धँस गयी। तुम्हारा पत्र पा कर लगा कि मेरा भ्रम था। मैं सचमुच में महत्त्वपूर्ण काम कर रही हूँ। जिस कॉलेज के विषय में तुम ने लिखा है, वहाँ मेरा जाना हो सकता है। जगह भी सुन्दर है। मै सोच रही हूँ, तुम्हारी बात मान लूँ। कॉलेज में पढ़ाना आजकल आसान हो गया है। पर, हायर सेकण्डरी और स्कूल लीविंग के छात्र आजकल बड़े अलमस्त हो गये हैं। कल अचानक एक टेस्ट के पेपर मुझे देखने को मिले। प्रश्न था—तुम जीवन में क्या बनना चाहते हो ?

उत्तर देखो :

'मै करोड़पति बनना चाहता हूँ ताकि इस स्कूल को खरीद सकूँ और यहाँ नृत्य की क्लासें खोल सकूँ। मज़ा आ जाये—डॉक्टर राय अपना सिर पीट लें।'

'मैं अँगरेज़ी की टीचर बनना चाहती हूँ ताकि डॉक्टर लाल से खुले रूप में प्रेम कर सकूँ'—'लिली।'

'मै तेनसिंह बनना चाहता हूँ, हिमालय-पर चढ़ने वाला नहीं, मिस पार्वती वाला, जो मन की गहराइयों में झाँक कर ढूँढ़ लाये।'

'मैं राजेन्द्रकुमार की तरह अभिनेता बनना चाहता हूँ ताकि मेरी क्लास-टीचर मेरा अभिनय देखें।'

'मैं आप का पेन फ्रेण्ड बनना चाहता हूँ। मैं आप को पत्र लिखूँ तो आप उत्तर देंगी।'

बताओ ऐसे स्कूल में मैं कितने दिन रहूँ।

तुम्हारी,
केतकी"

उस दिन पेन का ऊपर वाला ढकना रद्दी कागज़ की टोकरी में चला गया था। वह ढूँढ रही थी कि गुलाबी महीन कागज़ पर लिखा एक पत्र हाथ लगा। पत्र डॉक्टर लाल के नाम था। इधर कुछ दिनों से डॉक्टर लाल की उस से मित्रता बढ रही थी। दोनों अक्सर भोजन इकट्ठा करते। बाहर घूमते भी इकट्ठा। कुछ कविताओं का आदान प्रदान भी हुआ था। चिट्ठी में लिखा था

"प्रियतम,

तुम मेरे स्वप्नों के राजा हो। जागृत अवस्था में तुम्हारा सम्बन्ध अपनी अँगरेजी की मिस के साथ देख कर बडा क्रोध आता है। मैं ने अँगरेजी की क्लास में जाना छोड दिया है। पहले तो आप ऐसे नही थे, मुझ से बात-चीत करते थे। कभी-कभी बाहर मिलते थे, अब आप को क्या हो गया है। उस चुडैल ने कुछ कर दिया है। मैं आप को एक महीने का समय देती हूँ। उसे छोड दीजिए नही-तो मैं टीचर्स बाथरूम वाली छत से कूद पडूँगी। मैं अभी भी आप को बहुत चाहती हूँ। रात-भर मेरे सपनों में आप आते हैं। स्कूल में और भी बहुत-से 'सर' हैं। वह उन से बात-चीत क्यों नही करती? ओह! मेरी साँस घुटती है प्रियतम! आप का स्पर्श—मैं कभी नही भूल सकती। उस पेंटिंग पर जो कविताएँ लिख कर दी है, मैं सोने से पहले उन्हें अवश्य पढ लेती हूँ। बोलिए, मुझे कब मिलेंगे। आप की प्रतीक्षा करती रहती हूँ। मेरा टेलीफोन नम्बर वही है। भूलें नही!

जन्म-जन्म से आप की,
लिली"

वह हतप्रभ रह गयी। इस बात का एहसास तो उसे था कि लिली डॉक्टर लाल पर जान छिटकती है, परन्तु यह पत्र!

उसी समय लाल को उस ने पत्र दे दिया। बतला भी दिया कि कहाँ पाया गया। लाल हँस पडा। फिर जोर से कहकहा लगाया। उसे लगा, क़हक़हों का तूफ़ान आ गया है और वह उस में बह रही है। कही छोर नहीं, कहीं ठिकाना नही। वह भीतर-ही-भीतर सिकुड गयी।

लाल कह रहा था, "तुम इस लडकी की बातों पर यक़ीन मत करो। वह झूठ बोलती है।"

उस ने देखा, दीवार पर पोस्टर लगा था—'ट्रूथ इज़ ब्यूटी—ब्यूटी इज़ ट्रूथ'—सत्य सौंदर्य है और सौंदर्य सत्य है। क्या लाल सच बोल रहा है? नही शायद बिलकुल झूठ बोल रहा है। सत्य सौन्दर्य नही। सत्य घिनौना है।

एक दिन स्कूल समाप्त हो जाने पर उसे एक डायरी अपनी टेबिल पर रखी हुई

मिली। शायद जान-बूझ कर रखी थी। उस ने पहला पन्ना खोला, लिखा था: "मैं खाना बन्द नहीं कर सकती, अपना पेट ठूँस-ठूँस-कर भर लेती हूँ। इस में मुझे सान्त्वना मिलती है। मुझे हर समय भूख लगी रहती है।

आज डॉक्टर लाल ने मुझे एक पत्थर दिया। मैं बोली, पत्थर से क्या होगा? वह बोले, यह तुम्हें मेरी याद दिलायेगा। चम-चमाता पत्थर पुरी के समुद्र-तट से लाया हूँ। इसे तुम सँभाल कर रखोगी तो आभार मानूँगा।

माँ बोली, यह क्या ले आयी है?

माँ को कैसे कहूँ कि वह डॉक्टर लाल को नहीं जानती, यह पत्थर नहीं हीरा है।

पापा सोचते हैं—मै अभी भी छोटी लड़की हूँ। वह नही समझते कि मै बड़ी हो गयी हूँ—प्रेम कर सकती हूँ। मैं डॉक्टर लाल से प्रेम करती हूँ।

यह नयी टीचर जाने कहाँ आसमान से आ टपकी है। शायद मेरा जीवन नष्ट करने के लिए आयी है।

आज मैं ने मीटिंग में देखा था। डॉक्टर लाल केवल अँगरेज़ी-टीचर की ओर देख रहे थे।

मुझे अँगरेज़ी से चिढ़ हो गयी है। पहले यह मेरा सब से प्रिय विषय था।

ग्यारहवीं श्रेणी का अमिय चटर्जी जाने मुझे क्यों घूर-घूर कर देखता है। उस की दृष्टि मेरे गले के नीचे रहती है। मेरी आँखें यों ही झुक जाती है।

आज दो सप्ताह से स्कूल बन्द है। मुझे इन लड़कों से बड़ी चिढ़ है। ये बिना कारण के कोई गड़बड़ कर देते हैं और स्कूल बन्द कर देना पड़ता है। डॉक्टर लाल के दर्शन भी नहीं होते। पार्क स्ट्रीट के उस रेस्तराँ में भी मैं कई बार हो आयी हूँ, जहाँ वह बार-बार जाते थे। आजकल वहाँ भी नहीं जाते। ज़रूर उस चुड़ैल के घर जाते होंगे!

आज मैं ने डॉक्टर लाल को पत्र लिखा था। देते समय हाथ काँप रहे थे।

मै ने अपने हाथ मे लाल के लिए पत्र रखा था, जाने कहाँ गिर गया। हरीश के हाथ लग गया तो स्कूल के नोटिस-बोर्ड पर टाँग देगा। सब लोग देखेंगे और हँसेंगे। मैं कहाँ परवाह करती हूँ। हँसते हैं तो हँसें। माँ से भी तो मैं ने कह दिया है न···क्या वह भी ऐसा सोचती है?

मैं अपने मन की उथल-पुथल कहाँ ले जाऊँ। आखिर अँगरेजी की अध्यापिका में क्या है जो मुझ मे नही है। भूगोल के 'सर' कह रहे थे—लिली, तुम अजन्ता की मूर्तियों के समान सुन्दर हो!

जाने सभी लड़के, जो मुझ से जरा-जरा ऊँचे हैं, मुझे घूर-घूर कर क्यों देखते हैं? कोई भी ऐसा नही जो नज़रें झुका ले। हर बार मुझे ही झुका लेनी पड़ती हैं।

आज ग्यारहवीं श्रेणी के अमित ने एक पत्र मुझे दिया। उस में लिखा था—हम और तुम मित्र हो सकते हैं, तुम बड़े लोगों के पीछे कैसे लगी हो? तुम्हारी दिलचस्पी डॉक्टर

है ? कोई तुम्हारी यार-दोस्त है ? सच कहती हूं अगर कोई ऐसी वात है तो मैं कुछ भी नही कहूँगी, सब कुछ सह लूँगी, बस तुम मुझे ले भर चलो।"

कैसी ऊदबिलाव-जैसी बातें करती हो! सच कहता हूं, मार बैठूंगा।" और भुवन ने मुझे बाँहो में कस लिया था। मैं फिर सब कुछ भूल गयी थी। शहर जाने की ललक, उन से हठ करने की उमग, उन को ग्विजाने-मनवाने की पुलक—सब कुछ समाप्त हो गयी थी। फुसफुसाते स्वर में मैं ने पूछा था, "बोलो न, मेरे शहर ले चलने में क्या कठिनाई है ?"

"अब कुछ नही बताऊँगा, सीधा तुम्हें ले ही चलूँगा, मुझे तुम पर बहुत गुस्सा आ रहा है, फिर मत कहना, मुझे यहाँ क्यो लाये ?"

"नही कहूँगी।" मैं मगन हो गयी थी। भुवन के सीने में मैं ने मुँह छिपा लिया था।

सचमुच अगले दिन भुवन ने मुझे चलने की तैयारी करने के लिए कह दिया था। मैं तो तैयार ही बैठी थी, क्या देर लगती मुझ को, बडे उल्लसित मन से मैं शहर आ गयी थी। देख-देख कर मेरी आँखें फट गयी थी। यहाँ कितनी स्वतन्त्रता है, मर्द लुगाई साथ-साथ चलते हैं! औरतें नगी, उघाडी-सी दिखाई देती है पर उन्हें कोई कुछ नही कहता, आँख उठा कर देखता भी नही, जैसे यह सब कुछ यहाँ के लिए एकदम स्वाभाविक हो। मैं भी भुवन के साथ इसी तरह घूमूँगी। ताँगे में बैठे हुए मैं ने सडक पर जाते स्त्री-पुरुषो को देखते हुए सोचा, कितना आनन्द आयेगा यहाँ, सास-ससुर किसी का भी तो डर नही है। एक हिलोर-सी उठ रही थी मेरे मन में।

ताँगा रुका तो हैरान रह गयी देख कर, —गेट के भीतर लॉन, लॉन के पार बडी भारी कोठी, कोठी में अनेक कमरे, दालान और सहन।

"ये हैं सरिता भाभी, कुछ दिन इन्ही के साथ तुम्हे रहना पडेगा, तब तक मैं मकान तय कर लूँगा।" ताँगे के स्वर से बाहर खिच आयी महिला से भुवन ने मेरा परिचय करवाया।

मैं ने सामने खडी सरिता भाभी को हाथ जोड कर नमस्ते की थी, प्रत्युत्तर में उन्होंने मुझे हृदय से लगा लिया।

"प्रतीक्षा की भी सीमा होती है रानी, कितनी बार भुवनजी से अनुरोध किया था, तुम्हें लायें, पर भुवनजी थे कि इन के कानों पर जूँ ही नही रेंगती थी। ईश्वर ने आज मुराद पूरी की है मेरी।"

मैं अवाक् थी, सरिता भाभी के हृदय में प्रेम की कितनी गहरी सरिता बह रही थी, हम दोनो के लिए। सरिता भाभी के स्वर की मिठास ने मेरे कलेजे को जैसे हर्षोन्मत्त बना दिया था। सरिता भाभी का इतना बडा घर है—क्या हम इस में हमेशा-हमेशा के लिए नही रह सकते ? क्या पडी है भुवन को मकान ढूँढने की। रात को मैं ने भुवन से फिर पूछा था, "ये सरिता भाभी कौन हैं, तुम ने कभी जिक्र नही किया। कितना मीठा बोलती हैं। हमें क्या ये अपने पास हमेशा के

लिए नहीं रख सकतीं ? मेरा मतलब है, ये अपने ही मकान में क्या हमें एक कमरा नहीं दे सकती ?"

"सरिता भाभी सब कुछ कर सकती है, तुम राज़ी होओ तो ! मेरे मित्र की भाभी हैं, मित्र के भाई विदेश गये हुए है। भाभी यहीं दफ़्तर मे काम करती हैं, मुझे बहुत चाहती है। वो तो खुद भी यही रहने के लिए कह रही थी, मैं ने ही मना कर दिया नहीं तो दिल्ली मे, तुम्हें मकान का अन्दाजा है, कितने मे मिलता है ? इसी लिए तुम्हें लाने से कतरा रहा था।"

"मुझे कुछ अन्दाज़ा नहीं है, वैसे जैसा तुम चाहो।" मैं ने चैन की साँस ली। अब तो आ ही गयी हूँ, जो कुछ भी हो। भुवन को उस रात मै ने दुलार कर सुला दिया था। सवेरे हम लोग अभी तैयार भी नहीं हुए थे, कि सरिता भाभी ने खुटखुटाया, "भुवन, सुमन, दोनों आ जाओ, चाय तैयार है। तुम लोग बहुत इन्तजार करवाते हो !" फिर स्वर में कुछ मुलामियत भरती हुई बोलीं, "मै भी कैसी पागल हूँ, सब कुछ भूल गयी हूँ। ये तुम्हारे खेलने-खाने के दिन है, देर से उठना स्वाभाविक है। अच्छा, कल से कुछ नहीं कहूँगी। तभी चाय तैयार करूँगी जब तुम लोग उठ जाओगे।"

कैसी बात कह गयी थी सरिता भाभी ! शहर के लोगों को क्या बिलकुल भी लाज-शरम नहीं होती। सकुचा कर रह गयी थी। बाद को पता चला, यह तो सरिता भाभी ने कुछ भी नहीं कहा था, भाभी होने के नाते का वे पूरा फ़ायदा उठाती थीं। जो कुछ उन्होंने कहा था, वह तो उन की चटकोली-चमकीली बातों की केवल भूमिका मात्र थी। उन की बातों को मैं सहन करती चली। भुवन दिन को ऑफ़िस जाते, सुबह-शाम मकान ढूँढ़ते और रात को सो रहते। सुबह-शाम भुवन सरिता भाभीके चार्ज मे रहते, रात को मेरे और दिन को अपने बॉस के—मुझे सन्तुष्ट रहना चाहिए था। मेरा हिस्सा सब से बड़ा था, पर मैं पीली पड़ती जा रही थी। मुझे सरिता भाभी की उन की सुबह-शाम की देख-रेख भी बुरी लगने लगी थी। भुवन खाना खा कर उठते और सरिता भाभी के आँचल से हाथ पोंछ लेते, ग़ुसलखाने में नहाने जाते और सरिता भाभी का तौलिया उठा कर ले जाते।

"भाभी, तुम्हारे तो तौलिये मे भी ख़ुशबू बसी है, ले जाऊँ न ?" सरिता भाभी पहले हलके से डपटतीं, कि वे फिर काहे से पोंछेंगी, फिर भुवन के तौलिये को खींच कर कहतीं, "ठीक है, जाओ मुझे भी तुम्हारे तौलिये से खूब ख़ुशबू आती है, फिर मेरे तौलिये से तुम्हारा वाला दुगना बड़ा भी है, अब नहीं दूँगी, समझे।"

भुपन ठठाकर हँसते और फिर सरिता भाभी से कुछ अँगरेजी में बोलते हुए ग़ुसल-खाने में घुस जाते। लौटते तो सरिता भाभी के तेल को ही सिर में डालते, उन के ही कंघे से बाल बनाते, फिर कहते, "भाभी, आज ऑफ़िस की सब टॉइपिस्ट लड़कियाँ मेरे साथ भिड़ों की तरह चिपटी चली आयेंगी, चाय तैयार रखिएगा।"

"खाली चाय से क्या बनेगा ।" असली बात सरिता भाभी ओठों में ही चबा जाती, पर भुवन उन के कटाक्षपात से ही जैसे सब कुछ समझ लेते और फिर देर तक हँसते रहते। खाने की टेबिल पर बैठते और सरिता भाभी की थाली कब भुवन की बन जाती और भुवन की थाली सरिता भाभी के कब्जे में ढंग से पहुँच जाती—उसे देख कर मैं जल-भुन जाती।

रात को मैं शिकायत करती, "यह क्या तमाशा है ! ऐसी भाभी मैंने दुनिया की पीठ पर नही देखी।" तो भुवन मुझे खींच कर मेरा मुँह चुम्बनों से भर देते—"तुम पागल हो ! तुम ने अभी देखा ही क्या है ! मैं जानता था, तुम शहर के वातावरण से निभ कर नही चल पाओगी।" भुवन फुसफुसा कर मुझे समझाते और मैं उन की बाँहों की गरमी में सब कुछ भूल जाती, अपने को सब से भाग्यवती मान मैं गुलाबी हो उठती, पर सवेरा होते ही मेरा गुलाबीपन फिर पूछने लगता। पिलापा मेरी सारी देह को ढक लेता—मुझ को, मेरे कपड़ों को, मेरे चारों ओर के परिवेश को। मुझे भूख प्यास लगनी बन्द हो गयी।

"मैं खाना नही खाऊँगी।" मैं टेबिल पर बैठने से इनकार कर देती, दिन-भर सोने का बहाना करती हुई सोचती रहती, भुवन को इस जाल से कैसे मुक्त करूँ। मुझे खुशी हुई, जब उस दिन सरिता भाभी ने ही सूचना दी, "सुमन, राजेन्द्र नगर में एक मकान है, आज मेरे एक सहयोगी ने मुझे दफ्तर में बताया है। दूर बहुत पड़ेगा क्या, तुम वहाँ रहना पसन्द करोगी ? वैसे मैं तो चाहती थी, तुम इसी कम्पाउण्ड में मेरे पास ही रहो, कितने कमरे तो खाली पड़े हैं।"

"नहीं, बड़े शहरों में क्या दूर, क्या पास, सब जगह तो बसें आती-जाती हैं, वही ठीक रहेगा।" और सरिता भाभी के ढेर ना-नुच करने पर भी मैं भुवन को ले कर नये घर में आ गयी। भगवान् को लाख धन्यवाद दिया, भुवन को मैं समूचा ले आयी हूँ, मेरे भुवन तो मेरे हाथ से फिसले ही जा रहे थे !

"क्या सरिता भाभी की याद आ रही है ?" मैं भुवन को उदास देख कर कभी-कभी कोंच देती। मैं भी मुखर हो चली थी।

"आ तो रही है, मुझे जाने दोगी वहाँ ?"

"भूल कर भी नही, चोरी-छिपे जाओ तो तुम्हें मेरी कसम।" मैं भुवन को दबोच कर सो जाती। थोड़ी देर में देखती, सिर्फ भुवन की देह ही मेरे हाथों में है, भुवन की आँखें, भुवन का मन, दूर किसी भूलभुलैया में उलझा है। मैं कहती, "मेरी बात नही सुनोगे ?"

"सुनाओ।" वे अनमने मन से कहते।

"तुम मुझे प्यार नही करते हो !"

"प्यार नही करता, क्या बात कह रही हो ! मैं समूचा दसों इन्द्रियों के साथ तुम्हारे पास नही हूँ ? और क्या चाहती हो ?"

मैं और क्या चाहती हूँ, कैसे बताती ! सचमुच भुवन अब समूचे ही तो मेरे क़ब्ज़े में थे, मैं उन्हें उलटाती-पलटाती, जो चाहे करती, उन का हाथ अपनी छाती पर घण्टों रखे रहती, वे कभी इनकार नही करते, वे खुद मुझे अपने पास और सटा लेते, पर

मुझे लगता, न जाने क्या है जो मेरे पास नहीं है, जिस को वहीं मैं सरिता भाभी के पास छोड़ आयी हूँ और उस छूटे हुए के लिए ही मै तड़प-तड़प कर रोती रहती, मसोसती रहती, पर भुवन कुछ नहीं समझ पाते, कि मैं क्यों रो रही हूँ क्यों तड़प रही हूँ। पानी में मीन प्यासी रे···भुवन को मैं कैसे समझाती, उन्होंने अपना सब कुछ तो मुझे दे डाला था।

एक बीता हुआ कल

भुवन, कैसे बताऊँ, कि तुम ने इन पाँच दिनों मे मुझे कितना सुख दे डाला है! कब से राह देख रही थी कि तुम कभी मेरे पास रहोगे। अकेले तो कभी सम्भव नहीं होता, सुमन के साथ ही सम्भव हो पाया, मैं तुम दोनों की ऋणी हूँ—पाँच दिन, पाँच रात मेरे लिए एक कल्प का सुख! तुम्हे अपना हृदय चीर कर कैसे दिखाऊँ, पर चीर कर दिखाने की तुम्हें ज़रूरत नहीं है, मैं तुम्हे जानती हूँ, बहुत अच्छी तरह जानती हूँ। उस दिन से जानती हूँ जब तुम मेरी ज़िन्दगी मे चुपके से चले आये थे, बिना कुछ कहे-सुने। पर जब तुम मेरी दुःखो नीरस जिन्दगी को रसोन्मत्त करने आ ही गये तो मैं तुम्हे कैसे दुरदुराती! मैं तुम्हारे पाश में बँधती चली गयी, भूल गयी कि मै तो अब तक एक वर्जिन-सरीखा ही जीवन बिताती आयी हूँ, तुम्हारे सामीप्य के इतने सारे सुख को कहाँ धरूँगी-उठाऊँगी। अब याद आती है तो कलेजा फटता है, स्मृतियाँ तीर बन कर चुभती हैं—मैं तो बिलकुल अकेली थी भुवन, तुम मेरी जिन्दगी में आये ही क्यों? तुम ने मुझे वह रस क्यों पिलाया, जो सात समुन्दर दूर बैठे मेरे प्रियतम मुझे नहीं पिला पाये थे, एक मुड़ी-तुड़ी बेल की तरह मैं सिकुड़ कर रह गयी थी—तुम ने मेरे नैराश्य और अँधेरे की झिल्लियाँ उतार कर रख दीं, अपने सुमधुर हास्य और चुटीले व्यंग्यों से मुझे गुदगुदा दिया, मेरे अन्तर में एक विचित्र हाला भर दी—मैं तुम्हारे पास आती गयी, कितने पास, जानते हो, तुम जानते हो, इस लिए नहीं ही कहूँगी, आज पास की वही कचोटन मुझे झुलसा रही है।

मै तुम्हारे बहुत पास थी। तुम्हारे सुख-दुःख की साथिन अपने को मानती थी, इसी लिए तुम्हारी अनुपस्थिति मे छटपटाती रही थी। तुम इतने दिनों बाद लौटे तो मेरे सभी बाँध टूट गये, फिर मुझे तुम इतने समीप कब मिलोगे, रात-दिन मेरी आँखों के सामने कैसे रहोगे—यही मान मैं तुम्हारे सम्पर्क-सुख को जी भर कर लूटने लगी। भूल गयी कि सुमन का तुम्हारे ऊपर सब से पहला अधिकार है। मेरा रत्ती-भर अधिकार भी उसे ज़हर लगेगा और हुआ भी यही। न मैं अन्धी हूँ भुवन, न विवेकहीन—इतनी विचारने-समझने की शक्ति मुझ में है, सो मैं ने सुमन की इच्छा को पूरा करवा दिया। सोचा था, तुम हमेशा की तरह मेरे पास आया ही करोगे, मुझे फिर काहे का दुःख रहेगा भला, पर अब मेरी प्रतीक्षा की आदत ज्यों की त्यों है और तुम्हारा मुझे खिजाने का अभ्यास और बढ़ चला है। मै आज भी अपने दफ़्तर के

सामने तुम्हारी प्रतीक्षा करती रही, तुम मुझे जैसे पहले हर शनिवार को लेने आते थे, उसी तरह मेरी प्रतीक्षा करते खडे मिलोगे—उसी सुख की कल्पना-कामना करती मैं बाहर निकली थी। मैं भूल गयी थी, आज की परिस्थितियों में तुम्हारा मुझे भूल जाना कितना स्वाभाविक है। अपने पति प्रियतम से कभी इस तरह का सुख नही पाया तो इस का अनुमान भी कैसे लगा पाती। कल्पना का कुछ अश जो तुम ने सत्य किया था, उसी के बल पर हृदय थिरक रहा था।

प्रतीक्षा के आखिरी लमहे पर तुम परसो आये थे, मुझे हृदय से सटा कर तुम ने कहा था, "मुझे भूल गयी हो ?"

"मैं भूल गयी हूँ! क्या कह रहे हो भुवन! यहाँ तो चौबीसो घण्टे तुम्हारी ही स्मृति में खोयी रहती हूँ, और तुम हो कि मुझ से सत्तर कोस की दूरी पर जा कर बैठ गये हो, कैसे धीरज धरूँ ?'

"मुझे तुम्हारा खयाल है सरिता भाभी, विश्वास करो! बस मेरा शरीर-भर तुम्हारे पास नही है, नही तो मैं तो तुम्हारा ही हूँ—मेरा हृदय, मेरे प्राण, मेरी आत्मा।"

सुन कर मैं हर्षोन्मत्त हो उठी थी, मेरा हृदय बल्लियो उछला था, पर अब जब आधी रात को इस विशाल वियाबान में अकेली बैठी हूँ, बाहर विकराल पानी पड रहा है और सर्वत्र अन्धकार पुरा है। दूर कही झिल्लियो का समवेत स्वर कानो को फोडे डाल रहा है तो मैं सोचती हूँ, सुमन के समक्ष मैं कितनी गरीब हूँ! तुम्हारे हाथ टटोलने के लिए मैं फडफडा रही हूँ, तुम्हारे सोने पर छाये जगल में अपनी उँगलियाँ उलझा कर सो रहने के लिए मैं तडप रही हूँ। नहीं जानती जिस अपने हृदय को तुम मेरे पास सौंप गये हो उस से कैसे जी भर कर भेटूँ, कैसे बोलूँ-बतियाऊँ, उसे कैसे धरूँ उठाऊँ। इतनी दूर बैठे तुम—बोलो न, मुझे कुछ तो समझा दो, तुम्हारे हृदय में कैसे झाँकूँ, कैसे उसे अपना मान कर जीती रहूँ ? व्यथा को शब्दो मे नही उँडेल पाऊँगी और शब्दो में उँडेल कर तुम से कहूँ भी तो क्या, क्या हृदय से भी बडी कोई और चीज होती है जो तुम मुझे देते।

एक अनजाना क्षण

बहुत अकेला था सरिता, जब तुम से जुडा था। हम तुम जैसे किसी चाँदनी के कगार पर अचानक मिल गये थे और एक दूसरे के हो कर रह गये थे। कहाँ जानता था तब मैं कि दुनिया में एक बन्धन ऐसा भी होता है जिस की गाँठ को बँधा देख कर ही समाज हमें सच्चरित्रता का खिताब देता है। वह गाँठ मुझे बाँधनी पडी और मैं उस पाश में बुरी तरह बँध गया। सुमन के प्रति मेरा कितना दायित्व है, इस की अनुभूति तो मुझे उसी क्षण ही हुई थी और तब मेरे मस्तिष्क पर जैसे गाज गिरा हो, कैसे निभा पाऊँगा इतने बडे उत्तरदायित्व को ? फिर लगा मैं पुरुष हूँ, अपने पौरुष से सब कुछ खे ले जाऊँगा—खेने का प्रयत्न किया तो बाँहें ढीली पड गयी, थक गयी। तुम्हारी स्मृतियो ने मेरे मन-मस्तिष्क

को रुला दिया, आँखें अन्धी हो गयीं, चारों ओर विकराल जल, तीव्र झंझावात और सूना अन्धकार—इन अन्धी आँखों से किधर बढ़ूँ, तुम्हारी ओर या सुमन की ओर ? दोनों नदी के दो किनारे है और दोनों मुझे अपनी-अपनी ओर घसीट रहे हैं। मेरे पास दो ही चीजें थीं मेरी सरिता—देह और हृदय, मैं ने दोनों बाँट दिये। अपनी सर्वोत्तम निधि को उन्मुक्त भाव से दे डालने मे कितना सुख है—इस सत्य को पहचानने के लिए मैं ने अपना सब कुछ दे डाला। मैं निर्धन बन बैठा पर न जाने क्या कुछ अन्तर में अब भी अड़ा है, जो मुझे इधर-उधर हिलने-डुलने नहीं दे रहा। प्रयत्न करता हूँ तो स्वयं को निरुपाय भाव से घायल पाता हूँ, सब कुछ दे कर मैं दुःखी नही हूँ; दुःखी हूँ तो सिर्फ़ इस लिए कि मैं स्वयं तो रिक्त हुआ ही, जिन को मैं ने सब कुछ दिया, वे भी रिक्त ही रहे, उन्हे भी कुछ नही मिल पाया। तब ? तब प्रेम क्या बस पीडा का ही दूसरा नाम है ? फिर व्यक्ति इस पाश मे क्यों फँसता है ? सुनता हूँ, व्यक्ति जान-बूझ कर इस पाश मे नहीं फँसता, अलग-थलग बैठा कोई चुपके से उसे इस मे ठूँस देता है, बद्ध कर देता है और फिर व्यक्ति न उस से छूट पाता है, न कोई उसे छुटा पाता है—एक मीठा-मीठा दर्द, एक अनजानी जलन उस को चारों ओर से वेष्टित कर लेती है। इस जलन को वह अपने सीने से लगाये सुलगता रहता है, पतंगे की तरह, जिस के जीवन का लक्ष्य बस जलना भर है, पर इस जलन को मैं कैसे सहूँ, बड़ी पीड़ा है, मर्मान्तिक पीड़ा। तब क्या करूँ, कैसे मुक्ति पाऊँ ? बोलो न सरिता, बोलो न सुमन, तुम दोनों बोलो ! तुम नहीं बोल रही हो, तुम्हारी बाँहें मेरे पास लपकती चली आ रही हैं और मैं व्यग्र हूँ, तुम अपनी इन लम्बी-लम्बी बाँहों से मुझे सचमुच दबोच लोगी ! मुझ में अब दबोचे जाने की सामर्थ्य नहीं रह गयी है—तब, तब क्या करूँ, लो भय के कारण मैं खुले समुद्र मे कूद पड़ा हूँ, अब तक समस्या की नाव पर चढ़ा सरक रहा था। हिम्मत कर के मै अपनी इसी नावसे छलाँग लगा कर कूद पड़ा हूँ और जब कूद पड़ा हूँ तो मुक्त हो गया हूँ····मुक्त अपनी समस्या से, मुक्त अपने राग से। प्रेम से फिर भी अलबत्ता मुक्ति नहीं पा सका हूँ, पर मुझे ख़ुशी है, मैं प्रेम के सागर मे अब भी तैर रहा हूँ।

मुक्त मछली की तरह उन्मुक्त तैर रहा हूँ। मछली कैसे तैरती है—पानी से सम्पृक्त भी और असम्पृक्त भी। सोचता हूँ, प्रेम की समस्या का समाधान भी क्या यही नही है ? समाधान मिलता है तो आश्वस्त होने का प्रयत्न करता हूँ, पर आश्वस्त हो कर भी सुखी कहाँ हूँ, अब एक दूसरी तरह छटपटा रहा हूँ। आश्वस्त होने का सुख मुझे कचोट रहा है। ग़रीब मछली की भी तो यही नियति है न, पानी के बीच मे भी वह कुलन से बिलबिलाती है और पानी के बाहर भी। पानी के मध्य की उस की कुलन किसी को दिख नहीं पाती न !

[अक्तूबर १९६७]

डेकोरेशन पीस

•

हृदयेश

आप के पास एक मकान है और उस में एक ड्राइंग रूम है। ऐसा सब के साथ नहीं होता है पर मान लिया जाये कि आप उन सौभाग्यशालियों में से हैं जिन के पास वह है। निश्चय ही तब आप को अपने ड्राइंगरूम के प्रति काफी दिलचस्पी होगी। आप यह चाहेंगे और आप की बराबर यह कोशिश होगी—जाने और अनजाने—कि उसे कुछ ऐसा रूप दिया जाये कि देखने वालों के दिल में वह खुब जाये, वे सराह की निगाह से देखें और एक अच्छे डायलॉग के टुकड़े की तरह मन-ही-मन उस का चटखारा लें। वे पायें कि आप के पास कुछ विशेष है, कुछ ऐसा है जो सहज प्राप्य नहीं है। अब मान लिया जाये कि आप का ड्राइंगरूम मुकम्मिल है और आप के पास फुरसत की भी कमी नहीं है। आप ड्राइंगरूम में बैठना पसन्द करेंगे। आप के पास कोई आया है। बात आप के ड्राइंगरूम के किसी डेकोरेशन पीस की बाबत उठी है। आप उस और दूसरे पीस के बारे में आगन्तुक को सम्पूर्ण जानकारी देने में रुचि लेंगे। उस में आप को एक आन्तरिक उल्लास मिलेगा, आप गौरव के सुवासित फुहार से अपने को भीगता महसूस करेंगे, क्योंकि आप उस के स्वामी हैं।

इस कहानी में भी ड्राइंगरूम है और उस के स्वामी हैं श्यामदास जी। भगवान् की उन पर कृपा है। वह व्यापार करते हैं। चीनी तैयार करने का एक अच्छा बड़ा प्लाण्ट है, कोल्ड स्टोरेज है, और सीमेण्ट के स्टॉकिस्ट हैं। पिछले दिनों नयी कोठी बनवायी है।

सुबह नौ का समय है। श्यामदास जी ड्राइंगरूम में बैठे हैं। एक अन्य सज्जन भी साथ में हैं। नया-नया परिचय हुआ है। बगीचे की ओर को खिड़कियाँ खुली हैं और परदे खिंचे हुए हैं। धूप एक नरम सी उजास कमरे में भर रही है।

बातचीत के दौरान सज्जन ने नीचे बिछी क़ालीन के बारे में पूछा है।

श्यामदास जी ने आधी पी हुई सिगरेट को राखदानी मे डाल दिया—इस को मै ने शाहजहाँपुर से ऑर्डर पर तैयार कराया। शहर यों छोटा है पर शाहजहाँपुर मे क़ालीन का काम नम्बर एक का होता है। बिलकुल ईरानी डिजाइन है। असली ऑस्ट्रेलियन ऊन लगा है। चार साल पहले इस की क़ीमत सात सौ रुपये थी, अब तो यह एक हज़ार से कम का न होगा।

—यह कोने में जो ताजमहल का मॉडल रखा है, इतना बड़ा आप ने कम ही देखा होगा। ३० इंच ऊँचा है। आगरा गया था तो मेरी नजर पड़ गयी। कारीग़र कहने लगा कि उस ने इतना बड़ा इस से पहले कभी नहीं बनाया है और पहले-पहल मेरे पास जा रहा है। यहाँ लाते हुए इस की दायीं मीनार मे ज़रब आ गयी थी। मैं ने आगरा से उसी कारीगर को बुलवा कर ठीक कराया। यह जगह इस से कितनी भरी-भरी लगती है।

—जी हाँ, यह सोफ़ा-सेट अखरोट की लकड़ी का है। बड़ी हलकी लकड़ी होती है यह, फूल-जैसी। फिर बराबर चमकती यों रहती है, जैसे अभी-अभी पॉलिश का हाथ लगाया गया हो। नक़्क़ाशी भी कश्मीरी है। अखरोट की लकड़ी का दरअसल सही काम कश्मीर में ही हो सकता है। वहाँ यह बहुतायत से मिलती है और वे इस के हुनर में माहिर है।

दीवार में कई चित्र लगे थे। कुछ दृश्य और कुछ पोर्ट्रेट। सज्जन उन चित्रों की ओर देखने लगे। श्यामदास जी के चेहरे पर जैसे रोशनदान से सीधा आ कर धूप का टुकड़ा पड़ने लगा हो जो उन की मुसकराहट में भी घुल-मिल गया हो—यह बीच वाला चित्र मेरे पिता जी का है। किसी महापुरुष-जैसे लग रहे हैं न ?

चित्र ३½′ × १¾′ साइज़ का था। एक चौड़े पॉलिशदार फ़्रेम मे जड़ा था। नीचे वाली पट्टी पर लिखा था—रामदास जी १८९६-१९५०। एक वृद्ध चेहरा था, जिस की मूँछ के बाल छोटे-छोटे थे। सिर पर भी इतने ही बड़े बाल मशीन से तराशे हुए थे। आँखों के पास सिलवटों का जाल था, पर वे फैली हुई काफ़ी बड़ी और तेजोद्दीप्त थीं। जबड़े की हड्डी चौड़ी और उभरी हुई थी और वहाँ एक चिकनापन था। मोटे कपड़े का एक सादा-सा कुरता था, जिस में गले का ऊपरी बटन खुला था और कण्ठ के नीचे रुपये जितने आकार का एक नरम-सा गड्ढा चमक रहा था।

—मेरे पिता जी एक तपे हुए व्यक्ति थे। वह गान्धी जी, जवाहरलाल जी, पन्त जी, शास्त्री जी के साथी रहे। उन्होंने इन नेताओं के साथ कन्धे-से-कन्धा मिला कर आज़ादी की लड़ाई लडी थी। जब वह पढ़ते थे तभी गान्धी जी की पुकार सुन कर मैदान मे आ कूदे थे।—श्यामदास जी ने कुरसी के पीछे से कुशन उठा कर गोद में रख लिया और दोनों हाथ की कोहनियाँ उस पर टिका

ली। उन के दाहिने हाथ की चार उँगलियो में से तीन में अँगूठियाँ पडी थी, जिन में कीमती नग जडे हुए थे। उन के स्वर में नग-जैसी आभा दमक आयी—आप ने मेरे पिता जी का भाषण कभी सुना नही है। जिन्होने सुना है, उन को उस की अब भी याद है। उस में बडी तपिश और कशिश होती थी। मैं तब १३-१४ साल का हूँगा। मैं उन के साथ जलसे में गया था। सुभाप-पार्क जहाँ आज है, वही मैदान था। पहले यह और भी बडा था। सुनने वालों से वह खचा खच भरा हुआ था। पिता जी मच पर बोल रहे थे। उन को कुछ ही दिन जेल से बाहर आये हुए थे। अक्टूबर के दिन थे। एकाएक पानी पडने लगा और भीड में खल-बली हुई। पिता जी ने चुटकी लेते हुए कहा—वर्षा की नन्ही बूँदो से ही आप लोग घबरा गये ? तब अँगरेजी हुकूमत की गोलियाँ और लाठी-प्रहारो की परवाह न कर अपने लक्ष्य की ओर बढते जाने की बात बनावटी है। क्या आप लोग इसी बल-बूते पर आजादी की लडाई लडेंगे ? फिर भीड वैसे ही पानी में भीगती बैठी रही थी। कुछ देर बाद पानी रुक गया और वह बोले—वर्षा ने आप की दृढता देख कर हार मान ली। अँगरेजी हुकूमत भी इसी तरह आप के इरादो की मजबूती के सामने अपनी शिकस्त कबूल कर लेगी।

सज्जन ने चश्मा उतार लिया और उस के शीशों को रूमाल से साफ करने लगे। साफ कर चश्मा आँखो पर फिर लगा लिया। उन की आँखो में विस्मय का भाव था।

—पिता जी की यो पढाई इण्टर के बाद ही खत्म हो गयी थी, पर उन के ज्ञान की थाह कोई नही ले सकता था। वह समुद्र थे, समुद्र। वह अँगरेजी, हिन्दी, उर्दू, सस्कृत समान अधिकार मे बोल लेते थे। न जाने कितने शेर और श्लोक उन को याद थे जिन को वह अपने विचारो की पुष्टि में सुनाते रहते थे। उन्होने जेल में बहुत पढा था। इतिहास और महापुरुषों के जीवनचरित उन की प्रिय पुस्तकें थी। वह १६-१६ घण्टे तक काम करते थे और जानते हो उन का भोजन क्या था ? नमक पडा दलिया, लौकी और पालक की भाजी और सुबह के समय आधी छटाँक भीगे हुए चने और गाय का एक पाव दूध। बस उन की हड्डियाँ जैसे इस्पात की थी। वह थकते नही थे। वह कहते थे कि जीवन में सीखने और करने को बहुत है और समय थोडा है। बाद में आदमी और सब पा सकता है, पर गँवाया हुआ समय नही। एक-एक क्षण का अधिक-से-अधिक सदुपयोग करना चाहिए। प्रत्येक महापुरुष इस लिए महापुरुष हुआ कि उस ने समय के मूल्य को जाना।

—पिता जी का पहनावा भी बिलकुल सादा था। चित्र में आप कुरता देख रहे हैं। वही पहनते थे। नीचे घुटनो तक ऊँची धोती होती थी। जाडो में तन पर रूई की मिर्जई आ जाती थी। वह अपने कपडो के लिए खुद चर्खा कात कर सूत कातते थे। धोती फट जाती थी तो उस के टुकडों से रूमाल

और बनियान तैयार करवा लेते थे। नंगे तख़्त या फ़र्श पर सोने मे उन को कोई दिक़्क़त नहीं होती थी। उन के पास पैसे रहते ही नहीं थे। कॉंग्रेस के जलसों में भाग लेने के लिए उन के टिकिट की जुगाड़ कोई दूसरा करता था। जलसों में भाग लेने का नशा इतना तेज़ था कि चाहे गौहाटी हो चाहे अहमदाबाद, वह हर स्थान पर जाते थे। मद्रास अधिवेशन में—जिस के अध्यक्ष डॉ० अन्सारी थे—वह १०२ डिग्री बुख़ार की हालत में गये थे।

अन्दर एक मैना आ गयी थी और उड़ कर परदे की रॉड पर बैठ गयी। बाहर दरवाज़े पर नौकर मौजूद था और उस को बाहर निकालने के लिए अन्दर आ गया। मैना मैण्टलपीस पर रखे गौतमबुद्ध के कांस्य बस्ट पर बैठ गयी, फिर रोशनदान के फ़्रेम पर। जब नौकर ने उसे वहाँ से उडाया तो वह फिर बाहर निकल गयी। गैरेज के बाहर मोटर खड़ी थी और ड्राइवर नली लगाये धो रहा था।

—पिता जी की दाहिनी भौंह के ऊपर जो आप एक लम्बा गहरा निशान देख रहे हैं, यह चोट का है। सन् '२८ में 'गो बैक साइमन' के प्रदर्शन के वक़्त पुलिस ने इन की पिटाई की थी। पन्त जी भी साथ में थे और उन को भी पीटा गया था। पिता जी के सिर और सीने दोनों जगह लाठियाँ पड़ी थीं। वह गिर गये और पुलिस वाले उन को कुचलते हुए निकल गये। वह बेहोश हो गये थे और लोगों को आशंका हुई कि वह बचेंगे नहीं। पर वह बेहोशी की हालत मे भी बुदबुदाते रहते थे—साइमन कमीशन वापस जाओ, साइमन कमीशन वापस जाओ।

सज्जन बोले, ऐसे ही महापुरुषों के कारण हम को स्वतन्त्रता मिल सकी है।

—आप ठीक कहते हैं। पिता जी का योग काफ़ी रहा है। अपनी मृत्यु से पहले गोविन्दवल्लभ पन्त का दो बार इस नगर में आगमन हुआ था और दोनों बार ही घर पर आये। जेल मे दोनों साल-भर एक साथ रहे थे और दोनों में बहुत मित्रता हो गयी थी। पन्त जी पिता जी के जेल-जीवन के बहुत सारे क़िस्से सुनाते थे। जेल में एक कबूतर बिल्ली द्वारा घायल हो गया था। पिता जी ने उसे अपनी बैरक में रख कर तीन सप्ताह तक उपचार किया और फिर उड़ा दिया। कबूतर बार-बार उन के पास लौट आता। पिता जी कहते—मुझ से अब तेरा मोह करना अविवेक-मय है। तू स्वतन्त्र जीवन जी और निस्सीम नील गगन को अपना कर्मक्षेत्र बना।—पिता जी यदि जीवित रहते तो पहले आमचुनाव मे ही कॉंग्रेस उन को टिकिट देती और वह चुन लिये जाते। पिता जी मिनिस्टर बनते।

'मिनिस्टर' शब्द आते ही सज्जन कुछ चौंक-से गये और फिर सामने लगे चित्र को और अधिक सराह-भाव से देखने लगे।

•

•

ड्राइंगरूम मे श्यामदास जी की पत्नी आ गयी थी। वह एक भरे जिस्म की औरत थी—उस क़िस्म की जिन पर बेफ़िक्री, तुष्टि और

आराम का आलस्य, उनींदा और चिकनापन हरदम छाया रहता है। उस के साथ दो औरतें और थी एक कुछ कम उम्र की, कुमारी से जो शीघ्र ही पत्नी बनी हो, और दूसरी प्रौढा, पत्नीत्व और मातृत्व जिस के लिए अनुभव बन चुके हों।

उन दोनो औरतो को परदे के कपडे की लाल जमीन पर बनी हरी चटाई वाली डिजाइन पसन्द आयी थी। श्यामदास जी की पत्नी ने बताया कि परदे के कपडे की पसन्दगी उस की अपनी है। खिडकी के पास मेज पर एक बडा-सा सितार रखा था, मयूर की आकृति का। एक ओर एक पॉलिशदार पत्थर के गुलदान में छोटे-छोटे गेंदनुमा कैक्टस लगे थे। पास में एयर इण्डिया की सेवाओ का सूचक परम्परायुक्त भूषा में महाराजा का एक छोटा-सा बस्ट था।

—बहन, श्यामदास जी की पत्नी ने प्रौढा महिला को सम्बोधित किया—मैं जब यहाँ आ कर बिलकुल अकेली बैठती हूँ तो मुझे लगता है कि बाबू जी अभी तसवीर में से बोल देंगे। पूछेंगे, शकुन्तला, तुम ने बापू की वाणी का पारायण कर लिया है ? उन दिनो बहन मैं रोज नियम से बापू के उपदेशो का पाठ करती थी। अब वह छूट गया है, पर मुझे लगता है कि मुझे करना चाहिए। बाबू जी कहा करते थे किसी दिन पिकेटिंग के जत्थे में वह मुझ को भी ले जा कर भरती करवा देंगे। एक बार बाबू जी एक औरत को घर ले आये। उस का पति जेल चला गया था। आश्रम में जाने से पहले वह १५ दिन इस घर में रही। बाबू जी कहते थे कि जो रूखा-सूखा हम खायेंगे वही वह पायेगी। यहाँ तो सुदामा के तन्दुल हैं। शुरू में मेरी जबान से निकल गया कि बाबू जी यह किस जाति की है। बाबू जी हँस दिये—बेटी, बापू की वाणी से तुम ने अभी तक यह नही जाना कि सब मनुष्यो की जाति एक ही होती है। ईश्वरीय प्रकाश सब घटो में समान रूप से प्रकाशित होता है। मेरी जब पहली सन्तान हुई थी, बाबू जी ने उस का नाम स्वराज्य रखा। वह बोले थे कि पौराणिक शकुन्तला ने भरत को जन्म दिया था और तुम ने स्वराज्य को। उन की कुछ बातें तो बराबर याद आती रहती हैं। एक बार बेलन टूट गया था और दूसरे का फौरन जुगाड न हो सका। बाबू जी ने कहा कि मैं बोतल से रोटियाँ बेल लूँ। जेल में ऐसे कई अवसर आये और उन्होंने बोतल का प्रयोग किया।

—बहन, श्यामदास जी की पत्नी के स्वर में नाटय-पात्र के सवाद जैसा उतार-चढाव था—जैसी मुसकराहट आप इन की तसवीर में देख रही हो, ऐसी मुसकराहट बराबर इन के चेहरे पर रहती थी। जिस समय अपना शरीर त्यागा तब भी इन के चेहरे पर ऐसा ही ताजापन था। यह जवाहरलाल नेहरू के साथ जेल में रहे थे। जीवित होते तो बाबू जी मन्त्री होते या किसी प्रान्त के गवर्नर।

वे औरतें वैसे एयर इण्डिया के महाराजा के समीप रखे पीतल की एक फुट ऊँची नग्न औरत की मूर्त्ति में रुचि लेनी जो अपने

उरोजों को दोनों हाथों से छिपाने का असफल प्रयास कर रही थीं, पर अब वे बाबू जी के चित्र में दिलचस्पी दिखा रही थीं।

•
•

वहाँ आगे-पीछे दो स्कूटर आ कर रुक गये थे और उन पर से चार नवयुवक उतरे। उन में एक श्यामदास जी का पुत्र था और शेष तीन उस के साथी। वे चारों ड्राइंगरूम मे आ कर बैठ गये। धूप से चल कर आने के कारण उन के चेहरों पर अतिरिक्त चमक थी। वे सब चुस्त बुश्शर्ट और ड्रेनपाइप-कट पतलून पहने थे और उन के जिस्म बेहद मैस्कुलिन लग रहे थे। वे युनिर्सिटी मे यूनियन के होने वाले चुनाव के सम्बन्ध में बातें करने लगे। उन में जो ग्रे शेड की बुश्शर्ट पहने था और जिस की मूँछ एक काली रेखा की तरह तराशी हुई थी, प्रेसीडेण्टशिप के लिए खड़ा हो रहा था।

—भाई एस०, अगर मैं जीतूँगा तो तुम्हारी कैन्वेसिंग के कारण।

—मैं भी तेरे लिए खून को डिस्टिल्ड वॉटर बना रहा हूँ। इतना एहसान-फ़रामोश न हो।—चेक डिजाइन की ड्रेसवाला बोला, जिस का चेहरा देख कर कोई भी कह सकता था कि कुछ शक्लें जानवर-मार्का होती हैं, मसलन बकरे की—।

—जीतने पर जो मै ग्रैण्ड पार्टी दूँगा, लिस्ट मे अपना नाम शामिल कराने के लिए मुझे वक्त रहते याद दिला देना।

वे हँसने लगे।

—यार मुझे अब अफ़सोस होता है कि मैं ने युनिवर्सिटी इतने पहले छोड़ दी। दो साल बी० ए० मे फ़्रीज हो गया तो पापा बोले कि अब पढ़ाई खत्म करो, तुम्हें बिज़नेस करना है और बिज़नेस मे आओ। उन्होंने मुझे बम्बई का एक ट्रिप लगवा दिया और मैं भी राज़ी हो गया।—श्यामदास जी का पुत्र एस० आवाज़ के दबाव को कुछ कम करता हुआ बोला।

—तो अब फिर ज्वाइन कर लो।

—नही, अब तो प्रोफ़ेसरों वाली उम्र हो रही है। प्रेसीडेण्टशिप का इलेक्शन तब मैं हार गया था। गुप्ता का ग्रुप अन्तिम समय में टूट गया और मुझे बदनाम कर दिया कि मैं प्रॉक्टर का कैण्डीडेट हूँ। पर अब की यह के० पी० हो जायेगा। इस बार हमारी पकड़ बहुत मजबूत है।

चेक डिजाइन की ड्रेस वाले ने अपनी घड़ी मे टाइम देखा था और फिर सामने दीवार पर लगी घडी में। बारह मिनिट का अन्तर था।

—तेरी चूनदानी गलत होगी।

—क्या मेरी घड़ी स्लो है?

हाँ, आँ, तेरी! इस क्लॉक में सेकेण्ड के सौवें हिस्से का भी फ़र्क़ हो नहीं सकता। जर्मनी से स्मगल्ड की हुई है। पापा के एक मित्र कस्टम में हैं और उन के ज़रिये मिल गयी। पाँच साल में क्या मजाल जो नुक्ता भर भी इधर-उधर हुई हो।—एस० के चेहरे पर एक चिकनी चमक आ गयी।

—इस का डॉयल भी बहुत खूबसूरत है।

—यहाँ का हर पीस ए-वन है।

—के० पी०, दादा जी की तसवीर के ऊपर यह घडी लगी है। एक दिन मैं ने इस बात पर गौर किया तो मुझे बडी हँसी आयी। मुझे लगा कि हम-सब ने दादा जी से मज़ाक किया है। पापा बताते थे कि दादा जी के पास कोई घडी नही थी, पर उन को समय का बहुत सही ज्ञान रहता था। वह ठीक चार बजे उठ जाते थे। शौच, स्नान और ध्यान के बाद वह सूत कातने बैठते थे। जब उठते तब कहते थे कि छह बजा होगा और एक मिनट बाद ही कोतवाली में छह की गजर बजती थी। जब वह दोपहर का खाना खा कर श्री गाधी आश्रम के लिए निकलते थे तो दादी समझ जाती थी कि बारह बज रहे हैं। सफर पर जाना होता था तो उन को किसी के जगाने की आवश्यकता नही होती थी। ठीक समय पर उन की आँख खुल जाती थी। पापा बताते थे कि उन के दिमाग में घडी थी।

—गान्धी जी की कमर से लटकती घडी वाला पोज़ तसवीरो में बडा अच्छा आता है। —चेक डिज़ाइन की ड्रेस वाला बोला।

—दादा जी के बारे में एक बहुत महत्त्वपूर्ण बात और बताऊँ। इस का पता बहुत कम लोगो को है। दादा जी का जन्म २९ फरवरी १८९६ को हुआ था और इसी दिन डिप्टी प्राइम मिनिस्टर मोरार जी देसाई भी पैदा हुए थे।

—यह तो तुम ने बडी मार्के वाली बात खोजी।

—मुझे लगता है कि वे दोनो एक-दूसरे से कही बहुत गहरे जुडे थे।

●

●

इस समय ड्राइगरूम में श्यामदास जी की लडकी सुजाता अपने फ्रेण्ड माधव के साथ बैठी थी। उस ने दो पृष्ठ का लम्बा पत्र माधव को पकडा दिया था और बोली थी, लो इस को पढो, जगदीश के दिमाग़ की खुजली पता चल जायेगी।—शाम का अँधेरा कुछ-कुछ कमरे में भरने लगा था और उस ने पीछे रखा टेबल लैम्प जला दिया था। रोशनी के साथ दो फुट के वृत्ताकार शेड पर रग बिरगी जापानी औरतों की छाता लगाये मनोहारी मुद्राएँ जगमगा उठी।

पत्र पढ कर माधव मुसकराया। उस का तीखा नक्श और भी तीक्ष्ण हो गया—दिमाग की नही, दिल की खुजली है।

—कही की भी हो, पर खुजली बीमारी ही कहलायेगी।—सुजाता भी मुसकराने लगी और उस का गोल मुखडा और भी गोल लगने लगा—इस पत्र को लिखने में उस बेचारे न कम से कम तीन-चार दिन मेहनत की होगी, पूरा लिट्रेचर है।

—वैसे यह तो तुम भी स्वीकारोगी कि वह साहित्यिक रुचि का है और अच्छी-खासी कविताएँ लिख देता है। पिछले महीने उस का आकाशवाणी पर प्रोगाम भी था।

—उस की कविताओं में सिर्फ़ मातम ही मातम रहता है। मुझे उदासी की कविताएँ कभी भी पसन्द नहीं आतीं। जीवन क्या यह बस दुःख की चादर ओढ़ लेने के लिए ही है? मैं ने एक बार कहा था तो बोला था कि हाँ आप के सुझाव में औचित्य है। मैं कुछ रचनाओं मे उल्लास के उद्वेग को बाँधूँगा। फिर दो-तीन गीत लिखने के बाद बोला था कि वे ठीक बन नहीं पा रहे है। वे उस की आन्तरिकता को छूते नहीं है। शायद उस के अन्दर एक ही कवि है।

—यह पहले तुम्हारे साथ काफ़ी रहता था।

—तभी इस को भ्रम हो गया कि मैं उस को 'लव' करती हूँ। माधव, एक बात तुम को पते की बताऊँ। देख लेना, आगे चल कर या तो यह कहीं अध्यापकी करेगा या क्लर्की, इस के आगे यह जा ही नहीं सकता।

—यह तो ठीक कहती हो, इस का बड़ा भाई भी अध्यापक है।

नौकर किश्ती मे चाय रख गया था। प्यालियों की चीनी इतनी पतली थी कि चाय ढलक कर पारदर्शी बन जाती थी।

—कोई-कोई प्याली मुझे लड़कियों के अधर-जैसी लगती है।—माधव प्याली आँखों के सामने लाता हुआ बोला।

—जगदीश का पत्र पढ़ कर शायद तुम्हारी जबान मे खुजली होने लगी है।—एक मुसकराहट—यह सेट मैं ने अपनी पसन्द से खरीदा है। क्रॉकरी की ख़ूबसूरती उस की चीनी के नाजुकपन में ही है जब ये एक-दूसरे से टकराती हैं तो बड़ी सुरीली आवाज निकालती हैं।

—या लड़कियों की तरह हँसने लगती हैं।

—लो मैं सच में हँस रही हूँ।

माधव फिर कुछ देर बताता रहा कि उस का विचार अगले वर्ष क़ानून की पढ़ाई समाप्त कर ऑल इण्डिया सर्विसेज़ के कम्पिटीशन में बैठने का है। फिर वह अमेरिका से लौटे एक मित्र के अनुभव सुनाने लगा कि वहाँ के लोग कितना खुला जीवन जीते है। फिर वह औद्योगिक प्रदर्शनी के बारे मे बातें करने लगा जो अगले महीने होने जा रही थी और जिस के लिए तैयारियाँ काफ़ी समय से चल रही थीं।

—इस का उद्घाटन शायद राज्यपाल करेंगे।

राज्यपाल!—सुजाता चौंकी—माधव, तुम को बताऊँ, अपने प्रदेश के राज्यपाल भी दादा जी के साथी रहे है। ये सब उसी समय के हैं।

—पिछले समय के अब कुछ ही नेता बच रहे है।

—माधव, दादा जी का यह चित्र मुझे काफ़ी पसन्द है। इस में प्राकृतिकता है। एक साहब कह रहे थे कि मैं ऑयल पेण्ट्स से एक चित्र तैयार करवाऊँ। मुझे यह राय ठीक लगती है।

—हाँ, तैल रंग स्थायी होते है।

—पर मैं बिलकुल ऐसा ही चित्र बनवाना चाहती हूँ। मैं ने दादा जी को देखा

नही, पर पापा ममी बताते है कि वह हू-ब हू ऐसे ही थे।

•

•

इस कहानी में एक और भी ड्राइगरूम है और उस के स्वामी है रामदास के दूसरे पुत्र अर्थात् श्यामदास जी के छोटे भाई। वह खाद्य विभाग में एक सरकारी अफसर है और दूसरे नगर में रहते है। उन का भी एक ड्राइगरूम है और वहाँ भी रामदास जी का चित्र अन्य डेकोरेशन पीसेज़ के साथ एक विशिष्ट स्थान पर लगा हुआ है।

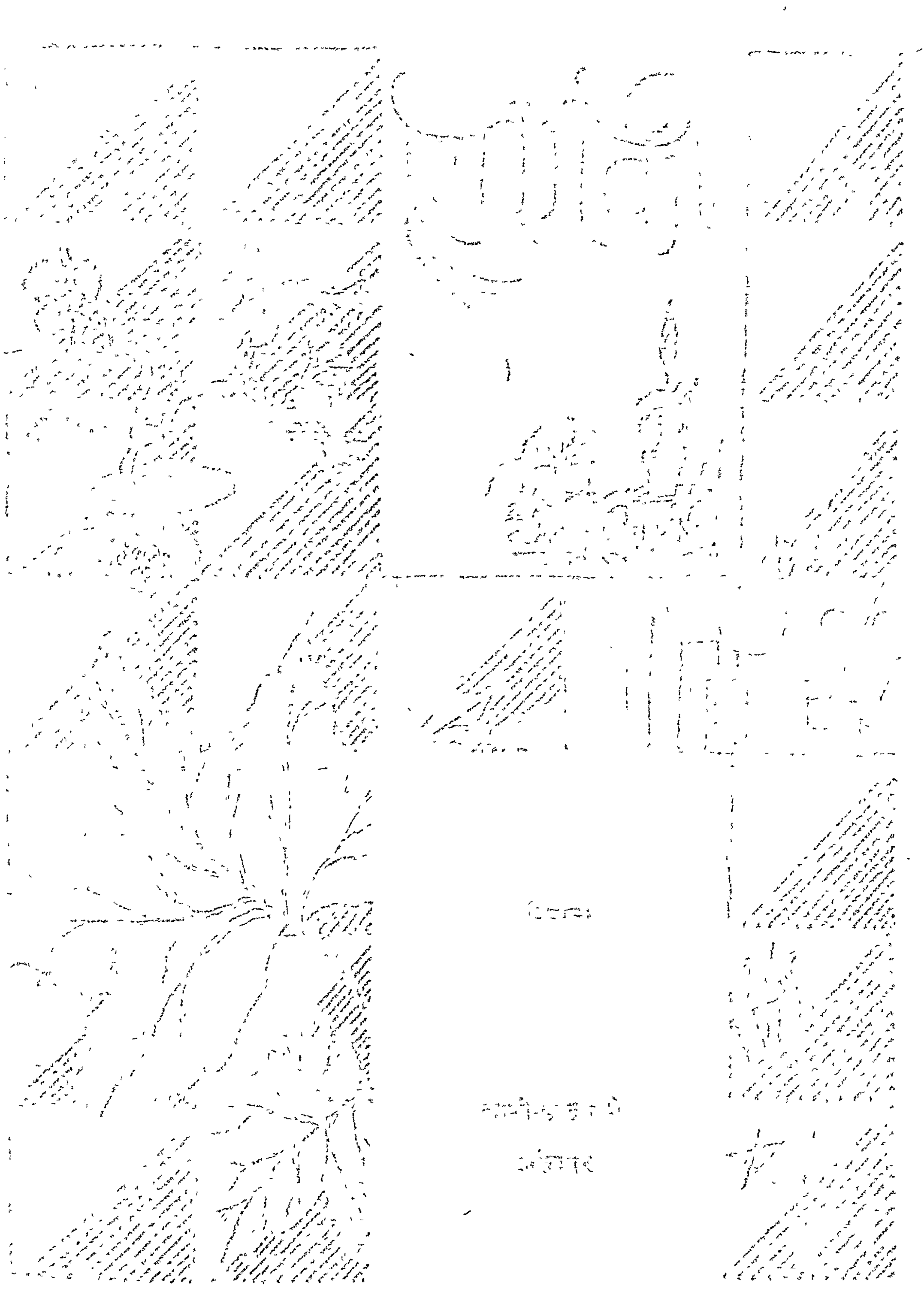
—यह मेरे फ़ादर का है। जवाहरलाल नेहरू और गोविन्दवल्लभ पन्त के साथ इन्होंने आज़ादी की लडाई लडी थी।

—अपने पहले प्राइम मिनिस्टर के साथ ?

—हाँ। सब मिला कर फादर ने करीब दस साल की सज़ा भुगती थी। मदर की जब डेथ हुई थी तब भी यह जेल में थे।

ड्राइगरूम में बैठा व्यक्ति चित्र की ओर सराह की दृष्टि से देखने लगता।

[फ़रवरी १९६९]



एकांकी

विष्णु प्रभाकर

लक्ष्मीनारायण लाल

पिपासा

विष्णु प्रभाकर



[रंगमंच पर साज-सज्जा नितान्त प्रतीकात्मक है। दाहिनी ओर कुछ पेड़ियाँ बनी हुई हैं, जो बाहर की ओर ले जाती हैं। इस ओर बस्ती है। बायीं ओर एक सड़क तनिक ऊपर को उठती हुई जाती है। उस ओर चौराहा है। सामने टेलीफ़ोन का एक खम्बा, कुछ तार, उन के पीछे-पीछे विशाल अट्टालिकाएँ नज़र आती है। जिस समय परदा उठता है, उस समय दाहिनी ओर की पेड़ियों से हो कर एक ग्रामीण वृद्धा एक आधुनिक युवक के साथ मंच पर घबरायी हुई प्रवेश करती है।]

प्रो० जगदीश : मैं सब कुछ जानता हूँ। माँ, मैं सब कुछ जानता हूँ। अब तुम मुझे बताओ कि मुझे क्या करना है?

माँ : वही तो बताती हूँ। मै यहाँ इस लिए आयो थी कि कुछ शान्ति मिलेगी। गाँव मे पचीस वर्ष से पड़े-पड़े सड़ रही थी। यहाँ जी कुछ और-सा होगा। लेकिन यहाँ आ कर क्या देखा कि वही मेरा बेटा, जिस ने हमे सताया, बड़ी शान के साथ चौराहे पर खड़ा है। लोग उस की जय-जयकार करते है। उस को सिर नवाते हैं। क्या वे नहीं जानते कि कितना जालिम था, मेरा बेटा। मेरा बेटा····

प्रो० जगदीश : तुम्हारा अपना बेटा नहीं···· सौतेला बेटा !

माँ : तो उस से क्या, है तो वह मेरे पति का बेटा ही। इसीलिए मेरा भी है। इसी से मेरे प्रति उस की जिम्मेदारी कम नहीं हो जाती। पचीस साल से मैं ने उस की सूरत नहीं देखी, दर-दर की भीख माँगी, जूठे बरतन माँजे, अपमान सहा, पर उस से कभी कुछ नही चाहा। समझ लिया जैसे वह था ही नही।

प्रो० जगदीश : यही तो तुम नहीं कर सकी, माँ! कर पाती तो····

माँ : तू मेरी बात नहीं समझ रहा। जाने दे,

मैं अपनी बात नही कहती। मैं उस की सौतेली माँ हो सकती हूँ। पर उस को विवाहिता तो सौतेली नही थी। उस को भी छोड कर चला आया। कहता था, यहाँ मेरा दम घुटा जा रहा हैं। यहाँ मेरा जी नही लगता। रोटी के चन्द टुकडे इकट्ठे करने के लिए मैं अपना जीवन नष्ट नही करना चाहता

प्रो० जगदीश तो इस में उस ने ऐसी कौन-सी बुरी बात कही थी।

माँ इस में कोई बुरी बात नही थी? भला रे! अपनी विवाहिता को छोड देना बुरा नही तो और क्या बुरा हैं। और इतना ही नही, उस के बाद उस ने दूसरी शादी की। फिर कही चला गया, सुना, साधू हो गया। बरसो तक कुछ पता नही लगा। कुछ साल पहले फिर सुना कि उस ने दूसरी विवाहिता को भी तलाक दे दिया और तीसरी शादी कर ली। और यह भी सुना वह बडी कविताएँ करता है। जेल हो आया है। समझ में नही आता समझ में नही आता

प्रो० जगदीश और आयेगा भी नही। क्योकि तुम समझना नही चाहती। माँ, तुम्हारा वह बेटा घरौंदो में बन्द रहने के लिए पैदा नही हुआ था। सदा कुछ न-कुछ करने को आतुर उसकी प्रतिभा उसे चचल बनाये रखती थी। वह केवल प्यार ही नही चाहता था ।लेकिन जाने दो, पहले तुम अपनी बात कहो।

माँ कहूँ तो तब, जब तू सुने। मेरी वह बहू है ना, उस ने जब से उस मूर्ति को देखा है, आग उगल रही है। कहती है

प्रो० जगदीश अब कहो ना, क्या कहती है।

माँ क्या बताऊँ। मुझे तो कहते हुए भी डर लगता है। पर तुझ से छिपाऊँ भी क्या? वह उस मूर्ति को तोडना चाहती है।

प्रो० जगदीश ['चकित] किस मूर्ति को।

माँ उसी मूर्ति को ।

प्रो० जगदीश ओह, वह कवि शकर की मूर्ति को तोडना चाहती है [हँसता है]। वही अधिकार-लिप्सा, वही कुण्ठा, जो पुरुष को बन्दी न बना सकने के कारण नारी में पैदा होती है। लेकिन यह सब गलत है। पागल पन है।

माँ वही तो मैं भी कहती हूँ। मैं तो तब से काँप रही हूँ। न जाने क्या होने वाला है। रात उल्लू भी तो बोल रहा था। बहुतेरा समझाया कि आखिर वह तेरा पति है, उस ने देश के लिए बहुत काम किया है।

प्रो० जगदीश, माँ, तुम्हारा वह बेटा, केवल देश के लिए भी नही था। वह क्रान्तिद्रष्टा कवि था। उस की वाणी मे ओज था, उस के आवाहन में जादू था।

माँ यही तो मैं ने उस से कहा। पर वह बोली, 'एक पुण्य दस पापों को नही ढँक सकता। उस ने मेरी और तुम्हारी हत्या भी तो की है। क्या हम उस के कुछ नही थे! अगर तुम मेरा साथ नही देती तो मत दो, लेकिन मैं अपनी प्रतिज्ञा पूरी करूँगी। मैं उस मूर्ति की नाक तोड दूँगी, उस का मुँह काला कर दूँगी।'

प्रो० जगदीश नारी जब किसी को प्यार

करती है, तो वह तब तक सन्तुष्ट नहीं होती, जब तक उस की आत्मा पर पूर्ण आधिपत्य न जमा ले–और फिर हिन्दू नारी, जो इसे अपना जन्म-जन्मान्तर का अधिकार मानती है। क्या यह स्वार्थ की चरम सीमा नहीं।

माँ : नहीं, नहीं, स्वार्थ नहीं। पर····अब तुझे कैसे समझाऊँ····

प्रो० जगदीश : मुझे समझाने की कोई आवश्यकता नहीं है। तुम चिन्ता मत करो, यह केवल आवेश है, वह कुछ नहीं कर सकेगी। मूर्ति की नाक तक पहुँचना भी उस के लिए सम्भव नहीं होगा। वह लौट आयेगी।

माँ : तुझे मालूम नहीं बेटा। वह रात्रि में ही किसी समय उठ कर चली गयी थी और अब सवेरा हो रहा है [**सहसा सामने देख कर**] वह कौन है····। अरे वही तो है, वही है!

[**दोनों चकित-से उसी ओर देखते हैं। सहसा बायीं ओर से एक प्रौढ़ा स्त्री प्रवेश करती है। अर्ध-विक्षिप्त-जैसी अवस्था। वस्त्र अस्त-व्यस्त हैं। हाथ काले हैं। चेहरे पर और कपड़ों पर भी छींटे पड़े हुए हैं। आँखें चढ़ रही हैं। धीरे-धीरे बोलती हुई आती है।**]

सरला : [**धीरे-धीरे**] हो गया, मेरा प्रतिशोध पूरा हो गया! [**हँसती है और माँ सहसा आगे बढ़ती है**]

माँ : तू आ गयी, पर यह तेरा क्या हाल है! तू अबतक कहाँ थी? सुन, यह जगदीश भी कहता है कि मूर्ति को तोड़ना पागलपन है।····

सरला : पागलपन! ठीक तो है। पागल हुए बिना कोई काम नहीं हो सकता।

माँ : नहीं, नही। तू यह विचार छोड़ दे। तू आज ही मेरे साथ यहाँ से गाँव चल। तू उस मूर्ति को नहीं तोड़ सकती।

सरला : नहीं तोड़ सकती। [**हँसती है और सहसा फिर दृढ़ होती है**] लेकिन वह तो टूट गयी।

माँ : [**काँप कर**] क्या टूट गयी, किस ने तोड़ी?

सरला : मैं ने। और किस ने।

प्रो० जगदीश : [**सहसा आगे बढ़ कर**] तुम ने वह मूर्ति तोड़ दी?

माँ : नही, नही। तू ने नही तोड़ी। तू उसे तोड़ ही नही सकती। तू झूठ बोलती है!

सरला : तुम जा कर देख सकती हो। मैं ने उस की नाक तोड़ दी है। उस नाक पर उसे बहुत नाज था। मैं ने उस का चेहरा काला कर दिया है। उस चेहरे पर युवतियाँ रीझती थी। अब वह जय-जयकार करने वाले देखें अपने उस हीरो को। [**दाँत भींच कर**] अपने उस हीरो को [**हँसती है**] अपने उस नकटे हीरो को!

माँ : [**काँप कर**] क्या तू ने मेरे बेटे की नाक काट दी? मुँह काला कर दिया? तूने यह क्या किया··? बेशक उस ने हम को सताया था। फिर भी उस ने देश का भला किया था। फिर भी वह तेरा पति था।

सरला : [**क्रुद्ध**] मेरा कुछ नही था!

माँ : तेरा वह कुछ नही था, तो तू ने बदला किस बात का लिया?

सकता कि तुम्हारी यह घृणा, तुम्हारी मानसिक निर्धनता का स्वाभाविक परिणाम है। उन्होंने कुछ भी क्यों न किया हो, वह क्रान्त-द्रष्टा कवि थे। उन की वाणी में मृत्यु के लिए चुनौती थी, उन्होंने स्वयं कभी अपने प्राणों की चिन्ता नही की।

अमला उन्होंने कभी किसी की चिन्ता नही की। लेकिन क्या चिन्ता ही न करना बडप्पन है। तब तो हर पागल बडा है।

विवेक मैं नही जानता कि पागल बडा होता है या नही। लेकिन बडप्पन पाने के लिए पागल होना ही पडता है।

अमला चुप रह। मैं अपने ही बेटे से बहस नही करना चाहती।

विवेक बहस मैं भी नही करना चाहता। लेकिन अपनी माँ से इतना निवेदन अवश्य करना चाहता हूँ, कि जिस ने भी यह काम किया है, वह भी आप की तरह अधिकार-पिपासा से ग्रस्त है, नारी की अधिकार-पिपासा से। नही तो मरने पर बस नाम ही शेष रह जाता है और उस नाम को स्वयं विधाता भी दूषित नही कर सकते। मूर्ति एक नही दस बन जायेंगी, टूट भी सकती है, शरीर भी तो आखिर टूट ही जाता है।

अमला यह सब वेदान्त है। मैं यह नही भूल सकती कि उस ने मेरे प्यार को ठुकराया। मैं ने उस को कितना कुछ दिया। कुछ भी तो बचा कर नही रखा। लेकिन फिर भी तितली-सा उस का मन इधर-उधर उड कर मुझ को कल्पाता ही रहा। उस ने कहा, प्यार ही सब कुछ नही है। वह जीवन का एक नगण्य भाग है। मुझे अर्पिता नही चाहिए, मुझे वह संगिनी चाहिए, जो मेरी प्रतिभा का वरण कर सके।

विवेक ठीक कहा था उन्होंने। प्रतिभा मदिरा की तरह होती है। तुम्हारे पात्र में उन की वह प्रतिभा नही समा सकी। छलकती रही। और उस का वही परिणाम हुआ, जो हो सकता था। वह चले गये। न जाते तो समाप्त हो जाते। क्षमा करना माँ, मैं यह सब नही कहना चाहता था। लेकिन यह सत्य है कि उन्होंने तुम्हें धोखा नही दिया, सदाचार का ढोंग नही रचा।

अमला मैं इन बातो को नही समझती। समझना भी नही चाहती। पर यह सच है कि मैं आज बहुत खुश हूँ। जिस की इतनी जय-जयकार, जिस को अपनी प्रतिभा पर इतना घमण्ड, उसी की किसी ने नाक काट दी। [जोर से हँसती है] नाक काट दी। यही चीज उस के चेहरे पर सब से खूबसूरत थी। सचमुच सुन्दरता को कोई नही सह सकता। ओह, उस कटी नाक को देख कर, जिस को ऊँची रखने मे वे पागल रहते थे, कितनी हँसी आती है। [जोर जोर से हँसती है।]

विवेक [तीव्रता से] माँ, अब यहाँ से चलो। नही तो वे लोग यह समझेंगे कि तुम ने ही यह काम किया है।

अमला काश मैं कर पाती।

विवेक तो तुम उस मूर्ति के पास जा कर बैठो। वह तुम को पकड कर ले जायेंगे। तुम चिल्ला-चिल्ला कर कहना कि मैं ने ही यह सब

किया है। वैसे भी सुना यही है कि इस पुण्य कार्य को करने वाली कोई औरत ही है।

अमला : यही तो आश्चर्य की बात है, जो काम मै न कर सकी वह किसी दूसरी औरत ने कर दिखाया। मै उस औरत से मिलना चाहती हूँ। मैं उस को उन की नजर से बचाना चाहती हूँ। क्या वह भी मेरी ही तरह उन के द्वारा सतायी हुई है ? क्या वह भी उन को भूल नहीं पायी है ? मैं भी तो नही भूल पायी। सम्बन्ध-विच्छेद हो जाने पर भी दूसरी शादी नही कर पायी। दस वर्ष तक स्कूलों की खाक छानती रही।

विवेक : इस आशा मे छानती रही कि एक दिन वे लौट आयेंगे; कि वे अब भी तुम्हारे हैं। तुम उन के लिए कुछ भी करने को तैयार थी। पर इसी शर्त पर कि वे सम्पूर्ण रूप से और सदा-सदा के लिए तुम्हारे रहेंगे। तुम ने इसी लिए उन को नहीं छोड़ा। तुम आज भी अमला शंकर हो। तुम आज भी उन पर अपना अधिकार मानती हो। क्या वही अधिकार-पिपासा मूर्ति की कटी नाक देख कर तुम्हे सुख नही पहुँचा रही ?

अमला : चुप रह। मुझे बार-बार उपदेश मत दे। मै उस औरत से मिलना चाहती हूँ। चल उसे ढूँढ़ें, वह कौन है, कहाँ की है, कहीं वह उन की पहली स्त्री ही तो नही, पर सुना था वह तो निपट देहातिन है। फिर भी····

[दोनों तेज़ी से दायीं ओर चले जाते हैं। धीरे-धीरे अन्धकार घिरने लगता है। तेज़ी से कुछ लोग आश्चर्य से इशारे करते हुए इधर से उधर जाते हैं। फिर मंच पर घुप अँधेरा छा जाता है। दो क्षण छाया रहता है। उस के बाद वह धुँधलाता है और धीरे-धीरे उस के अन्तर में से प्रकाश उभरता है। पूर्ण प्रकाश हो जाता है। वही स्थान और वही वातावरण। दायीं ओर से एक नेता भीड़ के साथ मंच पर प्रवेश करते हैं। वे सब उत्तेजित हैं। नेता दायीं ओर की सीढ़ी पर खड़े हो जाते हैं और आवेश में भर कर बोलने लगते हैं।]

नेता : यह हमारे लिए अत्यन्त लज्जा की बात है कि तीन दिन बीत जाने पर भी अधिकारी लोग अभी तक यह पता नहीं लगा सके कि यह जघन्य काम किस ने किया। किस ने हमारे प्रिय राष्ट्र नेता की प्रतिमा को विकृत किया ? उस का उद्देश्य क्या था। प्रान्त की राजधानी में शासन की नाक के नीचे जब ऐसे दुस्साहसपूर्ण कार्य हो जाते है, तो आप सोच सकते हैं कि दूर-दराज के गाँवों और नगरों में क्या होता होगा ! हम शासकों को यह बता देना चाहते है कि हमारे प्यारे नेता, हमारे प्यारे कवि का यह अपमान साधारण बात नही है। हम इसे चुपचाप नही सह सकते। नही सहेंगे। कभी नहीं सहेंगे····

भीड़ : दोषी को पकड़ कर कारागार में डाल दो। फाँसी पर चढ़ा दो।

नेता : सुना है, वह कोई स्त्री है। एक स्त्री को यह लोग अब तक नही पकड़ सके। हम ऐसी कोई बात न तो कहना चाहते है, न करना चाहते हैं, जिस से अधिकारियों का काम कठिन हो। उन के काम मे रुकावट पड़े। इस के विपरीत हम हर तरह से सहायता करने

को तैयार है। पर वे कान में तेल डाल कर बैठे रहें, यह भी हम नही सह सकते। जैसा कि मैं ने कहा, यह किसी व्यक्ति का अपमान नही है, समूचे राष्ट्र का अपमान है, और राष्ट्र का अपमान किसी भी शर्त पर नही सहा जा सकता।

भीड हम यह अपमान नही सहेंगे, नही सहेंगे। दोषी को पकड कर कारागार में डाल दो। फासी पर चढा दो।

नेता आओ, हम सब मन्त्री के पास चलें। उन्हें विवश करें कि वे उस औरत का पता लगायें। आओ, आओ।

भीड़ चलो-चलो, मन्त्री जी के पास चलें। उन से कहें कि वह उस स्त्री को पकडने के लिए, पुलिस को विवश करे। [वे सब लोग पुकारते हुए दायीं ओर चले जाते हैं। बायीं ओर से एक उच्चाधिकारी और सिपाही का प्रवेश।]

अधिकारी सचमुच यह दुःख की बात है। आज तक हम लोग यह पता नही लगा सके कि वह स्त्री कौन है, उस ने यह काम कैसे किया, उस का क्या उद्देश्य था और वह गयी कहाँ।

सिपाही मुझे तो ऐसा लगता है, जैसे वह स्त्री के कपडे पहने हुए कोई प्रेतात्मा थी।

अधिकारी बकवास बन्द करो। आज के जमाने में तुम प्रेतात्माओं की बातें करते हो। शर्म नही आती। उधर मन्त्री जी बार-बार पूछ रहे हैं। जनता अलग शोर मचा रही है। आखिर वह स्त्री कौन थी।

[सहसा बायीं ओर से वन्दना प्रवेश करती है।]

वन्दना वह स्त्री कौन है, यह मैं जानती हूँ।

अधिकारी आप, आप जानती हैं! कौन है वह?

वन्दना वह है अमला शकर। मनोरमा हाई स्कूल की वाइस प्रिन्सिपल। उन की परित्यक्ता पत्नी।

अधिकारी [मुसकराकर] श्रीमती अमला शकर को मैं बहुत अच्छी तरह जानता हूँ। उन के बेटे विवेक यहाँ के नये प्रतिभाशाली वकील हैं। उन्होंने यह काम नही किया।

वन्दना उस ने यह काम नही किया। तब उन की एक और पत्नी थी, बचपन में उस से उन की शादी हुई थी। क्या यह सम्भव है कि उस देहातिन ने यह काम किया हो!

अधिकारी मुझे उन के बारे में भी सब कुछ मालूम है। अभी-अभी सूचना आयी है कि इस समय वे गाव में नही हैं। कही चली गयी हैं।

वन्दना [हर्ष] कही चली गयीं। तब तो अवश्य वह वही है। उसी ने यह काम किया है। वह यही होगी। उस का पता लगाइए।

अधिकारी जी हाँ। उसी का पता लगा रहे हैं। विश्वास है कि एक-दो दिन में उस को अवश्य पकड सकेंगे।

वन्दना पकडना ही चाहिए। यह किसी व्यक्ति का नही राष्ट्र का प्रश्न है।

अधिकारी जी, विश्वास रखिए, हम राष्ट्र की प्रतिष्ठा पर आँच नही आने देंगे। हम उधर ही जा रहे हैं।

[यह कहते हुए वे दोनों दाहिनी ओर चले जाते हैं । बन्दना एक बार बायीं ओर देखती है फिर वह भी तेज़ी से उन्हीं के पीछे-पीछे चली जाती है । बायीं ओर से दो व्यक्ति वहाँ प्रवेश करते हैं ।]

जनता एक : आख़िर उस स्त्री का पता लग गया । वह उन की पहली पत्नी है ।

जनता दो : पहली पत्नी ! क्या उन्होंने कई विवाह किये थे ?

जनता एक : हाँ, उन्होंने तीन बार विवाह किया था । जिस पत्नी को उन्होंने बचपन में पाया था, उसे यह कह कर छोड़ दिया कि वह देहातिन है और उन की प्रतिभा के अनुरूप नहीं है । फिर दूसरी पत्नी से प्रेम-विवाह किया, लेकिन एक दिन उसे भी यह कह कर छोड़ दिया कि मेरे पास प्रेम करने का समय नहीं है । प्रेम भी मनुष्य को दुर्बल बनाता है । लेकिन थे तो आख़िर पुरुष ही । पुरुष को स्त्री चाहिए ही । इस लिए उन्होंने तीसरी बार विवाह किया । उन की यह पत्नी सुन्दर है, युवती है और चतुर भी है **[धीरे से]** इतनी चतुर कि वह हमारे क्रान्तद्रष्टा कवि की प्रतिभा को ही पी गयी ।

जनता दो : हाँ, सुनते तो यही थे कि उन के सम्बन्ध अच्छे नही थे, इस लिए कई वर्ष से पत्नी दुनिया मे घूम रही थी और कवि अस्पतालों की खाक छान रहे थे ।

जनता एक : उन की अपमृत्यु का यही तो कारण है । वह जहर पीते रहे, लेकिन अपनी व्यथा को उन्होंने बाँटा नहीं । बस छन्दों में गूँथ कर काव्य की शक्ति बना दिया ।

जनता दो : **[निःश्वास]** और आज वही पत्नी उन की सम्पत्ति, उन के यश, उन के मान और उन की प्रतिष्ठा—सभी की उत्तराधिकारिणी है ।

जनता एक : समझ में नहीं आता, दुनिया कहाँ जा कर रुकेगी । शायद यह रुकना जानती ही नहीं । शायद स्त्री-पुरुषों के सम्बन्धों में इसी तरह की उथल-पुथल मचती रहेगी । पातिव्रत, सतीत्व—जड़ता के ये बन्धन निर्बलता के प्रतीक थे, तो लिप्साओं से मुक्ति के नाम पर स्वच्छन्दता क्या शक्ति की प्रतीक है ? नही, नहीं, वह तो विशुद्ध पलायन है । ये····**[सहसा सामने देख कर]** लो, कवि की पहली पत्नी इधर ही आ रही है । वही तो है, क्या हाल हो गया बेचारी का ! चलो-चलो, हम वकील साहब को सूचना दें । किसी तरह इन को बचाना ही होगा ।

जनता दो : चलो, **[दोनों बायीं ओर चले जाते हैं । दाहिनी ओर से सरला प्रवेश करती है । उस के बाल खुले हैं । आँखें उदास, जैसे बरसों से बीमार हो । आकर सीढ़ी पर बैठ जाती है ।]**

सरला : तीन दिन बीत गये । पर मैं अब तक यह न समझ पायी कि मैं ने जो किया, वह उचित है या अनुचित । उस दिन आवेश मे थी । और आवेश मे सब कुछ उचित ही लगता है । कैसा था वह आवेश, कैसी थी वह प्रतिहिंसा ! उन के सुन्दर मुख पर मैं ने तारकोल पोत दिया कि कहीं वे मुझे लुभा न लें । कैसा पौरुष था, उन के मुख पर कैसा तेज । ओह, वह मेरे क्यों न हो सके ! **[प्रो०**

जगदीश का प्रवेश] क्यों न हो सके। यही तो कलक थी मन में। यही कलक मेरी प्रतिहिंसा की शक्ति वन गयी।

प्रो० जगदीश [पास आकर] हाँ, यह प्रतिहिंसा ही थी। नही तो, उस निर्जीव प्रतिमा ने आप का क्या विगाडा था।

सरला [कॉप कर] कौन, ओह, आप। आप कहते हैं कि उस प्रतिमा ने मेरा कुछ नही विगाडा।

प्रो० जगदीश निर्जीव प्रतिमा कोई अर्थ नही रखती।

सरला [फुसफुसा कर] निर्जीव प्रतिमा कोई अर्थ नही रखती। [जोर से] तो फिर यह तूफान कैसा आ रहा है। सब लोग मुझे पकडने को क्यो आतुर है?

प्रो० जगदीश क्योकि वे भी इतने ही अविवेकी है, जितनी आप। कानून आप को दूसरा विवाह करने की स्वतन्त्रता देता है फिर भी ।

सरला [सहसा] कानून, कानून, हर कोई कानून की दुहाई देता है। क्या किसी ने सोचा कि कानून किसी के दिल पर शासन नही कर सकता। कानून किसी को सकून नही दे सकता। कानून ओह।

[मॉ का प्रवेश]

मॉ अरे, तू यहाँ वैठी क्या कर रही है? उन्हें पता लग चुका है। मैं तो डर के मारे काँप रही हूँ। अब क्या होगा? जीवन-भर गाँव मे तडपती रही। यहाँ आये तो यह पहाड-जैसी विपदा आ पडी!

सरला विपदा पहाड जैसी ही होती है, माँ, और उस को सहकर ही आदमी वज्र वनता है। मैं भी वज्र वन गयी हूँ ।

प्रो० जगदीश काश आप वज्र वन पाती। लेकिन जाने दो इन वातो को। मैं आप के लिए सन्देश लाया हूँ। कोई आप को बचाने को आतुर है।

मॉ कौन है वह? [बायीं ओर से अमला और विवेक का प्रवेश]।

प्रो० जगदीश लो, वे यही आ गये।

[मॉ और सरला हतप्रभ-सी उन की ओर देखती हैं।]

सरला तुम कौन हो?

अमला मैं तुम्हें लेने आयी हूँ।

मॉ लेकिन तुम हो कौन? यह लडका कौन है? यह तो पहचाना-सा लगता है।

सरला सचमुच पहचाना-सा लगता है। वोलो, तुम कौन हो?

अमला मेरा नाम अमला शकर है। मैं कवि शकर की पत्नी हूँ?

मॉ क्या तुम शकर की पत्नी हो?

सरला क्या तुम्ही उन की पत्नी हो?

अमला जी हाँ, मैं उन की दूसरी पत्नी हूँ। परित्यक्ता।

मॉ और यह तुम्हारा वेटा है? शकर का वेटा?

विवेक हाँ, बेटा तो मैं कवि शकर का ही हूँ।

मॉ [पुलकित हो कर] तुम मेरे शकर के वेटे हो! शकर के! हे प्रभु, मेरे पति की वश-वेल नही मिटी। उन का नाम चलता रहेगा।

सरला: [**तीव्र स्वर**] आप को केवल नाम की चिन्ता है। पाप-पुण्य की तनिक भी नहीं।

प्रो० जगदीश : पाप-पुण्य केवल दो शब्द है। उन की व्याख्या कोई नहीं कर सकता। जिस व्यक्ति को तुम पापी कहती हो, वही जनता का प्राण था।

सरला : लेकिन जनता क्या उन के कामों से परिचित थी ?

विवेक : उतनी ही, जितनी आप। क्या आप भी उन के सब रूपों से परिचित है ? मनुष्य के अन्तर मे न जाने कितने और मनुष्य रहते है। कौन जानता है कि शैतान मे शिव कहाँ सोया है। और शिव के भीतर शैतान कहाँ छुपा बैठा है। बाहरी मुखौटे से इनसान की परख नहीं हो सकती।

अमला : यह विवेक वकील क्या बना है, हमेशा तर्क-कौशल का प्रयोग कर के हमे डराता रहता है। जिस ने हम सब को परेशान किया, उसी का पक्ष लेता है। [**सरला से**] जानती हूँ, तुम ने ही उस मूर्ति की नाक तोड़ी है। लेकिन डरो नही तुम अकेली नही हो। अपराधिनी मैं भी हूँ मैं भी उन को अपमानित करना चाहती थी।

विवेक : उस अचेतन मूर्ति को, [**हँसता है**] अचेतन को अपमानित करना अपने को अपमानित करना है।

अमला : नही, नहीं। तुम ने वही किया जो तुम्हे करना चाहिए था। इस की वात मत सुनो। आओ, मेरे साथ चलो।

सरला : मैं नहीं जानती कि मैने ठीक किया या ग़लत। लेकिन मैं आप के साथ नहीं जाऊँगी।

माँ : लेकिन मैं चलूँगी। यह मेरे बेटे का बेटा है।

अमला : आप सभी चलें। इस संकट में मैं आप के काम आना चाहती हूँ।

सरला : क्यों आना चाहती है ? क्यों इस संकट में भागीदार बनना चाहती है ?

अमला : क्योंकि मैं भी तो उसी से सतायी गयी हूँ, जिस ने तुम्हे सताया है।

सरला : लेकिन यह सब तुम ने तब नही सोचा था जब तुम ने उन से विवाह किया।

अमला : मै लज्जित हूँ।

सरला : अब लज्जित होने से क्या होता है। मेरी दृष्टि मे तुम उतनी ही अपराधिनी हो, जितनी उन की वर्तमान पत्नी।

प्रो० जगदीश : लो उन का नाम लिया और वे आ पहुँची। कुछ क्रुद्ध मालूम देती है।

[**बन्दना का प्रवेश।**]

बन्दना : तो तुम हो सरला। तुम्हीं ने राज्य के प्रति, ईश्वर के प्रति, मानवता के प्रति वह पाप किया है ?

सरला : जिसे तुम पाप कहती हो, उसे मैंने अपना गर्व समझा है।

बन्दना : तुम कुछ भी समझ सकती हो पर उस के दण्ड से नही बच सकती।

सरला : यह मुझ से कह रही हो। दण्ड ही तो जीवन भर भुगतती रही हूँ। पचीस वर्ष अकारथ ही मैने माँग मे सिन्दूर सँजोया है।

बन्दना : वह तुम्हारी मूर्खता थी। मन्त्र पढ़

देने से ही कोई पत्नी नही हो जाती। मन का मेल भी चाहिए। वह तुम्हारे पास रहते तो नष्ट हो जाते। और फिर कानून तो तुम्हें मुक्ति देता है। तुम कही और सुख पाने को स्वतन्त्र थी।

अमला [व्यंग्य] कही और सुख पाने को स्वतन्त्र! स्वतन्त्रता ही सब कुछ नही होती। हमें क्या तुम ने वेश्या समझा है!

बन्दना [घृणा] तब तो तुम लोगों ने ठीक ही सहा है। तुम निपट स्वार्थिन हो। अपने सुख के लिए तुम ने उन को अपमानित किया। तुम उन को भूल नही पायी।

अमला भूलना आसान नही है। जो प्रेम एक बार दिया जाता है, वह वापस नही लिया जा सकता।

बन्दना तुम उसे प्रेम कहती हो? वह निरा अपना सुख है। तुम्हे उन से इतना प्यार नही था, जितना अपने सुख से। लेकिन मैं तुम से बहस करना नही चाहती। मैं अभी पुलिस को ले कर आती हूँ! खबरदार जो भागने की कोशिश की! [तेजी से बायीं ओर जाती है।]

माँ बडी तेज़ है, जैसे आग का पिटारा हो!

अमला हमें प्रेम का पाठ पढाती है!

विवेक प्रेम का पाठ कौन किसे पढा सकता है। पर क्षमा करें माँ, प्रेम न अधिकार जताता है, न पाने को आतुर होता है। तुम ने यदि सचमुच प्रेम किया होता तो इतना दुःख न पाती।

अमला विवेक, तुम हर कही सीमा से बढ जाते हो।

विवेक मैं बडी माँ से केवल यही कहना चाहता हूँ कि दोष केवल मेरे पिता का ही नही है। इन्होंने उस प्रतिमा की नाक इसी लिए तो काटी है कि ये अब भी उन पर अपना अधिकार समझती है

सरला [थकी-थकी-सी] शायद तुम ठीक कहते हो। तीन दिन से निरन्तर यही सोच रही हूँ। यही पूछ रही हूँ कि सत्य कहाँ है। जितना सोचती हूँ, उतना ही लगता है कि जैसे मैं बालू की दीवार पर खडी हूँ, मैं गलती पर हूँ।

अमला नही, तुम, गलती पर नही हो। तुम ने जो कुछ किया ठीक किया। तुम ने उस से बदला लिया।

सरला बदला ही तो नही ले सकी। मेरे भीतर कोई बार-बार कहता है कि पत्थर की मूर्ति को अपमानित करने में बदला कैसा! निर्जीव पर विजय पाने का क्या अर्थ? क्या वह केवल झूठा अहम् ही नही है। क्या मैं जीवन भर इसी झूठे अहम् और सत्य का पोषण नही करती रही हूँ।

अमला देखती हूँ, तुम पर भी विवेक का असर हो गया है।

विवेक बडो के बीच मे बार-बार बोलते लज्जा आती है। यह सच है कि कोई घाव इतनी पीडा नही देता, जितना प्रेम घृणा बन-कर देता है। क्योंकि घृणा क्षुधा को और भी जगा देती है। लेकिन यदि प्रेम किया है, तो घृणा कैसी। घृणा है, तो कही-न-कही हमारा अपना सुख है।

अमला : ओह, मेरा ही पुत्र मेरा शत्रु बन गया !

प्रो० जगदीश : क्षमा करें, आप का पुत्र आप का शत्रु नहीं है। वह सच ही कह रहा है, पाप-पुण्य की व्याख्या बड़ी जटिल है। और घटनाओं से अपने को अलग कर के सोचना बहुत दुस्तर है।

माँ : एक बात पूँछती हूँ, क्या उस मूर्ति की नाक बन सकती है ?

विवेक : पत्थर में सब कुछ बन सकता है। मुश्किल है हाड़-माँस के मनुष्य को फिर से बनाना। [वन्दना, पुलिस अधिकारी और सिपाही का प्रवेश।]

वन्दना : ये रहे, वे लोग। इन सब ने मिल-कर राष्ट्रकवि को अपमानित करने का जाल रचा।

सिपाही : जी हाँ, यही है, वह स्त्री। इसी ने मेरे मुख पर तारकोल फेका था। देखो, अभी तक काला है।

अमला : और सदा काला ही रहेगा।

वन्दना : ये सब दोषी हैं। इन सब को पकड़ लो।

अधिकारी : मैं जानता हूँ, अपराध किस ने किया है। केवल श्रीमती सरला को ही मुझे बन्दी बनाने का अधिकार है। अकेली ये ही मेरे साथ जायेंगी।

अमला : नहीं, ये अकेली नहीं जायेंगी। मैं भी इन के साथ जाऊँगी।

सरला : तुम क्यों जाओगी ? अपराध मैं ने किया है। दोषी मैं हूँ।

अमला : दोषी मैं भी हूँ। क्योंकि मैं ने भी वही करना चाहा था, जो तुम ने किया।

अधिकारी : लेकिन क़ानून की दृष्टि में दोष सदा करने वाले का होता है, सोचने वाले का नहीं।

माँ : लेकिन मैं तो इसी के साथ हूँ। मुझ को तो ले चलोगे।

अधिकारी : नहीं, आप वहाँ नहीं थीं, जहाँ अपराध हुआ है। मेरे साथ केवल यही जायेंगी।

सरला : मैं तैयार हूँ। [सब से] आप सब मुझे क्षमा करें। मुझे तनिक भी दुःख नहीं है। मैं ने जो कुछ किया है, यदि वह दण्डनीय है, तो दण्ड सहूँगी। जीवन-भर सहा है। चलो भाई चलें।

अधिकारी : चलिए।

[अधिकारी, सिपाही और सरला बायीं ओर चले जाते हैं। शेष सब स्तब्ध खड़े रहते हैं।]

अमला [एक क्षण बाद] यह सब क्या हुआ····।

माँ : चली गयी बेचारी। दुखिया बेचारी, अकेली चली गयी। सब के अपराधों का दण्ड सहेगी, अकेली।

अमला : नहीं माँ, हम उन्हे नहीं जाने देंगे। विवेक उन्हे छुड़ा लायेगा। विवेक····

विवेक : देखता हूँ माँ; कुछ कर सका तो। आप लोग घर चलें। [दोनों बरबस-सी दायीं ओर जाती हैं।]

वन्दना : यह सब क्या हो गया ? सोचा था, ये प्रतिरोध करेंगे और मुझे इन्हे अप-मानित करने का अवसर मिलेगा। पर ये सब

तो चुपचाप चले गये, जैसे वे ही विजेता हों।
[महस्मा] लेकिन मैं उस को नही छोडूँगी। मैं ऐसा प्रयत्न करूँगी कि उसे कडे-से-कडा दण्ड मिले। [तेजी से बायीं ओर जाती है।]

विवेक आओ प्रोफ़ेसर, मुझे इन को बचाना ही होगा। [बायीं ओर चला जाता है।]

प्रो० जगदीश [मुसकराता है] बचाना चाहते हो? बचो! [जाने को आगे बढता है, तभी दो व्यक्ति भागे हुए आते हैं।]

जनता एक आप ने कुछ सुना?

प्रो० जगदीश क्या हुआ? [दायीं ओर से अमला और माँ घबरायी हुई आती है]

अमला क्या हुआ? क्या बात है?

जनता दो श्रीमती सरला जब मूर्ति के पास पहुँची, तो एकाएक पुलिस के घेरे को तोड कर उस के ऊपर चढ गयी।

अमला फिर?

जनता एक फिर बार-बार उस से चिपट कर उस का मुँह चूमने लगी।

अमला [पागल-सी] फिर?

जनता दो फिर जब तक हम उन के पास पहुँचें, वे वहाँ से कूद पडी और छाती के बल रेलिंग पर जा गिरी।

माँ [पागल-सी] हाय! फिर क्या हुआ?

जनता एक वे बुरी तरह घायल हो गयीं। उन्हें अस्पताल ले गये हैं। परन्तु कोई आशा नही। [सिर हिलाता है।]

अमला ओह! [संज्ञाहीन-सी बैठ जाती है।]

माँ नही, नही [पागल-सी भागती है। अमला भी पीछे पीछे जाती है।]

अमला माँ, माँ, सुनो!

प्रो० जगदीश [गम्भीर स्वर] मृत्यु पिपासा का ही एक और नाम है। [यहीं परदा गिरता है।]

[जनवरी १९६६]

कॉफ़ी हाउस में इन्तज़ार

लक्ष्मीनारायण लाल

•

[पात्र : पहला व्यक्ति, दूसरा व्यक्ति (युवक), एक बेयरा। स्थान : कॉफ़ी हाउस का एक कमरा। एक टेबल और एक ही कुरसी। पृष्ठभूमि में तीन व्यक्तियों की परस्पर बोलचाल, पहला व्यक्ति जिस की अवस्था प्रायः पैंतालीस वर्ष है, पाजामा-कुरता पहने हुए तेज़ी से आता है और दौड़ कर कुरसी पर बैठ जाता है। उस के पीछे ही दूसरा व्यक्ति आता है, अवस्था लगभग पचीस वर्ष, पैण्ट-कमीज़ में। इसे देखते ही पहला व्यक्ति जल्दी-जल्दी टेबल पर अपने काग़ज़-पत्र रखता है।]

पहला व्यक्ति : [साधिकार] बेयरा…!

बेयरा : [आता है।] जी, बोलिए ‥जी, हुकुम कीजिए !

पहला व्यक्ति : एक कॉफ़ी, तीन गिलास पानी….एक कॉफ़ी …तीन पानी….एक कॉफ़ी, तीन पानी….!

[बेयरा भी यही दुहराता है। दूसरा व्यक्ति इस इन्तज़ार में है कि बात खत्म हो तो वह बोले। पर बात खत्म नहीं हो पा रही है। बेयरा बोलता हुआ जाता है।]

पहला व्यक्ति : मै यहाँ रोज बैठता हूँ। मैं पिछले तेरह वर्षो से यही बैठता चला आ रहा हूँ। इसे सारी दुनिया जानती है। कोई एक न जाने तो मै क्या करूँ।

दूसरा व्यक्ति : आप झूठ बोलते हैं। पिछले छह दिनों से मैं यहाँ लगातार बैठता आ रहा हूँ। यहाँ एक कुरसी और हुआ करती थी। मैं यहाँ बैठा उस का इन्तजार करता था। वह आती थी, फिर हम आमने-सामने बैठ कर बातें किया करते थे।

[पहला व्यक्ति टेबल पर अपने लिखने का सामान सजाता रहता है।]

पहला व्यक्ति : मै यहाँ बैठ कर अपना काम करता हूँ….

दूसरा व्यक्ति . मैं भी तो अपने काम से ही यहाँ आया हूँ।

पहला व्यक्ति : बात करना कोई काम नही है।

दूसरा व्यक्ति यहाँ बैठ कर लिखना-पढ़ना भी कोई काम नहीं है ।

पहला व्यक्ति तुम अभी पढ़ते हो ?

दूसरा व्यक्ति तुम से मतलब ?

पहला व्यक्ति अपने देश की तवारीख पढ़ी है ?

[दूसरा व्यक्ति सिगरेट जलाता है, और गुस्से से चुपचाप एक ओर देखने लगता है ।]

पहला व्यक्ति अजीब बात है । आज कल के नौजवान अपने देश की तवारीख का नाम सुनते ही सिगरेट पीने लगते हैं । हमारी पीढ़ी में यह नहीं था । हम ने इतिहास जिया है, भोगा है, और इतिहास के महान् अध्याय की रचना की है । हम ने स्वतन्त्रता सग्राम ।

दूसरा व्यक्ति [काट कर] चुप रहो, यही सब सुनाने के लिए तुम यहाँ रोज आते हो ?

पहला व्यक्ति [उठ कर] और तुम यहाँ हम पर गुस्सा निकालने आते हो ? [रुक कर] एक सिगरेट मुझे नहीं दे सकते । [ले कर] हे राम, कितनी तेज़ सिगरेटे तुम लोग पीते हो ! हमारे ज़माने में इस तरह सिगरेट पीने का रिवाज नहीं था । हम इस उमर तक सत्याग्रही थे । हमारे सामने एक महान् उद्देश्य था कोई कुछ ऐसा था, जो हर क्षण हमें 'इन्स्पायर' किये रखता था ।

[यह कहता हुआ टेबल से टिक कर खड़ा हो जाता है । सिगरेट पीता है । धुआँ छोड़ कर उस में देखता हुआ बोलता है ।]

पहला व्यक्ति धुएँ में असख्य लकीरें हैं । सब अलग-अलग बिखरती टूटती हुई वायु-मण्डल के मुँह में समाती जा रही हैं । यह परिवेश जैसे एक बहुत बड़ी छिपकली है और यह सारी लकीरो को मुँह से चाटती जा रही है ।

दूसरा व्यक्ति [सिगरेट मसलता हुआ] तुम्हें इस तरह 'बोर' करने का कोई अधिकार नहीं !

पहला व्यक्ति हम ने तब सिगरेट नही पी थी । कॉफ़ी का नाम भी नही सुना था । १९४४ में पहली बार इस का नाम सुना था—हमारे सुराजी गुरु ने तेरह दिन का उपवास तोडा था—आत्मशुद्धि का उपवास—अँगरेज कलक्टर ने अपने हाथ से उन्हें कॉफी पिलायी थी ।

[बेयरा आता है]

बेयरा एक काफी—तीन गिलास पानी ।

पहला व्यक्ति अजीब लोग हैं—इन को कौन समझाये इन मे कोई क्या कहे इन में इतना बेमतलब गुस्सा आता है !

दूसरा व्यक्ति चुप रहो !

[इस की चिल्लाहट से जैसे सब झनझना कर एक क्षण के लिए टूट जाता है ।]

दूसरा व्यक्ति यहाँ एक और कुरसी थी ।

पहला व्यक्ति थी यानी यह इतिहास की बात है । और इतिहास में क्या नहीं है ?

दूसरा व्यक्ति यहाँ की वह कुरसी कहाँ है ?

बेयरा भीतर है । उस पर एक सज्जन पुरुष बैठे हैं ।

दूसरा व्यक्ति पर वह कुरसी यहाँ की है ।

बेयरा : सर, उस पर एक सज्जन पुरुष बैठे है।

दूसरा व्यक्ति : उस सज्जन पुरुष से कहो····

बेयरा : सर, वह कम सुनते हैं।

दूसरा व्यक्ति : मैं लिख कर देता हूँ····।

बेयरा : सर, उन्हें बहुत कम दिखाई देता है।

[पहला व्यक्ति कॉफ़ी पी रहा है।]

पहला व्यक्ति : दरअसल आप उस सज्जन पुरुष को नहीं जानते, तभी आप को इतना ग़ुस्सा है। मैं उन्हें पिछले पचीस वर्षों से जानता हूँ····।

दूसरा व्यक्ति : तो आप उन्हीं के पास जा कर क्यों नहीं बैठते ?

पहला व्यक्ति : मैं यही तो आप से अर्ज करना चाहता हूँ ···आप उस सज्जन पुरुष को नहीं जानते। यही वह सुराजी गुरु है। अब यह हर वक़्त कॉफ़ी पीता है और एक भीड़ से घिरा रहता है।

दूसरा व्यक्ति : मैं उस के बारे में कुछ नहीं जानना चाहता !

पहला व्यक्ति : यही वह चाहता है !

दूसरा व्यक्ति : यह मेरी इच्छा है।

पहला व्यक्ति : यही उस की इच्छा है।

दूसरा व्यक्ति : मुझे किसी की परवाह नहीं।

पहला व्यक्ति : उसे भी किसी की परवाह नहीं।

दूसरा व्यक्ति : मै देखता हूँ···।

पहला व्यक्ति : वह हमे देख रहा है।

दूसरा व्यक्ति : मै उसे जबरन उठा के कुरसी ले आता हूँ। वह कुरसी यहाँ की है। मैं उस पर पिछले छह दिनों से लगातार बैंठता रहा हूँ।

बेयरा : [रोक कर] सर, वह सज्जन यहाँ पिछले बीस सालों से लगातार बैठे है।

दूसरा व्यक्ति : पिछले छह दिनों से यहाँ हम बैठते रहे हैं। तुम गवाह हो····तुम ने हमें देखा है। यहाँ वह बैठती थी····मैं यहाँ बैठता था।

बेयरा : सही है। छह दिनों तक वह शहर से बाहर थे !

पहला व्यक्ति : [जिस ने अब तक कॉफ़ी समाप्त कर ली है।] भई, मैं छह दिनों मेडिकल चेकअप के लिए अस्पताल में था। मुझे ब्लड् प्रेशर की शिकायत है। सुबह से दोपहर तक 'लो' और दोपहर से आधी रात तक 'हाई'। मुझे नींद नहीं आती। तब मैं यौगिक-क्रिया-द्वारा अपने ब्लड् प्रेशर को बदल देता हूँ : सुबह से दोपहर तक 'हाई' और दोपहर के बाद 'लो', फिर मैं सोता हूँ।

दूसरा व्यक्ति : बन्द करो अपनी यह बक-वास !····मुझे यहाँ बैठ कर उस से बातें करनी है।

पहला व्यक्ति : बेयरा; साहब क्या कह रहा है ?

बेयरा : साहब अपनी गर्ल-फ्रेण्ड का इन्तज़ार करना माँगता है। गर्ल फ्रेण्ड····!

दूसरा व्यक्ति : [क्रोध से] मुझे यहाँ बैठना है। हट जाओ····छोड़ दो····!

[दोनों व्यक्तियों में कुरसी के लिए युद्ध। बेयरा दौड़ कर मेज़ पर से कप-प्लेट, गिलास उठा कर तेज़ी से चला जाता है। मेज़गिर

गयी है। कुरसी अब भी पहले व्यक्ति के हाथ में है। दूसरा व्यक्ति चोट खा कर नीचे गिरा है। वेयरा हाथ में दो गिलास पानी लिये आता है।]

वेयरा सज्जन पुरुष ने आप लोगों को शीतल जल पिलाने को कहा है। जिसे ज्यादा चोट आयी हो, वह थोडा रुक कर पियेगा, जिसे कम आयी हो, वह फौरन पिये।

[पहला व्यक्ति पानी पीता है।]
पहला व्यक्ति आप के पास सिगरेट होगी
[दूसरा व्यक्ति सिगरेट का पैकेट उस के मुँह पर फेंकता है। वह ले कर सिगरेट मुँह में लगाता है।]

पहला व्यक्ति [उठ कर कुरसी पर बायाँ पाँव रख कर] मैं स्वतन्त्रता सग्राम लडा हूँ। देश को आजाद कराने में मेरा योग है, हाथ है, पार्ट है। इकलाव ज़िन्दाबाद की वोल पर मुझ में खून बरसा है। भारत छोडो के एक नारे पर हम ने वलिदान दिया है ।

[वेयरा धीरे-से ताली बजाता है]

दूसरा व्यक्ति मैं यहाँ तुम्हारे लिए नही आया था। मुझे अगर यह पता होता कि यहाँ तुम-जैसे वेहूदा आदमी बैठते हैं तो मैं यहाँ हर्गिज़ न आता। यह सच है कि मैं तुम्हारी तरह स्वतन्त्रता-सग्राम नही लडा, पर वह कोई सग्राम भी था! तुम ने वलिदान दिया जब विद्रोह ही नही तो वलिदान कैसा ।

पहला व्यक्ति अरे स्वतन्त्रता सग्राम और कैसे होता है। अरे रे रे, वाह रे वाह मेरे मिट्टी के शेर ।

दूसरा व्यक्ति स्वतन्त्रता सग्राम वह है जो नीचे से लडा जाता है नीचे से ऊपर तक । ऊपर से नीचे नही। जिस में मूलभूत परिवर्तन होता है सुधार नही—'पावर का ट्रान्सफर' नही। शक्ति की नयी सृष्टि, जो आज़ाद ज़मीन से पैदा होती है।

पहला व्यक्ति अरे रे रे अरे वेयरा, इन्हें कॉफ़ी पिला ।

दूसरा व्यक्ति मेरा मज़ाक किया तो सिर तोड दूँगा ।

पहला व्यक्ति दरअसल अभी आप को अनुभव नही है। आप में इतना उत्साह है यह काबिलेतारीफ है। और मैं इस की बडी इज्ज़त करता हूँ।

दूसरा व्यक्ति मुझे 'पेट्रोनाइज़' करने की कोशिश मत करना, तुम-जैसो ने हमारी ज़िन्दगी वरवाद की है।

पहला व्यक्ति क्या कहा! क्या रुको रुको ज़रा, मुझे समझने दो दरअसल मैं हाईस्कूल भी नही पास हूँ। १९४२ में नवी कक्षा मे पढता था तभी स्वतन्त्रता सग्राम में कूद पडा ।

पहला व्यक्ति कूद पडे या किसी ने धक्का मार दिया!

दूसरा व्यक्ति ज़रा समझने दो समझने दो, यह बहुत अच्छा विषय है। देखिए न, कॉफ़ी हाउस कितनी उम्दा जगह है। तो आप ने कहा, कि मैं ने आप की ज़िन्दगी वरवाद की है। अर्थात् मैं भी यह कहूँ, उस सज्जन पुरुष ने मेरी ज़िन्दगी वरवाद की। यह बहुत अच्छा निष्कर्ष है इस पर एक

जोरदार सौ रुपये वाली कहानी लिखी जा सकती है।

[**काग़ज़ पर तेज़ी से नोट करने लगता है। दूसरा व्यक्ति उस क़ाग़ज़ को छीन कर फाड़ता हुआ।**]

दूसरा व्यक्ति : तुम्हारे कल की दिलचस्पी केवल निष्कर्ष ढूँढ़ने में थी। उसी प्रक्रिया ने एक ओर सुभाष बोस को देश से बाहर निकाला; दूसरी ओर अरविन्द को योगी बनाया।

पहला व्यक्ति : यह सब मुझे लिख लेने दो, नही तो मैं भूल जाऊँगा।

[**इस बीच बेयरा दौड़ा हुआ अन्दर जाता है और तेज़ी से बाहर आता है।**]

बेयरा : सज्जन पुरुष ने आप से विनम्र निवेदन किया है कि आप थोड़ा जोर-जोर से बोलें, ताकि वह आप की 'स्पीच' सुन सकें। उन्होंने आप के लिए काजू के साथ क्रीम कॉफ़ी का 'ऑर्डर' दे दिया है।

दूसरा व्यक्ति : वह ऑर्डर उसी के चेहरे पर दे मारो !

बेयरा : वह सचमुच बहुत सज्जन व्यक्ति है। उन में जरा भी क्रोध नहीं है।

दूसरा व्यक्ति : मुझ मे है····जा कर बोल दो उस से !

बेयरा : उन्हें सब पता है। वह सब के कल्याण के लिए हर वक़्त चिन्तन करते रहते है।

दूसरा व्यक्ति : तू चुप रहता है कि नहीं ?

बेयरा : जब तक वे यहाँ बैठे रहेंगे, यहीं खडे रहने की मेरी 'ड्यूटी' है।

दूसरा व्यक्ति : तो खड़ा रह !

बेयरा : सर, माफ़ कीजिए, बोलना भी मेरी ड्यूटी में शामिल है।

[**इस बीच पहला व्यक्ति अपने 'बैग' से कुछ और 'लेटरहेड', 'पैड पेपर' रसीद-बुक और मोहरदानी निकालता है। कुछ पत्र-पत्रिकाएँ और हैण्डबिल भी।**]

पहला व्यक्ति : [**सहसा एक हैण्डबिल पढ़ता है।**] देवियो और सज्जनो ! यह गहरी चिन्ता और दुःख का विषय है कि हमारी राष्ट्रीय चेतना दिनों-दिन उत्तरोत्तर क्षीण होती जा रही है। वैयक्तिक और सामाजिक दोनों स्तरों पर हमारे चरित्र का क्रमशः पतन हो रहा है। क्या परिवार, क्या घर, क्या दफ़्तर, क्या शिक्षण संस्थाएँ और क्या सार्वजनिक जीवन क्षेत्र···सर्वत्र एक इण्डिसिप्लिन इण्डिसिप्लिन····ऐं ··इण्डिसिप्लिन का अनुवाद आप क्या करेंगे ?····

दूसरा व्यक्ति : अपना सिर !

पहला व्यक्ति : अपना सिर····ऐं बेयरा, सज्जन पुरुष से पूछो—इण्डिसिप्लिन का हिन्दी अनुवाद क्या होगा ?

[**वह तेज़ी से जा कर आता है।**]

बेयरा : सज्जन पुरुष ने कहा है यही इण्डिसिप्लिन चलने दीजिए। उन्हे यह बहुत प्रिय है। इस से उन का मनोरंजन होता है।

पहला व्यक्ति : [पढ़ता हुआ] तो हाँ, सर्वत्र एक इण्डिसिप्लिन छायी हुई है। इस के लिए यह परम आवश्यक है कि हम जगह-जगह, स्थान-स्थान···[सहसा दूसरे व्यक्ति की ओर देखता है] क्यों, आप ने कान क्यों

बन्द कर रखे हैं ? यह इश्तिहार कैसा लगा आप को ? यह मैं ने तैयार किया है। देखिए, मुझे अभी बहुत काम करना है। घर से भाग कर इसी लिए सुबह-सुबह मैं यहाँ आता हूँ।

दूसरा व्यक्ति आप से पहले मैं आया हूँ।

पहला व्यक्ति बन्धु, नाराज मत हो, हम दोनो की पीडा कही समान है। हम दोनो, हमसफर है, हमदर्द है।

दूसरा व्यक्ति मैं तुम से बात नही करना चाहता।

पहला व्यक्ति ऐसा मत कहो, बात ही तो हमारा जीवन है। हम या तो व्यस्त रहते है या खाली रहते है, उसी खाली को भरने के लिए हम यहाँ आते है। इस तरह चुप मत हो। यह खामोशी मुझे घूरती है बोलो बोलो कुछ बोलो। तुम तो बहुत अच्छा बोलते हो!

[दूसरे व्यक्ति को स्नेह से छूता है। वही उपेक्षा करता है।]

पहला व्यक्ति भई, मुझे बहुत काम करना है। इतना काम कि तुम उस की कल्पना नही कर सकते। इस तरह मुझे अभी पाच इश्तहार और लिखने है। तीन के प्रूफ देखने है, दो के प्रिण्टआॅर्डर देने है। ये सारे पैड रखे है न, ये सारी महत्त्वपूर्ण सस्थाएँ है, मैं किसी का मन्त्री, किसी का अध्यक्ष, किसी का कोषाध्यक्ष और किसी का सचालक हूँ, पता नही, मुझे कितने कितने पद मिले है। यह देखो, मेरी आज की डायरी, इतने लोगो से मुझे स्वय मिलना है। इतनी जगहो पर लोग खुद मुझ से मिलने आयेंगे। इतने लोगो को मुझे लोगो से मिलाना है। मैं कितना व्यस्त हूँ और कितनी कितनी जिम्मेदारियाँ मेरे ऊपर है। पूछो इस बेयरा से, यहाँ नित्य आने वाला वह पहला व्यक्ति मैं होता हूँ और रात के सवा दस बजे यहाँ से जाने वाला वह आखिरी व्यक्ति मैं होता हूँ पहला और आखिरी!

[कुरसी पर बैठ कर पैड पर लिखने में व्यस्त हो जाता है।]

पहला व्यक्ति [लिखते लिखते सहसा] क्या कहा था, सग्राम नीचे से होता है''' नीचे याने ?

दूसरा व्यक्ति [गुस्से में डूबा है।] जूतो की ठोकरो से!

पहला व्यक्ति [लिखता हुआ।] जूता की ठोकरो से। [फिर रुकता है।] नीचे से ऊपर और ऊपर से नीचे इन दोना में कुछ फर्क है क्या ?

दूसरा व्यक्ति इस फर्क के अनुमान के लिए आप को शीर्षासन करना होगा।

पहला व्यक्ति सच! ओह तभी महा पुरुष लोग हर सुबह शीर्षासन किया करते थे जरूर इस में कोई रहस्यशक्ति है। मैं अभी करता हूँ।

[शीर्षासन करने का प्रयत्न, बार-बार गिरता है, बेयरा ऊपर टाँग सँभालता है।]

पहला व्यक्ति [घबरा जाता है] ओह सारी दुनिया उलटी दिखाई पड रही है। जो ऊपर था वह नीचे हो गया, जो नीचे था वह ऊपर हो गया।

दूसरा व्यक्ति और बीच मे क्या है ?

पहला व्यक्ति : [त्रस्त] केवल शून्य···· केवल शून्य। छोड़ दो, छोड़ दो मुझे। छोड़ दो। [घबरा कर खड़ा हो जाता है, साँसें फूल रही-हैं।]

पहला व्यक्ति : बेकार की बातें हैं ये। मुझे इन से क्या मतलब ! मुझे कितना काम करना है। मै तुम्हारी तरह बेकार नहीं। मेरे जीवन का अब भी एक लक्ष्य है····मुझे अब भी बहुत आशा है। प्लीज, एक सिगरेट दीजिए।

[मुँह में पेन्सिल लगा लेता है। इसे सिगरेट समझ कर पीता है। और लिखने लगता है।]

दूसरा व्यक्ति : [बेयरा से] आज कॉफ़ी हाउस में इस तरह चौगुनी भीड़ क्यों है ?

बेयरा : सर, आधे लोग तो वही है जो यहाँ रोज बैठते है, शेष लोग नये है। कल से ये लोग भी बैठने लगेंगे। सर, मतलब यह कि···· आज दफ़्तरों, स्कूल-कॉलेजो मे स्ट्राइक है।

दूसरा व्यक्ति : हम दोनों ने कल यहीं मिल बैठने का वायदा किया था। वह आयेगी तो कहाँ बैठेगी—? तुम्हें पता होना चाहिए, वह मामूली लड़की नही है।

बेयरा : सर, वह बाहर सड़क पर आ कर ही खड़ी हो गयी होगी।

दूसरा व्यक्ति : वह किसी की परवाह नही करती। उसे किसी का डर नही है।

बेयरा : सर, वह कॉफ़ी हाउस के भीतर आने की कोशिश कर रही होगी।

दूसरा व्यक्ति : उसे कोई नही रोक सकता !

पहला व्यक्ति : [चिल्लाता है] डॉण्ट डिस्टर्ब, देखते नही, मैं इस वक़्त कितना व्यस्त हूँ।

बेयरा : पर भीतर वह सज्जन पुरुष तो खाली बैठा है—मुझे उन के लिए बोलना ही होगा। यह नौकरी मुझे उन्हीं की वजह से मिली है।

दूसरा व्यक्ति : वह इधर से आयेगी।

बेयरा : नहीं, इधर से, हाल में से होती हुई।

दूसरा व्यक्ति : क्यों ?

बेयरा : इधर वह सज्जन पुरुष बैठा है !

दूसरा व्यक्ति : कहाँ बैठा है ? कौन है वह ? क्या है ? क्यों है ?

बेयरा : [रोकता है।] सर, नही-नहीं, आप उधर नहीं जा सकते !

दूसरा व्यक्ति : [आवेश में] ज़्यादा बकवास किया तो उठा कर फेंक दूँगा।

बेयरा : सर, मार-पीट करने के लिए उधर उतना बड़ा हाल है।

[दूसरा व्यक्ति बायें दरवाज़े पर खड़ा हो कर हाल की ओर देखता है। हाल में झगड़ा हो रहा है। मार-पीट। एक प्लेट दूसरे व्यक्ति के पेट पर लगती है ! वह चीख पड़ता है।]

दूसरा व्यक्ति : [दर्द से] हाय मार डाला ! [बेयरा से] बत्तमीज, तू यह दरवाजा बन्द क्यों नही रखता ?

बेयरा : सर, यह आप ही लोगों का कॉफ़ी हाउस है !

दूसरा व्यक्ति : मुझे खामख़ाह इतनी चोट लगी है !

[वह दरवाज़ा बन्द करना चाहता है। बेयरा उसे रोकता है।]

बेयरा : मैं कहता हूँ सर, यह दरवाजा इसी तरह खुला रहेगा।

दूसरा व्यक्ति [क्रोध में] बत्तमीज, नालायक—।

पहला व्यक्ति अ ह ह ! मेरा वह तीसरा इश्तहार पूरा हो गया ! [पढ़ने लगता है ।] पालतू कुत्तों की शानदार, भव्य प्रदर्शनी । आइए—आइए—बड़ी से बड़ी तादाद में आइए । अपने पालतू कुत्तों को पकड़े हुए आइए ।—

दूसरा व्यक्ति अब दरवाज़ा बन्द होगा या नहीं ?

पहला रामलीला मैदान में करीब ढाई हज़ार कुत्तों के आने की आशा है ।

पहला व्यक्ति [पढ़ता हुआ ।] कुत्ता वह पहला जानकार है, जो मनुष्य के समीप आया । हज़ारों वर्ष से यह दोनों जीव साथ-साथ रहते आये हैं । दोनों ने समान रूप से एक-दूसरे को प्रभावित किया है । कुत्ते का हमारे सांस्कृतिक जीवन में अत्यधिक महत्व है। चन्द्रलोक में उतरने वाला वह पहला जीव यही कुत्ता होगा । कुत्ता एक धार्मिक जीव है, यह भौंकता भी है और पूँछ भी हिलाता है ।

पहला व्यक्ति [जैसे कुत्ते को बुलाया जाता है] जा, एक कप कॉफ़ी ला !

बेयरा माफ़ कीजिए सर, मैं कुत्ता नहीं हूँ ।
[बेयरा जाता है ।]

दूसरा व्यक्ति तुम्हें एक इश्तहार के कितने पैसे मिलते हैं ?

पहला व्यक्ति वह इस बात पर मुनहसर करता है कि इश्तहार का विषय क्या है ?

दूसरा व्यक्ति मसलन इसी कुत्ते के विषय का ।

पहला व्यक्ति इस का पेमेण्ट तो सब से ज़्यादा है मसलन यही एक हफ़्ते कॉफ़ी हाउस में आने-जाने का पूरा खर्चा ।

[बेयरा आता है ।]

[दूसरा व्यक्ति दरवाज़े पर खड़ा उस सज्जन पुरुष को देखता है ।]

बेयरा हाँ सर, वहाँ खड़े-खड़े आप उन्हें बेशक निहारिए देखिए घूरिए । जो चाहे कीजिए ।

दूसरा व्यक्ति [नफ़रत से] छी छी इस तरह दोसा खा-खा कर अपने चारों ओर घिरे हुए लोगों के बीच बात कर रहा है जैसे चभर-चभर कोई कुत्ता खा रहा हो और कचर-कचर बेसिर-पैर की बातें कर रहा हो !

बेयरा सर, धीरे-धीरे । वह सज्जन पुरुष इस वक्त 'प्रेस कॉन्फ़्रेन्स' कर रहे हैं ।

दूसरा व्यक्ति इस तरह चभर-चभर खाते हुए प्रेस कॉन्फ़्रेन्स ?

बेयरा हाँ सर, प्रेस कॉन्फ़्रेन्स, 'फ़ूड प्रॉब्लम' पर !

दूसरा व्यक्ति वह इतने गन्दे ढंग से खा-खा कर बातें कर रहा है कि मैं आज से अब कभी दोसा नहीं खा पाऊँगा ।

बेयरा इन्कलाब ज़िन्दाबाद !

पहला व्यक्ति [सहसा लिखना बन्द कर] क्या कहा ? क्या कहा, फिर से तो कह, क्या कहा, फिर से तो कह !

बेयरा हाँ, क्या कहा । पता नहीं क्या कहा, अभी मैं ने क्या कहा था हाँ, क्या कहा था !

दूसरा व्यक्ति [**दरवाज़े पर**] चला जा यहाँ से ! भाग जा !

[**पृष्ठभूमि में लोगों की हँसी**]

पहला व्यक्ति : [**बेयरा के संग सोचता-सा**] तू ने अभी कुछ कहा था। दो शब्द थे। बहुत अच्छे शब्द थे, तू ने हाथ उठा कर कहा था....तेरे होठ फड़क पड़े थे...तेरी आँखें चमकी थीं।

बेयरा : वह दरअसल मै ने कल रात फिलिम में देखा था सर, वही दोनों शब्द कह कर हीरो हिरोइन के संग गाने लगा था !

पहला व्यक्ति : वह गाना क्या था....बता, फिर वह शब्द मुझे याद आ जायेगा।

बेयरा : कुछ इसी तरह था....तनु डोलै रे मनु डोलै रे,

पहला व्यक्ति : [**सोचने में डूब गया है।**] आगे—इस के आगे और क्या है ?

बेयरा : सर, मुझे शरम लगता है।

पहला व्यक्ति : [**जैसे कोई स्वप्न देख रहा है।**] उन्नीस सौ बयालिस के वे दिन....हम लोग अपने नेता के साथ जुलूस मे जा रहे थे। वही शब्द आगे....वही शब्द पीछे....वही आगे-पीछे....पूरे वातावरण मे....वही शब्द। क्या था वह शब्द....तेरे मुँह से वही शब्द अभी-अभी निकला था....बता....याद....कर उस शब्द की मुझे सख्त जरूरत है....मुझे अभी लिखना है और उस मे उस शब्द का इस्तेमाल करना है !

दूसरा व्यक्ति : उस की टेबल पर कई किताबें रखी हुई है। उन किताबो में शायद वह शब्द हो !

बेयरा : नहीं सर, वे किताबें ज्योतिष और हस्तरेखा की है।

दूसरा व्यक्ति : [**आवेश में**] उस की टेबल उलट दो, तब शायद उस के नीचे वह किताब मिल जाय....जिस में वह शब्द हो !

पहला व्यक्ति : तुम्हें भी वह शब्द भूल गया ?

दूसरा व्यक्ति : मुझे अब तक याद था....उस पिछले सेकेण्ड तक, जब मै यहाँ आ कर खड़ा हुआ, पर उसे देखते ही मै सब-कुछ भूल गया....सब के बीच अकेले उस तरह खाना....और खाते-खाते उस का हर क्षण बोलते रहना ! [**रुक कर**] एक मिनिट के लिए मुझे उस के पास जाने दो....मै उस का टेबल उलट दूँगा....उसे जमीन पर गिरा कर उस की कुरसी छीन लूँगा....

बेयरा : सर, यह नहीं हो सकता।

पहला व्यक्ति : क्या कहा ?....."यह नहीं हो सकता ?"

बेयरा : हाँ सर, उस सज्जन पुरुष के पास यह सज्जन साहब नहीं जा सकते।

दूसरा व्यक्ति : [**चिल्ला पड़ता है**] मेरा नाम सज्जन नही।....मैं इस संज्ञा से नफ़रत करता हूँ।

बेयरा : अच्छा अच्छा, मैं जब तक यहाँ हूँ यह साहब उस सज्जन पुरुष के पास नहीं जा सकते।

दूसरा व्यक्ति : मैं तेरा सिर तोड़ दूँगा।

बेयरा : सर, वेरी सारी !

दूसरा व्यक्ति : मै तुझे यही खामोश कर दूँगा।

बेयरा सर, वह सज्जन पुरुप यही चाहता है।
पहला व्यक्ति तभी उस ने वीच में तुझे खडा कर दिया है। वीच में यही शून्य है, लोग यहाँ पत्थर फेंके यह चारो ओर आवाज है, लोग इस में मारपीट कर अपने गुस्से को जलायें। लोग अपना गुस्सा उलटी सज्ञा में निकाले ऐण्टी ऐण्टी ऐण्टी ।
[बेयरा घूम कर दूसरे व्यक्ति की जगह खडा हो जाता है। दूसरा व्यक्ति पहले व्यक्ति के सग खडा हो जाता है।]
दूसरा व्यक्ति लगता है, यह उसी का आदमी है।
पहला व्यक्ति उसी वजह से इसे यहाँ वेयरा की नौकरी मिली है।
दूसरा व्यक्ति यह किसी तरह पटाया नही जा सकता ?
पहला व्यक्ति मुझे कभी ऐसी जरूरत नही पडी। वल्कि कभी सोचा ही नही।
दूसरा व्यक्ति आज तो हम दोनो को जरूरत है। उस शब्द को तुम्हें लिखने में इस्तेमाल करना है, उस शब्द पर मुझे उस से कुछ वातें करनी है। उस के यहाँ पहुँचने मे पहले मुझे वह शब्द याद रहना चाहिए।
पहला व्यक्ति तुम्हारी उस गर्ल फ्रेण्ड का नाम क्या है ?
दूसरा व्यक्ति 'दिस इज इर्रिलेवेण्ट'।
पहला व्यक्ति 'रिलेवेण्ट' क्या है ?
दूसरा व्यक्ति • वही शब्द! और वह उस शब्द का प्रतीक है।
पहला व्यक्ति ओह वण्डरफुल! फिर तो यहाँ उस के वैठने का इन्तजाम होना ही चाहिए!
[इस वीच वेयरा भीतर आ कर प्लेट में वची, जूठी चीजें ले आता है।]
पहला व्यक्ति वेयरा, कही से एक कुरसी का इन्तजाम करना ही होगा।
वेयरा इम्पासीवुल सर, वाहर भीड वढती जा रही है।
पहला व्यक्ति कहाँ जा रहा है ?
वेयरा सज्जन पुरुप की आज्ञा है, देश में अनाज की कमी है, खाने की चीजें फेंकी न जायें। वाहर भिखारियो की भीड खडी है।
[वायीं ओर से चला जाता है, उसी क्षण वायीं ओर से शोर उठता है। वेयरा उलटे पॉव दौड़ा आता है।]
वेयरा वाप रे वाप! इतनी भीड!
पहला व्यक्ति इधर से क्यो नही जाता ?
वेयरा अव इधर से जाना मना है ?
दूसरा व्यक्ति क्यो ?
बेयरा अव यही से यह जूठन भिखारियो के पास फेंकना होगा, इस देश में भिखमगों की हालत देखो, खायेंगे तो 'सैंडविचेज' के ही जूठन खायेंगे। [फेंकता है] ले। अरे रे रे झगडता क्यो है। अरे सालो, आपस में झगडने से क्या होगा। ये ले 'हाट डॉग' सव इम्पोर्टेड हैं वेटा! अरे झगडना नही लडना नही सज्जन पुरुप अभी भीतर वैठा है आज वहुत माल निकलेगा। [फेंकता है] ये ले 'हैम्बवर्गर', यही है अव स्वदेशी !
पहला व्यक्ति [सहसा] क्या कहा! तू ने अभी क्या कहा ?
बेयरा दाँत से पकडे हूँ वही उस शब्द की

तरह वह भी न भूल जाय····स्वदेशी····स्वदेशी····यानी इम्पोर्टेड····।

पहला व्यक्ति : हम ने तब विदेशी माल में आग लगायी थी [**दूसरे व्यक्ति से**] तुम लिखते जाओ, मै बोल रहा हूँ····मैं बोलता जाऊँगा····रुका कि सब-कुछ भूल जाऊँगा।····स्वदेशी····स्वदेशी····स्वदेश मन है, स्वदेश तन है, स्वदेश····आगे याद नही आ रहा है····स्वदेश नाम की तब एक लड़की भी थी।

बेयरा : स्वदेश प्रसाद मेरे पिता का नाम था।

पहला व्यक्ति : तब भारतवर्ष ही स्वदेश था।

[**दूसरा व्यक्ति तेज़ी से लिखता जा रहा है। पैड के काग़ज़ भरते जा रहे हैं, वह फाड़-फाड़ कर नीचे फेंकता जा रहा है। पहला व्यक्ति बटोरता जाता है····समेटता है।**]

पहला व्यक्ति : हमारे उस स्वदेश में कैसे-कैसे नेता थे। उन्होंने कितने-कितने बलिदान दिये। सारा स्वदेश एक महान् प्रेरणा में बँधा था····चारों ओर एक प्रकाश फूट रहा था····। ओह तुम लिख क्यों नहीं रहे? सारा गुड़ गोबर कर दिया····यह एक सम्पादकीय था····आज शाम को इसे मैं बीस रुपये में बेच देता····।

दूसरा व्यक्ति : [उठता हुआ] तुम इसे केवल बीस रुपये मे बेचोगे। और यह देश?

पहला व्यक्ति : सावधान, मै अपने देश के गौरव के ख़िलाफ कुछ भी सुनना पसन्द नहीं करूँगा।

दूसरा व्यक्ति : इस देश की क्या क़ीमत है, इस का सही-सही हिसाब जोडा जा चुका है। बल्कि आधी रक़म 'एडवांस' में दी जा चुकी है।

पहला व्यक्ति : तेरी 'गर्ल फ़्रेण्ड' नहीं आयी अभी तक, तेरा दिमाग कही चढ़ तो नहीं गया!

दूसरा व्यक्ति : अन्तर्राष्ट्रीय बाज़ार में इस का भाव खुल चुका है। सट्टेबाज शेयर मार्केट में चिल्ला रहे है।

[**पृष्ठभूमि में अनेक स्वरों में 'आये राम', 'गये राम', 'आये राम', 'गये राम'**]

पहला व्यक्ति : [**चीख पड़ता है।**] चुप करो····चुप करो।

[**एक ठण्डी खामोशी खिंच गयी है।**]

बेयरा : सर, भीतर वह आ गयी है!

दूसरा व्यक्ति : वह आ गयी है।

बेयरा : गर्ल फ़्रेण्ड!

दूसरा व्यक्ति : मिनी····।

[**दूसरा व्यक्ति दौड़ता है। दरवाज़े पर रुक कर देखता है।**]

दूसरा व्यक्ति : [पुकारता है।] मिनी!

बेयरा : सर, जरा धीरे पुकारिए, सज्जन पुरुष उस से कुछ बात कर रहे है।

दूसरा व्यक्ति : [गुस्से से] क्या बकता है?····मिनी, सुनो मिनी। [**रुक कर**] ओह! उस के लिए अब कुरसी का इन्तजाम करना ही होगा। [**आवेश में**] मैं उसे कुरसी से धक्का दे कर अपने दोस्त के लिए कुरसी लाने जा रहा हूँ।

[**बेयरा दौड़ कर पकड़ लेता है।**]

बेयरा : [**पैर पकड़ कर**] नही, नहीं सर,

ऐसा करना गलत होगा। चारो ओर उपद्रव फैल जायेगा।

दूसरा व्यक्ति अब मेरे बर्दाश्त के बाहर है।

पहला व्यक्ति [दौड कर रास्ता रोकता है।] हाँ, यह सही कहता है, सज्जन पुरुष को मत हटाओ। नही तो महाजुल्म हो जायेगा। चारो ओर 'केयास' फैल जायेगा। यह सारी व्यवस्था भग हो जायेगी। हमारा यहाँ रहना गैरमुमकिन हो जायेगा।

दूसरा व्यक्ति कौन है तू ?

पहला व्यक्ति मैं मैं मैं मैं एक व्यक्ति हूँ।

दूसरा व्यक्ति तू कुछ और है।

पहला व्यक्ति मैं तुम्हारी ही तरह एक व्यक्ति हूँ, इस देश का नागरिक हूँ।

दूसरा व्यक्ति नही तू अँगरेज है। वही अँगरेज, जिस से शायद तू लडा था। उस अजीब लडाई ने तुझे उलटे वही बनने को मजबूर कर दिया जिस से तू लड रहा था। वह इतना आश्चयजनक दुश्मन था कि तू उसी के अनुसार सग्राम करने को विवश हुआ। तेरे सग्राम की सारी नीति उसी दुश्मन के हाथ में थी।

पहला व्यक्ति तू ने देखा था ?

दूसरा व्यक्ति देख रहा हूँ।

पहला व्यक्ति असम्भव।

दूसरा व्यक्ति मैं तेरा ही वर्तमान हूँ जैसे कि तू मेरा भूत है। [विराम] यहाँ की सारी लडाई व्यक्तिगत है बिलकुल निजी स्तर पर। बहुत छोटी-सी बात को हम बडे रूप देने के आदी है। और बडी बात को हम न देख पाने के अभिशप्त हैं।

बेयरा सर, तभी आप उस कुरसी के लिए आज इतना परेशान है। कल से मैं यहाँ दो कुरसी रखूँगा।

पहला व्यक्ति रुको, रुको, मुझे याद कर लेने दो कितनी पते की बात है यह, [दौड कर लिखने लगता है।] हम जिस के खिलाफ लडते हैं, एक दिन वही खुद बन जाते हैं और और क्या कहा ? [सहसा] ओह सब-कुछ मैं कितनी जल्दी भूल जाता हूँ लगता है मेरा 'लिवर' खराब है।

बेयरा सर, इस उमर में गेहूँ नही खाना चाहिए।

पहला व्यक्ति वह शब्द क्या है, सोच, तू ने क्या कहा था ?

बेयरा सर, वह फ़िलिम में है जयहिन्द टाकीज़ में वह फिलिम चल रही है।

पहला व्यक्ति मुझे अभी जरूरत है, अभी, अपने लेख में उसे टालना है, इन्हें गर्ल फ्रेण्ड से उसी विषय पर बात करनी है।

दूसरा व्यक्ति तुम लोग मुझे जाने क्यो नही देते ? मैं उस सज्जन पुरुष को कुरसी से उलट दूँगा, फिर वह शब्द अपने-आप फूटेगा।

पहला व्यक्ति [सोचता है] कुरसी उलटने से ही वह शब्द फूटेगा। तो मूल वही कुरसी है। [लिखने लगता है।] यह सारा चक्कर उसी के लिए है। [दौडता है] नही, नही, आप उस सज्जन पुरुष के पास नही जा सकते। कम से कम वह आदमी सीधा तो है,

मैं उसे इतने दिनों से जानता हूँ। अगर तू ने उसे कुरसी से नीचे गिराने की कोशिश की तो उस के बाद यहाँ इस तरह मारपीट, लूट, डाके शुरू होंगे कि तू यहाँ खड़ा नहीं बचेगा।

दूसरा व्यक्ति : याद करो स्वतन्त्रता-संग्राम के वे दिन····ठीक ऐसा ही उस ने भी कहा था, कि हम स्वेज कनाल पार नहीं कर पायेंगे कि···· **[दोनों मूर्तिवत् चुप हो जाते हैं, जैसे सहसा उन्हें किसी ने गूँगा बना दिया है।]**

बेयरा : [घबराया हुआ] कि····कि····कि····

[सहसा दौड़ता है] यस सर। **[दायीं ओर जाता है। दोनों व्यक्ति ग़ुस्से से निःशब्द बातें कर रहे हैं। पहला व्यक्ति सत्याग्रही चेष्टाएँ करता है, दूसरा व्यक्ति क्रोध-भरी आवेशजन्य मुद्राएँ दिखा रहा है। बेयरा थोड़ी देर बाद आता है।]**

बेयरा : सर····ओ मिस्टर ! ओ बाबू लोग···· सज्जन पुरुष बहुत परेशान है, आप लोग इस तरह अचानक चुप क्यों हो गये ? आप लोगों की बातें, आप लोगों का गुस्सा, आप लोगों का सारा व्यवहार उन्हे बहुत प्रिय है। उन का 'प्रेस कॉन्फ़्रेन्स' खत्म हो गया है। स्ट्राइक वालों का एक 'डेलिगेशन' उन से मिलने आया है। वह भी थोड़ी देर मे चला जाने वाला है। आप लोग बोल कर बातें कीजिए ओ सर····सर····ओ सर।

[दोनों व्यक्ति उसी तरह बेयरा को निःशब्द्द पूछते हैं कि क्या उन के मुँह से बोल नहीं निकल रहा है।]

बेयरा : अरे, आप लोग बोल नही पा रहे है, जी नहीं, मुझे तो कुछ नही सुनाई पड़ रहा है। जी····कुछ नहीं····कोई आवाज नहीं। अच्छा, अच्छा····जरा जोर से हँसिए, शायद कुछ सुनाई पड़े।

[दोनों हँसते हैं, पर वही निःशब्द।]

बेयरा : अरे खिलखिला कर हँसिए····अरे ठहाका मार कर हँसिए।

[दोनों हँसते हैं।]

बेयरा : **[परेशान]** नहीं कुछ नहीं, कोई आवाज नहीं····कोई एक शब्द भी नहीं···· क्या कहा ?····मैं बहरा हूँ, जी नहीं, आप दोनों गूँगे हो गये। आप के मुँह से कोई आवाज ही न निकले तो मै क्या सुनूँ।···· देखिए न, दायीं ओर से आवाज आ रही है···· मै उसे सुनना भी न चाहूँ तो मुझे सुनाई दे रही है। **[कान लगा कर सुनता है।]** सज्जन पुरुष ने अभी आप के फ़्रेण्ड से कहा है : किसी एक बड़ी नौकरी के लिए। **[फिर सुनता है]** ओह, वह अपने 'फ़्यूचर कैरियर' के बारे मे बात कर रही है। **[कान लगाता है]** उस के साथ 'इण्टरप्रेटर' बन कर विदेशयात्रा पर जायेगी।

[दूसरा व्यक्ति लगातार प्रयत्न करता हुआ इस बिन्दु पर आ कर चीख पड़ता है।]

दूसरा व्यक्ति : नहीं, नही, नही !

[पहला व्यक्ति निःशब्द बोल रहा है।]

बेयरा : ओह, अब विश्वास हो गया कि मैं बहरा नही हूँ मुझे भी विश्वास था कि आप लोग गूँगे नही हो सकते। **[सहसा कान लगा कर सुनता है।]** ओह ! सज्जन पुरुष कहता है कि हमे नित्य अपनी डायरी लिखनी

चाहिए····[**फिर सुनता है।**] और डायरी वह होनी चाहिए, जिस के हर पृष्ठ पर किसी महापुरुष का धर्म-सन्देश छपा हो [**सुनता है**] महापुरुष वही है जो अपने व्यक्तिगत विश्वास के लिए लाखों-करोड़ों आदमी की जान की जरा भी परवाह नहीं करता। [**सुनता है**] भावना प्रधान व्यक्ति ही महान् होता है !

[**पहला व्यक्ति भी इस बिन्दु पर बोलने लगता है।**]

पहला व्यक्ति : नहीं, नही, नही उसे कुछ पता नहीं। वह सब-कुछ भूल गया है। वह अपनी बेहोशी मे सो रहा है। अन्याय, अत्याचार का घड़ा मुँह तक भर गया है। लोग अब बर्दाश्त नहीं करेंगे। हर चीज की हद होती है। अब रात बीतने को है। नया सूरज उगने को है। हमारे बीच में से कोई एक सहसा उठ खड़ा होगा····और····और···· और····और····।

बेयरा : और····और···और···!

[**वही निःशब्द हँसी वह स्वयं हँसने लगता है। उसी तरह निःशब्द वह भी बोलता है। न बोल पाने की असमर्थता पर बेहद दुखी होता है। संकेत से कह रहा है उस की नौकरी चली जायेगी।**]

पहला व्यक्ति : अरे तुझे क्या हो गया ?

दूसरा व्यक्ति : बस, इसे इसी तरह गूँगा रहने दो। इस से बात मत करो। अच्छा है तेरी नौकरी छूट जाय····तू उस का आदमी था न! जा अब उसी के पास···हम से हाथ मत जोड़····मुझे तुझ मे कोई हमदर्दी नहीं !

[पहले व्यक्ति के पैर पर गिरता है।]

पहला व्यक्ति : मुझे भी तुम से कोई हमदर्दी नही [**सहसा रुक कर**] शायद हम दोनों में भी कोई हमदर्दी नहीं है। उन दोनों में भी नहीं···। यह [**बेयरा**] महापुरुष है···इस में अभी कुछ चमका है। यह अपनी गूँगी वाणी मे कुछ कह रहा है···उस ने हमारे भीतर से एक-दूसरे के लिए हमदर्दी छीन कर हमें अलग-अलग बाँट दिया है।

दूसरा व्यक्ति : [**आवेश में**] यह सारा 'फ़्रेड' है, मै उसे ख़त्म कर के रहूँगा।

[**बेयरा इस बिन्दु पर ठहाका मार कर हँस पड़ता है।**]

बेयरा : [**उसी हँसी में**] तुम दोनों····[**पहले व्यक्ति से**] तुम्हें कोई महापुरुष चाहिए। [**दूसरे व्यक्ति से**] और तुम्हे एक 'गर्ल फ़्रेण्ड' चाहिए···और मुझे वही सज्जन पुरुष ····जिन्दाबाद···!

[**भीतर भागता है।**]

पहला व्यक्ति : जिन्दाबाद,····इस के पहले वाला शब्द क्या है ?

[**तेज़ी से दौड़ता है, सोचने लगता है। दूसरा व्यक्ति उसे बड़े ग़ौर से देखता है। तभी बेयरा आता है। उस के हाथ में कुछ सामान है।**]

बेयरा : देखिए····सुनिए····सज्जन पुरुष ने आप दोनों के लिए यह उपहार दिया है। आप बडे हैं, महान् में विश्वास करते हैं, इस लिए आप को भेंट है यह एक महापुरुष की आत्मकथा। [**पहले व्यक्ति को भेंट करता है**] और आप बड़े उत्साही है। आप के विद्रोह-भाव से सज्जन पुरुष बहुत प्रभावित

हुए है। [डिब्बा खोलता है] आप के लिए उन्होंने यह 'मिनी सूट' भेजा।

दूसरा व्यक्ति मिनी सूट, यह क्या वत्त-मीज़ी है।

बेयरा आप के गर्ल फ्रेण्ड को सज्जन पुरुष ने मिनी साडी प्रेजेण्ट की है।

दूसरा व्यक्ति [फकता है] ले जाओ उस के सिर पर फेंक दो!

बेयरा सज्जन पुरुष ने कहा है, यदि आप एक मिनिट में इस सूट को पहन कर तैयार हो जायगे तो आप भीतर जा सकते है।

[दूसरा व्यक्ति नफरत से उस मिनी सूट को पहनने का प्रयत्न करता है।]

बेयरा [पहले व्यक्ति से] आप इस पुस्तक में वही शब्द ढूँढिए। यदि एक मिनिट में ढूँढ लेंगे तो अन्दर जा सकते है।

[वह पहन रहा है। वह पुस्तक में कुछ ढूँढ रहा है।]

बेयरा जल्दी कीजिए, वह एक मिनिट खत्म हो जायेगा।

दूसरा व्यक्ति यह मुझ से नही पहना जाता।

पहला व्यक्ति इस पुस्तक में मुझे कुछ नही सूझ रहा है।

बेयरा जल्दी कीजिए ।

दूसरा व्यक्ति इस का पहनना असम्भव है।

पहला व्यक्ति इस के पृष्ठ कोरे है।

बेयरा जल्दी कीजिए, वह एक मिनिट बीतने जा रहा है।

पहला व्यक्ति मुझे कुछ नहीं सूझता मैं क्या पढ़ूँ ?

बेयरा ढूँढिए टटोलिए। आप पहनने की कोशिश कीजिए।

पहला व्यक्ति यहाँ सब-कुछ निजी स्तर पर है—ऊपर-नीचे नीचे-ऊपर जो जिस का विरोध करता है, वह वही होना चाहता है।

बेयरा जल्दी जल्दी समय खत्म हो रहा है।

[बेयरा यही बोल रहा है। पहला व्यक्ति अपनी बात, एक बिन्दु पर पहुँचा कर तीनों मूर्तिवत रह जाते है। परदा]

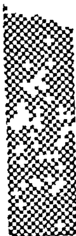
[जुलाई १९६८]



द्विविधा

महावीर त्यागी
अज्ञेय
रवीन्द्र जैन
मन्मथनाथ गुप्त
राजकमल चौधरी
मुक्ता राजे
उपेन्द्रनाथ 'अश्क'
ठाकुरप्रसाद सिंह
रामकुमार वर्मा
नरेश मेहता
लक्ष्मीचन्द्र जैन
अमृतलाल नागर
[illegible]प्रसाद [illegible]
परेश
मोहन राकेश
दूधनाथ सिंह
शिवप्रसाद सिंह
प्रभाकर द्विवेदी
धनंजय वर्मा
शोभिता जैन
पुनर्नवा
जगदीशचन्द्र माथुर

संस्मरण



गान्धी के मोती

महावीर त्यागी

●

सन् १९२१ का आन्दोलन ढलाव पर था। लोग सजाएँ काट कर जेलों से छूट रहे थे। अँगरेज़ों की चिढ़ बनी थी। पर जनता की उत्तेजना शान्त न हो पायी थी। बिना विध्वंस किये यह शान्त हुआ नहीं करती।

खिलाफ़त के दिनों हिन्दू-मुसलमानों में दूध-शक्कर की जैसी एकता थी। आन्दोलन का ठण्डा पड़ना था कि फूट पड़ गयी। हिन्दुओं ने 'शुद्धि' और मुसलमानों ने 'तबलीग' शुरू कर दी। बस होने लगे बलवे। हिन्दू महासभा और मुस्लिम लीग की बन आयी। विदेशी सरकार को मनचाही हो गयी। और काँग्रेसमैन का बाज़ार भाव गिरने लगा।



इन्ही दिनों काँग्रेस के अध्यक्ष मौलाना मुहम्मद अली ने एक स्पीच में कहा : "मैं एक फ़ाजिर और फ़ासिक़ मुसलमान को भी महात्मा गान्धी से अच्छा मानता हूँ।" बस पंजाब के हिन्दू अखबार बौखला उठे और जो साबित क़दम हिन्दू थे उन के भी पैर उखड़ने लगे।

मै ऑल इण्डिया काँग्रेस कमेटी का सदस्य था और पं० जवाहरलाल नेहरू सेक्रेटरी। काँग्रेस अध्यक्ष की यह तकरीर असहनीय हो गयी। मै ने अविश्वास का प्रस्ताव भेज दिया और श्री नरदेव शास्त्री ने उस पर अनुमोदन के हस्ताक्षर कर दिये।

ए० आई० सी० सी० की बैठक अहमदाबाद में बुलायी गयी। काँग्रेस के इतिहास में यह बैठक अमर रहेगी। महात्मा गान्धी जेल से छूट कर पहली बार इस अधिवेशन में आये

थे। उन के पीछे प० मोतीलाल, देशबन्धु दास आदि ने मिल कर एक छानबीन कमेटी द्वारा यह सिफारिश कर दी थी कि कौंसिलो का बाइकाट हटा लेना चाहिए और कांग्रेस को कौंसिलो के अन्दर से आन्दोलन चलाना चाहिए। इस प्रश्न पर कांग्रेस दो हिस्सो में बँटी हुई थी।

क्रान्तिकारी दल ने भी इस बीच पजाब और बगाल की ओर अपनी छुट-पुट कर दी थी। इसी सिलसिले में शहीद गोपीनाथ साहा को फाँसी हो गयी थी। क्रान्तिकारी दल ने नागपुर कांग्रेस में महात्मा गान्धी को वचन दे दिया था कि उन के असहयोग आन्दोलन को खुला अवसर देंगे और इस बीच बम्ब आदि चलाना बन्द रहेगा। फिर भी कुछ नवयुवक ऐसे थे कि जो अँगरेजी सरकार के जुल्म को सहन न कर सके। श्री साहा भी उन्हीं में से एक थे। कलकत्ते का पुलिस कमिश्नर सर चार्ल्स टेगर्ट क्रान्तिकारी दल के पीछे पडा हुआ था। श्री साहा ने उसे गोली से मारने का निश्चय किया। पर धोखे में एक मिस्टरडे को मार दिया। गोपीनाथ को फाँसी हो गयी।

देशबन्धु दास ने एक प्रस्ताव गोपीनाथ साहा के साहस पर बधाई देने का पेश कर दिया। महात्मा गान्धी उस से सहमत नही थे। प्रस्ताव पर बहस होने से पहले मौलाना मुहम्मद अली ने कहा, "सब से पहले मेरी तक़दीर का फैसला हो जाना चाहिए।" और मुझे आवाज़ लगा दी। "अविश्वास का प्रस्ताव पेश करो।" मै २४ वर्ष का युवक। खूँटा-सा प्लेटफॉर्म पर जा खडा हुआ। "मिस्टर प्रेसिडेंट एण्ड जेंटिलमैन" कहते ही गान्धी जी ने मुहम्मद अली से इजाज़त चाही, "प्रस्ताव से पैले मुझे दो मिनट प्रस्तावक से बात करने का मौका होना चाहिए।" मौलाना ने ज़ोर से कहा, "आर्डर, आर्डर। पहले प्रस्ताव का फैसला होगा, फिर दूसरी बात।"

महात्मा जी को चुप करना कठिन था। उन्होंने मुझ से कहा, "तुम्हें तो मुझ से बात करने में एतराज नई है।" मैं ने कहा, "नही।" तो जोर से हँसते हुए बापू ने कहा, "जब मैं अर वो राजी तो बीच में क्या बोलता काजी।" सारी सभा हँसी से गूँज उठी। मैं झट से गान्धी जी के पास जा बैठा।

बापू "यह प्रस्ताव तो ठीक नई है। मौलाना ने इस में किसी और को तो कुछ कहा नई। महात्मा गान्धी से 'फाजिर फासिक' मुसलमान को अच्छा समझने की बात ह। उस में कोई गाली तो नई है गाली का साबूत तो उस के लगना ठैरा। गान्धी तो उस का लगना स्वीकार नई करता। फिर तो वह खलास हो गयी।"

मैं ने उत्तर दिया, "महात्मा गान्धी से कोई सम्बन्ध नही है। इस तकरीर के अनुसार 'राष्ट्रपति' की निगाह में एक गुण्डा बदमाश मुसलमान भी दूसरे सम्प्रदाय के श्रेष्ठतम व्यक्ति से ऊँचा है। आजकल जगह जगह हिन्दू-मुसलमानो के दगे हो रहे हैं, ऐसी तकरीर जलती हुई आग में पेट्रोल का काम करेगी।"

गान्धी "तुम्हें इस प्रस्ताव के पास हो

जाने की आशा है ? कितना वोट मिलेगा ?"

मैं ने कहा, "दो वोट तो पक्के हैं। पास हो या न हो, कम से कम यह तो रेकार्ड पर आ जायेगा कि काँग्रेस के अध्यक्ष की तकरीर पर कुछ लोगों को आपत्ति थी।"

गान्धी जी : "ऐसी बात लाने से काँग्रेस का रेकार्ड अच्छा होने की बजाय काला बनेगा। हिन्दू-मुसलमान को साथ रखना है तो एक-दूसरे की कमजोरी को निभाना पड़ेगा। यह प्रस्ताव ठीक नहीं है।" मैं ने उत्तर दिया, "अब वापस तो नहीं करूँगा, बापू।"

बापू ने मेरे उठने से पहले कहा, "अच्छा तुम्हारी ख़ुशी। पर एक बात का जवाब लूँगा। तुम अक़्लमन्द हो या महात्मा गान्धी ?"

मैं ने कहा, "महात्मा गान्धी।"

बापू बोले, "फिर तो हो गया, एक बेवक़ूफ़ को अक़्लमन्द की बात मान्य होगी, यह दलील तो तुम को पसन्द आयी होगी। वो तो मैं पैले से जानता था। बेवक़ूफ़ को अक़्ल की दलील नही बेवक़ूफ़ी की दलील पसन्द आती है अब तो वापस लोगे ?"

क्या बोलता ? प्रस्ताव वापस ले लिया।

देशबन्धु दास और पण्डित मोतीलाल नेहरू ने गोपीनाथ साहा की देशभक्ति, साहस और त्याग की सराहना का प्रस्ताव पेश कर दिया था। महात्मा गान्धी ने उस का विरोध किया। पर कुछ देर के वाद-विवाद के बाद यह प्रस्ताव पास हो गया। फिर एक दूसरे प्रस्ताव के सिलसिले मे मतभेद हो गया। प्रश्न था कि दीवानी के मामले मे कचहरी का बायकाट उठा लिया जाये। देशबन्धु दास, पण्डित मोतीलाल नेहरू और उन की पार्टी वोट लेने से पहले ही बाहर चली गयी। वोट मे गान्धी जी के पक्ष की विजय हुई।

पर गान्धी पर देशबन्धु दास आदि के बाहर चले जाने का गहरा असर पड़ा। उन्होंने कहा, "गोकि प्रस्ताव अस्वीकृत हो गया, पर रेकार्ड में इस को स्वीकृत समझा जाना चाहिए।" इस पर डॉ० चोइथराम गिडवानी ने अपना पाइण्ट आफ़ ऑर्डर पेश करते हुए कहा, "किस क़ायदे किस क़ानून से 'अस्वीकृत' प्रस्ताव को 'स्वीकृत' लिखा जा सकता है। जितने सदस्य बैठक छोड़ कर बाहर चले गये है, उन सब की राय प्रस्ताव के पक्ष मे मानने पर भी बहुमत प्रस्ताव के विरोध में है।"

डॉ० चोइथराम के कथन में कोई अनुचित बात नहीं थी, फिर भी हम ने देखा कि गान्धी जी के मुँह पर सिलवटें पड़ गयीं, गाल फड़कने लगे और टप-टप आँसू झरने लगे। चादर से पोंछते हुए हिचकियाँ ले-ले कर महात्मा जी कहने लगे, "यह चोइथराम जो मेरे बच्चे की तरह पला, आज मुझ को 'पाइण्ट आव ऑर्डर' कहता है। आज तो आप सब ने मुझ को जवाब दे दिया, मैं अकेला पड़ गया हूँ।" आदि आदि।

याद नहीं सब क्या-क्या कहा। पर हम से बर्दाश्त नहीं हुआ। इसी बीच बाहर जाने वाली पार्टी भी लौट आयी। हमारी युवक मण्डली ने भरी बैठक में खड़े हो कर गले फाड़-फाड़ कर, "महात्मा जी की जय !" के नारे लगाने शुरू कर दिये।

[अगस्त १९५७]

जेल के दिन

अज्ञेय



समय की दूरी सभी अनुभवों को मीठा कर देती है, तात्कालिक परिस्थिति में भले ही वे कितनी ही तीखी और कटु हो। इस लिए आज यह कहना अनुचित न होगा कि जेल की मेरी स्मृतियाँ मधुर ही मधुर है—उन अनुभवो की भी जो तब भी मीठे थे, और उन की भी जो उस समय अपनी कटुता के कारण तिलमिला देते थे या आग की एक लकीर सी मन में खोच देते थे। और शायद यह कहना भी ठीक होगा कि स्मृतियाँ—कम से कम अधिकाश—कुछ धुँधली भी हो गयी है और शायद यह धुँधलापन भी माधुर्य का एक तत्त्व होता है क्यो कि जो आज भी पूर्ववत् उज्ज्वल या गहरी हैं उन्हें ठीक मधुर कहना शायद अनुचित हो—शायद उतना ही अनुचित जितना उन्हें कटु कहना गहराई का एक आयाम होता है जो अनुभूति को कड़वो-मीठी की परिधि से परे ले जाता है।

चार सौ कैदियो के लिए बनी हुई जेल में भरे हुए अठारह सौ कैदियो में से एक जब देखता है कि उस के कुछ साथी भूख हड़ताल करते है, छिप कर मेवा-बादाम खाते हैं और ग्लूकोज का शरबत पीते हैं, और जेल का डॉक्टर उन्हें सहानुभूति दे कर भी परेशान है कि उन का वजन घटने की बजाय बढता ही जाता है, तब उसे हँसी भी आती है और ग्लानि भी होती है, आज स्मृति में दोना ही मधुर है। नये कैदो को पुराने पकड कर जेल की कचरा भट्ठी के सामने मन्दिर कह कर माथा टेकने ले जाते हैं—यह भी उसी कोटि का अनुभव है जिस के कॉलिज-जीवन में 'फ़र्स्ट ईअर फूल' की खिसियाहट के अनुभव। ऐसा ही है अफीम का चोर-व्यापार करने वाले एक ऐंग्लो इण्डियन द्वारा बिना जाल के पेड पर बैठो चिडिया पकडना सिखाया जाना। दिल्ली जेल में लाया जाने पर 'गोरा बारक' में उसे साथी पा कर उस से नयी अद्भुत बातें सीखी थी जिन में मुख्य यह थी अहाते के आम के पेड पर साँझ को बुलबुल आ कर बसेरा करते थे और रात को हम मोमबत्ती के सहारे उन्हें खोज कर हाथ से पकड लेते थे। पहले मुझे विश्वास नही होता था कि ऐसा सम्भव है

और शायद मुझ से जान कर पाठक को भी न हो, लेकिन मैं ने कई बुलबुल ऐसे पकड़ कर पाल लिये और उन की बोली ने मेरे एकान्त में एक अत्यन्त प्रीतिकर व्याघात डाल दिया। —इसी प्रसंग में यह भी याद आता है कि जेल के दारोग़ा आये और बुलबुल देख कर जलभुन कर खाक हो गये, लेकिन नये क्रान्तिकारी बन्दी को यह कहने का साहस भी न बटोर सके कि वह पक्षी न पालने देंगे—उस बन्दी ने दो-तीन दिन पहले शिनाख्त के लिए आये मुखबिर को और उस का बचाव करने के लिए बीच मे पड़े मजिस्ट्रेट को पीट दिया था। (बाद मे स्वयं भी पिटा था—पर क़ैदी की कौन आबरू जाती है—कहीं दारोग़ा को चाँटा पड़ गया तो बस!) इस लिए दारोगा साहब खीसें निपोर कर 'अपने बच्चों के लिए' बुलबुल माँग ले गये थे—पर अगली परेड पर फिर नये पक्षी वहाँ बैठे हुए थे! अन्ततोगत्वा मुझी को दफ़्तर बुला कर वहाँ से एक काल-कोठरी मे भेज दिया गया।

ऐसे हलके-फुलके अनुभव और भी है। किन्तु गहरे भी अनेक है। कुछ तो इतने गहरे कि अभी तक भी उन से यह अलगाव नही स्थापित कर सका हूँ जो उन्हे साहित्य की वस्तु बना दे: अभी तक भी वे मेरे ही अनुभव अधिक है। जिन से तटस्थता पा सका हूँ उन मे से कुछ 'शेखर' मे आ गये है—कुछ प्रकाशित दूसरे भाग मे, कुछ अप्रकाशित तीसरे मे, कुछ शायद पाठकों को स्मरण भी हो। कुछ कहानियों में भी आ गये हैं। बूढ़े बाबा मदनसिंह, फक्कड़ मोहसिन, फाँसी पाने वाला राम जी: ये सब नाम सच भी है, झूठ भी, क्योंकि अगर काल्पनिक नहीं हैं तो पात्रान्तरित है—यानी एक मदन सिंह से भी मेरा परिचय हुआ था, एक मोहसिन से भी, एक राम जी से भी—पर मेरे परिचय के यथार्थ व्यक्ति और मेरी पुस्तक के पात्र अलग-अलग है, पात्रों के साथ जो घटित हुआ वह वास्तव मे भी कहीं किसी के साथ तो घटा पर उस नाम के व्यक्ति के साथ नहीं, और प्रायः सब-कुछ एक ही व्यक्ति के साथ नहीं। साहित्य-रचना में चयन भी है, सम्पुंजन भी, सघनीकरण भी क्योंकि सागर के विस्तार को एक आलोक-वेष्टित बूँद से विकिरित आलोक के छोटे से दायरे मे दिखा सकना ही रचना का काम है, लेखक का वह गुण है जिसे 'दृष्टि' कहा जा सके। 'शेखर' की भूमिका मे और अन्यत्र मैं ने कहा है कि दुःख वह दृष्टि देता है, पर ऐसा है तो 'दुःख' किसी भी तीव्र अनुभूति का नाम है—ऐसी अनुभूति जो संवेदना को, चेतना को, घनीभूत आलोक रूप दे देती है। रचनाकार की प्रतिभा ढाके की मलमल का पचास हाथ का थान बुनने में नहीं है, उसे अँगूठी मे से गुजार देने मे ही है, यद्यपि शिल्पी होने के नाते वही मलमल भी बुनता है और अँगूठी तो उस की है ही। मेरे पास रचनाकार होने के नाते क्या है, क्या नही है, यह कहना मेरा काम नहीं, मेरा आदर्श मैं ने बता दिया।

पर यहाँ आदर्शों की नहीं, घटनाओं की ही बात कहूँ, जिन्हे आदर्श की चलनी में से छाना जाता है।

एक हमारे मित्र थे जिन्होंने आरम्भ में

हमारी बहुत सहायता की, सौहार्द स्थापित करने के बाद हमें एक कैमरा भी चोरी से ला दिया कि हम लोग अपने फोटो खींच कर बाहर भेज दें क्योंकि क्या जाने क्या होने वाला है, भावी इतिहासकार को सामग्री तो मिल जाये। और इस सब में उन का असली मक़सद क्या था ? कि सारे फोटो पा कर एक सेट पुलिस को दे दें जिस से शिनाख्त के काम में सुविधा हो जाये और हमारे मित्र को इतनी तरक्क़ी मिल जाये कि वह 'क़ैदी स्टोर-क्लर्क' से बढ कर 'क़ैदी दफ्तर क्लर्क' हो जायें—दफा ४२० में वह चार साल की क़ैद काट रहे थे और अनेक सुविधाएँ प्राप्त रहने पर भी उन्हें वह परिस्थिति खलती थी जिस में अपनी चार सौ बीसी प्रतिभा का कोई उपयोग वह न कर सकें स्टोर-क्लर्की में कुछ गुंजायश तो थी, पर ऐसे पढे-लिखे प्रतिभाशाली ठग के लिए वह अयथेष्ट थी—दफ्तर की क्लर्की में तो अनेक सम्भावनाएँ भरी थी। हमारे साथ उन्हें सफलता नही मिली, क्योंकि हम ने उन्हें बताने के पूर्व फोटो ले कर फिल्म आदि सब पहले अन्य साधनों से बाहर भेज दिये और तब कैमरा उन्हें लौटाया कि 'उस से कुछ काम नही हो सकता, बारक में फोटो लेना जोखिम का काम है।' वह ऐसा खिसियाये कि घण्टे-भर बाद ही हमारी तलाशी हो गयी—शायद उन्होंने सोचा हो कि फिल्म अभी जेल में ही है। पर बिचारे तरक्क़ी पाने से रह गये।

एक और घटना याद आती है वह दूसरी कोटि की है। उस पर हँसा भी जा सकता है, और उसे जुगुप्सा-जनक भी माना जा सकता है, पर मैं हँसता नही हूँ, न झिझकता हूँ गहरी मानव अनुभूति में अपनी एक अक्षुण्ण अभ्रश्य पवित्रता होती है जिसे दर्शक की क्षुद्रताएँ छू नही सकती।

हमारे वार्डरों में—जो *हथियारबन्द* अतिरिक्त पुलिस से बदल कर दिये गये सिपाही थे—एक युवक था जो गाता था। प्राय ड्यूटी पर वह कोई तान छेड देता उस का गला मीठा था और उस में वह गुण पर्याप्त मात्रा में था जिसे 'सोज' कहते हैं। हमारी बारक के साथ ही जनाना वार्ड का पिछवाडा था और वार्डर की दौड दोनो के बीच होती थी। जनाना वार्ड में एक 'पगली' थी जिस की चीख-चिल्लाहट हम प्राय सुनते थे। इसी से हम उसे पगली जानते थे। यद्यपि हो सकता है कि वह केवल एक दबंग विद्रोहिणी नारी रही हो। जो हो, वार्डर का गाना सुनते ही वह शान्त हो जाती थी और कभी-कभी उत्तर में गाने भी लगती थी।

हम लोग इस 'रोमांस' का रस लेते थे रस कहीं भी लिया जा सकता है पर जेल में दूसरों के रोमांस में कुछ अतिरिक्त दिलचस्पी हो जाना स्वाभाविक है। क्रमश बात फैल गयी, अन्त में वार्डर की बदली की आज्ञा आ गयी। अपनी अन्तिम ड्यूटी पर जब उस के जवाब में वह स्त्री गाने लगी, तो उस ने पुकार कर कहा "अब क्या गाना—आज रुखसत है।" इतना हम लोगा ने भी सुना, उस के बाद सन्नाटा रहा और हम ने बात खत्म समझी। पर थोडी देर बाद बाहर गुल-

गपाड़ा सुन कर हम लोग अहाते में निकल आये। शोर जनाना बारक के भीतर से आ रहा था। हमें उस की बाहरी दीवार और ऊपर दो-एक रोशनदान दीखते थे। जो कुछ हम समझ सके वह इन्हीं से छन कर आने वाले शोर से, और जो देख सके, उस से।

वह स्त्री भीतर न जाने कैसे रोशनदान तक चढ़ गयी थी और उस के सीखचे पकड़ कर और एक टाँग भी उन मे अड़ा कर लटक रही थी। अपनी साड़ी को कदाचित् उस ने कमन्द के काम मे लगा दिया था। भीतर नीचे वार्डरानियाँ और दूसरी कैदिनें चिल्ला रही थीं, और वह मानो इन सब से असम्पृक्त बाहर को देख रही थी। वार्डर नीचे था, स्त्री ने उसे आवाज़ दी, सीखचों से हाथ बाहर बढ़ाया पर वह पहुँच से बहुत दूर था, फिर सहसा उस ने झटके से अपनी चोली फाड़ कर बाहर गिरा दी। वार्डर ने उसे उठा लिया और दोनों एक-टक एक-दूसरे को देखते रहे। तभी भीतर शायद सीढ़ी मँगा ली गयी थी—स्त्री को पीछे खींच लिया गया। शब्द से हम पहचान सके कि उसे पेटियों से पीटा जा रहा है।

उसी रात वार्डर की बदली हो गयी, दो-एक दिन बाद स्त्री भी कहीं भेज दी गयी—शायद उसे सज़ा हो गयी।

घटना इतनी ही है और इस के बारे में कुछ कहना न आसान है, न उचित, इतना ही कि मेरे निकट यह भी वैसी एक सोने की अँगूठी है जिस में से गजों मलमल गुजारी जा सकती है, और उस मलमल से बड़ा लम्बा-चौड़ा प्रपंच फैलाया जा सकता है। पर घटना में निहित जो मानवीय भावना का सत्य है उस का और कुछ नहीं किया जा सकता सिवा उस को चुपचाप स्वीकार करने के। विज्ञान में किसी वस्तु को हलका करने के लिए उसे विरल करते हैं और तब वह उड़ सकती है, पर मानवीय संवेदना में उस की सघनता ही उसे एक स्तर पर ले जाती है जब वह धरातल से उठ कर एक दिव्य वस्तु हो जाती है।

मैं ने कहा कि समय की दूरी पर सभी कुछ मीठा है क्योंकि सभी कुछ धुंधला भी है—पर जो धुँधला नहीं है, उसे मीठा कहना उतना ही ठीक या बेठीक है जितना उसे कड़ुवा कहना : वह प्रोज्ज्वल है और इन छोटे रसों से परे है—जीवन का रस कड़ुवा-मीठा कुछ नहीं है, वह रामरस है जिस में सब समाये हैं।

[अगस्त १९५७]

जिस रात मेरा आइन्स्टीन से परिचय हुआ

मूल . जेरोम वाइडमैन

अनुवाद ' रवीन्द्र जैन

०

मै अभी जीवन में उठने-उभरने का ढब ही बैठा रहा था कि सयोग से एक रात नगर के एक प्रमुख परिवार में निमन्त्रित हुआ। अनेक अतिथि थे। भोजन के बाद गृहस्वामिनी सब अतिथियो को ड्राइंग रूम में ले गयी। वहाँ तरह-तरह के वाद्य-यन्त्र सामने दीवार के सहारे सजे हुए थे। समझ गया आज पूरी कोफ्त दरपेश है।

हाँ, 'कोफ्त' तो थी ही, क्योकि सीधी-सादी धुन ही मैं मुश्किल से पकड पाता हूँ, ये शास्त्रीय सगीत तो मुझे सदा ऐसा लगा जैसे बहुत से स्वरो को किसी खास तरह से झनझना दिया हो। इस लिए ऐसे मौको पर जैसा सदा करता हूँ, आज भी सगीत शुरू होने पर ऐसी चेष्टा बना ली जैसे सगीत का परख परख कर रस ले रहा हूँ, जब कि उधर न कान थे न मन।

थोडी देर बाद सुना लोग तालियाँ बजा रहे हैं। मै अपने में लौटा। सहसा एक मीठी आवाज सुनाई दी।

"बाख का सगीत तो आप को भाया होगा ?"

यह अत्यन्त प्रसिद्ध चेहरा जिस पर बेतरतीबी से उगे सफेद बाल, और जिस के दाँतों के बीच दबा पाइप। मैं ने देखा मैं एल्बर्ट आइन्स्टीन के बराबर में बैठा हुआ हूँ।

"जी हाँ—" मैंने अचकचा कर कहा। उत्तर भी मैं साधारण ढग से द सकता था लेकिन मै ने उन की तेजस्वी आखो में झाँक कर पाया कि उन का यह प्रश्न मात्र शिष्टाचार को निभाने के लिए नही था। क्या मैं झूठ बोल सकता था ? शायद असम्भव।

"बाख को मैं कभी नही समझ पाया", मै डूबे हुए स्वर में बोला।

आइन्स्टीन की मुखमुद्रा कुछ चिन्तित लगी, पर वह अचानक ही बोल उठे "उठो।

चलो मेरे साथ ?" यह कह कर वह खडे हो गये और मेरी बाँह पकड़ ली। मैं भी खड़ा हो गया। और किसी दृढ़ निश्चय के साथ वह मुझे ऊपर की मंजिल में ले गये। हम लोग ज्यों ही एक कमरे के अन्दर पहुँचे उन्होंने दरवाजा बन्द कर लिया।

"क्या कोई भी संगीत तुम्हें पसन्द नहीं?" उन्होंने पूछा।

मुझे वे गाने पसन्द है जिन मे शब्द हों और जिन के संगीत की धुन मैं गुनगुना सकता हूँ। मसलन, 'बिंग क्रास्बी का कोई-सा भी गाना'।

उन्होंने फिर प्रसन्नता से सिर हिलाया। बोले, "बहुत ख़ूब।"

वे कमरे के एक कोने मे जा कर अलमारी से रिकार्ड छाँटने लगे। मैं उन्हे बेचैनी से देख रहा था। अचानक उन का चेहरा खिल उठा। "आह, यह लो।" कह कर उन्होंने एक रिकार्ड पास रखे ग्रामोफ़ोन पर चढ़ा दिया।

कमरे मे संगीत के मादक स्वर गूँज उठे। क्रास्बी का रिकार्ड था, 'ह्वेयर द ब्ल्यू ऑव द नाइट मीट्स द गोल्ड ऑव द डे।' आइन्स्टीन ने पुलकित हो कर मुझे देखा और हाथ मे अपना पाइप ले कर ताल देने लगे। जब गीत की दो-तीन कड़ियाँ बज चुकीं तो उन्होंने ग्रामोफ़ोन रोक दिया, और मुझ से पूछा, "बताओ तुम ने क्या सुना ?"

मुझे जवाब में सीधी-सादी बात यही सूझी कि मैं गीत की उन कड़ियों को गा दूँ। कोशिश की कि आवाज़ सधी रहे और स्वर टूटने न पाये।

जैसे ही मैं ने गाना समाप्त किया, वह हर्ष-विभोर हो कर बोले : "कौन कहता है तुम्हारे कान संगीत के अभ्यस्त नहीं ?"

मै ने सफ़ाई पेश करनी चाही।

'बिलकुल वाहियात', आइन्स्टीन उत्साह से बोले, "इस से सब-कुछ साबित होता है। देखो तुम्हें गणित के अपने पहले पाठ के बारे में कुछ याद है ? मान लो यदि पहले ही दिन तुम्हारे अध्यापक ने सीधी-सादी संख्याओं की बात न कर के तुम्हें अटे-बटे के लम्बे सवाल दे दिये होते। तुम उन्हे हल कर सकते थे ? लो अब कुछ और सुनो—"उन्होंने छाँट कर एक दूसरा रिकार्ड ग्रामोफ़ोन पर चढ़ा दिया। यह जान मैकारमेक अपना प्रसिद्ध गीत 'ट्रम्पेटर' गा रहा था। दो-चार पंक्तियों के बाद ही उन्होंने रेकार्ड रोक दिया।

"अब इस गीत को भी तुम्हे मुझे सुनाना होगा। लो गाओ।" मै ने भरसक ठीक ही ठीक वह गीत गा दिया। आइन्स्टीन मेरे चेहरे को ताकते रह गये। उन की उस नजर मे क्या था कि बरबस मुझे अपने पिता की वह दृष्टि याद आ गयी जब उन्होंने इसी प्रकार उल्लास-पूर्ण कौतूहल से मुझे अपने कॉलेज में विदा का भाषण करते सुना था और सराहा था।

"ख़ूब। बहुत अच्छे।" आइन्स्टीन ने कहा, और एक दूसरा रिकार्ड चढ़ा कर बोले, "लो अब इसे सुनो।"

यह रिकार्ड कैरूज़ा का था।

और गीत ऐसा था जिसे मैं ने मानो सुना तो था पर कभी ध्यान नही दिया था। फिर

भी मैं ने सुनी हुई धुन को बहुत कुछ जैसा का तैसा गा दिया ।

आइन्स्टीन के मुख पर स्वीकृति की मुसकराहट खिल उठी ।

इस के बाद उन्हो ने इसी तरह बारी-बारी से एक दर्जन रिकार्ड और बजाये और मुझ से गवाये । अन्त में हम ऐसे सगीत के रिकार्ड पर आ गये जिस में शब्द नही थे, और मुझे केवल सगीत-ध्वनियो को ही दुहराना था ।

जैसे ही इस प्रयत्न में मै सफल होने लगा उन्होने अपनी बाँह मेरी गरदन में डाल दी और बोले, "चलो, अब हम बाख सुन सकेंगे ।"

जब हम नीचे पहुँचे तो आर्केस्ट्रा के कलाकार बाख के सगीत का अगला नया अश बजाने की तैयारी कर रहे थे । आइस्टीन ने चुपके से मेरे कान में कहा, "बस, अब तुम जाओ, और कुछ नही ।"

और कुछ क्यों नही ? यदि उस रात इस महान् आत्मा ने मुझ-जैसे निरे अपरिचित व्यक्ति के लिए इतना श्रम न किया होता तो ?

सगीत समाप्त हुआ और अचानक हमारे सामने गृहस्वामिनी आ पहुँची । मेरी ओर एक रूखी नज़र डालती हुई आइन्स्टीन से बोलीं, "मुझे अफसोस है डॉ० आइन्स्टीन कि आगे आप कार्यक्रम के काफ़ी बडे भाग का आनन्द न ले सके ।"

उन्हें सामने खडा देख कर मै और आइन्स्टीन तत्काल खडे हो गये । आइन्स्टीन बोले, "इस का खेद तो मुझे भी है, लेकिन मैं और मेरे यह युवक मित्र—हम दोनों—आज एक ऐसे कार्य में सलग्न हो गये जिस में मनुष्य की क्षमता अपनी चरम सार्थकता प्राप्त करती है ।"

गृहस्वामिनी सम्भ्रम में पड गयी । "भला ऐसा क्या काम था वह ।"

आइन्स्टीन ने मुसकरा कर अपनी बाँह मेरे गले में डाल दी और उत्तर में जो आठ शब्द कहे वे असीम कृतज्ञता में डूबे मुझ एक व्यक्ति के लिए तो मानो उन का समाधि-लेख ही बन गये—

"सौन्दर्य लोक के एक और खण्ड का उद्घाटन ।'

[अगस्त १९५७]

सरफ़रोशी की तमन्ना अब हमारे दिल में है

मन्मथनाथ गुप्त

●

दिन के बारह बजे जब सन्तरी बदल गये तो नये सन्तरियों ने बहुत ध्यान से फाँसी घर की कोठरियों को देखा। ताले देखे, जँगले देखे, फिर कैदियों की तरफ़ देखा।

एक कोठरी ख़ाली थी।

बाक़ी तीन कोठरियों मे तीन फाँसी वाले बन्द थे। पर उन मे से किसी ने भी आज खाना नही खाया था। उन का खाना मिट्टी के बर्तनों में ज्यों का त्यों रखा हुआ था। फाँसी वालों को मिट्टी के बर्तन इस लिए दिये जाते हैं कि वे धातु के बर्तनों से सिर न फोड़ लें!!!

रामदरस जमादार ने सुमेर जमादार से दृष्टि-विनिमय किया, फिर वे जा कर छोटे से हाते के दरवाजे पर बैठ गये। यों फाँसी घर के सन्तरियों को बैठने का हुक्म नही था। उन के लिए हुक्म यह था कि एक जमादार फाँसी की कोठरियों का एक तरफ से चक्कर लगाये, दूसरा दूसरी तरफ़ से, यानी हर चक्कर में वे दो बार मिलें।

इसी लिए रामदरस और सुमेर हाते के दरवाजे पर बैठ गये, जिस से कोई आता हुआ दिखाई पड़े तो वे चक्कर मारने लगें।

फाँसी घर के कैदियों ने खाना क्यों नहीं खाया था, यह दोनों जमादारों को अच्छी तरह पता था। आज सवेरे चौथी कोठरी में बन्द कृपालसिंह को फाँसी दे दी गयी थी। इसी कारण फाँसी घर मे यह मातम छा गया था। नम्बर एक और नम्बर तीन कोठरियों के रहने वालों की अपीलें खारिज हो चुकी थीं; हाँ, नम्बर चार वाले की अपील अभी बाकी थी, पर उस मे भी कोई गुंजाइश नहीं थी। उस ने दिन-दहाड़े खेत में दो व्यक्तियों की हत्या कर डाली थी। खेत का मामूली झगड़ा था।

रामदरस ने सुमेर से कहा—"इन में से कोई छूटने वाला नही।"

सुमेर को भी यहाँ ड्यूटी देते हुए महीनों हो गये थे, वह सब को अच्छी तरह जानता था। उदासीनता के साथ बोला—"जो जैसा

करता है, वह वैसा भोगता है।"

रामदरस ने कहा—"यह बात नही, कई बार वडे वडे भयकर मुजरिम साफ वरी हो जाते है।"

सुमेर ने इसे अपने तर्क का प्रतिवाद नहीं समझा, बोला—"जाको राखे साइयाँ "

दोनो बीडी पीने लगे। हाँ, उन की दृष्टि जेल के फाटक की ओर लगी रही।

थोडी देर बाद रामदरस बोला—"आज तो सब को जैसे साँप सूँघ गया है। तुम बैठो, मैं इन को बीडी पिलाता हूँ।"

'बैठो' का मतलब सुमेर को मालूम था। उस का अर्थ था, तुम पहरे पर रहो, मैं बीडी पिलाता हूँ। कैदियो को बीडी पिलाना गैर-कानूनी था, पर क़ानून से ऊपर भी तो कुछ होता है। आख़िर ये भी तो इन्सान हैं, इन्ही के साथ घण्टो बैठना है। जो किया है, उसे तो भोगेंगे ही, पर इस तरह खाना छोडने से क्या फायदा? जब तक साँस, तब तक आस।

रामदरस ने तीनो फाँसी वालो को बीडियाँ दी और स्वय बीच में खडा हो कर आत्म-प्रसाद का आनन्द लेने लगा—जैसे वह मानवता के साथ कोई बहुत भारी उपकार कर रहा हो। सचमुच बीडी पी कर सब लोग उठ खडे हुए थे और जहाँ एकदम मुर्दनी छायी हुई थी, वहाँ कम से कम कुछ चहल-पहल हो गयी थी।

अभी फाँसी वाले बीडी पी नही चुके थे कि उधर से सुमेर ने कोई इशारा किया तो रामदरस ने फौरन तीनो फाँसी वालो से बीडी के बचे हुए हिस्से ले लिये और जल्दी से बोला—"तुम लोग रोटी खाओ।"

फिर वह दरवाज़े की तरफ चला गया। रामदरस ने झाँक कर देखा और समझ गया कि चौथी कोठरी का निवासी आ रहा है। पर यह तो कोई गोरा चिट्टा तेजस्वी व्यक्ति मालूम होता था। साथ में दो सन्तरियों के अतिरिक्त दो नम्बरदार और स्वय जेलर साहब थे।

रामदरस और सुमेर ऐसे खडे हो गये जैसे अभी तक वे गश्त लगा रहे थे और अब आहट सुन कर इधर आये हैं। रामदरस ने इस बीच एक काम और कर डाला, वह जल्दी से फाँसी वालो के पास गया और बोला—"दो नम्बर का आदमी आ रहा है।"

जेलर साहब के साथ-साथ वह छोटा सा जुलूस फाँसी घर के हाते के दरवाज़े पर आया। कही से बडा जमादार आ गया और उस ने हाते का ताला खोला। सब लोग भीतर दाख़िल हुए और फिर बडे जमादार ने स्वय भीतर आ कर दरवाज़े को ताला मार दिया।

दो नम्बर कोठरी खोल दी गयी। जो व्यक्ति इसके अन्दर रहने के लिए आया था, वह कोठरी के दरवाज़े तक आया, फिर सूंघ कर अधिकारी आवाज़ में बोला—'इसे साफ कराओ, इस में बदबू आ रही है! फिनायल डलवाओ!'

यह कह कर उस ने घूम कर अन्य तीन साथियो को बारी बारी देखा और हँसा—हँसी के द्वारा ही उन का अभिवादन किया। सब फाँसी वाले उसे देख कर प्रफुल्लित हो गये। उन्हें विश्वास नही हो रहा था कि यह

भी कोई फाँसी वाला था, पर था वह फाँसी वाला ही। ब्रिटिश सरकार तीन सौ अन्य फाँसी वालों को छोड़ सकती थी, पर इस रामप्रसाद बिस्मिल को नहीं छोड़ सकती थी; क्योंकि वह सन् '१४ से यानी गत १३ साल से ब्रिटिश साम्राज्य को उलटने का षड्यन्त्र कर रहा था। पहले उस ने गेंदालाल दीक्षित के साथ षड्यन्त्र किया, पर वह पकड़ा नहीं जा सका।

मैनपुरी में षड्यन्त्र का बड़ा भारी मुक़दमा चला, पर वह उस सम्बन्ध मे गिरफ़्तार नहीं किया जा सका। यहाँ तक कि वह अन्त तक फ़रार रहा और जब १९१९ में सरकार ने कुछ क्रान्तिकारियों को आम माफ़ी के सिलसिले मे छोड़ दिया, तो उसे भी छोड़ना पड़ा।

उन्हीं दिनों जालियानवाला हत्याकाण्ड हुआ। महात्मा गान्धी देश के नेता के रूप में सामने आये, पर इस युवक को इस से सन्तोष नहीं हुआ। महात्मा गान्धी ने भी तो चौरी-चौरा में जो पुलिस वाले जिन्दा जला दिये गये, उस के उपलक्ष्य मे चले-चलाये आन्दोलन को बीच में ही रोक दिया।

फिर से क्रान्तिकारी आन्दोलन भड़क उठा। जाने कहाँ के दिलजले और सिर पर कफन बाँधे हुए लोग इकट्ठे हो गये और अब की विराट् रूप में दल बना कर क्रान्ति का आवाहन चला। शचीन्द्रनाथ सान्याल, चन्द्रशेखर आज़ाद, मुकुन्दी लाल, दामोदर स्वरूप सेठ, सुरेश चक्रवर्ती, राजेन्द्र लाहिड़ी, रोशनसिंह, अशफ़ाक उल्ला और जाने कितने ही अज्ञात नाम और अज्ञातधाम युवकों ने मिल कर हिन्दुस्तान रिपब्लिकन एसोसियेशन क़ायम किया, जिस का उद्देश्य था क्रान्ति के द्वारा ऐसे समाज की स्थापना, जिस में मनुष्य द्वारा मनुष्य का शोषण सम्भव न रह जाये।

अब तक इस फाँसी घर में ऐसा कोई व्यक्ति नहीं आया था। बड़े जमादार दौड़े, भंगी आया, सफ़ैया आया, झाड़ू वाला आया, झाड़ू आयी, फिनायल आयी और कोठरी की अच्छी तरह सफ़ाई हुई जैसी कि शायद कभी नहीं हुई थी।

सफ़ाई होने के बाद बड़े जमादार ने कहा—"पण्डित जी, तैयार है।"

बिस्मिल उठे, कमरे को अच्छी तरह देखा, फिर बोले—"सूख जाने दो।"

कह कर वह फिर चहलक़दमी शुरू करने ही वाले थे कि एकाएक उन का मन पसीज गया कि हैं ये अँगरेज़ों के गुलाम, पर हैं तो अपने भाई, इन्हें क्यों कष्ट दें। वह एकाएक कोठरी के अन्दर चले गये और भीतर जाते हुए बोले—"लाओ मेरी पुस्तकें....।"

थोड़ी देर में कोठरी बन्द हो गयी। सब लोग चले गये, हाँ, दो और सन्तरी रह गये। पूरे फाँसी घर के लिए दो सन्तरी थे और अकेले रामप्रसाद बिस्मिल पर दो सन्तरी! जेलर को पहले ही चेतावनी दे दी गयी थी कि बाहर से चन्द्रशेखर आज़ाद तथा अन्य साथी काकोरी षड्यन्त्र के फाँसी वालों को भगाने की चेष्टा कर रहे हैं।

सब फाँसी वाले अपनी कोठरियों से अनुमान करने लगे कि पण्डित जी क्या कर

रहे हैं। थोड़ी देर में बिस्मिल चिल्ला-चिल्ला कर गीता के श्लोक गाने लगे, उस के बाद शायद यह समझ कर कि यहाँ गीता के श्लोकों से लोगों को उतना लाभ नहीं पहुँचेगा जितना दूसरे गीतों से। अस्तु उन्होंने गाना शुरू किया—

सरफरोशी की तमन्ना अब हमारे दिल में है।
देखना है ज़ोर कितना बाजुए कातिल में है।
अब न अगले वलवले हैं और न अरमानों की भीड़
सिर्फ मिट जाने की हसरत इक दिले बिस्मिल में है
रहरवे राहे मुहब्बत रह न जाना राह में,
लज्जते सहरानवर्दी दूरिए मंज़िल में है।
ऐ शहीदे मुल्को मिल्लत मैं तेरे ऊपर निसार,
अब तेरी हिम्मत की चर्चा गैर की महफ़िल में है।

सब लोग स्तब्ध हो कर उन का गीत सुन रहे थे और सवेरे से फाँसी घर के हाते में जो मुर्दनी छायी थी, वह बात की बात में दूर हो गयी थी। जमादार भी गौरव का अनुभव करने लगे कि अब कोई कैदी की तरह कैदी आया है। काकोरी मुकदमे के विषय में उन्होंने पहले ही सुना था और उन्हें मालूम था कि पण्डित मोतीलाल नेहरू आदि की तरफ से एक कमेटी बनी है जो इस मुकदमे की पैरवी कर रही है। वे यह भी जानते थे कि काकोरी के पास जो रेल डकैती हुई थी, उसी से यह मुकदमा चला है। बिस्मिल इसी षड्यन्त्र के नेताओं में थे।

बिस्मिल का मन इतना विस्तृत था कि वह हर समय बड़े बड़े सपने देखा करते थे। एक तो हाईकोर्ट में मुकदमा हो रहा था, उस की पैरवी की तैयारी वह कर रहे थे, दूसरे उन्हें चोरी से अपनी आत्मकथा भी लिखनी थी। थोड़ा-थोड़ा लिखा जाता और चोरी से वार्डर के हाथ 'स्वदेश' के दफ्तर में भेज दिया जाता और वहाँ क्रान्तिकारियों के परम मित्र स्वयं अमर शहीद गणेशशंकर विद्यार्थी के हाथों में पाण्डुलिपि पहुँच जाती। यह पुस्तक बाद में 'काकोरी के शहीद' नाम से प्रकाशित हुई, पर तुरन्त ही ज़ब्त कर ली गयी। अब तीस साल बाद यह पुस्तक पुनर्मुद्रित हुई है।

लिखाई चलती रही, पर साथ ही जो तीन हतभाग्य उन के साथी बन गये थे, उन के लिए भी वह समय निकाल कर एक कार्यक्रम करते थे। वह स्वयं धार्मिक प्रकृति के थे और धर्म में उन का अगाध विश्वास था। इस बात को ले कर उन में और कई साथियों में जो अभी पूरे निरीश्वरवादी तो नहीं हुए थे, पर उस ओर बढ़ रहे थे, बड़ी चखचख रहती थी, पर इन बेचारे फाँसी वालों को उन बातों को बता कर संशय में नहीं डालना था, वह उन्हें परलोक और परजन्म की बात समझाते थे और बताते थे कि यह जन्म सैकड़ों अन्य जन्मों में एक है, मृत्यु तो इस प्रकार है जैसे एक कपड़ा बदल कर दूसरा पहन लिया। भगवान् बड़ा दयालु है, वह सब-कुछ क्षमा कर देता है, बशर्ते कि करने वाला पश्चात्ताप करे।

जब रामप्रसाद बिस्मिल फाँसी वालों से ये बातें कहते थे, तो कोई उन का प्रतिवाद नहीं करता था, जैसे कि हवालात के कई साथी किया करते थे। उस समय तो वह प्रतिवाद बहुत बुरा लगता था, पर आज यह याद कर के कि कोई प्रतिवाद नहीं कर रहा

है, हृदय में एक टीस ही उठती थी। क्योंकि जीवन-मृत्यु के उन साथियों से फिर मिलना नही होना था। सब लोग अलग-अलग जेलों में बाँट दिये गये थे और पूर्व-निश्चय के अनुसार इस समय फाँसी की सज़ा पाये हुए क्रान्तिकारियों के अतिरिक्त सब लोग अनशन कर रहे होंगे। कोई परवाह नहो, जान चली जाये तो जाये, पर प्रदीप जल रहा है; अभी वह टिमटिमा रहा है, पर जल्दी ही वह एक विशाल अग्निकाण्ड का रूप धारण करेगा, जिस मे ब्रिटिश साम्राज्य ख़ाक हो जायेगा।

तीनो साधारण फाँसी वालों मे से एक-एक कर के सब फाँसी पर चढ़ते चले गये, पर क्रान्तिकारी दल के इस लौह-पुरुष ने फाँसी पर टँगने के लिए जाने वालों को ऐसा दृढ़ बना दिया कि वे खुशी से फाँसी पर चढ़ते चले गये। कपड़ा ही तो बदलना है, इस मे क्या धरा है! नया शरीर मिलेगा, तब पहले की ग़लतियाँ नही होगी।

हर फाँसी वाला, जिस दिन फाँसी पर चढ़ना होता, उस दिन सवेरे फाँसी पर चढ़ने के पहले उन की कोठरी के सामने ठिठक कर खड़ा हो जाता। यद्यपि यह बिलकुल गैर-क़ानूना बात थी, फिर भी जेल अधिकारियों ने इसे स्वीकार कर लिया था। बिस्मिल उसे सान्त्वना के वाक्य कहते। वह पैर छू कर चल देता। बिस्मिल पीछे से कहते—"घबराओ मत, मै भी जल्दी ही आ रहा हूँ।"

फाँसी वाला तो चला जाता, पर बिस्मिल चिल्ला-चिल्ला कर बहुत ज़ोर से गीता के श्लोकों की आवृत्ति करते और मन होता तो 'सरफ़रोशी की तमन्ना' गाते। फाँसी लगने का स्थान बग़ल ही में था, केवल एक ही दीवार बीच मे पड़ती थी। जिस समय वह व्यक्ति फाँसी पर चढ़ जाता था, उस के कान में बिस्मिल की आवाज होती थी।

पुराने फाँसी वाले जाते गये, उन के स्थान पर नये फाँसी वाले आते गये। बिस्मिल ने उन्हें उसी प्रकार से समझाना जारी रखा। उस मे कभी कोई शिथिलता, कोई कमी नही आयी।

१९ दिसम्बर १९२७ का वह दिन भी आया, जब स्वयं रामप्रसाद बिस्मिल को फाँसी पर चढाने के लिए ले जाया गया। वह धीर गम्भीर चरणों से फाँसी के तख़्ते की ओर गये। और अन्त में वह 'ब्रिटिश साम्राज्यवाद का नाश हो' कहते हुए फाँसी पर चढ़ गये। उन का सुन्दर सोने का तन थोड़ी ही देर में मांस का लोथड़ा-मात्र रह गया। पर जिस दिन वह फाँसी के हाते मे गये थे, उस दिन बचे हुए लोगों मे जो मायूसी छा गयी थी, वह मायूसी वहाँ नही छायी। सब फाँसी वाले रोये, यहाँ तक कि जमादारों ने भी चुपके-चुपके आँसू बहाये, पर किसी के मन में निराशा नहीं थी। वह मर कर भी अमरत्व का सन्देश छोड़ गये थे और यह सब से बड़ी बात है कि ऐन फाँसी का फन्दा गले मे डालते समय उन्होंने न ईश्वर का नाम लिया, न गीता के श्लोक कहे, बल्कि केवल 'ब्रिटिश साम्राज्यवाद का नाश हो' कहा!

[अक्तूबर १९६०]

वसन्त-पंचमी : निराला की स्मृतियों का समारोह

राजकमल चौधरी



अभी न होगा मेरा अन्त
अभी अभी ही तो आया है मेरे वन में मृदुल वसन्त

हरे-हरे ये पात
डालियाँ, कलियाँ, कोमल गात
मैं ही अपना स्वप्न मृदुल-कर
फेरूँगा निद्रित कलियों पर
जगा एक प्रत्यूष मनोहर
पुष्प-पुष्प से तन्द्रालस लालसा खींच लूँगा मैं
अपने नवजीवन का अमृत
सहर्ष सींच दूँगा मैं
द्वार दिखा दूँगा फिर उन को है मेरे वे जहाँ अनन्त

—निराला

और, वसन्त पंचमी आ गयी है।—निराला की जन्मतिथि। और, इसके अनुसार ही हर साल आता रहेगा।—निराला का मृत्यु-दिवस। साहित्यिक क्षेत्रों में जन्मोत्सव मनाया जायेगा, श्रद्धांजलि दिया जायेगा। लेकिन केवल साहित्यिक क्षेत्रों में ही। बनारस -

• •

वसन्त पंचमी निराला की जन्मतिथि है, जिन्हें थे महाप्राण महाकवि की उपाधि—निराला अपनी कविता के आदि से अन्त तक वसन्त और फूलों और वर्षा और बादलों और आकाश और आत्माओं और मुक्त गगन और मुक्त विहगों का ही कवि बना रहा। अनाम-

गौरव ने या प्रकृति और विश्व के प्रति निस्सीम प्रेम ने उसे अनास्था और पराजय और मृत्यु की कविता लिखने नहीं दिया। वैसे, समय पराजय और मृत्यु की कविता का था, और अब तो वसन्त और फूलों के गीत गाने का मौसम कहीं नही रह गया है। मौसम नहीं रह गया है कि—

पुष्प-पुष्प से तन्द्रालस लालसा खींच लूँगा मैं
अपने नवजीवन का अमृत
सहर्ष सींच दूँगा मैं

जैसे विचार-खण्डों की अभिव्यक्ति क्या, प्रतीति भी हो सके। फूल नहीं है; और दैनिक जीवन की साधारणतम लालसाएँ तक रक्त में भींगी हुई है; और नवजीवन तो कहीं नहीं है, आत्मा मे भी नहीं, कल्पना में भी नहीं; जैसे अचानक ही यह समस्त सृष्टि अत्यन्त वृद्धा और अत्यन्त कुरूपा और अत्यन्त भयदायिनी हो गयी है। और अमृत?

समुद्र-मन्थन की पौराणिक किंवदन्तियों के सिवा, और निराला की कविताओं के सिवा अमृत कहीं नही है। फिर, आज का कवि अमृत कहाँ से लायेगा? वह तो खरीदता है अपमान और घुटन और कुण्ठाएँ और गलाज़त और मजबूरियाँ और किसी दफ़्तर में या किसी दूकान मे गुलामी! निराला आज का कवि नहीं था। इसी लिए, निराला बीत गया।

●

●

अभी उसी दिन पन्द्रह अक्तूबर था। निराला को बीते ज़्यादा दिन नहीं गुज़रे हैं, मगर लगता है, पूरा एक युग बीत गया। यों, हम लगभग साल भर से आशा कर रहे थे कि आज, न कल, निराला महाप्रयाण करेंगे। हम ऐसा नहीं चाहते थे, फिर भी, हम ऐसा चाहते थे। हम ही क्या, जिन्हों ने निराला की रचनाएँ पढ़ी थीं, पास से या दूर से भी निराला के हिमालय व्यक्तित्व को देखा था, और इस के साथ ही निराला की तड़प, वेदनाएँ, क्षण-क्षण की मृत्यु, विक्षिप्तता, निराला के अहं का विस्फोट, और निराला का आत्म-संहार जाना-पहचाना था, वे सारे लोग चाहते थे कि निराला को मुक्ति मिल जाये। निराला को मुक्ति मिल जाये दार्शनिक विक्षिप्तता से, आत्म-संहार से, आत्मा की प्रज्वलित ज्वालामुखी से।

निराला को मुक्ति मिल गयी। हिन्दी काव्य-प्रवाह का एक सम्पूर्ण युग बीत गया।

और, अब निराला के देहावसान के उपरान्त, साहित्यिक क्षेत्रों में बड़ी सरगरमी आ गयी है। निराला की स्मृतियों और निराला के संस्मरणों और निराला के प्रति श्रद्धांजलियों की सरगरमी! किन्तु केवल साहित्यिक क्षेत्रों में। निराला की मृत्यु के शोक में स्कूल-कॉलेज नहीं बन्द हुए, साधारण जनता ने शोक-सभा नही की, किसी शासनिक प्रवक्ता या राजनैतिक अधिनेता ने दो शब्दों में भी शोक प्रकट नहीं किया, श्रद्धांजलि अर्पित नही की। उस ने भी नहीं, जिस के लिए अपने हाथों से चाय बना कर निराला दारागंज की अपनी कोठरी से आनन्द-भवन के शानदार महल तक दौड गया था—स्नेहवश, किसी स्वार्थवश नहीं! निराला को किसी शोक-

सभा और श्रद्धाञ्जलि-समारोह की आवश्यकता नही थी।

१९५४ में कलकत्ते में निराला का अभिनन्दन किया गया था। उस समय निराला विक्षिप्त नही, बीमार थे और पूर्णत अन्तर्मुख हो चुके थे। अचानक गले में पडी मालाएँ उतार कर उठे, और मच से उतर कर चले गये। और, जैसे अपने-आप से ही बोले, "Mr One ! You cannot make us wooden headed Mr Second ! You cannot catch us with gold"

निराला को इस 'मिस्टर वन' से घृणा थी, और यह 'मिस्टर वन' साहित्य और कला और सस्कृति के समस्त सृजन से दूर रहने वाली साधारण जनता है, जो तब निराला को नही पढती थी, 'ब्लेक'-सिरीज के जासूसी उपन्यास पढती थी और पारसी थियेटर की औरतो के 'खेमटा' नाच देखती थी। निराला को इस 'मिस्टर सेकेण्ड' से घृणा थी, और यह 'मिस्टर सेकेण्ड' साहित्य को और साहित्यकार की ईमानदारी को सोने की जजीरो में कैद कर लेना चाहता है, ताकि "वह तोडती थी पत्थर, इलाहाबाद की सटक पर" और "वह आता, दो टूक कलेजे को करता, पछताता" और "राम की शक्ति-पूजा" और "बादल-राग" नही लिखे गाये जायँ, इन के बदले या तो "गीतगोविन्द" और "भामिनी-विलास" के तर्ज की चीज लिखी जाये, या आधुनिक रघुकुल का वश स्तवन किया जाये।

निराला को इस 'मिस्टर वन' और इस 'मिस्टर सेकेंड' की श्रद्धा और श्रद्धाजलि की जरूरत नही थी। किन्तु, जिन चीजो की उन्हें जरूरत थी, वह भी उसे कहाँ मिली! शायद उस का अह उसे दया और सहानुभूति और दान स्वीकारने से रोकता था। शायद वह शारीरिक आवश्यकताओं से ऊपर उठ चुका था, और लगातार बीमारियो और लगातार अभावों में भी यह कहने का साहस रखता था

मेरे जीवन का है यह जब प्रथम चरण
इस में कहाँ मृत्यु, है जीवन ही जीवन
अभी पड़ा है मेरे आगे सारा यौवन
स्वर्ण-किरण-कल्लोलों पर बहता रे यह
बालक-मन

और, यह साहस ही निराला को हर प्रकार की उपेक्षा और हर प्रकार की यातनाओ में जीवित और आत्म सम्पूर्ण रखता था। आत्म सम्पूर्ण और आत्म तुष्ट, और अपराजित!

•
•

अपराजित-अजेय निराला को रहना ही था, क्योंकि वगभूमि की तरल कोमलता और उत्तर प्रान्त का सबल पौरुष—दोनो ने मिल कर निराला के व्यक्तित्व का निर्माण किया था। विद्यापति और चण्डीदास का समर्पित पद-लालित्य, और तुलसी और कबीरदास का दुर्धर्ष काव्य-व्यक्तित्व—दोनो की परम्परा निराला की कविता को विरासत में मिली थी। और, निराला को मिली थी मनोहरा देवी के रूप में ऐसी जीवन सगिनी, जिस ने उसे हिन्दी से परिचित कराया, और प्रेरित किया कि हिन्दी को एक नया तुलसी

दास मिल जाये, हिन्दी को एक रवीन्द्रनाथ मिले। चाँदनी रात मे पति-पत्नी गंगातट की ओर घूमने निकल जाते थे, और वही फैली बालुकाराशि पर पत्थर के टुकड़ों से सीधी-टेढ़ी लकोरें खींच कर मनोहरा देवी अपने कवि-स्वामी को देवनागरी के अक्षर और शब्द सिखाती थी। बरसती हुई चाँदनी''' गंगा की शान्त-एकान्त लहरें'''वेदकालीन आर्य-ब्राह्मण की तरह व्यक्तित्व वाला पति'' उपनिषद्कालीन आर्य-ऋषि पत्नी की तरह दीखनेवाली मनोहरा देवी! निराला ने एक गीत लिखा।

शब्द के कलि-दल खुलें
गति-पवन-भर काँप थर-थर मीड़ भ्रमराविलि ढुलें
गीत-परिमल बहे निर्मल फिर बहार बहार हो

स्वप्न ज्यों सज जाय
यह तरो, यह सरित, यह तट, यह गगन, समुदाय
कमल-वलयित सरल दृग-जल हार का उपहार हो

और, निराला ने ऐसे ही कितने गीत लिखे। कलियों के, पवन के, वसन्त के, स्वप्नों के, गगन के, नदी-तट के, और स्नेह के गीत। किन्तु, समय और परिस्थिति हर कुछ बर्दाश्त कर सकती है, स्नेही मन के भावुक गीत नहीं। मनोहरा देवो चली गयी। १९१८ में उन्हे इन्फ्लूएंजा के भयावह रोग का शिकार होना पड़ा। और निराला पागल हो गया। जिस गंगा-तट पर जैसे स्वप्नों की भीड़ सज जाती थी, वह श्मशान बन गया, और निराला पागल हो गया और गंगा में बहती जाती हुई लाशें खींच कर बाहर लाने लगा कि शायद यह लाश उस की मनोहरा की हो, उस की प्रियतमा की हो। निराला वनवासी राम की तरह बार-बार अपनी खोयी हुई पत्नी का नाम ले-लेकर चीखता था, प्रत्येक शवदाह की ज्वाला में खड़ा हो कर अपनी ज्वालामुखी को शान्त करना चाहता था, मगर, "अब नही आती पुलिन पर प्रियतमा, श्याम तृण पर बैठने को निरुपमा!"

फिर, निराला के पूज्य पिता, पण्डित रामसहाय त्रिपाठी का देहान्त हुआ। १९३० मे निराला ने अपनी कन्या, सरोज का विवाह किया, और कुल पाँच ही वर्ष के उपरान्त क्षय रोग से वह भी चल बसी। सरोज की मृत्यु ने निराला को तोड दिया। साहित्य को "सरोज-स्मृति' की महान् कविता मिली, लेकिन निराला को क्या मिला? विक्षिप्तता और आत्मदाह।

विक्षिप्तता इस लिए कि समवर्ती समाज ने निराला को नहीं समझा, उस के काव्य को और उस के अहं को और उस के व्यक्तित्व को नही समझा। आत्मदाह इस लिए कि कवि के पास, स्रष्टा के पास आत्मदाह के सिवा होता ही क्या है?

•
•

आत्म-संहार हम सभी कर रहे है, साहित्य-सृजन के कार्य मे लगे हुए हम सभी लोग! हम सभी पीड़ित है कि मिस्टर वन और

मिस्टर सेकेंड को हमारी कोई प्रत्यक्ष-परोक्ष आवश्यकता नही है। और, निराला की पीडा और हमारी पीडा में फर्क यही है कि निराला के पास अपराजेय अह था, जिस ने उसे टूटने को मजबूर किया, लेकिन कभी किसी क्षण झुकने नही दिया। और, हमारे पास अह नही है, आत्म-ज्ञान नही है, आत्म दर्शन नही है। हम झुक्ते हैं, और टूटते है, और फिर भी जीवित रहते हैं, और हँसते-मुसकराते हैं और स्वय को कवि और सर्जक और समाज का प्रवर्त्तक मानते है।

और, वसन्त पचमी आ गयी है। निराला की जन्मतिथि। और, पन्द्रह अक्तूबर भी हर साल आता रहेगा। निराला का मृत्यु-दिवस। साहित्यिक क्षेत्रो में जन्मोत्सव मनाया जायेगा, मृत्यु शोक किया जायेगा। लेकिन, निराला को साहित्य में सही स्थान नही मिलेगा, पाठकवर्ग का सही सम्मान नही मिलेग—क्योकि, निराला ने पाठ्य पुस्तको के लिए कविताएँ नही लिखी, साहित्य की अकादमियों और सरकार का सम्मान पाने के उद्देश्य से साहित्य नही रचा, आर्थिक योजनाओ की पूर्ति के लिए निराला-साहित्य का कोई उपयोग नहीं है, क्योकि, निराला विक्षिप्त हो कर सड़कों पर घूमता था, रुपये पैसो की उस ने कभी चिन्ता नहीं की, "मॉडर्न" लेखक बन कर जीना उसे नही आया। क्योकि, निराला अपनी विक्षिप्तता की स्थिति में बार-बार एक पक्ति दुहराते थे—

I am not subject to the limitations of my audience I am making an example of playing the same card in life and literature

और, जीवन और साहित्य में ताश के एक ही पत्ते खेलने से पागलपन न मिले, पीडाएँ न मिलें, अकालमृत्यु न मिले, तो और क्या मिलेगा ?

•
•

निराला को मृत्यु मिल गयी, लेकिन सतत प्रयत्न कर के भी क्या उस के साहित्य को मृत्युमुक्त किया जा सकेगा ?

[फरवरी १९६२]

जलपंखिनी

मुक्ता राजे



'चेखव हमारे यहाँ आये है ! देखना चाहो तो तुरन्त चली आओ !' यह चन्द शब्द मैं ने सैकड़ों बार पढ़ डाले···पढ़ ही नहीं, पी डाले, बूँद-बूँद पी डाले ! हजारों फूलों का सत्त, इत्र एक बूँद भर ही होता है न, वैसे ही केवल यही अक्षर ही नहीं दुनिया भर के सारे अक्षर इस समय मेरे लिए सिर्फ़ एक शब्द में सिमट आये—'चेखव' ! बहन की भेजी छोटी-सी चिट एक बड़ा कॅनवस बन गयी जिस पर मेरी कल्पनाओं के चेखव का चित्र उभर आया ! आँखों में सिर्फ़ एक आकृति तैरने लगी—चेखव की ! कानों में सिर्फ़ एक शब्द टकराने लगा—चेखव ! सारी चेतना-शक्ति अपने अतीत और वर्तमान सब को भुला कर भविष्य के सिर्फ़ एक नन्हे-से क्षण में जा कर अटक-सी गयी—वह क्षण जब मैं अपने प्रिय लेखक को देखूँगी। शायद हर साहित्य-प्रेमी, पाठक-पाठिका का कोई-न-कोई प्रिय लेखक ज़रूर होता होगा और उसे देखने की इच्छा भी उस के मन में जरूर होती होगी। पर ऐसा क्यों था मेरे साथ कि जिस की लालसा मन मे जाने कब से संजोये थी, आज जब अप्रत्याशित ही वह क्षण आया तो मन अजब तरीक़े से घबराने लगा ! कैसे होंगे वे ? क्या बातें करूँगी मैं उन से ? वह मुझ से कुछ बात करना पसन्द भी करेंगे या नहीं ?····

अच्छी तरह याद है मुझे—सन् था १८८९ महीना था जनवरी का और तारीख़ थी २४ जिस दिन मैं ने पहले-पहल चेखव को देखा था। मेरी बहन के घर का हॉल बड़े-बड़े साहित्यकारों और पत्रकारों से भरा था बीच मे टहल-टहल कर चेखव कुछ कह रहे थे। दरवाजे पर ठिठकी खड़ी मै मन्त्रमुग्ध-सी उन्हें देखती रह गयी। वह जो कुछ बोल रहे थे वह अक्षर मेरे कानों से टकरा तो रहे थे पर मुझे सुनाई नहीं दे रहे थे। मेरे प्राणों की सारी शक्ति तो जैसे आँखों मे समा गयी थी। थोड़ी ही देर बाद मैं ने देखा, उन की निगाह मुझ पर पड़ी। वह ठिठक गये और अपने मेज़बान यानी मेरे बहनोई की ओर देखने लगे। मैं ने देखा उन की निगाह मे प्रश्न तैर गये थे। मेरे बहनोई सर्जी उन

का सवाल समझ गये और मेरी बाँह थाम कर उन के पास ले गये, बोले, "आइए, इन से आप का परिचय कराऊँ, ये है मिस फ्लोरा, यहाँ मेरे सरक्षण में ही है।" चेखव ने आगे बढ कर मुझ से हाथ मिलाया। मुझे लगा उन की निगाह में कुछ अजीब-सा था। शायद है कि मेरा नाम फ्लोरा उन्हें कुछ अजब-सा लगा हो। असल में उन दिनो मेरा रग बिलकुल चम्पई था और मैं लम्बी-लम्बी दो चोटियाँ गूँथा करती थी। इस लिए सभी मुझे दुलार मे फ्लोरा कहा करते थे।

सर्जी कहते गये, 'इसे आप की सारी कहानियाँ जुबानी याद है। कौन सी किताब के किस पृष्ठ पर कौन सी कहानी छपी है, यह तक इसे याद है।" फिर एक आँख दबा कर शरारत में बोले, ' इस ने आप को सैकडो खत लिखे होगे मगर पागल है बेहद, उन खतो को अजीब राज बनाये ह । न किसी को दिखायेगी न जिस के लिए लिखे है उन तक भेजेगी ही।" और एकाएक मेरे कधे पर हाथ रख कर बोले, "क्यो, एक आध भेजा भी था क्या ?" और मैं मारे लाज के गडी जा रही थी। अन्दर से खीज भी रही थी। सर्जी को इतने लोगो के बीच में यह क्या सूझा है। पर सच कहती हू, मुझे बिलकुल याद है सर्जी की बातें सुनते समय चेखव की आँखें कुछ मुँद सी गयी थी, थोडी सी देर के लिए वह बिल्कुल काठ को मूरत जैसे लगने लगे थे। गले में लटकती उन की टाई तो सचमुच ऐसी ही लग रही थी कि जैसे किसी प्रतिमा के गले में झूल रही हो।

अपने बहनोई की ओर क्रोधभरी दृष्टि से देख कर चेखव की ओर मुखातिब हो कर लडखडाती जुबान से सर्द स्वरो में केवल इतना ही कह सकी—"आप से मिल कर बहुत खुशी हुई।" अपनी भावनाओ के मुकाबले में कितना छिछला वाक्य कहा था मैं ने। क्यो सिर्फ इतनी सादी इतनी हलकी सी ही बात कह सकी उस दिन मैं। और कुछ बोली क्यो नही अपने प्रथम परिचय के उन क्षणों में।

उन दिनो वह अपने नाटक 'इवानोव' का अभिनय कराने के लिए पीटर्सबर्ग आये थे। नाटक खेलने वालो को अभिनय-क्षमता से उन्हें कोई शिकायत नही थी पर उन को दुख यह था कि उन लागो ने उन के सारे पात्र अपने अनुकूल बना लिये और चेखव का यह कतई पसन्द नही था कि उन के नाटको के पात्रो का व्यक्तित्व कही से काटा तराशा जाये। वह इस नाटक के प्रदर्शन की असफलता का कल्पना पहले से ही कर चुके थे और इतने अधिक चिंतित हो गये थे कि खाँसते समय उन के मुँह से खून भी आने लगा था। उस दिन अपनी उस स्पीच में उन्होंने बडी दृढता से ऐलान किया कि "मैं कसम खाता हूँ कि रगमच के लिए अब कभी नाटक नही लिखूँगा।"

भाषणो के बाद खाने की मेज पर चेखव मेरे पास ही बैठे। सर्जी उन से बताते रहे कि फ्लोरा बहुत अच्छी कहानियाँ लिखती है। इस की कहानियों में सामान्य रूप से

कुछ पृथक् एक मौलिक सूझ रहती है। चेखव ने मेरी ओर देखा और इस तरह मुसकराये जैसे बहुत दिनों के बिछुड़े दो मित्र मिल रहे हों और एक-दूसरे की उपलब्धियों की प्रशंसा सुन कर मगन हो रहे हों। जितनी देर भोजन चलता रहा हम लोग इधर की, उधर की तमाम साहित्यिक चर्चाएँ करते रहे। उस दिन की बातों मे से एक बात तो ज्यो-की-त्यों आज तक मुझे याद है। चेखव ने कहा था, ''जीवित-जाग्रत् प्रतिभाएँ विचारों को जन्म दे सकती है किन्तु कोरे विचार प्रतिभाओ को उत्पन्न नही कर सकते। जो कुछ देखो और अनुभव करो, बस उसी को पूरी ईमानदारी और सचाई के साथ लिख दो।''

हमारी बातचीत के बीच मे सामने बैठे दूसरे लोग भी हिस्सा ले रहे थे। मै तो उस दिन बहुत ही कम बोली थी—पर चेखव हर वाक्य इतनी आत्मीयता से कह रहे थे कि मुझे लगने लगा था कि इतनी सब बातें जैसे सिर्फ़ मेरे लिए ही हो रही है। पर आखिर इतना आत्मीय व्यवहार क्यो कर रहे है चेखव? कही इसलिए तो नही कि ये सचमुच मुझे कोई कुमारी फ्लोरा ही समझ रहे हों। मै ने सुन रखा था कि क्वाँरी छोकरियों की ओर वह सहज ही आकर्षित हो जाते है। मेरे मन ने कहा—नही, इन्हे इस भ्रम मे नहीं रखना चाहिए। मैं सोच ही रही थी कि इन्हे कैसे बताऊँ कि इतने मे चेखव ने अपने नाटक 'इवानोव' को देखने के लिए मुझे निमन्त्रित किया तो मैं ने उन्हें बता दिया कि सर्जी तो यूँ ही मज़ाक़ करते रहते है। मैं विवाहित हूँ और मेरे एक छोटा बच्चा भी है। मैं रात को उसे छोड़ कर कैसे आ सकूँगी भला!…… इतना सुनना था कि सर्जी तो एकदम जल-भुन गये और मुझे डपटते हुए बोले, ''क्या वाहियात बकती रहती हो! बच्चे को सुला आना! वह अब इतना छोटा नहीं कि उसे तुम तीन घंटे के लिए भी छोड़ न सको।'' और चेखव से बोले, ''देखिए, इन की बहानेबाज़ी मत सुनिए और इन्हे ज़रूर बुलाइएगा!''

और उस समय चेखव ने मेरी आँखों मे न जाने कौन-सी दृष्टि से झाँका था और कहा था, ''ओ हो, तुम्हारे एक पुत्र भी है। कितने सुख की बात है यह!'' उस दृष्टि मै न जाने वहाँ क्या था कि उस ने बड़े रेशमी बन्धनों मे जकड़ लिया मुझे! और मैं ऐसी बावली कि समझ भी नही पायी कि उस क्षण से मुझ मे कुछ नया जाग गया है! किसी घटना के सच्चे अर्थो को जान लेना और उस की ठीक-ठीक व्याख्या कर देना शायद बहुत कठिन होता है! पर सच तो यह है कि यहाँ कोई घटना घटी ही नही। हम ने तो एक-दूसरे की आँखों मे बस केवल एक विशिष्ट गहराई से देखा भर था! मगर उफ़ रे वह दृष्टि! मेरी अन्तरात्मा मे न जाने कौन-सा नक्षत्र उगा गयी थी—दमदम दमकता नक्षत्र! मुझे अपने चारों ओर बहुत उजाला नज़र आने लगा था उस क्षण से!……

जब घर वापस आयी तो देखा, मेरा बच्चा ल्योवुश्का कुछ चिढ़ा हुआ-सा है जैसे

मानो अब रोया कि तब रोया! मगन-मन मैं ने आते ही उस के गालों को प्यार से मसल कर कहा, "ओहो मेरे एक पुत्र भी है। कितने सुख की बात है यह!" मेरा मन कह रहा था, अपनी कल्पना के परों को हवा में तौलूँ और दूर-दूर तक की उडान भर आऊँ! कि इतने में माइकेल दूसरे कमरे से आये—(माइकेल मेरे पति) छूटते ही बोले, "जरा शीशे में अपना मुँह तो देखो, कितना सूखा हुआ है! बाल बिखरे हुए हैं। हूँ, कितना भद्दा ढंग है यह बाल बनाने का! शायद यह सब अपने उसी चेखव को प्रसन्न करने के लिए चोचले किये गये हैं। ल्योवुस्का यहाँ रो-रो कर जान दिये दे रहा है और उस की माताजी किसी साहित्यिक महानुभाव के साथ आवारागर्दी कर रही हैं।"

और, मुझे लगा कि मेरी दुनिया में सुख और सन्तोष की जो रोशनी फैलने लगी थी, उस ने अपने पख सिमेट लिये हैं—सब कुछ जैसे एक गहरे अँधेरे की पर्त के नीचे दब गया।

फिर सब कुछ पूर्ववत् था—वही घर और वही जिन्दगी का क्रम।

● चेखव से प्रथम परिचय के वह क्षण—लगातार तीन बरस तक मेरी यादों में स्वय को दोहराते रहे। अब तक मेरे दो बच्चे और हो चुके थे—लोड्या और नीना! अकसर माइकेल कहा भी करते थे "अच्छा तो 'माता जी', अब बच्चों ने आप के पख काट ही दिये न।" मुझे उन की बात चुभती तो जरूर थी पर यह भी कैसे कह दूँ कि झूठ थी। मुझे याद है, 'रशन थाट' के सम्पादक गोल्वेज़ ने जब सुना था कि मेरी शादी होने जा रही है तब वह बहुत उदास हो गये थे और उन्होंने कहा था, "अब तुम कभी लेखिका नहीं बन सकोगी। तुम्हारी कला सूख जायगी अब।" तब मैं ने उन्हें चैलेंज दिया था कि गृहस्थी मेरे लेखन में बाधक नहीं बन सकेगी। पर सचमुच अब मेरे पख कट गये थे! पख ऐसे कटे कि मुझे अब उन के कट जाने की तकलीफ तक महसूस नहीं हो पाती थी। अगर बच्चे बीमार न होते और घर का काम ठीक ठीक चलता रहता तो मैं खुश भी रहती ही थी! 'खुश'! कैसा खोखला निर्जीव शब्द है यह!

पर सब कुछ होते हुए भी न जाने क्यों मन तीन साल पहले की यादों में बँधा-बँधा रहता था! कैसे हैं ये बन्धन? कौन से ये पख हैं जो अपनी जड़ें जमाते जा रहे हैं माइकेल तो कहते हैं, मेरे पख बच्चों ने काट दिये हैं

● जनवरी १८९२ में सर्जी अपने पुत्र की पचीसवीं वर्षगाँठ मना रहे थे। घरेलू इन्तजामों में मैं भी लगी थी। अकस्मात ही मैंने सीढियों पर चढते हुए दो आदमियों का अक्स सामने के आदमकद शीशे में देखा। कभी-कभी ऐसा होता है कि किसी एक दृश्य को सारी जिन्दगी के लिए यादों में बसा देने की एक झलक ही काफी होती है। आज भी मेरी याद में ताजा है सुवोरिन का भद्दा-सा सिर और उस के पास ही चेखव का किशोर मधुर चेहरा! वह अपने दाहिने हाथ की

पतली उँगलियों से अपने माथे पर पड़ी एक शोख़ लट को पीछे कर रहे थे। अधखुली-सी थीं उन की आँखें और ओंठ रह-रह कर बड़े सहज ढंग में हिल रहे थे। वह कुछ बोल रहे होंगे जो मैं सुन नहीं पा रही थी। मेरे मन में वही तीन साल पहले की सिहरन कसमसा गयी। मैं पेसोपेश में पड़ गयी, पता नहीं वह मुझे पहचानेंगे भी या नहीं? उन्हें याद भी होगा या नहीं कि तीन साल पहले उन्होंने बड़ी आत्मीयता से किसी से बातें की थीं। ख़ैर, यह तो भला वह नहीं ही जानते होंगे कि उन की वह आत्मीयता मेरी नस-नस में बस चुकी है!

न जाने किस सम्मोहन से खिंची-खिंची मैं उन के पास गयी। अभिवादन किया और कहा, "मुझे उम्मीद नहीं थी कि आप के दर्शन होंगे।" उन्होंने उसी सहज मुसकान से कहा, "किन्तु मुझे तो थी। कहो कैसी हो? मैं ने तुम से कहा था कि अपनी कहानियाँ मेरे पास भेज देना, मैं देख कर लिखूँगा, पर तुम ने भेजी ही नही!" मैं कुछ बोलूँ-बोलूँ कि ख़ुद ही बोले, "लड़कियाँ बड़ी जाहिल होती हैं। मेहनत तो तुम लोगों के वश की बात ही नहीं। जब कि बड़ा लेखक बनने के लिए परिश्रम बहुत ज़रूरी होता है। ख़ूब लिखना चाहिए और उसे फिर-फिर माँजना चाहिए, माँजते-माँजते दस पृष्ठों के तीन पृष्ठ कर देने चाहिए। तब जा कर चीज बढ़िया बनती है। अरे, तुम लोग तो ऊन के गोले-के-गोले बुनती-उधेड़ती हो, तुम मे तो यह धैर्य और अधिक होना चाहिए।"

बहुत-से लोग आये हुए थे। तमाम बड़े-बडे लेखक, आलोचक, कवि और पत्रकारों से घर भरा था। चेखव मेरे साथ एक खिड़की के पास अलग जा कर बैठ गये—मैं ने कहा, "हमें इस तरह अलग नहीं बैठना चाहिए, यहाँ तो सभी लोग आप को जानते होंगे।" मेरे सवाल का जवाब उन्होंने नहीं दिया और जाने कहाँ खोये-खोये से बोले, "क्या तुम ने एक बात महसूस की थी? पिछली बार तीन साल पहले जब हम पहली बार मिले थे तो हमारा परिचय एकदम नया ही हुआ था लेकिन लग ऐसा रहा था कि न जाने कब के बिछुड़े हुए हम मिले हैं!" मैं उन्हें जवाब देने लायक अपने पास कोई शब्द न ढूँढ सकी। केवल सिर हिला कर, आँखें झुका कर मैं ने उन्हें स्वीकार-भाव जता दिया। तो बोले, "मैं जानता हूँ, मैं जानता हूँ। ऐसा भाव एक-दूसरे के प्रति दोनों के मन में एक साथ ही उठ सकता है। मैं ने जिन्दगी में पहली बार किसी के लिए वैसा अनुभव किया था। इसी लिए मैं उस अनुभव, उस स्फुरण को भुला नहीं सका। वह याद आज भी मेरे दिमाग़ में ताजा है। पर देखो तो, कितनी विचित्र है यह बात कि हम एक-दूसरे के बारे में बिलकुल नहीं जानते।"

मैं ने कहा, "लेकिन यह न भूलिए कि यह इस जीवन का अलगाव नही है, किसी पहले जनम की बात है जो बहुत समय पूर्व भुलायी जा चुकी है! शायद कई जनम बीत गये हैं जब हम एक साथ थे।"

चेखव का कहानीकार जैसे जाग उठा

बोले, "भला यह तो बताओ कि उस जनम में हमारा तुम्हारा क्या नाता रहा होगा ?

मै ने जल्दी से जवाब दिया, "इतना तो निश्चित है कि कम से-कम पति और पत्नी का तो सम्बन्ध नही ही होगा ।" हम दोनो ही हँस पडे । कितनी निश्छल थी उन की वह हँसी ! कितनी शिशुवत् !

पर दूसरे ही क्षण फिर वह अपनी खयाली दुनिया में खो गये । स्वाब देखते देखते जैसे बोल रहे हो--कहने लगे, "लेकिन हम एक-दूसरे को बेइन्तिहा प्यार जरूर करते थे । हम अभी किशोर ही थे हमारी मृत्यु हो गयी थी एक जहाज टूट जाने से " मै ने भी उन की खयाली दुनिया में प्रवेश कर के कहा, "हाँ-हाँ, मुझे भी कुछ-कुछ याद आ रहा है ।" वह बोले, "अरे अरे रुको, देखो मुझे सब साफ याद आ रहा है । बहुत देर तक हम लहरो से जूझते रहे थे तुम्हारी बाँहें मेरी गर्दन में माला जैसी लिपटी थी ।" "हा हाँ, मैं बहुत डर गयी थी । तभी तो ऐसा किया था मै ने । तुम जानते हो न, मै अच्छी तरह तैरना नही जानती। सचमुच मुझे याद आ रहा है, तुम्हारे डूब जाने का कारण मै ही थी । मै न होती तो तुम पार हो गये होते "

"भई, सच बात तो यह है कि मै भी कोई अच्छा तैराक नही हूँ। बहुत मुमकिन है कि यह हुआ होगा कि पहले मैं डूबा होऊँगा और तब तुम को भी अपने पीछे खीच लाया होऊँगा ।"

"जाने दो, इस के लिए मै तुम्हें दोषी नही ठहराती । और फिर सब से सुखद बात तो यह है कि अब हम फिर मित्र रूप में एक दूसरे को मिल गये है ।"

"पर, क्या अब भी तुम मुझ में उतना ही विश्वास रखती हो ?"

मै ने अपने स्वरो में शरारत भर कर कहा, "भला तुम्हारा विश्वास कैसे कर सकती हूँ मैं । बचाने के बजाय तुम ने डुबो जो दिया था मुझे !"

"तो तुम ने मेरी गर्दन क्यो नही छोडी थी ?"

हम दोनो दूसरी ही दुनिया में उड रहे थे कि एक महोदय हाथ में प्लेट लिये हुए हमारी तरफ आये और चेखव से बोले, "मैं अपनी साथी से अभी तुम्हारी ही कहानियों की चर्चा कर रहा था कि वह बहुत दिलचस्प होती हैं । बॉन बॉन जैसे मीठी !"

इस बॉन बॉन शब्द पर सब लोग बडी देर तक हँसते रहे । वह महोदय चले गये तो कुछ देर बाद अचानक ही मै ने याद करते हुए कहा, ' मै तुम्हारी कितनी कितनी प्रतीक्षा करती थी मेरा मतलब है, इस जन्म में । जब मैं मास्को में थी—अपने विवाह से पहले ।"

दूने अचरज से चेखव बोले, "भला मेरी प्रतीक्षा क्यो करती थी ?"

"इस लिए कि मैं तुम से परिचय प्राप्त करना चाहती थी । एक तो तुम्हारी कहानियों के जादू ने मेरे मन को अपने वश में कर लिया था, ऊपर से मेरे भाई के एक मित्र थे पोपोव । वह कहते थे कि तुम उन के लँगोटिया यार हो । तुम्हारी तारीफें भी वह

इस कदर करते थे कि कुछ पूछो मत। उन्होंने मुझ से यह भी कहा था कि अगर वह मेरी ओर से तुम्हे निमन्त्रण देंगे तो तुम आओगे ज़रूर! मै ने कितनी प्रतीक्षा की किन्तु तुम कभी आये तो नहीं।"

"अपने उन पौपोव महोदय से, जिन से मेरी कभी कोई मित्रता नहीं रही, न कभी मै उन से मिला ही था, कह देना कि वे मेरे सब से बड़े दुश्मन है।" जाने कैसी गम्भीर उदासी से उन्होंने कहा।

फिर हम मास्को, पीटर्सबर्ग, गोल्तसेव और रशन थॉट के बारे मे तमाम बातें करते रहे। बातें करते-करते अचानक जैसे कुछ याद आ गया हो, वे बोले, "तुम्हारी उम्र क्या है?"

"अट्ठाईस साल।"

"और मैं बत्तीस का हूँ। जब हम पहले-पहल मिले थे तो अब से तीन वर्ष छोटे थे, यानी पचीस और उन्तीस! ओहो, तब हमारी कितनी हसीन उम्र थी!...."

इतने मे क्या देखती हूँ कि माइकेल उधर से आ रहे है। मेरे पास आ कर ज़रा तीखेपन से वह बोले, "मैं घर जा रहा हूँ। तुम?"

"मैं ज़रा ठहरूँगी।" मेरा इतना कहना था कि चेखब की ओर देख कर अजब तल्खी से वह बोले, "हाँ, हाँ, वह तो तुम करोगी ही।"

पहली बार वह चेखब के सामने थे। मै परिचय न कराती तो असभ्यता होती। अजब से खिंचाव-तनाव की स्थिति मे ही मैं ने दोनों का परिचय कराया। दोनों ने औपचारिक ढंग से हाथ मिलाये। माइकेल के मुँह पर केवल उदासीनता ही नहीं बल्कि शत्रुता का-सा भाव था। उसे देख कर मुझे कुछ बहुत अचरज भी नहीं हुआ। मगर मैं ने साश्चर्य देखा कि चेखव ने पहले मुसकराने की चेष्टा की मगर मुसकरा न सके। और एक विचित्र अभिमान के-से भाव से उन्होंने अपने सिर को झटका दिया। दोनों एक-दूसरे से कुछ नही बोले। माइकेल फ़ौरन ही लौट भी गये। माइकेल का रुख देख कर मैं समझ गयी कि आज घर पर हंगामा ज़रूर मचेगा। पर जितने की कल्पना मै ने की थी—उस से कही अधिक बवाल हुआ। चेखव से ईर्ष्या करने वाले साहित्यकारों की भी कमी नहीं थी। उन्ही मे से किसी एक साहित्यकार नाम के छोटे दिल के महोदय ने माइकेल को जड़ दिया कि जब वह चले आये तो चेखव ने बड़ी डींगें हाँकी और कहा कि लीडिया को वह तलाक दिलवा लेंगे और उस से शादी कर के ही रहेगे। तमाम लोगों ने उन्हे सहायता का वचन भी दिया तो मारे खुशी के चेखव ने लीडिया को कन्धों पर उठा लिया। ऐसी बेसिर-पैर की बातें सुन कर माइकेल का गरम होना भी स्वाभाविक ही था। माइकेल को तो मै ने जैसे-तैसे समझा लिया कि यह सब उन से कम प्रतिभाशाली लेखकों की ईर्ष्या और द्वेष के कारण है। चेखव से साहित्य मे टक्कर ले नही पाते तो लोग अपनी खीझ इसी तरह उतारते है। माइकेल मान भी गये। लेकिन स्वयं मेरे

ही मन में एक कांटा-सा कसका कि कही किसी समय शराब अधिक पी जाने पर उन्होंने कुछ अट-शट कहा हो तो नही है। यह सोच कर मै ने उन्हें एक खत लिखा। उस का उत्तर वापसी डाक से आया

'तुम्हारे पत्र ने मुझे बडे कष्ट और भ्रम में डाल दिया है। इस सब का मतलब आखिर क्या है ? मुझ में इतना आत्मसम्मान अवश्य है कि मै अपनी सफाई में कुछ नही कहूँगा। किन्तु जो कुछ तुम ने लिखा है, उस से मालूम यही होता है कि किसी ने मेरे बारे में झूठी बातें गढ़ कर फैला दी हैं। और कुछ न कह कर मै तुम से केवल एक सवाल पूछता हूँ कि क्या तुम मेरा उतना भी विश्वास नही करती जितना उन लोगो का कर रही हो जो मेरे बारे में मनगढ़ंत बातें फैला रहे हैं। पीटर्सबर्ग में जो कोई जो कुछ भी कह दे उस का सहज ही विश्वास नही कर लेना चाहिए। और अगर उन बातो का विश्वास किये बिना तुम से रहा नही जाता तो फिर जो-जो कुछ मेरे बारे में कहा जाता है, सब पर विश्वास कर लो। यकीन कर लो कि मेरा विवाह एक राजकुमारी से हो गया है और मेरे जितने भी मित्रो की पत्नियाँ हैं सब मेरी प्रियाएँ हैं।

खैर, अफवाहो के विरुद्ध अपनी सफाई क्यो पेश करूँ ? व्यर्थ होता है यह सब। मै तो तालाब में जमी बर्फ को अपने हाथों से काट रहा हूँ और वही खडा हूँ। मै ने खूब सोच-समझ कर यह निश्चय कर लिया है कि इस जन्म में अब कभी पीटर्सबर्ग नही जाऊँगा।"

कैसी विडम्बना है नियति की ! यह था मेरे और चेखव के पत्र व्यवहार का प्रारम्भ ! वह अब कभी पीटर्सबर्ग नही आयेंगे—मेरे 'सुखी पारिवारिक जीवन' में अब कभी कोई भँवर नही आयेगी। कभी कभी किस्मत कैसी अजीब गलियो में भटका देती है जहाँ से निकासी का द्वार तो मिलता ही नही, उलटे जहाँ से प्रवेश किया था उन रास्तो को भी अथाह अँधेरा निगल जाता है। मन बेचारा सिर्फ पिरा ही तो सकता है न, सो पिराया करता है। पर इस दर्द की कोई सार्थकता भी होती है क्या ? पता नही। सिर्फ इतना पता है, अब मै चेखव के प्रति स्वयं को पूर्णतया प्रतिश्रुत अनुभव करने लगी थी। उन्हें बराबर खत भी भेजती रहती थी। यों मै ने माइकेल को बता दिया था कि हमारे खत आते-जाते है पर खत मैं घर के पते पर न मँगा कर सीधे डाकघर से ही ले आती थी। कितनी प्रेरणा और कितनी शान्ति देते थे उन के खत ! पर मन कितना आकुल व्याकुल रहता था यह सोच कर कि चेखव ने पीटर्सबर्ग न आने की कसम खा ली है। और मैं उन तक पहुँचूँ तो भला कैसे पहुँचूँ ?

एक दिन बिना किसी पूर्व सूचना के ही मेरी बहन मेरे घर आयी और बडी शरारत से मुसकरा कर बोली, "आज शाम को मेरे घर अकेली ही आना। ध्यान रखना, माइकेल साथ न हो।" मै ने कहा, "अरे, यह कैसी शर्त ? क्या हुआ ?" बोली, "हुआ कुछ नही। अच्छा बता, मै क्या सोच रही हूँ ? शर्त लगा

ले, तू अन्दाज़ नहीं लगा सकती। एक बोरिंग कहानी है।"

"बोरिंग कहानी? क्या मतलब?"

"हाँ-हाँ, 'ए बोरिंग स्टोरी' तू ने नहीं पढ़ी?"

"पढ़ी हूँ, मगर उस से तुम कहना क्या चाहती हो?"

"उस में तुझे याद है—एक शैम्पेन की बोतल है, पनीर है और···"

"अरे तो तेरे यहाँ चेखव आ रहे हैं क्या री?" कहने को तो मैं कह गयी पर दूसरे क्षण ही लाज से दोहरी हो गयी। मुझे आज भी वह संवेदन याद हैं। जाने कैसी अजानी पुलक से मेरे गालों पर सुर्खी दौड़ गयी थी। मैं ने अपने कानों को कोर-पर कुछ गुनगुनी सी, सुरसुरी-भी महसूस की थी। इस सूचना मात्र से ही मैं स्वयं को बहुत छोटी, बहुत नयी-नयी लगने लगी थी!

शाम को जब मैं बहन के घर गयी तो देखा, वह बाहर के कमरे में बैठी कुछ लिख रही थी। उस ने अभी शाम के कपड़े भी नहीं पहने थे। ड्रेसिंग गाउन लपेटे बैठी थी और आँखों में वही शरारत-भरी चमक। चेखव अभी आये नही थे पर उन के आने में मुश्किल से दस-पन्द्रह मिनिट की ही देर होगी और यह अभी तैयार भी नहीं हुई। ऐसा तो पहले कभी नहीं करती थी। इतने में ही घण्टी बजी। नाड्या उसी शरारत से मुसकरा कर बोली, "अरी लीडो, मैं तो अभी तैयार भी नहीं हुई। जा, ज़रा तू ही उन का स्वागत कर, मैं अभी आयी!" अब समझी मैं ड्रेसिंग गाउन का रहस्य। उस के सुर्ख गालों को चुटकी से मसल कर और भी सुर्ख़ बना कर मैं द्वार पर गयी।

मेरे पाँवों में बड़ा अजब कम्पन हो रहा था। दिल ज़ोर-ज़ोर से धड़कने लगा था, वह अलग! ऐसा लग रहा था जैसे मानो दिल और पैरों मे कोई होड़ लगी थी कि किस के स्पन्दन ज़्यादा द्रुत हैं। पर शीघ्र ही मैं ने स्वयं को संयत कर लिया। परस्पर अभिवादन के बाद, पहले मैं ही बोली, "क्यों साहब, आपने तो पीटर्सबर्ग न आने की क़सम खा ली थी!"

"भई, मैं बड़ा असंयत और कमज़ोर इच्छा-शक्ति का आदमी हूँ। पर तुम कुछ घबरायी-सी नज़र आ रही हो! तबियत तो ठीक है न?"

मैं ने स्वयं को और भी सँभाला और ओठों पर ज़बरन हँसी बिखेर कर कहा, "नहीं, नहीं, मैं तो बिलकुल ठीक हूँ।"

"हाँ तो, मैं पीटर्सबर्ग में हूँ। और भी बात बताऊँ। तुम्हें याद है न, मैं ने कभी नाटक न लिखने की क़सम खायी थी, पचासों व्यक्तियों के सामने ऐलान कर दिया था कि अब कभी नाटक नही लिखूँगा। याद है?"

मैं ने कहा, "हाँ, याद तो है।"

तो कहने लगे, "मैं एक नया नाटक लिखने जा रहा हूँ। उस का नाम भी अभी से सोच लिया है—सीगल!"

[सितम्बर १९६२]

जब आतिश जवान था

उपेन्द्रनाथ अश्क

●

कौशल्या के साथ शादी करने के बाद जब भी किसी यात्रा पर गया हूँ और उसे सफर की तैयारी करते देखा है, मेरी आँखों में पचीस वर्ष पहले की एक घटना घूम गयी है

शादी से लगभग साल भर पहले मैं कुछ दिन को अपने बड़े लड़के के साथ (जो उस वक्त छह सात वर्ष का था) कौशल्या के यहाँ रेनाला खुद गया।

रेनाला मिण्टगुमरी जिले में छोटा सा कस्बा है और पंजाब के प्रसिद्ध इंजीनियर रायबहादुर सर गंगाराम के फार्मों, नहर के बांध, बिजलीघर, ऊँची जमीन पर चढ़ाये गये रजवहों और सात मील लम्बे माल्टा के बागों के लिए प्रसिद्ध है। कौशल्या जब आती थी, उन के किस्से सुनाती थी—कैसे सर गंगाराम ने नहर में बाँध लगा कर बिजली निकाली, कैसे उन्होंने नहर के पानी को ऊँची जमीनों पर चढ़ाया और कैसे वह ऊसर हरी-भरी खेतियों से लहलहा उठा, कैसे माल्टों के बाग में खूनी रंग के लाल-लाल माल्टे हैं और कैसे अजवाइन को साल साल भर नीबू का पुट दे कर पेट के हर रोग के लिए तैयार किया जाता है और इस सब का जिक्र करते हुए वह मुझे कुछ दिन रेनाला चल कर रहने का निमन्त्रण देती। जब दो बार वादा कर के भी मैं नहीं गया तो इस बार जब वह आयी, हमें तैयार कर के साथ ही ले गयी।

मैं उन दिनों कुछ अस्वस्थ था और छुट्टी पर लाहौर गया हुआ था। सोच कर यही गया था कि दो-तीन दिन में लौट आऊँगा लेकिन रेनाला के इन्हीं दर्शनीय स्थानों को देखने और वहाँ के लोगों से मिलने मिलाने में छह दिन लग गये। सातवें दिन मैं वापस चलने को तैयार हो गया। मैं ने एक दिन पहले ही से कहना शुरू किया कि मैं कल चला जाऊँगा। (मैं और कौशल्या साल भर से एक दूसरे को जानते थे और हफ्ते-पखवारे चन्द घण्टे साथ ही गुजारते थे। वह रेनाला से लाहौर आ जाती और मैं प्रीतनगर से वहाँ पहुँच जाता। तो भी हमारे सम्बन्ध काफी औपचारिक थे।) एक आध वार दबी

जबान से कौशल्या ने हमें रुकने को कहा, पर जब मेरे स्वर में कुछ कड़ाई आ गयी तो वह बोली, "आप घबराइए नहीं, मैं आप को शाम की गाड़ी चढ़ा दूँगी ।"

रेनाला से एक ही गाड़ी शाम को पाँच बजे लाहौर आती थी । जब तीन बजे तक कही सुन-गुन न लगी कि हमारे जाने की तैयारी रही है तो मैं घबराया—"मैं अपना बिस्तर बाँध लूँ," मैं ने कहा, "मुझे पहले ही बहुत दिन हो गये हैं, मेरी नौकरी छूट जायेगी ।"

"हाँ-हाँ, बँध जाता है आप का बिस्तर, पाँच मिनिट का काम है, अभी तो दो घण्टे पड़े हैं ।"

और तब उस ने चपरासी को बाग से माल्टे लाने के लिए भेजा और दाई से कहा कि वह बच्चे के लिए मीठे परांठे पका दे ।

"अरे भाई, शाम को नौ बजे गाड़ी पहुँच जाती है। तुम बेकार परेशान होती हो । घर जा कर खा लेगा ।"

"आप के लिए तो नहीं बनवा रही हूँ । बच्चा है, अगर भूख लग आयी तो ? चार घण्टे का समय है, क्या कीजिएगा ? और वह दाई के साथ परांठों में जा लगी । उस का खयाल था कि चपरासी बाहर से आयेगा तो मेरा बिस्तर बाँधेगा । जब गाड़ी के आने में पन्द्रह मिनिट रह गये और स्टेशन निकट होने के कारण दूसरे स्टेशन से गाड़ी चलने की सूचना देने वाली घण्टी की टन-टन सुनायी दी तो उस ने मेरे साथ बिस्तरा बँधवाया । दाई से कहा कि परांठे डिब्बे मे बन्द कर, चाय की ट्रे मेज़ पर रख दे और स्टेशन भाग जाये और बाबू से कहे कि बड़ी बहन जी के मेहमान जायेंगे ।...इस बीच चपरासी आ गया । उसे सब सामान नीचे उतार, स्टेशन पहुँचाने का आदेश दे कर, कौशल्या तैयार होने लगी । चाय उस ने पी नहीं थी । दाई चाय की ट्रे लगा कर स्टेशन भाग गयी थी । साड़ी पहनते-पहनते वह चाय की चुस्की भी लेती रही ।....हम घर से नीचे उतरे ही थे कि गाड़ी स्टेशन पर आ गयी ।

छोटा-सा स्टेशन, गाड़ी केवल तीन मिनिट रुकती थी । कौशल्या का घर स्टेशन से फर्लांग भर के फ़ासले पर होगा । मैं अपने लड़के की उँगली पकड़ कर भागने ही वाला था कि कौशल्या ने रोक दिया—"घबराइए नहीं, आप को लिये बिना गाड़ी नहीं जायेगी ।"'

हम लोग तेज़ चलने लगे । मेरी चाल भागने से कुछ ही कम थी । कौशल्या के लिए मेरा साथ देना मुश्किल था । यों मैं ने लाहौर में उसे सीना ताने, खट्-खट्, जैसे हवा को चीरते हुए, चलते देखा था । लेकिन रेनाला खुर्द मे अपने पद के अनुरूप ही वह सिर ढके लेकिन तेज चाल से मेरे पीछे-पीछे आ रही थी ।

हम आधे रास्ते ही मे होंगे कि स्टेशन का पानी वाला भागता आया : "बहन जी, चलिए, गाड़ी आप के लिए रुकी है ।" वह दूर ही से चिल्लाया ।....हम किंचित् और तेज़ बढ़े । स्टेशन पर पहुँचे तो स्टेशन मास्टर ने 'बहन' जी को हाथ जोड़ कर नमस्कार

किया और कौशल्या के हाथ में रोटी का डिब्बा ले कर हमारे आगे-आगे बढा। सामान हमारा रखवा दिया गया था। हम चढे कि गार्ड ने सीटी दी।

बाद में मुझे मालूम हुआ कि स्टेशन-मास्टर की लडकी उस के स्कूल में पढती थी और कौशल्या की स्थिति उस छोटे से कस्बे में किसी गजटेड अफसर से कम नही थी। इस बार तो हम आधे रास्ते में थे, पर कई बार ऐसा भी हुआ कि वह घर से नहीं निकली और गाडी स्टेशन पर आ गयी और स्टेशन-मास्टर ने उसे घर से बुलवाया।

कौशल्या साल भर बाद ही रेनाला से चली आयी। वह छोटे से कस्बे की हेड मिस्ट्रेस नही रही कि स्टेशन-मास्टर अपनी लडकी की बडी बहन जी के लिए गाडी रुकवा दे, लेकिन अब भी कही यात्रा पर जाना हो तो कौशल्या वैसे ही तैयार होती है।

मेरे अपने पिता स्टेशन-मास्टर थे और अपने स्टेशन पर ही नही, पूरे डिवीज़न भर में दबंग मशहूर थे। गार्डों, ड्राइवरों, टिकिट-कलेक्टरों और अफसरों को सदा खिलाते-पिलाते रहते थे, लेकिन जाने प्रतिक्रिया के फलस्वरूप अथवा अपनी माँ के नैतिक प्रभाव के कारण या फिर अपने नन्हें मे अहम् के अधीन मैं ने कभी स्टेशन मास्टर के बेटे की तरह बिना टिकिट यात्रा करना अथवा गाडी के स्टेशन आ जाने पर ही घर से निकलना पसन्द नही किया।

जब हम पिता जी के पास न होते और अपने घर जालन्धर होते और कही यात्रा पर जाना पडता तो घण्टा डेढ-घण्टा पहले घर से चलना अनिवार्य हो जाता।

हमारा घर जालन्धर में था और जालन्धर फिरोज़पुर डिवीज़न में नही था कि मेरे पिता का कोई मित्र हमारी खातिर गाडी रुकवा लेता। इस के अतिरिक्त हमारा घर भी स्टेशन के निकट नही था, पूरे डेढ मील के अन्तर पर शहर के एक गुजान मुहल्ले में था। घर में कोई घडी नही थी। टाइम पूछने के लिए मुहल्ले के सिरे पर बाजार में चचा गोपालदास पन्सारी की दुकान पर जाना होता और उन की घडी भी स्टेशन की घडी से मिली हुई हो, ऐसी बात न थी। उस के लिए पन्द्रह बीस मिनिट आगे या पीछे होना सहज बात थी। इस लिए जब रेलगाडी से कही यात्रा करने की बात होती तो हमें कम से कम डेढ घण्टा पहले घर से रवाना होना पडता। सामान साथ मे न हो तो हम प्राय यह रास्ता भी पैदल ही तय करते। सामान साथ हो तो और भी पहले तैयारी करनी पडती। क्योंकि ताँगा आब मील पर सैदाँ गेट में ही मिलता था और घर से एक डेढ फर्लांग पर चौक कादेशाह में रुक जाता था। कुली या नौकरो की कोई व्यवस्था न थी। सामान अपने कन्धो पर ही लाद कर वहाँ पहुँचना होता। मुझे ऐसी कई घटनाएँ याद है, जब घर से तडके चले, ताँगा मिल नही पाया और सामान कभी सिर पर या कभी इस कन्धे और कभी उस कन्धे उठाये हम

स्टेशन पहुँचे। स्टेशन पर भले ही घण्टा-आध-घण्टा गाड़ी की प्रतीक्षा करनी पड़ी हो, लेकिन एक भी ऐसी घटना याद नही जब हम देर से पहुँचे हों और गाड़ी न मिली हो।

कौशल्या की स्थिति मुझ से एकदम भिन्न रही है। वह अपने अमरीका-पलट मामा के यहाँ पली है। उस के मामा का मकान लाहौर में बीडन रोड पर था। नीचे ही डेयरी में फ़ोन लगा था, जहाँ से गाड़ी का ठीक टाइम पूछा जा सकता था और बॉलकनी से आवाज देने पर ताँगा रोका जा सकता था और कौशल्या के मामा घड़ी देख कर वक्त से तैयार होते और पाँच-सात मिनिट पहले स्टेशन पहुँच जाते। रोज-रोज सफ़र करने के कारण उन्हें किसी तरह की घबराहट भी नहीं होती। उन के साथ रहने से कौशल्या भी ऐन-मैन वैसी हो गयी।....अपने वैवाहिक जीवन के पिछले बाईस-तेईस वर्षो पर दृष्टि डालता हूँ तो उस के साथ गाड़ी पर सवार होने अथवा उसे सवार कराने के कई दृश्य मेरी आँखों मे कौंध जाते हैं।

....१९४५ की एक शाम की याद आती है। मै 'फ़िल्मिस्तान' बम्बई में काम करता था। कम्पनी का स्टूडियो गोरेगांव में था और मै एक स्टेशन परे मलाड मे रहता था। मैं ने कौशल्या से कहा था कि वह शाम को समय से आ जाये तो हम स्टूडियो से सीधे ही दादर जायेंगे। दादर मे उस की बहन रहती थी। उन का घर कैडिल कोर्ट, कैडिल रोड पर था, जहाँ से कुछ ही क़दम आगे दादर का सागर-तट था। वहाँ शाम को ज्वार अथवा भाटे का बड़ा ही सुन्दर दृश्य दिखाई देता था। इरादा यह था कि कौशल्या की बहन और बहनोई को ले कर हम लोग वहाँ जायेंगे, खायें-पियेंगे और सागर का नजारा करेंगे।

कौशल्या कुछ देर से पहुँची। जब हम स्टूडियो से स्टेशन की ओर चले तो अभी हम आधे रास्ते में ही थे कि दूर मलाड की ओर से लोकल ट्रेन के आने की आवाज़ सुनाई दी। कुछ लोग गाड़ी की आवाज सुन कर भागने लगे। मैं ने कहा, "यह गाड़ो तो गयी। अब आध घण्टा, कम से कम, इन्तज़ार करना पड़ेगा। देर हो जायेगी! मैं सोचता हूँ, अब घर चलें। दादर कल जायेंगे।"

"कल क्यों जायेंगे? चलिए, भाग कर पकड़ लेते है।" कौशल्या ने कहा।

और हम दोनों भागने लगे।

रास्ता काफ़ी था। लेकिन हम लगातार भागते गये। ज्यों-ज्यों गाड़ी की आवाज निकट आती गयी हमारे भागने की गति भी तेज़ होती गयी। हमारे आगे-आगे भागने-वाले कई लोग पीछे रह गये। कुछ ने यह सोच कर दम छोड़ दिया कि अब वे गाड़ी न पकड़ पायेंगे। लेकिन हम निरन्तर भागते रहे। स्टेशन से कुछ दूर ही थे, जब गाड़ी स्टेशन में दाखिल हो गयी। चर्चगेट को जाने-वाली गाड़ी नं० २ प्लेटफ़ार्म पर रुकती थी और पुल पार कर के उसे पकड़ा जा सकता है। हम ने भागते हुए स्टेशन से प्रवेश किया तो गाडी लाइनों के पार सामने ही खड़ी थी, चलने ही वाली थी और हमारे आगे पहुँचने-

हैं। मैं क्रोध के मारे चुपचाप उन्हें कुछ क्षण देखता, हाथ हिलाता रहता हूँ फिर गाटी के निकल जाने पर कुली को पैसे देकर वही (अपने कपडो की परवाह किये विना) प्लैटफार्म के फर्श पर बैठ जाता हूँ।

कुछ ऐसे विशेष अवसरों को छोड कर जब कही मुझे अकेले जाना हुआ और मै वहुत पहले से शोर मचाकर घण्टा-आध घण्टा पहले स्टेशन पर जा बैठा, मुझे एक भी ऐसा मौक़ा याद नही जब कौशल्या कही अकेले गयी और ऐसे अफरा-तफरी में नही चढी। जब मे खुसरो बाग़ रोड के इस बँगले में आये हैं, वह और भी बे-परवाह हो गयी है। क्योंकि यहाँ टेलीफोन की सुविधा भी है और यहाँ से स्टेशन भी बिलकुल नज़दीक है। गाडी स्टेशन पर आ गयी हो तो भी हम घर से चल कर सवार हो सकते हैं और इस बात ने उसे और भी वेपरवाह बना दिया है। अपने बन्द फेफडे के बावजूद पुल पर से सात नम्बर के उस प्लैटफ़ार्म पर भागते हुए जाने की उस घटना के बाद, मैं ने उस की लाख इच्छा के बावजूद उस के साथ जाना छोड दिया है। उसे कही अकेले जाना हो तो मैं अपने लडको अथवा कौशल्या के भाइयो या फिर दफ्तर के मुलाजिमो को उसे गाडी पर सवार कराने भेज देता हूँ और बाद में आकर वे सविस्तार बताते हैं कि कैसे उन्होंने 'मम्मी' या 'वहन जी' या 'वहूजी' को गाडी में चढाया। मेरी समझ में कभी नही आता कि इस तरह अफरा-तफरी में चढने के बजाय पाँच-दस मिनिट पहले स्टेशन पर पहुँच जाने में क्या हर्ज है। गाडी में कौशल्या सदा ऐसे ही सवार हुई है, लेकिन उपरोक्त तीन दृश्य इस लिए मुझे याद रह गये है कि उन तीनों में काफी खतरे की सम्भावना थी। और अब भी जब मुझे उन की याद आती है तो वे खतरे जो नही पेश आये, पर आ सकते थे, मेरी कल्पना में कौंध जाते है और मेरा खून खौल उठता है।

लेकिन कौशल्या के यात्रा पर रवाना होने का केवल यही एक पहलू नही।* कई बार ऐसा भी हुआ है कि स्टेशन के रास्ते में सहसा उसे याद आया है कि वह ताश का पैकेट या पान की डिबिया या बाथरूम-स्लीपर या सुराही या कोई और ऐसी ही मामूली चीज़ घर पर भूल आयी है और उस ने वही से अपने बेटे या भाई या माली या नौकर को दौडा दिया है। मुझे दो-एक ऐसे भी मौके याद है, जब उस ने स्टेशन पर पहुँच कर या गाडी में सवार हो कर किसी मामूली-सी चीज़ के लिए आदमी को घर दौडाया है। इस में कोई सन्देह नही कि घर स्टेशन के नज़दीक होने से चीज़ प्राय आ भी गयी है, लेकिन मुझे सदा निहायत कोफ़्त हुई है और मैं कभी समझ नही पाया कि क्यो सब चीज़ें पहले से सम्हाल कर नही रख ली जाती ? इस तरह अफरा तफरी में चलने से किसी न-किसी चीज का छूट जाना नितान्त स्वाभाविक है। लेकिन मेरे लिए जो बात असाधारण-है, कौशल्या के लिए वही सहज है। उस के मामा सदा फ़र्स्ट में यात्रा करते है। सीट पहले से सुरक्षित होती है और वे गाडी के रवाना होने से एक मिनिट

भी पहले पहुँच जायें तो सवार हो सकते हैं। बीमारी के कुछ वर्षो को छोड़ कर हम ने प्राय: थर्ड ही में ही यात्रा की है, लेकिन कौशल्या थर्ड में भी फ़र्स्ट वालों की तरह यात्रा करती है जब कि मैं फ़र्स्ट में भी थर्डवालों की तरह यात्रा करता हूँ और हमेशा समय से कुछ पहले स्टेशन पर पहुँचता हूँ। यही हम में अन्तर है।

कौशल्या के साथ यात्रा करने का एक और पहलू भी है और उस को याद आ जाने से मुझे कम खिझलाहट या घबराहट नहीं होती।

मुझे जनता से दिल्ली जाना है। चूँकि काम के आधिक्य के कारण दिन और तारीख़ का निश्चय नहीं हो सका, इस लिए सीट रिजर्व नहीं करायो जा सकी। कौशल्या स्वयं स्टेशन जाती है। वहाँ हमारे एक परिचित बाबू हैं। जरा-सी भी गुंजाइश हो तो सीट दिलवा देते है। वे कहते हैं, "आपने देर कर दी। इलाहाबाद के लिए सुरक्षित सभी सीटें बुक हो चुकी हैं। आप गाड़ी पर ज़रा पहले आ जाइएगा तो कोशिश कर देखेंगे।" कौशल्या का परम विश्वास है कि सीट जरूर मिल जायेगी और वह यही तय करती है कि गाड़ी पर चान्स लेंगे।

लेकिन मैं गाड़ी पर चान्स लेने का जरा भी क़ायल नहीं हूँ। मैं कहता हूँ, "भगवान् के लिए तुम इतना करो कि बीस मिनिट-आध घण्टा पहले स्टेशन पर पहुँचा दो। सीट मैं अपने-आप ले लूँगा।"

और मैं सुबह से ही शोर मचाना शुरू कर देता हूँ। घण्टा भर पहले तैयार हो जाता हूँ। कौशल्या ने चाय नहीं पी। मैं स्टेशन पर उसे बढ़िया चाय पिलाने का वादा करता हूँ। और गाड़ी के आगमन से काफ़ी पहले स्टेशन पर पहुँच जाता हूँ, क़ुली को उस जगह सामान ले जा कर रखने का आदेश देता हूँ, जहाँ अगले डिब्बे आ कर रुकते हैं। वहीं बिस्तर और ट्रंक पर बैठे हम मज़े से चाय पीते हैं। गप लगाते हैं। ज्योंही गाड़ी दूर स्टेशन में दाख़िल होती दिखाई देती है और एकदम सब लोग उठ खड़े होते हैं मै भी उठता हूँ, कुली से केवल बिस्तर उठाने को कहता हूँ और आदेश देता हूँ कि मेरी ओर ध्यान रखे और मैं जिस डिब्बे में सवार होऊँ, भाग कर वहीं मुझे बिस्तर पकडा दे। और यह कह कर मैं अगली पंक्ति मे जा खड़ा होता हूँ। गाड़ी अभी हरकत में होती है कि मैं उचक कर एक डिब्बे में सवार हो जाता हूँ और उतरने वालों की भीड़ को चीरता हुआ एक ख़ाली सीट पर जा क़ब्जा जमाता हूँ यानी अपना बैग वहाँ रख देता हूँ। क़ुली बिस्तर ले आता है और इस से पहले कि कोई सीट पर अधिकार करे, मैं बिस्तर बिछा लेता हूँ और तकिये निकाल कर आराम से लेट जाता हूँ—प्रतीक्षा करता हूँ कि क़ुली दूसरा सामान ले आये। जब काफ़ी देर तक कोई नही आता तो मैं ज़रा चिन्तित हो कर उठता हूँ, खिड़की से झाँकता हूँ, और देखता हूँ कि पुषी—कौशल्या का छोटा भाई—भागा आ रहा है।

"जीजा जी, उधर बहन जी ने स्लीपर में सीट ले ली है।"

और वह गाडी के डिब्बे में आ जाता है। "उठिए, उठिए, गाडी चलने वाली है।"

"मुझे नही जाना स्लीपर में, देखो कितनी अच्छी सीट मिल गयी है। तुम जा कर सामान यही ले आओ।"

लेकिन दूसरे क्षण कुली के पीछे-पीछे कौशल्या स्वय दाखिल होती है—"उठिए, उठिए, उधर स्लीपर में सीट मिल गयी है।"

मैं भुनभुनाता रह जाता हूं। मेरी कोई नही सुनता। बिस्तर फिर गोल किया जाता है और कुली के सिर पर लदवाये भागम-भाग हम गाडी के लगभग दूसरे सिरे पर लगे स्लीपर-डिब्बे में पहुँचते है। डिब्बा ठसमठस भरा है, सांस तक लेनी मुश्किल है। बडी कठिनाई से सीट तक पहुँचते है, मिडिल की सीट मिली है। उस वक्त बिस्तर बिछाने का सवाल ही नही पैदा होता। मुश्किल से बैठते है कि गाडी सीटी दे देती है।

सब उतरने को भागते है। कोई बात नहीं हो पाती। बेटे गाडी के साथ भागते हुए खिडकी में से हाथ मिलाते हैं, पुत्री दूर से नमस्ते कहता है, कौशल्या साथ-साथ चलती हाथ मिलाती है और अपनी विजय पर मुस कराती है रात को जब एक बार उठता हूँ तो भूल जाता हूँ कि मिडिल की सीट पर लेटा हूँ। माथा ऊपर की सीट से फूट जाता है और मैं कौशल्या की इस तत्परता को दुआएँ देता हूँ

लेकिन यह उन दिनों की बात है जब आतिश जवान था और चलती गाडी के डिब्बे में चढ कर सीट पर अधिकार जमाने की शक्ति रखता था। धीरे-धीरे उमर और बीमारी ने मुझे इस क़ाबिल नही रखा और मैंने सीट ले कर देने का काम बीवी-बच्चों पर छोड दिया है। और वे लोग जैसे सीट ले कर देते हैं, उस से मुझे यात्रा के नाम ही से वह-शत होने लगती है।

इसी सिलसिले में वर्षों पहले का एक सफर मेरी आँखों में घूम जाता है

मुझे अकेले ही दिल्ली जाना है। सीट हसब दस्तूर अनिश्चय के कारण बुक नहीं करायी जा सकी और गाडी पर चान्स लेने ही की बात है। बावजूद मेरे शोर मचाने के कोई पहले तैयार नही हुआ। गाडी के आने में कुछ ही मिनिट शेष है। इधर रिक्शों पर सामान लद रहा है उधर कौशल्या चाय पी रही है और मुझ पर जोर दे रही है कि मैं भी एक गरम गरम प्याला पी लूँ। ऐसे में चाय की इच्छा तो दूर रही, खाने का समय हो तो मेरी भूख तक सूख जाये। गाडी स्टेशन में दाखिल हो रही होती है जब हम प्लैटफार्म पर पहुँचते है। अगले या पिछले डिब्बे में जा कर सीट लेने का सवाल ही नही उठता। मैं बडे लडके से कहता हूँ कि जो भी डिब्बा सामने पडे, उसी में सामान रख दे। कौशल्या परिचित बाबू के फिराक़ में चली जाती है। मेरा लडका डिब्बे में दाखिल भी हो जाता है, लेकिन इस डर से कि सामान

फिर उतरवाना न पड़े, पुपी मुझे जाने से रोक देता है। कौशल्या का कहीं पता नहीं चलता। सब उस की प्रतीक्षा करते हैं और सामान वहीं पड़ा रहता है। कुछ देर बाद वह दूर से बाबू के साथ आती दिखाई देती है और हमारे पास से तेज़-तेज निकल जाती है। हम लोग कुली के साथ उस के पीछे-पीछे स्लीपर-डिब्बे तक जाते हैं। हमारा परिचित बाबू कण्डक्टर के साथ काफ़ी देर बहस करता है और कौशल्या भी आगे बढ़ कर उस से अनुरोध करती है लेकिन कुछ नही हो पाता। हमे देर हो गयी है। इलाहाबाद में खाली होनेवाली सीटें भर चुकी हैं। गार्ड की सीटी सुनाई देती है। मेरा लड़का सीट छोड़ कर आ चुका है। हम सामान के साथ डिब्बों के आगे से गुजरते जाते है, लेकिन कहीं जगह दिखाई नहीं देती। तभी इंजिन चीख मारता है और मैं जो भी डिब्बा सामने पड़ता है, उसी में सवार हो जाता हूँ। डिब्बा ठसाठस भरा है। कहीं सीट ख़ाली दिखाई नहीं देती। वहीं दरवाज़े मे ट्रंक-बिस्तर रखवाता हूँ कि गाड़ी हरकत में आ जाती है—सामान कौशल्या सदा काफ़ी साथ कर देती है। चलती गाड़ी मे सामान आये जाता है और मै एक के ऊपर एक वहीं अम्बार लगाये जाता हूँ। बात करना तो दूर, 'टा-टा' करने का भी अवसर नहीं मिलता। मैं किसी तरह सामान को वहीं ठोक-ठाक जमा कर ट्रंक और बिस्तर के ऊपर चढ कर टाँगें नीचे लटकाये जा बैठता हूँ।··· कानपुर मे सिर्फ़ इतना होता है कि बैठने की एक सीट मिल जाती है और छोटा-मोटा सामान सीटों के बीच में कर लेता हूँ, लेकिन ट्रंक-बिस्तर उधर लाने की सुविधा नहीं मिलती। सर्दियों के दिन हैं। मफ़लर से सिर-कान लपेटे, उस पर हैट-लगाये, ओवर कोट से शरीर को अच्छी तरह ढके बैठे-बैठे रात गुज़ार देता हूँ—यह भी डर है कि कहीं आँख लग गयी और कोई दरवाजे से बिस्तर-ट्रंक ले कर ही चम्पत हो गया तो क्या होगा।

और यों धीरे-धीरे मेरा यात्रा पर निकलना कम हो गया है। कहीं जाने के नाम ही से मुझे वहशत होने लगी है। कहीं जाना होता है तो दिनों पहले मेरी नींद हराम हो जाती है। कौशल्या मेरा मज़ाक़ उड़ाती है, मैं कुछ नहीं कह पाता। ग़ालिब का शेर दुहराना चाहता हूँ—'या रब न वो समझे हैं न समझेंगे मेरी बात' लेकिन नहीं दोहराता, इस लिए कि ग़ालिब कौशल्या को भी याद है। मैं यह पंक्ति पढ़ूँगा तो वह दूसरी पढ़ देगी और बात वही की वही रह जायेगी।

[फ़रवरी १९६५]

पुराना पेड़ : नया वसन्त

ठाकुरप्रसाद सिंह

●

श्री माखनलाल चतुर्वेदी के सम्बन्ध में सहज श्रद्धावश लिखने का निश्चय काफी पहले किया था लेकिन जब लिखने की बारी आयी और मैं ने उन के विषय में कुछ सोचना-विचारना शुरू किया तो लगा कि सच पूछिए तो सीधी आँखों से मैं ने कभी उन्हें देखा भी नही है। जिसे कभी देखा नही, कभी जिस के नजदीक बैठा नही, जिस के साथ या जिस के युग के साथ कभी जिया नही, उस के विषय में कुछ लिखूँ तो दुस्साहस ही होगा, वैसा ही दुस्साहस जैसा बहुत से लोग बिना पुस्तक पढ़े आलोचना लिख देने के सिलसिले में कर दिया करते हैं। पहले उत्साह में मैं ने श्रीकान्त जी को लिख दिया था कि पूज्य दादा पर कुछ लिखना चाहता हूँ लेकिन जब सचमुच वे मुझ से लेख लेने के लिए कटिबद्ध हो गये तो मेरे होश उड़ गये। मैं पीछे हटता गया, इस आशा से कि वे एक दिन निराश हो कर मुझ से लेख माँगना छोड़ देंगे और जैसे हिन्दी-साहित्य के अधिकांश सम्पादक मेरी चुप्पी से निराश हो कर निश्चिन्त हो गये हैं, वैसे ही जोशी जी भी हो जायेंगे। लेकिन जाने क्या बात है, पहले तो वे खुद तकाज़े करते थे अब। पण्डित कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' से भी पत्र भिजवाने लगे। प्रभाकर जी निवेदन तो करते नही, सीधे आदेश देते हैं और अब आदेश एक से दो, दो से चार होते जा रहे हैं, इस लिए घबराहट में माखनलाल जी के विषय में सोचने के लिए बाध्य होना पड़ रहा है।

मेरी हालत, सच पूछिए तो, उस छोटे बच्चे की-सी हो गयी है जिसे लड़कपन से ही झूठ बोलने की आदत पड़ गयी हो और वह लम्बी-चौड़ी कहानियाँ सुना कर साथियों पर अपनी छाप छोड़ने की खतरनाक आदत में पड़ गया हो। एक दिन कभी ऐसा भी आता है जब एक झूठ को सच सिद्ध करने के लिए उसे बार-बार झूठ बोलना पड़ता है और तब भी आस पास वाले यह ताड़ लेते हैं कि जो-कुछ यह कह रहा है, झूठ ही कह रहा है। मेरा खयाल है कि श्रीकान्तजी और प्रभाकर जी दोनों ही इस षड्यन्त्र में एक हो गये हैं और मेरी इस डींग मारने की आदत का

निबटारा हो कर देने पर आमादा हैं। मैं बिलकुल घिर गया हूँ क्योंकि मैं ने कभी डींग मारी थी कि मैं माखनलाल जी पर जितना जानता हूँ कोई नही जानता, इस लिए मुझ से वे कहलवा लेना चाहते हैं कि मैं लोगों से साफ़-साफ़ यह कह दूँ कि माखनलाल जी को जानना तो दूर की बात है, मैं ने उन्हें खुली आँखों से कभी देखा भी नहीं। मेरे सामने सिवा इस झूठ को स्वीकार लेने के और कोई चारा नहीं है। वे चाहते हैं कि खुली अदालत में मैं यह स्वीकार करूँ कि मैं ने माखनलालजी को आज तक अपनी आँखों से कभी देखा ही नहीं।

लेकिन अपनी आँखों से न देखने का मतलब यह नहीं है कि मै ने उन्हें एकदम नही देखा है। मैं ने उन्हें देखा है अवश्य लेकिन अपनी बग़ल में बैठे हुए एक अपरिचित श्रोता से आँखें ले कर उस की आँखों से देखा है और जी भर कर देखा है। कैसे, यह अब बताना ही होगा क्योंकि बिना बताये निकल भागने का कोई रास्ता सूझ नही रहा है। बात इस प्रकार है। १९३७-३८ में अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के बनारस अधिवेशन के समय मैं किसी प्रकार चोरी से पण्डाल मे पहुँच सकने में समर्थ हो गया। एकदम स्कूल का विद्यार्थी था और नागरी-प्रचारिणी सभा के घेरे को तोड़ कर भीतर जाने की और साहित्यकारों को देखने की आकांक्षा जब हुई तो सिवा इस के कि चहारदीवारी लाँघ जाऊँ और फाटक के भीतर जो भीड़ थी उस से रास्ता निकाल लूँ, और कोई अच्छा तरीक़ा मेरी समझ में उस समय नही आ सकता था। आज इस उम्र में यह देख कर हैरानी थोड़ी बढ़ जाती है कि जो तरीक़ा मैं ने बचपन में साहित्य में घुसने का अपनाया था वही तरीक़ा अब बहुत-से ऐसे लोग अख्तियार कर रहे हैं जिन की काफ़ी उम्र हो गयी है और यह तय है कि उन्हें ऐसा नहीं करना चाहिए। बहरहाल मैं कुल जमा सातवीं कक्षा का विद्यार्थी था और मुझे हक़ हासिल था कि मै नागरी-प्रचारिणी-सभा के पीछे की चहारदीवारी लाँघ जाऊँ और मंच पर बैठे साहित्यकारों को देखूँ और मैं ने यह किया भी। भीतर जा कर देखने पर लगा कि सारी मेहनत बेकार हो गयी है। मैं जहाँ खड़ा हूँ वहाँ से मंच काफ़ी दूर पड़ता है और वहाँ विराजमान साहित्यकारों-का समूह तैल-चित्र की तरह लिपा-पुता दिखलाई पड़ता है। आवाज़ तो सुन पड़ती है लेकिन यह नही पता लगता कि उतने सब लोगों में-से बोल कौन रहा है। असफलता की खोझ मेरे चेहरे पर उभर आती है लेकिन तभी मेरी बग़ल मे बैठे एक सज्जन ने मेरी परेशानी देख कर एक विचित्र-सी मशीन मेरे हाथ मे दे दी और मुसकरा कर कहा, "दिक़्क़त होती हो तो इस से देखिए!" वह शायद दूरबीन थी और ज्योंही मैं ने उसे आँख के आगे रखा, सारा दृश्य ही बदल गया। ऐसा लगा जैसे सारे का सारा मंच ही मेरे पास आ गया है और जो साहित्यकार भाषण दे रहे है वे ठीक मेरे सामने बैठे हुए श्रोताओं-के ऊपर खड़े ओजस्वी वाणी में धाराप्रवाह

कुछ बोल रहे हैं। दूरबीन ऐसी थी कि उस में सामने का सारे का सारा दृश्य कई रंगों में दिखलाई पड़ता था—इसलिए खद्दर की सादी वेश-भूषा में खड़ा वह व्यक्ति ऐसे लगा कि कई रंगों के वृत्त उसे घेरे हुए हैं। वे वृत्त दूरबीन के फोकस के घटने-बढ़ने के साथ घटते-बढ़ते जाते थे। सामान्य कद के वे मेरे सम्मुख आकार में भी काफी बड़े लगते थे जैसे वे स्वयं न हों, उन का विराट् रूप हो।

मेरी बगल में बैठे सज्जन मेरे कान में फुसफुसाये, "माखनलाल जी हैं, 'कर्मवीर' के सम्पादक।" मैं जैसे धक-से रह गया। ज़रा तेज़ी और भाव-विभोर स्वर में मैं कह पड़ा, "'कोकिल बोलो तो' के कवि?" वे मुस-कराये जैसे मेरी जानकारी से खुश हुए हों।

तब तक श्री माखनलाल जी के वक्तव्य का सन्दर्भ भी मेरी पकड़ में आ चुका था। मैंने उत्साह से उन से कहा कि माखनलाल जी इस समय 'साहित्य-देवता' के सम्बन्ध में अपना वक्तव्य दे रहे हैं।

तभी आवेश से भरी ध्वनि और तेज़ हो गयी और ऐसा लगा जैसे माखनलाल जी अपना वक्तव्य समाप्त करने जा रहे हैं 'साहित्यकार की लेखनी शान्ति के समय वंशी का कार्य करती है, क्रान्ति के समय उसे युद्ध के नगाड़े को गुंजित करने का कार्य भी करना होगा।" चारों तरफ पूरे पण्डाल में सन्नाटा छा गया था और सभी श्रोताओं के ऊपर से तरल अग्नि की तरह चतुर्वेदी जी के विचार कई मिनिटों तक प्रवाहित होते रहे। मुझे ऐसा लगा कि अब आँखों के आगे दूरबीन लगाने की कोई आवश्यकता नहीं रही। अब चाहे आँखें खुली रखी जायें या मुँदी, माखनलाल जी का चित्र एक क्षण भी आँखों से ओझल होने वाला नहीं।

मैंने उस के बाद माखनलाल जी को कभी नहीं देखा इसलिए मेरे मानस-पटल पर उन का जो स्वरूप तब अंकित हो गया था वह आज भी जैसा का तैसा बना हुआ है। इधर वर्षों से सुन रहा हूँ, वे अस्वस्थ होते जा रहे हैं, चलने-फिरने में असमर्थ हो गये हैं और पिछले वर्ष जब उन्हें सम्मानित करने के लिए प्रदेश के मुख्य मन्त्री तथा अन्य साहित्यकार खण्डवा पहुँचे, वे दूसरों-द्वारा उठा कर मंच पर लाये गये। काल अपना कार्य कर रहा है पर मेरे मन पर बचपन में अंकित हो गये उस सतरंगे विराट्-पुरुष पर काल की लहरों का कोई असर आज भी नहीं पड़ा है। भविष्य में भी नहीं पड़ेगा, यह बात इस लिए नहीं कह रहा हूँ कि मैंने उन्हें अत्यन्त क्षीण-अस्वस्थ रूप में नहीं देखा है या उन्हें इस रूप में इसलिए नहीं देखना चाहता कि मेरा पुराना चित्र न बिगड़ जाये बल्कि इसलिए कह रहा हूँ कि माखन-लाल जी का जो स्वरूप उन की लेखनी से पिछले वर्षों उभरा है वह बचपन के उस विराट सतरंगी आकृति से कहीं अधिक विराट्, कहीं अधिक रंगीला है। अपने छोटे से साहित्यिक जीवन में बहुत से वयोवृद्ध साहित्यकारों के साथ रहा हूँ, अत्यन्त नज़दीक से देखा है बहुतों को और अधिकांश के प्रति सहज करुणा मन में उभर आयी है—इसलिए कि वे चुक गये हैं। वे पूज्य हैं वे आराध्य हैं, पर प्रेरणा का स्रोत

उनका सूख गया है। एक-एक कर मेरे रास्ते के ये छायाभ वृक्ष टूटते-सूखते-गिरते गये हैं लेकिन इस सारी भीड़-भाड़ मे एक आवाज ऐसी भी रही है जो जब धीमी होती है तब तो किसी वृद्ध की लगती है लेकिन ज्यों हो तेज होती है तो ऐसा लगता है जैसे कोई बच्चा चीख रहा है; ऐसा बच्चा जिसने अभी-अभी जन्म लिया है और जिसे दुनिया इतनी ताज़ी, इतनी रंगीन, इतनी नयी लग रही है कि वह चीखने के लिए बाध्य हो गया है। जैसे चीख का कोई तुक नही होता, चीख का कोई अर्थ नही होता वैसे ही वृद्ध पुरुष की अत्यन्त आवेश मे लिखी गयी पंक्तियाँ अकसर आगे-पीछे की पंक्तियो की-सी बे-मेल लगती है, उन का कोई सीधा अर्थ नहीं होता। जब उन का कोई अर्थ ही नही होता तो वे अर्थ-ध्वनियों से आगे बढ कर संकेत-ध्वनियों मे प्रवेश कर जाते है, ऐसी संकेत-ध्वनियाँ जो केवल देवता दे सकते है या केवल बच्चे। मैं जिस बूढी आवाज की चर्चा कर रहा हूँ वह एक-साथ बूढे और बच्चे दोनों की मिली-जुली आवाज है। उसे ध्यान से सुनना पडता है क्योंकि पता नही कब वह बूढे की आवाज़ बच्चे की आवाज़ मे बदल जाये और इस के पहले कि आप सुख से झूम उठें और रह जाये बाद में बचा एक पछतावा—उसे न सुन सकने का, उसे अपनी बगल से अनजाने मे निकल जाने का, अन्तरिक्ष मे खो जाने का।

वह जिस की आवाज़ थी—उस का नाम है माखनलाल चतुर्वेदी। उन की लगभग हर कविता इन्हीं गुणों से जगमग है और जब मैं उन की कोई भी नवीन रचना पढ़ता या सुनता हूँ तो प्रयत्न करके अपने भीतर के उसी आदिम संस्कार को जाग्रत् रखता हूँ जो संकेतों को—केवल संकेतों को—पकड़ता है। दुनिया को सार्थक शब्दावली जिस के लिए व्यर्थ होती है। मैं सोचता हूँ कि जब तक माखनलाल जी की कविताओं मे कहीं-कही झलक गये इन संकेतों को पकड़ने और उन के विशिष्ट अर्थों को समझ कर झंकृत होने की शक्ति मेरे भीतर बची हुई है तब तक मै सारे विरोधों के बीच भी जीवित यन्त्र बना रह सकने की अपनी हैसियत बनाये हुए हूँ। माखनलाल जी पिछले वर्षों में तेजी से कमजोर होते गये हैं लेकिन उतनी ही तेज़ी से वे नये भी होते गये है जैसे गाँव के किनारे कोई पुराना पेड़ हर वसन्त में कहीं-न-कहीं से कुछ नये पत्ते, कुछ नयी कोंपलें ऋतुराज के अभिवादन के लिए अपनी बूढ़ी जर्जर काँपती हथेलियों पर उठाये और कहे, "इस बार के वसन्त को मेरी यह भेंट स्वीकार हो!"

७४ हों या ७६, एक भी वसन्त माखनलाल जी की अभ्यर्थना के बिना नही गया है। कभी सिर भेंट करने की ललकार आयी थी तो वे आगे बढ़ने वाली भीड़ मे सब से आगे दिखलाई पड़े लेकिन स्वतन्त्रता के बाद सिरों पर ताज लेने के लिए उतावली भीड़ मे खोजा गया तो वे कही दीखे नही। पूरी ज़िन्दगी भर होठों पर रख कर बजायी जाने वाली बाँसुरी से निर्मम काल-देवता ने नगाडे पीटने का काम लिया और यह तय था कि इस से बाँसुरी खण्ड-खण्ड हो जाती। बाँसुरी खण्ड-

खण्ड हो भी गयी लेकिन उस ने कभी किसी के होठ का स्पर्श नही किया—कभी यह शिकायत नही की कि उसे प्रेम-गीतो का माध्यम नही बनाया गया। यह सब कुछ हुआ, वर्षों तक प्रवृत्ति और प्रकृति के विरुद्ध तूफान के बीच एक क्रान्तिकारी और सत्याग्रही की जिन्दगी विताने के बाद भी बाँसुरी के भीतर की बाँसुरी मरी नही। जब भी जरा-सा अवसर मिला, मन से या बे-मन से उसे किसी ने एक क्षण के लिए भी होठो पर धरा तो वह वैसे ही पिहुक उठी। मैं ने अपनी आँखो के सामने कितने ही लोगो को अपनी जाति, अपनी प्रकृति, अपना धर्म बदलते देखा है, कभी लाचारी से, कभी समझौते के चक्कर में, कभी इस के या उस के मोह में। लेकिन इस भीड में ऐसा भी आदमी है जिसे कबीर के शब्दो में 'सतगुरु ने ऐसे जतन कर के ओढा है' कि इतनी लम्बी उम्र तक प्रतीक्षा के बाद भी जब वह अपने प्रिय के पास आ गया तो उसे यह शिकायत नही होगी कि माखनलाल जी ने अपने व्यक्तित्व की चादर ओढ कर मैली कर दी है। साफ धुली खादी की एक चादर जैसे साफ धुला अमलिन व्यक्तित्व।

यदि संघर्ष न होता तो माखनलाल जी एक अद्भुत प्रेम-गीतकार होते। यदि जातियो धर्मों का द्वेष विष की तरह बनारस की गलियो में व्याप्त न होता तो कबीर केवल एक गृहस्थ होते, चादर बुनने वाले गृहस्थ और अन्तत वे अपने भीतर की यात्रा पर इतनी दूर निकल जाते कि जहाँ से उन्हें लौटा सकना असम्भव होता। दुख इसी बात का है कि दो अन्तर्मुखी व्यक्तित्व वाले कवि बाहर की मार से उत्तेजित हो कर युद्ध क्षेत्र में आने के लिए वाध्य हो गये और जब उन्होने अन्याय के प्रतिरोध के लिए तलवार उठा ली तो वे उसे तब तक चलाने के लिए प्रतिबद्ध हो गये जब तक अन्याय समाप्त न हो जाये। दोनों ही तलवारें अपने म्यान में नही लौटी।

माखनलाल जी और लम्बी उम्र पायें लेकिन मैं इतना स्वार्थी हूँ कि चाहे वे जितनी लम्बी उम्र के हों, वे हर वसन्त में अपना अर्घ्य दक्षिण की मलयानिल को दें—इस लिए कि उत्तर में गंगा-यमुना की वादियों में बसने वाले हिन्दी-प्रदेश के नगरों की गलियाँ मलयानिल के झोके से नया सन्देश, नया जीवन बराबर पाती रहें।

चारो ओर आँख उठा कर देखता हूँ और व्याप्त सन्नाटे से जी उचाट हो जाता है। तभी याद आती है चन्दन-वन से मेरे घर के रास्ते पर खडे उस बूढे ठूठ हो गये पेड की जिस की सब से ऊपर की सूखी डाल पर इस बार भी कोंपलें फूटी हैं। जब कोंपलें फूट गयी हैं तो वसन्त भी दूर नही होगा।

[अप्रैल १९६७]

एक डाकू : दो ख़त तीन दृष्टियाँ

लक्ष्मीचन्द्र जैन

●

डायरी में, २ मई १९६० वाले पृष्ठ पर केवल एक ही वाक्य लिखा हुआ है :

"आज अन्तिम रूप से कार्ल चैसमैन को गैस-चेम्बर में मृत्यु-दण्ड दे दिया गया।"

दिवाकर की डायरी में जिस कार्ल चैसमैन के नाम का उल्लेख है, और जिस ढंग से उल्लेख है उस से स्पष्ट है कि इस नाम के पीछे कोई इतिहास है। इस इतिहास के सूत्रों का आभास दिवाकर के उस पत्र में है जिसे उस ने उसी दिन शान्ता के पास भेजा था—

दिवाकर का पत्र

प्रिय शान्ता,

चैसमैन के सम्बन्ध में हमलोगों ने कितनी ही बार बातें की हैं। कितनी ही बार तेज़ बहस तीखी होते-होते इस लिए बच गयी कि या तो मैं चुप हो गया या तुम। आज जब कि चैसमैन का साँस दूर कैलीफ़ोर्निया के गैस चैम्बर के विषाक्त धुएँ में घोंट दिया गया है और अब, जैसा कि उस ने अन्तिम विदा लेते हुए कहा है : चैसमैन समाप्ति और विस्मृति के गर्भ मे विलीन होने जा रहा है ताकि समाज एक अवसाद पूर्ण जीवन-काल को भूल सके"—शायद है, कि मौत की काली छाया के प्रसार मे तुम्हारा मन उस 'नर-पिशाच' (तुम्हारा ही दिया हुआ नाम है यह) के प्रति कुछ कम कठोर हो सके और उस के जीवन और संघर्ष की कहानी को

तुम कुछ अधिक सतुलित परिप्रेक्ष्य में देख सको। चैसमैन की जीवन-गाथा के मुख्य सूत्र क्या हैं? तुम उन्हें जानते तो हो, पर शायद उस परिप्रेक्ष्य में नही जो अब समूची कहानी और सघर्ष के अन्तिम चरण का ज्ञान प्राप्त करने के बाद सामने आता है। मत समझना, कि मैं अपने दृष्टिकोण के सही होने का दावा कर रहा हूँ।

जैसे अभी भी देख रहा हूँ कि चैसमैन, ओठो पर मुसकान लिये, धीरे-धीरे मजबूत कदम रखता हुआ, सैन क्वेंटिन जेल के ग्रीन-रूम की ओर बढा चला जा रहा है जहाँ गैस-चेम्बर में मौत का सामान तैयार रखा है। लम्बा कद, भरा गठा शरीर, पीला-सा रग, बाज की सी लम्बी टेढी नोकदार नाक, ढले ढले होठ, आरपार देखने वाली आँखें, चालीस के लगभग आयु—यह कोई हताश कैदी है जो मौत की ओर जा रहा है या कोई हठीला डायरैक्टर जिस की प्रतीक्षा में दफ्तर के अफसर बेचैन बठे हैं?

छुरा यदि सोने का हो तो क्या पेट की काट सुखदायक हो जाती है? मगर, सैन क्वेंटिन जेल के अधिकारियों ने मौत के घर को सचमुच 'ग्रीन रूम' बना रखा है—खूब आकर्षक हरा रग, जैसे वन महोत्सव का आयोजन हो। गैस-चेम्बर का रग अन्दर से मोतिया मोतिया, मौत की कुर्सी बडी नर्म-नर्म, वातावरण बडा स्वप्निल-स्वप्निल। कुरसी के नीचे एक स्वच्छ पात्र में तेज़ाब भरा है, तेज़ाब के ऊपर साइनाइड विष की टिकियाएँ झोली में लटक रही है। यन्त्र घूमेगा तो झोली की गाँठ खुल जायेगी, टिकियाएँ तेज़ाब में हिलोरें उठाएँगी, एक अदृश्य धुआँ लहराने लगेगा, एक मधुर गन्ध उठेगी जस आडू के फूल सूँघे जा रहे हो

२ मई १९६०। चैसमैन गद्दीदार कुरसी पर बैठ चुका है। मुसकान कायम है। आँखें बन्द हैं।

उधर, कोर्ट में चैसमैन का वकील जज के सामने बहस का आखिरी दाव खेल रहा है। उस की चीख पुकार है कि केवल ३० मिनिट की मोहलत दे दी जाये और केस का नया पॉइन्ट सुन लिया जाये। जो मुकदमा १२ साल तक चला है, जिस में १५ बार अपील सुनी गयी है, जिस में ८ बार मौत का हुक्म निकाला जा चुका है और हर बार अपील के फैसले तक चैसमैन को मौत के दरवाज़े से वापस लौटा लाया गया है तो अब इस ९वी अपील में ३० मिनिट का समय क्या बडी बात है! जज ने प्रार्थना स्वीकार कर ली। चैसमैन गैस चेम्बर की कुरसी पर जा चुका है एक मिनिट की भी देर भयकर है। जज के सेक्रेटरी ने बिजली की-सी चाल से जेल के टेलीफोन का नम्बर मिलाया घबराहट में थोडी चूक हो गयी तत्काल पलट कर दूसरी बार नम्बर मिलाया "वाडन, सज़ा रोको। ३० मिनिट की मोहलत मिली है।" "अफसोस है, सेक्रेटरी, जहर की टिकियाएँ तेज़ाब में छूट चुकी हैं, अभी कुछ सैकेंड पहले ही।"

और, चैसमैन की जीवन लीला समाप्त हो गयी।

याद है, शान्ता, तुम ने एक दिन कहा था : "चैसमैन ने क़ानून का मजाक़ बना रखा है और जिस तरह वह १२ साल तक क़ानून के साथ खेला है, इसी तरह आगे भी खेलता जायेगा। एक दिन सहज मौत उसे उठा ले जायेगी, लेकिन अपील उस की किसी-न-किसी कोर्ट में खड़ी रहेगी।" आज उसे क़ानून ने दुनिया से उठा लिया और किसी कोर्ट मे भी अब उस की अपील बाक़ी नहीं रह गयी है, लेकिन सचमुच इन्सानियत के कोर्ट मे आज वह अपनी अपील छोड़ कर चला गया है। क्योंकि जिन्दगी के आखिरी दौर मे उस ने चैसमैन के अच्छे-बुरे होने या मृत्यु-दण्ड पाने न पाने के प्रश्न को उस बड़े सामाजिक प्रश्न से अलहदा कर लिया था – जिस की भूमिका उस ने अपने १२ साल के जीवन-मरण के संघर्षशील दिनों मे बनायी थी। उस का कहना था कि किसी भी व्यक्ति को मौत की सजा देना न्याय नही है, प्रतिहिंसा है।

मुझे उस पत्र की प्रतिलिपि मिल गयी है जो चैसमैन ने कैलीफोर्निया के गवर्नर पैट ब्राउन को इसी साल के शुरू मे लिखा था, जब ब्राउन ने राज्य की विधान-सभा के सामने प्रस्ताव रखा था कि वह विचार कर के निर्णय दे कि मृत्यु-दण्ड का क़ानून क़ायम रखा जाये या रद्द कर दिया जाये। गवर्नर ब्राउन को चैसमैन ने लिखा था :

"....मैं ने बराबर सोचा है कि मैं कौन-सा रास्ता अपनाऊँ जिस से मृत्यु-दण्ड सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण सामाजिक प्रश्न को उस व्यक्तिगत प्रश्न से अलहदा कर सकूँ जिस का सम्बन्ध चैसमैन से है—चैसमैन जिस के बारे में सोचते और बात करते समय लोग बौखला जाते हैं। मैं ने फ़ैसला किया है कि मृत्यु-दण्ड की समस्या के साथ जनता का जो पागलपन और क्रोध संलग्न हो गया है उसे यदि मेरे प्राणों की आहुति द्वारा शान्त किया जा सकता है तो मैं विधान सभा के सदस्यों से यह प्रार्थना करूँ कि वे क़ानून में इस बात का प्रबन्ध कर लें कि सन् १९५० में या उस के बाद जिस-किसी को मृत्यु-दण्ड की सज़ा घोषित हो चुकी है—(शान्ता, तुम्हें ध्यान है न कि चैसमैन को सन् १९४८ में ही मृत्यु-दण्ड घोषित हो चुका था, इसी लिए इस छूट का प्रभाव उस के केस पर नहीं पड़ेगा—दिवाकर) और उस सज़ा को अभी अमल में नहीं लाया गया हैं, उस की 'मृत्युदण्ड' की सज़ा 'आजीवन क़ैद' की सज़ा में परिवर्तित मान ली जायेगी। मैं संसार के सामने प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं इस क़ानून को किसी भी कोर्ट में चुनौती नहीं दूँगा, न अपने वकील को ऐसा करने दूँगा।

मैं ख़ुशी से १०,००० गैस-चेम्बरों की मौत मरने को तैयार हूँ अगर यह सचाई लोगों के मन में घर कर सके कि मौत की सज़ा के क़ानून को रद्द करने का अर्थ यह नहीं होता कि हम हत्या के अपराधों को प्रोत्साहन दे रहे हैं। मौत की सज़ा से हत्या की वारदातें रुकती नहीं हैं, न इस से समाज की रक्षा होती है। बल्कि, समाज अरक्षित रह जाता है क्योंकि जब तक जल्लाद का या

गैस चेम्बर का अस्तित्व है समान इस धोखे में रहा चला जाता है कि अपराधी को दफन करने के साथ-साथ हम ने समस्याओं को भी दफना दिया है।"

जिस समय गवनर ब्राउन ने यह प्रश्न विधान-सभा के सामने रखा उस समय चैसमैन के प्रति जनता का क्रोध चरम सीमा पर था। विधान सभा ने यह प्रश्न एक क़ानूनी उप-समिति के सुपुर्द कर दिया। उपसमिति भी इस प्रश्न को चैसमैन के व्यक्तित्व से अलहदा न कर सकी। ७ मत इस पक्ष में थे कि कानून पर विचार किया जाये, ८ मत विपक्ष में थे। प्रश्न टल गया और आज चैसमैन अपने संघर्ष को अधूरा छोड कर चला गया है।

सोच रहा हूँ इस अपराधी चैसमैन के अजेय साहस और मौत से जूझने को न चुकने वाली क्षमता की बात। इन १२ वर्षों में सैन क्वैंटिन की जिस २४५५ नम्बर की काल-कोठरी में रह कर इस ने मृत्यु की चुनौतियों को ललकारा वहाँ के वातावरण की कल्पना तो करो, शान्ता! एक दिन इसी साल जब वे दोनों खुफ़िया पुलिस के आदमी—गूसेन और फार्स्स—जिनकी साक्षी पर चैसमैन को सन् १९४८ में मौत की सज़ा सुनायी गयी थी—उस से मिलने जेल में आये ('लाइफ' मैगज़ीन ने विशेष प्रबन्ध कर के दोनों व्यक्तियों को यह जाँचने के लिए भेजा था कि इन १२ सालो में चैसमैन में परिवर्तन हुआ है या अभी भी उस की 'अपराधी वृत्ति' जागृत् है), तब, बातचीत के दौरान में चैसमैन से गूसेन ने पूछा था—"'क्या तुम अब भी हम लोगों से नफ़रत करते हो, समाज से विद्वेष रखते हो?"

चैसमैन ने उत्तर दिया था

"पिछले १२ बरसों से मैं जिन परिस्थितियों में रह रहा हूँ उन की तो तुम कल्पना भी नहीं कर सकते। सोचो, इन १२ सालों में कितने सारे मुकदमे तुम्हारे हाथों से गुज़रे, कितने बच्चों को तुमने जन्म दिया, कितना सारा जीवन जिया! और, इन सब कामों में जमीन के कितने बडे हिस्से में तुम रहे, घूमे फिरे? दूसरी ओर, मेरी कोठरी का भूगोल केवल इतना ही रहा ४॥ फीट चौडाई, १०॥ फीट लम्बाई और ७॥ फीट ऊँचाई। इतनी तंग जगह में किसी बड़ी नफरत को पनपने की गुंजाइश ही कहाँ? और इनसान मैं अभी भी हूँ। अभी भी मेरा मिज़ाज गरम हो जाता है मैं उन सीखचों को देख सकता हूँ और लगता है कि मैं अपना सिर टकरा कर या हाथों का ज़ोर आजमा कर इन्हें तोड कर निकल आऊँ। ऐसी जगह पहुँच कर आदमी साग सब्जी की तरह ज़िन्दा रहने का आदी हो जाता है। अगर मुझ में वह चुनौती न होती, वह मुकाबले की ताक़त न होती, अगर मैं अपनी स्थिति को निश्चेष्ट होकर मान बैठता तो अब तक कभी का मर चुका होता।"

—

—याद तो करो, चैसमैन ने इस तंग काल-

कोठरी में १२साल रह कर क्या किया ? जब हर क्षण आँखों के आगे मौत का घुप अँधेरा छाया था, चैसमैन ने जीवन की ज्वलन्त लौ के ही दर्शन किये। वहाँ बैठ कर उस प्राइमरी पास व्यक्ति ने क़ानून की दस हजार पुस्तकों का अध्ययन किया। १९४८ मे अपहरण, बलात्कार, यौन-अपराध और डाकाज़नी के १७ अपराध-आरोपों में उसे जो २ मौत की, २ आजीवन कारावास की और ६० साल की अतिरिक्त क़ैद की सज़ाएँ हुई थीं, उन से सम्बन्धित क़ानून के हर नुक्ते का उस ने बारीक़ी से मनन किया। अमरीका के एक अत्यन्त प्रसिद्ध क़ानून-विशेषज्ञ का मत है : "मै चैसमैन की गणना उन व्यक्तियों में करता हूँ जिन्हें मैं अत्यन्त तीक्ष्ण बुद्धि और अत्यन्त कुशल तथा अनुभवी कानूनदाँ मानता हूँ।" इसी कोठरी में बैठ कर चैसमैन ने शॉर्टहैण्ड का इतना अच्छा ज्ञान और अभ्यास प्राप्त किया कि शॉर्टहैण्ड के विशेषज्ञ भी चकित रह गये। बात यह हुई कि सन् १९४८ मे जब चैस-मैन पर मुक़दमा चला तो कोर्टरिपोर्टर अर्नेस्ट पैरी मुक़दमे के नोट्स प्रायः शार्टहैण्ड में लेता था। पेरी के हाथ की लिखी रिपोर्ट २००० पृष्ठों में है। दुर्भाग्य से पैरी की मृत्यु हो गयी और उस की लिखी रिपोर्ट को एक दूसरे स्टेनो ने साधारण पठनीय लिपि में टाइप किया। चैसमैन को निश्चय था कि किसी दूसरे के हाथ की लिखी इतनी बड़ी शार्टहैण्ड की रिपोर्ट अगर कोई अन्य व्यक्ति नकल करेगा तो पढ़ने में ग़लती जरूर करेगा। चैसमैन ने नये रिपोर्टर से जिरह कर के सिद्ध कर दिया कि उस की रिपोर्ट में बेशुमार अशुद्धियाँ हैं! चैसमैन ने अपनी १६ अपीलें स्वयं लिखीं। तीन एटर्नी (वकील) उस के आदेश पर ही मुकदमे की पैरवी करते थे। वह प्रति दिन १८ और २० घण्टे काम करता था!

कालकोठरी के इन १२ वर्षों की सब से बड़ी उपलब्धि है वे चार पुस्तकें जो चैसमैन ने वहाँ बैठ कर लिखी और जिन के प्रकाशन ने चैसमैन को एक प्रभावशाली लेखक ही नहीं प्रमाणित किया, उस के लिए लाखों व्यक्तियों की सहानुभूति भी प्राप्त की। १९५४ मे जब उस की पहली पुस्तक 'Cell 2455 Death Row' प्रकाशित हुई तो तहलका मच गया। मौत से जूझने वाले 'अपराधी' और 'डाकू' कहे जाने वाले व्यक्ति के विचारों में यह बल, भाषा में यह जोर, शैली में यह चमत्कार! पुस्तक की १५ लाख प्रतियाँ बिक चुकी है।

खत बहुत लम्बा हो गया है। इन सब बातों को लिखना शायद अनावश्यक था क्योंकि इस में बहुत कुछ ऐसा है जो तुम जानती हो, बहुत-सा तुम पढ़ चुकी होगी। हाँ, स्थितियों का परिप्रेक्ष्य जो मुझे दिखाई दिया उसे एक बार तुम तक इस रूप में पहुँचाने का लोभ मैं संवरण नही कर सका। चैसमैन के जीवन पर अन्तिम निर्णय देने वाला मैं कौन ? क़ानून के निर्णय को ठीक मानना ही शायद सब से अधिक निरापद है। किन्तु क्या क़ानून सदा सही होता है ? कानून इनसान से बड़ा है, पर क्या इनसानियत से भी बड़ा है ? चैसमैन व्यक्ति गलत हो सकता है, पर क्या

सहारा मिलता तो सुधर जाता।"
(मैं इस बात से सहमत हूँ—इन्द्र)

"आज यदि मुझे जिन्दा रहने का अवसर मिलता तो मैं ने अपनी रचनाओं से साहित्य और समाज के प्रति सार्थक योगदान दिया होता।"
(हो सकता है—इन्द्र)

"मैं मानता हूँ कि मेरा भी कुछ योगदान हुआ है। वह इस बात में नहीं कि मैं ने यह प्रमाणित किया हो कि चैसमैन कोई अच्छा आदमी है, बल्कि इस बात को प्रमाणित करने में कि क़ानून चैसमैन की रक्षा कर सकता है। और, अगर यह चैसमैन की रक्षा कर सकता है, तो आप स्वय भी कुछ आश्वस्त रह सकते हैं "
(अर्थात् ?—इन्द्र)

२ कानून भी शायद किस्मत का खेल है। चैसमैन के विरुद्ध यह अभियोग प्रमाणित नहीं हुआ कि उस ने हत्या की है। हत्या न की हो, फिर भी प्राणदण्ड मिले—यह कैलिफोर्निया राज्य का नियम है। वहाँ 'अपहरण जिस में शरीर को क्षति पहुँची हो' के लिए प्राणदण्ड निर्धारित है। सोचता हूँ, यदि चैसमैन भारत में उत्पन्न हुआ होता, तो अपराध के इन्हीं तथ्यों पर प्राणदण्ड से बच जाता।

३ सुप्रीम कोर्ट में तीन जज चैसमैन के विपक्ष में थे, दो पक्ष में। चैसमैन को मौत का दण्ड मिला। एक व्यक्ति की राय पर प्राणों का दारमदार, दो व्यक्तियों की राय निरर्थक समझना चाहिए कि यह कानून का नहीं, गणित और मनोविज्ञान का खेल है।

४ अंतिम दिन जब चैसमैन से पूछा गया "दया की भिक्षा माँगने पर मुक्ति मिल सकती है। माँगोगे ?"

उस का उत्तर था

"मैं कुछ कह नहीं सकता। इस का दारमदार इस बात पर है कि शर्तें क्या हैं। मान लो, मुझ से कहा जाये 'चैसमैन, तुम्हें अभी, पाँच मिनिट के अन्दर ही निर्णय लेना है, यह कमरा छोड़ने से पहले। यदि तुम यह स्वीकार कर लो कि तुम ने ये सब अपराध किये हैं और तुम अब दया की भिक्षा चाहते हो, तो मैं तुम्हारी मौत की सजा को रद्द कर दूँगा।'

मैं नहीं समझता कि मैं इस तरह की कोई बात करूँगा। मैं तो सीधा 'ग्रीन रूम' की तरफ़ चल पड़ूँगा—सही हो या गलत।

इसे अड़ियलपन कहो, अक्ल का दिवालियापन कहो, यह समझदारी हो या नासमझी—१२ साल के इस लम्बे दौर ने मुझे जो भी बना दिया है, इस ४० साल की उम्र में जब कि शायद अभी मुझे २० साल या २५ साल और जिन्दा रहना हो—मैं बस जो हूँ, यह हूँ। सचमुच मेरा यह पूरा विश्वास है कि मैं

[शेष पृष्ठ ६४० पर]

अगर अकबर बादशाह दीने-इलाही का ऐलान करते!

रामकुमार वर्मा



रहमानुर्रहीम ! या हादी ! !

दसवीं हिजरी में फ़तेहपुर सीकरी के इस इबादतखाने की पाक फ़िज़ा मे फ़ैजी, अबुल फ़ज़ल, अब्दुर्रहीम और बीरबल जैसे रतन ! अमीर, सैयद, उलमा और शेख की जमाअत ! इन सब के रूबरू आज हम अपने दिल की मुराद रखना चाहते हैं—दिल की मुराद जिस ने न जाने कितने दिनों से फलने और फूलने की इजाज़त हम से माँगी लेकिन हम देने से इन्कार करते रहे। सोचा, शायद उस मे कोई काँटा हो जो किसी के पाक दामन को चाक कर दे। लेकिन जब सुबह सूरज की किरन निकली तो हम ने देखा कि हमारी मुराद चारों सिम्त मे फैले हुए एक बड़े फूल की शक्ल अख्तियार कर चुकी है। आपलोगों के सामने लहराता हुआ यह अनूप तालाब उस पर शबनम की तरह झूल रहा है। उस फूल में काँटा नहीं है, उस में खुशबू है—खुशबू जो चुभ तो सकती है लेकिन काँटे की तरह नहीं मुहब्बत की तरह, और वह सिर्फ़ दिल मे—दिमाग़ में नहीं। और दिल में जो चीज़ चुभती है, वह बुरी नहीं होती। बीरबल ! वह बुरी नहीं।

हमारी कोई बात अगर अच्छी न लगे तो उलमा और शेख हमे रोक सकते हैं; अमीर और सैयद उठ कर जा सकते हैं; लेकिन हमें यक़ीन है कि इस तरह की कोई बात नहीं हो सकती ! नहीं हो सकती !! हमे किसी की ज़बाँ पर शिकन भी नही दीख पड़ती। तो हम अपने दिल की मुराद जाहिर करेंगे !

यह इबादतखाना आख़िर क्यों बना ? शेख अब्दुल्ला नियाज़ी की झोंपड़ी इस जगह क्या बुरी थी ? लेकिन जिस तरह मिट्टी से रतन निकलता है, उसी तरह शेख अब्दुल्ला नियाजी की झोंपड़ी से यह इबादतखाना उठ खड़ा हुआ। हम ने इसे क्यों बनवाया ? फ़ैज़ी ने मशवरा दिया कि हर जुम्मे को हम आप सब मिल कर इबादत का राज़ समझें। बंगाल का सुलैमान करारानी भी यही करता

था—हम ने उसे शिकस्त दी—खुदा करे उसे दायमुल वजूद हासिल हो। उस की तरह हम भी इबादत का राज समझें।

अबुलफज़ल का कहना है कि हिन्दुस्तान में पहले भी इस तरह की जमाअतें हुई हैं—अशोक, कनिष्क और हर्ष के ज़माने में। चीन में ताइसिंग ने एक जमात में मज़हबी तसफ़िये किये हैं। हज़रत कुबलाखान ने भी पेकिन में सभी मज़हबो के लोगो को इकट्ठा किया था और चीन के अन्धेरे को दूर किया। सिकन्दर लोदो और सुलेमान करारानी की जमाअतें तो ताज़ी मिसालें हैं जिन में दोनो ममले हल किये गये। तब यह जरूरी है कि हमारे इतने बड़े मुल्क में जहाँ बहुत-सी मज़हबी गलतफहमिया फैली हुई हैं, ऐसी कोई जमाअत हो। उसी के लिए यह इबादतखाना आप के सामने है। इस इबादतखाने के मुबाहसे में पहले सिर्फ सुन्नी शरीक होते थे, कुछ अरसे बाद शियाओ को भी शिरकत मिली और अब सुन्नी और शिया के साथ हिंदू, पारसी, जैन, सिख, बौद्ध, यहूदी और ईसाई भी यहाँ अपने अपने मज़हब और धर्म का राज हमें समझाते हैं। कुछ सुन्नियो को यह पसन्द नही आया। क्यो बदायूनी! तुम्हें भी शायद शिकायत होगी? लेकिन इसे हम गलत समझते हैं। अब हिन्दुस्तान हमारा है, इस की हर एक अच्छाई और बुराई हमारी है। अब इस मुल्क में अम्नो-अमान है। जूद और करम हमारी आखें है। बाहर से आने वाले कितने अक्लमन्द लोगो ने इसे अपना वतन बनाया है। इस की हर एक फिज़ा हमारे चैन ओ सुकून के लिए हैं। यह खुदा का नूर है। और बदायूनी! हिंदुस्तान ही क्यो, आप दुनिया पर नज़र डालें। समन्दर पार के इन्सान भी बेदार हो उठे हैं। इस्लाम में मेहदी फिर्का भले ही गलत हो लेकिन अपने पूरे जोर पर है। चीन में मिंग की तरफ आप अपनी नज़र उठायें। ईरान के सूफियो की जमात दुनिया भर में फैल गयी है तुर्किस्तान में सुलेमान के नूर का जल्वा है। फारस में शाह इस्माइल का क्या असर है, और चीन में युग लो ने नयी दुनिया कायम कर दी है, तो हिन्दुस्तान में हज़रते तैमूर का खानदान गफलत की नीद में क्यो कर सो सकता है? हिन्दुस्तान की तवारीख भी सूरज की किरन से लिखी जानी चाहिए, तारीकी की स्याही से नही। अबुल फज़ल हमारी 'आईन' लिखना चाहते हैं। वे भी इस बात को जानते हैं।

इस बेदारी के आलम में हम खानदाने तैमूरिया की हस्ती दुनिया को दिखलाना चाहते हैं

अज़ पये हर गिरिया आखिर खन्दा ईस्त।
मर्दे आखिरबीं मुबारक बन्दा ईस्त॥

अपनी जिन्दगी की आखिरी मंज़िल पर जो नज़र रख सकता है वही बन्दा मुबारिक है। इस जिन्दगी की आखिरी मंज़िल क्या है? हम कहते हैं, जिन्दगी की आखिरी मंज़िल है खुदा के करीब पहुँचना, जो दुनिया के हर ज़र्रे में मौजूद है।

सर पर्दये चर्ख गर नन्दाँ बीं।
दरू शमहाए फ़रो ज़िन्दा बीं॥

इस घूमते हुए आसमान के पर्दे के नीचे इस शमअ को देख, जो रौशन है। अगर हमें मुल्क के कामों से फ़ुरसत मिले और खुदा हमें एक दूसरी जिन्दगी बख्शे तो हमारी ख्वाहिश है कि हम इस पर पूरे तौर से कह सकें। तो यह शमअ सब जगह रौशन है। इसी रौशनी की किरन बाँधने की कोशिश हर एक मजहब ने की है। मंजिल एक है, रास्ते जुदे-जुदे है। कोई सीधा है, कोई टेढ़ा, कोई दाहिने है, कोई बायें। मंजिले मक्सूद एक है। तो यह रास्ते का झगड़ा है, मंजिल का नही। हम ने देखा है कि चीज वही है, बंदिश जुदी-जुदी है। और इसी बंदिश ने इन्सान के सैकड़ों टुकड़े कर दिये है। खुशबू को काट कर रख दिया है, किरन के हिस्से कर दिये है, और फ़लक के दामन मे धब्बे लगा दिये है। हम कहेंगे कि नफ़्स के दायरे मे रूह को मिटा दिया है। हमारी इस बात से शेख फ़ैज़ी के ओठों पर मुसकराहट है। शायर है न! दुनिया के अजीबोग़रीब शायर!

तो हम कह रहे थे कि दुनिया का वह सब से बड़ा मज़हब समझा जाना चाहिए जो इन रास्तों को नहीं देखता, मंजिले मकसूद को देखता है!

गर विसाले दोस्त मी दारी हवस।
नफ़्स रा बा रूह गरदाँ हम नफ़स॥

अगर तू अपने दोस्त से विसाल की हविस रखता है तो तू रूह पर नफ़्स को लुटा दे। यही वजह है कि इस इबादतखाने में आप सब अपने दोस्त से विसाल की हविस रखते हैं और नफ़्स को रूह पर लुटाने के लिए आये हैं। जब रूह ही मुस्तक़िल है तो नफ़्स की कोई हस्ती नहीं। जो नफ़्स को तरजीह देते हैं वो रूह को पहचानते नहीं। इसी लिए हम दूसरे को शक की निगाह से देखते है। हम ने इस शक को मिटाने की दवा ईज़ाद की है। हम ने अपने दीन को इलाही के जल्वे से रौशन किया है, जिस में रूह की कोई हस्ती नहीं है और रूह की कोई क़िस्म नहीं है और रूह की हस्ती के सामने नफ़्स की कोई हस्ती नहीं है। यह दीने इलाही है! इलाही को पहचानने का सब से आसान रास्ता है!!

बदायूनी! तुम समझते होगे, हमने इस्लाम के असूलों के खिलाफ़ कुछ कहा। हरगिज़ नहीं। हम खुदा के बन्दे हैं लेकिन हम खुदा के नूर को रवायतों में महदूद नहीं करते। हम समझते है कि खुदा के नूर ने इस दुनिया मे कितने खूबसूरत तरीकों से अपने को रौशन किया है।

बजिल्ले रूह अज़ शौक़ व हक्क़ोवसूल व हजरते करीम! शस्त और साफ़ नजर ही इस दीन की सब से बड़ी सिफ़्त है। अगर हम मरकज़ पर अपनी पाकीज़ा नजर कायम रखें तो हम कभी इधर-उधर नहीं भटक सकते। हमारा रास्ता सीधा और साफ़ है। जो सूफ़ी है वह अपने सफ पर क़ायम है, वह मुफ़ पहने या न पहने।

हम कोई नयी बात नहीं करना या कहना

चाहते। जिस तरह बीरबल ने कहा—बिखरे हुए मन को जोड कर एक खूबसूरत माला तैयार करना ही हमारा मकसद है। इसी लिए अपने इस दीनेइलाही के लिए न हम किसी खास क़िस्म की मस्जिद तैयार करना चाहते है, न कोई खास मुल्ला के मुजाहिद की ज़रूरत ही समझते हैं। कुरान हमारे लिए भी उतनी ही पाक है जितनी इस्लाम के सभी बन्दों के लिए। और यह भी हम कह देना चाहते है कि दीनेइलाही क्या, किसी भी दीन में शामिल होने के लिए किसी भी शख्श के लिए ज़ोरो जबर्दस्ती की शर्त नही हैं। इस सिलसिले में हम एक बार फिर वही बात दोहराना चाहते हैं, जो हम ने सलीम से कही थी, कि कुरान की आयत है कि अगर खुदा चाहता है तो सारी दुनिया इस्लाम को अपना दीन मानती, लेकिन जब खुदा ने ऐसा नही चाहा तो बन्दे को क्या हक है कि वह लोगो को इस्लाम में आने के लिए जबरदस्ती मजबूर करे? अक्ल और अदब से जो इस्लाम में आना चाहता है, ज़रूर आये। आप इसे समझें कि इस दुनिया में १०० में ८० आदमी काफिर या हिन्दू है। अगर मैं तलवार लेकर इन ८० आदमियो को कत्ल कर दूँ तो यह खुदा का बन्दा अबुलफतह जलालउद्दीन मुहम्मद अकबर बादशाह ग़ाज़ी क्या सिर्फ दुनिया के पांचवें हिस्से का ही खुदा का नूर समझे और सारी खिलक़त को जिस खुदा ने इतनी खूबसूरती से रूह अता फरमायी है, हमेशा के लिए गारत कर दे?

इसी लिए दीनेइलाही की ज़रूरत है जिस में किसी तरह की ज़ोर-ओ जबर्दस्ती नही है। हमारे सीने में इस दीने इलाही की रोशनी इसी इबादतखाने के मुबाहसो से आयी हैं। जनाब मुबारक, फैज़ी और ताजुद्दीन ने इस रोशनी को तेज़ किया है और दिल से अँधेरा दूर किया है। अब हम बीरबल की नज़र से भी खुदा देख सकते है, तानसेन के सुर में भी कायनात के जौहर का निखार पा सकते हैं। विश्वनाथ की तसवीरो से भी ज़िन्दगी का राज़ समझ सकते हैं और शेख फैज़ी के योगवाशिष्ठ के तरजुमे से भी खिलकत की खूबी देख सकते हैं। इन के सिवाय आप ज़ेंद अवेस्ता के जानकार दस्तूर महयर जी राना के ज़रिये आफताब और आतिश में हक की परस्तिश कर सकते हैं। जैन जगद्गुरु हीर विजय और बौद्ध 'समन' की अहिंसा में हम खुदा की रहमत देख सकते हैं। सिख गुरु उमरदास के जप में हम ज़िक्र का जलवा महसूस करते हैं। दीने-इलाही में खुदा की रहमत हम ने दिल के कोने-कोने में फूलती-फलती देखी है। हर दिल उस के लिए अज़ीज है, हर शै उस के लिए तसवीर है।

हमें एक बात याद आ गयी। बदायूनी ने एक बार हम से पूछा कि तसवीरो से हम नफरत क्यो नही करते? हम ने फ़ौरन ही जवाब दिया कि मुसव्विर ने खुदा को पहचानने का एक नया तरीक़ा ईजाद किया है। जब वह किसी की तसवीर खीचता है तो खूबसूरती का जाल बिछा देता है—आँख, नाक, मुँह बनते चले जाते है, लेकिन खूबसूरत तसवीर बना कर भी वह उस में जान नही डाल सकता।

और ख़ुदा छोटी से छोटी और बड़ी से बड़ी ख़ूबसूरत या बदसूरत शक्ल में जान डाल सकता है, तो मुसव्विर समझता है कि ख़ुदा का जल्वा क्या है ! बदायूनी चुप हो गये । हम बदायूनी की लियाक़त की इज़्जत करते हैं, लेकिन हमें अफ़सोस है कि बदायूनी हँस नहीं सकते । ख़ुदा के क़रीब पहुँच कर उन के लबों पर मुसकराहट के फूल क्यों नहीं खिलते ?

हम कहाँ से कहाँ पहुँच गये ! हमें देर हो रही है । शायद आप लोग भी जाना चाहते हों, लेकिन आज हम मसर्रत महसूस करते हैं कि हम ने अपने दिल में उठनेवाले जज़बात का इज़हार किया। दीनेइलाही दुनिया का दीन है । बशर्ते कि दुनिया ख़ुदा के ज़ात और सिफ्त समझे । आप पूछ सकते हैं कि दीनेइलाही का रास्ता क्या है ? रास्ता आप अपने दिल से पूछिए; और मुझे कामिल यकीन है कि हर एक इन्सान उस रास्ते को जानता है, लेकिन उस पर अमल नहीं करता । हर एक दीन और धर्म के मुबाहिसों से हम ने सिर्फ़ दस बातें चुनी हैं । सुनिए—

पहली है, जूद और करम । दरियादिली और मेहरबानी । क़ुरान की हदीस है कि जब तक तुम अपनी सब से प्यारी चीज कुर्बान नहीं कर सकते तब तक तुम हकीक़त से वाकिफ़ नहीं हो सकते । इसीलिए हरएक को दरियादिल और मेहरबान होना जरूरी है ।

दूसरी बात है, बुरे काम करने वाले को माफ़ कर देना और उस के ग़ुस्से का जवाब शीरीं ज़बान से देना । अगर तुझे कोई जहर दे तो तू उसे शक्कर दे ।

कम म बाश अज़ दरख़्त साया फ़गन ।
हर कि संगत ज़नद समर ब बख़्शश ।।

तू साया देने वाले दरख्त से कम न साबित हो । जो तुझे पत्थर मारे, उसे तू फल दे ।

तीसरी बात है, दुनियावी ख्वाहिशात से तू परहेज़ कर । समझ ले कि दुनियावी जिन्दगी एक खेल और बाजी है ।

अलहज़र अज़ हुब्बे दुनिया अलहज़र ।
बहरे ना नो ज़र मखुर, ख़ूँने जिगर ।।

मुहब्बते दुनिया से तू परहेज कर, रोटी और दौलत के ख़ातिर तू अपने जिगर का ख़ून मत पी ।

चौथी बात है, दायमुल वजूद के लिए तू इस दुनियावी जिन्दगी की कैद से नजात हासिल कर ।

पाँचवीं बात है, कामों को तू अक्ल और अदब से अंजाम दे । इस का हम पहले जिक्र कर चुके हैं ।

मर्द आखिर बीं मुबारक बन्दा ईस्त ।

छठी बात है, दुनिया में ख़ुदा का ऐजाज तू तभी देख सकता है जब तू होशियारी से काम ले ।

सातवीं बात है, सब के लिए नर्म जबान, और खुश कलाम रखना जरूरी है ।

आठवीं बात है, दूसरे की बात हमेशा अपनी बात से मुकद्दम समझो ।

नवीं बात है, दीन के लिये तू दुनिया को तर्क कर दे और अपने ख़ुदा पर छोड़ दे ।

दसवी, और आखिरी बात यह है कि ऐ बिरादर, अगर तू अपने दोस्त से वस्ल चाहता है तो तू रूह और नफस को एक में मिला दे।

बस, इन्ही दस बातों में दीनेइलाही है।

खुदा ने हमें यह मुल्क दिया। इसे हम शीरी जबान दें! मुहब्बत दें!! इबादत दें!!!

अल्लाहो अकबर!

[अक्तूबर १९६०]

[एक डाक दो खत पृष्ठ ६३४ का शेषांश]

इस की अपेक्षा मरना ही पसन्द करूँगा।"

५ तुम्हें मालूम है, दिवाकर और शान्ता, कि मैं निर्णय देने में सदा हिचकिचाता हूँ। 'जज नौट' बाइबिल का आदेश है। मैं ने कुछ विचार सामने रखे हैं। निर्णय अपना-अपना अलग से लेना। क्या ठीक है और क्या गलत, यह सर्वज्ञ ही जान सकता है। —प्यार और आशीर्वाद

दिल्ली, ३ जून १९६० इन्द्र

[अगस्त १९६०]

तिष्यरक्षिता की डायरी

नरेश मेहता

●

[यह डायरी तिब्बत के एक बौद्धमठ से अपनी पिछली तिब्बत यात्रा में मुझे प्राप्त हुई थी। मैं ने इस का मात्र सम्पादन किया है। इस की प्रति अत्यन्त जीर्ण-शीर्ण हो गयी है। इसे पढ़ने का काम मेरे एक बौद्ध भाषाविज्ञ मित्र ने किया है।

—लेखक]

पाटलिपुत्र : राजभवन
वैशाख पूर्णिमा : मध्यरात्रि

आज अब लौटना हुआ है—धर्मराजिकोत्सव से।

नयनतारा, दासी ही नहीं है, बल्कि अच्छी मित्र है। कितना शीतल, सुगन्धित जल था, स्नान मे कितना सुख मिला! आज दिन भर लू चलती रही। मेघ घिरने की ऋतु आ चली है। आज की यह क्षीण गंगा तब इसी गवाक्ष के नीचे से प्रवाहेगी। अब जा कर वातास थोड़ी शीतल है। हवा मे पके आमों की कैसी मादक गन्ध घुली हुई है! धर्मराजिकोत्सव आज जा कर कहीं शेष हुआ। एक सप्ताह तक पाटलिपुत्र चषक की भाँति उफनाता रहा। आर्यपुत्र अत्यन्त सन्तुष्ट है। बहुत थक गयी हूँ, सम्भवतः इसी लिए नींद नहीं आ रही है। एक सप्ताह के इस आयोजन ने तो एकदम ही थका डाला है। सूर्योदय से सूर्यास्त तक छत्र-चामर के नीचे मर्यादित बैठे रहने से बड़ा कोई दुःख नहीं। लेकिन यह दुःख ही कितना मादक तथा आकर्षक है! चारों ओर का जयकार आप को विस्तार देता है और राज्यासन, देदीप्यमान एकनिष्ठता। देश-विदेश के विनम्र होते हुए राजमुकुट, बलाधिकृतों के विद्युत्फल की समर्पित खड्ग, रत्नों और वस्त्रों के असंख्य थाल और विभिन्न दास-दासियाँ—लगता है पृथिवी, दासी बन कर समर्पित है। लोगों को विनय ही शोभा देता है और आप की उस विनय को स्वीकार करना।

•

•

आज का धर्मराजिकोत्सव का आयोजन अद्वितीय था।

क्योकि एक महान् मौर्य सम्राट् ने बौद्ध प्रव्रज्या ली। आज समस्त मौर्य साम्राज्य में चौरासी हजार धर्मराजिको (स्तूपो) की स्थापना की गयी। सिंहध्वज रोपे गये जिन पर "देवानाम्प्रिय" के "अनुसयान" खुदे हुए है। आज उपरान्त मौर्य सम्राट् महाराज अशोक, "प्रियदर्शी अशोक" कहे जायेंगे। सम्भवत मैं भी उन्हें अब आर्यपुत्र नही कह पाऊँगी, इस लिए तिष्यरक्षिता आज से पतिहीन पत्नी, सम्राट्हीन पट्टमहिषी ही मानी जायेगी क्योकि भिक्षु तो सम्बन्धहीन होते है। क्या मै भिक्षुणी हो सकूँगी? वृद्धापकाल कापाय में सुन्दर लगता है लेकिन यौवन तो नही न? आर्यपुत्र कापाय धार चुके लेकिन क्या तिष्यरक्षिता ऐसा कर सकती है? क्या उस के काचन तन पर स्वय कापाय सुलग न उठेगा? और क्यो? किस प्रयोजन के लिए?

चारो ओर कितनी शान्ति है। गवाक्ष के बाहर विशाखा चाँदनी कैसे हौले-हौले बरस रही है। आकाश चाँदनी में स्फटिक लग रहा है। पट्टमहिषी होने पर भी सहज पत्नी के सुख से वचित। सम्भवत कोई भी सब कुछ प्राप्त नही कर सकता है। हमें चुनना होता है। यह हम पर निर्भर करता है कि हम क्या चुनते है।

इस उत्सव के लिए यूनान और मिस्र ने विशेष रूप से अपने राजवशी शिष्टमण्डल भेजे। अन्य पडोसी राष्ट्रो ने भी अपने आमात्य, राजदूत आदि भेज कर मैत्री प्रदर्शित की। कलिंग का राजकुमार नीलरत्न भी उपस्थित था। उसे देख कर मोह होता है। लगता है कलिंग बहुत सुन्दर प्रदेश है। सुना है उस का सिन्धु तट बडा ही रमणीक है। कभी जाना चाहती हूँ। नीलरत्न कितना सरल है। उसे किंचित् भी राजसी गरिमा नही आती। अपने हाथ के मयूरपख से कितना वरजती रही कि सम्राज्ञियो को घूरा नही जाता—किसी सीमा तक मूर्ख भी है। हँसता है तो लगता है कि जैसे एकान्त सिन्धु-जल हँस रहा हो।

पाटलिपुत्र के वैभव की आज पराकाष्ठा थी। नगर और आकाश अभी भी आलोकित है। कितने तोरण, द्वार, वन्दनवारें, मनोरजन आदि आयोजित थे। मार्ग के दोनों ओर दर्शनार्थी प्रजा की पक्तियाँ। गगनभेदी जयकार। रथ पर लौटते हुए आज सहसा ध्यान आया कि यह जयकार किस की की जा रही है क्या उस सम्राट् की जो कि भिक्षु हो गया या सम्राज्ञी की, जो कि अभी भी पट्टमहिषी है? सम्राट् के पास त्यागने को कितनी वस्तुएँ थी—साम्राज्य, पत्नी, परिवार, युद्ध, दास दासियाँ, हिंसा। इस त्याग की जयकार न होगी तो किस की होगी? मै क्या त्यागती? एक वृद्ध पति था, सो उस ने ही त्याग दिया। और त्याग, वृद्धापकाल को ही शोभता भी है।

•

•

आज आठ बरस हुए विवाह को। क्या इसी

छोड़ देने को वृद्धापकाल में विवाह लाये थे ? एक दिन भी तो हम पति-पत्नी की भाँति नहीं रहे। लेकिन आज उन सब बातों पर सोच करना व्यर्थ है। निद्रा नहीं आ रही है। कानों में उत्सव की ध्वनियाँ जैसे भर गयी हैं। दृश्य और लोग आँखों में तिर रहे हैं। झँझरी के पार नयनतारा कितनी निश्चिन्त सो रही है ! कोई कामना नहीं, कोई महत्त्वाकांक्षा नहीं—सब से हीन, इसी लिए नयनतारा के लिए रात्रि, नींद है और दिन,—दिन है। अभी मुझे स्वरमण्डल पर विहाग सुना कर गयी। समझी मैं सो गयी और आप भी जा कर सो गयी। सब सो गये हैं। दीर्घाएँ तथा भित्तियाँ तक सो रही हैं। केवल गवाक्ष वाला दीपाधार ही आलोकित है। बाहर निर्मल एकान्त प्रशस्त है। नीचे कहीं दूर पहरुओं का "सावधान" चौका जाता है। गंगा की क्षीण धारा में कोई बालू भरी नौका काशी की ओर जा रही है। मछुआ कितना तन्मय गान कर रहा है ! सम्भवत: उस की युवती पत्नी मस्तूल के खम्भ से सटी अपने पति के संगीत मे डूबी होगी और पति की साँचे ढली देह के लिए आकुल भी।—ओ कुणाल ! मेरे प्रेम को तुम ने 'अभिगमन' कह कर तिरस्कृत किया। क्यों किया ? मैं तुम्हारे पिता की पत्नी अवश्य हूँ लेकिन तुम्हारी माता तो नहीं। तुम मुझे अपनी ही दृष्टि में गिरा देना चाहते थे ? लेकिन क्यों ? कही तुम्हे अपनी सुन्दर आँखों पर गर्व तो नही है ?

तुम धर्मराजिकोत्सव मे आये हुए हो, लेकिन भूल कर भी मेरे भवन नहीं आये परसों महाराज के सम्मान-मे मैं ने भोज दिया उस में भी तुम सम्मिलित नहीं हुए। अपनी पत्नी कांचनमाला को भी नही आने दिया; क्यों ? एक बार ही आते तुम तो देखते कि, ओ मेरे पति के पुत्र मेरे प्रेमी ! तुम्हारे पिता की पत्नी तुम्हारी प्रेमिका तिष्यरक्षिता अनुक्षण तुम्हे स्मरण करती है। जानते हो कुणाल ! मेरी इन बाहुओं में बँधने के लिए यूनान के सम्राट् तक लालायित हो सकते हैं ? एक संकेत में साम्राज्यों का उत्थान-पतन कर सकती हूँ ? तुम्हे किस बात का गर्व है ? युवराज होने का ? कुणाल पक्षी की भाँति नयन पा जाने का दर्प है ? मैं ने तुम से याचना की और तुम मेरा तिरस्कार कर सके—इस बात का घमण्ड है ? तो कुणाल ! तुम भी याद रखना कि तुम ने तिष्यरक्षिता का तिरस्कार किया था। जाओ, तक्षशिला जाओ, प्रशासक बन कर रहो, देखती हूँ कितने दिनों तक ! मैं या तो कामना करती नहीं हूँ और कामना करने के बाद पराजित होना नही जानती। मैं अशोक नहीं कि क्षमा, करुणा, अहिंसा मे दीक्षित हो जाऊँ। यदि तुम मुझे प्राप्य न हो सके तो किसी अन्य के भी न हो पाओगे।

कुणाल ! मै फिर कहती हूँ कि आ जाओ। बस, एक बार अपने उन कुणाल-नयनों से मुझे एक प्रेमी की भाँति निहार लो। मै इतनी सुन्दर आँखों वाला पुत्र नहीं, प्रेमी चाहती हूँ।

मैं नही जानती कि मेरी इस वांछा का

क्या होगा।

कल यूनान के शिष्टमण्डल ने भोज दिया है। महाराज की इच्छानुसार ही भोज में केवल दो मोर और एक हरिण ही होगे। महाराज इसीलिए पूर्ण अहिंसा के पक्षपाती नही है, वे तो केवल विहिंसा चाहते हैं। इस बार पशुओ का समाज-प्रदर्शन भी फीका ही रहा। धर्म की भी सीमा होगी, क्या महाराज इस को नही समझते ?

क्या स्वर्गीय सम्राट् चन्द्रगुप्त और बिन्दुसार के साम्राज्य का यही होना था ?

आश्चर्य नही कि महाराज किसी दिन साम्राज्य ही विहारो की सेवा के लिए दे दें। लेकिन आज तो नही दे रहे हैं न ? सप्तर्षि डूबने ही वाले है। पलकें कडवाहट से भर उठी है। अग अग में कितनी थकान भर गयी है। नयनतारा को जगा कर थोडा सिर दबवा लिया जाये तो नीद अच्छी आयेगी।

ज्येष्ठ प्रतिपदा रात्रि

दिन भर वही व्यस्तता रही। आज एक यूनानी नृत्य भी देखने को मिला। मौर्य साम्राज्य के उत्कर्ष से यूनान कोई प्रसन्न नही है। यूनानी, तक्षशिला पर दृष्टि लगाये हुए है। तक्षशिला में आमात्य लोगो ने विशेष अच्छा व्यवहार नही किया था। सभी असतुष्ट थे इसीलिए युवराज को वहाँ भेजा गया ताकि सीमा पर राजवश का सम्पूर्ण अधिकार बना रहे। कुछ भी हो, यूनानी प्रसन्न जाति है। जीवन को उत्सव मानती है। महाराजा से इस बार फिर प्रार्थना करना चाहते है कि कुछ ज्योतिषी, कारीगर, भवन निर्माता वे यहाँ से अपने देश ले जाना चाहते हैं। मुझ से इस बारे में प्रातिसाक्ष्य चाहते हैं।

वृष्टि की प्रतीक्षा है। गरमियो में पाटलिपुत्र कैसा झुलस जाता है !

एकाध दिन में कुणाल तक्षशिला चला जायेगा। आज वह यूनानी भोज में मात्र प्रदर्शन के लिए ही उपस्थित हुआ था। जिस समय मै यूनानी राजकुमार से आलाप कर रही थी वह मान सौजन्यता निर्वाह के लिए ही आया। मै उस पर क्रोध करना चाहती हूँ लेकिन पता नही क्यो मै उसे देख कर विह्वल हो जाती हूँ। उस के नेत्रो में जादू है।

आषाढ प्रतिपदा रात्रि

आजकल खूब वृष्टि हो रही है, लेकिन उमस नही गयी।

आज महाराज के साथ नौकानयन के लिए गयी थी। लगता है महाराज सब से उदासीन हो गये है। किसी सीमा तक असामाजिक भी। सम्भवत वे मुझ से प्रसन्न नही है। वे समझते है कि इस बडी आयु में तिष्यरक्षिता से विवाह कर बडी भारी भूल की। आयु का इतना अन्तर वे माला फेर कर नही पाट सकते। सब की अपनी नियति होती है, मै इस में क्या कर सकती हूँ ? कुणाल ने मुझे महाराज की दृष्टि में नीचे गिरा दिया। लेकिन मै कहती हूँ कि पिता-पुत्र दोनो को राज्य छोड कर किसी मठ में

चला जाना चाहिए। भिक्षु शासन करेंगे ! सब पुरुष और नारियाँ भिक्षु-भिक्षुणी हो जायें तो सृष्टि चल चुकी ! कितना अच्छा होता यदि आमात्य चाणक्य के समय में होती ! सम्राट् चन्द्रगुप्त का खड्ग होता, चाणक्य की नीति होती और तिष्यरक्षिता की महत्त्वाकांक्षा होती। नौका-विहार में स्थविर के प्रवचन ने तो उबा दिया। क्यों लोग चाहते हैं कि जब वे वृद्ध होने लगें तो सब उन के साथ वृद्धाने लगें ? यह एकदम निरी मूर्खता है। वृद्ध होने वाले को पशुओं के समाज में खेल के लिए छोड़ दिया जाना चाहिए। वृद्ध होना अपमान है।

कुणाल को गये आज एक पक्ष हो गया है। जाने के दिन वह जाने क्या सोच कर यहाँ आया था। साथ मे कांचनमाला को नहीं लाया, अच्छा किया। व्यक्ति प्रत्येक समय हर किसी को नहीं चाहता कि कोई दूसरा भी हो। उस ने बताया कि वह आजकल वीणा सीख रहा है। जब तक वह बैठा रहा ऋतु, संगीत, ज्योतिष की ही चर्चा करता रहा। लगता है स्थिति को टाल जाने का ढंग उसे आ गया है।

मै कुणाल को विदा देने महाराज के साथ नगरसीमा तक नही गयी।

महाराज बता रहे थे कि इस चातुर्मास के बाद धर्मयात्रा पर निकलना चाहते है। मुझे डर है कि कही मुझे भी साथ चलने के लिए बाध्य न किया जाय। धर्म की जय-जयकार करते हुए घूमने से तो अच्छा है कि व्यक्ति आत्महत्या कर ले। बड़ा घृणास्पद लगता है। कल एक मूर्तिकार आने वाला है जो मेरी प्रतिमा बनाना चाहता है।

श्रावण नवमी : मध्यरात्रि

मूर्तिकार, कलिंग का एक वृद्ध कलाकार है जो कि कलिंग युद्ध में बन्दी बना लिया गया था। महाराज ने उसे मुक्त कर दिया है। उस ने राज-परिवार के सभी लोगों की मूर्तियाँ बनायी हैं। मैं उसे बराबर टालती आ रही थी। जब उस ने बताया कि वह मेरी मूर्ति बनाये बिना कलिंग नही जायेगा तो अगत्या बनवानी ही पड़ी। मूर्तिकार अपने को सिन्धुसेन कहता है। मूर्ति अच्छी बनायी। आज महाराज भी मूर्ति देखने आये थे। कई महीनों बाद आर्यपुत्र मेरे भवन पधारे थे। वे काफ़ी अस्वस्थ दिखने भी लगे है। उन्हे चाहिए कि जिस प्रकार राजकाज से वे विश्रान्ति लिये हुए हैं उसी प्रकार इन घेरों से भी मुक्त हों, अपने स्वास्थ्य का ध्यान रखें, लेकिन उन से कौन कहे ?

कल यदि मेघाच्छन्न नही रहा तो किसी उपवन की ओर जाना चाहती हूँ। नयनतारा न होती तो मैं कितनी विवश हो जाती ! लगता है सामन्त कुमारसेन नयनतारा से मित्रता के लिए बहुत उत्सुक है। मित्रता हो जाये तो अच्छा है न ?

कुणाल तक्षशिला पहुँच गया है, अश्वारोही आये थे।

इतना बड़ा उत्सव सहसा समाप्त हो गया; लगता है पाटलिपुत्र एकदम ही रिता गया। कभी-कभी मृगया के लिए जाना

चाहती हूँ, लेकिन सम्भव है महाराज इसे पसन्द न करें। आजकल जी उबा देने वाली निष्क्रिय शान्ति है। राजभवन भी मठ बनता जा रहा है।

—श्रावण अमावस्या रात्रि

प्रियदर्शी महाराज अत्यन्त रुग्ण हैं। आज ही हिमालय के प्रशासक को महाराज की प्रस्तावित धर्मयात्रा की अस्वीकृति की सूचना भेजी गयी है। यूनानी तथा भारतीय वैद्यो की समझ में कुछ नही आ रहा है। वे निदान ही नही कर पा रहे हैं। बेचारे वैद्य, यह भी नही जानते कि वृद्धापकाल स्वय ही असाध्य रोग है, और विशेषकर तब जब असीम सुन्दरी पत्नी दिन-रात सामने हो। सम्राट् धीरे-धीरे विवश होते जा रहे हैं।

क्या यह नही लगता है कि सारे सम्राट् और सम्राज्ञियाँ भी सहज मनुष्यो की ही तरह हैं? सम्राट् का भार आजकल मुझ पर आ गया है। सारा राजकार्य भी करना पड रहा है। लेकिन मेरी इस में कोई रुचि नही है कि किस प्रशासक को प्रजारजन के लिए कौन सा आदेश दिया जा रहा है। सिंहल में धर्म प्रचार का कार्य व्यापक हो गया है। राजकुमार महेन्द्र तथा राजकुमारी सघमित्रा को आये दिन इस बारे में पत्र जाते हैं।

पिछले दिनो से राजमुद्रिका लगाने का काम भी मुझे ही करना पड रहा है। कैसी विडम्बना है कि महाराज मुझे पूरी तरह नही विश्वासते फिर भी भार मुझ पर छोडने को बाध्य हैं। मुझे शंका है कि आमात्यो में से किसी को कह रखा होगा कि वह मुझ पर चौकसी करता रहे कि कही मैं महाराज के विरुद्ध कोई षड्यन्त्र न कर बैठूँ। महाराज किसी हठी बडे बच्चे से कम थोडे ही है। षड्यन्त्र बच्चा और भिक्षुओं के विरुद्ध थोड ही किया जाता है। महाराज समझते हैं कि यूनान का जो शिष्टमण्डल आया था वह मुझ से प्रभावित हो कर गया है। इतने राजकुमारो के रहते सन्तानहीन पट्टमहिषी से प्रभावित होने का क्या अर्थ? यदि मेरे मन में कोई ऐसी बात न भी हो तो भी महाराज मुझे ऐसी स्थिति में कर देना चाहते हैं कि कोई भी षड्यन्त्र किया जा सके।

धर्मराजिकोत्सव में सम्मिलित होने की बधाई वाले सारे पत्र महाराज को दिखा देती रही हूँ। लगता है महाराज चौंक चौंक उठते हैं और वे निरीह से कक्ष ताकने लगते है। सम्भव है वे मेरे हाथो में अपने को आश्वस्त न पाते हो। कही वे अपने पुत्रो को तो नहीं अपने पास देखना चाहते हैं? तो क्या वे मुझे अपना नही मानते हैं? तब मेरा क्या होगा? क्या मुझे जीवन भर मात्र जलना ही होगा?

कल पूछूँगी कि क्या महाराज किसी कुमार को पाटलिपुत्र में देखना चाहते हैं?

—भाद्रपद चतुर्थी सध्या

मेरा सशय ठीक ही निकला। काफी बडा भूभाग बौद्धमठो के लिए दिये जाने के पक्ष में महाराज है। मैं क्या कर सकती हूँ? कुणाल को बुलवाया गया है। युवराज के तिलक की चर्चा आमात्यो के स्तर पर की

जा रही है। मुझ से छुपायी गयी है चर्चा। क्यों? क्या महाराज मेरी उपेक्षा कर अपने पुत्र का भविष्य बना सकेंगे? मुझे कोई आपत्ति नहीं होती यदि मुझ से भी परामर्श कर लिया गया होता। अस्तु—

तो—

भिक्षुसम्राट् प्रियदर्शी अशोक के पुत्र युवराज कुणाल!

कलंकिनी तिष्यरक्षिता के प्रेमी!

मेरे पति ने तुम्हें कितनी सुन्दर आँखें दीं और मैं उन्हें चाहती थी लेकिन तुम ने अस्वीकार किया। राजमहिषी का तुम ने अपमान किया युवराज! तो, ठीक है, तक्षशिला के पौर को आज ही आदेश एक तीव्र अश्वारोही के हाथों भेजा गया है कि वह प्रशासक कुणाल की दोनों आँखें शीघ्र प्रेषित करे—महाराज की यही आज्ञा है!!

नहीं समझे??

कोई बात नही। मैं समझाती हूँ। महाराज तुम्हारा तिलक करना चाहते है। वे तुम्हे पाटलिपुत्र मे उपस्थित देखना चाहते है। यही अवसर था कि मैं तुम्हारे वे दोनों सुन्दर नयन प्राप्त कर सकूँ। महाराज का आदेश ले कर जो अश्वारोही गया है उसे दो माह लगेंगे, लेकिन पौर को भेजा गया आदेश एक माह तक तक्षशिला पहुँच जायेगा और सम्भवतः आश्विन के समाप्त होते तक मैं उन दोनों सुन्दर नेत्रों को अपने ओठों से लगा सकूँगी।

•
•

कुणाल!

मेरे पति के पुत्र मेरे प्रेमी!

तुम्हारे पिता की पत्नी तिष्यरक्षिता ने, जिस के प्रेम को तुम 'अभिगमन' कह कर कलंकित कर गये, उसी तुम्हारी 'माता' ने एक मादा कुणाल पाली है। उस का नर, एक वृद्ध कुणाल था। उस मादा कुणाल को नर कुणाल की सुन्दर आँखें चाहिए।

मेरे प्रेमी पुत्र!

तक्षशिला की ओर जाते हुए तीव्रगामी अश्वारोही की टापें तक सुन रही हूँ। इसी गंगा के काँठे-काँठे वह हिमालय की उपत्यका तक जायेगा और फिर पंचनद के तीव्र नदों को पार कर एक दिन तक्षशिला के पौर को ले जा कर महाराज का आदेश देगा। सच मानो मेरे प्रेमी पुत्र! मै उन दोनों नयनों की प्रतीक्षा तुम्हारे पिता से भी अधिक कर रही हूँ जो कि तुम्हारा युवराजाभिषेक करना चाहते है।

कुणाल!

मेरे पति के पुत्र मेरे प्रेमी!

तुम्हारे उन कुणाल-नयनों के लिए मैंने दक्षिण के कलाकारों द्वारा एक माणिक-मंजूषा बनवायी है। तुम सच मानो मेरे प्रेमी पुत्र! मै उन नेत्रों के लिए कोई-सा पाप कर सकती हूँ। कैसी ही नारकीय यातना भोगने को भी तत्पर हूँ। मुझे अपने प्रेमी के वे नेत्र चाहिएं। तुम मेरी व्याकुलता किसी जन्म मे भी समझ न सकोगे।

मै जानती हूँ, मेरा कलंक कोई नहीं सहन कर सकता। सच मानो, इस गवाक्ष

के पास वर्षों से बैठी हुई तुम्हारी प्रतीक्षा करती रही, लेकिन उस दिन दोष दे कर जो तुम गये तो कभी नही लौटे। और उस दिन तक्षशिला जाते हुए आये भी तो ऋतुओ की बातें करते रहे। भारत ने यूनान को ज्योतिष में क्या देन दी है इस बात पर चर्चा करते रहे। क्या तुम ज्योतिष की बातें करने के लिए तक्षशिला से आये थे? जानती हूँ कि तुम्हें काचनमाला ने चतुर बना दिया है।

कभी तुम ने सोचा कि कोई पत्नी, पिता के समान वृद्ध पति को क्या सौंप सकती है? पत्नीत्व का समर्पण पिता को तो नही किया जाता न? और सम्भव भी होता तो वृद्ध पति जा कर भिक्षु बन गया। अब बताओ कुणाल! मेरा प्रेम 'अभिगमन' है? कभी मेरा वैदग्ध्य क्यो नही समझा तुम ने? तुम्हारे पिता विवाह लाये थे, मात्र इस तथ्य से ही 'माता' मान ले गये? जब कि मैं उन की पत्नी कितनी थी, कभी यह भी सोचा?

मेरा निवेदन, मात्र नारी का एक पुरुष के प्रति था। तुम भूल गये कि नारी भी पृथिवी की भाँति वीरभोग्या होती है। मैंने तुम्हें प्रेम देना चाहा और प्रतिदान में तुम मुझे धर्म देने लगे। बताओ मैं धर्म ले कर क्या करती? और तुम मुझे सदा के लिए लाछित कर गये।

कोई बात नही, कलकिनी तिष्यरक्षिता के धर्मभीरु प्रेमीपुत्र! अपने इसी गवाक्ष के पास बैठ कर मैं तुम्हारे उन कुणाल नयनो से पूछूँगी कि बताओ—धर्म बडा था या प्रेम??

भाद्रपद पूर्णिमा मध्यरात्रि

गत एक पक्ष से मेघ थमने का नाम भी नही लेते। दूर किले की दीवारें हरी काई में कितनी सुन्दर लगती है दिन में! पहले तो काम की निश्चिन्तता थी लेकिन अब काम ही काम रहता है। महाराज का स्वास्थ्य ठीक ही नही हो रहा है। पिछले दिनों महाराज के ही भवन में रहना पडा। अनेक दिनो उपरान्त महाराज के भवन में रहने पर सहसा कितना अजीब लगा! आरम्भ के वर्ष स्मरण आ गये। तब आँखो के सामने अजीब स्वर्णिम स्वप्न था। इस समय जिस प्रकार चन्द्रमा और मेघो ने मिल कर आकाश में जो एक रहस्यलोक बना रखा है ठीक ऐसा ही रहस्य ले कर प्रथम यौवनवती-सी यहाँ आयी थी। महाराज तब भी वृद्ध थे लेकिन फिर भी सम्राट् थे। वीतरागिता भले ही रही हो किन्तु भिक्षुत्व नही था। वे तब भी मादक अवश्य थे, भले ही उद्दाम न रहे हो।

इन आठ-नौ वर्षों में जाने कितनी बार गगा की भाँति उफनाती रही। प्रत्येक बार बाढ आती है। लगता है इस बार कगार चूर-चूर हो जायेंगे। प्रलय हो जायेगा। लेकिन वाह रे विस्तार के धैर्य, कि कैसी ही बाढ सदा उतर जाती रही है।

•
•

गगा में आजकल खूब बाढ है। घाटो पर पानी आ गया है। किले की दीवारो को छू कर जब पानी बहने लगता है तो लगता है जैसे आप किसी विशाल पोत में बैठे हुए हों।

भारतीय ज्ञानपीठ-द्वारा प्रस्तुत

एक अनूठा

नयनाभिराम कलात्मक

प्रकाशन

शै श वां क न

शिशु के जन्मोत्सव पर होने वाले आयोजनों की शोभा स्मरणीय होती है। बाल विकास का प्रत्येक चरण विस्मयकर है। इन आयोजनों की स्मृति को और शिशु की विकास-प्रगति को मोहक तथा कलात्मक ढंग से अंकित कर के सुरक्षित रखने की इच्छा प्रत्येक माता पिता के लिए स्वाभाविक है। 'शैशवांकन' में जन्मोत्सव से सम्बन्धित अवसरों का तथा शिशु की उत्तरोत्तर प्रगति का लेखा आयोजित है। 'शैशवांकन' मधुर स्मृतियों एवं उपयोगी तथ्यों के संरक्षण के लिए तथा स्नेह आशीष की अभिव्यक्ति के लिए सर्वथा नया और प्रीतिकर उपहार है। अपने शिशु के लिए स्वयं बरतें। और अपनों को उपयोग करने के लिए भेंट करें।

मूल्य १२.००



भारतीय ज्ञानपीठ

कलकत्ता वाराणसी

विक्रय-केन्द्र

३६२०।२१, नेता जी सुभाष मार्ग, दिल्ली-६

आज पूर्णिमा वाला ब्रह्मभोज था। गत वर्षों से इस दिन भिक्षुओं को भी भोज दिया जाने लगा है। चाहती हूँ कुछ दिनों के लिए किसी समुद्रयात्रा पर चली जाऊँ। क्यों नहीं नीलरत्न को सूचना कर दी जाये। कलिंग भी देख लिया जायेगा। हमारी नौ सेना का एक बेड़ा वहाँ है ही। अनेक दिन हुए समुद्र-यात्रा किये। किसी दिन महाराज से कहूँगी।

क्या अश्वारोही तक्षशिला नहीं पहुँचा होगा अब तक ?

मैं तो नयनतारा की सामन्त कुमारसेन से मित्रता करवाने की बात सोच रही थी और कल ज्ञात हुआ कि आगामी फाल्गुन में दोनों विवाह करना चाहते हैं। इस बात से मुझे उतना सुख नहीं हुआ जितना कि होना चाहिए था। फिर भी मैं सुखी हूँ। नयनतारा और उस का सामन्त दोनों ही चाहते है कि इस की आज्ञा महाराज से दिलवा दूँ। कुछ भी सही, नयनतारा अगत्या सुखी हो यही मेरी भी कामना है।

—आश्विन द्वितीया : उत्तर रात्रि

आज विन्ध्या पार की एक गायिका आयी थी। अभी-अभी वह गान समाप्त कर गयी है। महाराज को अब किसी कला में रुचि नही रह गयी है और फलतः मुझे ही खटना पड़ता है। शिल्पियों के लिए तो स्तूपों, ध्वजों तथा शिलालेखों का ढेर सारा काम है लेकिन संगीत में महाराज की रुचि पहले भी विशेष नहीं थी, क्या किया जाये इन लोगों का ?

आज महाराज पूछ रहे थे कि मैं कुणाल के बुलाये जाने से प्रसन्न हूँ कि नहीं। मैं समझती हूँ इस पूछने का क्या मतलब था। युवराज के अभिषेक के बारे में वे दूसरी चर्चाओं के बीच इस प्रकार बता गये जैसे मुझे पहले से ही ज्ञात था। मैंने भी कोई आश्चर्य प्रकट नहीं किया। बल्कि महाराज को थोड़ा आश्चर्य अवश्य हुआ।

महाराज कहीं मेरा अपमान तो नहीं करना चाहते हैं ?

•

•

कुणाल ! मैं क्या चाहती थी ? यही न कि कुणाल सम्राट् बने और तब मुझे पट्टमहिषी बन कर पार्श्व में बैठना मिले और मैं सार्थक हो जाऊँ। इस में क्या अनैतिक था और क्या अनैसर्गिक ? जिन सुन्दर नेत्रों के बारे में सुन कर यूनान के सम्राट् ने अपनी पुत्री तुम्हें विवाह देनी चाही जब वे ही नेत्र मेरी इस देह को देख लेते तो मैं उपकृत हो जाती। ठीक है, तिष्यरक्षिता और धर्म के बीच जब तुम ने धर्म को चुना तब देखें धर्म किस प्रकार तुम्हारी रक्षा करता है।

आओ, पाटलिपुत्र आओ, भावी मौर्य-सम्राट् !

पाटलिपुत्र अपने सुन्दर नेत्रों वाले अन्धे युवराज का स्वागत करने के लिए आतुर है !

तुम्हारे भिक्षु पिता शून्यकक्ष ताकते हुए तुम्हारे तिलक के दिवास्वप्नों मे डूबे रहते हैं। मैं तक्षशिला के पौर का भय से पीला पड़ा मुख देख रही हूँ। उसे विश्वास नहीं हो

रहा है कि भला सम्राट् मौर्य साम्राज्य के युवराज के नेत्र निकालने का आदेश अकारण ही दे सकते है ! वह तुम्हारी ओर देखता है और हतप्रभ ।

उन परम सुन्दर कुणालनयनो से जाने कितने सूर्योदय और सूर्यास्त तुम ने देखे होगे कुणाल ! और दो चार सूर्य देख लो मेरे प्रेमी-पुत्र ! उस के बाद तो ये आँखें मेरे गवाक्ष की इस वेदी पर शोभित रहेंगी । कुणाल ! स्वप्न में तुम्हारे ये दोनो मेरा पीछा करते हैं और मैं उन्हें पुकारती हुई आकाशो में खो जाती हूँ ।

—कार्तिक पचमी रात्रि प्रथम प्रहर

आज तीन दिन से गगा पार एक सेवक भेजा जाता रहा है ताकि तक्षशिला से लौटा अश्वारोही जो भी लाया हो वह ले लिया जा सके । तीन दिन कितने कैसे बीते ! सहज न हो पा रही थी । बार-बार मेरे चौंकने पर महाराज ने हलके टोका भी था ।

अश्वारोही को तीन दिन विलम्ब हुआ ।

नयनतारा का साकेतिक समाचार मिलते ही मै किंचित् अधीर हुई, सिर पीडा का बहाना बना उठ आयी । शिविका में रास्ते भर उत्सुकता, भय, वितृष्णा और जाने क्या-क्या होता रहा । यदि मर्यादा का ध्यान न होता तो पूरा भवन, सीढियाँ सब कुछ दौड कर पार करती ।

•

•

नयनतारा ने जब एकान्त में निकाल कर कुणालनयन दिखाये, एक क्षण को मैं विभोर हो गयी । कितने अप्रतिम सुन्दर नेत्र ! मैं सोच नही पा रही थी कि वे कुणाल के नेत्र है । कैसे निरीह दो उज्ज्वल सीपियो की तरह ! यदि उन्हें आकाश म उड जाने को कह दिया जाता तो वे सीधे तक्षशिला जा पहुँचते ।

मेरे नेत्रहीन प्रेमी ! मैं जानती हूँ कि तुम्हारे ये नेत्र दो देवशिशुओ की तरह है । कुणाल ! तुम सोच नही सकते कि आज मैं इन दोनो को क्षण भर को भी होठों से विलग न कर सकी ।

आज मै कितनी प्रसन्न हूँ ! आज मुझे कितना पश्चात्ताप है !!

ये अमृतनयन मेरे लिए विषनयन क्यों हो रहे है ?

ओ मेरे पति के पुत्र मेरे प्रेमी ! ये नयन अब हँसते नही है, उस दिन का क्रोध कहाँ है ? ये अब घृणा भी नही करते और, कुणाल ! ये अब कुछ नही देखते, कुछ नही देखते । इतने अपरिचित नयनो को तो समर्पण नही कर सकती कुणाल ! मैं इन्हें पा कर अमर होना चाहती थी । मेरी पीडा का कही अन्त नही दिखता । जानती हूँ कि नेत्र निकलवा कर मैंने असह्य पीडा तुम्हें पहुँचायी है । आओ मेरे प्रेमीपुत्र ! मैं उन खोखले रन्ध्रो को चूम कर सारी पीडा हर लूँगी ।

हमारे तुम्हारे बीच ये दो ही तो नयन थे कुणाल !

पहले मैं अन्धी थी और तुम नेत्रवान् थे । आज तुम अन्धे हो और कैसे कहूँ कि मैं नेत्रवती हूँ । कुणाल ! मैं आजन्म अन्धी ही रही क्या ?

तुम इन्हें पा कर नही रख सके और मैं इन्हे उपलब्ध कर के भी सहेज न सकूँगी।

ये नेत्र दुःख के देवता ही रहे कुणाल !

पंचमी का तिर्यक् चन्द्रमा कार्तिकी आकाश में फूट आया है। रात्रि आलाप-सी आरम्भ होने लगी है। जानती हूँ कि जैसे ही महाराज को इस कृत्य की सूचना मिलेगी वे मेरी बोटी-बोटी कुत्तों से नुचवा डालेंगे। उन के एक मात्र प्रिय पुत्र को नेत्रहीन करने वाले व्यक्ति को वे कभी भी जीवित नहीं छोड़ेंगे। कोई बात नहीं कुणाल ! मै तुम्हारी देह के श्रेष्ठ को किसी भी रूप मे सही, पा तो सकी। जानती हूँ मेरा भविष्य शताब्दियों के लिए मर चुका। केवल उपेक्षिता, लांछिता तिष्यरक्षिता को ही लोग बूझेंगे। लेकिन कोई मेरी असीम परितृप्ति, दाह को नही बूझ पायेगा कुणाल ! सम्भवतः तुम भी नही जिस के लिए मैं, तिष्यरक्षिता पाप्रिष्ठा हुई।

अगत्या कुणाल ! मै सदा आभारी रहूँगी कि तुम ने मेरी परितृप्ति के लिए नेत्रदान किया।

आज मैं पवित्र हो गयी कुणाल ! आज मै परितापित हो गयी ! मै उज्ज्वल कलंकिनी सही कुणाण, तुम तो अकलंक रह सके।

राजकारागृह : पौष चतुर्थी : ब्राह्मवेला

आज एक मास से बन्दिनी हूँ यहाँ।

इस बीच घटनाएँ इतनी तीव्रता से हुई है कि जैसे सूत्र सारे बिखर गये हों। एक महान् नाटक पटाक्षेप की प्रतीक्षा कर रहा है। साम्राज्य के लिए असह्य हो उठा है कि एक मौर्य पट्टमहिषी दुराचारिणी, कलंकिनी निकली। प्रियदर्शी लज्जा से विक्षिप्त है। सुना कांचनमाला के साथ युवराज को लेकर तक्षशिला का पौर स्वयं उपस्थित हुआ है। न्याय-अभिषद के सामने दुरभिसन्धि रही कि पट्टमहिषी का क्या किया जाये। इतिहास मे कोई उदाहरण नहीं मिलता।

बिना मुझ से पूछे ही महाराज आश्वस्त हो गये कि यह कुकृत्य तिष्यरक्षिता ने ही किया है। नयनतारा ने जब रात्रि के प्रथम प्रहर में आये पाटलिपुत्र के पौर से सुना कि सवेरे सूर्योदय के पूर्व गंगातट पर मेरा अग्नि-दाह किया जायेगा, वह मूर्खा पगला उठी है।

पौर से कहने को मन हुआ कि महाराज से निवेदन कर दो कि मैं उन्हे अन्तिम बार देखना चाहती हूँ, लेकिन व्यर्थ !!

मै इस समय सैनिकों की प्रतीक्षा कर रही हूँ। वे किसी भी समय आ सकते है। पौ फटने में विलम्ब तो नहीं लगता।

आज रात भर इस गंगा तट पर उल्काओं का आलोक तथा लोगों के आवागमन का अपार नाद सुनती रही हूँ। कितना उत्साह है लोगों में ! रात भर मे लाखों की संख्या में प्रजा एकत्र हो गयी है। किस लिए ? दुराचारी को दण्डित होते देखने के लिए अथवा पट्टमहिषी को जो जीवित जलाया जायेगा वह देखने के लिए ?

आज रात कितनी ठंढी हवा चलती रही ! अभी भी कुहरा साफ़ नही हुआ है। यह तो सैनिकों के चलने की आहट है।

तो—

धरती के जिस भाग के ऊपर इस समय उड रही हूँ उस में रात है। मेरे सामने दो चांद है—एक नीली रोशनी वाला, दूसरा पीला-पीला चांद। नीली अपनी धरती है और पीला वह चांद है जिस में पूंजीवादियो के काले कारनामे कलक बन कर झलक रहे है और जो कि चीनी बुद्धिवादियो की आस्था के समान ही कुबडा है। प्यारे, मै एक वैज्ञानिक की तरह खोज की नीयत से उस पीले चांद तक पहुँचने की इच्छा तो रखती हूँ लेकिन उस चांद से तुम्हारी उपमा कदापि न दूँगी। चीनी त्रात्स्कीवादी कामरेडो के समान ही बौद्धिक रूप मे 'ऐनेमिक' (खून की कमी वाला) यह चांद किसी भी सच्चे कामरेड का आदर्श हरगिज नही हो सकता। ख़ून की कमी वाले बीमार दिमाग के दम्भी, जिद्दी और मूर्ख लोग ही खूनी क्रांति चाहते है। हम रूसी अनावश्यक रूप से यह हरगिज नही चाहते। इस का सब से ताजा प्रमाण तो मैं यही दे सकती हूँ कि अभी थोडी देर पहले ही पृथ्वी से अपना स्नेह-सन्देश भेजते हुए तवारिश यूरी गागारिन ने मेरे लिए यह शुभकामना प्रकट की थी कि मै ढेर सारे बच्चो की माँ बनूं। ऐ मेरे होने वाले बच्चो के प्यारे बाप! इसी कारण तो मैं ने तुम्हें इस समय याद किया है। भला अपनी छाती पर हाथ रख कर यह तो कहो, तुम दिग्-काल-भ्रान्त चीनी नेताओ की तरह बच्चों भरी दुनिया को तबाह करने की कल्पना तक कर सकते हो? अगर हाँ, तो मै बिना शादी किये ही तुम्हें तलाक देती हूँ।

लेकिन हाय-हाय, ये निगोडी 'बलिया वाला' की रूह मुझे तलाक़ देने से रोकती है, कहती है कि ब्याह से पहले अपने बलमूँ से उडा-छुडौअल की बात मत करो। सूत न कपास और अभी से ही कोरियों में लट्ठम-लट्ठ शुरू हो जाये यह ठीक नही। कहती है कि मुझे प्यार की चिट्ठी लिखने की तमीज नहीं, कहती है कि प्यार से मान तो किया जाता है पर अकडा नही जाता। आगे की चिट्ठी लिखने से पहले वह मुझे ॐ शाति शान्ति शाति जप लेने की सलाह दे रही है। तवारिश, मैं रूसी भाषा मे ॐ का तो अनुवाद नही कर सकती क्योंकि वह भारतवासियो का खास वैदिक शब्द है लेकिन शान्ति के माने 'मीर' है। यह शब्द तो बडा प्रगतिशील है और मै बगैर किसी किस्म के अधविश्वास में फँसे ही तीन बार 'मीर मीर-मीर' लिखती हूँ।

तुम अचरज कर रहे होगे कि इतनी ऊँचाई पर उडने वाले मेरे बन्द सुरक्षित वोस्तोक–६ में ये प्रेतात्मा अचानक कैसे घुस आयी? यह एक रहस्य की बात है। ठीक उसी समय जब कि बैकानूर के अन्तरिक्ष अड्डे से मेरा राकेट छोडा गया था, इस औरत ने हिन्दुस्तान में अपना शरीर छोडा था। जब मै अतरिक्ष में पहुँची तो उस की रूह भी स्वर्ग जाने के रास्ते में उडते-उडते मेरे वोस्तोक–६ से टकरायी। पहले-पहल तो यह रूह मुझे उस झरोखे के बाहर दिखलायी दी जो दुनिया देखने के लिए मेरे वास्ते बनाया गया है। झरोखे के शीशे पर एक चेहरा

नक़्श हो गया। बड़ी-बड़ी शरबती आँखें, पतली नुकीली नाक जिस में सोने का एक छल्ला पड़ा था, पतले होठ, साँवली-सलोनी सूरत—मै दंग रह गयी कि यह जनाना रेखाचित्र शीशे पर आखिर कैसे बन गया, किस ने बना दिया। मै और भी दंग हुई जब कि वह रेखाचित्र मेरी आँखों में आँखें डाल कर मुसकराने लगा, फिर एकाएक उस की आवाज़ भी मेरे कानो मे पड़ने लगी। उस की भाषा यद्यपि मेरे लिए एकदम अपरिचित थी फिर भी न जाने कैसे हम एक-दूसरे की बातें समझ रहे थे। वह बोली : "बहिनी, अन्दर आय जाऊँ ?" मै ने कहा : "वैदोते, पज़ाल्स्ता।"

ऐ मेरे तान्या-वान्या-फिदेया-ऊल्या-माया आदि-आदि दसियों बच्चों के होने वाले बाप ! तुम्हें यह सुन कर हैरत होगी कि वह प्रेतात्मा जाने किस तरकीब से मेरे केबिन के अन्दर आ गयी। उस से भी अजीब बात ये थी कि अन्तरिक्ष की भारहीनता का उस पर कोई असर नही हो रहा था। मेरी उस की बातें बगैर किसी दुभाषिए की मदद से फराफर्र होने लगीं।

बलियाबाला, देहेज़ की समस्या से पीड़ित, आत्महत्या कर के मरी है। छब्बीस बरसों तक अरमान दबाये बैठी रही। भारत मे आबरूदारी की बुर्जुआ समझ के कारण बहुत से लोग अपनी लड़कियो-औरतों को बाहरी दुनिया मे काम करने का अवसर अब भी नहीं देते। अपना प्रेमी-पति आप पसन्द करना इन के यहाँ बेहद-बेहद बुरा माना जाता है। शादी माँ-बाप को करनी चाहिए, वर और उस के माँ-बाप को कन्या के साथ हजारों रुपया दे कर उन के पूर पूजने चाहिए। बेचारी भोली-भाली, सुघड़, सुन्दर, सलोनी बलियाबाला के ग़रीब माँ-बाप दहेज़ न दे सकने के कारण अपनी बेटी को कही व्याह न सके। आबरू के डर से ही बेचारी को स्कूल में पढ़ने न दिया गया। उसे विकास का कोई मौका ही न दिया गया। दुःखी माँ-बाप के तीखे-तीखे तानों से घुट कर, उन की चिन्ताओं से तप-तप कर कल सुबह उस ने रसोईघर मे अपने शरीर पर मिट्टी के तेल की बोतल छिड़क कर आग लगा ली। अब इस समय वह प्रेतात्मा है मगर इस हालत में भी मेरी संगति के प्रभाव से वह प्रगतिशील बन रही है। थोड़ी देर पहले मुझ से कह रही थी कि गाय की पूँछ पकड़ कर वैतरणी पार करने के बजाय राकेट में लटक कर पार करना अधिक आसान है। वैतरणी इन के धर्म की कोई खास नदी है जिसे सदियों से ये लोग गाय की पूँछ पकड़ कर पार करते आये है। उस की समझदारी देख कर सोचती हूँ कि यदि यह जीवित रहती और अवसर पाती तो मेरी ही तरह कुशलता से अन्तरिक्ष-यान भी चला सकती थी। खैर।

इसी बलियाबाला ने तुम्हारे नाम लिखी गयी मेरी इस चिट्ठी को एकदम नापास करते हुए मेरी खातिर एक प्रेम-पाती का ड्राफ़्ट तैयार किया है। उस का पत्र हिन्दी भाषा में

कागज़ पै रख दिया है कलेजा निकाल कर

अयोध्याप्रसाद गोयलीय

●

व्यक्तिगत पत्र कृत्रिमता से रहित तत्कालीन स्थिति के ऐसे दर्पण होते हैं, जिन में वास्तविक स्थिति का हू-ब-हू प्रतिबिम्ब दृष्टिगोचर होता है, क्योंकि पत्र-लेखक अपने मनोभावों को बग़ैर किसी भ्रम और सकोच के प्रकट करता है। इन में ऐसी गोपनीय और निजी बातें भी मनुष्य अपने इष्ट-मित्रों को लिख देता है, जो वह प्राण जाने पर भी दूसरे पर प्रकट नहीं कर सकता। यहाँ कुछ प्रेम पत्रों के नमूने देने का प्रयास कर रहा हूँ

सफिया के पत्र जाँ निसार 'अख्तर' के नाम

सफिया अख्तर के पत्र विरहाग्नि में झुलसती हुई वियोगिनी नारी की मनोव्यथा से लबरेज़ हैं।

सफिया मशहूर शाइर मजाज़ की बहन थी और अलीगढ गर्ल्स कालेज में प्रोफ़ेसर थी। उन की शादी ख्यातिप्राप्त प्रगतिशील शाइर जाँ निसार 'अख्तर' से हुई थी, किन्तु भाग्य ने कुछ ऐसा इन के प्रति निर्मम व्यवहार किया कि दोनों को एक साथ बहुत कम रहने दिया और चकवा-चकवी की तरह तड़पते रहने पर मजबूर कर दिया।

भोपाल

१७ फ़रवरी, १९५० ई०

आज तुम्हें सिधारे हुए पूरा हफ़्ता गुज़र गया। और मैं ने तुम को एक ख़त भी न लिखा। आज बड़ा तवील[1] ख़त लिखने को जी चाह रहा है। दो दिन तक तो ज़हन[2] ऐसी शिकस्ता हालत में था कि बस 'तुम क्या गये कि हम पै क़यामत गुज़र गयी' का मज़ा जी भर कर आ गया। अल्ग़रज़, 'कितने आँसू पलक तक आये थे' कि लज़्ज़त से सुबह-शाम हमकिनार होना पड़ता है। मैं तुम से दूर यहाँ इस तरह न रह सकूँगी। तुम मुझे जिस तरह बन पड़े जल्द अपने पास बुलाने की कोशिश करना। मुझे यहाँ का आराम भी कड़वा मालूम होता है। तुम मुझे छुट्टियों में अपने पास बुला लेना,

१ लम्बा। २ मस्तिष्क।

फिर मैं भोपाल वापिस न आऊँगी।

तुम कैसे हो? तुम्हारे पास पैसे बिलकुल न होंगे। इतने बड़े शहर में पैसे की तंगी कैसी अजीरन बन जाती है। मगर अख्तर, तुम अपना दिल मत कुढाना। यह क़ुर्बानियाँ बेमक़सद[1] न जायेंगी।

तुम अपने हालात जल्द और मुफ़स्सल लिखो। तुम्हारा पिछला ख़त देख कर कैसा जी कुढ़ा, एक भी प्यार की बात न लिखी तुम ने मेरे लिए। जी चाहा कि तुम्हारे सीने पर सर रख कर इतने आँसू बहाऊँ कि तुम्हारे दिल की धड़कन तेज़ हो जाये।

अच्छे अख्तर, तुम मुझे इतने अजीज क्यों हो? जानती हूँ कि मेरी इस मुहब्बत मे दीवानगी का बड़ा हिस्सा है। जी चाहता है कि दुनिया की हर मसलहत[2] को ठुकरा कर तुम्हें चाहूँ। लेकिन फिर तुम्हें चाहने ही से तो मुझे दुनिया की हर मुसीबत भी हासिल हो जाती है। मुझे भोपाल का लम्हा-लम्हा भारी हो रहा है। दिन पहाड़-से लम्बे मालूम होते है। तुम कब मिलोगे?

तुम मेरे इस खत को पाने के बाद ही खत लिखना वर्ना मै रो मरूँगी।

भोपाल

२९ मार्च, '५० ई०

यहाँ दिन गिन-गिन कर कट रहे है। कॉलेज के मशागल भी कमजोर पड़ गये है। उदास और तवील दोपहरें। लतीफ़ शामे और खुनक रातें, तुम बिन काटे नहीं कटती।

....मैं तुम्हारे ख़तों के सहारे जीऊँगी। वह दिन भी जल्द आ जायेंगे, जब मैं तुम्हारी नज़रों के साये में फिर सकून पा सकूँगी। आओ, बहुत से प्यार कर लूँ।

लखनऊ

१० मई, १९५० ई०

...मेरे दोस्त! तुम्हारे दिल मे बेपनाह वुसअतें हैं। तुम मेरी ख़ातिर चले आओ, फिर तो एक बार तुम्हारे गले में बाँहें डाल कर तुम्हारे सीने पर गर्म-गर्म आँसू बहाऊँगी, तो तुम मेरी तरफ़ से सारा गुस्सा खत्म कर दोगे। इस का मुझे यकीन है।

आओ मैं तुम्हारी लरज़ती हुई पलकों पर अपने होठ रख दूँ। आओ मेरी आगोश तुम्हारे लिए खुली हुई है। तुम्हे यहाँ राहत मिलेगी और मुझे ज़िन्दगी। अपनी आमद की इत्तला तार से दो, मैं स्टेशन पर आऊँगी। यह सच जानो कि अगर तुम न आये तो मै दीवानावार तुम तक पहुँच जाऊँगी। फिर, ख्वाह तुम मुझे नाराज़ हो कर वापिस ही भेजने का इरादा क्यों न जाहिर करो।

अच्छा, अब कब आ रहे हो मेरे शाइर! आज ही रवाना हो जाओ।

लखनऊ

२५ मई, १९५० ई०

...तुम्हारे जाने से जो कयामत दिलो-दिमाग पर गुजर गयी, उस का अन्दाज़ा तुम ही कर सको तो कर सको और कोई दूसरा नही कर सकता। आज तक जब सुबह आँख खुलती है तो दिल पर एक घूँसा-सा लग जाता है।

---

१. निरुद्देश्य। २. समस्या की।

तन्हाई, वीरानी, वेकसी, ये हैं जिन्दगी के साथ। बाज़ वक्त जी चाहता है कि सब कुछ छोड कर एका एकी तुम्हारे पास पहुँच जाऊँ।

नैनीताल

१४ जन, १९५० ई०

तुम्हारी तन्हाई के ख़याल से जी किस बुरी तरह कुटता है। हर लम्हा ख़याल दौडाती हूँ कि न जाने इस वक्त क्या कर रहे होंगे। तुम्हारी राहत और आमाइश के लिए इतनी दूर से क्या करूँ? खाने के तुम शौक़ीन नही, पहनने की तरफ से तुम बेखबर हो। फिर और क्या रह गया? बहरहाल तुम्हारे लिए कश्मीरी सिल्क जरूर लूँगी और लखनऊ से कुर्ते सिलवाऊँगी।

रात बडी शदीद बारिश हुई। कम्बल में सर्दी लगती रही और तुम्हारी आगोश की गर्मी का तसव्वुर आराम देता रहा।

और क्या लिखूँ? कितनी बेशुमार और बेहिसाब बातें करने को जी चाहता है तुम से। याद करो, हफ्तो हमारी गुफ्तगू खत्म नही हुआ करती थी।

तुम्हारी अपनी सफ्फो

सलमा और अख्तर शीरानी के पत्र

उक्त पति-पत्नी के पत्रो के अतिरिक्त अब हम एक प्रेमी और प्रेयसी के पत्रो की बानगी दे रहे हैं। अख्तर शीरानी अपनी रोमांटिक शाइरी के कारण बहुत प्रसिद्ध हुए हैं। उन से पूर्व उर्दू के शाइर माशूक़ का वे, ये, आप, तुम, ज़ालिम, बेवफा आदि सर्वनाम द्वारा उल्लेख करते थे। अख्तर शीरानी ने सर्वप्रथम प्रेयसी का नाम देने का प्रयत्न किया। किन्तु बदनामी के भय से प्रेयसी का वास्तविक नाम न दे कर उसे छद्म नाम से उल्लिखित किया। उन के रोमांटिक कलाम से सल्मा इतनी लोकप्रिय हुई कि बीसो कॉलिज की लडकियाँ अख्तर के इर्द-गिर्द चक्कर काटने लगी। और उन की शाइरी के हज़ारो पाठक सलमा को देखने या वास्तविक नाम जानने के लिए इतने लालायित हो उठे कि कही उन्हें पता चल जाता तो सलमा के कूचे का और स्वय उस का क्या हश्र हुआ होता, यह ईश्वर ही बेहतर जानता है। १७४ पृष्ठो में प्रकाशित इन दोनो के ख़तूत का थोडा सा अश यहाँ दिया जा रहा है

सलमा का ख़त

मरते हैं आर्ज़ू में मरने की
मौत आती है पर नही आती

कोकब[1]! मेरे कोकब!! मेरी जिन्दगी हुजी[2] के सहारे, मेरे दिलफिरोज़ ख्वाब[3], मेरे दिल के, मेरी रूह के मालिक, तन्हा मालिक, हौसला करो, घबराओ मत, तसल्ली रखो, कि सलमा, तुम्हारी अपनी सलमा तुम से मिलेगी, जरूर मिलेगी, और बहुत जल्दी मिलेगी

किये जायेंगे हम तदबीर उस से मिलने की
करेगी दुश्मनी कब तक यूँ ही तक़दीर देखें तो

मगर अब मैं पूछती हूँ कि अब मुलाकात से क्या हासिल? हाय इस आरजी मुलाक़ात

---

१ सलमा ने अख्तर को इसी प्यार नाम से सम्बोधित किया है। २ पीडित जीवन के। ३ हृदय को प्रकाश देने वाले स्वप्न।

से क्या फ़ायदा ? आह, कुछ भी नहीं सिवाय इस के कि···

और भी बढ़ जायेगा दर्दे-फ़िराक़

बहरकैफ़, मैं कोशिश करूँगी, मेरी तमन्नाओं के रौशनतरीं सितारे, मेरी आर्ज़ूओं के दरख़्शाँ आफ़ताब[1] मैं तुम से मिलने की—पहली और आख़िरी मर्तबा मिलने की··· कोशिश करूँगी। ख़्वाह कुछ भी क्यों न हो ज़रूर एक कामयाब कोशिश करूँगी। इस-लिए हाँ, सिर्फ़ इस ख़याल से कि हम बादिले बिर्यां-ओ-चश्मे-गिर्यां[2] हमेशा के लिए, आह क़यामत तक के लिए एक-दूसरे से रुखसत हो लें, जुदा हो लें···

फ़ना[3] है कैसी वक़ा[4] कहाँ की ?
मुझे तो रहता है हिज्र[5] का ग़म
जो वस्ल[6] मुमकिन है जान दे कर
तो जान तुम पर फ़िदा करूँगी।

परसों—२७ जनवरी जुम्मे के दिन ठीक एक बजे शब[7] को मैं आपकी क़दमबोसी के इश्तयाक़[8] में मुजतरिब-ओ-बेताब[9] हूँगी। सर्दी में तकलीफ़ तो होगी, खसूसन इस लिए भी कि आप को एक तवील सब्ज़ाज़ार[10] तै करना पड़ेगा, मगर मेहरबानी कर के मुकर्रर वक़्त से ज़रा देर पहले ही तशरीफ़ ले आइएगा। अहाता मे शुमाल[11] दरवाजा की तरफ़ से दाखिल हूजिएगा, ताकि हमारा चौकीदार आप का ख़ैरमक़दम[12] न करे—जहाँ आप को वह दरवाजा नज़र आयेगा जिस के सुर्ख शीशे के किवाड़ों से आप ने अक्सर रात को शहाबी रंग की रोशनी छनती हुई देखी होगी। हाँ, जरा कुत्तों से एहतियात[13] रखिएगा।···· जब मैं दर्वाजा खोलूँ तो आप आहिस्ता आवाज मे यह अल्फ़ाज ज़रूर दोहरायें—कि मै मौजूद हूँ। मगर देखिए, कही ऐसा न हो कि मै तो यहाँ इन्तज़ार की कर्बआफ़रीनों में मुब्तला[14] सुबह तक चश्मे-बरराह[15] खड़ी रहूँ और हुजूर वहाँ ख्वाबे-नोशी पर तबा-आज़माई[16] फ़र्माते रहें ?

मेरी उम्र के इन १६ साल में यकीन मानिए कि यह सब से पहली मर्तबा, सब से पहला इत्तफ़ाक है, कि मैं आप से और सिर्फ़ आप से मिलने का वायदा कर रही हूँ। इस हाल में कि नाजाइज़ मुलाकात के लिए मेरा जमीर[17] मुझ पर लानत कर रहा है। और मैं नदामत-ओ-इन्फ़िआल[18] के एक बहरे-वेपायाँ-गोत्ताजन[19],मगर बा ई हम:[20] आप को यकीन करना चाहिए कि मै इस कशमकश-अंगेज[21] हालत में भी अपनी और आप की एक तवील अर्से की बेताब आर्ज़ूओं, बेसब्र अरमानों और बेक़रार हसरतों की खातिर एफ़ाए अहद[22] में साबितक़दम रहूँगी। इंशाअल्लाह···।

कोकब साहब ! हाय मैं किस दिल से

१. चमकीले सूर्य। २. दुःखी और कलपते हृदय से। ३. मृत्यु। ४. ज़िन्दगी। ५. विरह का। ६. मिलन। ७. रात को। ८. चरण-चुम्बन की लालसा में। ९. बेचैन। १०. लम्बा हरा-भरा मैदान। ११. उत्तरीय। १२. स्वागत (मारपीट डॉट-डपट से अभिप्राय है)। १३. सावधानी। १४. व्याकुलतापूर्ण घड़ियों में घिरी हुई। १५. आँखें बिछाये। १६. शयन-कक्ष में स्वप्न देखते रहें। १७. आत्मा। १८. पछतावे और लाज के। १९. असीम दरिया में गोता लगा बैठी हूँ। २०. मगर, इस बात के बावजूद। २१. द्विविधापूर्ण स्थिति में। २२. प्रतिज्ञापालन मे।

कहूँ कि एक जान ही को जिन्दगी तल्ख नहीं हो रही, बल्कि उस से कहीं बढ़ कर मेरी जान—हाय, मेरी नातवाँ जान[1] अज़ाबे-अलीम[2] में गिरफ्तार है। मसाइब-ओ-आलाम[3] के बलाखेज़ तूफान में घिरी हुई है। जहन्नुम बरज़ी[4] में पड़ी सुलग रही है। जल रही है। आह, हमेशा के लिए, हाय तमाम उम्र के लिए मुझे यह कहने की इजाजत दीजिए कि उन तमामतर नागवारियों के बानी, उन तमामतर तल्खकामियों के मूजिब[5] आप खुद हैं। हाँ, आप! क्यों? इस लिए कि आप अगर चाहते, आह अगर आपकी ख्वाहिश होती, आप अगर इक ज़रा-सी कोशिश करते तो मैं आपको मिल जाती। या दूसरे अल्फ़ाज़ में आप मुझे पा लेते। आह, निहायत आसानी के साथ पा सकते थे। मगर आपने तो लेकिन मैं बेवकूफ हूँ, अब भला उन बातों—आह, उन गयी-गुजरी हुई बातों की याद में दिल को नश्तर कदहे-ग़म[6] और सीने को गम-कदए यास[7] बनाने से क्या फ़ायदा? क्या हासिल? दिल की दुनिया बरबाद होनी थी, सो हो गयी। आर्ज़ूओं का, जवान गम आर्ज़ूओं[8] का जनाजा निकलना था सो निकल गया। शर्बते वस्ल[9] के बजाय जहरे हलाहल का जाम पीना था, सो पी लिया। और सब से आख़ीर में यह कि रोज़े-अज़ल की काफ़िर साअतों[10] में जो कुछ किस्मत में लिखा गया था, वह पूरा हुआ। वह मिल गया आह, मिल चुका। अब शिकवे शिकायतें अबस[11] हैं। बेसूद हैं। लाहासिल हैं, आह—

> "जब तवक्क़ो ही उठ गयी 'ग़ालिब'
> क्यों किसी का गिला करे कोई।"

वास्सलाम

राक़िमा (लिखने वाली)

एक बेज़ार ज़ीस्त (बेचैन जिन्दगी)

अख्तर शीरानी का खत

मेरी गुंचए-लब,[12]

२७ जनवरी को रात का ख्वाबे शीरीं[13] अभी तक मेरी निगाहों पर मुहीत[14] है। आह, मेरी जान, तुम ने मुझे क्या कर दिया है? कि अब तुम्हारे सिवा किसी शै का होश नहीं। तुम ने मुझे कौन सी शराब पिला दी, जिस का नशा दिलो-दिमाग़ पर छाये जाता है। हाय, मुझे तुम ने किस मंजिल में पहुँचा दिया? किस वादीए-हैरत से दो-चार[15] कर दिया? जहाँ न दुनिया की खबर है, न मफ़ीहा[16] का निशान। तुम्हारी हम-आग़ोशी[17] की ख़ालिस बहिश्ती[18] लज्जतों में चूर होने के बाद अब मैं महसूस करता हूँ कि तुम सच कहती थीं—

> और भी बढ़ जायेगा दर्दे-फ़िराक़
> हाय, यह हालत कि—

१ निर्बल प्राण। २ असीम कष्ट में। ३ मुसीबतों एवं कष्टों के। ४ भयानक नरक भूमि में। ५ ज़िम्मेदार। ६ ग़मरूपी घाव में चीरा। ७ निराशा और पीड़ाओं का घर। ८ जवानी में मृत्यु को प्राप्त अभिलाषाओं का। ९ मिलनरूपी शर्बत। १० सृष्टि रचना के प्रारम्भ में। ११ व्यर्थ। १२ कली जैसे होठों वाला। १३ मधुर स्वप्न। १४ छाया हुआ। १५ आश्चर्यजनक पर्वतघाटियों से परिचित। १६ विश्व के अन्तरंग का। १७ बराबर में बैठने-उठने का। १८ स्वर्ग सदृश।

बढ़ गयीं तुम से तो मिल कर और
भी बेताबियाँ
हम तो समझे कि अब दिल को
शिकेबा[1] कर दिया

मैं उन बेताबियों का ज़िक्र किस जबान से करूँ ? क्या बताऊँ, किस दर्जे बे-कसी के साथ सोचता हूँ ? कि उस रात जो मौजे-रंग-ओ-बू मेरे सर से गुजरा, कही वह कोई पुरफ़रेब ख्वाब न हो, मगर मेरे गुस्ताख होठों की हलावत[2], वह हलावत जो उन्हो ने तुम्हारे गुलाब की-सी पंखुड़ियों जैसे होठों से छीनी थी, मुझे कहती है कि यह ख्वाब न था। इस गैरमुतवकूअ मसर्रत[3] के नशों में सरशार[4] हो जाने वाली निगाहे मुझे डराती हैं, कि कहीं उन्होंने उस रात धोका न खाया हो। मगर तुम्हारे शक आगी दामन और अम्बरेअफ़शाँ गेसुओं की मस्ताना महक, आह ! वह महक, जो मेरा दमाग तुम्हारे कमरे से चुरा लाया था मुझे यक़ीन दिलाती है कि यह धोका न था। उफ़, अगर यह सब कुछ ख्वाब होता। मेरे अल्लाह, यह सब कुछ ख्वाब होता। तो मैं क्या करता ? मै दीवाना हो जाता, मै मर जाता। अब इतना तो है कि वह इक ख्वाबे-परेशाँ का, एक फरेबे-रंगो-बू का गुमान[5] ही सही। मगर मेरे बेताब दिल, मेरी बेकरार रूह के लिए एक सहारा, एक तस्कीन, एक उम्मीद तो मौजूद है। क्या कहूँ मै कितनी मर्तबा आँखें बन्द कर लेता हूँ और अपने तसव्वुर से कहता हूँ कि मुझे इक ज़रा फिर वही नक़्शा, वही फिरदौसी[6] नक़्शा दिखा दो, आह, यह ख्वाब अगर ख्वाब है, तो भी खुदा करे मैं हर वक़्त ऐसे ख्वाबों में खोया रहूँ। हर लम्हा ऐसे ही ख्वाब देखता रहूँ।

जब तक मेरी प्यारी जान, मेरी शीरीं-रूह, तुम्हारा खत नहीं आ जाता, मैं इज़्तराबे-शौक़[7] से ख्यालात की ला-इन्तहा, ला-महदूद[8] फिजाओं में तुम्हारे तसव्वुर की हज़ारों धुँधली-धुँधली बहिश्तें तैयार कर लेता हूँ। गोया तुम मुझे खत लिख रही हो। मैं तुम्हें चुपचाप इक तरफ़ खड़ा हो कर देखता हूँ और देखता रहता हूँ। हाय, मैं क्योंकर कहूँ कि मैं तुम्हें किस-किस रंग में, किस-किस आलम में किस-किस तरह देखता हूँ ? किस दर्ज़ा हसरत के साथ, किस दर्ज़ा बेताबाना उम्मीदों से, कितनी दिलगुदाज[9] मगर फिर भी खुशगवार तमन्नाओं के आलम में देखता हूँ। इस हाल में कि हल्की-सी मुस्कराहट मेरे होंठों पर होती है। मैं देखता हूँ कि कभी तुम्हारी निगाहें, तुम्हारी नशेवाज निगाहे शर्मा जाती है, झुक जाती है और कभी तुम्हारे परीवश होटों पर एक मासूम कली का सा तबस्सुम लहराने लगता है। अलग़र्ज उस वक़्त के वह जज्बात[10] जो तुम अपने खत में मुन्तकिल[11] कर देना चाहती हो, तुम्हारे कलम से इल्फ़ात के रंग[12] में बेहिजाब होने से पहले तुम्हारे मल्कूती बुशर:[13] से छलक पड़ते है। और

१. सहिष्णु। २. मिठास। ३. आशा के विपरीत उल्लास के। ४. मस्त। ५. भरम। ६. स्वर्गीय। ७. शौक़ की बेचैनी मे। ८ अनन्त असीम। ९. दग्धहृदय। १०. भाव। ११. लिख देना, उतार देना। १२. आनन्दोल्लास में। १३. देवांगना जैसी मुखाकृति से।

मैं, मात्रूदो-अफकार[1], मेरी फिदाए अशआर[2] मैं तुम्हें उस हश्रतराज आलम में मजे ले-ले कर देखता हूँ। हाय, क्या कभी तुम ने भी इस हालत में मुझे अपने पास महसूस किया है? अगर नहीं, तो मैं इल्तजा[3] करूँगा कि ऐसा न करना। वर्ना फिर तुम्हारी हया सामानी[4] तुम्हारे जज्बाते-शौक[5] को बेतकल्लुफी से अदा न कर सकेगी।

इन्तजार की कयामत आफरीन मुद्दत से घबरा कर तुम्हें इतना खत लिख चुका था कि तुम्हारा खत पहुँचा। इन हाथों के निसार जिन्होंने यह तकलीफ गवारा की। उस कलम पर कुर्बान, जिस ने तुम्हारी शीरीं और मासूम रूह का पैगाम मेरी गुनहगार रूह तक पहुँचाया। उस नामाबर के सदके जिस ने यह खत मुझको ला कर दिया। जरा मुझे इजाजत दो—कि कलम हाथ से रख दूँ और पहले तुम्हारा खत पढ़ लूँ।

आह तुम मुझे मायूस कर रही हो कि २७ जनवरी की रात और उस की जहिस्त सामानी अब फिर कभी मुझे नसीब न होगी। हाय वह रात, वह निकहते-बेकरार, वह तबस्सुमे-बेइख्तियार अब कभी मेरे हाथ न आयेगी। वह नग्मा जो नूर[6], वह तूफान सुकरो-सुरूर[7] अब कभी मुझे नहीं मिलेगी। उस मौजे ऐशो निशात, उस बर्के-रंगो-बू को अब कभी न पा सकूँगा। उफ, तुम ने तो मुझे उम्मीद दिलाई थी कि मैं आइन्दा भी तुम्हारे माहे-पैकर हस्ती की रंगीनियों को गुदगुदा सकूँगा। मैं फिर भी तुम्हारी बहारे तिमसाल शख्सियत की रअनाइयों को प्यार कर सकूँगा। फिर यह क्या बेदर्दी है, कि अब तुम मुझे इस तरह नाउम्मीद कर रही हो। मगर उस का यह मतलब किस काफिर को मालूम था कि वह मुलाकात आखिरी मुलाकात होगी। और अगर तुम इस पर आमादा हो तो मुझे कहना चाहिए कि अभी इस अफसाने का आखिरी बाब[9] बाकी है। और उस का उनवान[10] 'जवांमर्ग' होगा, जिसे मेरे बाद तुम्हारा कलम मुकम्मिल करेगा। मेरी बदनसीबी कि बेखुदीए वस्ल की तिश्ना तराजियों ने मुझे उस रात गूँगा कर दिया था। यकीन मानना कि जिस कदर बातें सोच कर गया था, उस का हजारवाँ हिस्सा भी तुम्हारे हुजूर में बयान न कर सका। और इस लिहाज से मुलाकात हुई-न-हुई बराबर है।

शायद तुम मुझे नाशुक्रगुजार कहो। हालांकि मैं एहसान फरामोशी का आदी नहीं हूँ। मुझ से कुफ्राने मुहब्बत का गुनाह कभी सरज़द न होगा। मगर तुम्हारे एहसानात की बेपायानी[11] का शुक्रगुजार होते हुए भी यह कहने पर मजबूर हूँ कि मैं तुम से एक भी बात न कर सका। हाय 'दाग मरहूम'—

याद सब कुछ हैं मुझे हिज्र के सदमे जालिम
भूल जाता हूँ मगर देख के सूरत तेरी।

मेरा खयाल है कि आप मुझ से कुछ

---

१ मेरा आन्दगाया एव मेरा शायरी। २ मेरे अशआरों पर आसक्त। ३ निवेदन। ४ शर्मीली आदत। ५ चंचल भावों को। ६ नगे और प्रकाश की बाढ़। ७ मस्ती का तूफान। ८ बहार जैसे व्यक्ति के रूप को। ९ उपन्यास का अंतिम परिच्छेद। १० शीर्षक। ११ असीमता का।

बदगुमान या ख़फ़ा हो गयी हैं। ख़फ़गी की तो मैं कोई वजह नहीं देखता सिवाय इस के, उस रात मेरे 'होंटों' ने दो-एक गुस्ताखियाँ करने को जिसारत[1] जरूर की थी। अगर यह बात है, तो मै आप से हजार बार माफी चाहता हूँ। आइन्दा मुलाक़ात में आप देख लेंगी कि मै इस मुआमिले में किस क़दर ज़ब्त कर सकता हूँ। मुझे तस्लीम है कि मुझे उन गुस्ताखियों का, आह! उन हलकी-सी गुस्ताखियों का भी, जो दुनियाए-मुहब्बत में आम है, कोई हक़ न था। लेकिन अगर मै यह कहूँ, कि मैं ने 'फ़िज़ाँ'[2] की, 'जज़्बातअंगेज'[3] हालत के बावजूद इस से आगे बढ़ने की जुरअत न की तो क्या आप मेरी मुहब्बत की, मेरी मुहब्बत की मासूमियत की[4], उस की मलकूती और मुक़द्दस[5] हैसियत की दाद नहीं देंगी ?

नियाज़ फ़तहपुरी का पत्र

८० वर्ष के वयोवृद्ध हजरत नियाज फ़तहपुरी के एक पत्र देने का लोभ संवरण नही हो पा रहा है। आप उर्दू, फ़ारसी, अरबी के प्रामाणिक विद्वान् हैं। ग़ालिब, जोश, जिगर जैसे उस्ताद शाइरो के क़लाम पर वो-वो आलोचनाएँ और संशोधन किये है कि बखिये उधेड़ कर रख दिये है। 'निगार' उर्दू मासिक पत्र का ४० वर्ष से सम्पादन कर रहे है, जिस के १०-१२ विशेषांक, दो-दो सौ, ढाई-ढाई सौ पृष्ठों के केवल अपने लेखों से प्रस्तुत किये है। साहित्यिक, ऐतिहासिक और जनरल नॉलेज के अतिरिक्त आप को मुस्लिम धर्म की इतनी अधिक और विस्तृत जानकारी है कि भारत और पाकिस्तान के प्रायः सभी मौलवी आप की युक्तियों और लेखों का जवाब देने का साहस नहीं रखते। पत्र ऐसे माशूक़ को लिखा गया है जिसे उन्होने देखा भी नहीं है। दिल थाम कर पढ़िए और मेरी तरह बैठ कर सर धुनिए :

"इतना क़ातिल ख़त और इस क़दर तवील[6]। तुम तो सिर्फ़, यही कहना चाहती थीं न, कि आइन्दा मैं तुम्हें ख़त न लिखूँ। फिर यह पूरे छह सुफे क्यों? शायद इस लिए कि साफ़-साफ कहते हुए तुम्हे हिजाब[7] आता था।

नहीं, यह बात नहीं। मैं समझता हूँ तुम ने मुझे आहिस्ता-आहिस्ता जिबह[8] करना चाहा। इस तरह कि हलक़ पर छुरी चल रही है और तुम मुसकरा-मुसकरा कर मुझ को तसल्लियाँ भी देती जाती हो, और मै बे-ख़बर हूँ। यहाँ तक कि दफअतन[9] तुम्हारा हाथ शहे-रग[10] तक पहुँच जाता है। यानी तुम्हारा ख़त ख़त्म हो जाता है—इस हुक्म के साथ कि आइन्दा तुम्हे कोई ख़त न भेजूँ, और—मुझे ऐसा मालूम हुआ जैसे कोई निहायत बेशक़ीमत चीनी की क़ाब[11] दफ़अतन[12] हाथ से छूट जाये और फ़र्श पर गिर कर चूर-चूर हो जाये। लेकिन ख़ैर इस से एक फ़ायदा जरूर हुआ और वह

---

१. हिम्मत। २. वातावरण। ३. भावनाओं को भड़काने वाली। ४. भोलेपन की। ५. देवों-जैसे पवित्र आचरण की। ६. लम्बा, बड़ा। ७. लाज, संकोच। ८. कत्ल। ९. अकस्मात्। १०. नसों तक। ११. बड़ी प्लेट। १२. एकाएक।

यह कि तुम ने खत लिखने से बाज़ रख कर मुझे इस का मौका तो दे दिया कि जो कुछ कहना है, आज़ादी से कह दूँ और दिल की वह बात जो तुम पर ज़ाहिर न कर सकता था वह कह डालूँ। क्योंकि अब मुझे क्या डर है। तुम सुन न सकोगी और दुनिया सुनती है तो सुने। अच्छा तो शुरू करता हूँ—

एक था बादशाह हमारा तुम्हारा खुदा बादशाह।

तुम्हारी सब से पहली तहरीर[१] मुझ तक पहुँची, तो मैं देर तक सोचता रहा कि अगर यही बातें मैं तुम्हारी जबान से सुनता तो क्या होता। तुम्हें खबर नही, लेकिन हुआ यही।

मैं ने तुम्हारी तहरीर के एक-एक लफ्ज को देख कर, हर्फो की हर-हर कशिश को समझ कर, कागज़ के रग और उस की इत्रियत[२] से मदद ले कर मैं ने तुम्हारी एक तस्वीर खीची। कागज़ पर नही कल्ब[३] पर, दिमाग के उस पर्दे पर जो सिर्फ नग्मा-ओ-निकहत के नक्श[४] के लिए मख्सूस है और मैं उस में महव[५] हो गया। तो क्या मैं बता ही दूँ कि मैं ने तुम्हारी तहरीर के अन्दर छुपा हुआ तुम को कैसा पाया? मुआफ करना, मुमकिन है, कोई बात खिलाफे-हकीकत[६] हो या तुम्हारे ज़ौक[७] के खिलाफ। लेकिन जब मेरा यह खत तुम तक पहुँच ही नही सकता तो फिर यह अन्देशा क्यो।

अच्छा तो सुनो अब तुम अपना सरापा[८]। कोई पसन्द करे या न करे, लेकिन मुझे तो वह इस कदर अज़ीज़ है कि अगर तुम वाक़ई वैसी न निकली तो मुझे अफसोस होगा।

खुलता हुआ साँवला रग, यानी वह रग जो कैफियत से शुरू होता है और कैफ़ियत ही पर खत्म, वह जिसे छूने को जी चाहता है और होटो में बेइख्तियार कँपकँपी-सी महसूस होने लगे। मुआफ करना, मेरे हाथो ने भी तुम्हें छुआ और मेरे होंटो ने भी तुम्हारे लबो को मिस किया। जो रेशम की तरह नर्म और पँखुडी की तरह नाज़ुक थे। मैं ने तुम को नहीफ-ओ-नातवा[९] पाया। लेकिन अपनी रअनाई और कुशीदा क़ामती[१०] के लिहाज़ से तुम्हें ऐसा होना ही चाहिए। तुम्हारे बाल बहुत स्याह तो नही, लेकिन उन में एक खास किस्म की चमक ज़रूर है। और थोडा सा घूँघर भी कनपटी के बालो में मुझे नज़र आता है।

पेशानी[११] बहुत फराख[१२] है और उस में एक रग उभरी हुई मँगूँ माँग[१३] तक चली गयी है, भवे काफ़ी चौडी है और एक निहायत हलकी अम्बरी[१४] लकीर उन दोनो तलवारों को एक-दूसरे से मिला रही है। रग के बाद सब से ज्यादा कातिल चीज़ आँखें है। हर वक्त किसी खयाल मे मस्तगक रहने वाली आँखें। जिन को एक बार देख लेना गोया किसी समुन्दर में डूबते चले जाना है। चेहरा किताबी, गर्दन खिची हुई, तनासुब[१५] अज़ा

१ चिट्ठी। २ सुगन्ध। ३ हृदयपटल पर। ४ सगीत और सुगन्ध के लिए। ५ तल्लीन। ६ अवास्तविक। ७ रुचि। ८ नख शिख का वर्णन। ९ नाज़ुक दुबली-पतली। १० रूप और लम्बे कद के। ११ मस्तक। १२ उन्नत। १३ रक्ताभ माँग। १४ कस्तूरी गन्ध की। १५ उचित अग प्रत्यग।

काँटे पर तुलता हुआ। और चाल ऐसी जैसे कोई नागिन रास्ता काटती हुई सामने से गुज़र जाये। उम्र तुम खुद ही बता चुकी हो कि २० से कम और १५ से ज़्यादा है। गालिबन १८ साल। यह थी तुम्हारी तसवीर जो मैंने तुम्हारे सब से पहले खत को देख कर अपने दिल पर नक़्श की थी और अगर मैं यह सब कुछ पहले ही लिख देता, तो शायद उसी वक़्त मुझे लिख भेजतीं कि आइन्दा मेरे नाम कोई खत न भेजा जाये। मैं चाहता था कि तुम मुझ से ज़्यादा बेतकल्लुफ़ हो जाओ। मैं तुम को ऐसे लफ़्ज़ से खिताब कर सकूँ जो तुम्हारी खूबसूरत पेशानी पर हलका-सा नम[1] पैदा कर सके। लेकिन अच्छा हुआ कि इस मंजिल तक पहुँचने से पहले ही यह बिसात उलट दी गयी और तुम ने ज़िन्दगी की उस तल्ख़ हक़ीक़त[2] को जान लिया कि अगर औरत उस के समझने पर मजबूर न हो तो खुदाई का दावा भी उस के लिए कोई बड़ी चीज़ नहीं।

हरचन्द मैं तुम को दुनिया मे आज़ाद, इन्सानी दस्तरस[3] से दूर किसी आस्मानी देवी की तरह बुलन्द देखना चाहता था। लेकिन मेरी यह तमन्ना पूरी न हुई और तुम्हारी जिन्दगी का वह दौर, जब तुम्हारा जिस्म तुम्हारी रूह[4] के अन्दर महवे-ख्वाब[5] था जल्द खत्म हो गया। फिर बताओ कि अब तुम क्या करोगी। मगर मैं यह क्यों पूछ रहा हूँ? मुझे क्या हक़ हासिल है। और अगर तुम कुछ कहना भी चाहोगी तो कैसे कहोगी? और अगर तुम कहोगी भी तो कलेजे पर कौन हाथ रखेगा। तुम्हारे इस छह सुफ़े की दास्तान में सब से ज़्यादा तड़पा देने वाली बात यह थी कि तुम्हारे जिस्म के साथ तुम्हारी रूह का सौदा नहीं हो सका। बावर[6] करो, यह सुन कर मुझे बहुत क़लक हुआ। और देर तक सोचता रहा कि तुम किस क़दर घबरा रही होगी। लेकिन अब मैं तो तस्कीन के अल्फ़ाज भी तुम तक नही पहुँचा सकता। क्या करूँ, मजबूर हूँ। अच्छा तो लो, अब मैं अपनी तस्कीन[7] की चीजें अपने से जुदा किये देता हूँ और तुम्हारी तमाम तहरीरें[8] जिन को मैंने इस वक़्त तक हिरजे-जान[9] बना कर रखा था, नजरे-आतिश[10] किये देता हूँ।

ऐ इज़्जतो शराफ़त की देवी! मेरी यह कुर्बानी क़ुबूल कर ले।

[नवम्बर १९६३]

---

१. लाज भरा पसीना। २. कटु वास्तविकता को। ३ पहुँच से। ४. आत्मा के। ५. स्वप्न में लीन। ६. विश्वास। ७. सुख-चैन की। ८. चिट्ठियाँ। ९. प्राण-रक्षा का कवच। १०. अग्नि की भेंट।

'अँधेरे बन्द कमरे' और साझे की डोर

मोहन राकेश

•

प्रिय सुधा,

हवा और रोशनी की बात एक अँधेरे कमरे में रह कर भी की जा सकती है। ऐसा न होता, तो आपसी अपरिचय को किसी-न-किसी रिश्ते में ढालने की आवश्यकता न होती—उस रिश्ते का कोई भी नाम क्यों न हो। पर हम इस कमरे में रहने के इतने आदी हो चुके हैं कि रिश्तों से बाहर एक खुले और नामहीन सम्बन्ध की बात सोच ही नहीं सकते। सोचना चाहें तो उस से कमरे की मर्यादा टूटती है। इसी से एक साधारण पत्र के लिए भी इस तरह की आवश्यकता महसूस होती है।

'अँधेरे बन्द कमरे, जिन में कोई रोशनदान नहीं' और उपन्यास का शीर्षक 'अँधेरे बन्द कमरे' न हो कर 'टूटते हुए', 'धुन्ध' या 'लौ' होता तो मेरी समझ में नहीं आता कि एक उपन्यास (या किसी भी रचना) के शीर्षक को लेकर इतना आग्रह क्यों होता है। तुम्हारी दोनों बातों के अन्तर्विरोध के बावजूद मन में आता है कि क्या किसी भी रचना का कोई एक पूरा शीर्षक हो सकता है? तुम्हारा तीन-तीन सुझाव देना अपने में ही हर शीर्षक के अधूरेपन की गवाही नहीं है? इस अधूरेपन से बचने का एक ही रास्ता है—कि कोई शीर्षक दिया ही न जाये। शीर्षक रचना की सार्थकता को बढ़ाता नहीं, हाँ, उस के अर्थ को सीमित ज़रूर कर सकता है। फिर भी एक या दूसरा शीर्षक देना आवश्यक हो जाता है, क्योंकि बिना शीर्षक के रचना की निजता स्थापित नहीं होती। और जब शीर्षक दिया जाता है तो उस के पीछे कोई-न-कोई मानसिक संगति भी रहती ही है। इस लिए अब भी चुनना हो, तो मैं इस उपन्यास के लिए फिर से यही शीर्षक चुनना पसन्द करूँगा।

'टूटते हुए' 'धुन्ध', 'लौ'—ये तीनों शीर्षक एक प्रक्रिया का संकेत देते हैं, जब कि 'अँधेरे बन्द कमरे' का संकेत एक स्थिति को लेकर है। हरबंस और नीलिमा (और वे सब लोग जो उन की-सी ज़िन्दगी जी रहे

हैं) अपने अन्दर और बाहर के परिवेश में आज जहाँ अपने को पाते हैं, वह प्रक्रिया से अधिक एक स्थिति है—कम-से-कम उन की ज़िन्दगी के लिए तो है ही । कल को स्थिति बदल जाये, यह ऐतिहासिक दृष्टि से सच हो सकता है, पर उपन्यास का सम्बन्ध आज के यथार्थ से है । यह यथार्थ एक गतिरोध–मध्य-वर्ग के दाम्पत्य सम्बन्धों में आया गतिरोध । हरबंस और नीलिमा इस गतिरोध में रह कर छटपटाते है पर इस से उबर नही पाते । उन के अन्दर एक उफान है—आशा और प्रयत्न—पर यह उफान बार-बार 'अँधेरी गोल दीवारों से' टकरा कर लौट आता है । आरम्भ से अन्त तक वे तनाव और निष्फल संघर्ष की स्थिति में जीते है । सारी कोशिशों के बावजूद जहाँ के तहाँ बने रहना उन की अनिवार्य स्थिति है—स्थिति, नियति नही । नियति का संकेत मधुसूदन के जीवन में है, पर उस की चर्चा मै आगे चल कर करूँगा ।

जो लोग स्थिति की, वास्तविकता को स्वीकार करते हिचकिचाते है, उन्हें अन्त मे नीलिमा का हरबंस के पास लौट आना ग़लत लगता है । पहले पेरिस से भी वह इसी तरह हरबंस के पास लौट आयी थी, इस से उन का ख़याल है कि एक ही स्थिति को उपन्यास में फिर से दोहराया गया है । पर क्या सचमुच ऐसा ही है ? क्या नीलिमा के दूसरी बार लौट आने से वह मजबूरी अधिक रेखांकित नहीं होती—स्त्री और पुरुष के निर्भरता चाहते रेशों की मजबूरी—जो साथ जीने की सारी ऊब और कसमसाहट के बावजूद उन्हे एक-दूसरे से बाँधे रखती है ? उन के बीच एक गहरी खाई है, और आस-पास एक गहरा खला—वे चाहकर भी उन्हें भर नहीं पाते पर न भर पाने की मजबूरी से बच कर क्या वे रह सकते हैं ? एक-दूसरे से तटस्थ होकर जी सकते है ? अँधेरे मे भटकना और बन्द होकर रहना उन की मजबूरी है, फिर भी वे एक ही कमरे में एक साथ है–यह कमरा उन की साझी ज़िन्दगी है । अँधेरे या बन्द होने से मुक्ति एक-दूसरे से हट कर उन के लिए नही है—न एक के लिए, न दोनों के लिए । इस लिए रात-दिन आपस में टकराते हुए भी एक साथ जिये जाते है, क्योंकि मुक्ति उन के लिए यदि है तो एक-दूसरे में, और एक-दूसरे की साझीदारी में ही है । पर मुक्ति उन्हे मिल नहीं पाती—इस का कारण उन के अलग-अलग व्यक्तित्व ही नहीं वह वातावरण भी है जिस में कि वे जीते है ।

पर तुम ने अपने पत्र में इस वातावरण की बात नहीं उठायी । तुम्हें शायद लगा कि वातावरण मूल कथा मे अन्तराल देने और उपन्यास मे सजीवता लाने भर के लिए है । मधुसूदन, जो हरबंस और नीलिमा से कहीं ज्यादा इस वातावरण का साक्षी है, 'कभी गलियों मे, कभी सड़कों पर, कभी क़स्सावपुरा की बस्ती मे और कभी कनाट-प्लेस' मे क्यों भटकता है, महज एक पत्रकार होने के नाते ? या इस लिए कि वह आज के उन अभिशापित व्यक्तियों में से है जो सजग और सचेत होते हुए भी जिन्दगी की धुरी से अपने को टूटा हुआ पाते है ? वह भटकता है, अलग-अलग

लोगो के बीच जीता है, अलग-अलग परि-स्थितियो को एक सूत्र में रख कर देखना चाहता है, क्योकि टूट कर जीने की स्थिति उसे स्वीकार नही है, और वह इसे अपना 'दर्शन' बना कर नही रह सकता। ठकुराइन से लेकर पॉलिटिकल सेक्रेटरी तक और निम्मा से लेकर सुषमा श्रीवास्तव तक जिन्दगी का भूल-भुलैया उस के सामने है जिस के सिरे पर खडा वह अपने लिए रास्ता खोजना चाहता है। ऐसा रास्ता जो उसे 'निरन्तर टूटते जाने' से बचा कर सम्बद्ध होने की दिशा में ले जाये। इसी लिए वह हर व्यक्ति की जिन्दगी को जैसे अपने अन्दर भोगता है। हरबंस और नीलिमा का जीवन एक ऐसा सघर्ष और द्वन्द्व है जो उन दोनो तक ही सीमित है। लेकिन मधुसूदन का जीवन द्वन्द्व नही, क्राइ-सिस है जो उस तक ही सीमित नही। अपनी खिडकी के पास खडा वह दूर-दूर की बस्तियो को देखता हुआ इस क्राइसिस के सूत्रो को एक जगह समेटने का प्रयत्न करता है—और यह समेट सकने की प्रक्रिया ही उस की रोज की जिन्दगी है। निरन्तर इस प्रक्रिया में रहने से ही आधी आधी रात तक वह सो नही पाता—सराय रुहेला स्टेशन से सुनाई देती इंजन की चीख हर वक्त उस के अन्दर गूँजती है। ओखला में घूमती लड़कियों की आँखों और आकाश में उडती चीलों की फडफडाहट में वह एक संगति ढूँढता है—दूहो की नगी जमीन और पुल के नीचे से गुजरती गाडियो में, अपने खुश्क होठो और नीलिमा के जमीन खरोंचते पैरो में। उसे लगता है कि जिन्दगी का वास्तविक स्वर वह नही है जो कॉफी हाउस के कहकहो या आधी रात को कोलतार पर फिसलते पहियो में सुनाई देता है—वह स्वर वास्तव में दूसरा है—रात को शीशे का जग टूट जाने पर बाहर दरवाजे पर दी जाती दस्तक का, या ठण्डे खाली प्लेटफार्म पर प्रतीक्षा करते ठिठुरे पैरो का। वह इसी स्वर को पकडना, पहचानना और अपनी जिन्दगी में आत्मसात करना चाहता है। यही खोज है जो टैक्सी का मीटर डाउन होने पर, और यह पूछे जाने पर कि उसे कहाँ चलना है, उस से कहला देती है—'कस्साबपुरा'। इस का यह अर्थ लेना—मेरे एक मित्र की तरह—कि मधुसूदन सुषमा जैसी 'पढी लिखी' और व्यक्तित्व सम्पन्न' लडकी के सम्पर्क से डर कर निम्मा-जैसी अनपढ लडकी से 'शादी करने' चल देता है, एक ऐसी सादगी है जिस पर कि कुछ भी नही कहा जा सकता।

मधुसूदन मात्र साक्षी, या दूसरा के 'होने' में 'इण्टरेस्टेड' एक व्यर्थ इकाई नही, और न ही महज एक डायरी है, वह अपने समय का प्रतिनिधि पात्र है जिस की जिन्दगी में 'पूरा' कुछ नही है, और 'अपना' कह सकने को भी बहुत कम है। उसे जिन्दगी में जो कुछ भी मिलता है—पैसा, प्यार या सम्मान—सिर्फ छोटे-छोटे टुकडो के रूप में ही मिल पाता है, और हर टुकडा भी कही न कही से टूटा या जंग खाया होता है। किन्ही क्षणो में कुछ भी भरपूर 'पा' लेने का अहसास, उस के लिए नही है—सुषमा की

बाँहों में अपने को खो देने के क्षणों में भी सहसा एक चुभन उसे साल जाती है जिस से उसे अन्दर और बाहर सब कुछ पथराया हुआ लगने लगता है और सड़क, खम्भे, तारे और आकाश, सब (उस के लिए) एक क़ब्रिस्तान की तरह हो जाते हैं। वह जिन्दगी के इस खण्डित रूप को स्वीकार कर सकता, तो शायद तटस्थ, उदासीन और कुछ हद तक प्रसन्न भी हो सकता था, पर समझौते के स्तर पर जीना उस के बस का नहीं, इस लिए वह लगातार भटकता और छटपटाता है। यह नियति आज किसी एक व्यक्ति की नही, उन हज़ारों-लाखों व्यक्तियों की है जो किसी भी परिस्थिति मे 'जीने' के प्रति अपनी ईमानदारी का आग्रह नहीं छोड़ पाते।

मधुसूदन दो दुनियाओं के बीच जीता है—एक दुनिया निम्मा और ठकुराइन की है और दूसरी हरबंस और नीलिमा की। उस की अपनी दुनिया इन दोनो के बीच में कही है क्योंकि आर्थिक और मानसिक रूप से वह संक्रमण की स्थिति में है। उस को पूरी सम्बद्धता न यहाँ है, न वहाँ। दोनों दुनियाओं का जीवन दो अलग-अलग परिस्थितियाँ हैं जो उसे समान रूप से प्रभावित करती है। एक उस के आरम्भिक जीवन की खाद है, दूसरी आज के जीवन का हवा-पानी। वह अपने को किसी भी एक से अलग नहीं कर सकता। आज के व्यक्तित्व की यही मजबूरी इस उपन्यास के लिखे जाने की मुख्य प्रेरणा थी। यह मुझे भी लगता है कि मधुसूदन के दोनों ओर की परिस्थितियों में शायद ठीक सन्तुलन नही रह पाया जिस से हरबंस और नीलिमाका आपसी संघर्ष उपन्यास का केन्द्र-बिन्दु बन गया जान पड़ता है।

एक ओर तुम ने लिखा है कि उपन्यास में 'नीलिमाका अन्तर्द्वन्द्व सबसे सुलझे हुए रूप में उभरकर आया है' और दूसरी ओर कि 'पाठक को यदि उपन्यास के किसी पात्र से सहानुभूति होती है तो वह हरवंस ही है'। यहाँ तुम्हारा मतलब किस तरह की सहानुभूति से है, यह मैं नहीं समझ सका। क्या तुम्हें इसलिए हरबंस से सहानुभूति होती है कि उसके चरित्र में तुम्हें किसी तरह की निरीहता नज़र आती है ? यदि ऐसा है तो वह सहानुभूति नहीं, दया है, 'दया' की भावना को हरबंस-जैसा व्यक्ति, कभी अपने लिए स्वीकार नही करना चाहेगा। पर यदि सचमुच तुम्हारी सहानुभूति सहानुभूति ही है, तो शायद हरबंस के अन्तर्द्वन्द्व ने ही तुम्हें अधिक प्रभावित किया है, क्योंकि उस का अन्तर्द्वन्द्व किन्हीं मूल्यों को लेकर है जबकि नीलिमा का अन्तर्द्वन्द्व मुख्य रूप से उपलब्धि की खोज पर आश्रित है। हरबंस अपने अन्तर्द्वन्द्व से टूटता है, पर इसलिए नहीं कि नीलिमा उस की पत्नी है, या कि वह वैवाहिक बन्धन से बचना चाहता है, न ही इस का कारण नीलिमा को समझ पाने में उस की असमर्थता है, न ही किसी तरह की दुर्बलता, या शुक्ला के प्रति एक अस्पष्ट आकर्षण। वह टूटता है क्योंकि वह नीलिमा को उपलब्धि से हटकर मूल्यों के स्तर पर जीना सिखाना चाहता है और नहीं सिखा पाता। उसे अन्दर-ही-

अन्दर जो घुन लग चुका है, वह किन्ही कुण्ठाओं के कारण नही, बल्कि उस पराजय के कारण है जो नीलिमा के उपलब्धि-दर्शन से बार-बार टकराकर उसने महसूस की है। वह टूटने से बचने के लिए नीलिमा से दूर भागता है, मगर अन्दर के रेशों से वह इस तरह उस से जुड़ा हुआ है कि उससे अलग होकर वह किसी भी तरह नये सिरे से ज़िन्दगी शुरू नही कर पाता। शुक्ला की कुछ विशेषताएँ उसके अभाव को गहरा जरूर कर देती हैं, पर वह जो कुछ पाना चाहता है, नीलिमा से ही पाना चाहता है। नीलिमा से हटकर शुक्ला को पा लेने से समस्या हल हो सकती, तो उसका अन्तर्द्वन्द्व इतना गहरा न होता। वह विदेश में जाकर शुक्ला की जगह बाला या किसी भी और लड़की को अपना सकता था। तब वह नीलिमा के नाम इतने लम्बे-लम्बे पत्र न लिखता, और न ही भीगी बालकनी पर बैठा उसके लौटकर आने-न-आने को जिन्दगी का केन्द्र बना लेता। नीलिमा उसकी कमज़ोरी को जानती है और शायद इसीलिए उससे इतनी दूर जा पाती है। हरबंस को नीलिमा के 'बनने' से चिढ़ नही है, (जैसा कि नीलिमा भी कई बार कहती है) उस रास्ते के 'बनने' से चिढ़ है जिसे कि वह अपनी जिन्दगी मे अपना रही है। वह न सिर्फ नीलिमा से एक ऐसी मित्रता चाहता है जिसकी बुनियाद पारस्परिक ईमानदारी, भावनात्मक लगाव और मानसिक समदृष्टि पर हो, बल्कि साथ यह भी कहता है कि 'मुझे आज अपनी आँखों मे एक भेंगापन दिखाई देता है जिसे मैं चाहता हूँ कि तुम मिटा सको—तुम मेरी चाह के साँचे में ढलकर मेरे लिए वह दृष्टि पैदा कर सको जो मुझे एक सीधे और प्रशस्त मार्ग पर ले जाये। इसीलिए वह अपना काम छोड़कर ट्रूप मैनेजर के रूप में उसके साथ-साथ सारे युरॅप में भटकता फिरता है। पर जिस सौन्दर्य की उसे कामना है, वह उसे नीलिमा मे ही नहीं, अपने में भी नही मिलता।

और—कि रोशनी नहीं है, कि उपन्यास के वातावरण में एक घुटन है जो साँस नहीं लेने देती—यह सब मुझे केवल शब्दो का खिलवाड़ जान पड़ता है। मैंने शुरू मे भी कहा है कि एक रचना के शीर्षक को लेकर ऐसा आग्रह मुझे ग़लत लगता है।—इससे तो लगता है कि एक साहित्यिक कृति की नहीं, बल्कि एक इमारती चर्चा की जा रही है।

उपन्यास के शीर्षक को लेकर और भी कई तरह की बातें कही जाती है—कि लेखक को सारी जिन्दगी अँधेरे बन्द कमरे से सिमटी नजर आती है, कि हवा और रोशनी के लिए उसके खयाल में आज की जिन्दगी मे अवकाश नही है। पर क्यों कोई भी रचना पूरी जिन्दगी के किसी एक पहलू को ही चित्रित करती है, और हर रचना का अपना अलग क्षेत्र और विस्तार होता है। इस बात को जानते वे भी है जो इस तरह शीर्षकों से खिलवाड़ करते हैं—पर यह एक ऐसी आदत है ज़ो आसानी से छूट नहीं पाती।

सस्नेह,
मोहन राकेश
[जुलाई १९६५]

निर्णय के अन्तरंग क्षण

दूधनाथ सिंह



[ये मेरी डायरी के कुछ पृष्ठ हैं । अलग अलग तारीखों में लिखे गये पन्नों को मैंने यहाँ एक विशेष दृष्टिकोण से चुन कर एकत्र कर दिया है जिस से एक विचार क्रम और रचना में संलग्न मन स्थिति का क्रमबद्ध परिचय मिल सके । इसी लिए तारीखों और महीनों की सूचना देनी ज़रूरी नहीं समझी गयी है ।]

कैसे क्षण आते हैं ! कैसी लहरों में सारा अस्तित्व झकृत होता है ! कल्पना के अजीब-से पख और अतर्कथाएँ । चारों ओर अनन्य चेहरे और उन में कैसी-कैसी आँखें । उन आँखों में कितनी अतर्कथाएँ । फिर शब्द । फिर मूक अभिव्यक्ति । जैसे कुछ न कह कर सब कुछ कहना । या कि खुद न समझ पाना कि मन किन कथाओं में भटक रहा है !

कौन-सी कहानी अन्दर-ही-अन्दर बन रही थी और एकाएक सब कुछ बदल गया । फिर केवल क्षोभ । केवल उदासीनता—जिसे व्यक्त नहीं किया जा सकता । बल्कि उस की जगह और गहन गहनतम सस्मरण । बनती हुई कहानी के नष्ट होने की यादगार ।

एक जीवन शुरू हो जाता है और कैसे उस के इर्द-गिर्द की सारी सम्भावनाएँ कट जाती हैं । दुनिया कितनी छोटी हो जाती है । कल्पना और अनभिव्यक्ति के अन्तराल में कई-कई चेहरे प्रकट हो कर अपने-आप को नष्ट करते रहते हैं । ओह ! अगर एक बार अभिव्यक्ति का अवसर मिल जाता ! और यह दुनिया न होती और ये भय न होते और ये लोग और सम्बन्ध और ज्ञान और नीति अनीति के बन्धन न होते—तो वह कहानी अन्तत बन जाती । और उस के बन जाने का अप्राप्य सुख ! उस की अप्राप्यता का ज़रा सा महसास ही मन को किस तरह पुलक से भर देता है !

मन का एक सूक्ष्म तार किस तरह अनभिव्यक्ति से सदा के लिए जुड़ा रहता है ! वह महाकाव्य कितना असम्भव है जो अनजान में ही छूट जाता है ! वह पुलक, वे अग-प्रत्यग,

वह सौन्दर्य, वह रस और सुडौलपन····वे मसृण नितम्ब····वह आँखो की लज्जा—वह सब कुछ अन्दर-ही-अन्दर लिखा जा कर नष्ट हो जाता है। उस कविता का साक्षी सर्वनाश है। (क्या उसे लिखना ही होगा? उस रचना मे टूट जाना ही अन्तिम परिणति है।)···· यह सब कितना अनकहा है। स्वयं मुझ से भी किस तरह ये सारे के सारे तार हाथों से फिसल जाते हैं। यह अनदेखापन कितना साकार है! वह प्रेम नहीं है। वह अप्राप्यता है। वह असम्भावना है। वह अनहोनी है। वह आभास है। वह अहसास है। वह अनन्यता है। वह अनस्पर्श है। वह ध्वनिहीनता है। वह एक समूचा परायापन है। वह।

वह परायापन कितना सालता है! किस कदर विक्षोभकारी है। यह असम्भावना कितना तोड़ती है! कितना अमानवीय बनाती है! किस तरह क्षण और वर्षो को काट कर समतल करती है। किस तरह मै केवल अन-भिव्यक्त मौन मे ही विश्वास करने लगता हूँ! किस तरह मैं जीवन को घेर कर बैठ जाता हूँ और अपने को निज से काट देता हूँ—निजत्व की तीखी छुरी से स्वयं को जिबह करना कितना हास्यास्पद है! क्या इसे कोई सम-झेगा? फिर एक अकेलापन—फिर-फिर वही अनभिव्यक्ति की, असम्भाव्य की लहरें छोप लेती है।

वह कौन-सी प्रतीति है जो मुझे एक वीरान दायरे में भटका देती है। मै केवल उन निराकार अंगों का स्पर्श करता हूँ और फिर वे साकार होते-होते मिट जाते है। इस तरह का सन्नाहटा मेरे मन को कितना सुकून देता है। कितनी उत्तेजना से भर देता है! कहाँ लौटा ले चलता है! उस अवर्णनीय स्वप्न की ओर। एक अन्धकार है कोमलता का। झूठ; वहम। विकार मेरे मन मे है। बाहर कहीं कुछ नहीं। लेकिन यह विकार कितना पवित्र है! कितना एकाकी! कितना अपना। इस तरह का अनस्थापित सम्बन्ध, जिस की असम्भावना में ही मेरी कल्पना मुखर हो उठती है!

इसे मेरे सिवा कौन जानता है—ईश्वर! कि मैं कितना पवित्र हूँ; कितना अकेला हूँ और एक ही साथ कितनी शताब्दियों में जी रहा हूँ!

मेरी आँखों में यह कौन-सा भाव है। यन्त्रणा के असह्य क्षणों मे इतनी उज्ज्वलता—इतनी अपरूपता! काश! इस का कोई अर्थ होता! काश! इस से बड़ा भी कोई अनर्थ होता! इतना सुख! काश यह झूठ होता! और इस के पीछे की लहरें और अन्धकार—फिर-फिर प्रत्यावर्तन। आँखों के आगे एक उदासीनता का कमलवत् चरणों से टहलना।··· भाषा की असम्भवता को मैं ने अनेक बार जाना है। लेकिन वह मौन, वह असम्भाव्यता इतनी सुखद कभी नही थी। पहले हमेशा, भाषा के मौन पर मैं ने उसे टटोला है। उसे तोड़ने की कोशिश की है, और सच, मैं ने तोड़ कर ही दम लिया है। मेरी अभिव्यक्ति पर जितना ही मौन ने छाने की कोशिश की है, उतनी हो त्वरा, उतने ही आक्रोश और साहस से मैं ने उसे भेद दिया है।

अब नहीं। अब मैं भाषा के मौन के उस महत्व को पहचानता हूँ। अब केवल मेरी अभिव्यक्ति का साधन मेरी आँखें हैं जो कुछ भी नहीं व्यक्त करती। अब यह उपहासास्पद लगता है। अब मैं केवल इच्छाहीनता को व्यक्त करता हूँ। यह कितना कठिन है। असम्भव के निकट। मैं हड्डियों को जलाता हूँ तो शब्द निकलते हैं। वह ध्वनि कितनी अनोखी और अपने निकट है। एक ही साथ कविता आकार भी लेती है और स्रष्टा को नष्ट भी करती चलती है। यह केवल एक मृत्यु-मुखी आनन्द है। यही परिणति है एक वृहत्तर अभिव्यक्ति की समग्र परिणति। यह सब कितना असहनीय है! जब मेरी आँखों के आगे चिनगारियाँ छूटती हैं। और उस के बावजूद मैं इस दुनिया को उन्हीं आँखों से देखता हूँ। जब मेरी सारी प्रिय वस्तुओं पर मे मेरा विश्वास उठ जाता है और सहसा एक शोरो गुल मे भरे लम्बे अकेलेपन में मैं छूट जाता हूँ। फिर भी वह चीज़—वह एक चीज़—मेरे हाथों से नहीं छूट पाती गो कि सारे प्रमाण उस के टूट जाने के लिए काफी हैं। मैं उसे अपने मे चिपकाये भागता फिरता हूँ और सारे आकाश में मेरे भागने की एक उदास गूँज रह जाती है। अब मैं उस लय को, उस सत्य को पहचानता हूँ जिसे मैं ने लोगों के बीच खो दिया था। अब उस आक्रोश में अपनी पवित्रता की झलक मुझे मिल जाती है। यह एकान्त सच में, एकान्त है

• •

'गो मैं रहा रहीने-सितम हाय-रोज़गार।
लेकिन तेरे ख़याल से ग़ाफ़िल नहीं रहा॥'

एक दीवार-सी है। एक कवच-सा या कुछ जो हर क्षण महसूस होता चलता है। महसूस भी नहीं—यह लगता है कि वह चीज़ है। सर्वत्र, हर क्षण। उस से मुक्ति नहीं है। वह छोड़ कर जा नहीं सकती। हर वक्त घेरे रहती है। और तुम निश्चिन्त अपना काम करते चल रहे हो। तुम इस के बारे में सोच भी नहीं रहे। वर्षों में शायद कभी, किसी रात अचानक नींद खुल जाती है और उस का अह-सास छा जाता है। उस मरी हुई चीज़ का। एक भय सा लगता है और फिर निश्चिन्तता, विश्रान्ति—एक मरी हुई विश्रान्ति। फिर कोलाहल और सन्नद्धता। फिर तैयारी तैयारी—कि अचानक लगता है—एक क्षण आता है—एक ही क्षण—कि बुझ जाना है—मृत्यु। और तब पता नहीं कितनी अँधेरी, भूली हुई, वीरान, अनपहचानी राहों को फोड़ कर सहसा वही दीवार सामने खड़ी दीख जाती है। फिर सब कुछ सहज हो जाता है। जब लिखने बैठते हैं तो दूसरी ही चीज़ होती है। महीनों बाद एकाएक पढ़ने पर असलियत का पता लगता है यह तो वह है। यह तो इस का स्रोत तो वहाँ है उस खोये हुए भाव में। उस गहनतम अन्धकार में। रचना का वह अन्तरंग लोक वह अण्डरवर्ल्ड। लोग चिलम का दम लगाये घूमते हैं। जुए खेल रहे हैं। सारी जिन्दगी इस जुए में हार चुके हैं। फिर भी यहाँ आते हैं और दाँव पर बैठ जाते हैं। मैं एक कोने में खड़ा इन अन

धिकारियों को देखता हूँ। अब मैं इन्हें बखूबी पहचानने लगा हूँ। लेकिन क्या हो सकता है! क्या मैं किसी को समझा सकता हूँ। या यह समझाने की बात भी है।

बहुधा रात के गहनतम अन्धकार में भेंट हो जाती है। सहसा मै पहचान नही पाता। वह आकृति चुपचाप दरवाजे के बाहर बैठी है। वह आकृति मेरा इन्तज़ार करती है। मै सुन्न-सा खड़ा देखता रह जाता हूँ। सामने एक हौज़ बना है। सीमेण्ट का। उस की गरदन से हौज तक एक मोटी रबर की नली लगी है। हौज़ खून से लबालब भरा है। आकृति मुसकराती हुई मेरा स्वागत करती है···। उस की हथेलियों में हरी-हरी पिनों की झालर उगी हुई है। वह उठती है और प्यार से अपनी हथेलियाँ मेरे सारे बदन पर फेरने लगती है। खरोंच-खरोंच····खरोंच····पूरे बदन से खून छलछला आता है। यह मै होता हूँ···रचना मे लीन। शायद यह अपना ही उपहास करना है····। ठीक है। किसी भी चीज का निर्णय इतनी जल्दी नही होता। निर्णय शायद कभी नही होता। सजाएँ मिलती है।

निर्वासन···अकेलापन···अन्ततः।

● ●

क्या वह चीज़ खत्म हो गयी है? वह आतंक या वह जागरण या वह आरम्भ की प्रतीक्षा? वह अभिसन्धि? नही, शायद वह सब कहीं चल रहा है। अपने-आप मे अनवरत। अन्ततः नरक मे प्रवेश। कला के नारकीय सन्दर्भो मे आस्था। वह चीज क्या देती है?

नरक। लेकिन क्या वह सप्रमाण है? ये निर्णय अन्ततः क्यों लिये गये? किस ने कहा था आप से। हिप्पोक्रेट्स ने? नही। वह अपनी कोई निजी विवशता नहीं थी। वह अपनी कोई व्यक्तिगत बाध्यता नहीं थी। वह एक समग्रता की हत्या का साक्षात् दर्शन था। एक अनाचार····। उसी ने ऐसे निर्णय लेने को बाध्य किये। क्या मैं इन यन्त्रणाओं से तब भी परिचित नहीं था? नहीं, उन का आभास मुझे तब भी था। लेकिन क्या मैं उस निर्णय को अस्वीकार कर सकता था? मैं ने नही किया। तभी मैं सर्व-साधारण से पृथक् हो गया। तभी मैं अपने दुःखों से हट गया, अपने अकेलेपन और अपनी दुर्दशाओं को त्याज्य समझ किन्ही और लोगों में तिरोहित हो गया। मै ने अपना लिया और तभी से मै व्यस्त हूँ। यह एक दुर्बोध-सी स्थिति है। ऊपर से देखने पर कुछ भी नहीं लगता। क्या मैं कुछ भिन्न हो गया हूँ? (सिवा इस के कि मेरे चेहरे पर खराशें पड़ गयी हैं··) क्या मै अभी भी उन्ही छल-छद्मों मे नहीं रेंगता दीख रहा हूँ। क्या अभी भी हिप्पोक्रेट्स, जुआरियों और शराबियों के बीच मुझे मजा नही आता? ये सारी बातें है लेकिन अन्दर से सब कुछ बदल गया है। फिर भी इसे सफ़ाई के तौर पर पेश नही किया जा सकता। बस एक कार्यरतता····सिर्फ़ श्रम··· श्रम···श्रम, अन्धश्रम···अनिवार, अनथक श्रम·· मिशन। एक-एक दिन, एक-एक पल··· श्रम-अनाहूत श्रम···और टूटना, तटस्थ होना और अपने कोने मे लौट आना। वहीं, जहाँ न कोई था, न कोई है, न कोई होगा।

उस से क्या होगा ? सब-कुछ अर्थहीन—एक दूसरे अर्थ में—एक दिन होता है—जब सम्पूर्ण जीवन अपने आप खुल जाता है। कोई वहम नही रहता। तब आदमी कितना निश्चिन्त हो जाता है। यह 'जानना' हर तरह से यन्त्रणादायी होता है। तब हम उन्नत होते है—एक निजी पूर्णता की ओर। वह सब कुछ अपने लिए होता है। अपने सुख के लिए नही—अपनी मृत्यु के लिए। मारा करणीय इसी लिए सार्थक है कि मुझे मर जाना है।

अकेलेपन की बात रूढ होती जा रही है लेकिन अकेलापन रूढ नहीं हो सका है। वह उतनी ही अनिवार्यता से विद्यमान है। व्यक्तिगत रूप मे शायद वह पहले भी रहा होगा। अब पूरी दुनिया समूचे रूप से अकेली होती जा रही है। हमारे युग का तथाकथित अकेलापन एक वृहद् अकेलेपन की भूमिका मात्र है। यह एक प्रारम्भ है। क्या हम अपने घर के एकान्त कोने में जब बिलकुल अकेले होते है तो पूर्णत सुखी नही होते ? क्योंकि तभी हम सच्चे अर्थों में अकेले नही होते। लेकिन ज्यो ही हम किसी से टकरा जाते है हम अकेला होना शुरू कर देते है। हम अपने को खोना शुरू कर देते है। फिर हम सडक पर आते हैं, फिर ट्राम बस में, रेल में, मेले में, कनाटप्लेस या चौरंगी में। हमारी आँखें खुली रह जाती हैं। भाषा लुप्त हो जाती है। हम एक भीषण अर्थहीन शोर के अंग हो जाते है। यह निश्चित है कि नागर सभ्यता के विकास के साथ साथ यह अर्थहीन शोर—यह शून्यवत् व्यवहार बढता ही जायेगा। और कला की प्रवृत्ति में अराजकता और अमूर्तता बढती जायेगी। क्षणो के अन्तराल में ही एक पूरी की पूरी सस्कृति और कला-पद्धति बासी पड जायेगी। यह भयावहता—इस भयावहता में कौन होगा वह ? कोई असाधारण शक्ति का व्यक्ति-कलाकार ही कलात्मक व्यवस्था और उच्चतम निश्चिन्तताओं को उपलब्ध कर पायेगा। अन्यथा कला-रचना एक समूह-प्रयत्न के रूप में ही प्रतिफलित होगी। उतनी बडी महत्त्वाकाक्षा के लिए उतना बडा अकेलापन झेलना कितना महत् होगा। यन्त्रणा की प्रखरतम स्थिति में ही प्रखरतम विश्वास पैदा होगा।

● ●

एक रचनाकार के रूप में हमारी नियति क्या है ? किसी भी प्रकाश में छूटने की नियति नही है । मेरी कोई नियति नही सिवा एक लम्बे दुर्भाग्य के। भारतीय रचनाकार (सच्चा रचनाकार) की स्थिति अत्यन्त करुण है। कई मायनो में हमारा दुर्भाग्य बडा है। हम ने युद्धो की तथाकथित गर्हित विभीषिका नहीं भोगी। लेकिन हमारे खतरे कम नही है। हम अपनी बाँहो में एक ओर सारे पिछडेपन को बाँधे हुए है तो दूसरी ओर उस समस्त वैज्ञानिक साधनों से उपलब्ध आधुनिक भय को भी। एक तरफ़ हम सारी दुनिया के साझीदार है तो दूसरी ओर अपनी आतरिक विगर्हणाओ से भी आक्रान्त हैं। ऊपर से हमारे सिरो पर शताब्दियों की तथाकथित सास्कृतिक, कलात्मक और काव्योपलब्धियां

का बोझ लदा हुआ है। हम भयावह रूप से आक्रान्त हैं। पश्चिम के सारे देशों के रचनाकारों से हमारा दुर्भाग्य बड़ा है। हमारे आगे-पीछे छायाएँ चलती हैं। हम भारमुक्त होने की स्थिति में अचानक समाप्त भी हो सकते हैं....। इसी लिए हमारी सम्भावनाएँ भी महत् हैं। यह दुर्भाग्य जितना ही बड़ा है, सम्भावनाएँ भी उतनी ही बड़ी हैं। इस बात को पश्चिम के तो क्या, अपने यहाँ के रचनाकार भी कितना समझ सके है। यह शताब्दियों का बोझ, यह विच्छिन्नता, यह भयावह दुर्भाग्य और क्षण-क्षण बदलते हुए अस्थिर मूल्य....! क्या मैं जानता हूँ कि क्या होगा ? क्या रचना में मेरा विश्वास मूलतः व्यर्थ नहीं है ? वह क्या है ? वह ? आकार लेता हुआ और धीरे-धीरे बढ कर मुझे निगल लेता हुआ—वह क्या है ?

● ●

वही वर्षा का स्वर है; बिलकुल वैसा ही। केले के पत्तों, अमरूद के बागानों, बेगनबेलिया के कुंजों और टिन और खपरैल की छतों पर गिरता हुआ—वही एक स्वर। अन्धकार मे एक रूप और आकार लेता हुआ—अनाहत, अन्तर्निहित...सुन्न .. झाँय-झाँय, झिम्म-झिम्म ...। कल तक चौधियाते हुए दिन थे। आज वर्षा है...बहुत दिन बाद।

ऐसे ही मे एक खत—नामहीन......। अन्धकार में रूप और आकार लेता हुआ... एक स्वर। अनाहत, अन्तर्निहित, एकमुख। फिर यह कविता की शुरूआत। जो बन नही रही है। अनुभव के अन्तराल में कुछ छूट-सा गया है। या तो यह कविता है ही नहीं या पैटर्न दूसरा है और मैं उसे अपने निजी पैटर्न में खोच रहा हूँ।...इसी वक्त अचानक मुझे लक्ष्मीकान्त वर्मा की याद आती है। पहले हँसी आती है फिर उस का सन्दर्भ ढूँढ़ने पर मिल जाता है। लक्ष्मीकान्त नयी कविता की काव्य-रूढ़ि से बहुत ऊबे हुए हैं। (शायद हर सचेत आदमी—कवि—ऊबा हुआ है।) उस काव्य-पैटर्न को छोड़ कर वह कुछ बिलकुल ताज़ा लिखना चाहते हैं। इस (स-) प्रयत्न मे वे कूड़ा इकट्ठा कर रहे हैं। उन की रुचि ऐसे पैटर्न या ऐसी वस्तुओं को या उन नीरसताओं को चुनती है जो वास्तव मे व्यर्थ और महत्त्व-हीन है। कविता मे किसी भी वस्तु या विषय या अनुभव-कोण को अंकित किया जा सकता है। उस की कोई सीमा-रेखा नहीं है। किन्तु 'गहरे' और 'महत्त्वपूर्ण' अनुभव का अंकन सापेक्षतः काव्योपलब्धि के रूप में भी 'गहरा' और 'महत्त्वपूर्ण' ही होगा बनिस्बत उस के, जिस मे 'छिछले', 'साधारण' और 'महत्त्वहीन' (एक व्यापक सन्दर्भ मे) अनुभवों का अंकन किया गया हो। स्वाद बदलने के लिए और थोड़ी-सी 'रीलिफ़' देने के लिए 'जोकर' बनना या मसखरेपन का या हलकी वस्तुओं (अनुभवों) का चित्रण करना उचित तो है लेकिन वह ग्रहणीय हो, महत्त्वपूर्ण माना जाये, उसे उपलब्धि के रूप मे ग्रहण किया जाये या उसे कोई नया प्रारम्भ माना जाये, ऐसा कुछ भी नहीं है। यह ऊब एक घबराहट और आन्तरिक रचनात्मक कमजोरी और ह्रास को

परिलक्षित करती है। इसे कोई सैद्धान्तिक रूप देना एक नये ढंग का पश्चगत शुरू करने के अलावा कुछ भी नहीं है। असल में जो इस सम्बन्ध में गम्भीरतापूर्वक सोचते हैं वे और अधिक अकेले पड़ते जा रहे हैं और आधुनिक काव्य-रचना उन के लिए किसी बाह्य परिवर्तन की सूचना न दे कर एक 'आन्तरिक खोज' के रूप में परिणत हो जाती है। वह अधिक शक्ति व्याकुलता और गहरी यन्त्रणा को जन्म देती चल रही है। वास्तव में कविता की शक्ति और यन्त्रणा की उस माँग को जो भी स्वीकार नहीं करता वह इसी तरह के बाहरी प्रक्षेपों की ताजगी और 'रिलीफ' के रूप में अपनाकर शायद शान्ति महसूस करेगा और खुश हो लेगा। क्या यह एक नये ढंग का पलायन नहीं है, जिसे 'तर्क' का आधुनिकतम लिबास पहना कर सामने उपस्थित किया जाता है। वास्तव में पलायन की जरूरत नहीं है। आधुनिकतम रूप में काव्य-रचना बहुत कुछ 'शक्ति' और 'यन्त्रणा' की माँग के अतिरिक्त कुछ भी नहीं रह गयी है। तभी कविता के कुछ देने का सवाल उठता है। वरना वह अन्य बाजारू माध्यमों से बेहतर कैसे हो सकती है या वह एक नैतिक दुस्साहस कैसे है ? यह 'शक्ति' और 'यन्त्रणा' की माँग अन्ततः आज के कवि को 'नीरस' बनाती है। यह असली 'नीरसता' ही वह तटस्थ काव्य-मर्म है। बहरहाल।

एक कौंध वही शाश्वत अपमान। शाश्वत चुनौती। लेकिन क्या उसे सहना मामूली बात है। वही शाश्वत चकाचौंध। यह असम्भव है। तब कला और लेखन के और गहरे स्रोत खोजने होंगे। खोजने ही पड़ेंगे। मुझे कभी-कभी प्रार्थना करनी चाहिए और विश्वासहीनता की ओर बढ़ना चाहिए—सिर्फ अपने प्रति। तब मुझे दूसरों-द्वारा किये गये अपमान की चिन्ता न होगी। तब मैं मुक्त हो सकूँगा। ऐसा अधिकांशतः होता है। क्योंकि तुम असत्य के, अनीति के, दुराचार के, धोखेबाजी, फरेब, जाल और हिप्पोक्रेसी के खिलाफ साधारण अर्थों में कुछ आशा रखते हो। तुम्हें अपने प्रति विश्वासहीन होना ही चाहिए और सच को सच की तरह लेना चाहिए और प्रार्थना करनी चाहिए। कभी-कभी यदि कुछ विपरीत होता है और तुम्हें लगता है कि विश्वास करना चाहिए तो तुम मुसकरा दो और विश्वासहीनता की प्रतीक्षा करो उस स्थिति की प्रतीक्षा करो जिसे सहने के लिए तुम से असाधारण शक्ति की माँग की जाये। तुम एक शैतान हो जिसे कोई ईश्वर नहीं मिलेगा, जिस से तुम लड़ सको। तुम्हें स्वयं से जूझना है। तुम्हें स्वयं को खा खा कर जीवित रहना है।

• •

धीरे धीरे उस संकट का आतंक कम हो चला है। उस अनिश्चितता का उस अनिर्णय का उस सान्त्वनाहीनता का और अपने को नष्ट होते देखते चलने का। (सम्भव है ऐसा सोचना भी एक भ्रम हो हो और कोई नया बदतर विनाश कहीं अँधेरे में मुँह खाले खड़ा

हो।) अब उस की जगह कुछ दीखता है। बहुत-सी चीजें साफ़-साफ़ दीखती हैं। एक शुष्कता, तापहीनता, नीरसता दिन-ब-दिन पास आती जा रही है। एक झेल सकने की ठण्डी क्षमता। एक हास्यहीन हँसी; एक अन्दर की सचाई। एक नया चेहरा है यह। अपने को किन्हीं विशालतर प्रवाहों मे धोता हुआ। एक दूसरी मन:स्थिति है····एक अनिवार क्रियाशीलता की तैयारी है। एक सहज, दुस्तर-ठण्डी सहिष्णुता है। दूसरों के बारे में····अपने ही सम्बन्धों के बारे में एक दूसरा आसमान है—स्वच्छ, नीला, धूप-धुला और बादलों से रहित। अब जो अधिकारी हैं उन की बात समझ मे आती है। अब अनधिकारियों का शोर मुझे नही सुनाई पड़ता। गो कि वे मुझे अब भी घेरे हुए है लेकिन अन्दर से मैं ने उन्हे काट दिया है। और मै मुक्त हूँ और बाहर निकल आया हूँ। केवल मैं ने अपनी इस शक्ति और अपने इस निर्णय को अपनी ओर से उन पर जाहिर नहीं किया है·—अपने पुराने संकोच के वश। अपने निर्णय को समझने की जिम्मेदारी मैं ने उन्ही पर छोड़ दी है।

लेकिन यह सब किसी नार्मल, साधारण नागरिकता की ओर बढ़ने का प्रयास नहीं है। मैं अपनी शक्ति को पुन: संयोजित कर के एक बृहत्तर विश्वासहीनता को प्राप्त करने की दिशा में उन्मुख हूँ। वह कहाँ है? वह विश्वासहीनता किस अर्थ मे संयोजित होगी? उस की माँग कितनी भयावह और कितनी कठिन होगी—इसे कौन जाने। लेकिन मैं अपनी सुरक्षा में व्यस्त हूँ जिस से मैं उस औसत दर्जे की निष्क्रिय सक्रियता और साधारण आस्था और व्यवहारबुद्धि और सम्बन्धों का परित्याग कर सकूँ—कहूँ कि मुक्त हो सकूँ और प्राप्त कर सकूँ—उस सम्बन्धहीनता को, तटस्थ, आन्तरिक, निजी उदासीनता को, जो मुझे सब से जोड़ सके। मैं अपनी आन्तरिक विसंगति को बाहरी विसंगति की बृहत्ता से मिला रहा हूँ। मैं राह पर हूँ···। अन्तत: वही मेरा लक्ष्य है—वही। जो मुझ से परे यन्त्रणा भोग रहा है और जीवित है। वह, जो मृत्यु मे जाता हुआ मृत्यु को काट कर फेंक देता है···वही मेरा मूल्य है···रचनाकार के नाते। अपने से छूट कर दूसरों में समाहित होना और फिर अन्तत: सब से पृथक् हो जाना—। उस निर्वासन को, इच्छाहीनता को सम्पूर्णत: स्वीकार कर लेना। नि:संग,···अपने मे तिरोहित, आत्महन्त····विश्वासहीन····। इसी लिए मैं कहता हूँ, मेरे सामने बहुत कुछ साफ है। समग्र रूप से एकदम साफ़···धूप-धुले आसमान की तरह।

इसी लिए साधारण अर्थों में लेखन मेरे लिए निरर्थक है। यही निरर्थकता मुझे उस के प्रति प्रतिश्रुत बनाती है। क्योंकि तब मैं सच को सच की तरह झेल सकता हूँ। अगर मुझ मे या किसी भी रचनाकार में यह बुनियादी ईमानदारी नही है तो रचना की 'सार्थकता' का उस के लिए कोई अर्थ नहीं होगा। वह सच्चे अर्थो मे पेशेवर लेखक होगा और सफल होगा—किन्तु रचनाकार नहीं। ज़ाहिर है कि किसी भी 'रचनाकार' के लिए पेशेवर लेखक बन सकना उतना ही असम्भव है

जितना कि 'पेशेवर' लेखक के लिए रचनाकार बन सकना। दोनों दो विपरीत दिशाएँ है।

इस निरर्थकता के भीतर से ही मैं अपने को समझ सकता हूँ। तभी मैं उपयोगी हो सकता हूँ। तभी मैं उस सचाई को छू सकता हूँ जो समयानुसार सच की है। वास्तव में यह किसी की सदिच्छा पर निर्भर करता है कि वह किस माध्यम से क्या उपलब्ध करना चाहता है। यदि हम दो व्यक्ति एक ही साधन से दो विभिन्न लक्ष्य उपलब्ध करना चाहते हैं तो प्रयोग के स्तर पर हम अलग होंगे। फिर तो साधनो के आधार पर उपलब्धि की तुलना ही व्यर्थ है। मैं जो चाहता हूँ वह सहज नही है (पेशेवर लेखक के लिए मेरी चाह का कोई अर्थ नही है।) लेकिन मेरी महत्वाकाक्षा उस नयी यातना को झेलन के लिए अपने को तैयार कर रही है। वह नयी यातना, जो अपने को विश्वासहीन करार देने से मुझे दी जायेगी। उन लोहे के छडो में कितनी अग्नि है, इस का मुझे पता है। उन आँखो में कितनी घृणा की तूफानी आग है, यह मुझे मालूम है। मेरी देह पर—मेरी रचना पर—निश्चय ही ये दूसरे क़िस्म के निशान बहुत जल्द ही पडने शुरू हो जायेंगे—क्योकि वह अपराध मैं करने जा ही रहा हूँ ।

[अप्रैल १९६६]

परिवेश

महाभैरव की एल्बम में काशी

शिवप्रसाद सिंह



"मैं महाकाल के त्रिशूल पर स्थित प्राचीनतम नगर काशी का कोतवाल हूँ। संसार के तमाम नगर काल-सरिता के दक्षिण या वाम तट पर होने से बनते-मिटते रहे हैं। उग्र समय-धारा के चपेट में वे निरन्तर भहरा-भहरा कर लहरों के थपेड़े में, भयंकर वीचिविवर्त मे या कभी रज-रज बिखेर देने वाली सांघातिक घूर्णिकाओं में बुद्‌बुद की तरह विलीन होते रहे हैं। पर महाकाल का त्रिशूल अचल है, उस के ऊर्ध्वमुखी प्रज्ञा-शूलों का सन्तुलन अलोपनीय। इसी कारण प्रलयंकर जलप्लावन से ले कर, सृष्टि के उद्भव और विकास की इस घड़ी तक संस्कृतियों के संगम की यह पुण्यस्थली अपनी समूची क्षुद्रताओं, त्रुटियों और कुरूपताओं के बावजूद महाकाल के उदर में विलीन नही हुई, बल्कि सतत उस का निवास-स्थान बनी रही।"

रात्रि दो पहर से अधिक बीत चुकी थी। मणिकर्णिका के जलहीन तमस् कुण्ड के पास जिस में रति-विलास के समय पार्वती के कान का मणि-कुण्डल स्खलित हो गया था, एक विराट् छाया-मूर्ति खड़ी थी। व्योमकेश, कटि पर अजाजिन का काछा, हाथ मे द्वितीया चन्द्र की तरह प्रतिच्छायित त्रिशूल, तप्त काँचन की तरह लपटों से भरी रौद्र काया····साथ में लम्बे-लम्बे बाल और विशाल झूलते हुए कानों वाला भयंकर कुत्ता जिस की पीली-पीली आँखें चिता की चिनगारी की तरह किसी अदृश्य तेज से चमक रही थीं।

"तो वह जो अग्निमण्डल में अंतर्यामी पुरुष है, वही ब्रह्म है।"

"नही ब्रह्मन्, वह तो यज्ञ का देवता है, वह ब्रह्म नही है।"

वलाकापुत्र गार्ग्य चुप हो गया। उस के तप्त श्वासो से उस के हृदय की आत्ममण्डित वैजयन्ती माला सूख कर धूमिल हो गयी। उस ने लज्जा से गरदन झुका ली।

"तब तो आप ने व्यर्थ ही मुझे उपदेश देने का साहस किया ब्रह्मन्"—अजातशत्रु निरुद्वेग चित्त से बोला, "आप के बताये हुए इन सभी सोपाधिक पुरुषो से भी ऊपर एक पुरुष है, एक कर्ता है, और ये सभी जिस के कर्म हैं, वही जानने योग्य है।"

गार्ग्य बालाकि राजा के पैरो पर गिर पडा, "राजन्, मैं हाथ में समिधा लेकर आप का शिष्यत्व स्वीकार करता हूँ। मेरा गर्व खण्डित हो गया। मेरा जात्यामिमान चूर-चूर हो गया। आप मुझे उस ज्ञातव्य ब्रह्म का उपदेश करें।"

"आप विपरीत आचरण न करें ब्रह्मन्! क्षत्रिय ब्राह्मण का गुरु नही शिष्य होता है। मैं आप को उस ब्रह्म का दर्शन अवश्य कराऊँगा।"

अजातशत्रु के सरक्षित ब्रह्मवादी पण्डितो के समवेत स्वर में उद्गीत मत्रो से दिशाएँ सुरभित हो उठी

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवा
स्वस्ति न पूषा विश्ववेदा
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमि
स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु

ऊर्ध्वमुखी गगा के पारदर्शी भित्तिगात्र मे आकृतियाँ धूमिल होकर अधकार में विलीन हो गयी। एक क्षण के बाद ही अगणित दीपालोको से जगमगाते हुए एक चैत्य के चारो ओर सहस्रा नर नारी घुटनो के बल बैठे हुए अनिर्वचनीय प्रभापूर्ण वैशाखी पूर्ण चन्द्रमा की तरह देदीप्यमान एक विराट् तेजपुज को प्रणाम कर रहे थे।

बाहु सहस्समभिनिम्मित सावुधन्त
गिरि मेखल उदित घोर ससेन मार
दानादि धम्मविधिना जितवा मुनिन्दो
त तेजसा भवतु ते जयमङ्गलानि!
उक्खित्त खग्गा मतिहत्थ सुदारुणन्त
धावन्ति योजन पथ गुलि मालवन्त
इद्धी भिसखत मनो जितवा मुनिन्दो
त तेजसा भवतु ते जयमङ्गलानि

(कर्मकाण्ड की विभीषिकाओ से प्रजा त्राहि-त्राहि कर उठी। मूक पशुओ के रक्त से मानवता का आगन नील-लोहित हो गया। नीच ऊँच के विभेद ने हमारे विवेक को कुहाच्छन्न कर दिया। धर्म के मिथ्यावाद-पक में प्रज्ञा उलझ गयी। धर्मान्ध अगुलिमाल की तरह नर-ककाल की माला पहन कर चतुर्दिक् आतक उत्पन्न करने लगे। माया मोह और स्वार्थ की मार सेना सहस्रों करो में आयुध लेकर नीति और सत्य का शिरोच्छेद करने लगी। पशुओ के आर्तनाद से पशुपति का आसन डोल उठा। महाकाल का त्रिशूल दोलायमान हो उठा। और तब जिस ने वैर, घृणा, जुगुप्सा, जिघासा, हिंसा और क्रूरता को अपनी मैत्री, करुणा, नम्रता, दया और

अहिंसा से उपशमित कर दिया वे ही मुनीन्द्र तुम्हारा मंगल करें····)

"कौन कहता है कि इस ने उरुवेला के बोधिवृक्ष के नीचे ज्ञान की प्राप्ति की है? तपश्चर्या के बीच अनित्य शरीर की रक्षा के लोभ से जिस ने अन्न ग्रहण किया वह तपस्वी नहीं हो सकता। संसार के अज्ञ जनों को भ्रम में डाल कर यह महात्मा भले बन बैठे, ब्रह्मवादी पण्डितों को यह कभी भी ठग नही सकता। पूछो, पूछो इस शाक्य पुत्र सिद्धार्थ से कि क्या उस ने ब्रह्म का साक्षात्कार किया है?" ब्रह्मवादी, कर्मकाण्डी सभी एकत्र हो कर वाग्युद्ध के लिए बुद्ध को ललकारने लगे।

"सुनो, सुनो, माता की योनि से उत्पन्न होने वाले को मै ब्राह्मण नही मानता हूँ। ब्राह्मण वह है जो लोभहीन और अपरिग्रही है। न जटा से, न गोत्र से, न जन्म से ब्राह्मण ब्राह्मण होता है; जिस में सत्य है, शुचिता है, वही ब्राह्मण ब्राह्मण है।"

"यह सब प्रलाप सुनने हम यहाँ नहीं आये। जब तक तू यह नही बताता कि ब्रह्म क्या है, हम कुछ भी सुनने को तैयार नहीं हैं।" एक ब्रह्मवादी बोला।

"हाँ हाँ, हम कुछ सुनने को तैयार नहीं है"—सभी एक साथ कुपित होकर बोले।

"जैसे मकड़ी अपने ही बनाये तन्तुजाल में उलझती है, वैसे ही अपने प्रश्नों मे उलझने से क्या लाभ? जिसे जानने न जानने से कुछ बनता-बिगड़ता नहीं उसे जानने का अति-मोह क्यों? यदि बाण से विद्ध कोई मनुष्य यह कहे कि जब तक तीर मारने वाले का पता नहीं चलता, जब तक मैं उसे देखता नहीं, तीर नहीं निकलवाऊँगा, तो वह दुःखों से हमेशा छटपटाता ही मर जायेगा, और तीर को देख भी नही पायेगा। यही अतिप्रश्न है, यही मूर्खता है। इस से बचकर जो दुःख और दुःख से छूटने का उपाय जानता है वही ब्राह्मण है।"

ब्रह्मवादियों की सभा आश्चर्य से उस सम्यक् सम्बुद्ध के कमल नेत्रों की असीम करुणा पूर्ण ज्योति को देखती रह गयी। उन के मन की शंकाएँ बिना उत्तर के ही बुद्बुद की तरह श्रद्धा की धारा में विलीन हो गयी।

> दुग्गाह दिट्ठि भुजगेन सुदट्ठ हत्थं
> ब्रह्मं बिसुद्धि जुतिमिद्धि वकाभिधानं
> आणागदेन विधिना जितवा मुनिन्दो
> तं तेजसा भवतु ते जयमङ्गलानि

(जिस मुनीन्द्र ने मिथ्यादृष्टि रूपी साँप के द्वारा डँसे गये विशुद्ध ज्योति और शक्ति सम्पन्न वक नामक ब्रह्म को ज्ञान औषधि से बचा लिया, वे ही तेरा मंगल करें।)

बुद्ध, चैत्य, मन्दिर, दीपालोक, ऊँची अट्टालिकाएँ, कलापूर्ण गुफाएँ—अजन्ता एलौरा की दूसरी सगी बहनें—सभी कुछ गर्द भरी भयंकर पीली आँधी के पेट मे समाने लगीं। दाहर की हार के बाद सिन्ध नरेश की पत्नियों ने लोमहर्षक जौहर का पहला अग्निम अवभृथ स्नान किया। विदेशी सेनाएँ टिड्डी दल की तरह उत्तरापथ के गिरि-संकटों से रास्ता बनातीं शस्य-श्यामला भारत भूमि पर टूट पड़ीं। बर्बर हूणों के आक्रमण से मथुरा तक के प्रदेश पहले ही जल कर क्षार हो चुके थे।

बैक्ट्रिया और अफ़गानिस्तान के भग्न खण्डहरों में इन विनाशकारियों की नृशंस गाथा आज भी अंकित है।[1] हूणों के बाद निरन्तर आक्रमणों का क्रम जारी रहा। छठवीं शती में अरब में जिस नये धर्म का उदय हुआ वह वैयक्तिक स्वतंत्रता में नहीं, बलपूर्वक धर्म-परिवर्तन में विश्वास करता था। मुहम्मद की वाणी का लौह-प्रचार निशाने-हलाल के साथ पश्चिम में युरॅप और पूर्व मे भारत की ओर अग्रसर हुआ। बर्बर सेनाएँ हाथ में ख़ड्ग और जलती उल्काएँ लेकर उत्तर भारत में फैलने लगीं।

ऊर्ध्वमुखी जाह्नवी भित्तिगात्र मे यह सब कुछ बीते दिन की घटना-चित्रावली की तरह उभरता गया। काशी का आदि विश्वेश्वर मन्दिर टूट चुका था। बुतशिकन की विरुद विदेशियों का प्रिय-भूषण बन गयी। धर्म के नाम पर हिन्दू और मुसलमानो का संघर्ष रण-क्षेत्र से निकल कर नगर-गाँव की गलियों तक आ गया। काशी का शान्त वातावरण दमघोंट कलुषित धूम से भर गया। मनुष्य की मेधा, शक्ति, प्रतिभा का कोई मूल्य न था। पण्डितों और मौलवियों ने मिथ्या कर्मकाण्ड के घेरे में जकड़ कर दुःखी और दीन जनता को पीसना शुरू कर दिया।

कबीर कँवल प्रकासिया उग्यौ निर्मल सूर
निसि अँधियारी मिट गई बाजे अनहद नूर

कबीर बादल प्रेम का हम पै बरस्या आइ
अंतरि भीगो आत्मा हरी भई बनराइ
कबीर गुरु गले मिल्यौ रहि गये आँटे लौण
जाति पाँति कुल सब मिटा नाँव धरौगे कौण

धर्मान्धों के चक्कर में पिसती हुई असंख्य जनता के सामने काशी का जुलाहा ढाई आखर के प्रेम का गान गाने लगा। व्यक्ति सब से बड़ा है, मनुष्यता ही हमारा धर्म है। सहज प्रेम हमारी शक्ति है। मस्जिद, मन्दिर, वेद-कुरान मनुष्य को मनुष्य से दूर करते हैं क्योंकि वे सब के हृदय में विहार करने वाले राम-रहीम को ठीक तौर से नही पहचानते।

वेद कत्तेव की गम्म नाही तहाँ,
प्रेम की झौल में साधु झूलै
कहै कब्बीर कोई सन्त जन सूरमा
कालि निच्चोरि के अमृत पीवै

और कबीर ने क्रूर काल को निचोर कर अमृत का पान कर लिया। कलियुग की धर्मान्धता को पराजित कर दिया :

कलियुग हम सों लड़ पड़ा मुहकम मेरा बाछ
सतगुरु का सदकै करूँ, दिल अपणी का साछ

आँधी का वेग कम हो गया; पर उस ने सम्पूर्ण आर्यभारत का रंग बदल दिया। जनता के हृदय में दीनता और निराशा का अन्धकार निरन्तर गहन होने लगा। विशाल मुग़ल साम्राज्य के चक्र के नीचे आर्यदेश की धरती सिमटने लगी। हिन्दू संस्कृति का सूर्य डूब चुका था। अनाथ भारतीय राजलक्ष्मी अपहृत होकर हरम की चहार-दीवारियों में बन्द कर दी गयी। लोभ और स्वार्थ के

1 Messiems और Berthoud के शोधों से पता चलता है कि पाँचवीं शती से १० वीं तक किस प्रकार स्पेन मे मथुरा तक हूणों की बर्बर सेना अग्निकांड से अपना मनोविनोद करती रही है।

वशीभूत होकर सस्कारच्युत नरेशो ने विदेशी सत्ता के सामने गरदन झुका दी। अकाल से प्रजा त्राहि-त्राहि कर उठी। महामारियो की लपेट में देश झुलसने लगा। लोग राजमार्गों, नगर की सडको पर मक्खियो की तरह मरने लगे। हड्डियो का ढेर लग गया[१]।

उन्ही दिनो इस विशाल विदेशी साम्राज्य-सत्ता का एक व्यक्ति प्राणपण से विरोध कर रहा था। भानुकुल भानु प्रताप! इस भयकर जल-प्लावन में कोई भी ऐसा न बचा जो सतह से ऊपर सिर निकाल सके, जो लहरों के गर्जन-तर्जन को वक्र भृकुटि से देख सके। पर उस महासमुद्र में प्रताप कमल के फूल की तरह खिले रहे[२]

अकबर समँद अथाह तिहँ डूबा हिन्दू तुरक
मेवाडो तिह माँह पोयण फूल प्रतापसी
अकबरियै इक बार दागल को सारी दुनी
अणदागल असवार रहियो राण प्रतापसी
सुख हित स्याल समाज हिन्दू अकबर बस हुआ
रोसीलो मृगराज पजै न राण प्रतापसी

प्रताप की देशभक्ति, त्याग, सहनशीलता भी मुमूर्षु देश में नव रक्त का सचार न कर सकी, क्योंकि लोगो को विश्वास ही नही होता था कि इतनी बडी दुर्दम साम्राज्य-सत्ता के विरुद्ध साधनहीन, सहायहीन प्रताप कुछ कर पायेंगे। तो क्या हमें ऐसे सकट के समय हाथ पर हाथ रख बैठ जाना चाहिए? क्या हमें अपनी राजलक्ष्मी के अपहरण को मौन भाव से सह जाना होगा? क्या न्याय और सत्य की कभी विजय न होगी? क्या सासारिक वैभव और शारीरिक शक्ति के बल पर हमेशा अत्याचारी की ही जीत होती रहेगी

ये प्रश्न थे घोर तमिस्रा पूर्ण महारात्रि के जिसे चीर कर काशी में एक नयी ज्योति इन प्रश्नो का समाधान लेकर उपस्थित हुई

बाढे खल बहु चोर जुआरा,
जे लपट पर धन पर दारा।
मानहिं मातु पिता नही देवा,
साधुन सन करवावहिं सेवा।
जिन्ह के यह आचरन भवानी,
ते जानहु निसिचर सम प्रानी।
अतिसय देखि धरम की ग्लानी,
परम सभीत धरा अकुलानी।

इस धरा का भार दूर करने जो आया वह एक साधारण नृप बालक था। सूर्यवशी! अरण्य में भारतीय राजलक्ष्मी का अपहरण हुआ तो उस के नयनो से अश्रु की धारा बह चली। कोई सहायक न था। कोई साधन न था। दुर्गम अगम पथ। विशाल सिन्धु। प्रतापी वैभव पूर्ण शत्रु। सहायक बने जगली लोग। कोल भील या भालु-बानर। उस के पास रथ न था। रावण को स्वर्णमण्डित रथ पर आरूढ अथाह सेना के साथ युद्धभूमि में आते देख लोग निराश हो गये क्या यह रावण के विरुद्ध लड सकेंगे, उस विशाल शक्ति का सामना ये साधारण नृपकुमार कर पायेंगे?

इन सारी शकाओ को चूर-चूर करते हुए काशी का युगपुरुष बोला

१ बर्नियर का रिपोर्ट
२ अकबर के दरबारी कवि दुरसाजी कृत

सुनहु सखा कह कृपानिधाना,
जेहि जय होइ सो स्यन्दनु आना।
सौरज धीरज तेहि रथ चाका,
सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका।
बल विवेक दम परहित घोरे,
क्षमा, कृपा समता रजु जोरे।
दान परसु बुधि सक्ति प्रचंडा,
वर विग्यान कठिन कोदंडा।
सखा धर्ममय अस रथ जाके,
जीति न सके कबहुँ रिपु ताके।

यह भारतीय मनीषा की राष्ट्रीय वाणी थी। इस का महत्त्व कभी भी देशकाल की सीमा में घिर कर कम न होगा।

टन टन टन''''केदारेश्वर मन्दिर के घण्टों ने ब्राह्ममुहूर्त्त की सूचना दे दी। गंगा वैसे ही शान्त मन्थर गति से बह रही थी।

आँखें खुलीं तो देखा, अलार्म घड़ी घन-घना रही है!

[अक्तूबर १९६०]

शाख-शाख उसे मचलती हुई लगती है। जैसे कोई सुहाना सपना हो, कि जैसे कोई रंगीन धोती फरफरा कर उड़ रही हो लाज लगती है, नहीं तो वह इन फसलों के बीच लोट मरे। या किसी पेड़ पर चढ़ जाये और फुनगी-फुनगी, पत्ती पत्ती से बातें करके लौटे।

यह उस का अपना गाँव है। अपने भाई-भतीजे हैं। अपनी माँ-काकी है। कोई ससुराल नहीं है कि रात-दिन घर में बन्द रहे और सास के ताने सुने। यहाँ वह किसी की एक बात सुनेगी तो चार सुनायेगी। चार सुनायेगी और फिर सबके लिए रोयेगी, क्योंकि सब अपने हैं। ब्याह हुआ था तो, गाँव भर उमड़ आया था अपनी बेटी के ब्याह में। सगोती पट्टीदार के भाई-बिरन पाल्की के साथ-साथ गँडासा लेकर चले थे कि कोई बात हो जाये तो गला काट के रख दें किसी का भी जो बहिन का अनिष्ट चाहे। विदा कराने पति आयेंगे तो गाँव भर की स्त्रियाँ अँकवार में भर-भर के उसे आशीष देंगी। वह बिलख-बिलख कर रोयेगी। एक-एक के लिए रोयेगी, क्योंकि सब से उस का अपनापा रहा है।

घर में पाहुन आते हैं तो वही बिठाती-जिमाती है। उस के अपने घर (ससुराल) के लोग न हों तो वह खूब बातें करेगी। सब हाल-चाल ले लेगी और भीतर बैठी माँ भाभी से बता आयेगी। जो कहीं बहनोई हुए तो फिर साली-जीजा में क्या न हो जायेगा। जीजा है कि एक ही हैं। बातों के बान चलाते हैं। वह लजा-लजा जायेगी। जीजा कहेंगे—"क्यों जानकी (या सीतापति, रामरत्ती, शीतला, शारदा, सुनयना आदि), होली में आऊँगा तो हम से रंग खेलोगी न ?"

"आप से न खेलूँगी तो किस से खेलूँगी ?

"लेकिन मैं लाल-गुलाल ही लाऊँगा।"

"कोई रंग लाइए। आप को सराबोर कर दूँगी।"

"लेकिन लाल-गुलाल तुम्हारे ऊपर चलेगा कैसे ? इन लाल रंग के गालों पर कैसे चढ़ेगा वह ?"

और इतने में तो वह झेंप झेंप जाती है। हाय, जीजा जी भी कैसे हैं कि हिम्मत कर कहती—"अच्छा देखूँगा। थोड़ा सो जाइए, फिर आप की माँग में सेंदुर न भर दिया तो कहिएगा।"

"और, जो वहीं पकड़ कर मैंने उल्टे तुम्हारे ही भर दिया।"

"तो, जान लूँगी आप जनाने हैं।" बड़ी निर्लज्जता से वह कह जाती है, लेकिन मन ही-मन बहुत झेंप जाती है। और क्यों न झेंपे वह। लड़की की जात ठहरी। फिर बाम्हन की लड़की। कोई शूद्र-चमार की लड़की नहीं।

हाँ, शूद्र-चमार की लड़की जो जनम लेते ही गाँव में घूमने लगती है और सब की बातें सहती है और मुँह जोर होती जाती है। किसी से मजूरी भी माँगेगी तो लगेगा कि भीख माँग रही है। किसी के भी खेत से मूली उखाड़ लेगी और पकड़े जाने पर, डाँटे जाने पर, ही ही कर हँस देगी।

लेकिन एक दिन उस को भी पन्द्रहवां लगता है। तब उस के पाँव धरती पर नहीं

पड़ते है। चाहे वह किसी के यहाँ खाद फिंकवाये, चाहे ईंटा ढोये। चाहे राज-मिस्त्री को गारा-सिरमिट का तसला पकड़ाये। उस के मिजाज़ ही अलग होते है।

क्योंकि आज उस को सराहने वाले अनेक हैं। जिधर जाती है, लोग मुसकराते है और सभी उस से ठिठोली करते हैं। साथ में बोझा ढोने वाला मजूरा चाहेगा कि उसी के साथ-साथ चले। सिर पर बोझा उठवाने वाला जमीदार का कारिन्दा हर बार उस के हाथ छुएगा। हवेली में बोझा उतरवाने वाला उस की अँगुली दबाने को चेष्टा करेगा। पण्डित जी का लड़का उसे घूरेगा और लौटते बखत पण्डित जी उस के साथ लग लेंगे कि देखें कितना माल ढोना बाक़ी है।

ऐसे में उस का दिमाग़ क्यों न चढ जाये। किन्तु वह है होशियार। चार घड़ी की मौज के लिए बदनामी होगी। नहीं भइया, नहीं, गाँव-जवार मे अपनी बदनामी। माँ-बाप की बदनामी। वह अपने को रोकती है। ऐंठ कर रहती है।

नाच-तमाशा वह भी देखती है। जोगीडा उसी पर बोला जाता है, वह समझती है···

एक कुआँ कबूतर बोले, एक कुआँ में मोर
नई बहुरिया गौने आई, खिड़की लागे चोर
चली जा सा रा-रा-रा-रा

रास्ते चलते कोई उस से कहता है····
"क्यों जी, कहाँ जा रही हो ?"

"तुम से मतलब जो ? जहन्नुम जा रही हूँ।"

"अरे बाप रे इतना गुस्सा। मैं ने तो सोचा कि साथ ही चल रहे हैं, बातें करता चलूँ—रास्ता कट जायेगा। पर ये तो साक्षात् बिच्छू हैं।"

"तुम क्या नाग हो ?"

"तुम से तो अच्छा ही हूँ।"

फिर वह चुप-चुप भी चलने लगे तब भी वह गायेगा सुना-सुना कर····

कुल बोरन हमरे पाले पड़ीं
हाँ, पाले पड़ी, सिव घाले पड़ीं

इस को वह कैसे रोक सकती है।

नहीं भइया, नहीं। राम अच्छे-भले रखें उस के मनसेधू को। वह आयेगा तो बिदा करा के ले जायेगा। वहाँ लाख कष्ट होगा, फिर भी वह अपने आदमी के साथ—अपनी ढाल के साथ, तो रहेगी। वह बाम्हन-ठाकुर की लड़की तो है नहीं कि ससुराल में लोग घर मे बन्द कर देंगे। जैसे यहाँ मजूरी करती है, वहाँ भी करेगी। कमायेगी, खायेगी। घूमेगी, टहलेगी। सास बोली मारेगी तो पिया को ले कर अलग हो जायेगी। उस का आदमी गाँव के सिवान पर घर उठा लेगा और चैन से गायेगा····

मोरी अँखिया की पुतरी
अकसवा से उतरी
हो मोरी कबुतरी
तुहँका लइकै छइबूँ डँड़वा पर मड़इया-
या···

[नवम्बर १९६१]

खण्डहरों का मर्सिया

धनंजय वर्मा



बिलकुल अविश्वसनीय ! और अकल्प्य । मैं एक ही स्वप्न बार-बार देखता हूँ यद्यपि उसे देख कर भय से सिहर उठता हूँ और शीतल स्वेद से नहा उठता हूँ । संयुक्त पर्वत विभाजित हो कर फाँक-से बन गये है और आकाश-गंगा की करधनी से अनवरत किण्-किण् ध्वनि होती है, श्वास-प्रश्वास के मेघ धरती के वक्ष पर उतर आये है और एक ही स्तम्भ पर समस्त विस्तार घूम रहा है, घूम रहा है । शिथिल शिरा, ध्वस्त स्फूर्ति से अचेतन और मृत है । मुझे यह अन्तिम संज्ञा ही भय की सिहरन दे जाती है ।

इस का निर्वचन कैसे हो ? शिशु-मन पर कितनी ही घटनाओं की छाप अलस्-वय मे पड़ जाती है और न जाने कितनी सेंसरशिप के बाद वे अवचेतन में उतर कर नितान्त वैयक्तिक प्रतीकों मे ढल जाती है लेकिन निर्वचन न सही, पूर्वापर घटनाओं के सम्बन्ध-स्थापन से, स्वप्न-भय से मुक्ति नहीं है क्या ? घर का क्षेत्रफल नितान्त संकुचित था । आवास की संकुचित स्थिति में सदस्यों की बहुल संख्या से प्राइवेसी समाप्त हो जाती है, लेकिन प्रकृत क्रियाओं का वेग-आवेग सारी शिष्ट-अशिष्ट, औचित्य-अनौचित्य की सीमा लाँघ जाता है । परिवार का एक विवाहित युगल शयनागार (!) की अल्प अवधि में ही मिल पाता है । शिशु-मन यों ही अबोध समझा जाता है अत. उस से दुराव-संकोच नहीं अपनाया जाता और प्रेम-क्रियाओं की अनवरत आवृत्ति मन पर उतर गयी है । यह स्वप्न क्या उसी की प्रतिक्रिया है ? मैं नहीं कह सकता कि कितने-कितने ऐसे स्वप्नों से मै भयग्रस्त हूँ, लेकिन निर्वचन मे घटनाओं की संगति असंदिहान है ।

बिवाई फटी दीवारों के घरौंदों से परित्यक्त एक बालक पितृछाया से विहीन, सुदूर दक्षिण शस्यश्यामला भूमि (लेकिन अब कदर्यकुत्सित) में एक भरे-पूरे परिवार का सदस्य हो गया है । एक न एक परिवार के सदस्य तो हम सब हैं लेकिन सब को क्या एक-सा अधिकार और महत्त्व मिल पाता है ? विशेषकर उस को जो परित्यक्त और आश्रय-विहीन है । दरअसल यह संस्था ही पारस्परिक

दासता की गौरवशाली लेकिन प्रवंचित तसवीर है। रक्त-सम्बन्ध से भी बड़ा एक सम्बन्ध है और आज तो वही प्रधान है—अर्थ-सम्बन्ध! आर्थिक योजना ही परिवार की एकमात्र आधार शिला है। यह समझना कि परिवार एक आपसी समझौते की संस्था है दुनिया की सब से बड़ी भूल है जो सदियों से हमें पढ़ायी जा रही है वैसे ही जैसे धर्म और ईश्वर का प्रचार शोषक करता है। उस समझौते में किसी की कोई रुचि है यह समझना भी गलत है। केवल अपने स्वार्थों की पूर्ति और प्रवृत्तियों की तुष्टि के लिए वह शानदार नक़ाब है जिसे चढ़ा कर हर व्यक्ति अपनी नैतिकता और त्याग का प्रवंचित नाटक बड़ी सफलता से खेलता है। आप की प्रवृत्तियां हैं और आप उन की तुष्टि चाहते हैं। यह है आप की पत्नी, यह माता, बहन, पिता और भाई। आप का परिवार। आप के सारे प्रयत्नों की लक्ष्मण-रेखा, आप की समस्त ऊर्ध्वगामिता की अधो-मुखी अवनति। और तब असत्य-असह्य वृत्त-रेखाएँ आप को सीमित करती हैं और अनेक-अनेक सर्प-दशन शिरा-शिरा में नीला-कच् विष उगल कर आप की आत्मा तक पहुँचाते हैं। वह घर और वह परिवार स्वार्थ पूर्ति से हट कर और क्या है? बन्धु! आत्मरति से बढ़ कर कौन-सी रति है? आत्म-राग ही एकमात्र राग है। अपने परिवार के सदस्यों पर जरा ध्यान केन्द्रित कीजिए। थोड़ी देर के लिए आप मर जाइए। आप जिस बड़ी मशीन के मात्र पुर्जे हैं उस पुर्जे को ढीला कर दीजिए। आप की सारी सदस्य संख्या अवश्य विलाप करेगी, रुदन से आकाश भी विदीर्ण होगा। लेकिन कब तक! खैर इसे जाने दीजिए। उस विलाप और रुदन का विषय क्या होगा—कोई सुबक कर, कोई सिसकियां ले कर, कोई राग-बांध केवल इस लिए रोता है कि उन के जीवन का धन चला गया, आसरा छिन गया। अब कौन मां की झोली में हाथ पसार कर मुट्ठी भर रुपये डालेगा? कौन पत्नी की फरमाइशें पूरी करेगा? उत्पादन का यंत्र मरा कि चेहरे पर चढ़ी हुई नकाब सरकी और अभिनय-दक्ष सारे अभिनेताओं का असली चेहरा उभर आया।

सदियों पूर्व इस धरती पर एक शानदार और भव्य रोमन-सभ्यता आकाश चूमती थी। गुलाम उस के अविभाज्य अंग थे और मनोरंजन के लिए ग्लेडिएटर्स होते थे। गुलाम उन के परिवार के सदस्य थे। आज भी परिवार उसी रोमन व्यवस्था का शानदार अवशिष्ट है, पुरानी सड़ांध का नया वीभत्स संस्करण। आप यदि स्पार्टक्स की तरह शक्तिशाली हैं तो परिवार की सुख-सम्पदा में गौरवशाली ग्लेडिएटर बन सकते हैं जिस के अभाव में परिवार की झूठी सभ्यता घोर निराशा के गंदे जल में ऊब-डूब करेगी। पुरानी दासता की यह कितनी नयी और घृणास्पद मिसाल है! अन्धों और भिखारियों को जैसे (जब) आप केवल दूसरों पर रोब गाँठने के लिए दान देते हैं और अपने त्याग का सदियों पुराना नाटक सफलता से खेलते हैं वैसे ही आप परिवार के बीच सहयोग का अभिनय भी करते हैं।

तो वह बालक भी अर्थ-रक्त सम्बन्धों से परिवार-विच्छिन्न था। सभ्यता की हम ने चाहे जितनी मंजिलें तय कर ली हों, व्यावहारिक अर्थो मे आज भी आदिम अवस्था से इंच भर भी हम नहीं सरके हैं। जो योग्य है वही जीता है या शक्ति की ही पूजा होती है। थोड़ी देर के लिए आप अपनी शक्ति पर एक आवरण डाल दीजिए। उत्पादन में ज़रा तटस्थ हो जाइए और अनुभव कीजिए कि सदस्यों की क्या प्रतिक्रिया होती है—यह पुर्जा निकम्मा है, रोटी-तोड़ है और आवारा है। इतने या इसी सरीखे और विशेषणों का आभूषण क्या आप को एक साथ नहीं मिल जाता? फिर सौहार्द, सौजन्यता, सद्भाव और पारस्परिक सेवा का मुलम्मा भी आप से आप खुरच कर गिर जाता है।

मैं दुनिया के किसी नाते-रिश्ते को नहीं मानता, क्योंकि सभी स्वार्थ को पूरा करने के लिए रेशमी गिलाफ़ है, झूठे प्रलोभन है; सब से बड़ी संकीर्णता है। सहवास का आनन्द भोग कर किसी ने हम को जन्म दिया, हमें पाला भी, लेकिन यह तो पशु-वर्ग भी करता है। तब यह दुहाई क्योंकि हम ने पाला और एहसान किया है!…न दिया होता जन्म! कौन यह अस्तित्व ही गौरवशाली है? अरे हाँ! फिर किसलिए जन्म? अपनी दुर्बल और नंपुसक स्थिति में मूक बैलों की तरह जीविका-साधन बनाने के लिए? क्या इस परिवार-रचना की स्वार्थपरता की कोई सीमा भी है? फिर कितना कृतघ्न और एहसान-फ़रामोश! सारा जीवन परिवार के लिए कष्ट उठाओ, कायर बनो, उन की पीड़ा से पीड़ित होओ, लेकिन आभार मानने वाला कोई नहीं। हम सब भी क्या ऋषि-पूर्व दस्यु नहीं हैं? बँधी-रुँधी जिन्दगी में तड़पते है, थकते हैं, महीने भर की कचोट और पीड़ा, तिरस्कार और लांछना के बाद मुट्ठी भर-भर कर अर्थ संचित करते जाते है और परिवार की सर्वग्रासी भट्ठी मे झोंक देते है—फिर भी सन्देह, अविश्वास, ताने-तिश्ने और किसी न किसी की कोई न कोई शिकायत हमेशा। कितनी आभारशून्य और निर्मम है यह परिवाररचना। अपनी माँस-पेशियों का तेल निकाल कर, हड्डियों को चूर्ण-चूर्ण कर हम जिस हवन और पूजा को रचते है उस से पाये गये धातु-मूल्य के लिए ही हर परिवार का सौध अपनी पवित्रता का स्वांग सदियों से रचाये हुए है। हमारे रक्त से पायी गयी उपलब्धि और हमारा ही तिरस्कार, हमारी ही हड्डियों से बना वज्र और हमी पर प्रहार!

हर पल शृंखला बँधती जाती है–माधुर्य, वात्सल्य, सख्य—केवल वही स्वार्थ, स्वार्थ, स्वार्थ! हर गति वृत्तात्मक, कोल्हू के बैल की ही तरह अनवरत, आँखों में पट्टी बाँधे एक ही वृत्त पर अनन्त घुमाव और घुमाव। वे सब छलावों के रिश्ते—जैसे केवल शाब्दिक व्यभिचार, वास्तविकता से परे। आप एक सार्थक मानव होने का सपना देखें और निरन्तर निरर्थक होते जाँय, विभाजित और बँटे हुए टूट-टूट कर चूर होते जायें। सच तो यह है कि हर आदमी इस चलती चक्की मे पिस-पिस कर पूर्ण होने का सपना देखता

है। जो चक्की के पाटों में नहीं फँसा उस के लिए आकर्षक और दूर के ढोलों की तरह सुहानी यह रचना अपने यथार्थ के बेरहम और लम्बे लम्बे हाथों मे दबोच-दबोच कर अधमरा बनाती है। उस प्रवंचित आकर्षण से बचना आसान नही है इसलिए हर मूर्ख अपनी लोथ ही देखता है अन्त में।

तुम जो कहते हो कि तुम्हारे सम्बन्ध पारस्परिक, अन्योन्याश्रित, प्यार के और जीवन की सुचारु गति के लिए आवश्यक हैं—कितना बड़ा झूठ उगलते हो! इस भ्रम और धोखे के चक्रवात में कहीं कुछ सत्य हो सकता है? तुम जो कहते हो कि तुम्हारे बंधन जन्म-जन्मान्तर के हैं—कितना बड़ा पाप उगलते हो। अस्थायी और नश्वर से सम्बन्ध स्थायी और अनश्वर हो सकता है? एक क्षण को तुम शाश्वत कहते हो और एक भ्रम को सत्य। यह किसी नादान बालक से भी न कहना क्योंकि वह जानना चाहे तो जान सकता है कि तुम्हारा प्यार केवल उस को गोद में लेकर चूमने भर के लिए ही है—आत्मतृप्ति के लिए ही। व्यक्ति बाजे बजा-बजा कर, लोगों में खुले आम एलान कर, ईश्वर की असीम अनुकम्पा का सड़ा-गला जुमला गोंस कर विवाह करता है और अपनी तृप्ति के लिए सामाजिक अनुमति माँग लेता है, फिर स्वयं आपत्तियों को न्यौता देकर एक बच्चे को जन्म देता है (जो उसी की तरह मूर्ख और परम्परा के बोझ को गदहे की तरह पीठ पर लाद कर ढोने वाला होता है), और उसे भी अपनी ही तरह अंधा बना कर छोड़ देता है। जिस परिवार को इतने उत्सव और आमोद-प्रमोद के बीच स्थापित किया जाता है वही सारे उत्सवों, आमोद-प्रमोदों पर अन्तिम यवनिका डालकर उस नाटक को समाप्त ही कर देता है, फिर अपनी हड्डियों की चिता सजा कर उस में प्राणों की समिधा को हर साँस की स्वाहा से झोंक दिया जाता है। ये तो सड़े-गले संस्कार हैं, जिन से मुक्ति कहाँ है? न तो मुक्ति और न ही बुद्धि इन सड़े-गले वस्त्रों को अलग कर सकती है। यह आवेष्टन तो सदियों पुराना है। मैं जान गया हूँ कि मैं परिवार के समुद्र ज्वार में फेंका गया, थका हुआ मनुष्य हूँ जो इतना थक गया है कि खड़े होने की भी शक्ति नहीं है। मेरे पीछे गरजता हुआ उत्ताल स्वार्थसागर है, आगे उसी की नीरस बालू का क्षितिज तक चला गया विस्तार। न तो अतीत कुछ है मेरे लिए और भविष्य भी तो अंधकारावृत है। यथार्थ के पल इतने बोझिले हैं कि उन के भार से मेरी साँस दबी-दबी, उखड़ी-उखड़ी है। मैं यह जान गया हूँ कि यह परिवार, यह नाते रिश्ते, यह सम्बन्धी, यह आत्मीय, वे विषैले सर्प हैं जिन्हें मैं दूध पिला-पिला कर पाल रहा हूँ। मैं दूसरों से कहाँ भिन्न हूँ, या विशेष कुछ कर रहा हूँ! सब यही करते हैं यदि सर्प के विष से अपना अन्त करना है तो इन्हें पालते जाओ। जिस प्रेमास्पद को समस्त प्यार देकर देवी बनाते हैं वही डायन है जो पैरों तले रौंद कर अपनी पिपासा शान्त करती है, जिस को मंगल-कलशों के बीच स्वीकारा जाता है वही

जीवन को चूस कर हमारे प्रतिद्वन्द्वी खड़ी करती है जो पछाड़-पछाड़ कर अधमरा कर के कुत्तों से बोटी-बोटी नुचवाते हैं। जिस परिवार को हम बसाते हैं वही हमारे लिए शत-शत नरकों की ज्वाला का निर्माण करता है।

मुझे विभाजित टुकड़ों को जोड़ कर समग्र सम्पूर्ण की अनुभूति कर लेना कभी नहीं आया, इसीलिए जहाँ नमनीयता की शक्ति का क्षय हो जाता है वहाँ केवल टूटना ही बच रहता है; जैसे कि दूध में एक कतरा नींबू काया कि पतले काँच का एक-ब-एक फिसल कर गिर पड़ना। उस के बाद पूर्णता मे कुछ भी हासिल नहीं किया जाता। हमारे आत्मीय सम्बन्ध वहीं तक प्रगाढ़ रह सकते हैं जहाँ तक हममे एक-दूसरे को स्वीकार करने की शक्ति है। एक-दूसरे को स्वीकार ही नही करना, उसे सहना, उस सहने के अनुरूप अपने को ढालना। यह सहना भी प्रकृत रूप में—अनावृत और प्रखर नग्नता मे। लेकिन आज हम सब एक आवरण, एक लबादा ओढ़ कर चलते हैं। हम सब के चेहरों पर नक़ाब पड़े हुए है और इन नकाबों का ही महत्त्व है। मुझे ये मास्क लगाये चेहरे, नक़ाबपोश व्यक्ति कभी भी आकर्षित नहीं कर पाये। इसलिए जो मुझे मेरे प्रकृत रूप में स्वीकार नहीं कर सकता उसे मैं क्यों उस के मास्की रूप में स्वीकार करूँ? मैं इतना जानता हूँ कि ज़िन्दगी की मंजिल मुझे अकेले ही तय करनी है। कोई मेरा सहयात्री नही है, कोई रास्ता बताने वाला नहीं। रास्ता मुझे स्वयं ढूँढ़ना है। जो सहयात्री बनने का दम भरते हैं उन में से कितने या कौन थोड़ी देर भी अपना रास्ता छोड़कर मेरे साथ आ सकता है?

● ●

यों हर ऐसी यात्रा सर्प-दंशन और विषाक्त धुँए से आवृत है जिस का अन्तिम लक्ष्य एक ही है। यह बात अलग है कि कुछ व्यक्ति सर्प-दंशन को ही सुख-संवेदन और विष के शिरा-शिरा मे बूँद-बूँद टपकाव को अंजुली भर-भर कर अमृत पीना समझें और अमृत की उस प्यास मे अन्ततः ऐंठी हुई चेतना, मृत और ध्वस्त आत्मा का मर्सिया हो वातावरण मे सदियों तक गूँजता रहे।

[दिसम्बर १९६१]

है। जो चक्की के पाटो मे नहीं फँसा उस के लिए आकर्षक और दूर के ढोलो की तरह सुहानी यह रचना अपने यथार्थ के बेरहम और लम्बे लम्बे हाथों मे दबोच दबोच कर अधमरा बनाती है। उस प्रवंचित आकर्षण से बचना आसान नही है इसलिए हर मूर्ख अपनी लोथ ही देखता है अन्त में।

तुम जो कहते हो कि तुम्हारे सम्बन्ध पारस्परिक, अन्योन्याश्रित, प्यार के और जीवन की सुचारु गति के लिए आवश्यक हैं—कितना बडा झूठ उगलते हो! इस भ्रम और धोखे के चक्रवात में कही कुछ सत्य हो सकता है? तुम जो कहते हो कि तुम्हारे बन्धन जन्म-जन्मान्तर के हैं—कितना बडा पाप उगलते हो। अस्थायी और नश्वर से सम्बन्ध स्थायी और अनश्वर हो सकता है? एक क्षण को तुम शाश्वत कहते हो और एक भ्रम को सत्य। यह किसी नादान बालक से भी न कहना क्योंकि वह जानना चाहे तो जान सकता है कि तुम्हारा प्यार केवल उस को गोद में लेकर चूमने भर के लिए ही है—आत्मतृप्ति के लिए ही। व्यक्ति बाजे बजा-बजा कर, लोगो में खुले आम एलान कर, ईश्वर की असीम अनुकम्पा का सडा गला जुमला घोस कर विवाह करता है और अपनी तृप्ति के लिए सामाजिक अनुमति माँग लेता है, फिर स्वय आपत्तियो को न्यौता देकर एक बच्चे को जन्म देता है (जो उसी की तरह मूर्ख और परम्परा के बोझ को गदहे की तरह पीठ पर लाद कर ढोने वाला होता है), और उसे भी अपनी ही तरह अधा बना कर छोड देता है। जिस परिवार को इतने उत्सव और आमोद-प्रमोद के बीच स्थापित किया जाता है वही सारे उत्सवों, आमोद-प्रमोदो पर अन्तिम यवनिका डालकर उस नाटक को समाप्त ही कर देता है, फिर अपनी हड्डियों की चिता सजा कर उस में प्राणो की समिधा को हर माँस की स्वाहा से झोंक दिया जाता है। ये तो सडे-गले सस्कार हैं, जिन से मुक्ति कहाँ है? न तो मुक्ति और न ही बुद्धि इन सडे-गले वस्त्रो को अलग कर सकती है। यह आवेष्टन तो सदियों पुराना है। मैं जान गया हूँ कि मैं परिवार के समुद्र ज्वार से फेंका गया, थका हुआ मनुष्य हूँ, जो इतना थक गया हूँ कि खडे होने की भी शक्ति नहीं है। मेरे पीछे गरजता हुआ उत्ताल स्वार्थसागर है, आगे उसी की नीरस बालू का क्षितिज तक चला गया विस्तार। न तो अतीत कुछ है मेरे लिए और भविष्य भी तो अन्धकारा-वृत है। यथार्थ के पल इतने जोखिले हैं कि उन के भार से मेरी साँस दबी-दबी, उखडी-उखडी है। मैं यह जान गया हूँ कि यह परिवार, यह नाते रिश्ते, यह सम्बन्धी, यह आत्मीय, वे विषैले सर्प हैं जिन्हें मैं दूध पिला पिला कर पाल रहा हूँ। मैं दूसरो से कहाँ भिन्न हूँ, या विशेष कुछ कर रहा हूँ! सब यही करते हैं यदि सर्प के विष से अपना अन्त करना है तो इन्हें पालते जाओ। जिस प्रेमास्पद को समस्त प्यार देकर देवी बनाते हैं वही डायन है जो पैरो तले रौंद कर अपनी पिपासा शान्त करती है, जिस को मगल-कलशों के बीच स्वीकारा जाता है वही

जीवन को चूस कर हमारे प्रतिद्वन्द्वी खड़ी करती है जो पछाड़-पछाड़ कर अधमरा कर के कुत्तों से बोटी-बोटी नुचवाते हैं। जिस परिवार को हम बसाते हैं वही हमारे लिए शत-शत नरकों की ज्वाला का निर्माण करता है।

मुझे विभाजित टुकड़ो को जोड़ कर समग्र सम्पूर्ण की अनुभूति कर लेना कभी नहीं आया, इसीलिए जहाँ नमनीयता की शक्ति का क्षय हो जाता है वहाँ केवल टूटना ही बच रहता है; जैसे कि दूध में एक कतरा नींबू काया कि पतले काँच का एक-ब-एक फिसल कर गिर पड़ना। उस के बाद पूर्णता मे कुछ भी हासिल नहीं किया जाता। हमारे आत्मीय सम्बन्ध वही तक प्रगाढ़ रह सकते हैं जहाँ तक हममे एक-दूसरे को स्वीकार करने की शक्ति है। एक-दूसरे को स्वीकार ही नही करना, उसे सहना, उस सहने के अनुरूप अपने को ढालना। यह सहना भी प्रकृत रूप में— अनावृत और प्रखर नग्नता मे। लेकिन आज हम सब एक आवरण, एक लबादा ओढ़ कर चलते है। हम सब के चेहरों पर नकाब पड़े हुए है और इन नक़ाबों का ही महत्त्व है। मुझे ये मास्क लगाये चेहरे, नक़ाबपोश व्यक्ति कभी भी आकर्षित नहीं कर पाये। इसलिए जो मुझे मेरे प्रकृत रूप में स्वीकार नहीं कर सकता उसे मैं क्यों उस के मास्की रूप मे स्वीकार करूँ? मैं इतना जानता हूँ कि जिन्दगी की मंजिल मुझे अकेले ही तय करनी है। कोई मेरा सहयात्री नहीं है, कोई रास्ता बताने वाला नहीं। रास्ता मुझे स्वयं ढूँढ़ना है। जो सहयात्री बनने का दम भरते हैं उन में से कितने या कौन थोड़ी देर भी अपना रास्ता छोड़कर मेरे साथ आ सकता है?

● ●

यों हर ऐसी यात्रा सर्प-दंशन और विषाक्त धुँए से आवृत है जिस का अन्तिम लक्ष्य एक ही है। यह बात अलग है कि कुछ व्यक्ति सर्प-दंशन को ही सुख-संवेदन और विष के शिरा-शिरा में बूँद-बूँद टपकाव को अंजुली भर-भर कर अमृत पीना समझें और अमृत की उस प्यास मे अन्ततः ऐंठी हुई चेतना, मृत और ध्वस्त आत्मा का मर्सिया हो वातावरण मे सदियों तक गूँजता रहे।

[दिसम्बर १९६१]

सोया कैनबरा और जागती अनथकी आँखें

शोभिता जैन

●

सारी पुरानी स्मृतियों से काफी भिन्न, एक बड़ी अपनी, और ताज़ी याद की तसवीर बहुत साफ़ है मेरे सामने। उस के बारे मे लिखने का बड़ा मन है। गहरे और घने कुहासे के बाद जब पहाड़ियों के नीलेपन को ज़्यादा नीला बनाती हुई, सूरज की किरणें एक साथ कैनबरा की लम्बी फैली सड़कों, इमारतों और घरों पर आ कर लगती हैं तो रात भर से चल रही बर्फ़ीली हवा मे थोड़ा सलोनापन आ जाता है और चढ़ते सूरज की चमकीली धूप की उठान के साथ ही साथ यहाँ की सारी चीजों मे एक ख़ास चमक भरती जाती है, जिस से घिर कर यहाँ का कण-कण अपने अद्भुत जादुई आकर्षण में मन को बाँध जाता है।

यहाँ मलय देश के जलजाल मे तर-बतर मन फिर-फिर जाता है अपनी कल्पना-कोरों के बादल मे कि जब हम लौट कर कैनबरा जायेंगे, वहाँ बर्फ़ के पहाड़ों को गला कर झील बनाने की योजना पूरी हो चुकी होगी। मैं उस झील मे अपने कैनबरा की चमकीली धूप में हँसते बदन का प्रतिबिम्ब बहुत साफ देख पा रही हूँ···बहुत ज़्यादा चौडी तो नहीं पर बहुत साफ सड़क है, बड़ी देर से एक खामोश चुप्पी छायी हुई है। सूरज काफ़ी देर का पहाड़ियों को पार कर चुका है, घरों के ऊपर आ कर उन के अन्दर झाँकने की कोशिश कर रहा है, जिस से चारों तरफ़ की हवा में गरमाहट की नरम खुशबू भर गयी है। जब किरणें चमकी ही थीं, हवा काफ़ी ठण्डी थी, तभी आठ बजे के क़रीब कैनबरा के सारे दफ़्तरों मे लड़के-लड़कियाँ अपना-अपना काम शुरू कर चुके थे। कुछ मिनिटों पहले इन खामोश सड़कों पर ढेरों कारों-बसों का शोर गुज़र गया था, पर इस वक़्त तो स्थित-प्रज्ञा मे खोयी सड़कों पर एक दूसरी तरह का शोर है जो बड़ा चुप है और सिर्फ़ आप से धीरे-धीरे बातें कर रहा है, क्योंकि आप उस खामोशी मे डूबे हुए उस की अनुभूतियों के एकमात्र साथी हैं।

ग्यारह बजे की धूप भी बडी अच्छी लग रही है, सामने की पहाडियों से एकदम सट कर हम से टकराती है तो चारों तरफ की ठण्ड में धीमा धीमा-सा सेक महसूस होता है। दो दिन के बाद निकला सूरज कैनबरा के लोगो के लिए 'चमकीला दिन' ले आया है। सब बडे खुश हैं, क्योंकि कल शनिवार है। उन का 'सप्ताहान्त' हो जायेगा। पाँच दिनों के सुबह के आठ बजे से शाम के पाँच बजे तक काम में थक गये उन के शरीर और मस्तिष्क के लिए दो दिन की लम्बी छुट्टी सभी ने अपना प्रोग्राम बना लिया है। हमारे पडोसियो में कनाडियन पति-पत्नी 'नोटर डैम' जा रहे है, न्यूजीलैण्डर 'रेड हिल' जा रहे हैं, हम 'स्नोई माउन्टेन्स' जायेंगे। चीनी पति पत्नी शायद अपने बच्चों को ले कर 'ड्राइव-इन थियेटर' जाते दिखेंगे।

हम आज भी छुट्टी मना रहे हैं अभी सामने से एक बस गुजर गयी है। बस स्टॉप पर बडा-सा बैग लिये एक वृद्धा उतरी है जिस के साथ आइसक्रीम खाता हुआ एक नन्हा सा लाल गालों वाला चार साल का बच्चा है; हम उसे जानते है। पीटर और उस की दादी हमें 'वेव' करते है। यहाँ क चमकीले दिनो में नन्हें बच्चे और वृद्ध लोग काफी बाहर दिखाई देते है—अपने में ज्यादा से ज्यादा गरमी भर लेने के लिए। धूप में चमकते उन के मुसकान से भरे चेहरे खुशी से लाल रहते हैं, जिन्दगी के प्रति बडा प्यार भरा आकर्षण उन्हें घेरे रहता है। बच्चो के हर काम में निर्द्वन्द्व उल्लास और सरल क्षमता भरी रहती है। वृद्धो की आँखों की कोरो में उन की तमाम खुशियाँ इकट्ठी होती रहती हैं, उन के गाल, होठ, हथेलियाँ, बाल सभी मुसकराते है अपनी इतनी ज्यादा भरी-पूरी दुनिया के रग में। वे अपने हास विलास में अपने नन्हें मुन्नो की खुशी की प्रार्थनाएँ किया करते हैं। पीटर और उस की दादी अपने घर के फूलों की कतार के पीछे छिप गये हैं। अब फिर सडक पर सडक है, हम है, और सन्नाटा है, जिस के अन्दर गूँजता हुआ सडक का अपना मीठा गाना है, जिसे अगर आप अपने घर के शीशे वाले दरवाजे से निकल, लॉन पार कर के फुटपाथ के किनारे किनारे लगे फूलो से लदे पेडो के पास ठहर कर सुनें तो जरूर समझ पायेंगे और आप का मन करेगा कि इस फूलों के दुशाले में अपना मुँह गडा दें, वहाँ की खूबसूरती को प्यार करते जायें और फिर एकदम से मुँह उठा कर ऊपर देखें तो एक साफ नीला आसमान दिखे, जहाँ अपनी एक खामोशी है, जिसे कैनबरा के चारो तरफ की नीली पहाडियाँ क्षितिज पर स्पर्श करती हैं। मन ही तो है आप का, फूलो के आँचल से ढुलक कर दौड लगाना चाहेगा—पहाडियो की चोटी तक आसमान को अपनी बाँहो में भर लेने के लिए। फिर आप अपने चारों तरफ खिची हुई पहाडियो की कतार देखते हुए उस खामोश सडक पर आगे चलते जायेंगे। एक छोटी सी पतली धार दिखेगी, उस पर बडा सा पुल मिलेगा। कैनबरा के लोगो के लिए यह एक बडी नदी है, जिस में अगर पानी बढ जाये तो वहाँ के अखबार 'कैनबरा में बाढ' की

खबर निकालते हैं। पुल के दोनों तरफ़ लगे पाइन के नुकीले पेड़ों के पास खड़े हो कर नीचे की तरफ़ देखने से 'वीपिंग विलोए' की घनी छाया के बीच से छनता हुआ आप का चेहरा पानी में तैरेगा और फिर उस पार की इमारत! यह यहाँ का अस्पताल है। लम्बे-लम्बे ढलावदार लॉन, फूलों से लदे पेड़ों की कतार--बड़ा स्वस्थ मन भी यहाँ की छायादार नरम-नरम गरमी मे बैठ कर सुस्ताना चाहेगा। यहाँ की खुशबू विना बोले ही चिरपरिचिता-सी बड़े रहस्यमय तरीके से आ कर आप के चारों ओर लिपट जायेगी।

वहाँ से एक सीधा रास्ता है, जिस में दोनों तरफ़ खपरैल की छतों और लकड़ी के फ़र्शों वाले छोटे-छोटे मकान हैं। हर एक में अपने-अपने लॉन हैं, जिस में किनारे-किनारे खिले फूल यहाँ के लोगों की तरह ही खुशी और प्यार से भर कर हवा में झूमते है और सारी सड़क को अपनी सुगन्ध से भिगो देते हैं।

अब तो वक़्त भी ज़्यादा हो चुका है। नन्हें-नन्हें बच्चे-बच्चियाँ धूप के चमकीले मौसम में कमरों के अन्दर के अपने गरम-नरम बिस्तरों को भूल चुके हैं। बाहर कोई अपनी ट्राइ-साइकिल पर, कोई अपनी 'काउ बॉय' की ड्रेस में भरपूर शैतानी का मजमा जोड़े होंगे। हमारे पहुँचते ही पहले थोड़ा सहमे है, फिर उन की आँखों मे एक चमक आयी है। उन मे से कुछ हमे जानते है। हम सब से 'हॅलो' करते है। सब हमारे चारों ओर घेरा बना कर खडे हो जाते है। ये उन की 'फ़ैन्सी ड्रेस' को देखते है और तारीफ़ करते हैं। वे मेरी साड़ी को भी 'फैन्सी ड्रेस' समझ कर बडे ग़ौर से, आश्चर्य से देखते है, छूते है। सब से ज़्यादा आश्चर्य की चीज है उन के लिए मेरी बिंदी। कुछ तो समझते हैं कि यह चोट है जिस से खून निकल रहा है और डर कर पीछे हट जाते हैं। कुछ उस पर आँखें जमाये पूछ ही तो लेते हैं, तो मैं समझाती हूँ कि जैसे उन की ममी अँगूठी पहनती हैं, गले मे 'नेकलस' पहनती हैं उसी तरह यह भी अपने को सजाने के लिए लगायी जाती है, यह चोट नहीं, वरन् एक तरह का लाल पाउडर है। पीछे हट गये डरे बच्चे कुछ-कुछ समझते हुए मुसकराते हैं। हम सब को 'बाइ-बाइ' कर के आगे बढ़ते हैं।

इस रास्ते को पार करने के बाद यहाँ का बाज़ार पडता है, जिस के बीच में एक चौडा-सा फ़ुटपाथ है, घने पेडों की छाया से घिरा। और दोनों तरफ़ चौड़ी सड़क है, जिस पर कार व बस निरन्तर जा-आ रही है। यहाँ काफ़ी चहल-पहल है। आज ज़रा ज़्यादा क्योंकि शुक्रवार है--सप्ताह का आख़िरी दिन। सभी अगले सप्ताह के लिए खरीददारी कर रहे हैं। कल-परसों सारा बाजार बन्द रहेगा, यहाँ तक कि परसों तो सिनेमाघर भी। रंग-बिरंगे ऊनी कोट, स्वैटर पहने लड़के-लड़कियाँ घूम रहे हैं। एक तरफ माँ बच्चे को सँभाल रही है और सब्ज़ी की दूकान वाली यह ग्रीक लड़की उस का सामान पैक कर के उस की गाड़ी मे रख रही है। यहाँ कई दूकानों पर आप को वे लोग मिलेंगे जो अपने रूप-रंग, बोल-चाल, वेश-भूषा और हाव-भाव में न आस्ट्रेलियन लगेंगे, न इंगलिश,

न ही अमेरिकन, या चीनी-जापानी;—वे लम्बे कद के, गोरे, लम्बी नाक वाले, बड़े सुन्दर चेहरे वाले ग्रीक-इटालियन कैनबरा की 'न्यू आस्ट्रेलियन' जनता हैं। इन मे यहाँ के लोगों से भिन्न अपनी संस्कृति का काफ़ी स्पष्ट प्रभाव साफ़ मालूम देता है। स्वभाव के ये बहुत अच्छे होते है। ये विशेष महत्त्व के काम नही करते। अधिकतर सब्जी की दूकानों या 'कॉफ़ी शॉप' पर काम करते मिलते है।

हम आगे बढ़ते जाते है—यहाँ की सड़कों, जगहों का नाम पढ़ते हुए, जिन मे आस्ट्रेलिया के आदिमवासियों की संस्कृति की छाप मिलती है। 'कैनबरा' नाम भी एक ट्राइबल नाम है जिस का अर्थ है 'मिलने-जुलने की जगह'। इसी तरह यहाँ और भी नाम है, जो बड़े संगीतात्मक लगते हैं, जैसे मनूका, कूमारी और यारालुमला आदि।

अब स्टोर्स पीछे छूट गये है, भीड़ वहीं रह गयी है। यहाँ कुछ दूसरी ही खुशबू आ रही है। सारे माहौल मे भर गयी है। कभी लगता है सड़क में से आ रही है। पर वह तो चुप है, तो लगता है बग़ल की झाड़ियों मे से आ रही है। आँख उठा कर देखते हैं तो फ़ुट-पाथ के बाद झाड़ियों के परे मकान नहीं हैं, इमारतें नहीं है। दोनों तरफ मैदान फैला है बंजर-सा। बीच-बीच में से पगडण्डियाँ गयी हैं सामने की चोटियों तक, जिन के परे और भी लम्बे मैदान है, ऊँचे पेड़ है और घनी कँटीली झाँड़ियाँ है, जिन पर बिना पगडण्डियों के रास्ते है, बिना आदमियों की एक बहुत बड़ी बस्ती है। वहाँ एक बड़ा चुपचाप जादू है, जिसे जानने का बड़ा मन करता है। वहाँ पहुँच कर मस्त हो कर गाने का बड़ा मन करता है कि आवाज़ घाटियों और मैदानों में गूँजती चली जाये, जिस से झाड़ियों के हिलते ही पेड़ मुसकरा दें और तब हम बहुत प्यार से वहाँ के जादू की एक-एक गाँठ धीरे-धीरे से खोलें और वह हमारे पास बिखर जाये—बाँस के झुरमुट मे रात भर की जमा ओस की बूँदों की तरह। दूर-दूर तक कुछ भी नहीं है। सूनापन है महादेश का। कैनबरा के बसाव मे शहर के चिह्न नहीं है। यहाँ की बस्ती की तुलना हम अमेरिकन उपन्यासों में वर्णित छोटे-छोटे उपनगरों से कर सकते है। फैले मैदानों की खुली हवा से उठ कर ज़िन्दगी यहाँ के लोगों के अंदर खुलापन भर देती है, जिस से चारो तरफ़ एक बड़े सुखीपन का सर्जन होता है। और आहा! जब दिन भर की तेज़ धूप के बाद दोपहर मे एकदम काले बादल पहाड़ियों के पीछे इकट्ठे हो कर कैन-बरा के आस्मान की तरफ़ धीरे-धीरे बढ़ते है तो अपने मकान की खिड़की से देखने से लगता है कि 'स्पेस-वॉर' के सिपाही मार्च पर हों।

यहाँ सूरज छिपते-छिपते छह बजे के करीब 'टी' ली जाती है जिस का अर्थ हमारे यहाँ की चाय नहीं वरन् डिनर है। और फिर आठ बजे तक प्रायः सभी सो जाते हैं—विशेष कर बच्चे एवं बुड्ढे सभी। यहाँ हमारे शहरों की तरह शाम या रात की चहल-पहल वाली जिन्दगी नहीं है। यहाँ दिन बहुत जल्दी शुरू होता है। कैनबरा मे तीन महीने रहने के बाद लगता है कि एक स्वस्थ और

बहुत खुश तरीके से रहने के लिए इस तरह का रूटीन रहना ही चाहिए।

हम फिर एक बार ऊँची जगह से मुड कर पीछे देखते है तो पेड, झाडियो और रास्तो के बिखरे जाल में मन उलझ-उलझ जाता है। दूसरी तरफ थोडी-थोडी रोशनी के ब्रश से नीली पहाडियों पर कुछ और ही हो रहा है। नीली पहाडी की चमक गहरे ऊदे रग में बदल गयी है और एक क्षण को चारो तरफ सिन्दूरी रग छा जाता है, तब एकदम से पलक झपते ही सारी पहाडी गहरे सलेटी रग में बदल जाती है और सूनेपन के गह्वर में कालापन मिल जाता है। पर यह तो कुछ दर को ही है क्योंकि अभी ही उजाले की दूसरी तस्वीर चमकेगी, जिस में यहाँ की हर चीज दूसरी कल्पना में खो जायेगी। हम सब अपने-अपने घरों में दरवाज़े खिडकिया बन्द कर आग जलाये कमरो मे बैठे होंगे। खिडकियो के बाहर सडको पर फूले पेडो की घनी छाया लम्बी हो कर लेट जायेगी और एकदम खामोश सोती रहेगी, बीच-बीच में पहाडो से भेजे हवा के सदेशे से चौंक कर अनपेक्षित की अपेक्षा में चौंक-चौंक जायेगी। सारे आस्मान में तारे बहुत कम होंगे पर एक बडा-सा चाँद होगा, जो चाँदनी को हर घर में भेज-भेज कर बातें करने की कोशिश करता दिखेगा। दिन-भर से खामोश सडकें थकी-सी चाँदनी को पा कर खिल जाती हैं, उसे चिपकाये अपनी कल्पना में डूबी रहती हैं। सारा कैनबरा आठ बजे के बाद सोया रहता है। सिर्फ यहाँ का आस्मान, नीली पहाडियाँ, चाँद, धुली सडकें, पेडों की लम्बी-लम्बी छाया और इस जादू को ताकते-ताकते हमारी अनथकी आँखें जागती रहती हैं।

[मई १९६२]

पश्चिम के औघड़ ऋषि-कुमार

हिप्पी

पुष्पधन्वा



आज की पत्र-पत्रिकाओं में और हमारी, विशेष रूप से विद्यार्थियों की, बातचीत मे कुछ शब्द बार-बार आ जाया करते है—'हिप्पी,' 'फ़्लावर पावर,' यिप्पी', 'मारियुआना', 'एल० एस० डी०'....और हम पाते है कि भारत के हर बड़े नगर मे दिन मे दो-तीन बार हमारा सामना एक विचित्र वेश-भूषा वाले व्यक्ति से हो जाता है। तनिक उलट-फेर के साथ मुख्यतः उस का हुलिया यही है—बे-नहाया गोरा रंग, बढ़े हुए रूखे बाल, थेगली लगे मैले मुसे कपड़े, गन्दे पैर—नंगे या फटी सैण्डिलों मे, अजीवो-ग़रीब मनके को मालाओं की सज्जा और कभी-कभी गले में झूलता गीटार ! इसे दिल्ली की पराँवठे वाली गली से 'अशोका' के भव्य बैंक्वेट हॉल तक कही भी बे-झिझक, बेफिक्र, घूरती आँखों की उत्सुकता से अनछुआ, विचरते पाया जा सकता है। मन मे किसी पल वितृष्णा जगती है इस अघोरी के प्रति तो किसो पल जिज्ञासा—कि कौन है यह वैरागी ? क्या ये सब गौरांग तपस्वी-तपस्विनियाँ भारत ही में अपना मसीहा पायेंगे ? ये कभी महर्षि महेश योगी के यहाँ नृत्य-गीत की गुंजार मे डूबते है और कभी तन्त्र का जाल बुन सिद्धियाँ लूटने का प्रयत्न करते है। अमेरिका के आँकड़ों के अनुसार ये हिप्पी हैं ही कुल तीन लाख ! तो क्या, भारत के हर नगर मे बिखरे ये दीवाने उस गणना से कहीं अलग है ?

हिप्पियों के बारे में अनेक वाद-विवाद होते रहते है। ज्यादातर लोग इन्हें पाखण्डी, काम-चोर, फूहड़ और पलायनवादी कहते हैं। क्यों न इन्हे कठघरे मे खड़ा कर फ़ैसला सुनाने से पहले इन को अपनी बात कह लेने का मौक़ा दिया जाये ?

आनन्द की खोज

वाशिंग्टन के एक हिप्पी क्लब में दाढ़ी बढ़ाये, मुरकी पहने एक हिप्पी बियर की चुस्कियाँ लेता है और घण्टों बुदबुदाता है, 'Pursuit of happiness' (आनन्द की

खोज)। अकसर 'हैपिनेस,' 'हिप्पीनेस' में वदल जाता है और जब उस से सवाल किया जाता है, तो वह चौक कर कहता है कि दोनों में क्या कोई अन्तर है ?····यानी, वह और उस के साथी आनन्द की खोज कर रहे है ! कौन है जिस ने आनन्द की खोज नही की ? ईसा, बुद्ध, कन्फ़्यूशस, प्लेटो, अरस्तू····क्या वे कुछ और खोज रहे थे ? रूसो का यह शागिर्द अगर आज अपने समाज का विरोध करता है, प्रकृति की ओर लौटता है और मानव-आत्मा को स्वतन्त्र तथा अनैतिक घोषित करता है तो उसे पाखण्डी क्यों मान लिया जाता है ? शरीर के सुख से परमानन्द तक पहुँचने का प्रयत्न भी कोई नयी बात नही ! क़र्ज़ ले कर घी खाने वाले जड़वादी चार्वाक पूर्व में बहुत पहले जन्म ले चुके है और पश्चिम भी एपिक्यूरस के ऐन्द्रिक सुख पर आधारित 'हीडोनिज़्म' से ईसा से लगभग तीन सौ वर्ष पहले ही परिचित हो चुका था ।

हिप्पी-दर्शन परम्परागत धर्म को आनन्द पाने का मार्ग नही मानता । बल्कि यह तो उस के विरुद्ध है। हिप्पी वर्ग समाज की नैतिक रूढ़ियों को भी तोड़ना चाहते हैं । वे प्रयत्न कर रहे है कि इनसान फिर से लौट कर एक स्वच्छ और पाखण्डरहित नैतिकता पर जा लगे । उन का कहना है कि दोगलेपन और गन्दगी का मूल है—पैसा । इस लिए हमें, पहले, जीवन मे 'पैसे का अवमूल्यन' करना होगा । आधुनिक सभ्यता के ठेकेदार अमेरिकी पैसे और हैसियत की तराजू से हर भाव और सम्बन्ध को तौलने लगे है (गवाह : आर्थर मिलर, जेम्स बॉल्डविन, सॉल बैलो, जॉन अप्डाइक) । स्वाभाविक ही था कि इस भावना के विरोधी भी उसी जमीन पर जन्म लेते । यों, यह दृष्टिकोण हर धर्म का मूलभूत सिद्धान्त होता है और इस तरह हिप्पी एक नये धर्म की स्थापना कर रहे हैं ।

वे अपने सिद्धान्तों को धर्म का नाम नहीं देते क्योंकि इस शब्द के साथ कुछ परम्पराएँ और पूर्वाग्रह जुड़े हुए है । भारत की आध्यात्मिकता ने उन्हें क्यों मोहा और ईसाई मत की ओर वे उतना क्यों नहीं मुड़े—यह भी विचारणीय है । भारतीय और पाश्चात्य धर्म मे मोटे तौर पर यह अन्तर देखा गया है कि ईसा का बताया मार्ग अधिक व्यावहारिक है । इसी लिए आधुनिक भारतीय भी उस की ओर झुका था । किन्तु हिप्पियों को सम्भवत: उस की यह व्यावहारिकता ही अग्राह्य रही । इस के अलावा, अपने धर्म मे कोई नवीनता इन युवकों को अब दिखाई नही देती थी । जिस धर्म को उन के दादा-परदादा निबाहते चले आ रहे थे, नयी पीढ़ी के लिए अपना सारा नशा खो बैठा था । इसी लिए वास्तविक आनन्द और नयेपन की खोज मे ये भारतीय दर्शन और धर्म की ओर मुडे ।

फ़्लावर पावर (पुष्प-शक्ति)

हिप्पियों का प्रतीक-चिह्न है—फूल । फूल जिस तरह बिना काम किये, बिना सामाजिक बन्धनों में बँधे प्रकृति की खुली देन की तरह हँसता और खिलता है उसी तरह हिप्पी लोग मनुष्य को भी स्वतन्त्र और निश्चिन्त देखना

चाहते हैं, वे बच्चो को फूल बाँटते चलने हैं। अकसर सैकडो-हजारों की संख्या में वे इकट्ठे होते हैं—तरह तरह के फूलों से सजे, गीटार की ध्वनि पर 'प्रेम' के गीत गाते हैं। न्यूयॉर्क के सेण्ट्रल पार्क में १०,००० हिप्पियों ने एक पिकनिक (be-in) मनायी। इन्द्रधनुषी रगो की पोशाकें, लम्बे बाल, ढीले-बेतुके कपडे, अजीबोगरीब बिल्ले (पतझन त्यागो, यथार्थ वैसाखी है, मेरी पॉपिन अँगेडी हैं, प्यार भोगो युद्ध नही)। पुलिस आ पहुँची थी और उसे घेर कर हिप्पी समूह गा रहा था—'प्यार प्यार प्यार ।' मेला लगा हुआ था, पतगें उड रही थी, जगह-जगह झण्डे फहरा रहे थे—विषय था—'देना और बाटना'। हिप्पी सस्था ने बाद में बताया कि इन मेलो की प्रेरणा 'मानव-मात्र के लिए प्रेम की भावना' है। 'टाइम' पत्रिका के अनुसार भी—"हिप्पी भले लोग है। 'पुष्प-शक्ति' कदापि विध्वस के लिए नही है।"

इन सिद्धान्तों को मानने वाले धूर्त नही कहलायेंगे। वे एक अधिक सुन्दर और स्वस्थ दुनिया चाह रहे हैं। उन के तरीके—उस दुनिया को पाने के—जरूर आपत्तिजनक हो सकते हैं।

० इन की सब से पहली शर्त है—सामाजिक नियमो का पूर्ण बहिष्कार। हर प्रकार की सामाजिक सस्था को ये तोडना चाहते हैं। 'यदि ये सस्थाएँ दस हजार साल से चली आ रही है तो इस का यह अर्थ नही कि ये अमर हैं।'

० प्रेम और सेक्स की सम्पूर्ण स्वाधीनता। यद्यपि इन में विवाह भी होते है लेकिन जोर सामूहिक-सलग्नता पर है।

० पैसा जिन्दा रहने के लिए जरूरी है इस लिए वह जहाँ से भी हो, जैसे भी मिले—दान, भीख, सहायता—इन्हें स्वीकार है।

० माता-पिता की यह धारणा कि कोई भी काम पैसे के लिए किया जाये न कि काम को आन्तरिक सन्तुष्टि के लिए—इन से विद्रोह कराती है।

० स्थायी नौकरी इन की योजना में कहीं स्थान नहीं रखती।

० कपडे और लिबास श्रेणी व सामाजिकता का प्रतीक है इस लिए उस की ओर से ये बिलकुल उदासीन है। हालाँकि एक खास किस्म की पोशाक इन का अपना चिह्न बन गयी है।

० ये बौद्धिकता से भी दूर भागते हैं क्योंकि बौद्धिकता नैसर्गिकता से दूर भगाती है।

० हिप्पी-गुरुओं के अनुसार सामान्य स्तर से ऊपर उठने के लिए नशा जरूरी है। उन का धर्म-गुरु और एल० एस० डी० का जन्मदाता डॉ० टिमोथी लिचरी एल० एस० डी० को 'पवित्र अध्याय' की सज्ञा देता है। साधारण शराब से ले कर गाँजा, चरस, मारिजुआना, एल० एस० डी० (हिप्पी भाषा में 'The Trip') और मिथिड्रीन (Speed-गति) सब का सेवन क्षम्य ही नही आवश्यक है, लगभग चालीस रुपये फी खुराक की 'यात्रा' (ट्रिप) हर हिप्पी के लिए सम्मान का प्रतीक बन गयी है।

पूर्वज और प्रादुर्भाव

हिप्पी आन्दोलन ने अकस्मात् एक रात में जन्म ले लिया हो—ऐसी बात नहीं। विश्व-प्रसिद्ध इतिहास-लेखक आर्नल्ड टॉयन्बी के अनुसार हिप्पी प्रारम्भिक ईसाइयों की याद ताज़ा कराते है जो रोम-साम्राज्य के पतन का कारण बने। उन्ही की तरह इन्हों ने भी आज के समृद्ध और अधोगामी अमेरिकी समाज से अपने को तोड़ लिया है और इस तरह उस की त्रुटियो को प्रकाश में ले आये हैं। आर्थर केस्लर की दृष्टि में मनुष्य मानव-विकास की ऐसी भयानक गलती का शिकार है कि उस का इलाज शायद 'ड्रग्ज' के अलावा कहीं नही। उस का दिमाग़, ज्ञान और बुद्धि, विकास और समझदारी के उस बिन्दु पर पहुँच चुके है जहाँ पलायन का हर रास्ता बन्द है। वह हर स्थिति, हर काम के लिए स्वयं उत्तरदायी है। हिप्पी अपनी इस क़ैद को पहचान कर 'यात्राओं' (ट्रिप्स) की शरण मे जा चुका है।

इस बन्धनों से मुक्ति और दृष्टि की प्रखरता पाने के लिए कलाकार हमेशा बाह्य-उपकरणों का प्रयोग करता रहा है। नास्तिक के लिए यह और भी आवश्यक हो जाते हैं क्यो कि भक्ति का नशा उसे प्राप्त नहीं। हिप्पी के पूर्वज वास्तव मे अमेरिकी न हो कर युरॅपीय रहे है। अमेरिका मे न तो कॉलरिज था, न पो, न बॉदलेय्र, न रिम्बो, न वर्लेन, न ऑस्कर वाइल्ड—वहाँ तो बायरन और शैली तक न थे! अमेरिका की समसामयिक बीमारियाँ वही है जो उत्तर मध्यकालीन इतालवी और फ़्लेमिश नगरों की थीं। वहाँ मध्यवर्गीय युवक के सामने सम्भावनाएँ सिकुड़ कर खत्म-सी हो गयी थीं। हिप्पी भी विस्तृत विश्वविद्यालयीय शिक्षा के उच्छिष्ट हैं। वे आज की प्रतियोगिता-पद्धति में सृजनात्मक अथवा बौद्धिक रूप से फ़िट न बैठ पाने वाले बेमेल टुकडे हैं। अपनी हार को एक बार स्वीकार कर लेने से मनुष्य चिन्ताओं से मुक्त हो कर गहरे सन्तोष की स्थिति में पहुँच जाता है। पहले का युवक समाज मे स्थान पाने के लिए जूझता था और अपने को समाज के योग्य बनाने की कोशिश करता था। किन्तु यह हिप्पी युवक-समाज मे स्थान न बना पाने पर समाज को त्याग डालता है और उसे तोड़ डालना चाहता है।

क्यों और कैसे

अधिकांश हिप्पी समझते है कि बुद्ध की तरह अपने भरे-पूरे समृद्धिशाली परिवारों को त्याग कर निकल पड़े है। यह बात दूसरी है कि बुद्ध के विपरीत इन मे से अनेक, अपने घरों से आर्थिक सहायता पाने में झिझकते नही। एक विख्यात समाजशास्त्री के अनुसार हिप्पी-आन्दोलन अमेरिकियों की अपेक्षाकृत अधिक लम्बी और चिन्तारहित किशोरावस्था का परिणाम है। जिन देशों में चौदह वर्षीय किशोर को रोटी कमाने में लग जाना पड़ता है उसे मानसिक उखाड़-पुखाड़ के विलास की फ़ुरसत ही नहीं रहती। वह कैसे अपने और परिवार व समाज के सम्बन्धों की शव-परीक्षा मे उलझा रह सकता है? यह बात इन हिप्पी-

वक्तव्यों से स्पष्ट हो जाती है :

एक सरकारी अफ़सर का बेटा—क्लिण्ट, (आयु १५ वर्ष) : "मेरा बाप दुनिया के उद्धार में लगा है। मुझे तो दुनिया उद्धार के लायक जान नहीं पडती। और उसे जिन्दगी से मिल क्या रहा है ? मैं जानता हूँ उसे मेरी कोई परवाह नहीं। मैं तो···कुछ भिन्न बनना चाहता हूँ।"

१४ वर्षीया कैथरीन : "मेरे घर वाले रात को देर से लौटने पर तूफ़ान खड़ा कर देते हैं। इस के पीछे बात सिर्फ़ यही है—पड़ोसी क्या कहेंगे, दोस्त क्या कहेंगे। इन लोगों को दिखावे से ही वास्ता है। ये तो हमेशा अपने धन्धों मे पड़े रहते है—इन की बातें मेरी अक़ल मे नहीं आती।"

१६ वर्षीय टॉमी : "हाँ, मै ने एल० एस० डी० की 'यात्रा' की है। उस यात्रा में मैं ने खुद को देखा—जो देखा वो शायद पसन्द तो नही आया—लेकिन वाकई—देखा ज़रूर—खुद को पहचाना ज़रूर।···मन था इस लिए यह यात्रा की····हो सकता है फिर भी करूँ····क्या ? 'ड्रग मिली कहाँ से ?'··· 'पुलिस के जासूस हो क्या ?"

१४ वर्षीय क्रैश-पैड (रैन बसेरा) में रहने वाली जैनेट : "हमें यहाँ बड़ी परेशानियाँ है। अगर हमे प्यार और स्वच्छन्दता मिल जाये तो हम जरूर घर लौटना चाहेंगे।"

इस तरह के उखड़े हुए बच्चे घर छोड़ कर भाग जाते है। अमेरिका मे घर से भाग जाने वालों मे जो १८ प्रतिशत वृद्धि हुई है वह अधिकांशत: ऐसे ही किशोर-किशोरियों की है। वे अपनी पहचान खो बैठे है और अपनी असलियत ढूँढ़ रहे हैं। उन के पलायन में सारा दोष क्या उन्हीं का है ? उन के नासमझ माता-पिता अपने बच्चों की यातनाओं और छटपटाहट को न समझ कर ही अकसर उन्हें भागने के लिए विवश कर देते है। बच्चे शायद ही कभी अपने माता-पिता की असन्तुष्टि से अपरिचित रहते हों। और, आज का बच्चा तो उसे पूरी गहराई से पहचानता है। उस के माता-पिता ने जिस खोखली ज़िन्दगी को दब्बू ढंग से, अस्वीकारते हुए भी, ओढ़ रखा था उस ज़िन्दगी को अपनी बारी आने पर; बच्चे डंके की चोट त्याग देते है।

मॉर्निंग स्टार (प्रभात तारक)

ये सारे 'भटके हुए लोग' एक-दूसरे का सहारा ढूँढते है और इस तरह एक दल की स्थापना हो जाती है। धीरे-धीरे इस मे सैद्धान्तिक नेताओं ने जन्म लिया और इन्हों ने अमेरिका में अपना 'इजराइल' ढूँढ़ा—हिप्पीलैण्ड 'मॉर्निंग स्टार' (सुबह का सितारा)। १९६७ में इस की स्थापना करते हुए हिप्पी-नेता लो गॉटलीब ने कहा : "हम जिन्दगी को सुरक्षा के लिए मार्गदर्शक खोज कर रहे है। हिप्पी, तकनीकी बेरोजगारों की पहली लहर है। अन्तर्राष्ट्रीय समाज की परम्परा को जारी रखने में हमारी पहली परेशानी जगह मिलने की थी और अब दूसरी है कि इस नगरी के प्रति कौन-कौन आकर्षित

होता है। हम जीवन पद्धति की नयी परिभाषा बनाने में लगे हैं।"

हिप्पी कॉलोनी में रहने वाली एक युवती 'लिज़ा' कहती है—"जैसे ही मैं यहाँ आयी, सड़कों पर मुझे अपनी हर मुसकान का उत्तर मुसकान से मिला। वहाँ, घर पर, ऐसा नहीं था। इस तरह मुझे रहने की जगह मिल गयी—एक सामूहिक बसेरा जहाँ हम हर चीज़ बाँट कर भोगते हैं—और मैं यहाँ ही टिक गयी।"

भावुकतावाद ?

हिप्पी-आन्दोलन बुद्धि से पलायन करता है। 'तर्क' और मनोवैज्ञानिकों की भाषा में जिसे 'कोरा प्रभाव' कहा जायेगा—दोनों के प्रति अधिकाधिक असन्तोष बढ़ रहा है। आज से ५० साल पहले 'डाडावाद' में इसी माध्यम से लगभग यही बात कही गयी थी। सच पूछा जाये तो उस की भाषा भी इन से सशक्त ही थी। हिप्पी क्लबों के 'साइकेडेलिक' (तीव्र नशे की स्थिति में रचे गये) संगीत, प्रकाश और कला की तरह 'डाडावाद' ने भी शोर से भरे संगीत, ऊलजलूल कार्य और कलाविरोध का प्रचार किया था। 'डाडावाद' युरॅप के गिने चुने विशिष्ट व्यक्तियों का प्रथम विश्वमहायुद्धोत्तर प्रयोग था। इसी तरह 'अतियथार्थवाद' (सुरियलिज्म) भी युद्धोत्तर तबाही की प्रतिक्रिया था। किन्तु मान्य मापदण्डों पर प्रहार कर के भी ये आन्दोलन 'झूठ' को पूरी तरह बुहार न सके थे। हाँ, इन से बचन और सदाचार की कुछ परम्पराएँ अवश्य टूटी थी। धीरे-धीरे 'डाडावाद' और 'भविष्यवाद' के सिद्धान्तों ने आकार लेना शुरू किया। 'भविष्यवाद' की शक्ति और शान मुसोलिनी का फासिज़्म बने और जिस तरह 'डाडावाद' कला-विरोधी था उसी तरह 'नात्सीसी' राजनीति-विरोधी हुए।

रोमाण्टिक, तर्क विरोधी आन्दोलनों में सदा यह कमी रह जाती है कि वे मूलतः भावुक होते हैं। 'भविष्यवाद' और 'डाडावाद' से कहीं पहले रूसो, नीत्शे आदि अनेक विचारकों ने बुद्धि की अपेक्षा भावना को महत्त्व दिया था। इन सब का ध्येय यही रहा—विकृतियों से छुटकारा, मनुष्य के अन्तर की आज़ादी, असत्य की जगह सत्य की स्थापना, प्यार का दान। लेकिन मनुष्य के अन्तर में है क्या ? प्रेम—सही है, किन्तु घृणा और क्रोध भी तो ! और आधुनिक प्राणी में—आघात पहुँचाने की इच्छा भी ! यदि हिप्पी-आन्दोलन से भविष्य का संकेत लिया जाये तो स्पष्ट है कि आने वाला 'कल', तर्क और व्यवस्था पर नहीं चलेगा। और भावुकता का यह उभटाव सदा राजनीति निरपेक्ष भी नहीं रहेगा। जब वह कर्मठ हो उठेगा—तब क्या होगा ?

—और अगर !

उस 'तब' का स्वाद हमें अभी से कुछ कुछ मिलने लगा है। अगस्त १९६८ के अन्तिम सप्ताह में शिकागो में 'डेमोक्रेटिक नेशनल कन्वेंशन' के अवसर पर हज़ारों युद्ध-विरोधी हिप्पी उमड़ आये। शहर में हिंसा

का वातावरण छा गया। आकाश पुलिस-हेलिकॉप्टरों से पट गया और नगर की जल-सप्लाई पर कड़ी निगरानी थी कि कहीं हिप्पी उस मे एल० एस० डी० घोल कर डेमोक्रेटिक 'वृद्धि' भक्तों को उड़ा डालने की धमकी में सफल न हो जायें। अमेरिका के इतिहास मे किसी राजनीतिक सम्मेलन के अवसर पर ऐसी स्थिति आज तक खड़ी नहो हुई थी।

नंगे बदन, नंगे पैर, सामाजिक मर्यादाओं को तोड़ते, चरस-भाँग का सेवन करते, स्वतन्त्र प्रेम का डमरू बजाते ये शिव के गण—हिप्पी—अगर किसी दिन उस विचित्र देवता के पूरे भक्त बन कर, तीसरा नेत्र खोल ताण्डव की चेष्टा कर बैठे तो क्या न हो जाये—यह बार-बार विचारणीय है।

तटस्थतापूर्वक इस सब पृष्ठभूमि से पाठकों को परिचित कराने का उद्देश्य यह है कि समाज अपने भविष्य के विषय में गम्भीरता से सोचे !

[अक्तूबर १९६८]

कला और नया चाँद

जगदीशचन्द्र माथुर



कुछ दिन हुए एक शाम को अपने दफ़्तर से लौटते समय मै ने मोटर के सामने वाले शीशे के आर-पार देखा : वृक्षों की घनी डालियों के पीछे यह कौन झाँक रहा है ? कौन छोड़ गया इस झुरमुट में यह दमकती चाँदी की बेशक़ीमत थाली ? किस अनन्त सौन्दर्यराशि का कर्णफूल हमारे आसमान के कोने पर छा गया है ? मेरी आँखों को किन रेशमी रजत-रश्मियों की चैन-भरी छुवन टंडक दे रही है ? " और मै ने राहत पाने वाले यात्री की भाँति साँस ली और मन मे सोचा कि हमारा चाँद विज्ञान की घुड़दौड़ के गुबार मे खोया नहीं है इस लिए कि हमारी कल्पना चाँद की झलक पा कर अब भी मचल जाती है, हमारी अनुभूति चाँद की प्रेरणा से अब भी रससिक्त हो जाती है ।

लोग प्राय: कहते है कि विज्ञान प्रकृति पर विजय प्राप्त कर रहा है । यह अंशत: ही सत्य है क्योंकि विज्ञान की हर विजय मे पराभव के बीज होते है । आदमी की मजबूरियाँ उभर आती है, सीमाओं के बन्धन जकड़ जाते है और नयी चुनौतियों की पुकार विजय के सिंहनाद को अनसुना कर देती है । लोगों का यह भी कहना है कि विज्ञान प्रकृति के परदे खोल रहा है, वह प्रकृति को अनावृत और निर्वसन कर रहा है । उस की रहस्यमयी मुसकान और मौन आमन्त्रण के जादू को चुटकी में गायब कर रहा है । निर्मम और हृदयहीन विज्ञान का सब से बड़ा हथियार है तथ्य और असलियत का कठोर प्रत्यक्ष, कला जिसे नकार नही सकती और न सकार ही पाती है ।

लेकिन बात इतनी सरल नही है और न कलाकार ही इतना पंगु है कि इस दीखने वाली असलियत के परे न जा सके । आखिर विज्ञान यही तो कर रहा है कि स्थूल जगत् के विभिन्न पदार्थों को एक-एक कर के मनुष्य के इतने समीप ले आये कि उस का हर हिस्सा साफ़ दीखे, उस की हर प्रक्रिया जाहिर हो जाये । लेकिन विज्ञान किसी को दूर या दूसरे कोने मे खडे हो कर उन्हीं पदार्थों को इस भाँति देखने से कैसे रोक सकता है कि उसे

वे चमत्कार की आभा से घिरे हुए जान पड़ें, और उन के अलकारों की दीप्ति उस के मन में इतनी ही मजबूती से बस जाये जितना कि तथ्यपरक अस्तित्व का अहसास।

असलियत की पकड़ शायद सब से बड़ा भुलावा है। अगर कोई वैज्ञानिक समझता है कि प्रकृति के पदार्थों का जो तत्त्व उस ने खोज निकाला है और स्थूल जगत् के जिन व्यापारों का उस ने उद्घाटन किया है, वे तथ्य ही नहीं सत्य भी हैं तो वह गलती कर रहा है। ऐसी ग़लती कई विशेषज्ञ कर बैठते हैं। तथ्य और सत्य में अन्तर है, उसी भाँति जैसे रागात्मक कल्पना और सत्य में। कला का आधार रागात्मक कल्पना है। कला स्थूल प्रकृति और मानव के आन्तरिक जीवन को एक-दूसरे के समीप लाने की कोशिश करती है। कलाकार प्रकृति के विभिन्न अगों में—चाँद, बादल, वृक्ष, फूल, पक्षियों में—वही लय-ताल खोज पाता है जो व्यक्ति के अन्तस्थल को स्पन्दित कर दे। वह प्रकृति में मानव-मन की प्रतिध्वनियाँ भी खोजता है और उस का मौलिक सगीत भी। इस तरह वह व्यक्ति के अन्तस् को प्रकृति के निकट ला पाता है जब कि विज्ञान हमें स्थूल रूप से पदार्थों और व्यापारों के बिलकुल करीब ले जाने पर भी हमारे अन्तस्थल से उन्हें दूर कर देता है। वह प्रकृति में व्यक्तिगत अनुभूति और आनन्द नहीं देखता, और न किसी तरह का सृजनशील प्रक्रिया ही। विज्ञान स्थूल जगत् का दर्पण है और है मनुष्य की स्थूल आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए नये-से-नये उपकरणों का बढ़ता हुआ सग्रह।

क्या सत्य की खोज की दौड़ में विज्ञान और कला बराबर हैं? इस विषय में मैं वर्तमान युग के दो मनीषियों के विचारों का उल्लेख करना चाहूँगा। विख्यात कलामर्मज्ञ आनन्द कुमारस्वामी से किसी ने पूछा—"कला का उद्देश्य क्या है?"

"सही-सही सचारण या सम्प्रेषण (कॅम्युनिकेशन)", उन्हों ने उत्तर दिया।

"पर कोई भी कलाकृति किस बात का सम्प्रेषण कर सकती है?"

इस पर कुमारस्वामी का जवाब अनूठा था। उन्हों ने कहा, "कुछ लोगों को यह सत्य दुखद जान पड़ेगा पर पते की बात तो यह है कि अधिकतर कलाकृतियाँ ईश्वर के बारे में हैं, ईश्वर, जिस का आजकल के समाज में कभी नाम तक नहीं लिया जाता।"

आनन्द कुमारस्वामी ने जिस ईश्वर की चर्चा की वह उस सत्ता ही का नाम नहीं है जिसे अनेक धर्मों ने स्रष्टा और सर्वशक्तिमान् घोषित किया है। उन का तात्पर्य उस अमूर्त सत्य से था जो प्रकृति में व्याप्त है और जिस को पकड़ सकने के लिए बेचैनी ही मानव-मात्र की कलात्मक अभिव्यजना की साधना है। इस सिलसिले में समर्थ विचारक बर्ट्रेंड रसल की मान्यता भी विचारणीय है। रसल ने विज्ञान की उपलब्धियों की घोषणा करते हुए कहा था कि विज्ञान ने रूढ़ियों और सत्ता की जगह पर्यवेक्षण को स्थापित कर दिया। प्रकृति के बीच से "ईश्वर और उद्देश्य को अपदस्थ करा देना ही विज्ञान की चरम विजय है।"

अगर हम इन दो महान् मनीषियों की उक्तियों को अन्तिम और अन्यतम उक्तियाँ मान लें तो विज्ञान और कला के बीच सामंजस्य असम्भव जान पड़ेगा। किन्तु गहराई से विचार करने पर प्रतीत होता है कि कुमारस्वामी और रसल दोनों ही जीवन-सत्य का उल्लेख नही कर रहे थे। कुमारस्वामी सौन्दर्य के स्वरूप को कला की विषय-वस्तु मानते हैं और उसे ही ईश्वर की संज्ञा देते हैं। बर्ट्रेंड रसल पर्यवेक्षण यानी 'ऑब्जर्वेशन' की विधि को ही विज्ञान की सामर्थ्य मानते हैं। और यही सामर्थ्य उन के विचार में ईश्वर का स्थान ले सकी है। दोनों ही विधि और प्रक्रिया यानी 'प्रॉसेस' का ज़िक्र कर रहे हैं। लेकिन जहाँ तक जीवन-सत्य और अन्यतम विद्या या परोक्षज्ञान का सम्बन्ध है, कला और विज्ञान दोनों ही मात्र अन्वेषक माने जायेंगे, खोज की राह के साथी।

विज्ञान की खोज कला की कुण्ठा नहीं, उस की नवीन दृष्टि है। कला की अभिव्यंजना से विज्ञान का पथ अवरुद्ध नही होता, आलोकित और उज्ज्वल होता है। रसल ने ही बाद मे इस विषय पर पुनर्विचार कर के लिखा कि विज्ञान सत्य की खोज (यानी चरम विद्या) के रूप में कला की बराबरी ही कर सकता है, उस से बाज़ी नहीं ले सकता। किन्तु तकनीक के रूप (यानी प्रकृति से काम निकालने और उस का प्रयोग करने) मे विज्ञान की ऐसी व्यावहारिक महत्ता है जो कला के प्रयास के परे ही रहेगी।

यह एक बुनियादी बात है। विज्ञान मानव की जानकारी के दायरे को तेज़ी के साथ बढ़ा रहा है। इस जानकारी के व्यावहारिक उपयोग का नाम ही 'टेक्नोलॉजी' है। यह टेक्नोलॉजी विज्ञान की अभूतपूर्व देन है और समाज और व्यक्ति की प्रत्येक प्रक्रिया, हर तरह के कामकाज, पर इस का असर हो रहा है। कला इस से अछूती नहीं रह सकती। यह सही है कि कला के एक तिहाई अंश पर ही वैज्ञानिक टेक्नोलॉजी का विशेष प्रभाव पड़ा है। कला के तीन अंशों से मेरा तात्पर्य है कल्पना की उड़ान, अनुभूति की सजगता और शिल्प का वैभव।

इन में शिल्प-वैभव को ही टैक्नोलॉजी नये मोड़ दे रही है। आजकल का स्थपति यानी 'आर्किटेक्ट' लोहे और इस्पात के वैज्ञानिक प्रयोगों और भौतिक विज्ञान एवं गणित के सिद्धान्तों के आधार पर भवनों की रूप-रेखा और रूप-सज्जा निर्धारित करता है। इस का परिणाम यह हुआ है कि आधुनिक शैली के भवन मूर्तिवत् (यानी स्कल्परेस्क) होते जा रहे हैं, यद्यपि उन में पत्थर में तराशी हुई मूर्तियों के लिए कोई स्थान नहीं रह गया है। समूचे भवन की ही मानो एक तक्षित रूप (स्कल्पचर्ड फ़ॉर्म) की भाँति कल्पना की जाती है। मंच की कलाओं पर भी टेक्नोलॉजी का प्रभाव है। अनेक नाटकों की मंच-व्यवस्था मे बिजली और इलेक्ट्रॉनिक्स का व्यवहार इस भाँति किया जाता है कि अभिनय-कला को सहारा भी मिलता है और कहीं-कहीं अभिनेता दब-सा जाता है। चित्रकला में 'कोलाज' की शैली के अलावा अन्य नाना प्रकार के प्रयोग

मैं चिन्तित हूं विज्ञान-प्रसूत कला के उन्नायकों में कठमुल्लापन—फैनेटिसिज़्म—के आसार देख कर। यह कठमुल्लापन विशेषत हर प्रकार की परम्परा, खासतौर से भारतीय परम्परा—पर प्रहार करता है। किसी भी प्रकार की परम्परा का नाम नयी पीढी के कुछ कलाकारों को उत्तेजित कर देता है।

परम्परा की सत्ता के विरुद्ध उग्र प्रतिक्रिया हो इस में कोई आश्चर्य नही। किन्तु अनेक परम्पराएँ सत्ता-घोषित नहीं, लोक पोषित होती हैं। इस लिए नयी पीढी के कलाकारों के आक्रोश में एक खतरा है,—जनसाधारण से कला का विद्रोह।

वस्तुत विज्ञान और कला के बीच सामजस्य में सब से बडी बाधा है विज्ञान द्वारा मनस्वीवर्ग—इटेलिजेंटशिया—और जनसाधारण के बीच खाई को चौडी कर देना। प्रत्येक युग में कला मनस्वी और जन साधारण को एक-दूसरे के निकट लाती रही है। विज्ञान पर्यवेक्षण के क्षितिज को विस्तृत करता और अनुभूति की तरगो में विविधता लाता है। किन्तु इस के फलस्वरूप लोककला, लोकाभिव्यजना और लोकानुभूतियो के लिए यदि हम अपरिचित बन जायें तो जीवन में सामजस्य असम्भाव्य हो जायेगा। सामजस्य की खोज एक यात्रा है। यह यात्रा एक दिशा में सब से लम्बी, सब से कठिन है, वह जो अपने अन्तस् की ओर मुडती है। यदि कलाकार का अन्तस् लोकमानस से बिछुड गया तो जीवन-दर्शन की खोज का ही शायद अन्त हो जाये।

[दिसम्बर १९६९]

परिस्थिति मे जब कि चारों ओर साम्प्रदायिक वैमनस्य की भावना और अनुशासनहीनता का बोल-बाला है यह आवश्यक है कि साहित्यिक कृतियों के प्रणेता राष्ट्रीय एकता के ध्येय को अपने समक्ष रखें और अनुशासन, समर्पण और सत्य की अनवरत खोज का वातावरण पैदा करें। यही नहीं, उन्हें प्रजा-तन्त्र की शक्तियों को बल देना है और एक ऐसे वायुमण्डल की सृष्टि करनी है जो राष्ट्रीय विकास मे सहायक हो।

"समस्याओं के बारे में लेखक और साहित्यिक दूरदृष्टि को अपना सकते है। यह बात राजनीतिज्ञों में कम होती है: वे बहुधा तत्काल की ओर ही देखते है। आज का संकट चरित्र का संकट है, नैतिकता का संकट है। ऐसे समय साहित्यिकों का कर्तव्य है कि वे नये मूल्यों और सिद्धान्तों की स्थापना करें, जीवन को ऊँचा उठायें। मेरा पूरा विश्वास है कि हमारे लेखक इस आवश्यकता की पूर्ति मे कोई कसर नही रखेंगे। पंतजी जैसे साहित्यिकों ने पहले से ही इस के लिए पथ-प्रदर्शन किया है। मुझे बड़ी प्रसन्नता है कि पंतजी की पुरस्कृत पद्यकृति 'चिदम्बरा' के अँगरेज़ी, कन्नड़, गुजराती, तेलुगु, बांग्ला, मराठी, मलयालम अनुवादों का भी मैं विमोचन कर रहा हूँ। मै इस प्रयास को राष्ट्रीय एकता की दिशा में एक बड़ा क़दम समझता हूँ।"

इसके पश्चात् भारतीय ज्ञानपीठ के संस्थापक-ट्रस्टी साहू श्री शान्तिप्रसाद जैन ने अपने सहज विनम्र शब्दों में महामहिम राष्ट्रपति, कविवर पंत एवं प्रवर परिषद् के सदस्यों तथा समस्त अभ्यागत अतिथियों के प्रति हार्दिक आभार ज्ञापन किया।

समारोह का अन्तिम चरण—जो दस मिनिट के अन्तराल के पश्चात् आरम्भ हुआ, वह था—'चिदम्बरा' की कविताओं पर आधारित नृत्य-प्रतिबिम्ब। यों देखने पर 'चिदम्बरा' की कविताओं मे विभिन्नता और कवि के भावावेग एवं विषय वैविध्य का एक बिखराव-सा है, किन्तु उस बिखराव में एक अटूट सूत्र भी है: कवि की विकासमयी जीवन-दृष्टि का सूत्र! कवि की वह जीवन दृष्टि जो ब्रह्माण्ड मे समायी शून्यता से नाद-ध्वनि का संस्पर्श पाती है और प्राकृतिक सुषमा से मूल धरती की सुगन्ध! कवि का भाव-बोध मानव हृदय और मस्तिष्क के अनेकानेक आयामों को संस्पर्श करता, ज्ञान और विज्ञान की अनुभूतियों से समृद्ध होता जीवन-दर्शन के विकासोन्मुख चरणों पर चला है। कवि की जन्मजात, कोमल किन्तु क्षिप्र भावानुभूति का स्फुरण किस प्रकार अधिकाधिक व्यापक, समर्थ और यथार्थता से परिपक्व हो उन का जीवन-दर्शन बना, इस के चित्रण का प्रयत्न इस नृत्य-रूपक का लक्ष्य था। इस दृष्टि से कविताओं का चयन व प्रतिबिम्ब-आलेखन श्रीमती कुन्था जैन द्वारा और नृत्यात्मक प्रस्तुतीकरण श्रीमती अमला

विज्ञापन-दाताओं की सूची